भाषारहस्य

महोपाध्याय

यशोविजयजी महाराज

श्री शङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

महोपाध्याय-न्यायविशारद-न्यायाचार्य-श्रीयशोविजयगणिवर्यविरचित
मुनियशोविजयकृतमोक्षरत्ना-कुसुमामोदाभ्यामलङ्कृत

भाषारहस्य

※ प्रेरक-प्रोत्साहक ※

वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद संघहितचिन्तक स्व. गच्छाधिपति
आचार्यदेवेश श्रीमद्विजय **भुवन भानु सूरीश्वरजी** महाराज

※ प्रकाशक ※

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
३९, कलिकुण्ड सोसायटी,
धोलका-३८७८१०.

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजा का उद्गार :- **तेभ्यः कृताञ्जलिरयं तेषामेषा च मम विशेषाशीः ।**
ये जिनवचोऽनुरक्ता ग्रथ्नन्ति पठन्ति शास्त्राणि ।।१।। - न्यायालोक
अर्थ :- जो जिनवचन में अनुरक्त होकर ग्रन्थरचना करते हैं उन्हें मेरा अभिवादन है और जो शास्त्रपठन करते हैं उन्हें मेरा विशेष आशिष है ।

क्रम	ग्रन्थशरीरपरिचय	पत्राङ्क
१.	प्रकाशकीय निवेदन	I
२.	श्रद्धाञ्जलि	II
३.	संशोधकीय वक्तव्य	III
४.	प्रस्तावना	XI
५.	विषयानुक्रम	XVII
६.	प्रस्तुतप्रकरण	१-३४४
७.	प्रकरणकारगुरुपरम्पराप्रशस्ति	३४५
८.	मोक्षरत्नाटीकाकारीय-प्रशस्ति	३४६
९.	परिशिष्ट १-८	३४८-३६७

यः पठति लिखति परिपृच्छति पण्डितानुपाश्रयति ।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीदलमिव विकास्यते बुद्धिः ।।२।। - न्यायालोक
अर्थ :- जैसे सूर्यकिरणों से अरविन्दपत्र विकसित होते हैं ठीक वैसे ही जो पठन, लेखन, निरीक्षण, परिपृच्छा एवं पंडितों की उपासना करता है उसकी बुद्धि विकस्वर होती है ।

❋ प्राप्तिस्थान ❋

(१) प्रकाशक
(२) वर्धमान आयंबिल भवन,
शत्रुंजय गेट के सामने, तळेटी रोड, पालिताणा.

• द्वितीय आवृत्ति • वि.सं. २०५९ •
• मूल्य : Rs.१३०-०० •

• संशोधक •
न्यायादिरहस्यवित् आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जगच्चन्द्रसूरिजी** महाराजा तथा
न्यायमर्मज्ञ पंन्यासप्रवरश्री **पुण्यरत्नविजयजी** गणीवर एवं पंन्यासप्रवरश्री **यशोरत्नविजयजी** गणीवर

• मुद्रक •
श्री पार्श्व कोम्प्युटर्स
५८, पटेल सोसायटी, जवाहर चोक, मणिनगर, अमदावाद-३८०००८. फोन : ५४७०५७८

• सर्वाधिकार श्रमणप्रधान श्रीश्वेताम्बरमूर्तिपूजक जैन संघ के स्वाधीन •

प्रकाशकीय निवेदन

बरस रही है आज हमारे ह्रदय आँगन में आनन्द की बर्षा, जिसे शब्दों से हम कैसे व्यक्त करें!!!

जिनशासनरूपी महानगर का महामहोपाध्यायविरचित भाषारहस्यप्रकरणस्वरूप महा उद्यान आज गुरुकृपा से अंकुरित, अभिनव प्रतिभा से नवपल्लवित एवं नवीन युक्तियों से पुष्पित तथा नूतन निष्कर्षों से फलित ऐसे मोक्षरत्नात्मक अर्वाचीन सहकारवृक्ष से, जिसमें स्फुट-प्राञ्जल रहस्यार्थनिरूपण की खुश्बु से प्लावित एवं स्वदर्शनमण्डनपरदर्शनखण्डनात्मक खट्टे-मीठे आह्लादक रस से व्याप्त आम्रफल जिज्ञासुपथिकवृन्द की तृप्ति के लिए नवीन-प्राचीनद्विविधन्यायशैलीरूप शीतल पवन की लहर से झूम रहे हैं, सुशोभित हो रहा है। एवं, नव्य कुसुमामोदारूप गुलाब के पौधे से, जिसमें रोचक-मनमोहक प्रवाही शैलीरूप सौरभ से गर्भित कोमल फूल खिल कर पाठकभ्रमरवृन्द को विज्ञानमकरन्द का पान कराने के लिए नृत्यगान कर रहे हैं, अलंकृत हो रहा है।

'महोपाध्याय न्यायविशारद न्यायाचार्य यशोविजयजी से रचित भाषारहस्यप्रकरण के स्वोपज्ञविवरण पर मुनिश्री यशोविजयजी ने संस्कृतभाषानिवबद्ध मोक्षरत्ना टीका एवं हिन्दी भाषानिबद्ध कुसुमामोदा टीका की रचना की है, जो षड्दर्शननिष्णातमति आचार्यभगवंत जगच्चन्दसूरीजी म. सा., नैयायिकप्रवर मुनिवरश्री पुण्यरत्नविजयजी म. सा. एवं यशोरत्नविजयजी म. सा. के द्वारा संशोधित हो गई हैं और मुद्रणयोग्य अवस्था में सज्ज की गई हैं' - यह हमें मालुम होते ही प. पू. गीतार्थाग्रणी सिद्धान्तदिवाकर आचार्यदेव श्रीमद् जयघोषसूरिजी म. सा. के पास जाकर इस बहुमूल्य ग्रन्थरत्न के प्रकाशन का लाभ हमारी संस्था को देने के लिये विज्ञप्ति करने पर पूज्य आचार्य भगवंत ने हमें सहर्ष स्वीकृति देने की महती कृपा की है । मुनिश्री ने दोनों टीका में कहीं भी कसर नहीं रखी है और मूल ग्रन्थ के हार्द को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त परिश्रम किया है तथा संपादन आदि में भी काफी उद्यम किया है एतदर्थ वे बडे धन्यवादार्ह हैं।

'बहुरत्ना वसुन्धरा' उक्ति के अनुसार साम्प्रतकाल में भी जिनशासन में तीव्रमेधासम्पन्न अनेक दिग्गज विद्वान् मुनिराज विद्यमान हैं। उन सभी को प्रेरणा देनेवाला मुनिश्री का यह स्तुत्य प्रयास अन्यकर्तृक भावी अनेक ग्रन्थों के सर्जन में अवश्य निमित्त बनेगा - यह हमारी धारणा है।

वि. सं. १९९१ की साल में मोक्षरत्ना और कुसुमामोदा दोनों व्याख्याओं से सुशोभित प्रस्तुत भाषारहस्य ग्रन्थ का प्रकाशन करने का बड़ा सौभाग्य एवं सद्भाग्य हमें प्राप्त हुआ था। इस बात का हमें आनन्द है। ग्रन्थ प्रकाशन के बाद अध्येतावर्ग में इस ग्रन्थ का काफी प्रचार एवं प्रसार हुआ - इस बात का हमें अधिक आनन्द है। नूतन अध्येतावर्ग को इस ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस हो रही है। अतएव इस ग्रन्थ की दूसरी आवृत्ति हमारी संस्था की ओर से प्रकाशित हो रही है - इस बात का हमें अत्यन्त हर्ष है।

परमश्रद्धेय वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद सकलसंघहितचिन्तक गच्छाधिपति स्व. गुरुदेवश्री **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजाकी दिव्य कृपा से एवं सुगृहीतनामधेय गीतार्थचूडामणि सिद्धान्तदिवाकर गच्छाधिपति आचार्यदेवश्री **जयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा के शुभाशिष से हमारी संस्था को ऐसे बहुमूल्य शास्त्रीय प्रकाशनों का लाभ मिलता रहे यही हमारी आंतरिक तमन्ना है।

इस ग्रन्थरत्न की द्वितीय आवृत्ति के प्रकाशन में भुवनभानुसूरिस्मृतिमंदिर - पंकज सोसायटी जैन संघ - अमदावाद की ओर से ज्ञानद्रव्य का संपूर्ण आर्थिक सहयोग उदारभाव से संप्राप्त हुआ है। एतदर्थ पंकज सोसायटी जैन संघ के ट्रस्टीगण अवश्य हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा रखते हैं - इस ग्रन्थरत्न का अवगाहन कर ग्रन्थ के हार्द तक पहुँचकर, अध्येता मुमुक्षुवर्ग मक्खन सी मुलायम, गुलाब सी खुश्बु फैलानेवाली, सक्कर जो ज्यादा मधुर एवं विवेकपूर्ण और हित-मित-पथ्य-सत्य शास्त्रीय तथ्यों से भरी हुई वाणी का प्रयोग करके, दूसरों के दिल के घाव की मलमपट्टी करके, कर्ममुक्त होकर शीघ्र मोक्षसुख प्राप्त करेंगे।

लि.

दिव्यदर्शन ट्रस्ट के ट्रस्टी

कुमारपाल वि. शाह एवं

भरतभाई चतुरदास शाह आदि

श्रद्धाञ्जलि

यह मत पूछो हमने कितना जिया ?
पूछो तो यही, जीवन कैसा जिया ?

नहीं जानते कुछ कि जाना कहाँ है ?
चले जा रहे हैं मगर जानेवाले ।।
मौत इक रोज़ जब आनी है तो डरना क्या है ?
हम सदा खेल ही समझा किए मरना क्या है ?

मौत उसीकी है करे जिसका ज़माना अफ़सोस ।
यूँ तो दुनिया में सभी आए हैं मरने के लिए ।।

दिवंगत मुनिश्री **मोक्षरत्नविजयजी** महाराजा
(उम्र - २९)

चतुःशताधिक न्यायादिशास्त्रहस्यविद् गुरुकृपापात्र **मोक्षरत्नविजयजी महाराज** !

परमश्रद्धेय संयमकलक्षी दीक्षादानेश्वरी शासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय **गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराजा को अपना पूरा जीवन समर्पित करके, उनके पावन शिष्यत्व एवं महनीय मुनित्व से आप अलंकृत बने।

आपके पवित्र मुखारविन्द में निर्दोष संयमचर्या का प्रतापी तेज, गुलाबी गालों पर सदा बहती हुई साहजिक निखालस मुस्कान, होठों पे सात्त्विक सच्चाई का सुंदर स्रोत, मर्मज्ञ मस्तिष्क में समुद्र सा गहरा एवं हिमालय सा उन्नत सम्यग्ज्ञान, सदा गुरुसमर्पित हृदयकमल में विनय-विवेक-वैराग्य-विशालता-विश्वसनीयता आदि प्रतिष्ठित थे।

न केवल आप सम्यग्ज्ञान के महासागर थे या परम त्याग की जीवंत मूर्ति या तपश्चर्या मार्ग के अप्रमत्त मुसाफिर मगर सहृदयता-सौजन्यता-सरलता-समर्पितता-साहसिकता-सहनशीलता-सौम्यता-सहायकता-सहानुभूति-सहास्तित्व-सत्यपक्षपातित्व-स्याद्वादित्व-साहजिकस्वस्थता-सूर-संगीत-सौन्दर्य के सुविशाल स्रोतवाली सदा सानंद स्वच्छ स्तुत्य सदागतिशील सुन्दर सरिता भी सचमुच आप ही थे, जिसने अनेक भव्यात्माओं की तत्त्वजिज्ञासा की प्यास बुझाई, शंका-विपर्ययादि पङ्क को दूर किया, आलस्य आदि थकावट को हटा दी, ग्रन्थसंशोधनादि बीजली का सृजन किया एवं दार्शनिक तत्त्वों का अध्यापन आदि द्वारा प्रकाश किया । शासन की तात्त्विक उच्चतम सेवा-संरक्षा-सानुबन्धसमुन्नति के लिये आपके कितने मधुर मनोरथ थे।

मगर '**अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते । अल्पायुर्वा दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः** ।। १ ।।' इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए काल के अविरत बहते हुए भीषण प्रवाह ने बीच में ही आपके पार्थिव देह को अकाल कवलित करके सभी के हृदय को द्रवित-व्यथित एवं खिन्न कर दिया।

आपकी चैतन्यमय ऊर्जादायी मूक प्रेरणा से सर्जित यह कृति आपके पुनित पाणिपद्म में साश्रु नयन एवं गद्गद हृदय से समर्पित करता हूँ।

शिशु यशोविजय

ऐं नमः

संशोधकीय वक्तव्य

(महामहोपाध्यायजी श्री यशोविजयजी म. की एक प्रेरक गाथा)

अम्हारिसा वि मुक्खा, पंतीए पंडिआणं पविसंति।

अण्णं गुरुभत्तीए, किं विलसिअमब्भुअं इत्तो? ।। ९ ।।

(गुरुतत्त्व विनिश्चय)

हमारे जैसे मूर्ख भी गुरुभक्ति के प्रभाव से पंडितों की पंक्ति में प्रवेश करते हैं। गुरु भक्ति का इससे बढकर और क्या आश्चर्यकारी प्रभाव हो सकता है। यानी गुरु भक्ति द्वारा जो अन्य आश्चर्यकारी लाभ होते हैं उनमें यह लाभ सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि मूर्ख को पण्डित बनाना, पत्थर को नाच सिखाने जैसा दुष्कर कार्य है।

उपाध्यायजी ने उपदेशरहस्य, यतिलक्षणसमुच्चय, गुरुतत्त्वविनिश्चय आदि में गुरु की महत्ता का जबरदस्त दिग्दर्शन किया है। उपदेशरहस्य एवं यतिलक्षणसमुच्चय की रचना कलिकाल सर्वज्ञ हरिभद्रसूरिजी के उपदेशपद (गाथा ६८० आदि) एवं पञ्चाशक (११ - साधुधर्मपञ्चाशक) के आधार से की गई है। इसी प्रकार धर्मरत्नप्रकरण आदि में भी गुरु महत्ता पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

उपर्युक्त गाथा में, उपाध्यायजी का अनुपम आत्मसमर्पणभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। जिनशासन के एक अप्रतिम विद्वान्.... न्यायविशारद.... न्यायाचार्य.... स्वयं को मूर्ख रूप से संबोधित करके वर्तमानयुग के विद्वानों को आत्मानुप्रेक्षा का अद्वितीय उदाहरण पेश कर रहे हैं। ज्ञान और विचार के इस अधिदेवता ने एक और अपने अगाध ज्ञान से शासन के पुरातन विद्वानों को प्रभावित किया, तो दूसरी और उदीयमान अङ्कुरों को भी ज्ञान के जल से सींचा है। उनमें से एक है.... प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार, जिनके विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचय आगे दिया गया है।

प्रस्तुत वक्तव्य में (१) ग्रन्थकार (२) ग्रन्थ (३) मोक्षरत्ना टीकाकार (४) टीका (५) टीका का नाम एवं (६) संशोधन के विषय में प्रकाश डालना चाहता हूँ।

(१. ग्रन्थकार)

भारतवर्षपुरातनकाल से अद्वितीय संस्कृति का क्रीडांगण रहा है । सभी संस्कृतिओं में निवृत्तिमार्ग की उपासिका श्रमणसंस्कृति का स्थान अग्रगण्य रहा है। प्राचीन काल में इसी संस्कृति के अग्रगण्य अनेक जैन मुनिवरों ने साहित्यसेवा में तल्लीन बन कर अपनी आत्मा के साथ-साथ समस्त जैन संघ एवं भारतवर्ष को कृतार्थ किया है। श्रमण भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों ने प्रभु की अमृतवाणी को अपनी प्रतिभा के द्वारा गूंथ कर बारह अंगसूत्रों का निर्माण किया। अनेक [1]समकालीन श्रमणों ने एवं उनके पश्चात् वर्ती श्रमणों ने द्वादशांगी के आधार पर जो अन्य साहित्य का सृजन किया था वह संपूर्णरूप में आज प्राप्त नहीं है। जैनवाङ्मय को गीर्वाण गिरा में गूंथनेवालों में वाचकवर्य उमास्वाति म. का अग्रस्थान है, जिन्हें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर भी प्रमाणभूत मान रहे हैं।

तत्पश्चात् जैन श्वेताम्बर गगन में सिद्धसेनदिवाकरसूरिजी खुद की अनेकविध प्रतिभा से सूर्यसमान सुशोभित हैं। वे कवि, वादी, तार्किक, दार्शनिक, स्तुतिकार एवं सर्वदर्शनसंग्रहकार के रूप में अद्वितीय स्थान को प्राप्त हैं। ऐसे गौरवाशाली साहित्यकारों के साहित्य का आकंठ पान करके श्रीहरिभद्रसूरिजी पुष्ट हुए थे, जिन्हें नवाङ्गीटीकाकार श्री अभयदेवसूरिजी ने पञ्चाशक की टीका में 'भगवान' कह कर पुकारा है। बाद में जिनशासन के ताजस्वरूप श्रीहेमचंद्राचार्य हुए। श्री [2]हरिभद्रसूरिजी एवं

१. नंदीसूत्रचूर्णौ 'जतो ते चतुरासीतिं समणसहस्सा अरहंतमग्गउवदिट्ठे जं सुत्तमणुसरित्ता किंचि णिज्जूहेतो ते सव्वे पइण्णगा...' ।

२. चतुर्विंशति प्रबन्धेः 'कलिकालसर्वज्ञ' इति बिरुदम् पृ. ५०. ।

श्रीहेमचंद्रसूरिजी ये दोनों आचार्य कलिकालसर्वज्ञ बिरुदधारी हुए हैं।

दोनों 'कलिकालसर्वज्ञ' सूरिसम्राट् के बाद अग्रगण्य स्थान स्वोपज्ञटीका से अलंकृत प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्त्ता 'महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी म. का है। उपाध्यायजी की विमल यश-रश्मियाँ विद्वद्मानस को चिरकाल से आलोकित कर रही हैं। उनके उन्नर एवं ज्योतिर्मय मस्तिष्क ने जो विचारक्रान्ति एवं ज्ञानसमुद्र पैदा किया था, उससे आज कौन अपरिचित है?

उपाध्यायजी का जन्म संवत्

सुजसवेली भास (ढाल १ पंक्ति १३) के अनुसार उपाध्यायजी की बडी दीक्षा वि. सं. १६८८ में हुई थी। अतः उनका जन्म वि. सं. १६८० के आसपास होना चाहिए। अन्यमतानुसार एव [3]ऐतिहैसिक वस्त्रपट में निम्न उल्लेख हैः-

महोपाध्याय श्री ५श्री कल्याणविजयगणिशिष्येण पं. नयविजयगणिना संवत् १६६३ वर्षे कणसारग्रामे लिपीकृतः गणिजसविजययोग्यं ।। श्री ।।

यह वस्त्रपट भौगोलिक अभ्यास हेतु बनाया गया था। वस्त्रपट से व 'हेमधातुपाठ' की उपाध्यायजी द्वारा लिखित विक्रम सं. १६६५ की पोथी, वि. सं. १६६९ की उन्नतपुरस्तवन की हस्तलिखित पोथी, तर्कभाषा एवं दशार्णभद्रसज्झाय आदि की हस्तलिखित पोथीओं के अंत के उल्लेखों से उपाध्यायजी का जन्म समय वि. सं. १६४० से १६५० के बीच में होना चाहिए। उपाध्यायजी का अणसणपूर्वक स्वर्गवास डभोई में वि. सं. १७४३ में हुआ था। अतः उपर्युक्त जन्मसमय के हिसाब से उपाध्यायजी ने इस धरा को लगभग एक शताब्दि तक पावन की होगी। ऐसी संभावना है।

उपाध्यायजी की ज्ञानगरिमा

उपाध्यायजी ने श्रीहरिभद्रसूरिजी की वैविध्यपूर्ण कृतिओं का पान कर के उसका रसास्वाद केवल संस्कृतज्ञ एवं प्राकृतज्ञों तक ही मर्यादित न रख कर गुर्जरभाषीओं को भी कराया है। इसलिए उनका [4]हरिभद्र लघुबान्धव' यह उपनाम सार्थक है। उपाध्यायजी ने अहमदाबाद में वि. सं. १६९९ में सभासमक्ष आठ बड़े अवधान किये थे। अतीतकाल में मुनिसुन्दरसूरिजी 'सहस्त्रावधानी' एवं सिद्धिचन्द्रगणिजी 'शतावधानी' के रूप में जिनशासन में सुप्रसिद्ध हैं। उपाध्यायजीने किस प्रकार के अवधान किए थे यह विषय अज्ञात सा है। उपाध्यायजी के अवधान से प्रभावित बने धनजी सूरा श्रावक ने नयविजयजी गणि को कहा कि "उन्हें पढाओंगे तो ये दूसरे [5]हेमचन्द्रसूरिजी" बनेंगे। इसी श्रावकरत्न ने काशी अध्ययन हेतु आर्थिकव्यवस्था स्वयं के जिम्मे ली थी। जैसे श्रीहरिभद्रसूरिजी एवं श्री हेमचन्द्रसूरिजी 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाते हैं। वैसे ही सुजसवेलीभास में उपाध्यायजी को '[6]कलिकाल श्रुतकेवली' कहा गया है।

साहित्यक्षेत्र में उनकी कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिंदी-मारवाड़ी में गद्यबद्ध, पद्यबद्ध और गद्यपद्यबद्ध हैं। शैली की दृष्टि से उनकी कृतियाँ खण्डनात्मक भी हैं, प्रतिपादनात्मक भी हैं और समन्वयात्मक भी। उनकी अपूर्व साहित्यसेवा से पता चलता है कि वे व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छंद, तर्क, आगम, नय, निक्षेप, प्रमाण, सप्तभंगी आदि अनेक विषयों के सूक्ष्मज्ञान के धारक थे। उनकी तर्कशक्ति एवं समाधान करने की शक्ति अपूर्व थी।

उपाध्यायजी की विशिष्टता है कि वे तर्काधिपति होते हुए भी उन्होंने तर्क एवं सिद्धान्त को सन्तुलित रखा है। सामान्य से उन्होंने अपने ग्रन्थों में खुद के कथन की पुष्टि हेतु प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रंथों का हवाला देने में कसर नहीं रखी है।

उपाध्यायजी के जीवन की अन्य विशिष्ट घटनाओं के बारे में अनेक ग्रन्थों में उल्लेख है। अतः जिज्ञासु वाचकवर्ग उनके

३. "आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिस्मारकग्रन्थ" पृ. १७५ ।

४. हीरविजयसूरिजी के शिष्य कीर्तिविजयगणि के शिष्य कांतिविजयजी ने उपाध्यायजी के स्वर्गवास के बाद लिखी हुई 'सुजसवेलीभास' पृ. २९ पर इस प्रकार का निर्देश है :-

'लघु बान्धव हरिभद्रनो' कलि युगमां से थयो बीजो रे" ढाल ४, कडी ४.

५. सुजसवेलीभास - "योग्य पात्रविद्या तणुंजी, थास्ये ए बीजो हेम. "ढाल १, कडी ४."

६. प्रभवादिक श्रुतकेवलीजी, आगई हुआ षट् जेम, कलिमांहि जोता थकांजी ए पण श्रुतधर तेम-ढाल १ कडी ४

जन्मस्थान, दीक्षा, काशी में अध्ययन न्यायविशारद व न्यायाचार्य बिरुद की प्राप्ति, सरस्वती साधना एवं वरदान, योग एवं अध्यात्म का विशदीकरण तथा अनुपम अगाध साहित्यरचना आदि की जानकारी हेतु [७]'यशोदोहन' 'श्री '[८]सुजसवेली भास' '[९]श्रुतांजलि' आदि ग्रन्थों का अवलोकन करें। इस 'अल्प वक्तव्यता' में उपाध्यायजी का जीवन वृत्तान्त एवं अगाध समुद्र जैसी उनकी साहित्य सेवा का परिचय देना असम्भव है।

श्रीसुजसवेलीभासकार की गुरुभक्तिस्वरूप गाथा को देकर ग्रन्थकार संबंधी वक्तव्यता को पूर्ण कर रहा हूँ।

संवेगी सिरसेहरो, गुरु ग्यान-रयणनो दरियो रे,

परमततिमिर उछेदिवा, ए तो बालारुण दिनकरियो रे. श्री. ।। ढाल ४ कड़ी ७ ।।

(इसमें उपाध्यायजी के तीन विशेषण दिए हैं - संवेगिशिरःशेखरः, ज्ञानरत्नसागरः, परमततिमिरदिनकरः)

(२. ग्रन्थ)

ग्रन्थ के नाम से ही पता चलता है कि यह ग्रन्थ भाषा की उन गुत्थियों को सुलझाता होगा जिनसे अधिकांश जनमानस अपरिचित है। अद्यतन काल में भाषा का ज्ञान साधु भगवंत एवं जनसाधारण के लिए नितान्त आवश्यक है। कोई भी भाषा हो परन्तु वह भाषा सभी प्रकार से विशुद्ध होनी चाहिए, क्योंकि भाषा विशुद्धि परंपरा से मोक्ष का कारण है। यह इस ग्रन्थ का हार्द है। यह बात ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की अवतरणिका में ही कही है।[१०]

वाग्गुप्ति अष्टप्रवचनमाता का अंग है। भाषा विशुद्धि का अनभिज्ञ अगर संज्ञादि परिहार से मौन रखे तो भी उसे वाग्गुप्ति का फल प्राप्त नहीं होता है। अतः भाषा विशुद्धिनितान्त आवश्यक है। इसलिए सावद्य, निरवद्य, वाच्य, अवाच्य, औत्सर्गिक, आपवादिक, सत्य, असत्य आदि भाषा की विशिष्ट जानकारी हेतु, अष्टप्रवचनमाता के आराधकों के लिए यह ग्रन्थ 'गागर में सागर' है।

ऐसे तो देखे तो यह ग्रन्थरत्न विद्वद्भोग्य है। उपाध्यायजी की रहस्यपदांकित कृति में रहस्य भरा हुआ ही होता है। फिर भी सभी के उपकार हेतु टीकाकार ने जो हिन्दी में अनुवाद किया है वह अतीव अनुमोदनीय है, जिसको पा कर सभी वाचक इस अमूल्य ग्रन्थपुष्प के सुवास से प्रमुदित बन सकेंगे।

प्राचीन ग्रन्थों को बिलो कर उसमें से घृत निकाल कर परिवेषण करने की अपूर्वशक्ति उपाध्यायजी को वरी हुई थी। अतः उन्होंने इस प्रकार अनेकानेक ग्रन्थों का सृजन किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ उनमें से एक है। उपाध्यायजी ने तत्त्वरत्नाकर प्रज्ञापनासूत्र, चारित्र की नीवस्वरूप दशवैकालिकसूत्र, जिनशासन का अद्वितीय ग्रन्थरत्न विशेषावश्यक भाष्य आदि अगाध ग्रन्थों का आलोडन कर के इस अमूल्य ग्रन्थ की भेंट दी है। सोने में सुगन्ध स्वरूप इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ टीका भी है। जो ग्रन्थ के हार्द को प्रस्फुरित करती है।

आगम आदि साहित्य में ऐसी कई बाते हैं जो बाह्यदृष्टि से विरोधग्रस्त सी लगती हैं। उपाध्यायजी की विशेषता यह है कि उन बातों को प्रकट कर के अपनी तीव्रसूक्ष्मग्राही मेधा द्वारा उनके अन्तस्तल तक पहुंच कर गंभीर एवं दुर्बोध ऐसे स्याद्वाद, नय आदि के द्वारा उसका सही अर्थघटन करते हैं। देखिए

सच्चंतब्भावे च्चिय चउण्हं आराहगत्तं जं ।। १९ ।।

इस गाथा की स्वोपज्ञटीका में बताया है कि चारों भाषाओं (सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा) का सत्य में अंतर्भाव होगा तभी

---

७. इस ग्रन्थ के प्रणेता प्रो. हीरालाल कापडिया है । वि. सं. २०२२ में 'यशोभारती' जैन प्रकाशन समिति के पुष्प २ के रूप में प्रकाशित हुआ है ।

८. यह ग्रन्थ वि. सं. २००९ में 'श्री यशोविजयसारस्वत सत्र' कि पुस्तिका नं. १ के रूप में प्रकाशित हुआ है ।

९. यह 'शान्तिसौरभ' का जनवरी-फरवरी सन् १९८७ का अंक है । प्रकाशिका श्रीशीतलजिनप्रतिष्ठासमिति पाड़ीव (राजस्थान)

१०. इह खलु निःश्रेयसार्थिनां भाषाविशुद्धिरवश्यमादेया, वाक्समितिगुप्त्योश्च तदधीनत्वात् तयोश्च चारित्राङ्गत्वात् तस्य च परमनिःश्रेयसहेतुत्वात् ।

११. इच्चेयाइं भंते! चत्तारि भासज्जाइं भासमाणे किं आराहए विराहए? गोयमा! इच्चेयाइं चत्तारि भासज्जाताइं आयुत्तं भासमाणे आराहए, णो विराहएत्ति ।। (प्रज्ञापना. भाषापद सू. १७४)

चारों भाषाओं में आराधकत्व रहेगा। इसके लिए प्रज्ञापना सूत्र. [११]का सबल प्रमाण पेश किया है। इस पाठ का तात्पर्य यह है कि आयुक्तपरिणामपूर्वक चारों भाषाओं को बोलनेवाला आराधक है। आयुक्त का, शास्त्रविहितपद्धति से जिनशासन की अपभ्राजना को दूर करने के प्रयोजन से बोलना, संयमरक्षा आदि के लिए बोलना अर्थ है।

प्रज्ञापना में तो चारों भाषाओं को आयुक्ततापूर्वक बोलने पर आराधक कहा है। परन्तु [१२]दसवैकालिक सूत्र के सप्तमाध्ययन की प्रथमगाथा में तो मृषा एवं मिश्रभाषा बोलने का निषेध किया गया है। अतः बाह्यदृष्टि से विरोध सा भासित होता है। उपाध्यायजी ने उपर्युक्त [१३]विरोधाभास का कुशलतापूर्वक समाधान करते हुए बताया है कि दश सूत्र का कथन औत्सर्गिक है तथा प्रज्ञापनासूत्र का वचन आपवादिक है अतः अपवाद से चारों भाषाओं को बोलने पर भी उत्सर्ग अबाधित रहता है।

इस प्रकार अनेक विशेषताओं से यह ग्रन्थ अलङ्कृत है। 'कलिकाल श्रुतकेवली' का प्रस्तुत ग्रन्थ तो साक्षात् अत्युत्तम रत्नस्वरूप ही है। इसकी विशेषताओं का वर्णन करने बैठ जाऊं तो 'संशोधकीय वक्तव्य' के स्थान पर दूसरा ग्रन्थ ही तैयार हो जाए। अतः वाचकवर्ग इस ग्रंथ का अध्ययन कर के स्वयं आस्वादन करें ऐसी आशा रखता हूँ।

(३. मोक्षरत्ना टीकाकार)

गंगा, जमुना एवं सरस्वती के सङ्गमस्थल प्रयाग से आप परिचित हैं। परन्तु अभिनव प्रयाग से शायद अपरिचित होंगे...!!! वे हैं... ज्ञान गंगा, तपो यमुना एवं सृजन की सरस्वती के संगम स्थल से निर्मित अभिनव प्रयाग के रूप में उदीयमान, प्रस्तुत ग्रंथ के 'मोक्षरत्ना' नामक टीका के कर्त्ता... विद्वद्वर्य श्रीयशोविजयजी म....।

टीकाकार के अद्भूत ज्ञान एवं विशिष्ट तप-त्याग के सङ्गम को देख कर मस्तक झुक जाता है एवं मस्तिष्क में विशिष्ट ज्ञानी एवं परमत्यागी तपस्वी... सारस्वतसूनु षड्विकृतित्यागी आचार्यदेव श्रीमद्विजय बप्पभट्टसूरीश्वरजी म. सा.... प. पू. सिद्धान्तमहोदधि सच्चारित्रचूडामणि प्रेमसूरीश्वरजी म. सा. एवं, वर्धमानतपोनिधि न्यायविशारद आचार्यदेवश्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. आदि की स्मृतियाँ मानसपट्ट पर उभरने लगती है।

ज्ञानगंगा

केवल ७ वर्ष के दीक्षा पर्याय में इतनी उत्तमश्रेणि की सर्वांगीण विद्वता हांसिल करना दुष्कर कार्य है। टीका के अवलोकन से पता चलता है कि टीकाकार मे न्याय, व्याकरण, जिनागम, परसिद्धान्त आदि का सूक्ष्म परिशीलन किया है। इस टीका के पठन-पाठन द्वारा चिंतन और मनन करनेवाले विद्वानों को टीकाकार की विद्वत्ता का स्वयमेव ख्याल आ जाएगा।

मोक्षरत्ना टीका में टीकाकार के न्याय एवं दर्शनशास्त्र के न्यायभूषण, न्यायकन्दली न्यायलीलावती, चिंतामणि, प्रशस्तपादभाष्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी, प्रमाणवार्तिक, वेदान्तदीप, निम्बार्कभाष्य, मीमांसाकुतूहल, तत्त्वोपप्लवसिंह, प्रमेयरत्नमाला, ब्रह्मसूत्र, न्यायसिद्धान्तदीप आदि ग्रन्थों का, जैन न्याय के सम्मतितर्क, स्याद्वादमञ्जरी, स्याद्वादकल्पलताटीका, अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण, सप्तभङ्गीतरंगिणी, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि ग्रन्थों का, भगवतीसूत्र आवश्यकनिर्युक्ति, सामाचारी प्रकरण, उपमितिभवप्रपञ्चा आदि जैनागम तथा जैन ग्रन्थों का, दिगम्बरीय बृहद्द्रव्यसंग्रह, धवला, प्रवचनसार आदि का, हलायुधकोश, सिद्धहेमशब्दानुशासनम्, अमरचंद्रशब्दानुशासनबृहद्वृत्ति आदि व्याकरण एवं कोश का, तथा चरकसंहिता, चाणक्यसूत्र आदि ग्रन्थों का निर्देश देख कर टीकाकार की सर्वतोमुखी प्रतिभा झलक उठती है।

वर्तमान के विज्ञानयुग में न्यायग्रंथों को पढ़नेवाले अल्प होते हैं, उनमें भी न्यायग्रन्थों को पढ़ कर उन्हें बराबर समझ कर, प्राचीन उद्भट तार्किकों के मतों का निराकरण करना विशिष्ट क्षयोपशम के बिना साध्य नहीं है। जैसे गाथा नं. २९ की टीका में टीकाकार ने एकान्तवादी की जबरदस्त समीक्षा की है। इस समीक्षा में ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, निम्बार्कभाष्य, निम्बार्कभाष्यटीका, वेदान्तदीप, भामती, न्यायभूषणकार, श्रीकण्ठभाष्य, हेतुबिन्दुटीका, प्रमाणवार्तिक, कल्पतरुकार, जितारि, बलदेव, राधाकृष्ण, दामोदर, हिरियन्ना, श्रीकण्ठभाष्यटीका, विज्ञानामृतभाष्य की सप्तभङ्गीतरंगिणी स्वयम्भूस्तोत्र, वादमहार्णव, अष्टसहस्त्रीतात्पर्यविवरणं, आप्तमीमांसा, पञ्चास्तिकायवृत्ति, स्याद्वादकल्पलता, न्यायभाष्यकार, अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रन्थों

१२. दो न भासिज्ज सव्वसो (दश. अ. ७/गा.?)

१३. अतः एव "दो न भासिज्ज सव्वसो इत्यस्यापि न विरोधः अपवादतस्तद्भाषणेऽप्युत्सर्गानपायात् ।

के हवाले देकर के बराबर खबर ली है।

मुण्डक, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ एवं छांदोग्योपनिषद् तथा ऋग्वेद आदि के अनेकान्तवाद के समर्थक पाठों को देकर टीकाकार ने अनेकान्तवाद को विजयी घोषित किया है।

गाथा नं. ५० की टीका में हिंसादिषोषक भागवत, विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों का उल्लेख टीकाकार की बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है। इस प्रकार यह टीका अपने आप में अगाध ज्ञानसमुद की भाँति सुशोभित है।

तपोयमुना

टीकाकार की अगाध ज्ञानगरिमा के साथ-साथ तप की विशिष्ट साधना देखकर आश्चर्य होता है। जनमानस में यह भरा हुआ है कि ज्ञान की साधना हेतु विगई आदि का उपभोग आवश्यक है। लेकिन प. पू. वर्धमान तपोनिधि आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा. अपने शिक्षणकाल में न्याय जैसे कठिन अध्ययन के दिनों में छट्ठ (२ उपवास) के पारणे छट्ठ करते थे। अतः आचार्य देव, त्यागमूर्ति प. पू. स्व. मोक्षरत्नविजयजी म. सा. तथा प्रस्तुत टीकाकार आदि के उदाहरणों को देखते हुए पूर्वोक्त जनमानस को बदलना आवश्यक है।

टीकाकार ने ज्ञानगंगा के साथ तपोयमुना भी बराबर बहती रखी है। विहार में भी वर्धमान तप की ओलियाँ करना तो इनके बाँए हाथ का खेल है। २०४६ के चातुर्मास में अप्रमत्ततापूर्वक मृत्युञ्जय (मासक्षमण) की घोर तपश्चर्या करके टीकाकार ने विद्वज्जन को चमत्कृत कर दिया !!! धन्य तपस्वी !!!

सृजन सरस्वती

सुषुप्त सृजनशक्ति जाग उठी तब टीकाकार ने प्रस्तुत ग्रंथ से सृजन का श्रीगणेश किया। १०५५ श्लोकप्रमाण अल्पकाय भाषारहस्यप्रकरण पर ७००० श्लोकप्रमाण विशालकाय प्रस्तुत टीका...

सृजनसरस्वती का प्रवाह अविरत चलता रहा... और मृत्युञ्जय (मासक्षमण) जैसी उग्र तपश्चर्या में कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरीश्वरजी के भगवद्गीतास्वरूप वीतरागस्तोत्र के अष्टमप्रकाश की उपाध्यायजी की स्याद्वादरहस्य जैसी कठिन टीका पर 'जयलताटीका' एवं अनुवाद का शुभारम्भ.... और देखते - देखते सैंकड़ों पृष्ठो का सृजन...

सचमुच ज्ञानगंगा तपोयमुना, एवं सृजनसरस्वती का त्रिवेणी संगम है.....

धन्य है ऐसी अजोड़ साधना मूर्ति के शिल्पकारों

... वर्धमान तपोनिधि प. पू. आचार्यदेव श्रीभुवनभानुसूरीश्वरजी म. सा.

... आगम तपोनिधि प. पू. आचार्यदेव श्रीजयघोषसूरीश्वरजी म. सा.

... तार्किकशिरोमणि प. पू. मुनिपुङ्गव श्रीजयसुन्दरविजयजी म. सा.

... शासनप्रभावक प. पू. मुनिप्रवर श्रीविश्वकल्याणविजयजी म. सा. आदि को

कृतज्ञता

टीकाकार के अनेक पत्रों से उनकी अकृत्रिम कृतज्ञता के दर्शन हुए। अपने अपूर्व कृतज्ञताभाव को बताते हुए मेरे गुरुदेव के ऊपर एक पत्र में लिखते हुए उन्होंने बताया कि 'नवाङ्गीटीकाकार अभयदेवसूरिजी को संशोधन हेतु चैत्यवासी आचार्य मिले परन्तु मुझे तो आप जैसे सुविहित साधु भगवंत मिले यह मेरा परम सौभाग्य है...'

टीकाकार के एक पत्र का कृतज्ञताभरा एक और अंश देकर टीकाकार संबंधी वक्तव्यता को पूर्णविराम देता हूँ...

"परमपूज्य परमोपकारी तपोरत विद्वद्वर्य मुनिप्रवर श्री पुण्यरत्नविजयजी म. सा. नी सेवामां यशोविजयनी सादर वंदनावली....

१४. वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अवियाणंतो । जई वि न भासई किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो त्ति ।। (दश. अ. ७ नि. गा. २९०)

आपश्री ना अनुपम उपकारो ने क्यारेय भूली शकाय तेम नथी बस ! मूकभावे हृदय आपना परत्वे ढली पड़े छे. आपश्री नो अनुपम अजोड़ अध्यात्मप्रकर्ष हुँ क्यारे पामीश?"

(४. टीका)

अल्पजीवी हिन्दी गुजराती पुस्तकों के प्रकाशन के इस वर्तमान युग में शास्त्रों पर संस्कृत टीका रचने की इच्छा जागृत होना भी दुर्लभ है। टीकाकार का यह प्रयास सराहनीय एवं अभिनन्दनीय तथा अनुकरणीय है।

टीका की गरिमा

यह टीका भी कैसी अद्‌भूत ! विद्वतापूर्ण एवं प्रौढभाषायुक्त। स्वोपज्ञ टीका के गुप्त भावों को अतिसूक्ष्मतापूर्वक प्रकट करने में यह टीका दिनकरस्वरूप है। वाचक इसका पठन करेंगे तब ज्ञात होगा कि स्वोपज्ञ टीका के लगभग प्रत्येक अंश को लेकर के टीकाकार ने किस प्रकार सुन्दर रीति से विशिष्टक्षयोपशमसाध्य स्पष्टीकरण किया है। उसमें भी स्वोपज्ञ टीकान्तर्गत 'दिक्' 'ध्येयम्' 'अन्यत्र' 'अन्ये' आदि शब्दों के स्पष्टीकरण से तो टीकाकार ने कमाल ही कर दिया है। इन स्पष्टीकरणों से टीका में चार चाँद लग गए हैं। उसी तरह "नन्वाशय" की तथा स्वोपज्ञ टीका के अनेकस्थलों की अवतरणिका बहुत ही सुंदर है।

इस टीका को देखते हुए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि यह टीका हकीकत में 'आर्षटीका' की झलक सजाए है। जिनशासन में विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुए आचार्य मलयगिरिसूरिजी म. टीकाकार के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। उनकी टीका अतिविशद, पदार्थ को आत्मसात् करनेवाली एवं विशिष्ट ज्ञानप्रद होती है। प्रस्तुत टीका भी उन सुप्रसिद्ध टीकाओं का प्रतिबिम्ब है। तथा टीकाकार ने उपाध्यायजी की अद्‌भूत शैली का अनुसरण कर के इस टीका को विद्वद्‌भोग्य भी बनाई है।

"टीका के कुछ विशिष्ट स्थल"

इस टीका की गरिमा के दिग्दर्शन हेतु एवं उपर्युक्त कथन की पुष्टि हेतु टीका के कुछ स्थलों को प्रकट करता हूँ। देखिए -

(१) किसी विषय के बारे में विरोध का उद्‌भावन कर के अनेक ग्रन्थों की सहायता से, एवं अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से उसका हल करना इस टीका का स्वभाव सा है। जैसे गाथा नं. ३ की टीका में स्वोपज्ञ टीका के एक परमाणु के स्पर्श के बारे में "मृदुशीतौ मृदूष्णौ वा" इत्यादि से जो कहा है उसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापनाटीप्पण, तत्त्वार्थटीका, प्रज्ञापना की मलयगिरिसूरिजीकृत टीका के आधार से विरोधोद्‌भावन कर के प. पू. सिद्धान्तदिवाकर आचार्यदेव श्रीजयघोषसूरीश्वरजी की सहायता से बन्धशतक चूर्णि के आधार पर उसका समाधान किया है।

(२) टीका में, स्वोपज्ञटीका के अनेक विशिष्ट पदों की गहराई दृष्टिगोचर होती है। जैसे गाथा नं. ४ की स्वोपज्ञ टीका में भाषाद्रव्य के ९ विशेषण दिए हैं। उनमें आठवाँ विशेषण "तान्यप्यानुपूर्वीकलितानि आनुपूर्वी नाम ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं तया कलितानि, न पुनरनीदृशानि ।। ८ ।।

इस पाठ के 'ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं' की टीका अतिविशदरूप से कर के प्रश्नोद्‌भावन के बाद निष्कर्ष लिखा है - "अतो ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं नाम ग्रहणभाषाद्रव्यापेक्षया क्रमिकत्वम्। तच्च प्रदर्शितरीत्या ग्रहणभाषाद्रव्यघटकीभूतपरमाणुगताल्पबहुसंख्याकत्वापेक्षयैव कोटिमाटीकते।"

इस चर्चा का सार इस प्रकार है। जीव अपने योग (वीर्य) के अनुसार आनुपूर्वीयुक्त (ग्रहण की अपेक्षा से क्रमिकता वाले) भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है। मानों कि एक जीव भाषा द्रव्यों को तीव्र योग से ग्रहण करता है। तब असत् कल्पना से ३०,००० परमाणुनिष्पन्न द्रव्यों के स्कंध से लेकर ३०००१, ३०००२, ३०००३, यावत् ४०,००० तक ग्रहण करता है। ३०,००० से लेकर ४०,००० के बीच के स्कन्ध को नहीं छोडेगा एवं ५०,००० या १०,००० आदि परमाणु से निष्पन्न स्कंधों को भी ग्रहण नहीं करेगा।

मूल ग्रंथ का यह तात्पर्यार्थ निकालना बुद्धि की तीक्ष्णता एवं टीका की गहनता सूचित करती है।

(३) अन्य दिग्गज विद्वानों के मतों को बराबर समझ कर उनका विशदरीति से तर्कपूर्णनिरास किया है। जैसे गाथा नं. २३ की टीका में शब्दशक्ति को लेकर वर्धमानोपाध्याय के 'अन्वीक्षानयतत्त्वबोध', न्यायमञ्जरीकार, गदाधर के व्युत्पत्तिवाद, वाक्यपदीय, नृसिंहशास्त्री की मुक्तावलीप्रभा, मुक्तावलीदिनकरी एवं वृषभदेव के मतों का तर्कपूर्ण निरसन दृष्टिगोचर होता है।

(४) इस टीका की विशेषता यह है कि जैसे यह टीका विद्वद्भोग्या है वैसे बालभोग्या भी है, क्योंकि प्रस्तुत टीका में स्वोपज्ञविवरण को संपूर्ण रीति से समझाने की कोशिश की है। अरे ! कहीं-कहीं तो पदों को इतनी विशदरीति से समझाया है कि साधारणव्यक्ति भी उसे आसानी से समझ पाये। जैसे ग्रन्थ की अवतरणिका में उपाध्यायजी के दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि के 'अणुवायेण' शब्द की टीका करते हुए एवं सुगमता से समझाने हेतु चूर्णिकार का तात्पार्य बताते हुए टीकाकार लिखते हैं "अणुवायेण" इति उपायविपर्ययेण उपायश्चावसरोचितसम्यग्वचनप्रयोगादिरूपः तदुक्तं धर्मबिन्दौ 'अनुपायात्तु साध्यस्य सिद्धिं नेच्छन्ति पण्डिताः। (ध. बि. ४/२३) तथा च रत्नत्रयोपष्टम्भकसम्यग्वचनप्रयोगाद्यर्थं सम्यग्वचनविभागज्ञानमावश्यकमेवेति आचार्यस्योत्तरदाने तात्पर्यमिति भावः।'

(५) स्वोपज्ञटीका के भाव को स्पष्ट समझाने हेतु सुन्दर प्रयत्न किया गया है। जैसे :- गाथा नं. ४० की स्वोपज्ञटीका में केवल इतना ही कहा है कि क्रोध से आकुल होकर जो पुरुष गाय को गाय कहता है वह वचन भी असत्य (अप्रमाण) ही है, ऐसा पूर्वमहर्षिओं का अभिप्राय है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण किया कि कौन से महर्षि का ऐसा अभिप्राय है एवं किस ग्रन्थ में इसका उल्लेख है। देखिए -

सम्प्रदाय इति। तदुक्तं वृद्धविवरणे श्रीजिनदासमहत्तरगणिना - 'तस्स कोहाउलाचित्तत्तणेणं घुणक्खरमिव तं अप्पमाणमेव भवति। जहा घुणक्खरे सच्चमपि पंडियाणं चित्तगाहगं न भवति, कोवाकुलचितो जं संतमवि भासति तं मोसमेव भवति' (दश. अ. ७६/नि. गा. २७६ चू. पृ. २३७)

(६) जैसे माला के बीच में मेरु सुशोभित होता है, सोने की चेन के बीच में रत्न शोभास्पद होता है वैसे ही इस प्रौढ टीका में बीच-बीच में मनोविनोद हेतु प्रासङ्गिक मीमांसा भी अद्भूत कोटी की है। जैसे -

गाथा नं. ७४ की स्वोपज्ञटीका के 'याचनप्रवणम्' का अर्थ 'स्वोद्देशकदानेच्छापरक वचन' किया है। बाद में इसके घटकीभूत 'दान पद' की सुंदर मीमांसा कर के अन्त में अपनी विशिष्टशैली से दान का निर्वचन किया है।

इस प्रकार यह टीका अनेक विशेषताओं से विशिष्ट है। वाचकवर्ग इसे पढ कर आनंद की अनुभूति करेंगे - ऐसा मुझे विश्वास है।

वर्तमान में शैक्षकों (नूतनदीक्षितों) के साथ-साथ कुछ अन्य श्रमणों में भी श्रमणयोग्य भाषा के उच्चार में शैथिल्य ज्ञात हो रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे श्रमणयोग्य भाषा से अनभिज्ञ हैं।

१४इस ग्रन्थ में तो यहाँ तक बताया गया है कि जों वचनविभाग को नहीं जानता हुआ मौन भी रखे तो भी वह वचनगुप्ति का आराधक नहीं है। संयम यानी अष्टप्रवचनमाता का पालन। वचनगुप्ति अष्टप्रवचनमाता में से एक है। जब वचन गुप्ति का ही पालन नहीं होगा तो अष्टप्रवचनमाता की आराधना कैसे हो पाएगी?

पौद्गलिक प्रशंसा के वचन - 'यह उपाश्रय बहुत सुंदर है', आज अच्छी हवा आ रही है, 'आपका शरीर बहुत अच्छा है', 'यह बेन्ड बहुत अच्छा है,' इत्यादि एवं श्रमणायोग्यभाषा - जैसे गृहस्थ को 'आओ' 'बैठो' 'तुम्हारा शरीर ठीक है?' इत्यादि श्रमण नहीं बोल सकते हैं। इस प्रकार बोलने से भाषा समिति का भंग होता है।

शास्त्र में तो कहा है कि जो सावद्य एवं अनवद्य भाषा के भेद को नहीं जानता हो उसे बोलना भी कल्याणकारी नहीं है, व्याख्यान देना तो दूर रहा। देखिए -

सावज्जणवज्जाण वयणाणं जो न याणइ विसेसं। वोत्तुंपि तस्स ण खमं किमंग पुण देसणं काउं?।।

विद्वान तो इस ग्रन्थ को साद्यन्त पढ कर वचनविभाग में कुशल बन सकते हैं परन्तु टीकाकार ने तो इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके संस्कृत प्राकृत के अनभिज्ञ श्रमणों के ऊपर भी अनन्य उपकार किया है। अतः मेरा सभी से अनुरोध है कि यह ग्रन्थ साद्यन्त पढ कर वचनविभाग के ज्ञाता बनें। उसमें भी विशेष कर के पाँचवे स्तबक का गाथा नं. ८५ से लगाकर गाथा नं. ९७ तक का ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि उसमें ग्रन्थकार एवं टीकाकार ने दशवैकालिक के सप्तम अध्ययन के अनुसार श्रमणजीवन में बहुत ही उपयोगी सामग्री का परिपेषण किया है।

५ (टीका का नाम)

टीकाकार ने टीका का नाम 'मोक्षरत्ना' रखा है। ये 'मोक्षरत्न' कौन थे? 'प. पू. युवाजागृतिप्रेरक दीक्षादानेश्वरी शासनप्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय **गुणरत्नसूरीश्वरजी** महाराज के शिष्यरत्न एवं वर्तमान सदी के महनीय विद्वान्। अद्वितीय त्यागी। मैं उनके क्या गुणगान करुँ? बापजी म. के समुदाय के प. पू. आराधनादत्तैकचित्त **भद्रंकरसूरीश्वरजी** म. ने उन्हें ज्ञान आराधना में उपाध्यायजी एवं त्याग में धन्ना काकंदी के स्मृतिदायक कह कर पुकारा है।

चतुःशताधिक ग्रन्थों के अध्येता एवं रसप्रद सभी वस्तुओं के त्यागी होते हुए भी जिन्हों ने अहंकार को चूर कर गुरुसमर्पण भाव को आत्मसात् कर लिया था। ये मुनिराज हमारे बीच करीब १० वर्ष (मेरे दीक्षा पर्याय में) रहे थे। इसलिए उनसे मेरा निकट संबन्ध था। उनकी गुणगरिमा मुझे नतमस्तक कर देती है। गुरु-शिष्य में जो माता-पुत्र का संबंध होना चाहिए उसको उन्होंने साक्षात्कार कर के एवं आत्मसात् कर के बतलाया था।

इतने उच्चकोटि के विद्वान् होते हुए भी व्याख्यान आदि से विमुख थे, क्योंकि मान सन्मान प्रशंसा आदि उन्हें अप्रिय लगती थी।

बाह्यभाव के उद्‌बोधक एवं उदीरक प्रपञ्चों से उन्मुक्त होकर आत्मभाव में ओतप्रोत होने के कारण वे सहवर्तिओं के लिए एक आदर्शस्वरूप थे। परन्तु इस खिलती कली को आक्रमक काल ने मध्य में ही कवलित कर दी... इस दुर्घटना एवं स्वर्गस्थ मुनिराज श्रीमोक्षरत्नविजयजी म. के जीवन की कहानी को विद्वान् मुनिराज श्रीरश्मिरत्नविजयजी ने आधुनिक शैली में 'बरस रही अँखियाँ' नामक पुस्तक में आलेखित की है। अतः जिज्ञासु वाचकगण वहीं से जिनशासन नभस्तल में हुए ज्ञानसूर्य एवं त्यागचन्द्रमा के उदय अस्त का युगपत् अवलोकन कर सकते हैं।

(६. संशोधन)

इस विद्वत्तापूर्ण टीका के संशोधनहेतु टीकाकार ने अनूठा ढंग अपनाया था। इसी टीका के अन्तर्गत विशिष्ट शैली से किया गया 'समाप्ति का लक्षण' अनेक विद्वानों को भेज कर अभिप्राय मँगाए थे। मेरे गुरुदेव निस्पृहशिरोमणि प. पू. मुनिराज श्रीपुण्यरत्नविजयजी म. सा. ने समाप्तिलक्षण का संशोधन एवं अभिप्राय भेजा था। उससे प्रभावित हो कर टीकाकार ने मेरे गुरुदेव को संशोधन हेतु अभ्यर्थना की। मेरे गुरुदेवश्री ने अत्यन्त उत्साह एवं आनन्द पूर्वक उस अभ्यर्थना का स्वीकार किया और संशोधन भी अतिसूक्ष्मतापूर्वक करने का सफल प्रयास किया। लगभग संपूर्ण संशोधन उन्होंने ही किया है। 'प्रस्तुत ग्रंथ' एवं 'संशोधकीय वक्तव्य' के संशोधन में मेवाड़देशोद्धारक आचार्यदेवेश **श्रीजितेन्द्रसूरीश्वरजी** म. सा. ने सहायता प्रदान की है अतः मैं उनका ऋणी हूँ। मैंने तो अत्यल्प मात्रा में सामान्य संशोधन किया है।

यथामति यथाशक्ति किए गए इस संशोधन में जो त्रुटियाँ रह गई हो उन्हें विद्वद्‌जन परिमार्जित करेंगे- इसी विश्वास से अब मैं मेरी लेखनी को विराम देता हूँ।

आचार्यदेव प्रेमसूरीश्वरजी गुरुमंदिर

पिण्डवाड़ा श्रावणवद २, २०४७

मुनि यशोरत्नविजय

श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः

प्रस्तावना

युनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमरिका की सरकार ने कुछ साल पहले फल के पौधे को, जिनकी आयात हो रही थी, करमुक्त करने का तय किया था, जिसका 'all foreign fruit-plants' ऐसा लिखित उल्लेख न हो कर all foreign fruit, plants' ऐसा लेखित उल्लेख प्रकट हुआ था। भाषा की अशुद्धि की बदौलत आम केले आदि फलों की आयात करमुक्त बनने से २०,००,००० डोलर का सरकार को नुकशान हुआ। भाषा की अविशुद्धि से अर्थ का अनर्थ हो जाता है - इस सत्य की समर्थक एक दूसरी घटना इस तरह घटी थी। किसी एक संसद्रसभ्य ने दूसरे संसदसभ्य पर झूठ बोलने का इल्झाम लगाया जिसकी वजह उसे लिखित क्षमापात्र देने को मजबूर होना पडा कि "I said he was a liar, it is true; and I am sorry for it" मगर वर्तमानपत्र में इसका निर्देश

"I said he was a liar; it is true and I am sorry for it" इस ढंग से होने के सबब भारी गैरसमझ हो गई ! 'विषं दद्यात्' का 'विषां दद्यात्' ऐसा परिवर्तन होने से मौत के स्थान में राजकन्या, सार्वभौम साम्राज्य आदि पाने का दृष्टान्त भी सुप्रसिद्ध है। ऐसे तो अनेक प्रसंग हैं जो भाषाविशुद्धि की उपादेयता एवं भाषाअविशुद्धि की हेयता को घोषित कर रहे हैं। वचनयोग में एक ऐसा सामर्थ्य निहित है, जो कोबाल्ट बोम्ब की भाँति महाविनिपात का सृजन करने में सक्षम होता है तो कभी पुष्करावर्त मेघ की तरह दूसरों के जीवन में नयी चेतना, अनूठा आनंद, अनुपम स्वस्थता आदि को फैलाने में भी। जीवनव्यवहार में आग की भाँति वाणी अतिआवश्यक भी है एवं विस्फोटक भी। अतएव न तो उसका सर्वथा त्याग किया जा सकता है और न तो निर्मर्याद एवं बेखौफ उपयोग भी। एतदर्थ जीव में से शिव बनने के लिए सदा उद्योगी साधकों के लिए भाषा से भली-भाँति सुपरिचित होना अतिआवश्यक है - यह बताने की जरूरत नहीं है। भारती के माध्यम से किस पहलू से अपने इष्ट फल की सिद्धि हो, जिससे जिनाज्ञा का भङ्ग न हो - यह ज्ञान होना प्रत्येक साधक के लिए प्राणवायु की भाँति आवश्यक है। इस वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रख कर, भाषासम्बन्धी वक्तव्य के रहस्यार्थ को परोपकारार्थ प्रकट करने के लिए महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजा ने 'भाषारहस्य' नामक प्रकरणरत्न की रचना की और स्वोपज्ञविवरण से उसे अलङ्कृत भी किया।

ग्रन्थ एवं स्वोपज्ञविवरण

भाषाविषयक रहस्यार्थ का आविष्कार करनेवाली प्रस्तुत प्रकरणमञ्जूषा १०१ गाथास्वरूप रत्नों से भरी हुई है। विषय की गहनता एवं दुर्बोधता को लक्ष्य में रख कर महोपाध्यायजीने १०५५ श्लोकप्रमाण स्वोपज्ञविवरण भी बनाया है, जो मूल ग्रन्थ के तात्पर्य को खोलने की एक कुँजी है। इस प्रकरण के आधारभूत शास्त्र ग्रन्थ हैं दशवैकालिक सूत्र, प्रज्ञापना सूत्र, विशेषावश्यकभाष्य, पञ्चसङ्ग्रह इत्यादि। मूलप्रकरण के विषयों को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ को मैं ने ५ स्तबकों में विभक्त किया है। प्रथम स्तबक में भाषाविशुद्धि की आवश्यकता, भाषा के निक्षेप एवं गृह्यमाण भाषाद्रव्यों की द्रव्यादिचतुष्क से प्ररूपणा करने के बाद भाषाद्रव्यों में स्पृष्टाऽस्पृष्टादि का निरूपण प्रज्ञापना के भाषापद के अनुसार किया गया है। भाषा द्रव्य का ग्रहण, निसरण एवं पराघात किस तरह होता है? इस विषय के प्ररूपण के प्रसंग से पञ्चविध भेद का निरूपण करते करते नैयायिकमत का खण्डन कर के भिद्यमान भाषाद्रव्यों के नाशप्रसङ्ग का अच्छी तरह निराकरण किया है। आगे चल कर आगमिक तीन सिद्धान्तों के बल पर ग्रहणादि तीन में द्रव्यभाषात्व की सिद्धि की है - वहाँ उपाध्यायजी महाराजा की अनूठी प्रतिभा का दर्शन होता है। भावभाषा के निरूपण में बौद्ध-वैशेषिक एवं नास्तिक को अपनी बुद्धि से परास्त करने की शैली भी अजायब है। बाद में भावनिक्षेप से त्रिविध भाषा में से प्रथम द्रव्यभावभाषा के सत्य, असत्य, मिश्र एवं अनुभय - ये चार भेद बताये हैं। प्रथम स्तबक में आगे सत्य द्रव्यविषयक भावभाषा का ही केवल निरूपण प्राप्य है। व्यवहारनय से भाषा के चार भेद होते हैं एवं निश्चयनय से केवल दो, फिर भी विरोध को अवकाश नहीं है - ऐसा सिद्ध करने के लिए पन्नवणा के जातिसूत्र एवं केवलसूत्र का अवलम्बन कर के जो युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं, वे प्रकरणकार की सूक्ष्म आगमपरिशीलनता का हमें परिचय करा रही हैं। बाद में सत्यभाषा का लक्षण बता कर २२ से ३६ गाथापर्यन्त जनपदसत्य भावभाषा आदि दशविध भाषा का, जो द्रव्यविषयक सत्य भावभाषा के भेदविधया अभिमत है, लक्षण, दृष्टान्त आदि

से व्याख्यान किया है। उपाध्यायजी महाराज जनपदसत्यभाषा के निरूपण में नैयायिक एवं वैयाकरण को अपने युक्तिशस्त्र का निशान बनाते हैं तो स्थापनासत्य भाषा में प्रतिमालोपकों की धोति ढीली करते हैं। स्थापना सत्य एवं रूपसत्य की सूक्ष्म भेदरेखा खिंच कर (गा. २७) प्रतीत्यसत्यभाषा में अनेकान्तवाद को विजयी घोषित करते हैं (गा. २९)। भावसत्यभाषा में चित्ररूपवादस्थल का संक्षेप अवतार कर के नैयायिक का खोल उतार लिया है। दशवैकालिक प्रथम अध्ययन के अनुसार औपम्यसत्यभाषा पर विस्तार से श्रीमद्जी ने प्रकाश डाला है। मगर लगता है कि इस विषय का निरूपण करने के वक्त स्थानांगसूत्र की टीका विवरणकार के सामने उपस्थित नहीं होगी, अन्यथा स्थानांगवृत्ति में तद्देश-तद्दोष आदि के द्रव्यानुयोगविषयक उपलब्ध अनेकविध दृष्टान्तों में से, जो दशवैकालिवृत्ति आदि में भी अप्राप्य हैं, किसीका उल्लेख-उद्धरण अवश्य औपम्यसत्यभाषा के निरूपण में वे कर ही देते, जैसे दशवैकालिकटीका के प्रायः प्रत्येक निदर्शन का ग्रहण किया है। मगर श्रुतकेवलिसदृश महोपाध्यायजी की निपुण निगाह के बाहर यह रह गया हो यह नामुमकिन सा लगता है। विचार करने पर मुझे यह प्रतीत होता है कि उपदेशामृततङ्गिणी ग्रन्थ में, जो वर्तमान में अनुपलब्ध है, उन दृष्टान्तों का सविस्तर निरूपण श्रीमद्जी ने किया होगा, क्योंकि श्रीमद्जी ने अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण में 'आहरण-तद्देश-तद्दोषोपन्यासादिहेतुः विस्तरतस्तु मत्कृतोपदेशामृततरङ्गिणीतो बोध्यः' (अ.स.वि.पृ.३०९) ऐसा उल्लेख किया है। अस्तु ।

'एक ओर राम, दूसरी ओर गाम' इस उक्ति के अनुसार प्रस्तुत प्रकरण का महदंश प्रथम स्तबक ने ले लिया है जिसकी अपेक्षा अन्य स्तबकों का शरीर अल्पप्रमाण है। ३८ से ५५ गाथा तक द्वितीय स्तबक ने अपना स्थान प्राप्त किया है, जिसमें मृषाभाषा के दशविध विभाग का समर्थन एवं अन्यविध विभाग को भी मान्यता देना - ये दो विशेषता उल्लेखनीय है। ५६ से ६८ गाथापर्यन्त तृतीय स्तबक ने प्रतिष्ठा प्राप्त की है, जिसमें व्यवहारनय से मिश्रभाषा के लक्षण का प्रदर्शन एवं दशविधविभाग का समर्थन नव्यन्याय की गूढ परिभाषा में किया गया है। धर्मांश में ही भ्रम-प्रमाउभयजनकवचनत्व को मिश्रभाषा का लक्षण बनाना, जीवमिश्रित एवं अनन्तमिश्रित भाषा में आंशिक सत्यत्व की स्थापना, परित्तमिश्र में चूर्णिकार के तात्पर्य को खोलना, मृषाभाषा में लक्षणा से सत्यत्व का अस्वीकार... इत्यादि विषय तृतीय स्तबक के आभूषण हैं। ६९ गाथा से ८६ गाथा तक १८ श्लोकप्रमाण चतुर्थ स्तबक में असत्यामृषा भाषा के लक्षण तथा आमन्त्रणी आदि १२ भेद, त्रिविध श्रुतविषयक भाषा एवं द्विविध चारित्रविषयक भावभाषा का निरूपण उपलब्ध है। असत्यामृषात्व के हेतुओं का प्रदर्शन, कुपित तिर्यंच भाषा में व्यवहारनय से मृषात्व का निराकरण, 'यथासुखं मा प्रतिबन्धं कुर्याः' भाषा में इच्छानुलोमत्व का उपपादन, अनभिगृहीतभाषाफलाविष्करण, अनुपयुक्तसमकितिभाषा में भावभाषात्व का समर्थन आदि विषय ध्यातव्य है।

इस प्रकरण के महत्त्वपूर्ण विषय का सुबोध प्रतिपादन पञ्चम स्तबक में, जो ८७ से १०२ गाथापर्यन्त फैला हुआ है, उपलब्ध होता है। द्वादशांग गणिपिटक से बालमुनि मनक के अनुग्रहार्थ निर्यूढ दशवैकालिकसूत्र के वाक्यशुद्धिनामक सप्तमअध्ययन का, जो कि सत्यप्रवाद पूर्व से निर्यूढ है, आधार लेकर 'संयत सत्य एवं असत्यमृषा भाषा को कब, कैसे, कहाँ बोले?' इस विषय का हृदयंगम वर्णन किया गया है। सत्य वाणी को भी कब, कैसे, कहाँ नहीं बोलना? औत्सर्गिक, आपवादिक, वक्तव्य, अवक्तव्य, सावद्य, निरवद्य आदि वचन कौन कौन से हैं? इसका रोचक शैली में तलस्पर्शी निरूपण किया गया है। यह स्तबक प्रत्येक साधु, साध्वी के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक होने की वजह प्रकरणकार न्यायाचार्य, न्यायविशारद ने लेखनी की कर्कशता को यहाँ तिलांजलि दे दी है, जिसकी वजह सामान्य संस्कृतभाषाज्ञान होने पर कोई भी इस विषय के आस्वाद से लाभान्वित हो सके। कौन कौन वचन विराधक, प्रवचनअपभ्राजनाकारक, लघुतादोषजनक, मिथ्यात्वानुमोदक, असंयतपोषक, अधिकरणादिदोषसम्पादक, ममत्वशंकादिकारक सावद्य एवं जिनाज्ञाभंजक होते हैं? इस विषय का जो निरूपण यहाँ उपलब्ध है उसके अनुसार प्रत्येक साधु-साध्वी जीवन बनाये तो आज जिनशासन की शान में चार चाँद लग जाय एवं इस मर्त्यलोक में ही स्वर्गलोक का निर्माण हो जाय - यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

स्वोपज्ञविवरण के स्पष्टीकरण की आवश्यकता

यद्यपि स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादरहस्य, नयोपदेश, आत्मख्याति आदि ग्रन्थों की भाँति प्रकृत प्रकरण के स्वोपज्ञविवरण की प्रत्येक पंक्ति नव्यन्याय की कर्कश परिभाषा के गहन प्रयोग से जटिल तो नहीं है तथापि श्रीमद्जी की रचनापद्धति ही ऐसी है कि वे शब्द से जितना कहते हैं उससे बहुत अधिक शब्द में ही गर्भित रखते हैं, जिसका ज्ञान आसानी से नहीं हो सकता है। दूसरी

बात यह है कि प्रस्तुत स्वोपज्ञविवरण भिन्न भिन्न अतिसंक्षिप्त शब्दशैली से अनेकविध विषयों के प्रतिपादन के आरोह-अवरोह से व्याप्त है। देखिये, स्वोपज्ञविवरण भाषानिक्षेप प्रतिपादन की शैली से निक्षेपप्रधान है, चित्ररूपवाद-द्रव्यानुयोगउपमान आदि के निरूपण की दृष्टि से वादप्रधान है, रूपक-उपमा-व्यतिरेकालंकार आदि के प्ररूपण की अपेक्षा अलङ्कारप्रधान है, प्रत्येक भाषा लक्षण वक्तव्य के दृष्टिकोण से न्यायप्रधान है, चतुर्विध भाषा का द्विविध भाषा में समावेश आदि की अपेक्षा नयप्रधान है, भाषावर्गणास्पर्श-पंचविधभेद-मिश्रभाषाविभागसमर्थन श्रुतभावभाषातृतीयभेदकथन आदि को लक्ष्य में रखने पर सम्प्रदायप्रधान भी है, उपमासत्यनिरूपण को लक्ष्य में लेने पर कथामय है, भाषा में मिश्रत्व के स्थापक वक्तव्य पर निगाह डालने पर नव्यन्यायपरिभाषाप्रधान है, विनयशिक्षाधिकार को देखने पर आगमप्रधान है, अन्तिम वक्तव्य की अपेक्षा अध्यात्ममय है। एवं सङ्गतिमय, युक्तिमय, परदर्शनखण्डनमय और स्वदर्शनमण्डनमय भी निःसङ्कोच कहा जा सकता है। अतएव इस पर एक विशद नवीन टीका की आवश्यकता मुझे महसूस हुई।

मोक्षरत्ना उद्भवस्थान

प्रायः ६-५-८७ की वह चाँदनी रात थी जब कोल्हापुर के पास शिरोली नामक छोटे गाँव के एक सज्जन के गृह में पू. तपोरत्नविजयजी म. सा., पू. मुक्तिवल्लभविजयजी म. सा. और मैं शोकसंतप्त एवं द्रवित हृदय से एक साथ बैठकर दिवंगत मुनिराजश्री मोक्षरत्नविजयजी म. सा. के बालरवि की भाँति उष्मादायी, प्रकाशक एवं प्रेरक जीवन और आघातजनक निधन के बारे में बात-चीत कर रहे थे। एक दुर्घटना के सबब केवल २९ साल में इस नश्वर संसार को अलविदा कर के स्वर्गलोक को अलङ्कृत करनेवाले मुनिराजश्री ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं गुरुकृपा के बल से चतुःशताधिक शास्त्रों के रहस्यार्थ को समझ कर अपने जीवन में सम्यक् परिणत किया था, जो उनके जघन्यतःनित्य एकाशन तप, उत्कृष्ट त्याग, निर्दोष संयमचर्या, बिनशरती सदा गुरुसमर्पणभाव, वडील आमान्या, निरहंकार एवं निस्पृह मनोवृत्ति, अन्तर्मुखता, साहजिक मैत्रीभाव, वात्सल्यपूर्ण वाणी और सदा प्रसन्न मुखमुद्रा आदि से भली-भाँति जान पडता है। दिवंगत मुनिराजश्री तो अपने अनुपम गुणों की गरिमा एवं निर्दोष संयमजीवन की महिमा से सदा अमर ही रहेंगे मगर उनके नाम को चिरस्थायी बनाने में सक्रिय प्रयत्न करने का परम सौभाग्य हमें भी अवश्य मिलना चाहिए - इत्यादि विचारविमर्श के अन्त में स्वर्गस्थ मुनिपुङ्गवश्री के नाम से सम्बद्ध एक-एक ग्रन्थ या टीका या काव्य आदि कृति का सर्जन करने का हम तीनों ने शपथ लिया। यहाँ, मेरे शपथ की समाप्ति एवं प्रकृत प्रकरण के स्वोपज्ञविवरण की टीका की आवश्यकता की परिपूर्ति का यह एक नम्र प्रयास है।

जिन्हें उपाध्यायजी, महोपाध्यायजी आदि उपनाम से प्रायः सब जैन मनीषी अच्छी तरह पहचानते हैं ऐसे न्यायविशारद, न्यायाचार्य श्रीमद्जी की नव्य न्याय की संस्कृत एवं परिस्कृत परिभाषा से परिपुष्ट और सर्वविषयगामी कृति पर अपनी लेखनी को चलाना मेरे बस की बात नहीं थी। फिर भी गुरुजनों की प्रेमपूर्ण प्रेरणा एवं अंतःकरण के अनगिनत आशिष, महोपाध्यायजी के प्रति अपनी अनन्य आस्था तथा दिवंगत मुनिराजश्री के मूक प्रोत्साहन के बल पर भरोसा रख कर मैंने मद्रास आराधनाभवन में मोक्षरत्ना का श्रीगणेश किया। न्यायाचार्य महोपाध्यायजी को रोज वंदना कर के उन्हीं के चरणकमल में बैठ कर मैं वही लिखता था जो मुझे वे लिखाते थे - ऐसा प्रारम्भ से परिसमाप्तिपर्यन्त मेरा अनुभव रहा है। इसी सबब अपने जीवन में कभी न सोचा हुआ कल्पनातीत दिव्यतत्त्वज्ञान का प्रवाह मोक्षरत्नासर्जन काल के दौरान मैंने महोपाध्यायजी की असीम कृपादृष्टि से प्राप्त किया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं मोक्षरत्ना का सर्जन नहीं कर रहा था मगर मोक्षरत्ना ही मेरा सृजन कर रही थी, रत्नत्रयी के पावन परिणाम की गुलाबी लहर जगा रही थी। अतः 'While I was writing Moxratna; Moxratna was writing me' ऐसा मैं निःसंदिग्ध कह सकता हूँ।

न कुछ हम हँस के सीखे हैं, न हम कुछ रो के सीखे हैं।

जो कुछ थोडा सा सीखे हैं, किसी के हो के सीखे हैं ।। अस्तु !

यद्यपि जो मनीषी क्षयोपशम आदि में मुझसे आगे बढ चूके हैं उनके लिए मोक्षरत्ना तनिक भी उपयोगी नहीं है तथापि उन विद्वान् बहुश्रुत मनीषियों से मेरी यह सविनय विज्ञप्ति है कि - एक बार मोक्षरत्ना को साद्यन्त पढकर या परिशिष्ट ३ एवं ४ तथा मोक्षरत्ना के विशिष्ट विषयानुक्रम को लक्ष्य में रखते हुए तत् तत् स्थलों को शांति से देख कर 'मैं इस प्रथम नम्र प्रयास में कहाँ तक सफल रहा हूँ?' इसका निर्णय करे एवं त्रुटियों का संमार्जन और निवेदन करे।

सम्पादनपद्धति

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में मेरे सामने दो प्रतियाँ थी। एक उपाध्यायजी महाराज के स्वहस्ताक्षरवाला आदर्श, जिसकी कप्रति संज्ञा है। दूसरी प्रति वह थी जो पूर्व में मुद्रित हो चुकी थी। जहाँ जहाँ उपर्युक्त दो प्रतिओं में शुद्ध पाठान्तर दृष्टिगोचर हुआ, हो सके तब तक कप्रति के पाठ का ही ग्रहण किया गया है, देखिये पृ. ३१, ३३, ३८, ४४, ४७, ७१, १०२, १२३, १७६, १८५, २०७, २१७, २२१, २३७, २३८, २४०, २६९, २७१, २७४, २८५, ३०७, ३२७, ३३७... इत्यादि। कुछ स्थल में दोनों प्रतिओं में त्रुटक पाठ उपलब्ध होता है वहाँ हमने हमारी मति के अनुसार विषय को समझकर ( ) ऐसे कोष्ठकान्तर्गत अपेक्षित पाठ का प्रयोग किया है, जैसे पृ. २८८ आदि। स्थलविशेष में दोनों प्रतिओं में अधिक पाठ भी प्राप्त होता है, जिसे ज्यों का त्यों रख कर टिप्पण में उसका निर्देश किया गया है जैसे पृ. १७८ आदि। कुछ स्थल में मुद्रित प्रति में भी अधिक पाठ उपलब्ध होता है, जैसे पृ. २४, २२१, २९५ आदि। कुछ स्थल में कप्रति में भी अधिक पाठ उपलब्ध हुआ जैसे पृ. ३९ आदि। मुद्रित प्रति में अनेक जगह अशुद्ध पाठ भी हैं जैसे पृ. ४६, ८८, ११८, १५९, १८७, १९०, १९३, १९५, २०५, २१६, २२७, २३३, २३६, २४०, २४८, २७४, ३१२, ३१५, ३२१, ३२८ आदि। कुछ स्थल में तो मुद्रित प्रति अत्यन्त अशुद्ध भी है, जैसे पृ. २०७, २२१, २५०, २९५ इत्यादि। उन स्थलों में कप्रति का आधार ले कर शुद्ध पाठों का ग्रहण किया गया है। जिस स्थल में मुद्रित प्रति त्रुटक है वहाँ कप्रति के अनुसार त्रुटक पाठ लिया गया है, देखिये पृ. १८४, १८८, २३७, २४५, २७४ आदि। जिस स्थल में कप्रति त्रुटक है वहाँ मुद्रित प्रति को सहायता से पूर्ण पाठ लिया गया है जैसे पृ. १९३ आदि। मुद्रित प्रति में कुछ स्थल में शुद्ध पाठान्तर की भी उल्लेख है, देखिये, पृ. ३३७... आदि। मुद्रित प्रति में शुद्ध और अशुद्ध पाठान्तर का भी निर्देश मिलता है, जैसे पृ. १८६ इत्यादि। इसी तरह कुछ स्थल में कप्रति त्रुटक है वहाँ मुद्रितप्रत आदि का सहारा लेकर यथोचित पाठ का निवेश किया गया है, जैसे पृ. ६, ३५, ३८, ४७, ५६, ९२, १७३, १८५, १९३ इत्यादि। कुछ स्थल में कप्रति भी अशुद्ध है जैसे पृ. ७३, १६१, २१३ आदि। मगर पृ. ९०, १६३, १६४, २५१ इत्यादि स्थान में तो मुद्रितप्रति और कप्रति दोनों ही अशुद्ध है वहाँ अन्य ग्रन्थों के सन्दर्भो को देखकर एवं गुरुजनों से विचार-विमर्श कर के अपेक्षित शुद्ध पाठ का ( ) इस चिह्न में उल्लेख किया है। ये सब उल्लेख मैं ने तत् तत् पत्रक्रमांक की टिप्पणी में एवं कुछ स्थल में मोक्षरत्ना में भी किये है देखिये पृ. १०८, १५९, २०८, २२१, २३३ । शेष संपूर्ण ग्रन्थ जैसा का तैसा पदच्छेद आदि ठीक कर के छपाया गया है। मूलग्रन्थ एवं उपाध्यायजी महाराज के स्वोपज्ञविवरण के संपादन एवं संशोधन में क्षयोपशमानुसार यतनापूर्वक मैंने प्रयत्न किया है फिर भी कहीं त्रुटि दीख पड़े तो उसके परिमार्जन के लिए प्रिय विज्ञ वाचकवर्ग प्रयास करे एवं मुझे ज्ञापित करे- यह विज्ञप्ति।

हिन्दीटीका - कुसुमामोदा

यद्यपि मेरी मातृभाषा गुजराती है एवं हमारे श्रीमूर्तिपूजक जैन संघ में अधिकांश जनसमुदाय गुजराती भाषा जानता है तथापि इस ग्रन्थ का विवेचन हिन्दी भाषा में बनाने के अनेक कारण हैं। एक तो यह ग्रन्थ दशवैकालिक, प्रज्ञापना आदि मूल आगमों पर मुख्यतया अवलंबित होने से उन स्थानकवासी, तेरापंथी आदि विद्वानों के लिए भी अतीव उपयोगी एवं सन्मान्य है जो अधिकांश में गुर्जर भाषा से अनभिज्ञ है। दूसरा, मेरा यह अभिप्राय है कि जो वाचकसमुदाय उपाध्यायजी महाराज के साहित्य को समझने की कक्षा में है उन्हें राष्ट्रीय भाषा समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। तीसरा, न्याय के अभ्यासी साधु-साध्वी प्रायः हिन्दी भाषा के माध्यम से पंडितजी आदि से न्यायदर्शन का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जिसकी वजह राष्ट्रभाषाग्रथित विवेचन के द्वारा ग्रन्थ को समझने में उन्हें सौकर्य भी रहेगा। चौथा, इस ग्रन्थ में अनेक दार्शनिक चर्चा समाविष्ट होने से विशाल दार्शनिक अभ्यासी वर्ग भी इससे लाभान्वित हो सके। निष्कर्षः - हिन्दी भाषानिबद्ध विवेचन के सबब विशाल पाठकवर्ग इस ग्रन्थरत्न का लाभ ले पाएगा - यह लक्ष्य में रख कर विवेचन का माध्यम राष्ट्रभाषा बनी है। धार्मिक संस्कारों का मुझ में वपन-जतन-पालन-रक्षण-संवर्धन करने की वजह जो न केवल मेरे पार्थिवदेह की माता है किन्तु धर्मदेह की भी, ऐसी उपकारी संसारी धर्ममाता कुसुमबेन के नाम से गर्भित 'कुसुमामोदा' ऐसा नामकरण हिन्दीटीका का मैंने पसंद किया है।

संशोधन एवं उपकारस्मरण

सात मास की अवधि में निष्पन्न मोक्षरत्ना एवं कुसुमामोदा टीका द्वय में त्रुटियाँ होने का इन्कार कैसे किया जा सकता? क्योंकि मेरा ज्ञान क्षायोपशमिक है। अतएव नव्य एवं प्राचीन न्याय के दिग्गज विद्वान्, कर्मसाहित्यनिपुणमति, षड्दर्शनपरिकर्मितप्रज्ञावाले

परमत्यागी एवं तपस्वी ऐसे आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जगच्चन्दसूरीश्वरजी** म. सा. तथा न्यायमर्मज्ञ अध्यात्मरसिक मुनिराजश्री (वर्तमान में पंन्यास) **पुण्यरत्नविजयजी** म. सा. एवं विद्वद्वर्य मुनिवर (वर्तमान में पंन्यास) **श्रीयशोरत्नविजयजी** म. सा. को दोनों टीका के संशोधनार्थ नम्र विज्ञप्ति की और अनेकविध कार्यों की व्यस्तता होते हुए भी उदारता से उन्होंने मेरी अरज का स्वीकार किया तथा साद्यन्त टीकाद्वय का सूक्ष्म दृष्टि से संशोधन कर के दोनों टीका की उपादेयता को बढा दी है, तदर्थ में उनके प्रति अत्यन्त ऋणी हूँ और इस तरह वे सदा मेरे उत्साह को बढावे- यही उनसे मेरी साग्रह नम्र विज्ञप्ति। मद्रास में पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् **जगच्चन्द्रसूरिजी** म. सा. के चरणकमलों में बैठ कर संशोधन के दौरान मैंने अनेकविध अमूल्य सूचनाएं प्राप्त की एवं उनकी मौलिक प्रतिभा का भी कुछ अनुपम आस्वाद प्राप्त किया। मरुभूमिस्थित उपर्युक्त दोनों नव्य-प्राचीनन्यायनिष्णात संशोधक बन्धुमुनिवरों ने भी काफी उद्यम कर के टीकाद्वय का संमार्जन-परिमार्जन किया है जो उनसे प्राप्त शुद्धि-वृद्धि आदि से भली-भाँति मालुम होता है। टीका के अनेक विषयों के बारे में अनेकशः लम्बी-चौडी चर्चा पत्रव्यवहार से करने में उन्होंने अप्रमत्तभाव दीखाया है वही उनकी खंत, बहुश्रुतता एवं संशोधनस्वरूप श्रुतभक्ति का द्योतक है। मेवाडदेशोद्धारक आचार्यदेवश्रीमद् **जितेन्द्रसूरिजी** म. सा. ने भी संशोधनकार्य में उदारता से सामने चलकर जो सहायता प्रदान की है तदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ। टीकाद्वय के कुछ स्थलों का संशोधन परमपूज्य सिद्धान्तदिवाकर आचार्यदेवेश श्रीमद् **जयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा, विद्यागुरुदेव तर्करत्न मुनिराजश्री (वर्तमान में आचार्य) **जयसुन्दरविजयजी** महाराजा एवं विद्वद्वर्य मुनिप्रवर (वर्तमान में आचार्य) पूज्य **अभयशेखरविजयजी** महाराजा आदि ने भी किया एवं अपना अनूठा सूझाव भी प्रदर्शित किया। एतदर्थ मैं उन सबका आभारी हूँ। अनेक बहुश्रुत महनीय आचार्य भगवंतों एवं मुनिपुङ्गवों की संशोधनाग्निपरीक्षा में संस्कृत-परिष्कृत-संमार्जित-संवर्धित-संशोधित ऐसी मोक्षरत्ना एवं कुसुमामोदा से सुशोभित प्रस्तुत प्रकरण को प्रगट करने में मेरे अनाभोग आदि की बदौलत कुछ असङ्गति जैसा लगे तो वहाँ प्रकरणकार के आशय के अनुकूल तात्पर्य का अवधारण करें। 'गच्छतः स्खलना क्वापि' न्याय से अन्त में यही प्रार्थना वाचकवर्ग से है कि इसमें जिनाज्ञाविरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो उसका संशोधन स्वयं कर लिया जाय।

सिद्धान्तमहोदधि-वात्सल्यवारिधि-परमपूज्य-आचार्यदेवेश-श्रीमद् विजय **प्रेमसूरीश्वरजी** महाराजा के पट्टालङ्कार-न्यायविशारद-वर्धमानतपोनिधि-गच्छाधिपति-श्रीमद्विजय **भुवनभानुसूरीश्वरजी** महाराजा, जिनकी दिव्य कृपा इस कार्य को साद्यन्त संपूर्ण करने में निरन्तर प्रवाहित रही है, अन्यथा मेरे जैसा अल्पज्ञ क्या कर सकता?

सकलगीतार्थचूडामणि, सिद्धान्तदिवाकर परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजय **जयघोषसूरीश्वरजी** महाराजा को कैसे बिसर सकता हूँ जिनकी सक्रिय प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से **पंडितजी श्रीहरिनारायणमिश्रजी** के पास न्यायकुसुमाञ्जलि, खण्डनखण्डखाद्य, मीमांसाश्लोकवार्तिक, प्रमाणवार्तिक, अद्वैतसिद्धि, चित्सुखी, वाक्यपदीय आदि दुरुह एवं जटिल प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों के अभ्यास का अद्वितीय सौभाग्य प्राप्त हुआ।

शासनहितचिन्तक, कर्मसाहित्यपारदृश्वा परमपूज्य **हेमचन्द्रसूरिजी** महाराजा, जिन्होंने संसार अटवी में भटकती हुई हमारी आत्मा को दुर्लभ संयमरत्न का अपनी जान की बाजी लगा कर दान किया, को भी मैं कभी नहीं भूल सकूंगा।

नैयायिकशिरोमणि, तर्करत्न परमपूज्य विद्यागुरुदेवश्री (वर्तमान में आचार्य) **जयसुन्दरविजयजी** महाराजा, जिन्होंने सामान्यनिरुक्त (गादाधरी), व्युत्पत्तिवाद, व्यधिकरण (जागदीशी), तत्त्वचिन्तामणि आदि कठिनतम ग्रन्थों का निःस्पृहभाव एवं उदारता से न केवल अध्ययन कराया मगर मेरे रत्नत्रय के उद्यान को अंकुरित-नवपल्लवित-पुष्पित एवं फलित करने में भी काफी बडा सहयोग दिया, तो सदा मेरे मनमंदिर में प्रतिष्ठित रहेंगे। इस कार्य में अनेक विषम स्थलों में उनका अनमोल मार्गदर्शन न मिला होता, तो यह प्रकाशन शायद नामुमकिन बन जाता।

भवोदधितारक, उदारचित्त परमपूज्य गुरुदेवश्री (वर्तमान में पंन्यास) **विश्वकल्याणविजयजी** महाराजा, जिनकी अनहद कृपा हमें संयम एवं सम्यग्ज्ञान आदि सद्योगों की आराधना के रहस्य को पाने में एवं अन्तर्मुख जीवन जीने में सतत उत्साहित कर रही है, को भी इस मंगल कार्य में बिसर जाना अपनी कृतज्ञता को खो देने जैसा है।

अपनी नादुरस्त तबियत होने पर भी संशोधकीय वक्तव्य भेज कर मुनिराज (वर्तमान में पंन्यास) **श्रीयशोरत्नविजयजी** महाराजा ने, जो इस ग्रन्थ के संशोधकों में से एक है, भी मुझ पर अपार उपकार किया है। एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ के अच्छे मुद्रण के लिए आचार्यश्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर, कोबा के केतनभाई एवं उनकी टीम को भी धन्यवाद है। इस ग्रन्थ में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहकार प्राप्त हुआ है उन सभी को हार्दिक धन्यवाद। अधिकृत मुमुक्षु अभ्यासी वर्ग इस ग्रन्थ का साद्यन्त अवगाहन-निमज्जन कर के आत्मश्रेय प्राप्त करे यही अन्तर की अभ्यर्थना!

चाह नहीं इतिहासों की स्याहि में नामनिशान रहे।
चाह नहीं जग के गीतों में मेरा गौरव-गान रहे।
चाह यही है मेरे मुख में तेरा मंगल-गान रहे।
परोपकार के पावन पथ में बस मेरा विश्राम रहे।।

मरुधर जैन संघ, हुबली
श्रावण सुद - १४, २०४७ **मुनि यशोविजय**

विषय	पृष्ठ
विवरण के मङ्गलश्लोक का विशेषार्थ	२
प्रकरण का उपोद्घात	३
वचनविभाग में निष्णात ही वाग्गुप्ति का अधिकारी	४
वचनविभाग में अकुशल का मौन अकिञ्चित्कर	५
अवसरोचित वचनप्रयोग न करने पर दोष	५
यह प्रकरण मोक्षप्रयोजक	७
प्रतिज्ञा की आवश्यक्ता	७
शिष्टत्वनिरुक्तिः	८
शिष्टाचारपालन मङ्गल का प्रयोजन नहीं है-पूर्वपक्ष	८
बदरीनाथशुक्लवचनसमीक्षा	९
मङ्गलजन्य अपूर्व की कल्पना अप्रामाणिक-पूर्वपक्ष जारी	१०
समाप्तिपदार्थप्रकाशनम्	११
शिष्टाचारपालन भी मोक्ष का प्रयोजन-उत्तरपक्ष	१२
अपूर्व मङ्गल का कार्य है	१३
उपक्रमोपसंहारविरोधपरिहारप्रकारः	१४
प्रकरणकार का प्रयोजन	१४
भाषापद के निक्षेप	१४
नोआगमतः द्रव्यभाषा	१५
निक्षेपसमुच्चयनिरूपणम्	१५
हारिभद्रवृत्ति-भाष्य-विवरणविरोधपरिहार-प्रदर्शनम्	१५
प्रयत्न-सप्तम्यर्थनिरूपणम्	१६
विपरिणत अनुषङ्ग	१६
ग्रहण-निसरण-पराघात द्रव्यभाषा निरूपण	१६
चूर्णिवृत्त्योरुभयोः प्रामाण्यम्	१८
भाषाद्रव्यविषयक द्रव्यादि चतुष्कविचार	१८
भाषाजघन्यस्थितिमीमांसा	२१
भाषाद्रव्य में स्पर्शविचार	२०
न्यायलीलावती-भूषण-प्रशस्तपादभाष्य-चिन्तामणि-मुक्तावलीकार-प्रभृतिमतनिरासः	२२
मुक्तावलीमञ्जूषा-चिन्तामणिकार-भर्तृहरिमतापाकरणम्	२२
शब्दे द्रव्यत्वसिद्धिः	२३
शब्दे स्पर्शमीमांसायामागमादिविरोधपरिहार-प्रकाशनम्	२४
भाषा में स्पर्शसंख्याविचारः	२३
भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा षट्स्थानपतित है	२५
जीव स्पृष्ट आदि भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है	२७
स्वावगाहक्षेत्रस्थित भाषाद्रव्य का ग्रहण	२८
आनुपूर्वीस्वरूपविमर्शः	२९
भाषाद्रव्यनिसरणे विचारविशेषः	३१
भिन्न निसरण भाषाद्रव्यों कि लोकव्यापिता	३३
अभिन्न भाषाद्रव्यस्वरूप	३४
भेद के पाँच प्रकार	३६
सङ्गतिफलप्रदर्शनम्	३४
श्रुतसागरमतनिकन्दनम्	३५
खण्डभेद आदि का लक्षण	३६
भेदलक्षणप्रदर्शनम्	३६
खण्डभेद आदि के दृष्टान्त	३८
भेदपर्यायस्वीकारपक्ष में भाषा द्रव्य का नाश नहीं है	३९
खण्डघटोत्पादविचारः	३६
विशिष्टद्रव्यनाश सामान्यद्रव्य का विरोधी नहीं-स्याद्वादी	४०
छिद्रघटरूप नवीनद्रव्य के उत्पाद में दोषों की परम्परा	४१
सछिद्रघट की सामग्री भिन्न है-नैयायिक	४२
सछिद्रघट की सामग्री घटसामग्री से भिन्न-स्याद्वादी	४२
द्रव्यानाशकतानिरूपणम्	४२
सछिद्र घट की सामग्री अलग मानने पर व्यवहार का अपलाप	४२
भेदविशेषरूप से भेद द्रव्यनाशक है-स्याद्वादी	४३
भिन्न भाषाद्रव्यों में परस्पर अल्पबहुत्व	४४
पराघात द्रव्यभाषा	४६
आवश्यकनिर्युक्ति की साख	४७
ग्रहणादिभाषा द्रव्यप्राधान्यविवक्षा से द्रव्यभाषा है	४७
द्वाभ्यां समयाभ्यां भाषते भाषां-सिद्धान्त का विरोध	४८
वचोयोगप्रभवा भाषा - सिद्धान्त का विरोध	४८
भाष्यमाणा भाषा - सिद्धान्त का विरोध	४९
द्रव्यभाषालक्षणम्	४९
उद्देश्यविधेयभावविचारः	५०
भाष्यमाणा भाषा - प्रयोग समीचीन है	५०

विषय	पृष्ठ
भाष्यमाणा भाषा - यह भाषालक्षण **अव्याप्तिदोषग्रस्त-पूर्वपक्ष**	५१
संस्कार आधान करने पर भी निसरणभाषा में शब्दपरिणाम रहता है	५२
सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय से भी **'भाष्यमाणा भाषा'** सिद्धान्त तथ्यहीन	५४
भाष्यमाणा भाषा-सिद्धान्त क्रियारूप भावभाषा के उद्देश्य से है-उत्तरपक्ष	५४
प्रमेयकमलमार्तण्डकारमतापाकरणम्	५४
एवंभूतनय से भाषण के पूर्वोत्तरकाल में भाषा का निषेध	५४
भावभाषा का प्रतिपादन	५५
वचन भावभाषा नहीं है - पूर्वपक्ष	५६
वचन भावभाषारूप है - उत्तरपक्ष	५६
अर्थघटन परिभाषाकार की इच्छा के अनुसार	५७
शब्दप्रमाण नहीं है - बौद्ध	५७
विकल्प और शब्द में कार्यकारणभाव - बौद्ध	५८
अनुमान प्रमाण है - बौद्ध	५९
मिथ्यात्वकल्पनापेक्षया सत्यत्वकल्पने लाघवोपदर्शनम्	६१
शब्द निर्णायक होने से प्रमाण है - स्याद्वादी	६०
शब्दस्थल में प्रतिबन्दी	६०
सामग्री कार्यजनक है	६१
न्यायकन्दलीकारलीलावतीकारोक्तिकर्तनम्	६३
शब्द स्वतन्त्रप्रमाण नहीं है - वैशेषिक	६१
शब्द स्वतन्त्रप्रमाण है - स्याद्वादी	६२
व्यतिरेकव्यभिचार से भी शब्द अनुमानरूप नहीं है	६३
न्यायकन्दलीकार निरूपणस्यान्याय्यत्वम्	६३
अनुमान भी प्रमाण नहीं है - नास्तिक	६४
सम्भावना से प्रवृत्ति की उपपत्ति - चार्वाक	६४
अनुमान भी निश्चायक होने से प्रमाण है-जैन	६४
संभावनापक्ष में लाघव - नास्तिक	६४
संशय की अपेक्षा निश्चय का स्वरूप गुरुभूत है - चार्वाक	६६
धूमदर्शन का कार्यतावच्छेदक संभावनात्व नहीं है - स्याद्वादी	६६
नास्तिकमत में प्रसिद्ध अवधारण की अनुपपत्ति	६८
निश्चयत्वोपक्षया संभावनात्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवम्	६७
लाघवत्रैविध्यप्रदर्शनम्	६७
सम्भावनात्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे	६८
प्रतिबध्यतावच्छदेकगौरवम्	६८
चार्वाक के मत में अनुव्यवसाय की अनुपपत्ति	६८
आगमप्रमाण से भी भाषा में निश्चायकत्व	६९
भावभाषा के तीन भेद	७०
पर्याप्त और अपर्याप्तरूप से भाषा द्विविध	७१
अवधारणीयत्व का तात्त्विक अर्थ	७१
अवधारणीयत्वलक्षणविमर्शः	७१
सत्यभाषालक्षण-व्यवहारनय से	७३
परिभाषास्वरूपाकलनम्	७४
असत्य, मिश्र, अनुभय भाषा का लक्षण- व्यवहार नय से	७३
परिभाषा प्रश्नार्ह नहीं है	७५
भाषा के दो भेद हैं - निश्चयनय	७५
'द्रव्यं रूपवत्' वाक्यविचार	७५
'अशोकवनं' वाक्यविचार	७६
बन्धहेतुभङ्गप्रकरणविरोधपरिहारप्रकारः	७७
कर्मधारय समासस्थल में अर्थबोध	७६
प्राधान्यप्रतिपादन की दृष्टि से मिश्रभाषा भी व्यवहारसत्य	७७
असत्यामृषा भाषा स्वतन्त्र नहीं है-निश्चयनय	७७
आज्ञापनी भाषा सत्यभाषा भी है-प्रज्ञापनासूत्र	७८
प्रज्ञापनासूत्र का समर्थन	७९
संभावनाअभिप्राय से जातिसूत्र की उपपत्ति	८०
आज्ञापनीभाषा में सत्याऽसत्यान्यतरत्व निश्चित है	८१
स्त्र्यादिलक्षणप्रतिपादनम्	८२
प्रज्ञापनी भाषा भी सत्य भाषा है	८१
वेदानुगतलक्षणप्ररूपण की अपेक्षा प्रज्ञापनी सत्यभाषा है	८२
भाषा के भेद चार हैं - व्यवहारनय	८३
इतिनञ्पदार्थप्रदर्शनम्	८३
अवतरणिकाचतुष्कावेदनम्	८४

विषय	पृष्ठ
भाषा के दो भेद हैं - निश्चयनय	८३
भाषानिमित्त संकल्प में ही आराधकत्व या विराधकत्व है - निश्चयनय	८४
भाषा में ही आराधकत्वादि मानना युक्त है - व्यवहारनय	८५
भाषायाः कर्मबन्धादिकं प्रत्यन्यथासिद्धत्वम्	८४
विप्रतिपत्तिप्रदर्शनम्	८८
संकल्प में ही आराधकत्व या विराधकत्व मानना युक्त है - निश्चयनय	८५
निश्चयनय से भाषा के दो भेद का समर्थन	८६
अपेक्षा से सर्वभाषा सत्य है - निश्चयनय	८७
समकालीनकार्यकारणभावोपपादनम्	८८
शुद्धनिश्चयनयरहस्यप्रदर्शनपूर्व विरोधपरिहारः	८८
आयुक्तपरिणाम का अर्थ	८९
दशवैकालिकवचनविरोधपरिहारप्रतिपादनम्	९०
दो न भासिज्ज सव्वसो का विरोध नहीं है - निश्चयनय	८९
दो न भासिज्ज-सूत्र में अन्य विद्वानों का अभिप्राय	९०
अन्यमताऽस्वरसप्रदर्शनम्	९०
अनायुक्त परिणाम से बोलनेवाला विराधक-प्रज्ञापनासूत्र	९०
व्यवहारनय का विषय भी वास्तविक है	९१
चतुर्विधत्वादितुच्छत्वनिरासकप्रयोगप्रदर्शनम्	९५
स्त्रीत्वादि अर्थनिष्ठ है - शाकटायनाचार्य	९३
स्त्रीत्वादि अर्थनिष्ठ है - प्रज्ञापनासूत्र	९३
व्यवहार के बल से भाषा में चतुर्विधत्व की सिद्धि	९४
भाषा में द्विविधत्व और चतुर्विधत्व दोनों वास्तविक	९५
प्रज्ञापनासूत्रनिष्कर्षोन्नयनम्	९३
नयविशेष का आश्रयण गौण-मुख्यभाव की सिद्धि के लिये	९५
सत्यभाषा का लक्षण	९७
प्रामाण्यनिर्वचनम्	९७
एवकारप्रयोग के बिना भी अवधारण प्राप्य है	९८
अवधारण बाधित होने से एकान्तवादी का वचन असत्य	९९
पारिभाषिकआराधकत्व - सत्यभाषा का द्वितीयलक्षण	९९
विहितत्वेन आराधकत्व को मानने में असंभव दोष	९९
अन्योन्याश्रयत्रैविध्यद्योतनम्	१००
आराधकत्वस्वरूपगोचरः विचारविशेषः	९९
सम्यगुपयोगपूर्वकत्व आराधकत्व नहीं है	१००
प्रातिस्विकरूप से आराधकत्व सत्यभाषा का लक्षण नहीं है	१०१
सत्यभाषा के दश भेद-व्यवहारनय	१०१
जनपदसत्यभाषा-१	१०२
वर्धमानोपाध्यायमतनिरासः	१०३
अपभ्रंश में शक्ति नहीं है - नैयायिक	१०२
न्यायमञ्जरी-व्युत्पत्तिवादकारमतनिकन्दनम्	१०४
ईश्वरेच्छास्वरूप शक्ति असिद्ध - स्याद्वादि	१०३
शक्ति संकेतस्वरूप है	१०४
वर्धमान-नृसिंह-दिनकराभिप्रायसमालोचनम्	१०५
शास्त्र की अपभ्रंश-अर्धमागधी भाषा सत्य ही है- स्याद्वादी	१०५
वृषभदेववचननिरासः	१०६
सम्मतसत्यभाषा-२	१०७
सम्मतसत्यभाषालक्षण अतिव्याप्तिदोषग्रस्त-पूर्वपक्ष	१०७
शशधरशर्ममतालोचनम्	१०७
संकेतमात्र शक्ति न होने से सम्मत सत्यभाषालक्षण निर्दोष-उत्तरपक्ष	१०८
शक्तिस्वरूपविचारः	१०८
स्थापनासत्य भाषा - ३	११०
प्रकरणादि के बल से अर्थनियमन	११०
स्थापनासत्यत्वप्रतिपादकसूत्राणां त्रैविध्यप्रदर्शनम्	१११
स्थापनासत्यभाषा का लक्षण	१११
कुमारिलभट्ट-भर्तृहरिमतनिराकरणम्	११२
प्रतिमा में अरिहंतपदप्रयोग नितांत सत्य	१११
सूत्रापलाप से आशातका और अनन्तसंसार	११२
सद्भूतस्थापना में भी शक्ति है - नैयायिक की साख	११३
लाघवतर्क से गोत्वविशिष्ट में शक्ति-नव्यनैयायिक	११३

विषय	पृष्ठ
मुक्तावलीकार-दिनकरीय-नव्यमतालोचनम्	११४
आनुशासनिक गुरु अर्थ में भी शक्ति है	११४
बाधक न होने पर स्थापना में भी शक्ति है	११५
स्थापना में निरूढ लक्षणा का भी संभव है	११६
अवतरणिकाविमर्शः	११६
स्थापनायां विचारविशेषः	११६
कल्पन्तरावतारबीजावेदनम्	११६
सम्मतसत्य और स्थापनासत्य के लक्षणों में सांकर्य नहीं है	११६
दिक्पदविवरणम्	११६
उपाध्यसाङ्कर्यप्रदर्शनम्	११७
नामसत्यभाषा - ४	११७
मध्यस्थव्यवहार के बल से नाम भाषा सत्य	११८
यथार्थ नाम परिणामसत्य है	११९
छलभाषायां विमर्शविशेषः	११८
रूपसत्य भाषा - ५	१२०
सदालयादि लिंग से द्रव्यलिंगी में यतिशब्दप्रयोग निर्जराजनक	१२१
स्थापनासत्य भाषा से रूपसत्य भाषा भिन्न है	१२२
विजातीय और निर्दोष चीज में ही स्थापना होती है	१२२
स्थापना और रूप भिन्न है	१२३
प्रतीत्यसत्य भाषा - ६	१२३
अभिनवप्रतिबध्यतावच्छेदकप्रदर्शनम्	१२४
लक्षणदर्शनपूर्वं प्रतीत्यसत्यायां निदर्शनान्तराणि	१२४
गलत निमित्त बताने पर भाषा मृषा	१२५
निमित्त के भेद से विरोध का परिहार	१२६
भासर्वज्ञमतापाकरणम्	१२६
द्रष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में वैषम्यता की शंका	१२६
निमित्त के अनेक भेद हैं - समाधान	१२७
तत्त्वोपप्लव-न्यायभूषणकारमतनिराकरणम्	१२८
निंबार्कभाष्य-निबाकभाष्यटीका-वेदान्तदीप-भास्करभाष्यभामती-न्यायभूषण-श्रीकण्ठभाष्य-हेतुबिन्दुटीकाकारमतसमीक्षा	१२९
प्रमाणवार्तिककारमतनिरासः	१३०
एक धर्मी में अवच्छेदक भेद से विलक्षण प्रतीत्यभावों का समावेश	१३४
प्रतीत्यभाव सर्वथा अविरोधी नहीं है	१३४
भामतीकार प्रतिभायाः पलायनम्	१३१
कल्पतरुकार-अनेकान्तवाद निरासकल्पतरु-परिमलकारविज्ञानामृत-भाष्यमतकर्तनम्	१३२
आधुनिकानां बलदेव-दामोदर-राधाकष्ण-हिरियन्नादीनां मतसमीक्षा	१३२
विज्ञानामृतभाष्य-श्रीकण्ठभाष्य-भामतीकारप्रभृतीनां समीक्षा	१३३
उपनिषदां स्याद्वादसाधकत्वम्	१३४
गङ्गेशमतप्रतिक्षेपः	१३४
प्रतीत्यभाव काल्पनिक है - शंका	१३६
अवच्छेदकत्वस्वरूपविमर्शः	१३४
ऊहनीयंपदविचारः	१३५
दिगर्थनिरूपणम्	१३५
प्रतीत्यभाव सापेक्ष होने पर भी वास्तविक-समाधान	१३६
भौतिविकल्पप्रकटीकरणम्	१३५
प्रतीत्यभाव पारमार्थिक है	१३७
पारमार्थिक भाव सापेक्ष और निरपेक्षरूप से द्विविध	१३७
बर्कलीमतप्रत्याख्यानम्	१३७
सङ्क्षेपशारीरककार-मुक्तावलीकारमतखण्डनम्	१३८
जलसंचार के पूर्व भी शराव में गन्ध की सिद्धि	१३८
पिलुपाकवादी की शंका	१३९
गन्धनाशकल्पना अयुक्त - स्याद्वादी	१३९
प्रशस्तपादभाष्यमतनिरासः	१३९
द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि से जन्य है - नैयायिक	१४०
द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि से व्यङ्ग्य है-स्याद्वादी	१४०
द्वित्व में चैत्रीयत्व न होने से नैयायिकमत अस्वीकार्य	१४१
कल्पलताविरोधपरिहारः	१४१
प्रशस्तपादभाष्यस्य अप्रशस्तत्वप्रतिपादनम्	१४२
व्यवहारसत्यभाषा - ७	१४३
व्यङ्ग्यभावे द्वैविध्यनिरूपणम् 'नदी पीयते' वचनप्रयोजनम्	१४३
व्यवहारसत्यभाषा के दृष्टान्त	१४४

विषय	पृष्ठ
व्यवहारसत्यवचनानां सप्रयोजनत्वनिरूपणम्	१४४
व्यावहारिक अभेद की अपेक्षा 'दह्यते गिरिः' भाषा सत्य	१४५
पशुत्वस्योपाधित्वप्रतिपादनम्	१४५
व्यवहारसत्याया लक्षणोन्नयनम्	१४६
एकेन्द्रिय में स्त्रीत्वादिप्रतिपादन व्यवहारसत्य	१४६
भावसत्यभाषालक्षणोन्नयनम्	१४७
दिक्शब्दार्थप्रदर्शनम्	१४७
भावसत्यभाषा - ८	१४७
व्यवहार के दो भेद	१४८
व्यवहारसत्यभाषा केवल लोकिकविवक्षाघटित	१४९
एकधर्मी में अनेक रूप नहीं हो सकते हैं - नैयायिक	१५०
चुर्णिकारवचनविरोधपरिहार	१४९
शुक्लेतर रूप को शुक्लरूपप्रतिबन्धक न मानने पर आपत्ति	१५०
चित्ररूपमीमांसा	१५०
चित्ररूप के अस्वीकार में नीलावच्छेदेन	१५०
पीतरूपप्रत्यक्षतापत्ति-नैयायिक	१५०
मुक्तावलीदिनकरीयसमालोचना	१५२
एक धर्मी में अनेक रूप प्रमाणसिद्ध है - स्याद्वादी	१५१
नियतारम्भवाद अप्रामाणिक	१५२
उदयनाचार्य-पन्नगाचार्य-शङ्कराचार्यमतसमीक्षा	१५३
अतिरिक्त चित्ररूप अप्रामाणिक - स्याद्वादी	१५२
योग्य रूप का ही प्रत्यक्ष होता है	१५३
अवयवगत अनुत्कटरूप अवयवी में उत्कटरूप का प्रतिबन्धक-नैयायिक	१५४
गङ्गेशमतसमालोचनम्	१५५
उत्कटत्व परिणामविशेषप्रयोज्य है-स्याद्वादी	१५५
अनुत्कटरूप उत्कटरूप का प्रतिबन्धक नहीं है	१५६
उत्कटत्व जातिस्वरूप नहीं है	१५६
मुक्तावलीकारवचनापाकरणम्	१५६
दिक्शब्दार्थावेदनम्	१४७
योगसत्य भाषा - ९	१५८
साङ्कर्यस्य जात्यबाधकत्वविचारः	१५७
विश्वनाथ-नृसिंह-गङ्गेशमतसमीक्षा	१५९
मुक्तावलीप्रभाकारमतखण्डनम्	१५६
गङ्गेश-रघुनाथशिरोमणिमतपराकृतिः	१६०
ध्येयंपदव्याख्यानम्	१६०
विशेषण के अभाव में वर्तमान सम्बन्ध के स्वीकार में दोष	१५९
मतभेदेन उपमास्वरूपनिरूपणम्	१६१
औपम्यसत्य भाषा - १०	१६१
पर्यायत्वनिर्वचनम्	१६२
उपमान के दो भेद	१६२
कल्पित उपमान भी प्रयोगार्ह	१६३
कल्पित उपमान का प्रयोजन - अनित्यता आदि प्रतिपादन	१६४
गदाधरमतगिलनम्	१६४
भाषास्वरूप-विभागादिगोचरः विमर्शविशेषः	१६५
स्वत उच्चारणनिर्वचनम्	१६५
शशशृङ्गादिवचनविमर्शः	१६५
खरविषाणादि शब्द प्रयोजनवश उपादेय	१६५
प्रत्येक उपमान के चार भेद	१६६
उपमान भेद-प्रभेदादि का नकशा	१६६
आहरण के चार भेद	१६७
अपाय आहरण १/१	१६७
द्रव्यानुयोग में अपाय आहरण	१६९
उपाय आहरण के चार भेद २/१	१६९
भावउपाय - अभयकुमार मंत्री	१७०
द्रव्यानुयोगापायाहरणे विचारविशेषः	१६९
विश्वनाथवचनस्याऽविश्वसनीयत्वाविष्करणम्	१६९
स्थापना उदाहरण ३/१	१७१
प्रत्युत्पन्नविन्यास उदाहरण ४/१	१७२
स्थापनाप्रत्युत्पन्नविन्यासयोः भिन्नत्वसाधनम्	१७२
निषेध वचन से आत्मसिद्धि	१७३
तद्देश उपमान २	१७३
द्रव्यानुयोग में अनुशास्ति तद्देश उपमान १/२	१७४
अनङ्गवज्रकृति-वाचस्पतिमिश्रयोर्मतखण्डनम्	१७५
उपालम्भ तद्देश २/२	१७५
पृच्छा तद्देश ३/२	१७६
उपालम्भानुशास्त्योः वैलक्षण्यम्	१७६

विषय	पृष्ठ
द्रव्यानुयोग में पृच्छा - तद्देश उपमान	१७७
निश्रावचन तद्देश ४/२	१७७
तद्दोष उदाहरण में अधर्मयुक्त उदाहरण १/३	१७९
प्रतिलोम तद्दोष उदाहरण २/३	१७९
ध्येयंपदव्याख्यानम्	१७८
प्रतिलोमस्थापनयोविशेषाविष्करणम्	१८०
नयवादाश्रयणस्योपादेयत्वविचारः	१८०
द्रव्यानुयोगाधिकृत प्रतिलोम तद्दोष	१८०
त्रिराशिमतविचारः	१८१
द्रव्यानुयोग प्रतिलोम तद्दोष उपमान में दोषप्रदर्शन	१८१
आत्मोपन्यास तद्दोष उदाहरण ३/३	१८१
द्रव्यानुयोग में आत्मोपन्यास	१८२
दुरुपनीत तद्दोष उदाहरण ४/३	१८३
शौचनिरुक्तिः	१८२
उपन्यास उदाहरण ४	१८४
चरणकरणानुयोगाधिकृत तद्वस्तूपन्यास उदाहरण १/४	१८५
तद्वस्तूपन्यासे निदर्शनान्तरनिरूपणम्	१८४
मांसभक्षणादि सदोष है	१८६
ज्ञानसिद्धिकार-प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धिकार-मतनिरासः द्रव्यानुयोग में तद्वस्तु उपन्यास	१८७
तदन्यवस्तु उपन्यास २/४	१८८
चरणकरणानुयोग में तदन्यवस्तूपन्यास	१८८
द्रव्यानुयोग में तदन्यवस्तूपन्यास	१८७
ध्येयंपदव्याख्यानम्	१८८
प्रतिनिभे विमर्शविशेषः	१९०
प्रतिनिभ उपन्यास ३/४	१९०
हेतु उपन्यास उदाहरण ४/४	१९१
यावत्त्वनिर्वचनम्	१९२
सदुपमानघटित भाषा सत्य है	१९२
संभावित धर्म पुरस्कार से उपमाप्रवृत्ति	१९२
असाधारण्यनिर्वचनम्	१९३
ध्येयंपदव्याख्यानम्	१९३
असाधारण धर्म से उपमा की प्रवृत्ति	१९३
व्यतिरेक अलंकार का समावेश	१९४
व्यतिरेकालङ्कारविमर्शः	१९४

विषय	पृष्ठ
दिक्पदार्थप्रदर्शनम्	१९४
शास्त्र के तात्पर्य के अनुसार ही अर्थव्याख्यान मुनासिब	१९५
केवल यथाश्रुतार्थव्याख्यान में आगम की आशातना	१९६
हेतुवादागमवादविषयमीमांसा	१९६
द्वितीयः स्तबकः	१९८
असत्यभाषा लक्षण और भेद	१९८
उपमासत्य भाषा मृषा नहीं है	१९९
मृषाभाषालक्षणद्वयभेदप्रदर्शनम्	१९९
मृषाभाषा का पारिभाषिक लक्षण	१९९
मृषा भाषा के द्रव्य-क्षेत्र आदि की अपेक्षा चार भेद	१९९
निर्युक्तिवचनविरोधपरिहारः	२००
द्रव्य-भाव में असत्य वचन की चतुर्भंगी	२००
असत्य भाषा के १० भेद	२०१
क्रोधनिःसृत असत्यभाषा १/२	२०२
क्रोधप्रयुक्त सब वचन मृषा ही है	२०२
योगनिमित्तक कर्मबन्ध कषाय के अनुरूप ही होता है	२०४
अप्रशस्तकषायप्रयुक्त भाषा अत्यन्त दुष्ट है	२०४
कर्मबन्धहेतुतायां विचारविशेषः	२०४
माननिःसृत असत्य भाषा २/२	२०५
मायानिःसृत असत्य भाषा ३/२	२०६
लोभःनिःसृत असत्य भाषा ४/२	२०६
प्रेमनिःसृत मृषा भाषा ५/२	२०७
द्वेषनिःसृत मृषा भाषा ६/२	२०७
द्वेष और क्रोध की भेदरेखा	२०८
हास्यनिःसृत मृषा भाषा ७/२	२०९
अतिशयस्वरूपनिरुक्तिः	२०८
तृतीयार्थनिरूपणम्	२१०
भयनिःसृत मृषा भाषा ८/२	२०९
भारतरामायणाऽसम्बद्धवचनोल्लेखः	२१०
आख्यायिकानिःसृत मृषा भाषा ९/२	२१०
उपघातनिःसृत मृषा भाषा १०/२	२१२
उपनिषदादीनामप्रामाण्याविष्करणम्	२११

विषय	पृष्ठ
मृषा भाषा को लक्षणा से सत्य बताना अयुक्त	२१३
प्रशस्तपरिणामस्य सत्यत्वसम्पादकत्वसाधनम्	२१२
विभागभेदकादिविचारः	२१३
राग, द्वेष, मोह-मृषाभाषा के असाधारण कारण	२१४
मृषा भाषा का दशविध विभाग ही युक्तिसंगत है	२१६
स्थानाङ्गवचनविरोधपरिहारः	२१७
मृषा भाषा के चार भेद	२१६
भाषायां यथासम्भवविभागान्तराविष्करणम्	२१८
तृतीयः स्तबकः	२१९
मिश्रभाषा लक्षण और भेद	२१९
मिश्रभाषा से शुभाशुभकर्मबन्ध नामुमकिन	२२०
मिश्रभाषा के दशभेद	२२०
दिगर्थविभावनम्	२२०
मिश्रभाषाविशेषस्यैव दशविधत्वकथनम्	२२२
मिश्रभाषा का विभाग निर्दोष है	२२१
मिश्रभाषाविभागे विचारविशेषः	२२२
ध्येयमितिव्याख्याने मिश्रभाषालक्षणप्रकाशनम्	२२४
अव्याप्ति का दूसरे ढंग से निराकरण	२२२
'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'तिवचनमीमांसा	२२४
धर्मी अंश में प्रमात्वजनकत्व मिश्रभाषात्व का आपादक नहीं है	२२३
'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'वचन मिश्रभाषारूप नहीं है	२२४
दिक्पदार्थविभावनम्	२२५
उद्देश्यविधेयभावस्थले व्याप्तिभाननिरूपणम्	२२६
उत्पन्नमिश्रित भाषा १/३	२२६
मिश्रभाषा में सत्यत्व औपचारिक नहीं है	२२७
निग्रहप्रयोजने विमर्शः	२२७
दिक्पदार्थव्याख्यानम्	२२९
विगतमिश्रित भाषा २/३	२२९
उत्पन्नविगतमिश्रित भाषा ३/३	२३०
मिश्रभाषातृतीयभेदचतुर्भंगीप्रदर्शनम्	२२९
जीवमिश्रित भाषा ४/३	२३१
उभय प्रत्येकसम्बन्धी है, प्रतिनियत एकव्यक्तिसम्बन्धी नहीं	२३१
समूह एकात्मक भी है, अनेकात्मक भी है	२३२
आंशिकसत्यत्वमपि प्रसिद्धव्यवहारानुसारेण	२३३
अजीवमिश्रित मिश्रभाषा ५/३	२३३
अवच्छिन्नत्वपदार्थोपदर्शनम्	२३५
जीवाजीवमिश्रित सत्यामृषा भाषा ६/३	२३४
अनंतमिश्रित सत्यमृषा भाषा ७/३	२३५
अनंतमिश्रित भाषा में आंशिक सत्यत्व भी है	२३५
समुदायावच्छिन्नत्व प्रत्येकावच्छिन्नत्व से अनतिरिक्त है	२३६
दिक्पदार्थाविष्करणम्	२३६
प्रत्येकमिश्रित सत्यामृषा भाषा	२३७
स्वतंत्र परित्तअनंतमिश्रित भाषा नहीं है	२३७
प्रत्येकानन्तकायवचनप्रयोगविवक्षाहेतूपदर्शनम्	२३८
चूर्णिकार का वचन	२३८
चूर्णिकार के वचन का फलितार्थ	२३९
अद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा ९/३	२३९
अद्धामिश्रित भाषा सत्यामृषा नहीं है-नैयायिक	२४०
अद्धामिश्रितभाषा सत्यामृषा है - स्याद्वादी	२४१
मिश्रभाषाया दशविधत्वातिरेकप्रत्याख्यानम्	२४१
अद्धाऽद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा १०/३	२४२
चतुर्थः स्तबकः	२४३
असत्यामृषालक्षणमीमांसा	२४२
असत्यामृषा के लक्षण एवं भेद का निरूपण	२४४
सम्बोधनपदार्थप्रकाशनम्	२४५
आमन्त्रणी असत्यामृषा भावभाषा १/४	२४४
अमन्त्रणी भाषा में असत्यामृषात्व के तीन हेतु	२४५
आज्ञापन्यां विचारविशेषः	२४६
आज्ञापनी भाषा २/४	२४६
आज्ञापनी व्यवहारनय से न सत्य है, न मृषा	२४६
करणाऽकरणाऽनियमविचारः	२४७
आज्ञापनी में असत्यामृषात्व के समर्थक दो हेतु	२४८
दिगित्युक्तिव्याख्याने आज्ञापन्यां विमर्शविशेषः	२४९
याचनी भाषा ३/४	२४९
दानस्वरूपमीमांसा	२५०
व्यवहारनय से याचनी भाषा असत्यामृषा ही है	२५१
परमार्थतः तीर्थंकर में दातृत्व है	२५२
निष्क्रियप्रार्थनामृषात्वबीजावेदनम्	२५३
तीर्थंकर में पारमार्थिक दातृत्व है	२५३

विषय	पृष्ठ
पृच्छनी भाषा ४/४	२५४
मतभेदेन पृच्छानिरुक्तिः	२५४
सोमिलपदवाच्यानामाविष्करणम्	२५४
वाक्यविषये मतभेदप्रदर्शनम्	२५५
सोमिल ब्राह्मण की भाषा	२५४
प्रज्ञापनी भाषा	२५५
विध्यर्थे भट्ट-गुरु-वाचस्पतिमिश्र-मण्डनमिश्रनैयायिकादि-मताविष्करणम्	२५६
वैयाकरणादिमतनिरासः	२५६
प्रवर्तकज्ञानस्वरूपमीमांसा	२५७
प्रज्ञापनी भाषा का लक्षण	२५७
अर्थवादानां प्रवृत्त्यादिसाधनत्वादिसिद्धिः	२५८
अर्थवाद भी प्रज्ञापनी भाषा है	२५८
उद्देश्यविधेयभावे कार्यकारणभाव-ज्ञानजनकत्वविचारः	२५९
अर्थवाद में अन्य विद्वानों का अभिप्राय	२५९
निषेध्यत्वद्वैविध्यनिरूपणम्	२६०
प्रत्याख्यानी भाषा ६/४	२६०
इच्छानुलोमा भाषा ७/४	२६१
अर्थतः आप्ताभिप्राय का ज्ञान मुमकिन	२६२
इच्छाद्वैविध्यनिरूपणम्	२६१
कश्चिदित्युक्तिबीजप्रकाशनम्	२६४
अभिनवमिच्छानुलोमलक्षणम्	२६३
उपाय इच्छा का सहकारी कारण वचन भी इच्छानुलोम	२६३
शृङ्गग्राहिकान्यायप्रदर्शनम्	२६५
इच्छानुलोम भाषा में अन्यमत	२६३
अनभिगृहीत भाषा ८/४	२६४
वाकारप्रश्लेषपूर्वं व्याख्यानान्तरम्	२६६
प्रवृत्ति के अप्रतिबन्धक अनवधारण का निवेश	२६५
अनभिगृहित भाषा का फल	२६६
डित्थादिपदार्थप्रतिपादने रघुनाथमतनिराकरणम्	२६७
वृत्ति-टिप्पण-चूर्णिविरोधपरिहारप्रकारप्रदर्शनम्	२६७
अवधेयमित्युक्तिविभावनम्	२६७
अनभिगृहीत भाषा में आदेशान्तर का प्रदर्शम	२६६
अभिगृहीतायां विमर्शविशेषः	२६६
प्रकरणादीनां तात्पर्यग्राहकत्वविचारः	२६८
अभिगृहीत भाषा ९/४	२६८
संशयकरणी भाषा १०/४	२६९
अनेकार्थक शब्द से संशय की उत्पत्ति	२६९
मुक्तावलीकारमतनिरासः	२६९
मध्यमस्याद्वादरहस्यवचनविरोधपरिहारः	२६९
ध्येयमित्युक्तिव्याख्यानम्	२७०
संशयकरणी भाषा का लक्षण	२७०
व्याकृत भाषा ११/४	२७१
व्याकृतभाषालक्षणम्	२७१
अव्याकृतभाषायां कल्पान्तरबीजावेदनम्	२७२
बालादिभाषास्वरूपविचारः	२७२
प्रसङ्गसङ्गतिलक्षणोपदर्शनम्	२७३
अव्याकृत भाषा १२/४	२७२
पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच की भाषा	२७४
कुपित सामान्य तिर्यंच की भाषा व्यवहारतः असत्यामृषा	२७४
अवधेयमित्युक्तिविभावनम्	२७५
श्रुतविषयक भावभाषा २	२७५
श्रुतभावभाषायां मिश्रत्वाभावस्थापनम्	२७६
अभिनवं भावभाषालक्षणम्	२७७
निरुपचरितद्रव्यभाषावेदनम्	२७८
आधुनिकध्वनियन्त्रोद्भवशब्दस्वरूपविचारः	२७८
कल्पान्तरप्रदर्शनबीजाविष्करणम्	२७९
उपयुक्तत्व और अनुपयुक्तत्व के विरोध का परिहार	२७७
विवक्षा के अभाव में शब्द की अनुत्पत्ति	२७८
मिथ्यादृष्टेरज्ञानित्वनिरूपणम्	२८०
मिथ्यादृष्टि की श्रुतविषयक सर्व भावभाषा असत्य है	२७९
दिगर्थविभावनम्	२८१
द्रव्यभावसत्यत्वयोर्बलाबलत्वविचारः	२८१
श्रुतविषयक भावभाषा में श्रुतसामान्य का अधिकार	२८१
बहुश्रुतभव्याभव्यभाषास्वरूपविचारविशेषः	२८२
ज्ञानचतुष्कानुपादानहेतुप्रदर्शनम्	२८३
असत्यामृषा श्रुतभावभाषा	२८३
द्रव्यश्रुत की अपेक्षा केवली में भावभाषा	२८४

विषय	पृष्ठ
केवलिनि द्रव्यश्रुतसद्भावसिद्धिः	२८४
ध्येयमित्युक्तिविभावनम्	२८५
वचनविभागवैविध्याख्यानम्	२८६
चारित्रविषयक भावभाषा के दो भेद	२८५
अपवादतो मृषामिश्रभाषणानुज्ञाऽऽविष्कारः	२८७
पञ्चमः स्तबकः	२८८
(विनयशिक्षाधिकारः)	
मतभेदेन विनयस्वरूपप्रकाशनम्	२८८
कालशङ्कितभाषा बोलना निषिद्ध है	२८७
नक्षत्र आदि का आपवादिक वचन	२८९
अन्यनिश्चित भाषा के कथन की पद्धति	२८९
देश शंकित भाषा अवक्तव्य	२९०
अवक्तव्यषड्विधवचनप्रकाशनम्	२८९
अनवधृत भाषा अवाच्य है	२९०
उपघातक भाषा त्याज्य है	२९०
संगादिदूषित भाषा अनुज्ञात नहीं है	२९१
गोत्रसप्तकाभिधानम्	२९३
मूलनाम या गोत्र से आमन्त्रण करना चाहिए	२९२
पृच्छादौ साधारणवचनप्रयोगानुज्ञा	२९४
कल्पान्तरबीजावेदनम्	२९५
जनपदव्यवहारसत्ययोरपि कदाचिदननुमतत्वाख्यानम्	२९५
पंचेन्द्रिय में विपरीतलिङ्गवाचक भाषा व्यवहार सत्य होने से अत्याज्य-पूर्वपक्ष	२९४
पंचेन्द्रिय में विपरीतलिंगघटित भाषा त्याज्य - उत्तरपक्ष	२९६
चूर्णिटीकावचनविरोधपरिहारः	२९७
अवधेयमित्युक्तिव्याख्यानम्	२९७
मतभेदेन साङ्केतिकपदस्पष्टीकरणम्	२९८
अन्वय-व्यतिरेक से जातिपदघटित शब्दप्रयोग उपादेय	२९६
धर्मविरुद्ध और लोकविरुद्ध वचन निषिद्ध है	२९८
अवक्तव्यभाषादोषावेदनम्	२९९
निष्पाद्य क्रिया के सूचक विशेषण का प्रयोग नामुनासिब	२९९
अधिकरणादि दोष से मुक्त वचन प्रयोक्तव्य	३००
प्रासाद-परिघादिपदानामन्वाख्यानम्	३०१
लाघवोत्पादकवचनस्याऽप्रयोक्तव्यत्वम्	३०२
देवादि को कुपित करनेवाली भाषा परिहार्य	३०१
पक्वादिपदार्थदर्शनम्	३०४
फलविषयक वाग्विधि	३०४
औषधीविषयक वचनविधि	३०४
साक्षादर्थतः प्रतीयमानत्वविशेषावेदनम्	३०६
व्यवहारतः सत्यभाषा भी दोषयुक्त हो तो त्याज्य है	३०५
साक्षात् अधिकरणदोषावह वचन ही निषिद्ध है	३०७
शुद्धाशयप्रयुक्तवचनानां कदाचिद्दोषजननेऽपि निर्जराहेतुत्वसिद्धिः	३०८
विधिविशुद्ध परिणाम से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार कहा गया वचन नितान्त निर्दोष	३०८
औषधीनिर्देशे मतान्तरप्रदर्शनम्	३०९
औषधीविषयक वक्तव्य वचन	३०९
औषधी में पक्वादि अर्थ योजना	३१०
स्वमतिकल्पितशुद्धेरप्रामाण्यप्रतिपादनम्	३११
संखडी-स्तेनादिविषयक वचनविधि	३११
व्यवहारशुद्धि के बिना सिर्फ आशयशुद्धि से दोषमुक्ति नहीं है	३११
अप्रीतिकर वचन प्रयोक्तव्य नहीं है	३१२
जरूरत हो तब शास्त्रीय सांकेतिक शब्द का प्रयोग कर्तव्य है	३१२
नदीविषयक भाषणविधि	३१३
प्रवचनापभ्राजना-प्रद्वेष-बोधिदुर्लभतादिदोषापादकवचनानां	३१६
परिहार्यत्वम्	३१३
दोषनिरासपराणां प्रयोजनसाधकवचनानां वक्तव्यत्वम्	३१७
सुकृत आदि वचनविधि	३१८
ब्रह्मचर्य-स्नेहस्वरूपप्रदर्शनम्	३१९
व्यापारविषयक अवाच्य वचन	३२०
सावद्यनिरवद्यवचनानभिज्ञस्य देशनानधिकारित्वम्	३२१
अप्रीत्यादिकरवचनानां सत्यत्वेऽपि त्याज्यत्वम्	३२२
अभ्युच्चयकथन त्याज्य है	३२३

विषय	पृष्ठ
अभ्युच्चय-समुच्चयवचनविमर्शः	**३२३**
समुच्चय और अभ्युच्चय में भेद	३२४
नयभाषाया वक्तव्यत्वसाधनम्	**३२५**
भावचारित्र की उपस्थिति में असंभव अवधारणकथन नामुमकिन	३२४
गृहस्थ से आज्ञा करना साधु के लिए निषिद्ध	३२५
द्रव्यलिङ्गिविषयकवाग्विधिव्याख्यानम्	**३२६**
असाधु को साधु कहना मृषावाद है	३२५
दुर्गुणी में गुणोपबृंहक शब्द का प्रयोग निषिद्ध है	३२६
उपबृंहणस्य विनयत्वोक्तिः	**३२७**
गुणवान की अनुपबृंहणा दोषरूप है	३२७
प्रतिमा के सन्मुख स्तुतिकरण असत्य नहीं है	३२८
लुम्पकमतलुम्पनम्	**३२८**
वातादिविषयकविधिनिषेधवचनपरिहारः	**३३०**
सदोष आशंसावचन निषिद्ध	**३२९**
बिना अतिशय के भाविकथन नहीं करना चाहिए	३३०
'शिवमस्तु...' वचनमीमांसा	**३३१**
'शिवमस्तु सर्वजगतः' असत्यामृषा श्रुतभावभाषा है	३३१
मेघ आदि विषयक भाषणविधि	३३२
मेघाकाशादिषु देवत्वोक्तिनिषेधः	**३३२**
राजा में देव का प्रयोग कारण उपस्थित होने पर अनुज्ञात	३३३
आयव्ययप्रेक्षापूर्वकशुद्धवचनप्रयोगस्य कर्तव्यत्वोक्तिः	**३३४**
रहस्योपदेश	३३३
चारित्रशुद्धिसम्पादकभाषाप्रयोक्तृ-मुनिस्वरूपख्यातिः	**३३५**
भाषाविशुद्धि का फल	३३५
भगवन्तः सर्वोत्कृष्टज्ञानवन्तो न तु संपूर्णज्ञानवन्त' इतिमतापाकरणम्	**३३६**
सच्चे सुख का स्वरूप	३३७
अश्वघोषमतालोचनम्	**३३७**
प्रस्तुत प्रकरण का उपयोग	३३७
प्रवृत्तिफलयोरनेकान्तैकान्तविमर्शः	**३३८**
रागद्वेषविलय में वैलक्षण्य नहीं है	३३९
मोक्षे विशेषाऽसिद्धिः	**३४०**
तृणारणिमणिन्यायविचारः	**३४२**
कर्माष्टकवृत्ति चैत्रीयत्वादि धर्म कर्म स्वरूप ही है अतिरिक्त नहीं	३४१
तपआदि में तृणारणिन्याय से मोक्षहेतुता	३४१
अतिरिक्तशक्तिसिद्धिः	**३४२**
निश्चयव्यवहारयोर्मोक्षं प्रत्यनन्यथासिद्धत्वसिद्धिः	**३४४**
ग्रन्थशोधनप्रार्थनम्	**३४४**
तृणादिजन्य वह्नि मणिआदिजन्य वह्नि से विजातीय नहीं है	३४३
तप आदि में एकशक्तिमत्त्वेन मोक्षहेतुता	**३४३**
ग्रन्थशुद्धि के लिए गीतार्थ मुनि भगवंत से प्रार्थना	३४४
प्रकरणकरीय प्रशस्ति का भावार्थ	३४५
मोक्षरत्नाटीकाकृत्प्रशस्तिः	**३४६**
परिशिष्ट-१-मूलग्रन्थगाथाक्रमनिर्देशः	**३४८**
परिशिष्ट-२-स्वोपज्ञविवरणान्तर्गतविशेषनामोल्लेखः	**३५०**
परिशिष्ट-३-मोक्षरत्नायामावेदिताप्रामाण्यानां ग्रंथानां सूचिलेश	**३५१**
परिशिष्ट-४-मोक्षरत्नायां साक्षितयोद्धृतानां प्रदर्शितानां च ग्रन्थानां लेशतः सूचिः	**३५२**
परिशिष्ट-५-मोक्षरत्नायां विशेषनाम्नां सूचिलेशः	**३५६**
परिशिष्ट-६-मोक्षरत्नायां प्रदर्शिता न्यायाः	**३५९**
परिशिष्ट-७-मोक्षरत्नायां साक्षितया उद्धृतानां शास्त्रवचनानां निर्देशः	**३६०**
परिशिष्ट-८-उपयोगिसङ्केतस्पष्टीकरणम्	**३६७**

।। श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः।।

।। श्रीमद्विजय-प्रेम-भुवनभानु-जयघोषसूरीश्वरेभ्यो नमो नमः।।

।। ए नमः।।

न्यायाचार्य-न्यायविशारद-महामहोपाध्यायश्रीयशोविजयगणिप्रणीतं

स्वोपज्ञविवरणविभूषितं

मुनियशोविजयविरचितमोक्षरत्नावृत्ति-कुसुमामोदाव्याख्याभ्यां समलङ्कृतं

भाषारहस्यम्

प्रथमः स्तबकः

(स्वोपज्ञटीकामङ्गलश्लोकः)

ऐन्द्रवृन्दनतं पूर्णज्ञानं सत्यगिरं जिनम्।
नत्वा भाषारहस्यं स्वं विवृणोमि यथामति।।१।।

♦ मोक्षरत्नाटीका ♦

प्रारब्धे सप्तमे वर्षे नत्वा शङ्खेश्वराधिपम्। श्रीयशोविजयेनेयं मोक्षरत्ना विधीयते।।१।।
अधीत्य मोक्षरत्नां ये भावयन्ति मुहुर्मुहुः। जायन्ते पारदृश्वानो, भाषातर्काकरस्य ते।।२।।

इह हि विपश्चित्प्रचण्डप्रामाणिकप्रकाण्डश्रेणीशिरोमणीयमानः अप्रतिहतप्रसरप्रवरनिरवद्यसद्यस्कप्रमाणपरम्पराबोभुवितनिस्तुषमनीषाविशेषोन्मिषन्मनीषिपरिषज्जाग्रत्प्रत्यग्रोदग्रमहीयोमहिमसन्मानः सुजनमनस्तापव्यापनिर्वापणप्रथमजलधरधारावधिरितवाग्व्यापारः चारुविचारचातुरीकमलिनीसमुल्लासनसहस्रकरानुकारिव्याहारः विदिततर्ककर्कशवितर्कणः निजनिष्प्रतिमप्रतिभावदातसंस्मारितातीतश्रुतकेवलिः न्यायाचार्यन्यायविशारदकूर्चालसरस्वतीश्रीहरिभद्रसूरिलघुबांधवप्रभृतिबिरुदविभूषितः प्रामाणिकग्रामणीः महामहोपाध्यायः श्रीयशोविजयगणी भाषारहस्याख्यं प्रकरणं विरचितवान् तदन्तर्निहितरहस्यावद्योतनाय स्वोपज्ञविवरणेन विभूषितवाँश्च। तदपि विवरणं संक्षिप्तं गूढरहस्यकं बाहुल्येन नव्यन्यायपरिभाषया परिकलितं च। अत एव तदर्थमभिलषतां मुमुक्षूणां दुर्बोधमिति विव्रियते मयका मुमुक्षुहितकाम्यया। महामहोपाध्यायकृतविवरणस्य मङ्गलादिप्रतिपादिकेयमाद्यगाथा - **ऐन्द्र**वृन्दमिति। इन्द्रसम्बन्धिसमूहप्रणतम्। अनेन जिनस्य पूजातिशयः प्रकटितः। **पूर्णज्ञान**मित्यनेन ज्ञानातिशयो द्योतितः। **सत्यगिर**मित्यनेन वचनातिशयः प्रदर्शितः। **जिनमि**ति। इदं च पदं विशेषणताविशेष्यतोभयाक्रान्तम्, अपायापगमातिशयप्रतिपिपादयिषायां विशेषणत्वात्, पूर्वोक्तविशेषणत्रयवृत्तिविशेषणताख्यविषयतानिरूपकत्वविवक्षायां च सत्यां विशेष्यरूपत्वात्। जयति रागादिशत्रूनिति

✸ कुसुमामोदा (हिन्दीव्याख्या) ✸

'भाषारहस्य' यह महामहिम तर्कसम्राट न्यायाचार्य न्यायविशारद महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी गणिवर द्वारा रचित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है, जिसमें भाषाविषयक रहस्य अन्तर्निहित है। ग्रन्थ के नाम से ग्रन्थकार का यह आशय प्रतीत होता है, कि - भाषाविषयक रहस्य एक ऐसी चीज है जो वर्षों तक शास्त्र के अनुसार किये गए मनन, निदिध्यासन और अनन्यगुरुभक्ति से प्राप्य है। प्रज्ञापना, दशवैकालिक, विशेषावश्यकभाष्य आदि शास्त्रो के परिशीलन एवं अनुपम गुरुकृपा से प्राप्त भाषाविषयक रहस्य को भव्य जीवों के उपकारार्थ महामहोपाध्यायजी ने ग्रन्थनिबद्ध किया है। इस प्रकरण में अन्तर्निहित भाषाविषयक रहस्य को प्रकट करने के लिए इस प्रकरणरत्न का विवरण प्रकरणकार ने स्वयं ही बनाया है, जिससे मूल ग्रन्थ की अर्थगंभीरता सूचित होती है।

जिन इति व्युत्पत्त्या जिनपदेन श्रुतावधिजिनाद्युपस्थितिसंभवेऽपि योगाद्रूढिर्बलियसीति न्यायात् जिनपदं केवलिजिन-परम्, पूर्णज्ञानमित्यादिविशेषणान्यथानुपपत्तेश्च। **नत्वा**=नमस्कार्यावधिकस्वनिष्ठापकर्षबोधानुकूलं व्यापारं कृत्वा, अनेन मङ्गलमभिहितम्। ***भाषारहस्यमिति***। भाषागोचररहस्यप्रतिपादकं भाषावक्तव्यताप्रतिबद्धं ग्रन्थविशेषम्। **स्वं**=स्वविरचितं रचनाकर्तृत्वसम्बन्धेन स्वकीयं वा, अनेन विषयरूपः अनुबन्धः प्रदर्शितः स च स्वविषयकज्ञानद्वारा शास्त्रे प्रवर्तकः। अतः तद्ग्रहणमावश्यकम्। 'तद्ग्रहणे तत्सजातीयोऽपि गृह्यते' इतिन्यायेनानुबन्धजातीय-त्वात्संबन्धाधिकारिप्रयोजनानां ग्रहणं स्वयं भावनीयम्। **विवृणोमीति** परप्रतिपत्त्यनुकूल - तुल्यार्थकस्पष्टकथनात्मक-शब्दप्रयोगानुकूलवर्त्तमानकालिककृतिमान् अहमित्यर्थः। विवरणक्रियाया भविष्यत्कालीनत्वेऽपि वर्त्तमानसमीपे वर्त्त-मानवद्वेति न्यायेन लटा निर्देशः कृतः यद्वा नयविशेषाभिप्रायेण मङ्गलस्य विवरणग्रन्थान्यत्वाभावेन विवरणक्रियाया वर्त्तमानकालीनत्वं यथाश्रुतं भावनीयम्। **यथामतीति**। अनेनौद्धत्यमात्मनः परिहृतम्।

उपाध्यायजी महाराज 'ऐन्द्रवृंदं' इत्यादि से विवरण का श्रीगणेश करते हैं। विवरण के मंगलश्लोक का सामान्य अर्थ यह है कि - 'इंद्रो के वृंद से नमस्कृत, पूर्णज्ञानवाले एवं सत्यवाणीयुक्त श्रीजिनेश्वर भगवंत को नमस्कार कर के स्वरचित भाषारहस्य ग्रंथ का अपनी बुद्धि के अनुसार मैं (विवरणकार) विवरण = व्याख्यान करता हूँ'।

✻ विवरण के मंगलश्लोक का विशेषार्थ ✻

शिष्ट पुरुष किसी भी कार्य के प्रारंभ में उस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगलाचरण करते हैं। व्याख्याकार श्रीमद् भी इस शिष्टाचार का पालन करते हुए अपने इष्ट देव को नमस्कार, जो मंगलस्वरूप है, करते हैं। इससे विवरणकार की आस्तिकता भी प्रतीत होती है।

ऐन्द्र. इति। जिनके चरणों में देव, मनुष्य और राजा भी अपना सिर झूकाते हैं ऐसे जो इन्द्र, उनके समुदाय से जो जिनेश्वर भगवंत नमस्कृत हैं, वे किनके नमस्कार्य एवं पूजनीय नहीं होते? अर्थात् जो लौकिक सर्वश्रेष्ठ स्वर्गाधिपति से भी वंदित हैं, वे अन्य सब के लिए अवश्य वंदन-पूजन-सत्कार-सन्मान करने योग्य होते हैं। इस तरह 'ऐन्द्रवृंदनतं' विशेषण से जिनेश्वर देव के पूजातिशय की सूचना मिलती है।

यह सुविदित है कि श्रीमद् महामहोपाध्यायजी ने पावन भागीरथी के तट पर शारदादेवी की उपासना कर के सारस्वत कृपा प्राप्त की थी। वाग्देवी की ओर भक्ति और कृतज्ञता को बताते हुए सारस्वतमंत्रबीज ऐं कार का, जिसकी साधना से उपाध्यायजी को श्रुतदेवता की ओर से वरदान प्राप्त हुआ था, प्रायः अपने प्रत्येक ग्रंथों के प्रारंभ में उपाध्यायजी महाराज इनका निर्देश करते हैं। प्रस्तुत में 'ऐन्द्रवृंदनतं' रूप सामासिक पद में जो प्रथम अक्षर 'ऐं' है, वह विवरणकार के प्रिय वाग्मंत्र का प्रधान बीज है।

'पूर्णज्ञानं' विशेषण से जिनेश्वर भगवंत के ज्ञानातिशय की ओर अंगुलीनिर्देश किया गया है। 'सत्यगिरं' विशेषण से जिनेश्वर के वचनातिशय को प्रकट किया गया है। 'जिन' शब्द से अपायापगमातिशय व्यक्त किया गया है। रागादि अंतरंग शत्रुओं के उपर विजय को पानेवाले ही पूर्णज्ञान को प्राप्त कर सकतें हैं, क्योंकि दशवें गुणस्थानक पर रागादि का क्षय करने के बाद ही संपूर्ण ज्ञान की १३ वें गुणस्थानक पर प्राप्ति होती है तथा जो पूर्णज्ञानवाले होते हैं, वे ही निश्चित रूप से सत्यवाणीवाले हो सकते हैं, क्योंकि सत्य वचन के प्रयोग के लिए पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। वचनप्रयोग के पहले वाक्यार्थ ज्ञान आवश्यक है। अत एव 'सत्यगिरं' विशेषण के पहले 'पूर्णज्ञानं' विशेषण का ग्रहण किया गया है।

विवरणग्रंथ के मङ्गलश्लोक में भाषारहस्यनामक ग्रंथ का विवरण करने की प्रतिज्ञा का उल्लेख है। विवरण का अर्थ है तुल्यार्थक स्पष्ट कथन। मूल वाक्य से इसका विवक्षित अर्थ स्पष्ट न होता हो तब इसे स्पष्ट करनेवाली शब्दश्रेणि को विवरण कहा जाता है। वह तो मूल ग्रन्थ में अंतर्निहित रहस्यार्थ को खोलने की कुंजी मात्र है। इस कथन से मूल ग्रन्थ की अर्थ गंभीरता सूचित होती है।

'यथामति' शब्द से व्याख्याकार ने अपनी उद्धतता का परिहार किया है। 'भाषारहस्यं स्वं' इससे अभिधेय बताया गया है। इसको विषयरूप अनुबन्ध भी कहा जाता है। अनुबन्ध का अर्थ है - स्वविषयकज्ञानद्वारा शास्त्रे प्रवर्तकः। अर्थात् अपना ज्ञान करा

इह खलु निःश्रेयसार्थिनां भाषाविशुद्धिरवश्यमादेया, वाक्समितिगुप्त्योश्च तदधीनत्वात् तयोश्च चारित्राङ्गत्वात्, तस्य च परमनिः श्रेयसहेतुत्वादिति। न च वचनविभक्त्यकुशलस्य मौनमात्रादेव वाग्गुप्तिसिद्धेर्गुणः; सर्वथा मौने व्यवहारोच्छेदाद् अनिष्णा-

उपोद्घातसङ्गतिं प्रदर्शयति - **इहे**ति प्रवचने इत्यर्थः। **भाषाविशुद्धि**रिति। अत्र प्रधानभावशुद्धिनिमित्तीभूता वाक्यशुद्धिर्ग्राह्या। तदुक्तं भगवता **भद्रबाहुस्वामिना** जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा। न य अत्तकलुसभावो तेण इहं वक्कसुद्धित्ति। (द. वै. अ. ७ नि. श्लो. २८८) **तदधीनत्वात्** = भाषाविशुद्ध्यधीनत्वात्। प्रयोगस्त्वेवं भाषाविशुद्धिः निःश्रेयसार्थ्युपादेया वाक्समितिगुप्त्युपजीव्यत्वात् गुरूपदेशवत्। वाक्समितिगुप्त्योः परमनिःश्रेयसहेतुचारित्राङ्गत्वं तु प्रसिद्धमेव। तदेव प्रदर्शयति **तयोश्च चारित्राङ्गत्वादिति**। अत्राङ्गत्वं च न घटकत्वम्, ताभ्यामृतेऽपि तत्सत्त्वात् किन्तूपकारकत्वम्। ततो भाषासमितिगुप्त्योश्च चारित्रोपकारकत्वादित्यर्थः। **परमनिःश्रेयसहेतुत्वादिति**। अत्र कर्मधारयसमासानन्तरं तत्पुरुषसमासो न कर्तव्यः; कृत्स्नकर्मक्षयात्मके **निःश्रेयसे**ऽपरमत्वाभावेन व्यावर्त्याभावात्परमपदस्य व्यर्थविशेषणत्वापत्तेः, किन्तु निःश्रेयसस्य हेतुरिति निःश्रेयसहेतुः परमश्चासौ निःश्रेयसहेतुश्चेति परमनिःश्रेयसहेतुरित्येवं षष्ठीतत्पुरुषोत्तरं कर्मधारयस्यैव सम्यक्त्वम् ज्ञानादीतरकारणापेक्षया निःश्रेयसं प्रति चारित्रस्य प्रधानत्वं तु **महाभाष्यादौ** प्रसिद्धमेव।

कर जो शास्त्र में प्रवर्तन कराता है, वह अनुबन्ध कहा जाता है। ग्रंथ के विषय का ज्ञान होने पर इस विषय के अर्थी श्रोता एवं पाठक इस शास्त्र में प्रवृति करते हैं। अतः अभिधेय अनुबन्धरूप कहा जाता है। विषय, सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन के भेद से अनुबन्ध के चार भेद हैं। यहाँ विषयरूप अनुबन्ध का कंठतः ग्रहण किया गया है, शेष तीन अनुबन्ध सामर्थ्यगम्य हैं। जैसे कि अपने वाच्यार्थ के साथ इस विवरण का अभिधेय-अभिधायकभाव सम्बन्ध है। जो भाषाविषयक रहस्यार्थ का जिज्ञासु होगा वोही यहाँ अधिकारी है - यह बात भी अर्थतः प्रतीत होती है। तथा व्याख्याकार का अनंतर प्रयोजन है, शिष्यों पर उपकार और श्रोता=पाठक का अनंतर=साक्षात् प्रयोजन है भाषाविषयक ऐदम्पर्य ज्ञान की प्राप्ति। दोनों का परंपरप्रयोजन है मोक्ष की प्राप्ति। यह बात भी सामर्थ्यगम्य हैं। यद्यपि यहाँ विवरणकार ने शब्दतः सिर्फ अभिधेयरूप अनुबन्ध का ही ग्रहण किया है तथापि 'तद्ग्रहणे च तत्सजातीयोऽपि गृह्यते' न्याय से अनुबन्ध सजातीय होने से सम्बन्ध, अधिकारी और प्रयोजन का भी अर्थतः ग्रहण किया गया है - ऐसा समझा जाता है। इस तरह विवरण ग्रंथ के आद्य श्लोक से मंगल, प्रतिज्ञा और अनुबन्धचतुष्क का प्रतिपादन किया गया है।

शंकाः- यद्यपि प्रस्तुत प्रकरण में प्रकरणकर्ता और श्रोता-पाठकों को क्रमशः शिष्योपकारादि तथा प्रकरणाभिधेयार्थ-ज्ञानादिस्वरूप अनंतर प्रयोजन की सिद्धि संभवित है मगर मोक्षरूप परंपर प्रयोजन की सिद्धि इससे कैसे होगी? मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अधीन होने से यहाँ रत्नत्रय का निरूपण करना उचित महसूस होता है, भाषारहस्य का नहीं। अतः इस प्रकरण का आरंभ अनुचित है।

* प्रकरण का उपोद्घात *

समाधानः- इह खलु. इति। आपकी यह शंका नामुनासिब है। इसका कारण यह है कि स्व-पर को मोक्ष की प्राप्ति के लिए जैसे रत्नत्रयी की प्ररूपणा, ज्ञान एवं इसका पालन आवश्यक है, वैसे ही रत्नत्रय के उपकारक और वह उपकारक जिसके अधीन हो, इन दोनों का ज्ञान एवं पालन के लिए उन दोनों का भी प्ररूपण आवश्यक प्रतीत होता है। मोक्ष का प्रधान हेतु चारित्र है और उसके उपकारकरूप से ५ समिति और ३ गुप्ति प्रसिद्ध हैं, जिनमें भाषासमिति और वचनगुप्ति भी अंतःप्रविष्ट है। भाषासमिति और वचनगुप्ति भाषाविशुद्धि के अधीन है। तदर्थ भाषाविशुद्धि का प्रतिपादन भी आवश्यक है। भाषाविशुद्धि भाषाविशुद्धि के ज्ञान पर अवलंबित है तथा प्रस्तुत प्रकरण भाषाविशुद्धि का प्रतिपादक होने से भाषाविशुद्धिविषयक ज्ञान का, जो कि मोक्ष के प्रधानकारणभूत चारित्र के अंगरूप भाषासमिति-गुप्ति की नियामक भाषाविशुद्धि की इच्छा का जनक है, कारण है। अतः यह प्रकरण भी परंपरा से मोक्ष का कारण=प्रयोजक है। इसी सबब इस प्रकरण का प्रारंभ भी उचित ही है।

शंकाः- न च वचन. इति। "मोक्ष का प्रधान कारण चारित्र है और उसके अंगभूत भाषासमिति और वचनगुप्ति है" ऐसा जो आपने कहा है यह तो ठीक है, मगर "भाषासमिति और वचनगुप्ति भाषाविशुद्धि के अधीन है", ऐसा जो कहा है वह समीचीन नहीं है। यद्यपि भाषासमिति और प्रवृत्तिरूप वाग्गुप्ति के पालन में 'यह वचन सावद्य है और यह वचन निरवद्य है' इत्यादिरूप

तस्य गुप्त्यनधिकारित्वाच्च।

ननु सावद्यनिरवद्य-वाच्यावाच्यौत्सर्गिकापवादिक-सत्यासत्यादिवचनविभागाकुशलस्य प्रवृत्तिस्वरूपभाषासमिति-गुप्तिविषयिण्याराधना मास्तु, परं मौनमात्रसमाश्रयणान्निवृत्तिरूपवाग्गुप्तिविषयिणी आराधना तु स्यादेव तत्र तादृश-वचनविभागकौशल्यस्याप्रयोजकत्वादित्याशयेन मुग्धः शङ्कते - **न चेति**। समाधत्ते - **सर्वथति**। संज्ञादीन्यपि परि-हृत्येत्यर्थः। अक्षिनिकोच-भ्रूभङ्ग-हस्तप्रसारणादिभिः विकारैरर्थं प्रत्याययतस्तु वाग्गुप्तिरपि नास्ति; तदुक्तं **योग-शास्त्रे**-संज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनं। वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते।। (यो.शा. १।४२) **व्यव-हारोच्छेदादिति**। ग्रहणासेवनशिक्षास्मारणा-वारणा-चोदना-प्रतिचोदना-जिनवचनोपदेशादिस्वरूपव्यवहारोच्छेदादि-त्यर्थः। इदमुपलक्षणं तीर्थोच्छेदादेरपि। **गुप्त्यनधिकारित्वाच्चेति**। प्रकरणबलेन वाग्गुप्त्यधिकारित्वाभावाच्चेत्यर्थः। अधिकारित्वं चात्र न तत्तत्कर्मजन्यफलार्थित्वं, न वा गौणमुख्योभयप्रयोजनप्राप्तिकामनावत्त्वं, न वा ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थ-विषयकज्ञानधारणशक्तत्वं, अनुपयोगित्वादतिप्रसञ्जकत्वाच्च, किन्तु तत्तत्कर्मोचितफललाभसामर्थ्यवत्त्वम्। तथा च सावद्यनिरवद्यादिवचनविभागानिष्णातस्य वाग्गुप्तिजन्यफलप्राप्तिसामर्थ्याभाववत्त्वमिति फलितम्। न हि तदनधिकारि-णो मौनमात्रसमाश्रयणादेव वाग्गुप्तिफलप्राप्तिः सम्भवति, अन्यथा एकेन्द्रियाणामपि तत्प्रसक्तेः। तदुक्तं प्रकरणकृतैव **ज्ञानसारे** 'सुलभं वागनुच्चारं मौनमेकेन्द्रियेष्वपि'।। (ज्ञा. सा. १३। ७) इति। तदुक्तं **तेजोबिन्दूपनिषद्यपि** 'गिरा मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम्। (ते. उप. १। २२) ततश्च वाग्गुप्तिफलं प्रति न द्रव्यमौनं प्रयोजकं अपि तु भावमौनम्, तच्च वचनविभागनिपुणस्यैव नेतरस्येति फलितम्।

वचनविभाग का ज्ञान एवं कुशलता आवश्यक है, मगर निवृत्तिरूप वचनगुप्ति में तथाविध वचनविभागकुशलता आवश्यक नहीं है। वचनविभाग में अकुशल पुरुष तो मौन रहने से ही निवृत्तिस्वरूप वचनगुप्ति का पालन कर सकता है। इसके लिए भाषाविशुद्धि का ज्ञान या वचनविभागकुशलता अनावश्यक है। अतः 'परंपरा से मोक्ष के कारणस्वरूप भाषाविशुद्धि का प्रतिपादक होने से यह प्रकरण भी परंपरा से मोक्ष का कारण है। अतः इस प्रकरण का आरंभ युक्त ही है' - ऐसा आपका कथन समीचीन नहीं है। मोक्षार्थी के लिए यह प्रकरण उपादेय नहीं है। मोक्ष का अप्रयोजक होने से इस प्रकरण का प्रारंभ भी अयुक्त ही है।

✱ वचनविभाग में निष्णात ही वाग्गुप्ति का अधिकारी ✱

समाधानः- सर्वथा. इति। आपका यह वक्तव्य मुग्ध पुरुष को रुचिकर बनेगा, प्राज्ञ पुरुष को नहीं। आपका यह कथन कि - 'वचनविभाग में अनिष्णात पुरुष मौन का पालन करने से ही चारित्र के अंगभूत निवृत्तिरूप वाग्गुप्ति की उपासना करेगा' - हमारे दो विकल्पों से ग्रस्त होने से अस्वीकार्य है। दो विकल्प ये हैं कि - दीक्षाग्रहण से जीवनपर्यंत क्या सब मुनि भगवंतों मौन का पालन करेंगे या कतिपय मुनि भगवंत, जो वचनविभाग में अकुशल है? यदि आप कहेंगे कि 'दीक्षाग्रहण से जीवनपर्यंत सब मुनिभगवंत मौन का पालन करेंगे' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर शिष्य को ग्रहणशिक्षा - आसेवनशिक्षा, शिष्य की स्खलना होने पर सारणा-वारणा आदि, भव्य जीवों को धर्मोपदेश आदि सब व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा। अंत में तीर्थोच्छेद भी हो जायेगा। ओह! तीर्थ के उच्छेद की बात ही कहाँ? सर्वथा मौन का आलंबन लेने पर तो तीर्थ की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। यह तो किसीको भी इष्ट नहीं है और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध भी है। अतः प्रथम विकल्प का स्वीकार करना मुनासिब नहीं है। यदि आप दूसरे विकल्प का स्वीकार करेंगे कि - 'यथार्थ वचनविभाग में अकुशल कतिपय मुनि भगवंत दीक्षा के बाद जीवनपर्यन्त मौन को धारण करेंगे' - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो वचनविभाग में निष्णात नहीं है, वह तो वाग्गुप्ति का अधिकारी ही नहीं है। यह एक नियम है कि तत्तत्कार्यों का जो अधिकारी होता है, उसे ही तत्तत् कार्यों का प्रामाणिक फल प्राप्त होता है, अनधिकारी मनुष्य को नहीं। यदि वाग्गुप्ति के अनधिकारी को भी व्यवहारतः मौनमात्र का समाश्रयण करने से वाग्गुप्तिजन्य फल की प्राप्ति होगी, तब तो पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों को वचनसामग्री के अभाव से अनायास ही मौन का पालन जीवनपर्यन्त होने के सबब वाग्गुप्ति के फल की प्राप्ति होने लगेगी। मगर ऐसा नहीं होता है। नकली घडी भी दिन में दो बार सच्चा समय दिखाती है, मगर इससे 'वह घडी सच्ची है' - ऐसा व्यवहार नहीं होता है।

तदुक्तं -[1]'वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अवियाणंतो। जइ वि न भासइ किंचि न चेव वयगुत्तयं पत्तो त्ति।। (दश. अ. ७. नि. गा. २९०) प्रत्युतावाग्गुप्तस्य वाग्गुप्तत्वाभिमानादिना दोष एव। तदिदमाहोक्तगाथापातनिकायाञ्चूर्णिकारः 'आह जइ भासमा-

---

प्रकृते निर्युक्तिवचनसंवादं प्रदर्शयति - **'वयण'**मित्यादि। अत्र च 'वचनविभक्त्यकुशलः = वाच्येतरप्रकारानभिज्ञः 'वाग्गतं बहुविधं = उत्सर्गादिभेदभिन्नं अजानानो यद्यपि न भाषते किञ्चित् = मौनेनैवास्ते, न चैव वाग्गुप्ततां प्राप्तः तथाप्यसौ अवाग्गुप्त एवेति' इति **हारिभद्र**व्याख्यानम्। अनिष्णातस्य **मौनाश्रयणे** न केवलं गुणाभाव एवापि तु दोषोऽपीत्याह - **प्रत्युतेति**। वैपरीत्यभावार्थोऽनेनोक्तः। **वाग्गुप्तत्वाभिमानादिनेति**। अभिमानत्वं नाम आत्मन्युत्कर्षारोपत्वम्। वस्तुगत्याऽवाग्गुप्तत्वेऽपि स्वस्मिन् वाग्गुप्तत्वगुणारोपादिनेत्यर्थः। आदिपदेन चारित्राङ्गभूतावग्रहयाचनेच्छाकारादि-सामाचारीपालन-स्वाध्याय-पृच्छादिसम्पादनाभावस्य दम्भादेश्च ग्रहणं द्रष्टव्यम्। **दोष एवे**ति। एवकारेण गुणव्यवच्छेदः कृतः भाषागुणदोषाभिज्ञस्यैव तत्तद्गुणलाभः सम्भवति। **चूर्णिकार** इति। **श्रीजिनदासमहत्तरगणी**। **अणुवायेण** = उपायविपर्ययेण, उपायश्चावसरोचितसम्यग्वचनप्रयोगादिरूपः। तदुक्तं **धर्मबिन्दौ** 'अनुपायात्तु साध्यस्य सिद्धिं नेच्छन्ति पंडिताः। (ध. बि. ४। २३) तथा च रत्नत्रयोपष्टम्भकसम्यग्वचनप्रयोगाद्यर्थसम्यग्वचनविभागज्ञानमावश्यकमेवेति आचार्यस्योत्तरदाने तात्पर्यमिति भावः। **विशुद्ध्येति**। प्रधानभावशुद्धिहेतुभूतया भाषाविशुद्ध्या। **भाषमाणस्यापीति**। अपिशब्देन अल्पं भाषमाणस्य समुच्चयः कृतः। **धर्मदानादिनेति**। आदिपदात् स्वाध्यायपरावर्तनाध्यापनवादजय-प्रवचनप्रभावना-जिनभक्त्यादेः परिग्रहः। **गुण एवेति**। एवकारेण दोषव्यवच्छेदः क्रियते। प्रकृते गुणः न निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे वा सति सामान्यवान्, न वा प्रमाया असाधारणकारणम् किन्तु कर्मनिर्जरादिस्वरूप इति ध्येयम्। पुनरपि निर्युक्तिवचनसंवादं प्रदर्शयति **वयणत्ति** सुगमा गाथा। नवरं **प्राचीनतरचूर्णौ** 'दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो व वयगुत्तो' (द. वै. नि. अग. चू. पृ. १६४) इत्येवं निर्युक्तिवचनोत्तरार्धं वर्तते इति ध्येयम्।

भाषाविशुद्ध्यर्थमिति भाषाविशुद्धिप्रतिपादनार्थम्। **प्रमारहस्येति**। साम्प्रतं नेदं प्रकरणमुपलभ्यते। प्रकृतं प्रकरणं

---

* वचनविभाग में अकुशल पुरुष का मौन अकिंचित्कर *

तदुक्तं. इति। व्याख्याकार यहाँ चरम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीकृत दशवैकालिकनिर्युक्ति का संवाद बता रहे हैं जिसका अर्थ यह है कि - 'जो वचनविभाग में अकुशल है और वचन के अनेक भेदों को नहीं जानता है, वह चाहे कुछ भी न बोले फिर भी वचनगुप्ति को प्राप्त नहीं करता है'। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'यह वचन सावद्य है और यह वचन निरवद्य है, 'यह सत्य है और यह असत्य है' इत्यादिरूप वचनविभाग में जो अनिष्णात है उसको मौन मात्र से वाग्गुप्ति की प्राप्ति नहीं होती है। वचनविभाग में अनिपुण मनुष्य मौन रहने पर सिर्फ वाग्गुप्ति से रहित है इतना ही नहीं, मगर स्वयं वाग्गुप्ति से रहित होने पर भी बहिर्वृत्त्या मौन के पालन से उसको "मैं वाग्गुप्त हूँ" ऐसा अभिमान भी होगा। इस तरह वह चारित्र की आराधना के स्थान में कषाय की आराधना करता रहेगा। 'अभिमानादिना' पद में जो 'आदि' शब्द है उससे अन्य दोषों की भी सूचना मिलती है। जैसे की उत्सर्ग, अपवाद, सत्य, असत्य आदि वचनविभाग से अज्ञात साधु भगवंत गृहस्थ आदि से अवग्रह की याचना, इच्छाकार इत्यादि सामाचारी का पालन, स्वाध्याय आदि में गुरु भगवंत से पृच्छा-विचारविनिमय आदि अनेकविध चारित्र के अंगों के पालन में असमर्थ हो जायेंगे। फलतः चारित्र मलिन या नष्ट होगा। इसलिए मुमुक्षु के लिए मोक्ष के प्रधान कारण चारित्र के अंगभूत भाषासमिति और वचनगुप्ति जिसके अधीन है ऐसी भाषाविशुद्धि का ज्ञान एवं पालन होना आवश्यक है।

(अवसरोचित वचनप्रयोग न करने पर दोष)

तदिदमाह. इति। उपर्युक्त निर्युक्ति गाथा की अवतरणिका को करते हुए चूर्णिकार श्रीमद् जिनदासगणी महत्तर शिष्य की शंका का समाधान करते हैं। वहाँ शिष्य की शंका इस तरह से बताई गई है कि - 'अगर सम्यक्वचनप्रयोग में अकुशल पुरुष बोलेगा तो भाषासमिति और वचनगुप्ति की विराधना आदि दोष हैं, तो मौन का आश्रय करना चाहिए। कहा भी गया है 'मौनं

---

१ वचनविभक्त्यकुशलो वाग्गतं बहुविधमजानानः। यद्यपि न भाषते किञ्चिन्न चैव वाग्गुप्ततां प्राप्तः।।

णस्स दोसो तो मोणं कायव्वं? आयारिओ भणइ 'मोणमवि अणुवायेण कुणमाणस्स दोसो भवइ त्ति'।[1] (दश. जिन. चू. पृ. २४२) विशुद्ध्या तु सुचिरं भाषमाणस्याऽपि धर्मदानादिना गुण एव। तदिदमुक्तं 'वयणविभत्तिकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो। दिवसंपि भासमाणो तहा वि वयगुत्तयं पत्तोत्ति'[2]। (दश. वै. अ. ७. नि. गा. २९) ततो भाषाविशुद्ध्यर्थं रहस्यपदाङ्किततया [3]चिकीर्षिताष्टोत्तरशतग्रन्थान्तर्गत**प्रमारहस्य-नयरहस्य-स्याद्वादरहस्या**-दिसजातीय[4] प्रकरणमिदमारभ्यते। तस्य चेयमादिगाथा

रहस्यपदाङ्कितानि नयरहस्य-स्याद्वादरहस्योपदेशरहस्याख्यानि च प्रकरणानि उपलभ्यन्ते। रहस्यपदविभूषितानि शेषप्रकरणानि सांप्रतं नोपलभ्यन्ते। **प्रकरणमि**ति। ननु शास्त्रप्रकरणयोः को भेदः? उच्यते, एकप्रयोजनोपनिबद्धबहुविधार्थप्रतिपादकः स्वतंत्रो ग्रन्थः शास्त्रमित्युच्यते। प्रकरणञ्च शास्त्रैकदेशसम्बद्धार्थप्रतिपादको ग्रन्थांशः। तदुक्तं **पराशरपुराणे** शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।। (प.पु.)

सर्वार्थसाधनम्'। मूक रहने पर वाग्गुप्ति का तो पालन ही होगा'। इस उल्झन को हटाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि - 'अनुपाय से मौन का पालन करने से भी दोष होता है। अनुपाय का अर्थ है विपरीत उपाय। अर्थात् जहाँ सम्यक् वचनप्रयोग चारित्र का उपायभूत है, वहाँ मौन रहना वह अनुपाय = विपरीत उपाय है। इससे यह स्पष्ट होता है कि - सम्यक् वचनप्रयोग के अज्ञान से ऐसे अवसर पर मौन का पालन करना भी असत् वचनप्रयोग की तरह दोषरूप ही है। यहाँ जिन दोषो की संभावना है, उनका निरूपण विवरणकार ने 'प्रत्युत......' (देखिये पृ. ५. पं. २) इत्यादिरूप से पूर्व में किया ही है। चूर्णिकार के वचन से भी यह सिद्ध होता है कि वाग्गुप्ति के अनधिकारी का मौन गुणरूप नहीं है, किन्तु दोषरूप है। जो वचनविभाग का सम्यक् ज्ञाता है, वह आगमोक्त विधि के अनुसार प्रयोजन उपस्थित होने पर यदि घंटों तक भाषाविशुद्धि से व्याख्यानादि करे तो भी कोई दोष नहीं है, मगर धर्मोपदेश आदि विनियोग से पुण्यानुबंधी पुण्य, निर्जरा आदिस्वरूप गुण की ही प्राप्ति है, क्योंकि अनेक भव्य जीवों के सम्यग् दर्शन आदि की प्राप्ति, स्थिरता, निर्मलता, वृद्धि आदि में उसका वचन निमित्त होता है। विवरण में जो 'अपि' शब्द (देखिये पृ. ५. पं. ३) है, वह अल्पकालीन वचनप्रयोग के संग्रह के लिए है। अर्थात् भाषाविशुद्धि से चिर काल तक बोलने पर भी दोष नहीं है, किन्तु गुण ही है, तब भाषाविशुद्धि से अल्प काल तक बोलने पर तो उसका वचन अवश्य गुणकारक ही होगा, दोषकारक नहीं। महनीय चरम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी ने दशवैकालिकनिर्युक्ति में उक्त बात का समर्थन किया है कि - 'जो सम्यक् वचनविभाग में निष्णात है और उत्सर्ग-अपवाद-सावद्य-निरवद्य आदि वचन के अनेक भेदों का जो ज्ञाता है, वह दिन भर बोलता रहे तो भी वाग्गुप्तिसंपन्न ही है'। उक्त शास्त्रवचन का आशय यह है कि - 'किसको, कहाँ, कब, किसके साथ, किस उद्देश से, किस ढंग से, कितने और किन शब्दों का प्रयोग करना जिससे जिनाज्ञा की विराधना न हो, स्वपर का कल्याण हो' यह ज्ञान जिसको है, वह आगम के तात्पर्य के अनुसार भाषाविशुद्धि से अपने अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन कर के जिनाज्ञा का पालन ही करता है। अतः वह वाग्गुप्त ही कहा जायेगा। विवेकशून्य मौन का जिनशासन में कोई महत्त्व नहीं है।

---

१ आह यदि भाषमाणस्य दोषस्तर्हि मौनं कर्तव्यम्? आचार्यो भणति-मौनमप्यनुपायेन कुर्वाणस्य दोषो भवतीति।।

२ वचनविभक्तिकुशलो वाग्गतं बहुविधं विजानानः। दिवसमपि भाषमाणः तथापि वाग्गुप्ततां प्राप्तः।।

३ यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि उपाध्यायजी महाराज ने 'कृताष्टोत्तरशतग्रन्थ' इत्यादि न कह कर 'चिकीर्षिताष्टोत्तरशत...' इत्यादिरूप से कथन किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि भाषारहस्यग्रंथ के सर्जन तक रहस्यपदांकित १०८ ग्रन्थों का सर्जन हो चूका नहीं था, मगर प्रमारहस्य आदि कतिपय ग्रंथों का सर्जन हो चूका था। जिनका ग्रंथकार ने यहाँ निर्देश किया है। भाषारहस्य के बाद संभवतः उपदेशरहस्य आदि ग्रंथों का भी ग्रंथकार ने निर्माण किया होगा मगर रहस्यपद से विभूषित १०८ ग्रन्थरत्नों का सर्जन करने की ग्रन्थकार की ख्वाहीश पूर्ण हो चूकी होगी या नहीं? यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वर्तमान में रहस्यपदालंकृत नयरहस्य, स्याद्वादरहस्य, उपदेशरहस्य और प्रस्तुत भाषारहस्य ग्रंथ ही उपलब्ध होते हैं। महनीय महोपाध्यायजी की रहस्यपदघटित १०८ ग्रंथरत्नों के सर्जन की इच्छा अपूर्ण रह गई होगी - यह मानने के लिए दिल तैयार नहीं होता है, क्योंकि उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ में प्रमारहस्य, वादरहस्य (देखिए श्लोक ३२ की टीका) ग्रंथ का उल्लेख किया है, जो वर्त्तमान में उपलब्ध नहीं होते हैं। संभव है, ऐसे ही रहस्यपदालंकृत अन्य ग्रंथों का भी हमारे दुर्भाग्य से लोप हो गया हो, या किसी भांडागार में सुरक्षित भी पडा हो - यह सांप्रत काल में एक खोज का विषय है।

४ कप्रतौ 'नयरहस्यपदं' नास्ति।

[1]पणमिय पासजिणिंदं भासरहस्सं समासओ वुच्छं। जं नाऊण सुविहिआ चरणविसोहिं उवलहन्ति।।१।।

अहं **भाषारहस्यं समासतः** = शब्दसंक्षेपतो वक्ष्य इति अन्वयः। इयं च प्रतिज्ञा, सा च तदर्थिनां शिष्याणामवधानफलिका। किं

एतावत्पर्यन्तं मूलग्रन्थस्याऽवतरणिका कृता प्रकरणकारेण। अवतरणिका च ग्रन्थप्रस्तावार्थं प्रथममुपोद्घातः, यद्वा अमुख्यार्थप्रतिपादकत्वे सति मुख्यार्थप्रवर्तकत्वं, यद्वा वक्तव्यार्थविषयकजिज्ञासोत्थापकत्वम्, यद्वा प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ सङ्गृह्य प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमित्यन्यदेतत्।

'ननु अभिधेयसम्बन्धप्रयोजनवत्प्रकरणं कर्तव्यम्, अन्यथा ज्वरप्रसरापसारिशेषशिरोरत्नोपदेशवदशक्यानुष्ठानं, 'दशदाडिमानि षडपूपाकुण्डमजाजिनं' इतिवत् सम्बन्धवन्ध्यं, जननीकुचपरिपीडनोपदेशवदनभिमतप्रयोजनं च स्यात्। तत्र प्रेक्षाचक्षुषः क्षोदिष्टामपि प्रवृत्तिं न प्रारभन्ते। तदिह प्रकरणे निखिलं सिद्धम्, मूलप्रकरणमङ्गलगाथायां द्वितीयपादोत्तरार्धाभ्यामाद्यन्तयोर्ग्रहणे तन्मध्यपतितग्रहणस्य न्यायप्राप्तत्वात्।

स्वयमेव प्रकरणकारः प्रथमगाथां विवृणोति-**अह**मिति। **समासत** इति। मा भूत् कस्यचित् प्रकृते द्वयादिपदानामेकपदतासम्पादको वृत्तिविशेषः समास इति बोधः। अतो व्याचष्टे - **शब्दसंक्षेपत** इति। 'शब्द' इत्यनेन अर्थसंक्षेपव्यवच्छेदः कृतः। अस्य प्रकरणरूपत्वेन संक्षेपकथनमभिमतं विस्तरतस्तु **प्रज्ञापनादशवैकालिकादि**शास्त्रप्रतिपादितत्वात्। **अन्वय** इति। परस्परसम्बद्धार्थबोधानुकूलशब्दयोजनम्। **प्रतिज्ञेति**। प्रकृते च प्रतिज्ञा नाम न साध्यविशिष्टपक्षविषयकबोधजनकवचनं किन्तूत्तरकाले स्वकर्तव्यत्वेन निर्देशो यथा इदं करिष्यामीत्याकारकवचनम्। अत्र च 'भाषारहस्यं समासतो वक्ष्य' इतिवचनं प्रतिज्ञा। **अवधानफलिकेति**। श्रोतॄणां श्रवणाभिमुखीकरणमवधानम्, विषयान्तरसंचाराभाव **इत्यन्ये**। चित्तैकाग्र्यमिति परे। **प्रकर्षेणेति** कराञ्जलि-शिरोनमन-शब्दोच्चारणरूपेण विशिष्टतरशुभाध्यवसाययुक्तेनेत्यर्थः। **समुचितदेवतेति**। अभीष्टदेवता। तदुक्तं **हारिभद्रीयावश्यकवृत्तिटिप्पणे** 'नमस्कारोचितश्च देवताविशेषस्त्रिधा

(यह प्रकरण मोक्ष का प्रयोजक है)

ततो. इति। उपर्युक्त चर्चा से यह सिद्ध हुआ कि मुमुक्षु के लिए मोक्ष के प्रधान कारण चारित्र के उपकारक भाषासमिति और वाग्गुप्ति जिसके अधीन है, वह भाषाविशुद्धि अवश्य उपादेय है, क्योंकि कार्य की सिद्धि के लिए कार्य के उपायों में प्रवृत्ति आवश्यक है तथा उपायों में प्रवृत्ति करने के लिए उपायों का ज्ञान भी अनिवार्य है। उपाध्यायजी महाराजा शिष्यों को भाषाविशुद्धि का ज्ञान कराने के लिए प्रस्तुत प्रकरण का प्रारंभ कर रहे हैं। इससे प्रकरणकार के साक्षात् प्रयोजन का निर्देश हुआ है। - **'परोपकाराय सतां विभूतयः' 'महापुरुषाणां प्रवृत्तिः परोपकारव्याप्ता भवति'** ये दो उक्तियाँ यहाँ स्मृतिपट पर आती हैं। उपाध्यायजी महाराज को 'रहस्य'पद से अंकित १०८ प्रकरणग्रन्थरत्नों का सर्जन करने की तीव्र तमन्ना थी। उन्होंने रहस्यपदांकित १०८ ग्रन्थरत्नों के सर्जन की प्रतिज्ञा की थी। यह प्रतिज्ञा सिर्फ मनोरथ रूप न थी, बल्कि पुरुषार्थयुक्त थी, सक्रिय थी। उन्होंने इस प्रकरण के प्रारंभ के पूर्व में प्रमारहस्य, नयरहस्य, स्याद्वादरहस्य आदि अनेक रहस्यपदसुशोभित ग्रंथमंजुषाओं का सर्जन कर दिया था। प्रस्तुत प्रकरण भी प्रमारहस्य आदि रहस्यपदविभूषित ग्रन्थों की तरह रहस्यपद से घटित है, जो कि 'भाषारहस्य' नाम से ही ज्ञात होता है। हाथ कंगन को आरसी क्या? प्रकरणकार अपने टंकशाली वचनों से गागर में सागर भरते हुए प्रकरणग्रन्थ का प्रारंभ करते हैं। 'पणमिय' इत्यादिरूप से जो प्रथम मंगलगाथा है, इसका अर्थ निम्नोक्त है।

श्लोकार्थ :- श्री पार्श्वजिनेश्वर को प्रणाम कर के उस भाषारहस्य (प्रकरण) को मैं संक्षेप से कहूँगा, जिसको जानकर सुविहित जीवों चारित्र की विशुद्धि को प्राप्त करते हैं।१।

(प्रतिज्ञा की आवश्यकता)

विवरणार्थ :- मैं भाषारहस्य को संक्षेप से कहूँगा - ऐसा यहाँ अन्वय=शब्दों का सम्बन्ध अभिप्रेत हैं। यह ग्रन्थ प्रकरणात्मक होने से संक्षिप्तरूप से भाषारहस्यनिरूपण करने की ग्रंथकार ने प्रतिज्ञा की है। भाषाविषयक रहस्य के संक्षेप में जिज्ञासु शिष्यों को ग्रन्थश्रवण के प्रति अभिमुख करने के लिए यह प्रतिज्ञानिर्देश किया गया है, क्योंकि ग्रन्थप्रतिपाद्य विषय के अर्थी शिष्यों की

१ प्रणम्य पार्श्वजिनेन्द्रं भाषारहस्यं समासतो वक्ष्ये। यज्ज्ञात्वा सुविहिताश्चरणविशोधिमुपलभन्ते।।१।।

कृत्वा? **प्रणम्य**=प्रकर्षेण नत्वा, कं? **पार्श्वजिनेन्द्रं**, जयंति रागादिशत्रूनिति जिनाः=सामान्यकेवलिनः तेष्विन्द्र इव प्राधान्यात् जिनेन्द्रः पार्श्वश्चासौ जिनेन्द्रश्च = पार्श्वजिनेन्द्रः तम्। अनेन समुचितदेवतानमस्काररूपं मङ्गलं कृतं तेन च शिष्टाचारः परिपालितो भवति।

अथ शिष्टाचारपरिपालनं न स्वतः प्रयोजनं सुख-दुःखाभावयोरन्यतरत्वाभावात्।

अभीष्टाभिमताधिकृतभेदात्' (हा. आ. वृ. टी. पृ. १)। **तेन च शिष्टे**त्यादि। मङ्गलकरणेन च शिष्टाचारपरिपालनं कृतं भवतीत्यर्थः। शिष्टाचारपरिपालनघटकं शिष्टत्वं न वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम्, अप्रयोजकत्वात्, अतिप्रसञ्जकत्वात्, वस्तुतो वेदानामप्रमाणत्वाच्च। न वा फलसाधनतांशे भ्रान्तिशून्यत्वम्, चौरादावतिप्रसक्तेः। न वा अनुशासनयोग्यत्वम्, केवल्यादावव्यापकत्वात्। नापि निखिलशब्दधर्मिकसाधुत्वप्रकारकयथार्थज्ञानवत्त्वम्, न्यूनवृत्तित्वात् किन्तु सम्यग्ज्ञानक्रियावत्त्वम्। वस्तुतस्तु अपुनर्बंधकादिकेवलिपर्यन्तावस्थानुगतधर्मवत्त्वमेव शिष्टत्वम्। तच्च सम्यग्ज्ञानादिनोपलक्ष्यते। शिष्टाचारश्च शिष्टैर्धर्मबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानोऽलौकिकव्यवहारः, तेन च न सम्यग्दृष्ट्यादिना क्रियमाणे परस्त्रीगमन-मांसभक्षणादावतिप्रसङ्गः। अत्र च शिष्टाचारेण विधिबोधितकर्तव्यतामनुमाय मङ्गले प्रवृत्तिरेव शिष्टाचारपरिपालनम्।

ननु मङ्गलं न कर्तव्यम्, निष्फलत्वात्। **न च** मङ्गलं कर्तव्यम् शिष्टाचारपरिपालनविषयत्वेन सफलत्वादिति **वाच्यम्** यतः शिष्टाचारपरिपालनं किं स्वतः प्रयोजनं परतः प्रयोजनं वा? इति विमलविकल्पयुगली प्रकृते समुपतिष्ठत इत्याशयेन शङ्कते-**अथे**ति। प्रथमविकल्पं निषेधयति - **न स्वतः प्रयोजनमिति**। अन्यकामनाऽनधीन-स्ववृत्तित्व-प्रकारक-कामनाविषयत्वरूपं स्वतः प्रयोजनत्वम्। तच्च सुखे दुःखाभावे वा वर्त्तते न त्वन्यत्र। **अन्यतरत्वाभावादिति**।

ग्रन्थश्रवण के प्रति दत्तचित्तता ही प्रतिज्ञा का फल है।

शिष्ट पुरुषों का यह आचार है कि' ग्रन्थ के आरंभ में मङ्गल किया जाय। मङ्गल न करने से इस शिष्टाचार का भंग होता है। अतः इस शिष्टाचार के परिपालनार्थ ग्रंथकार श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र भगवंत को प्रणाम करते हैं। रागादि अंतरंग शत्रुओ के उपर विजय पानेवाले जिन कहे जाते हैं, जो सामान्यकेवली भगवंत होते हैं। सामान्यकेवलीओं की अपेक्षा श्रीतीर्थंकर भगवंत अष्टमहाप्रातिहार्य, ३४ अतिशय, वाणी के ३५ गुण, तीर्थस्थापना, मेरुशिखर पर जन्माभिषेक आदि परम ऐश्वर्य के स्वामी होने से जिनेन्द्र कहे जाते हैं। श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र को, जो इस अवसर्पिणी काल के २३ वें महाप्रभावक तीर्थंकर है, प्रकरणकार प्रणाम करते हैं। इस तरह मङ्गलाचरण से शिष्टाचारपरिपालन हुआ। ग्रंथकार ने 'नत्वा' पदप्रयोग के स्थान में प्रणम्य पद का प्रयोग किया है, जिससे नमस्कार में प्रकर्ष का बोध होता है। मतलब यह है कि यहाँ विशिष्ट शुभ अध्यवसाययुक्त कराञ्जलि-शिरोनमन-शब्दोच्चारणरूप प्रकृष्ट नमस्कार इष्ट है। 'प्रणम्य' पदप्रयोग से दूसरा यह भी ज्ञात होता है कि यह प्रणाम ग्रंथकार को ग्रन्थप्रारंभ के पूर्व में इष्ट है, क्योंकि यह प्रणाम समुचितदेवतानमस्काररूप होने से मङ्गलात्मक है और मङ्गल ग्रन्थ के प्रारम्भ के पूर्व में इष्ट होता है। किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के पूर्व में अपने इष्टदेव को नमस्कार करना - यह शिष्टों का आचार होने से मङ्गलाचरण से शिष्टाचार का परिपालन भी संपन्न हुआ है। जैसे 'भोजनेन तृप्तो भवति' वाक्य से भोजन में तृप्ति की प्रयोजकता का और तृप्ति में भोजनप्रयोज्यता का ज्ञान होता है। अर्थात् 'भोजन का प्रयोजन तृप्ति है' ऐसा बोध होता है वैसे यहाँ 'तेन शिष्टाचारः परिपालितो भवति' इस वाक्य से मङ्गल में शिष्टाचारपरिपालन की प्रयोजकता और शिष्टाचारपरिपालन में मङ्गलप्रयोज्यता ज्ञात होती है। अतः मङ्गल का प्रयोजन शिष्टाचारपालन है, यह ज्ञात होता है। शिष्टाचारपरिपालनरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए यहाँ मङ्गल का उपादान किया गया है।

✱ शिष्टाचारपरिपालन मङ्गल का प्रयोजन नहीं है- पूर्वपक्ष ✱

'शिष्टाचारपरिपालनार्थ मङ्गल का उपादान किया गया है' ऐसी आपकी बात निराधार है। सभी कामनाएँ सप्रयोजन होती है, निष्प्रयोजन नहीं। प्रस्तुत में शिष्टाचारपरिपालन की कामना ग्रंथकार को क्यों हुई? इस प्रश्न के आप दो उत्तर दे सकते हैं कि- क्योंकि शिष्टाचारपरिपालन स्वतः प्रयोजन है या तो परतः प्रयोजन है। स्वतः प्रयोजन का अर्थ है जिसका ज्ञान होने पर उसकी कामना अन्य कामना के अधीन न हो वह। यदि वस्तु का ज्ञान होने पर 'यह मुझे मिले' ऐसी कामना अन्य किसी कामना के अधीन हो, तब इस वस्तु को परतः प्रयोजन जानना चाहिए। जैसे कि - आदमी धनप्राप्ति की कामना करता है, मगर धन की कामना सुख

न चाऽपूर्वजनकतया तस्य फलहेतुत्वं, तद्धि अपूर्वं विघ्नमविनाश्य फलं जनयेद्विनाश्य वा? नाद्यः सति प्रतिबन्धके हेतुसहस्रादपि

शिष्टाचारपरिपालनं न सुखरूपं न वा दुःखाभावरूपम्, अतो न स्वतः प्रयोजनमित्याशयः। नापि तत्परतः प्रयोजनम् यतः परतः प्रयोजनं नाम अन्यकामनाधीनकामनाविषयत्वम्। तथा च प्रकृते निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिकामनाधीन-कामनाविषयत्वरूपं तत्प्राप्तम्। तच्च न युक्तं ग्रन्थसमाप्तेः कालान्तरभावित्वात्। मङ्गलप्रवृत्तिरूपशिष्टाचार-परिपालनस्य ग्रन्थसमाप्तिपर्यन्तमसत्त्वात् कथं सा तत्प्रयोज्या? न हि मृता दग्धा च भार्या पुनः प्रसवायोद्भवति। **न चापूर्वेति**। नमस्कारादिरूपमङ्गले प्रवृत्तिरूपस्य शिष्टाचारपरिपालनस्याऽपूर्वजननद्वारा ग्रन्थपरिसमाप्तिरूपफल-हेतुत्वमिति तत्परतः प्रयोजनमिति शङ्काकर्तुराशयः।

प्रकृतेऽपूर्वं च न प्रकरणप्रतिपाद्यस्य मानान्तराविषयरूपम् न वा पूर्वं न दृष्टमित्यादिरूपं ग्राह्यम्, अनधिकारात् किन्तु कालान्तरभाविफलानुकूलविहितनिषिद्धक्रियाजन्यभावव्यापाररूपं **अदृष्टसिद्धिवादे** प्रकृतप्रकरणकृतोक्तं ग्राह्यम्। तच्च **वैशेषिकादिभिः** अदृष्टपदेन, **स्याद्वादिभिः**रस्माभिः कर्मशब्देन, **सौगतैः** संस्काराभिधानेन, **वेदवादिभिः** पुण्याद्याख्यया, **गणकैः** शुभादिपर्यायेण, **सांख्यैः** धर्मादिनाम्ना, **शैवैः** पाशाख्यानेन, **लौकैः** दैवविध्यादिध्वनिना, **कैश्चित्** अतिशयवचनेन, **अन्यैः** शक्तिव्यपदेशेन, **परैः** बीजापदेशेन, **अपरैः** क्लेशसंज्ञया, **इतरैः** मायासङ्केतेन, **ऋजुभिः** अविद्याप्रातिपदिकेन प्रतिपाद्यते। तदुक्तं **शास्त्रवार्तासमुच्चये** - अदृष्टं कर्म संस्कारः पुण्यापुण्ये शुभाशुभे। धर्माधर्मौ तथा पाशः पर्यायास्तस्य कीर्तिताः।। (शा. स. श्लो. १०७) अपूर्वकल्पना चावश्यक्येव, व्यवहितकाल-भावित्वात्कार्यस्य तदुक्त**मुदयनेना**पि न्यायकुसुमाञ्जलौ 'चिरध्वस्तं फलायालं न कर्माऽतिशयं विना'।। (न्या. कु. १/ ९) इति।

यत्तु अधुनातनेन **बदरीनाथशुक्लेन** क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमताम् क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम् श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः।। (शि. स्तो.) इति **पुष्पदन्त**कृतं **शिवमहिम्नः स्तोत्रं** विवृण्वता - 'यागेन ईश्वर आराधितः = प्रीतो भवति। यागेन 'याजको यागफलं प्राप्नोतु' इत्याकारिका ईश्वरेच्छा यागफलदायिनी यागफलनाश्या उत्पाद्यते यद्वा नित्येश्वरेच्छायां गुणाऽसमवेतसंख्येव

की कामना के अधीन है, क्योंकि सुख की प्राप्ति की कामना से धनप्राप्ति की कामना होती है। जब आदमी को कोई लुटेरा धन के लिए खून की धमकी देता है तब वह आदमी तुरंत ही लुटेरो को धन दे देता है क्योंकि उस वक्त आदमी को धन में सुखसाधनता का बोध न होने से सुखकामना के अधीन धनकामना नष्ट होती है। लेकिन सुख की कामना अन्य किसी कामना के अधीन नहीं है, क्योंकि सुख स्वतः काम्य है। तथा गर्मी के दिनों में प्यास बुझाने के लिए आदमी पानी को पीता है। जलपान की यह इच्छा प्यास को, जो कि दुःखरूप से आदमी को प्रतीत होती है, दूर करने की इच्छा के अधीन है। लेकिन प्यास की निवृत्ति की=दुःखनिवृत्ति की इच्छा अन्य किसी इच्छा के अधीन नहीं है, क्योंकि दुःखनिवृत्ति स्वतः काम्य है। उपर्युक्त दो उदाहरण से सिद्ध होता है कि सुख या दुःखाभाव स्वतः प्रयोजन है। इन दोनों से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ स्वतः प्रयोजन नहीं होता है। प्रस्तुत में शिष्टाचारपरिपालन न सुखरूप है, न दुःखाभावरूप है। अतएव वह स्वतः प्रयोजन नहीं है।

शंका :- न चापूर्व इत्यादि। अरण्यरुदन की तरह आपका यह वक्तव्य निरर्थक है। शिष्टाचार को स्वतः प्रयोजन तो हम भी मानते नहीं हैं। अतः आपने खोदा पहाड और निकली चुहिया! हम शिष्टाचारपरिपालन को परतः प्रयोजन मानते हैं। यद्यपि शिष्टाचार का परिपालन स्वतः काम्य न होने से ग्रन्थसमाप्तिरूप इष्ट की सिद्धि के लिए ही वह उपादेय है, लेकिन उसकी यह उपादेयता भी उसे समाप्ति का साक्षात् कारण मान कर नहीं उपपन्न की जा सकती, क्योंकि समाप्ति होने से चिर पूर्वकाल ही नष्ट हो जाने से वह समाप्ति का साक्षात् कारण नहीं हो सकता। अतः उसे हम अपूर्व द्वारा ही समाप्ति का कारण मानते हैं। इस अपूर्व को ही नैयायिक लोग अदृष्ट कहते हैं, बौद्ध संस्कार कहते हैं, स्याद्वादी कर्म कहते हैं, सामान्य-लोग भाग्य, दैव आदि शब्द से व्यवहार करते हैं। यह अपूर्व शास्त्रसमाप्तिरूप फलपर्यन्त विद्यमान रहता है। ग्रंथकार को ग्रंथसमाप्तिरूप फल इष्ट है, साध्य है।

असमवेतभावकार्यरूपो यागफलपर्यन्तस्थायी यागफलनाश्यः तादृशाकारो जन्यते। युक्तञ्चैतत् अवश्यक्लृप्तत्वात् 'कदा कियदवधिकं यागफलं सम्पद्यतां?' इत्यादिज्ञानस्येश्वर एव सम्भवात्, तत एवोचितकाले उचितावधिकयागफलव्यवस्थाया उपपत्तेः। अपूर्वादीनामचेतनत्वेन तादृशफलव्यवस्थापकत्वासम्भवादिति' - **उक्तं तदेतत्** क्षिरं विहायारोचकग्रस्तस्य सौवीररुचिमनुभवति, ईश्वरेच्छाया जन्यत्वाभ्युपगमेऽपसिद्धान्तापातात्, ईश्वरस्यानित्यत्वापत्तेश्च। **एतेन** नित्येश्वरेच्छायां गुणाऽसम्वेतसङ्ख्येवाऽसमवेतभावकार्यरूपतादृशाकारोत्पत्तिकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता**, नित्येच्छायां तादृशाकारोत्पादासंभवात् सम्भवे वेच्छानित्यत्वव्याहतिप्रसङ्गात् द्रष्टान्तवैषम्याच्च। तथाहि- नैयायिकैर्गुणे यथा सामानाधिकरण्यसंबन्धेन संख्याभ्युपगम्यते तथा नित्येश्वरेच्छायां सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तादृशाकारोत्पादकल्पनाया वक्तुमशक्यत्वात्। न हि द्रव्ये सङ्ख्येव ईश्वरे तादृशाकार उत्पद्यते, ईशानित्यत्वप्रसङ्गात्। न हि वरविघाताय कन्योद्वाहो भवति।

किञ्च ईश्वरेच्छायाः तादृशाकारस्य वा ईश्वरभिन्नत्वेनाऽचेतनत्वात् न ततोऽपि नियतावधिकफलव्यवस्थोपपत्तिरिति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः। **न च** सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तत्र चेतनत्वाभ्युपगमान्न क्षतिरिति **वाच्यम्** अपूर्वेऽपि तथा वक्तुं शक्यत्वात्, तस्य त्वन्मते आत्मगुणत्वात्। किञ्च, एवं अदृष्टानभ्युपगमे आत्मविभुत्ववादाय जलाञ्जलिः दत्तः स्यात्, अणुपरिमाणत्वकल्पनयाऽपि आत्मनित्यत्वोपपत्तेः। एवं च मनोद्रव्यस्याऽप्युच्छेदः स्यादिति एकं सन्धित्सतोऽपरप्रच्युतिः। वस्तुतः त्वदभिमतेश्वर एव मानाभावेन कुड्यं विना चित्रकर्मतुल्यं तत्सर्वमित्यलं प्रसङ्गेन।

फलहेतुत्वमिति। ग्रन्थपरिसमाप्तिरूपफलहेतुत्वमित्यर्थः। समाप्तिश्च चरमवर्णध्वंसः। **यत्त**-चरमवर्णत्वं वर्णविशिष्टवर्णाऽन्यवर्णत्वम्। वैशिष्ट्यं च स्वाऽव्यवहितपूर्वत्व-स्वसमानकर्तृकत्व-स्वप्रयोजकाभिप्रायप्रयोज्यत्वरूपसम्बन्धत्रितयेन बोध्यम्। तथा च तादृशसम्बन्धत्रितयेन वर्णविशिष्टो यो वर्णस्तदन्यो यो वर्णस्तत्प्रतियोगिकध्वंसः समाप्तिरिति फलितमिति-**केनचिदुक्तं तन्मन्दम्**, अव्याप्त्यतिव्याप्त्यादिदोषकलंकितत्वात्। तथाहि अन्येन प्रारब्धेऽन्येन च समाप्ते **कादम्बरीश्रीपालरासादौ** समाप्तिव्यवहारो न स्यात्, मूलग्रन्थकृदपेक्षया समानकर्तृकत्वाभावात्। **न च** कादाचित्कत्वेन **तस्याऽलक्ष्यत्वान्नाव्याप्तिरिति वाच्यम्**, एवं सति साध्याभाववदवृत्तित्वरूपस्याऽपि व्याप्तिलक्षणस्य निर्दोषत्वापत्तेः, केवलान्वयिस्थलीयव्याप्तेरल्पत्वेनाऽलक्ष्यत्वादित्यस्याऽपि वक्तुं शक्यत्वात्। **न च** व्याप्तिपदवाच्यत्वेन तस्या लक्ष्यताक्रान्तत्वमिति **वाच्यम्**, समाप्तिपदवाच्यत्वेन कादम्बर्यादिसमाप्तेरपि लक्ष्यत्वाऽऽक्रान्तत्वोक्तेः जागरूकत्वात् अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गात्। **एतेन** तत्र वैजात्यकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता** कल्पनागौरवात्, प्रमाणाभावाच्च। किञ्च विघ्नप्राचुर्येणाऽसमाप्तेऽपि ग्रन्थे समाप्तिव्यवहारः प्रसज्येत, अपूर्णग्रन्थान्तिमवर्णे तादृशचरमवर्णत्वस्य सत्त्वात्। किञ्च मौनव्रतिकपुरुषप्रणीतलिप्यक्षरग्रथितग्रन्थसमाप्तावव्याप्तिबुभुक्षितराक्षसी कण्ठपीठनिविष्टा नैव पश्चात्कर्तुं शक्यते, लिप्यक्षरा-

---

इसलिए अपने इष्ट फल की सिद्धि के साधनभूत अपूर्व का सम्पादन करने के लिए मङ्गल में प्रवृत्तिरूप शिष्टाचार का परिपालन समीचीन ही है, क्योंकि कार्यार्थी की कारण में प्रवृत्ति दोषरूप नहीं है किन्तु गुणरूप ही है। आप दूर की नहीं सोचते हैं। अतएव तीर नहीं तो तुक्का समझ कर निराधार उपालंभ दे रहे हो! धन्य है आपकी अक्कलमंदता!

✱ मङ्गलजन्य अपूर्व की कल्पना अप्रामाणिक है - पूर्वपक्ष जारी ✱

समाधान :- वाह उस्ताद! छोटे मुँह बडी बात! शिष्टाचारपरिपालन अपूर्व को उत्पन्न कर के ग्रन्थसमाप्तिरूप फल का हेतु होने से उपादेय है - यह वक्तव्य ठीक नहीं है, क्योंकि "यह अपूर्व ग्रन्थसमाप्ति के विघ्नों का ध्वंस किये बिना ही प्रस्तुतग्रन्थसमाप्तिरूप फल को उत्पन्न करेगा या विघ्नों का ध्वंस करने के बाद समाप्तिरूप कार्य को उत्पन्न करेगा?" इन दो विकल्प में से एक भी विकल्प नहीं घट पाता। वह इस प्रकार, विघ्नध्वंस किये बिना तो अपूर्व समाप्तिरूप फल को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि विघ्न

फलानुत्पत्तेः। नाऽन्त्यः आवश्यकत्वा-द्विघ्नध्वंसस्यैव मङ्गलफलत्वेऽपूर्वकल्पनावैयर्थ्यादिति **चेत्? न,** शिष्टाचारपरिपालनद्वारा मङ्गलस्याऽपूर्वजनकत्वेऽपि विघ्नध्वंस-हेतुत्वाऽविरोधात्, पुण्यप्रकृतिबन्ध-पापप्रकृत्युच्छेदयोर्युगपद्भावात्।

णामवर्णत्वात्, तत्साधारणवर्णत्वाऽभ्युपगमेऽपि तेषां चिरञ्जीवित्वेन तत्समाप्त्यनन्तरमप्यसमाप्तत्वव्यवहारप्रसङ्गात्।

केचित्तु चरमवर्णज्ञानमेव समाप्ति**रित्याहुः तन्न** चारु, कस्यचिदचरमवर्णे चरमत्वभ्रमे सति समाप्तत्वव्यवहार-प्रसङ्गात्, तादृशप्रमाविवक्षणेऽपि तन्नाशानन्तरमसमाप्तत्वापत्तेः, वैयधिकरण्याच्च। **स्यादेतत्** - ग्रन्थकारीयप्रतिज्ञा-विषयसिद्ध्युपधायककृतिविषयवर्णध्वंसो ग्रन्थपरिसमाप्तिः विवक्षितविषयप्रतिपादनं च ग्रन्थकारीयप्रतिज्ञाविषय इति **मैवम्** सिद्धिपदनिर्वचने आत्माश्रयदोषप्रसङ्गात्।

ननु तर्हि का ग्रन्थपरिसमाप्तिः? सा चरमवर्णध्वंस इति पूर्वमुक्तमेव किं विस्मर्यते? 'न, बाढं स्मरामि किन्तु चरम-त्वनिर्वचनस्याऽघटमानत्वात् दोलायते मनः', **उच्यते**, अवहितो भव, यदुत्पत्तिसमकालमेव प्रतिज्ञाविषये साध्यता-ऽऽख्यविषयता व्यवहारनयेन कात्स्न्र्येन विलीयते स प्रकृतग्रन्थनिविष्टो वर्णः चरमवर्णः तत्प्रतियोगिको ध्वंसः ग्रन्थसमाप्तिः। न च विघ्नबाहुल्येनाऽसमाप्तेऽपि ग्रन्थे समाप्तिव्यवहारप्रसङ्गः, प्रतिज्ञाविषये साध्यताख्यविषयताया अप्रच्यवात्। न वाऽन्यप्रारब्धाऽपरपरिसमाप्तकादम्बरीश्रीपालरासादिग्रन्थपरिसमाप्तिस्थलेऽव्याप्तिः। नाऽपि अन्यकृत-ग्रन्थसमाप्तिस्थले मूलग्रन्थकृदन्तिमवर्णध्वंसेऽतिव्याप्तिः। नाऽपि अभिप्रायान्तरारब्धाऽभिप्रायान्तरसमाप्तग्रन्थसमाप्ता-वव्याप्तिरिति।

केचित्तु स्वसमानजातीयपदार्थप्रागभावाऽनधिकरणत्वं चरमत्वमित्याहुः। स्वसजातीययावत्प्रतियोगिकध्वंससम-कालिकत्वं **चरमत्वमित्यन्ये**। चरमत्वं जातिविशेष इत्य**परे** वदन्ति। साङ्कर्यापत्तेरुपाधिविशेष एव चरमत्वमिति परे।

वयन्तु ब्रूमः चरमत्वप्रकारकप्रमाविशेषविषयत्वरूपमेव चरमत्वं प्रकृते बोध्यम्। स्वरूपसम्बन्धेन निरुक्तचरमत्व-विशिष्टवर्णप्रतियोगकध्वंस एव ग्रन्थसमाप्तिः। वर्णत्वञ्चात्र संज्ञाक्षर-व्यञ्जनाक्षरसाधारणं ज्ञेयं। **एतेन** लिप्यक्षर-

का अर्थ है समाप्तिकार्य का प्रतिबन्धक। प्रतिबन्धक सामग्री का विघटन करता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए प्रतिबन्धक की निवृत्ति आवश्यक है, क्योंकि प्रतिबन्धक का अभाव समाप्ति कार्य की सामग्री में अंतःप्रविष्ट है। अन्य हजारों हेतु होने पर भी प्रतिबन्धकाभावरूप एक कारण के अभाव से समाप्तिरूप कार्य की निष्पत्ति की कल्पना अप्रामाणिक है, क्योंकि अपनी सामग्री में प्रविष्ट एक कारण के बिना भी कार्य उत्पन्न हो जाये तो कार्यकारणभावभंग की अनिष्टापत्ति होगी। इसलिए विघ्नरूप प्रतिबन्धक का उच्छेद किये बिना शिष्टाचारपरिपालनजन्य अपूर्व से ग्रन्थपरिसमाप्तिरूप फल की प्राप्ति असंभव है।

यदि-शिष्टाचारपरिपालनजन्य अपूर्व विघ्नरूप प्रतिबन्धक का ध्वंस कर के ग्रन्थसमाप्तिरूप कार्य को उत्पन्न करेगा - इत्याकारक द्वितीय विकल्प का आप स्वीकार करेंगे तो यह भी मुनासिब नहीं है, क्योंकि इस पक्ष की स्वीकृति गौरवग्रस्त होने से उपादेय नहीं हो सकती। देखिये आपके अभिप्राय के अनुसार मङ्गल से शिष्टाचारपरिपालन होगा। उससे अपूर्व की उत्पत्ति होगी। अपूर्व से विघ्न का ध्वंस होगा और इसके बाद समाप्तिस्वरूप फल की प्राप्ति होगी। हनुमानजी की पूंछ की तरह यह लम्बी कल्पना करने की अपेक्षा मङ्गल में ही विघ्नध्वंसजनकता और विघ्नध्वंस में ही मङ्गलजन्यता की कल्पना करने में लाघव है। मङ्गल और समाप्ति के बीच में शिष्टाचारपालन और अपूर्व की कल्पना करने के बाद भी समाप्ति के लिए विघ्नध्वंस की कल्पना आवश्यक ही है, तब तो मङ्गल को ही विघ्नध्वंस का कारण मानना उचित है। मङ्गल और विघ्नध्वंस के बीच अपूर्व और शिष्टाचारपरिपालन को खडा कर उन्हें समाप्ति का कारण क्यों माना जाय?

इसके अतिरिक्त यह भी एक विचारणीय बात है कि मङ्गलप्रयोज्य शिष्टाचारपालन से उत्पन्न होनेवाला अपूर्व भी विघ्नध्वंस को उत्पन्न किये बिना तो समाप्ति का कारण नहीं बन पाता। इसलिए यदि बीच में विघ्नध्वंस को मानना आवश्यक ही है तो फिर विघ्नध्वंस को ही मङ्गल का फल मानना उचित है, न कि समाप्ति को उसका फल मानना उचित है, क्योंकि समाप्ति तो बुद्धि-प्रतिभा-कल्पनापटुता आदि के समूह से होती है।

ग्रथितग्रन्थसमाप्तावव्याप्तिरपि **प्रत्युक्ता**, लिप्यक्षरगुम्फितग्रन्थसमाप्त्यनन्तरं ग्रन्थसमाप्तिस्वरूपध्वंसप्रतियोगिनः चिरतरकालस्थायिनो वर्णस्य वर्णत्वेनाऽविनष्टत्वेऽपि चरमत्वेन विनष्टत्वात्, विषयताया ज्ञानसमानकालीनत्वात्, विशेषणात्यन्ताभावप्रयुक्तविशिष्टात्यन्ताभावस्येव विशेषणध्वंसप्रयुक्तविशिष्टध्वंसस्यापि प्रामाणिकत्वात्। चरमत्वघटकीभूता प्रमा चाऽत्र ग्रन्थकारीया ज्ञेया, ग्रन्थान्तिमवर्णोत्पादसमसमयमेव ग्रन्थकर्तुः 'चरमोऽयं वर्ण' इत्येवं प्रमाया उत्पादात्। **न चैव**मेकस्यापि ग्रन्थस्याऽनेकशः समाप्तिप्रसङ्ग इति **वाच्यम्** तद्वर्णविशेष्यक-चरमत्वप्रकारक-ग्रन्थकारीय-प्रथमप्रमाविषयत्वं चरमत्वमित्यत्र तात्पर्यात्। यद्वा निरुक्तचरमत्वविशिष्टवर्णप्रतियोगिकध्वंसनिष्ठः समाप्तिप्रकारकप्रमाहेतुः परिणामविशेष एव सा। निश्चयतस्तु वर्णत्वं श्रुतोपयोगात्मकलब्ध्यक्षरवृत्ति बोध्यमिति दिक्।

पूर्वपक्षी विकल्पद्वयेन द्वितीयविकल्पावलम्बिनां शङ्कामपहस्तयति-**तद्धीति**। **'सति प्रतिबन्धके'** इति। सामग्रीविघटकविघ्नात्मकप्रतिबन्धकाभावस्य सामग्रीप्रविष्टत्वेन सति विघ्नात्मके प्रतिबन्धके सामग्र्यभावात्प्रतिबन्धकाभावेतरसकलकारणसमवधानेऽपि न फलोत्पादः, अन्यथा व्यतिरेकव्यभिचारेण समाप्तिप्रतिबन्धकाभावयोः कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गात्। **आवश्यकत्वादिति**। समाप्तिं प्रत्यनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तिताकत्वादित्यर्थः। मङ्गलसमाप्त्योर्मध्ये शिष्टाचारपरिपालनाऽपूर्वकल्पनेऽपि विघ्नध्वंसकल्पनाऽऽवश्यक्येव, प्रतिबन्धकसत्त्वे सामग्रीघटकप्रतिबन्धकाभावविरहेण फलानुत्पादप्रसङ्गात्। **विघ्नध्वंसस्यैवेति**। एवकारेण शिष्टाचारपरिपालनाऽपूर्वसमाप्तिषु मङ्गलफलत्वव्यवच्छेदः कृतः। अयं भावः मङ्गले शिष्टाचारपरिपालनप्रयोजकत्वं, शिष्टाचारपरिपालनेऽपूर्वप्रयोजकत्वं अपूर्वे च विघ्नध्वंसप्रयोजकत्वमित्येवं गुरुतरकल्पनाव्यूहेन मङ्गले समाप्तिजनकत्वोपपादनाऽपेक्षया "तद्धेतोरस्तु किं तेन?" इतिन्यायेन विघ्नध्वंस एव मङ्गलफलत्वकल्पना व्यापाराऽकल्पनेन लघीयसी युक्तिसहा च। शिष्टाचारपरिपालनेऽपूर्वे समाप्तौ च न मङ्गलफलत्वकल्पना युक्ता गौरवादिति पूर्वपक्षाशयः।

तन्निराकरोति-**नेति**। **"शिष्टाचारपरिपालनद्वारे"**त्यादि। अत्रायं स्थितपक्षः शिष्टाचारविषयत्वेन विधिबोधितकर्तव्यत्वमनुमाय मङ्गले प्रेक्षावतां प्रवृत्तेर्दर्शनाद्गिर्वाणगुरुणाऽपि मङ्गले शिष्टाचारपरिपालनप्रयोजकत्वं प्रत्याख्यातुमशक्यम्, मङ्गलाचरणस्यैव शिष्टाचारपरिपालनरूपत्वात्। "निर्विघ्नसमाप्तिकामः मङ्गलमाचरेदि"त्याद्याकारकोन्नीतविधिवाक्यबोधितकर्तव्यताविशिष्टमङ्गलस्य कालान्तराऽस्थायित्वेन मङ्गले तादृशसमाप्तिकारणतोपपत्त्यर्थमवश्यमपूर्वरूपद्वारजनकत्वकल्पना न्याय्यैव अन्यथाऽनुमानोन्नीतविधिवाक्यस्य वैफल्यप्रसङ्गात्।

✱ शिष्टचारपरिपालन भी मङ्गल का प्रयोजन है-उत्तरपक्ष ✱

न०। **आपको** देखकर हमें लगा था कि आप बडे विद्वान होंगे, मगर जब आपका वक्तव्य सुना तब मालुम हुआ कि नाम बडे और दर्शन छोटे। यह आपको किसने पढा दिया कि 'एक कारण एक कार्य को ही उत्पन्न करता है, अनेक कार्यों को नहीं?' 'पुण्यप्रकृति का बंध और पापप्रकृति का उच्छेद एक ही काल में, एक ही जीव में एक ही चारित्र से होता है' - यह क्या आप भूल गये? पुण्यप्रकृति कहो या अपूर्व कहो अर्थ में कोई भेद नही है। पापप्रकृति का उच्छेद कहो या कारण में कार्य का उपचार कर के विघ्नध्वंस कहो, क्या फर्क है? कुछ नहीं। विघ्न का कारण होने से पाप को विघ्न कहने में क्या दोष है? जैसे चारित्र में एक काल में पुण्यबंधहेतुता और पापप्रकृतिउच्छेदहेतुता है वैसे मङ्गल में भी अपूर्वजनकता और विघ्नध्वंसहेतुता एक ही काल में मानने में क्या दोष है? कोई नहीं। मङ्गल में प्रवृत्ति ही शिष्टाचार का परिपालन है। अतः शिष्टचारपरिपालन की हेतुता मङ्गल में मानने में कोई दोष नहीं है। प्रत्युत मङ्गल में शिष्टाचारपरिपालन की हेतुता मानने से अपूर्व के प्रति हेतुता की भी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि मङ्गल यदि शिष्टाचार का हेतु न होता या अशिष्टाचार का हेतु होता तब तो मङ्गल में अपूर्व के प्रति हेतुता भी उपपन्न न हो सकती। अतः शिष्टाचारपालन की मङ्गल में हेतुता मान कर, शिष्टाचारपालन द्वारा अपूर्व की हेतुता भी मङ्गल में उपपन्न हो सकती है।

न च विघ्नध्वंसेनैव फलोपपत्तावपूर्वकल्पनावैयर्थ्यम्, विहितत्वेन तस्याऽवश्यं पुण्यजनकत्वादित्यधिकं **मत्कृतमङ्गलवादे**[१]।

अपि इति। शिष्टाचारपरिपालननिर्वाहकत्वे सति अपूर्वजनकत्वेऽपि मङ्गलस्य विघ्नध्वंसहेतुत्वे न विरोधः, किं पुनः शिष्टाचारपरिपालननिर्वाहकत्वे मङ्गलस्य विघ्नध्वंसहेतुत्वे विरोध इत्यपिशब्दार्थः।

ननु मङ्गलेऽपूर्वजनकत्वे सति विघ्नध्वंसहेतुता न सम्भवति, विरोधादित्याशङ्कायामाह - **अविरोधादि**ति। अयि ! मुग्धमते ! अपूर्वजनकत्व-विघ्नध्वंसजनकत्वयोः को नाम विरोधः? न तावत्सहानवस्थानलक्षणो विरोधः स्यात् शीतोष्णवत्, एकस्मिन्नेव सरागचारित्रे पुण्यजनकत्व-दुरितध्वंसहेतुत्वयोः पुण्यप्रकृतिबंध-पापप्रकृत्युच्छेदयोर्युगपद्भावेन सिद्धत्वात्। अत एव प्रकाशान्धकारयोरिव न परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः। नापि वध्यघातकभावविरोधोऽपि फणिनकुलयोर्बलवदबलवतोः प्रतीतोऽपूर्वजनकत्व-विघ्नध्वंसजनकत्वयोः शङ्कनीयः, तयोः समानबलत्वात् मयूराण्डरसे नानावर्णवत्। किञ्च केन पाठितो भवान् यदुत "एकस्मिन् कारणेऽनेककार्यहेतुत्वं न किन्त्वेककार्यहेतुत्वमेवेति?" किमेकस्मिन्नेव प्रदीपे युगपत्तैलशोषवर्तिकादाहान्धकारनाश-प्रकाशादिबहुकार्यहेतुत्वं न द्रष्टम्?

"विहितत्वेने"ति। मङ्गलस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिहेतून्नीतविधिवाक्यबोधितकर्तव्यत्वेनेत्यर्थः। विहितत्वस्याऽपूर्वजनकत्वव्याप्यत्वान्मङ्गलेऽपूर्वहेतुतायाः प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्। **एतेन** तद्धेतोरस्तु किं तेन? इति न्यायेन विघ्नध्वंस एव मङ्गलफलत्वकल्पना व्यापाराकल्पनेन लघीयसी युक्तिसहा **चेत्यपास्तम्**। न हि प्रमाणस्वारस्यात्प्रतीयमानं प्रयोजनानुसारेण परित्यक्तुमर्हति, प्रमाणत्वहानिप्रसङ्गात्। अत्रेदमवधेयं यथा शाल्यथ कूल्या प्रणीयते ततश्च पानीयं पीयते शालयश्च भाव्यन्ते तथा प्रकृतेऽपि **"अन्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं** भवती"तिन्यायेन निर्विघ्नसमाप्तये कृतं देवताविशेषनमस्काररूपं मङ्गलं तस्यै, शिष्टाचारपरिपालनाय, शिष्टशिक्षायै, "देवताविशेषगदितागमानुसारी ग्रन्थोऽयमित्युपादेय" इत्येवं बुद्धिनिबन्धनत्वेन शिष्यप्रवृत्त्यथ च भवति। अनेकफलकात्कर्मण उद्देश्यानुद्देश्यप्रधानाप्रधानबहुविधफलदर्शनाद्युक्तमेतदिति **दिक्**। अयमर्थ **"इति"**शब्देन विवरणकारेण द्योतितः। **मत्कृतमङ्गलवाद** इति साम्प्रतमनुपलभ्यमानोऽयं ग्रन्थः।

शंका :- 'न च विघ्न.' इत्यादि। आपको मङ्गल मे अपूर्वजनकता की कल्पना करने के बाद भी विघ्नध्वंस के प्रति हेतुता की मङ्गल में कल्पना करनी आवश्यक है, क्योंकि विघ्नध्वंस भी समाप्ति का कारण है तथा विघ्नध्वंस से ही समाप्तिरूप फल की उत्पत्ति हो जाने में कोई विरोध नहीं हैं। फिर अपूर्व की अदृष्टकल्पना क्यों करे? मङ्गल और समाप्ति के बीच अपूर्व को खडा कर उसमें मङ्गल की कार्यता क्यों मानी जाय?

✱ अपूर्व मङ्गल का कार्य है ✱

समाधान :- 'विहितत्वेन.' इत्यादि। ग्रन्थ के आरंभ में शिष्टजनों द्वारा मङ्गल करने की परंपरा को देख कर यह अनुमान किया जाता है कि- इस प्रकार का कोई विधिशास्त्र=कर्तव्यताबोधक शास्त्र अवश्य है, जिससे शिष्ट जनों को ग्रन्थ के प्रारंभ में मङ्गल में कर्तव्यता का बोध होता है, क्योंकि यदि ऐसा विधिवाक्य न होता तो शिष्टसमाज में ग्रन्थ के आरंभ में मङ्गल करने की परंपरा प्रतिष्ठित न होती। इस अनुमान से अपेक्षणीय विधिवचन का ज्ञान होने पर उससे मङ्गल की कर्तव्यता का अवगम होकर मङ्गल में नये ग्रंथकार की प्रवृत्ति होती है। तथा यह एक नियम है कि जो प्रवृत्ति विहित होती है=विधायकवाक्यबोधित कर्तव्यता वाली होती है, वह अवश्य अपूर्व की जनक होती है, जैसे दानादिप्रवृत्ति। मङ्गलाचरण भी विहितप्रवृत्तिरूप होने से उपर्युक्त नियम से अपूर्वरूप पुण्य का अवश्य जनक होगा, क्योंकि सामग्री को कार्योत्पत्ति में अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं होती है। यह कोई राजकीय वचन नहीं है कि-अपनी सामग्री से उत्पन्न होता हुआ कार्य अन्य किसीकी बदौलत अपने में निष्प्रयोजनता की आपत्ति होने पर उत्पन्न न हो। इस विषय की अनेक तात्त्विक बातें ग्रंथकार ने मङ्गलवाद नाम के अपने ग्रंथ में बताई है। इस विषय में विस्ताररुचि वाले जिज्ञासु को 'मङ्गलवाद' ग्रंथ देखने की सूचना कर के यहाँ मङ्गलसंबंधी अन्य विचारों को तिलांजलि

१ उपा. श्रीयशोविजयजी महाराज का मङ्गलवाद नाम का ग्रन्थ वर्त्तमान में उपलब्ध नहीं है।

पश्चार्द्धेन प्रयोजनमाह, **यद**=भाषारहस्यं, **ज्ञात्वा**=विदित्वा, **सुविहिताः** = सदाचाराः, **चरणविशुद्धिं** = चारित्रनैर्मल्यं, **उपलभन्ते** = प्राप्नुवन्ति।।१।। अथ भाषामेव तावन्निक्षेपतो निर्दिशति -

[१]नामाई निक्खेवा चउरो चउरेहि एत्थ णायव्वा। दव्वे तिविहा गहणं तह य निसिरणं पराघाओ।।२।।

"**प्रयोजन**"मिति अवान्तरप्रयोजनम्। मुमुक्षूणां तावन्मुख्यं प्रयोजनं तु मोक्ष एव। मुख्यप्रयोजनविषयसिद्ध्युपायभूतार्थे प्रयोजनं अवान्तरप्रयोजनम्। मोक्षसिद्ध्युपायत्वं चारित्रनिर्मलतायां प्रसिद्धमेव। **न च** प्रकरणकृता प्रशस्तौ "मम जन्मबीजे रागद्वेषौ विलीयेतामि"ति वदता स्वरागादिविलयस्य प्रयोजनत्वमुक्तमत्र च सुविहितचरणविशुद्धेः प्रयोजनत्वमावेदितमिति कथं नोपक्रमोपसंहारविरोध इति **वाच्यम्** अत्र प्रकरणकारत्वेन रूपेण प्रयोजनमाविष्कृतं तत्र च विवरणकारत्वेन रूपेणात्मनः प्रयोजनं प्रकाशितमिति न दोषः यद्वा परकीयचारित्रपालनसहायकत्वस्य स्वरागादिविलयाऽविनाभावित्वसूचनाथ तथोक्तं यद्वाऽत्र मुख्यप्रयोजननिवेदनं तत्र चानुषङ्गिकप्रयोजनप्रदर्शनं यद्वाऽत्र परसम्बद्धस्वप्रयोजनोक्तिस्तत्र च स्वसम्बद्धस्वप्रयोजनप्रतिपादनमिति न विरोध इति विभावनीयं सुधीभिः। "**यद्**" इति। उच्चारयितृबुद्धिविषयतावच्छेदकोपलक्षितधर्मावच्छिन्नविषयवाचकत्वाद् यत्पदस्यात्र भाषारहस्ये शक्तिः।।१।।

'**निक्षेपत** इति। निक्षेपमाश्रित्येत्यर्थः।

दी गई है।

प्रकरणकार का प्रयोजन

प्रथम गाथा के पश्चार्द्ध में ग्रंथकार प्रयोजन बताते हैं। शिष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति परोपकार से व्याप्त होती है। **परोपकाराय सतां विभूतयः**। भाषाविषयक रहस्य को जान कर सदाचारी शिष्ट जन चारित्र की निर्मलता को प्राप्त करे-यह ग्रंथकार का प्रयोजन है। स्पष्ट ही है कि मोक्ष के प्रधानहेतुभूत चारित्र के उपकारक भाषासमिति और वाग्गुप्ति का पालन भाषाविशुद्धि के अधीन है। भाषाविशुद्धि के लिए उसका ज्ञान आवश्यक है और यह ग्रन्थ इस ज्ञान का जनक है। अतः चारित्रनिर्मलता की हेतुता भाषाविषयकरहस्य के प्रतिपादक इस प्रकरण में अबाधित है। इससे यह भी सूचित हो जाता है कि चारित्र की निर्मलता चाहनेवाले को अवश्य ही इस ग्रन्थ में प्रवृत्त होना चाहिए। इस तरह ग्रंथकार ने अधिकारी का भी निर्देश अर्थतः कर दिया है। यहाँ यह शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि - 'ग्रंथकार ने प्रशस्ति में अपने राग-द्वेष के, जो जन्म के बीज हैं, विलय की कामना बताइ है (देखिये पृ. ३४५) और यहाँ शिष्ट जनों के चारित्र की निर्मलता को अपना प्रयोजन बताया है। अतः परस्पर विरोध है'-क्योंकि जो सदाचारियों के चारित्र की निर्मलता के लिए कटिबद्ध है, अन्यके चारित्र की निर्मलता के उपाय में प्रवृत्त है, उसका भी चारित्र अवश्य निर्मल होता है। लेकिन वह आनुषङ्गिक कामना है, मुख्य कामना सुविहितजनों के चारित्र की निर्मलता है। या तो यहाँ परसम्बन्धी अपना प्रयोजन निर्दिष्ट है तथा प्रशस्ति में स्वसम्बन्धी अपना प्रयोजन प्रतिपादित है। अतः कोई विरोध नहीं है। यहाँ भाषाविषयकरहस्य और इस ग्रंथ के बीच वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध सामर्थ्यगम्य है। इस तरह मूलग्रंथ के आद्य श्लोक में विषय, अधिकारी, सम्बन्ध, प्रयोजनरूप अनुबंध चतुष्क का निर्देश किया गया है।।१।।

पहले प्रकरणकार ने भाषाविषयक रहस्य का संक्षेप से निरूपण करने की प्रतिज्ञा की थी। भाषा के रहस्य को जानने के लिए भाषा के स्वरूप, भेद, प्रभेद आदि को जानना आवश्यक है, क्योंकि भाषास्वरूप-भेदादि के ज्ञान के बिना भाषाविषयक रहस्य का ज्ञान नामुमकिन है। इसी सबब द्वितीय गाथा के प्रारंभ में भाषा के भेदों को निक्षेप के द्वारा प्रकरणकार बताते हैं।

गाथार्थ :- यहाँ चतुर पुरुषों से भाषा के नामादि चार निक्षेप ज्ञातव्य हैं। भाषा के द्रव्यनिक्षेप के तीन भेद हैं (१) ग्रहण (२) निःसरण (३) पराघात।२।

✱ भाषा पद के निक्षेप ✱

विवरणार्थ :- **अत्र. इति**। अनुयोग = व्याख्या में कुशल पुरुषों को यहाँ निरूपणीय भाषा के चार निक्षेप ज्ञातव्य हैं। नामभाषा,

---

१ नामादयो निक्षेपाश्चत्वारश्चतुरैरत्र ज्ञातव्याः। द्रव्ये त्रिविधा ग्रहणं तथा च निसरणं पराघातः।।२।।

अत्र = भाषायां निरूपणीयायां, **नामादयश्चत्वारो निक्षेपाः चतुरैः** = अनुयोगकुशलैः ज्ञातव्याः। नामभाषा, स्थापनाभाषा, द्रव्यभाषा, भावभाषा चेति। तत्र नामस्थापने आगम-नोआगम-ज्ञात्रनुपयुक्त-शरीर-भव्यशरीरद्रव्यभाषानिक्षेपं च सुगमत्वादुपेक्ष्य तद्व्यतिरिक्तद्रव्यभाषाभेदानाह, द्रव्ये च = ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्ये च विषये **त्रिविधा** = त्रिप्रकारा, भाषेत्यस्य पूर्वतो विपरिणतानुषङ्गः। कास्तिस्रो विधा इत्याह, **ग्रहणं** वचोयोगपरिणतेनात्मना गृहितान्यनिसृष्टानि भाषाद्रव्याणि, तथा चेति समुच्चये।

स्वस्वमर्यादायां नामादिभेदैः वस्तुव्यवस्थापको निक्षेप इति **प्राञ्चः**। तदुक्तं **श्रीहर्षवर्धनोपाध्यायेन अध्यात्मबिन्दौ** 'निक्षिप्यते = नामादिभेदैर्वस्तु व्यवस्थाप्यते एभिरिति निक्षेपाः। (अ.बि.श्लो. ९३ वृ.) प्रकरणकाराभिप्रायस्तु शक्यतावच्छेदकभेदेनैकस्य शब्दस्यानेकशक्तिप्रदर्शकवचनं निक्षेपः (नयो.श्लो. ८३ वृत्ति) इत्येवं **नयोपदेशे** वर्तते। **नव्यास्तु** शक्यतावच्छेदकभेदेनैकस्य शब्दस्यानेकशक्तिप्रदर्शकवचनविषयताव्यापकविषयताकवचनत्वं निक्षेपलक्षणमिति परिष्कुर्वन्ति। **सुगमत्वादिति। अनुयोगद्वारादौ** विस्तरेण प्रतिपादितत्वेन तज्ज्ञानवतां तात्पर्यज्ञानादिबहुहेतुसम्पत्त्यविलम्बेनाचिरकालोत्पत्तिकप्रतिसन्धानविषयत्वादित्यर्थः।

पूर्वत इति पूर्वगाथातः, पूर्वगाथामाश्रित्येति, पूर्वगाथास्थपदमाश्रित्येति यावत्। **विपरिणतानुषङ्ग** इति। अन्यथाभूतप्रकृतिः = विपरिणतः, तस्य अनुषङ्गः। एकत्रान्वितस्याऽन्यत्रान्वयोऽनुषङ्गः। पूर्वगाथास्थभाषारहस्यपदमाश्रित्याऽन्यथाभूतप्रकृतिरूपस्य भाषापदस्य प्रकृते विशेष्यविधयाऽन्वयः। उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य प्रकरणबलेन विशेष्यविधया परामर्श इति भावः। एवञ्च निराकांक्षप्रतीतिरप्युपपादिता भवति।

वचोयोगपरिणतेनेति। ननु श्रीदशवैकालिकनिर्युक्तिहारिभद्रवृत्तौ "ग्रहणं भाषाद्रव्याणां काययोगेन" (द.वै.अ. ७.नि.श्लो. वृ.) इत्युक्तं **विशेषावश्यकभाष्ये**ऽपि 'गिण्हइ काइएणं' (वि.भा.श्लो. ३५५) इत्यादिना तथैव प्रतिपादितम् भवद्भिस्तु वचोयोगपरिणतेनाऽऽत्मना गृहीतानीत्युक्तमिति कथं न विरोधः? **मैवम्**, वचोयोगपरिणतेनाऽऽत्मनेत्यत्र कर्तरि तृतीया काययोगेनेतिस्थले तु करणे तृतीयेति न कश्चिद्विरोधगन्धोऽपि। तदुक्तं **श्रीमलधारिहेमसूरिभिः विशेषावश्यकवृत्तौ** 'भाषणाभिप्रायादिसामग्रीपरिणामे सति गृह्णाति' (वि.भा.श्लो. ३७४ वृत्तौ) इति। न हि वचोयोगापरिणत आत्मा भाषाद्रव्याणि गृह्णाति, अन्यथा काययोगस्य सर्वदा सत्त्वेन निरन्तरं तद्ग्रहणप्रसङ्गात्। न चैवमस्ति **प्रज्ञापनादि**विरोधप्रसङ्गात्। तथा चानेकविधशास्त्रपर्यालोचनेन वचोयोगपरिणत आत्मा काययोगेन यानि

स्थापनाभाषा, द्रव्यभाषा और भावभाषा। भाषा के नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, आगम से द्रव्यनिक्षेप, नोआगम से ज्ञशरीर द्रव्यनिक्षेप और भव्यशरीर द्रव्यनिक्षेप सुगम होने से विवरणकार ने यहाँ बताए नहीं हैं, लेकिन पाठकों की सुगमता के लिए मैं (हिन्दीविवेचनकार) उनका यहाँ अनुयोगद्वारसूत्रादि के अनुसार संक्षेप में बयान करता हूँ। देखिए, 'भाषा' शब्द - यह भाषा का नामनिक्षेप है, नामभाषा है या किसी चीज की संज्ञा भाषा रखी जाय तब वह भी नामभाषास्वरूप है। तथा लिपिअक्षर भाषा का स्थपनानिक्षेप यानी स्थापनाभाषा है या तो किसी चीज में भाषा की स्थापना करने पर वह चीज स्थापनाभाषास्वरूप होती है। भाषा के द्रव्यनिक्षेप के मुख्य दो भेद है, आगम से द्रव्यभाषा और नोआगम से द्रव्यभाषा। आगम से द्रव्यभाषा का अर्थ है, वह पुरुषादि, जो भाषा के स्वरूप को जानता हुआ भी वर्तमान काल में भाषाविषयक उपयोग से रहित है। यहाँ विवरण में ज्ञातृअनुपयुक्त पद से आगम से द्रव्यभाषा का यह निक्षेप सूचित किया गया है। आगम शब्द का अर्थ है ज्ञान तथा द्रव्यपद का यहाँ अनुपयोग अर्थ अभिप्रेत है। भाषा का ज्ञाता होते हुए भी भाषा में अनुपयुक्त होने से वह पुरुषादि आगम से = आगमतः द्रव्यभाषा कहा जाता है।

* नोआगमतः द्रव्यभाषा *

नोआगम से द्रव्यभाषा के तीन भेद हैं। १ ज्ञशरीर द्रव्यभाषा, २ भव्यशरीर द्रव्यभाषा, ३ तद्व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा। नोआगम शब्द में नो शब्द सर्वथा ज्ञान के अभाव का या देशतः ज्ञान के अभाव का वाचक होता है। यहाँ नो शब्द ज्ञान का सर्वथा निषेध, इस अर्थ में प्रयुक्त है। जिस जीव ने भूतकाल में भाषा के स्वरूप को जाना था, उसकी मौत होने के बाद उसके मृतदेह को नोआगम से ज्ञशरीर द्रव्यभाषा कहा जाता है, क्योंकि वर्तमान में उस मृतदेह में आगम=ज्ञान का सर्वथा अभाव है तथा भूतकाल में वह शरीर

निसरणं = उरः कण्ठादिस्थानप्रयत्नाद् यथाविभागं निसृज्यमानानि तान्येव। **पराघातश्च** = तैरेव भाषाद्रव्यैर्निसृष्टैः प्रेर्यमाणानि

भाषाद्रव्याणि गृह्णाति तानि ग्रहणद्रव्यभाषेति तात्पर्यम्। यद्वा शक्यते एवमपि समाधातुं यदुत 'काययोगेने' त्यन्यत्र सामान्यतो निर्देशः 'वचोयोगपरिणतेने'त्यत्र विशेषतो निर्देशः काययोगविशेषस्यैव वचोयोगरूपत्वात् एकस्यैव काय-योगस्य उपाधिभेदात् त्रिधा विभजनस्य तत्र तत्र प्रसिद्धत्वादित्यू**हनीयम्**। गृहीतानि तु निसृष्टान्यपि स्युरिति तद्व्यवच्छेदार्थमाह-**अनिसृष्टानि**=अत्यक्तानि।

समुच्चय इति। विरोधानवगाहिज्ञानं समुच्चय **इत्येके**। कर्मद्वयस्यैकक्रियानिष्ठत्वं समुच्चय **इत्यन्ये**। परस्पर-निरपेक्षाणामनेकेषामेकस्मिन्नन्वय समुच्चय **इत्यपरे**। वयं तु ब्रूमहे परस्परभिन्नयोरेकत्र संकलनं समुच्चयः। द्विवचनं चोपलक्षणं बहुवचनस्येति **भावनीयम्**।

द्वितीयभेदमाह **निसरणमिति। उरःकण्ठादिस्थानप्रयत्नादिति।** आदिपदेनौष्ठ-शिरोजिह्वामूल-तालु-नासिका-दशनादिग्रहणम्। उरःकण्ठादिस्थानेषु प्रयत्नः तस्मात्। प्रयत्नश्च नात्मव्यतिरिक्त आत्मनिष्ठः 'करोमी'त्यनुभव-विषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् किन्तु आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। तदुक्तं ***स्याद्वादरत्नाकरे*** 'वीर्यान्तरायक्षयोपशमादि-कारणादिना ह्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दः प्रयत्नः, प्रयत्नः क्रियैवेति स्याद्वादिभिः स्वीकारात्' (प्र. त. अ. ५. सू. ८ स्या. र.) **तान्येवे**ति। गृहीतान्येव। अगृहीतस्य निःसरणाऽभावात् प्रथमं ग्रहणद्रव्यभाषोपादानम्। गृहीतेऽप्यनिसृष्टे सति वासकत्वायोगात्तदनन्तरं निसरणद्रव्यभाषानिर्देशः। निसर्गे सत्येव भाषासंस्काराधानात्तदनन्तरं पराघातद्रव्यभाषा-प्रदर्शनमिति युक्तोऽयं क्रमोल्लेखः।

ज्ञ=भाषा के स्वरूप का ज्ञाता था। जो बालक आदि भविष्यकाल में भाषा के स्वरूप को जानने वाला है, उसका शरीर वर्तमान में नोआगम से भव्यशरीर द्रव्यभाषास्वरूप है, क्योंकि वर्तमान में वह शरीर ज्ञानशून्य है तथा भव्य = भाषा के सम्बन्धी ज्ञान के योग्य है या भाषाविषयक ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है। उपर्युक्त निक्षेप का निरूपण अनुयोगद्वार सूत्र में विस्तार से उपलब्ध होने से तथा निक्षेप के अभ्यासी के लिए सुगम होने से विवरणकार ने इसकी उपेक्षा की है। नोआगम से ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यभाषा का निरूपण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि - नोआगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा के तीन भेद हैं १ ग्रहणद्रव्यभाषा, २ निसरणद्रव्यभाषा, ३ पराघातद्रव्यभाषा।

✻ विपरिणत अनुषङ्ग ✻

यहाँ यह शंका हो कि - "गाथा में भाषा शब्द का ग्रहण नहीं किया है। अतः 'ये तीन प्रकार किसके हैं?' इस शंका का समाधान नहीं होता है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य दोनों का कथन होने पर श्रोता को निराकांक्ष शब्द बोध होता है। सिर्फ विशेषणपद के श्रवण से या सिर्फ विशेष्यपद के श्रवण से वह नहीं हो पाता। अतः यहाँ 'त्रिविधा' रूप सिर्फ विशेषण पद के प्रयोग से निराकांक्ष प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है" - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम श्लोक के द्वितीय पाद में जो भाषारहस्य पद है, इसका विपरिणाम कर के = मूलप्रकृति को बदल कर विपरिणत 'भाषा' पद का, जो कि पूर्वश्लोक में रहस्य के साथ अन्वित था, त्रिविधरूप विशेषण में अन्वय करेंगे। अतः निराकांक्ष प्रतिप्रति = बोध होने से यहाँ कोई दोष नहीं है।

✻ ग्रहण-निसरण-पराघात द्रव्यभाषा निरूपण ✻

'ग्रहणं' इत्यादि। नोआगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा के प्रथम भेद का निरूपण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि काययोग से परिणत आत्मा भाषापरिणमन योग्य द्रव्यों को ग्रहण कर के जब तक उनका त्याग नहीं करता है तब तक वे भाषाद्रव्य नोआगम से तद्व्यतिरिक्त ग्रहणद्रव्यभाषा कहे जाते हैं। हृदय, कंठ आदि शब्दउत्पादक स्थानो में प्रयत्न कर के तत्तत् विभाग के अनुसार पूर्वगृहीत भाषाद्रव्यों को पुरुष छोडता है, तब वे भाषाद्रव्य निसरण द्रव्यभाषास्वरूप होते हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शन के सिद्धांत के अनुसार संपूर्ण लोक में भाषा वर्गणा यानी भाषापरिणमनप्रायोग्य

भाषापरिणतिप्रायोग्याणि द्रव्यान्तराणि। आह च **निर्युक्तिकारः** 'दव्वे तिविहा गहणे निसरणे तह भवे पराघायेत्ति'[२] (द. वै. नि. गा. २७१) अत्र च विषये सप्तमी ग्रहणादिक्रियामाश्रित्य वृत्तौ च 'ग्रहणे चे (द.वै. अध्य. ७. नि. गाथा २७१ हा. वृ.) त्यादि व्याख्यानात्।

विषये सप्तमीति। सप्तम्या आधेयत्व-विषयत्व-विशेष्यत्व-निरूपितत्व-व्यापकत्व-घटकत्व-प्रतिपाद्यत्व-प्रकारत्व-सामानाधिकरण्यात्मकवैशिष्ट्य-समानकालिकत्व-पूर्वकालिकत्वोत्तरकालिकत्वावच्छेद्यत्वानुयोगित्व-प्रतियोगित्वाभेद-स्वविषयकेच्छाधीनत्व-कार्यकारणभाव-सामीप्य-निमित्तादयः अर्थाः। प्रकृते च विषयत्वं सप्तम्यर्थः। तथा च ग्रहणे इति ग्रहणक्रियाविषयिणी द्रव्यभाषा, निसरणे = निसरणक्रियाविषयिणी द्रव्यभाषा, पराघाते = पराघातक्रियाविषयिणी द्रव्यभाषेत्यर्थः। 'ग्रहणे च निसर्गे तथा भवेत्पराघाते तत्र ग्रहणं भाषाद्रव्याणां काययोगेन यत् सा ग्रहणद्रव्यभाषा'

द्रव्य चारों और फैले हुए हैं। फिर भी हम उनको नहीं देख सकते हैं, क्योंकि वे अत्यंत सूक्ष्म होते हैं लेकिन विशेष शक्ति से भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त जीव इन भाषा द्रव्यों को ग्रहण कर पाता है। भाषापर्याप्ति से पर्याप्त जीव भाषायोग्य द्रव्य को सदा ग्रहण नहीं करता है, किन्तु जब वह वचन उच्चारण का प्रयत्न करता है तब अपनी संपूर्ण काया से भाषाद्रव्य को ग्रहण करता है, जिसे ग्रहणद्रव्यभाषा कहते हैं। जीव गृहीत भाषा द्रव्यों को कण्ठ, ओष्ठ आदि शब्दजनक स्थानों में विशेष प्रयत्न कर के शब्दविशेषरूप से परिणत कर के ग्रहण के अनन्तर समय में छोडता है, जो निसरण द्रव्यभाषास्वरूप होते हैं। जैसे क, ख, आदि शब्द का उत्पत्तिस्थान कंठ है, तो प, फ, आदि शब्द का उत्पत्तिस्थान ओष्ठ (होठ) है। जब 'प' शब्दोच्चारण का प्रसंग उपस्थित होता है तब जीव वाग्योग से परिणत होकर काययोग से भाषावर्गणा पुद्गल को ग्रहण करने के बाद 'प' शब्दोत्पत्तिस्थान होठ में प्रयत्न कर के पूर्वगृहीत भाषावर्गणा पुद्गल को 'प' रूप में परिणत कर के छोडता है। यह बात अनुभवसिद्ध है। हम कभी भी एक होठ को दूसरे होठ से छुए बिना प, फ, ब, भ, म शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते हैं। ये निसृष्ट भाषाद्रव्य यहाँ नोआगम से तद्व्यतिरिक्त निसरणद्रव्यभाषा पद से वाच्य हैं।

'पराघातश्च'. इत्यादि। वक्ता विवक्षित शब्दरूप में परिणत कर के जिन भाषाद्रव्यों को छोडता है, वे भाषाद्रव्य भाषापरिणमनयोग्य द्रव्यों को अपने समानरूप में वासित करते हैं। जैसे कि निसृष्ट 'प' शब्द अन्य भाषायोग्य द्रव्य को 'प' शब्द के रूप में परिणत करता है। ये वासित भाषाद्रव्य यहाँ नोआगम से तद्व्यतिरिक्त पराघात द्रव्यभाषा शब्द से अभिप्रेत हैं।

भाषा के सम्बन्ध में जैनदर्शन की उपर्युक्त मान्यता सत्य प्रतीत होती है। आज कल वैज्ञानिकों ने भी भाषा=शब्द का पुद्गलरूप में स्वीकार किया है। प्रतिध्वनि, तीव्र शब्द से कान में बधिरता, पराघात आदि से शब्द में पुद्गलरूपता सिद्ध होती है। भाषावर्गणा के पुद्गलों को शब्दरूप में परिणत कर के छोडने के लिए सर्वप्रथम उनका ग्रहण करना आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम द्रव्यभाषा के भेदरूप में ग्रहण द्रव्यभाषा का निरूपण संगत ही है। श्रोता को अर्थबोध कराने के लिए शब्दद्रव्यों का विवक्षित रूप में परिणमन कर के त्याग करना भी आवश्यक है, जो ग्रहण के बाद होता है। अतः ग्रहणभाषाद्रव्य के बाद निसरणभाषाद्रव्य का उपन्यास समीचीन है। शब्द मुहँ में से बाहर निकलने के बाद ही अन्यभाषापरिणमन योग्य द्रव्यों को वासित करता है। अतः निसरणद्रव्यभाषा के बाद पराघातद्रव्यभाषा का प्रतिपादन यथोचित है।

"आपने यहाँ भाषा के तीन भेद बताये हैं वे निराधार हैं अशास्त्रीय हैं" ऐसी शंका का निवारण करनें के लिए विवरणकार दशवैकालिक निर्युक्ति का प्रामाणिक हवाला देते हैं। देखिये, 'द्रव्यभाषा के तीन भेद हैं, ग्रहण में, निसरण में और पराघात में'। -चरम श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीजी के उपर्युक्त वचन से द्रव्यभाषा के तीन भेद सिद्ध होते हैं। उपर्युक्त शास्त्रपाठ में 'ग्रहणे' इत्यादि पदो में जो सातवीं विभक्ति है वह विषय=विषयता अर्थ में है। अतः यह अर्थ प्राप्त होता है कि ग्रहण आदि क्रियाविषयक द्रव्यभाषा=ग्रहणआदि क्रियासम्बन्धी द्रव्यभाषा।

यहाँ यह शंका कि-'ग्रहणे' पद तो प्रथमा विभक्ति एकवचन, सप्तमी विभक्ति एकवचन, संबोधन एकवचन, द्वितीया विभक्ति बहुवचन में भी आता है। तब अन्य विभक्तियों को छोड कर और अपनी मनपसंद विभक्ति को ही ले कर उसके अर्थ का व्याख्यान करना कैसे संगत होगा? - ठीक नहीं है, क्योंकि श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी महाराज ने दशवैकालिकनिर्युक्ति के उपर्युक्त श्लोक की 'ग्रहणे च' इत्यादिरूप से 'ग्रहणक्रिया के आश्रय से - आलंबन से ग्रहणद्रव्यभाषा, निसरणक्रिया का आश्रय कर के

१ द्रव्ये त्रिविधा ग्रहणे निसरणे तथा भवेत् पराघाते इति। २ भावे दव्वे अ सुए चरित्तमाराहणी चेव। इति नि. गाथोत्तरार्धः।

अन्यथा तु [1]'तिविहा भासा तं जहा गहणं निसिरणं पराघातो' त्ति (द.नि.श्लो. १७३, चू. पृ. १५९) चूर्णिदर्शनात्प्रथमाऽपि नानुपपन्नैवेति **ध्येयम्**।।२।।

अथ कीदृशानि भाषाद्रव्याणि गृह्णातीत्याह -

गेण्हइ ठियाइ[2] जीवो, णेव य अठियाइं भासदव्वाइं। दव्वाइचउविसेसो णायव्वो पुण जहाजोगं।।३।।[3]

अथ यानि स्थितानि गृह्णाति तानि द्रव्यतः किमेकप्रदेशकानि यावदनन्तप्रदेशकानि वा? क्षेत्रतश्चैकप्रदेशवगाढानि यावद-

इत्येवं ग्रहणक्रियामाश्रित्य ***श्रीहरिभद्रसूरिभि***र्व्याख्यातत्वात् ग्रहणादिक्रियाविषयीभूता द्रव्यभाषेत्यर्थः प्राप्यते। **अन्यथा** = हारिभद्रव्याख्यानाऽनाश्रयणे तु चूर्णिकारवचनमाश्रित्य प्रथमापि युक्तैव। 'गहणे' इतिरूपं प्राकृतभाषायां प्रथमा-सप्तमी-संबोधनैकवचनेषु द्वितीयाबहुवचने च वर्तते। अत्र च सम्बोधनैकवचन-द्वितीयाबहुवचनयोरनुपयोगादसम्भवाच्च तदर्थघटनं न कृतमिति द्योतनाय '**इति**' पदप्रयोगः कृतो विवरणकारेण। द्वावेतौ सदादेशौ, भगवदनुमत-विचित्रनयाश्रितमहर्षिवचनानुयायित्वादिति सूचनार्थं **ध्येयं** पदप्रयोगः।।२।।

'**क्षेत्रतः**' इत्यादि। ननु किमित्यनन्तप्रदेशावगाढानि सङ्ख्येयप्रदेशावगाढानि भाषाद्रव्याणि जीवो न गृह्णाति? **अत्रोच्यते** अनन्ताकाशप्रदेशावगाढानां भाषाद्रव्याणामसम्भवादेव जीवस्तानि न गृह्णाति असङ्ख्येयाकाशप्रदेशात्मके लोक एव भाषाद्रव्याणामवस्थानात्। द्वितीये तु विकल्पे विवरणकार आह-'**एकप्रदेशाद्यवगाढानां ग्रहणाऽयोग्यत्वात्**' अत्रादिपदाद् द्व्यादि-सर्वोत्कृष्टपर्यन्तप्रदेशग्रहणं द्रष्टव्यम्। **यद्यप्येक**परमाण्वाद्यात्मकानामेकप्रदेशाद्यवगाढानां भाषाप्रायोग्यद्रव्याणामसम्भवादेव तानि न गृह्णातीति वक्तुं युज्यते न तु तेषां ग्रहणाऽयोग्यत्वादिति, वस्तुनि सति

निसरणद्रव्यभाषा तथा पराघातक्रिया का आलंबन ले कर पराघातद्रव्यभाषा' ऐसा निरूपण किया है। जैसे घट के आलंबनवाला ज्ञान घटविषयक कहा जाता है, वैसे ग्रहणादि क्रिया के आलंबनवाली ग्रहणादि द्रव्यभाषा को भी ग्रहणादि क्रियाविषयक कहने में कोई विरोध नहीं है। जब सूरिपुरंदर श्रीहरिभद्रसूरि महाराज ने सप्तमी विभक्ति ले कर व्याख्या की है तब हम भी उनका अनुकरण कर के सप्तमी विभक्ति को ले कर विषयत्व अर्थ बताए तो इसमें क्या दोष है? महाजनो येन गतः स पन्थाः।

'**अन्यथा तु.**' इत्यादि। यदि श्रीहरिभद्रसूरिजी की व्याख्या छोड कर चूर्णिकार की व्याख्या का आलंबन ले कर यहाँ 'ग्रहणे' इत्यादि पदों में साधुत्वअर्थक प्रथमा विभक्ति का आश्रयण करे तब भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि चूर्णिकार ने '(द्रव्य) भाषा त्रिविध है, ग्रहण, निसरण और पराघात' ऐसा स्पष्ट रूप से प्रथमा विभक्ति का ग्रहण कर के व्याख्यान किया है। उपर्युक्त दोनों पक्ष सुसंगत हैं, क्योंकि वे दोषमुक्त हैं, आपेक्षिक हैं। उनके अर्थघटन में कोई बाध नहीं है। संबोधन एकवचन तथा द्वितीया बहुवचन का अर्थ लेने में तो यहाँ स्पष्टरूप से बाध ही है। अतः उनका प्रतिपादन न करना ही उचित है। इस तरह द्वितीय गाथा में द्रव्यभाषा के तीन भेदों के स्वरूप का कथन हुआ।।२।।

जीव किस प्रकार के भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है? इस शंका का समाधान ग्रंथकार तीसरी गाथा से करते हैं।

गाथार्थ :- जीव स्थिर भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थिर भाषाद्रव्यों को नहीं। तथा भाषाद्रव्यों की द्रव्यादि विशेषता यथासंभव ज्ञातव्य है।३।

❋ भाषाद्रव्यविषयक द्रव्यादिचतुष्कविचार ❋

विवरणार्थ :- जीव एक जगह पर स्थिर भाषाप्रायोग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है। मगर जीव अस्थिर, इधर उधर घूमते हुए भाषाप्रायोग्य द्रव्यों को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि जो सूक्ष्मपुद्गलस्कंध गतिमान होते हैं वे उस काल में ग्रहण के अयोग्य होते हैं।

१ त्रिविधा भाषा तद् यथा ग्रहणं निसरणं पराघात इति।

२ मुद्रितप्रतौ तु 'गेण्हइ ठियाइ जीवो णेव य अठियाइ'. इति पाठः। ३ गृह्णाति स्थितानि जीवो नैव चास्थितानि भाषाद्रव्याणि। द्रव्यादिचतुर्विशेषो ज्ञातव्यः पुनर्यथायोगम्।।३।।

सङ्ख्येयप्रदेशावगाढानि वा? कालतश्चैकसमयस्थितिकानि यावदसङ्ख्येयसमयस्थितिकानि वा? भावतश्च वर्णवन्ति, गन्धवन्ति,

ग्रहणयोग्यायोग्यत्वविमर्शो युक्तो न त्वसति, अन्यथा वन्ध्यापुत्रनामोत्कीर्तनमपि युक्तं स्या**त्तथाप्ये**कपरमाण्वाद्यात्मकैकप्रदेशाद्यवगाढ-सामान्यपुद्गलस्कन्धापेक्षयाऽत्र ग्रहणाऽयोग्यत्वस्य प्रसङ्गतः प्रतिपादनान्न दोषः, प्रौढोक्तित्वाच्च नाऽर्थान्तरनिग्रहस्थानप्राप्तिरिति सूक्ष्मेक्षिकया पर्यालोचनीयम्।

'**कालत**' इत्यादि। अत्रोत्कर्षतोऽसंख्येयसमयस्थितिः भाषाद्रव्येषु भाषावर्गणाऽपेक्षया स्कंधस्थित्यपेक्षया चासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपा द्रष्टव्या, ***व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिषु*** परमाणोः पुनः परमाणुभवनेऽसङ्ख्येयकालचक्ररूपस्याऽन्तरकालस्योक्तत्वात्। अनन्तसमयस्थितिस्तु न संभवति, "पुद्गलसंयोगस्थितेरुत्कृष्टतोऽप्यसङ्ख्येयकालत्वादि" ***त्यनुयोगद्वारवृत्तौ श्रीमलधारिहेमसूरिभिरुक्तत्वात्***, सूत्रप्रामाण्यात्। भाषाद्रव्याणां शब्दपरिणामापेक्षयोत्कर्षतः स्थितिरावलिकाया असङ्ख्येयभागरूपा द्रष्टव्या। तदुक्तं ***व्याख्याप्रज्ञप्तौ*** "सद्दपरिणए णं भंते! पोग्गले

'**अथ.**' इत्यादि। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि "-जीव स्थिर भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है - यह तो ज्ञात हुआ, मगर द्रव्य की अपेक्षा क्या इधर उधर बिखरे हुए स्वतंत्र परमाणुस्वरूप द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है या संख्यातप्रदेश स्कंधात्मक द्रव्यों को ग्रहण करता है, या अनंतप्रदेशस्कंधात्मक भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है? १, क्षेत्र की अपेक्षा जीव क्या एकप्रदेश में अवगाढ=रहे हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है या दो-तीन आकाशप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है? या असंख्य आकाशप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है? २, जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, उन भाषाद्रव्यों की कालस्थिति क्या एक समय की होती है, दो समय की होती है, या असंख्य समय की होती है? ३, जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है वे भाषाद्रव्य क्या वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से युक्त होते हैं या वर्णादि से शून्य होते हैं?" ४।

"द्रव्यादि". इत्यादि। इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए विवरणकार कहते हैं कि - द्रव्यादिविशेषता आगम के अनुसार यथासंभव ज्ञातव्य है। देखिये, जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है वे अवश्य अनन्तपरमाणुनिष्पन्न स्कंधरूप होते हैं। जीव का ऐसा सामर्थ्य ही नहीं है कि एक, दो, संख्यात या असंख्यात परमाणु के समूह से निष्पन्न स्कंध का ग्रहण कर सके। अतः एक, दो संख्यात, असंख्यात परमाणु के समूहात्मक स्कंध जीव के लिए ग्रहण के अयोग्य हैं। क्षेत्र की अपेक्षा विचार किया जाय तो जीव असंख्य आकाशप्रदेश में अवगाढ भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। एक, दो यावत् संख्यात आकाशप्रदेश में रहे हुए पुद्गल स्कंध जीव के लिए ग्रहण के अयोग्य होते हैं। लोकाकाश में ही पुद्गल होते है, अलोकाकाश में नहीं तथा लोक असंख्य *आकाशप्रदेशात्मक ही है, अनंतप्रदेशात्मक नहीं। अतः अनंतप्रदेश में अवगाढ* भाषाद्रव्यों को अभाव होने से ही उनके ग्रहण-अग्रहण की बात नहीं है। विद्यमान वस्तु के सम्बन्ध में ही योग्यायोग्य की चर्चा होती है, अविद्यमान वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। अतः यहाँ 'अनंत आकाशप्रदेश में अवगाढ भाषाद्रव्य ग्रहण के अयोग्य है' ऐसा निषेध नहीं किया गया है।

कालतः इत्यादि। काल की अपेक्षा विचार किया जाय तो जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है उनमें से कुछ एक समय की स्थिति वाले होते हैं, कुछ दो समय की स्थितिवाले होते हैं, कुछ संख्यात समय की स्थितिवाले होते हैं और कुछ असंख्य समय की स्थितिवाले होते हैं। यहाँ प्रकरणकार व्याख्याप्रज्ञप्ति का हवाला देते हैं, जिसका अर्थ है, 'निरेज-पुद्गल जघन्य से एक समय और उत्कर्ष से असंख्य समय पर्यन्त रहते हैं'।

पुद्गल की उत्कृष्ट स्थिति उस स्कंधरूप में, वर्गणारूप में असंख्य काल तक ही होती है। एक समय की स्थिति का प्रतिपादन करते हुए बताते हैं कि - ग्रहणसमय के बाद निसर्ग करने पर, भाषाद्रव्यों को छोडने पर गृहीत भाषा द्रव्यों की एक समय की स्थिति होती है। इस सम्बन्ध में अन्य आचार्यो का यह अभिप्राय है कि-पुद्गलों का स्वभाव विचित्र है। अतः जीव एक प्रयत्न से जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण कर के छोडता है उनमें से कुछ भाषाद्रव्य भाषारूप से एक समय तक रहते हैं, कुछ भाषाद्रव्य दो, तीन यावत् असंख्य समय तक रहते हैं। निसर्ग काल में भाषाद्रव्य में प्रथम शब्दपरिणाम उत्पन्न होता है। निसर्ग के बाद जो भाषाद्रव्य एक समय तक भाषारूप से रहते हैं, उनमें भाषापरिणाम एक समय तक रहता है। अतः उन भाषाद्रव्यों की स्थिति एक समय की होती है। इस सम्बन्ध में अन्य प्राचीन मत तथा वर्तमान के अन्य विद्वानों का मत और मेरा अभिप्राय मैंने **मोक्षरत्ना** में बताया है। जिज्ञासु पाठक वहाँ देख सकते हैं।

रसवन्ति, स्पर्शवन्ति वा? ति जिज्ञासायामाह-**द्रव्यादिचतुर्विशेषः पुनर्यथायोगं** = सूत्रोक्तनीत्या यथासंभवं **ज्ञातव्यः**। तथाहि द्रव्यतस्तावदनन्तप्रदेशकान्येव गृह्णाति नैकपरमाण्वाद्यात्मकानि स्वभावत एव तेषां ग्रहणायोग्यत्वात्। क्षेत्रतस्त्वसङ्ख्येयप्रदेशावगाढान्येव एकप्रदेशाद्यवगाढानां ग्रहणायोग्यत्वात्। कालतस्त्वेकसमयस्थितिकान्यपि, यावदसङ्ख्येयसमयस्थितिकान्यपि, पुद्गलानामसङ्ख्येयमपि कालं यावदवस्थानसम्भवात्। **"निरेए जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असङ्खेज्जं कालं'** इति **व्याख्याप्रज्ञप्तिवचनात्**। एकसमयस्थितिकत्वं च ग्रहणानन्तरमेव निसर्गे, ग्रहणसमय एवावस्थानात्प्रतिपत्तव्यम्। एकप्रयत्न-गृहीतानामप्यादि भाषापरिणामस्थितिवैषम्यादेकसमयस्थितिकान्यपी**त्यन्ये**।

कालओ केवचिरं होइ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं। (भग. सू. श. ५. उद्दे. ७. सूत्र ७) इदं अन्वयमुखेन। व्यतिरेकमुखेन पुनः तत्रैवोक्तं, "असद्दपरिणयस्स णं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केवचिरं होइ? गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइ भागं" (भग. श. ५. उद्दे. ७/सू.७)

यत्तु "निसर्गसमयानन्तरं समयान्तरेषु तेषां भाषापरिणामेनाऽनवस्थानात् भाष्यमाणैव भाषा, भाषासमयानन्तरं भाषाऽभाषैव इति वचनादिति" ***विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ श्रीहेमसूरिभिरुक्तं*** **तत्तु** एवम्भूतनयाभिप्रायेण द्रष्टव्यमिति न कश्चिद्दोषः।

यदपि 'भाष्यमाणैव भाषा निसर्गमात्रमेव भाषेत्यर्थः तस्यैव जघन्यतः समयमानत्वात् न तूभयं भाषा, तस्य जघन्यतो द्विसमयमानत्वात्। ग्रहणमात्रं तु केवलं 'भाष्यत इति भाषा' इति व्युत्पत्त्यर्थस्यैवाऽघटनाद् भाषा न भवत्येवेति' (वि. भा. श्लो. ३७२ मलधारवृ.) इति **विशेषावश्यकवृत्तावुक्तं** तदपि एवम्भूतनयाभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। **यच्चात्र** 'एकसमयस्थितिकत्वं च ग्रहणानन्तरमेव निसर्गे, ग्रहणसमय एवावस्थानादि'ति विवरणकारेणोक्तं **तत्तु** प्रज्ञापनावृत्त्यभिप्रायेणेति द्रष्टव्यम्। **अस्मत्पूज्यपादा**स्तु भाषाद्रव्याणामेकसमयस्थितिकत्वं च ग्रहणसमये भाषात्वेन परिणमय्य निसर्गसमये एव केषाञ्चिदभाषापरिणामापन्नानां ग्रहणसमये एवावस्थानात्प्रतिपत्तव्यम्। **यद्वा** भाषापरिणामाधानं विनैव परिशटितानां भाषाद्रव्याणामेकसमयस्थितिकत्वं ग्रहणसमये एवावस्थानात्स्वीकर्त्तव्यमि**त्याहुः**।

अपरे तु ग्रहणानन्तरमेव वक्तुः भाषणपरिणामोपरमे मरणरूपव्याघाते वैकसमयस्थितिकत्वमित्यपि **वदन्ति**। "येषां केषाञ्चिद् भाषाद्रव्याणामेकसमयावशेषस्वस्थितिरतिक्रान्ता भवेत्तेषां ग्रहणमात्रेण पुद्गलान्तरपरिणत्या न समयाधिका स्थितिर्भवितुमर्हतीति तदपेक्षया प्रकृते एकसमयस्थितिकताभिधानमनुसन्धेयमिति ***श्रीजगच्चन्द्रसूरयो व्याचक्षते***।

वस्तुतस्तु यथा ***प्रज्ञापनावृत्ता***वाहारपदे 'स्थितिरिति चाहारयोग्यस्कन्धपरिणामत्वेनावस्थानमवसेयमि'ति ***मलयगिरिचरणै***रुक्तं तथाऽत्रापि 'गृहीतभाषाद्रव्यस्थितिरिति भाषायोग्यस्कंधपरिणामत्वेनावस्थानमिति वक्तुमर्हति। तथा चैकसमयस्थितिकत्वं यदा भाषाद्रव्याणां ग्रहणसमये एव भाषायोग्यस्कंधपरिणामत्वेनावस्थानं नापि पूर्व नापि पश्चात्तदा ज्ञातव्यमिति तावद् वयमवगच्छामः। तत्त्वं तु **बहुश्रुता** विदन्ति।

अन्यमतमाह '**एकप्रयत्ने**'त्यादिना। अन्येषामयमाशयः, पुद्गलानां विचित्रपरिणामत्वादेकप्रयत्नगृहीतमुक्ता अपि ते केचिदेकं समयं भाषात्वेनाऽवतिष्ठन्ते, केचिद् द्वौ समयौ यावत्केचिदसङ्ख्येयानपि समयानिति। 'भाष्यमाणा भाषा'

✻ भाषाद्रव्य में स्पर्शविचार ✻

'भावतः' इत्यादि। भाव की अपेक्षा जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, वे वर्ण-गंध-रस-स्पर्श से युक्त होते हैं, वर्णादि शून्य नहीं, क्योंकि कोई भी पुद्गल किसी भी काल में किसी भी देश में या किसी भी अवस्था में वर्ण, गन्ध आदि से शून्य नहीं होता है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि - "भाषाद्रव्यों में वर्णादि है तो क्या सब वर्णादि है या कतिपय वर्णादि है? -"इसको हल करने

---

१ निरेजो जघन्येनैकं समयं उत्कर्षेणासंख्येयं कालम्।।

भावतस्तु वर्णवन्त्यपि यावत्स्पर्शवन्त्यपि। वर्णगन्धरससङ्ख्यामाश्रित्य तु समुदायविवक्षायां नियमात्पञ्चद्विपञ्चवर्णगन्धरसवन्त्येव, ग्रहणद्रव्याण्याश्रित्य तु कानिचिदेकद्वयादितद्वन्त्यपीत्यूहनीयम्। कालादीन्यप्येकगुणकालादीनि यावदनन्तगुणकालादीन्य-

इति वचनान्निसर्गसमये एवादिभाषापरिणामोत्पादेन ये निसृष्टा एकं समयं भाषात्वेनाऽवतिष्ठन्ते तेषां भाषापुद्गलानामादिभाषापरिणामस्थितेरेकसामयिकत्वात्ते एकसमयस्थितिकाः। एवमेकसमयस्थितिकत्वं भाषापुद्गलेषु संभवतीति भावः। इदं च यथाश्रुतं व्याख्यानं कृतम्। ***प्रज्ञापनाटिप्पणे*** च "अन्ये त्वभिदधति - एकसमयस्थित्यादिभाषापरिणामापेक्षयोच्यते, यस्मात् किल विचित्राः पुद्गलपरिणामा इति। तान्येवानेकधा परिणाममासादयन्तीति" इत्येवमन्यमतप्रदर्शनं सुस्पष्टं कृतमिति। विवरणे चात्र प्रथमादेशो भाषाद्रव्यस्थित्यपेक्षयोक्तः द्वितीयश्च भाषापरिणामस्थित्यपेक्षया। उभावपि सदादेशौ, भगवदनुमतद्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयाश्रितमहर्षिवचनानुयायित्वादिति **ध्येयम्**।

'**भावतस्तु**' इत्यादि। **ननु** निषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वेन शब्दस्य गुणरूपत्वाद् गुणानां च निर्गुणत्वाच्छब्दे वर्णादिविचारो वन्ध्यापुत्रनामोत्कीर्तनतुल्यो भाति **मैवम्**, शब्दस्य द्रव्यत्वेन 'निषिध्यमानद्रव्यकर्मत्वे सति' इति विशेषणस्यासिद्धत्वात्। द्रव्यत्वं च, शब्दे क्रियावत्त्वात् प्रसिद्धम्। तस्य निष्क्रियत्वे तु स्वासंबद्धश्रोत्रेण ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वप्रसङ्गात्। शब्द एकत्वग्राहिणः प्रत्यभिज्ञानस्य 'देवदत्तोच्चरित एवायं शब्दः श्रूयते' इत्येवमाकारेणोपजायमानस्याबाधितत्वेन कदम्बगोलकन्यायेन वीचितरङ्गन्यायेन वाऽन्यशब्दोत्पत्तिकल्पनाऽनुत्थानहता।

अथ दूरत्वनैकट्याभ्यां तारमन्दादिभेदेन भेदे ध्रुवे साजात्यमेव प्रत्यभिज्ञाविषय इति **चेत्? न,** परिणामभेदेऽपि रक्ततादशायां घटस्येव परिणामिनः तस्य सर्वथाऽभेदात्। **एतेना**ऽबाधितानुभवसिद्धविरुद्धधर्मसंसर्गविषयत्वात्प्रत्यभिज्ञाया बाधितत्वमिति ***न्यायलीलावतीकार***वचन**मपहस्तितं** द्रष्टव्यम्; विशेषणासिद्धेः।

अत एवानुश्रेण्यां विश्रेण्यां वा मिश्राणामेव पराघातवासितानामेव च शब्दद्रव्याणां श्रवणाभ्युपगमेऽपि **न क्षतिः**

के लिए विवरणकार कहते है कि-वर्णादि की संख्या दो विवक्षा से अलग अलग होती है। समुदायविवक्षा से और व्यक्तिअपेक्षा से। समुदाय की विवक्षा से ग्रहण किये जाते भाषास्कंधों में अवश्य रक्त, पीत, नील, श्वेत और कृष्ण ये पांच वर्ण, सुगंध और दुर्गंध ये दो गंध और तीखा, कडुआ, तुरा, खट्टा और मीठा ये पांच प्रकार के रस रहते हैं। व्यक्तिअपेक्षा से यानी जीव जिन भाषास्कंधो के समूह को ग्रहण करता है उनमें से प्रत्येक स्कंध के प्रत्येक अवयवों में कितने वर्णादि रहते हैं? ऐसा जब प्रश्न किया जाय तब इसका उत्तर यह है कि - 'जीव जिन भाषाद्रव्यों के स्कंधों को ग्रहण करता है, उनमें से कतिपय भाषाद्रव्य एक वर्णवाले भी होते हैं, कतिपय दो वर्णवाले भी होते हैं, यावत् कतिपय भाषास्कंध पाँच वर्णवाले भी होते हैं तथा गंध की दृष्टि से कतिपय भाषाद्रव्य सुरभि गंधवाले होते हैं तो कतिपय दुरभि गंधवाले भी होते हैं और कतिपय दो गंधवाले भी होते हैं तथा रस की अपेक्षा कुछ भाषाद्रव्य एक रसवाले तो कुछ दो रसवाले तो कुछ पाँच रसवाले होते हैं। यह लम्बा-चौडा उत्तर 'ऊहनीयम्' पदप्रयोग से विवरणकार ने दिया है।

'कालादि.' इत्यादि। यहाँ इस शंका का कि - "भाषाद्रव्यों के स्कंध में और उनके अवयवों मे जो श्यामवर्ण, रक्तवर्णादि होते हैं, वे क्या समान मात्रा में होते हैं या उनकी मात्रा में तरतमता होती है? वैसे उनमें सुगंध या दुर्गंध और तीखा आदि रस समान मात्रा में होते हैं या विषममात्रा में होते हैं?" - समाधान यह है कि - "भाषाद्रव्यों के स्कंध और उनके अवयवों में वर्ण-गंध-रस की मात्रा समान ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है। किसी भाषाद्रव्य में अन्य भाषाद्रव्य की अपेक्षा एकगुना अधिक काला वर्ण होता है, अन्य किसी भाषाद्रव्य की अपेक्षा दोगुना अधिक कालावर्ण होता है तो अन्य किसी भाषाद्रव्य की अपेक्षा से एकगुना हीन दोगुना हीन, संख्यातगुना हीन, असंख्यातगुना हीन, अनंतगुना न्यून, अनंतभाग हीन, असंख्यभाग हीन, संख्यातभाग हीन काला वर्ण होता है। इस तरह भाषाद्रव्यों के स्कंधो में वर्णादि की मात्रा में षट्स्थान वृद्धि-हानि होती है"। इस विषय की ज्यादा जानकारी के लिए जिज्ञासु प्रज्ञापना आदि ग्रंथो को देख सकते हैं।

पीति दृष्टव्यम्। स्पर्शसङ्ख्यामाश्रित्य च ग्रहणद्रव्याणि प्रतीत्य कानिचिद् द्विस्पर्शवन्ति न त्वेकस्पर्शवन्ति, एकस्यापि परमाणोरवश्यं स्पर्शद्वयसद्भावात्। द्वौ च स्पर्शौ मृदुशीतौ मृदूष्णौ वा। कानिचित्त्रिस्पर्शान्यपि। त्रिस्पर्शत्वं कानिचिन्मृदुशीतस्पर्शानि कानिचिन्मृदु-

मिश्राणां वासितानां च शब्दद्रव्याणां मौलशब्दपरिणामविशेषरूपत्वेन मौलशब्दभेदाभावात्। **एतेन** 'शब्दो गुणः सामान्यवत्त्वे सति सामान्यवदनाधारत्वात् रूपादिवदिति ***न्यायभूषणकारोक्तं* निरस्तं** द्रष्टव्यम्; कंसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन कर्णाभिघातदर्शनेन सामान्यवत्स्पर्शानाधारत्वाभावाच्च। 'एकः शब्दः, द्वौ शब्दौ, बहवः शब्दा' इति प्रतीतेरेकत्वादिसङ्ख्यायोगाच्च शब्दो द्रव्यम्। **एतेन** शब्दोऽम्बरगुण इति ***प्रशस्तपादभाष्या*क्तमपास्तं** द्रष्टव्यम्, अल्पत्वादिसम्बन्धादपि शब्दो द्रव्यं 'अल्पः शब्दो महान् शब्द' इति सार्वजनीनानुभवात्।

यत्तु 'शब्दो गुणो जातिमत्त्वे सति अस्मदादिबाह्याऽचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात् गन्धवदि'ति ***न्यायलीलावतीकारेणोक्तं*** **तदसत्** गुणत्वशून्ये घटादौ जातिमत्त्वे सति अस्मदादिस्पार्शनप्रत्यक्षत्वहेतोर्वर्तमानत्वेन व्यभिचारदोषग्रस्तत्वात्। द्रव्यत्वेऽसतीति विशेषणे चात्माश्रयप्रसङ्गात्। **न** च जातिमत्त्वे सति अचाक्षुषत्वे सति अस्मदादिबाह्यप्रत्यक्षत्वादिति विवक्षायां न कोऽपि दोष इति **वाच्यम्** गुणत्वव्यापकत्वे सति हेतुव्यापकत्वाभावेनाऽप्रतीपयायित्वस्योपाधित्वात्। **न च** प्रतीपयायिनि वायावस्मदादिबाह्यप्रत्यक्षत्वस्याभावेन न साधनाव्यापकत्वमिति **वाच्यम्**, "शीतो मन्दो वायुर्वाति" इत्यादिप्रतीतेर्वायुप्रत्यक्षत्वसिद्धेः। न चाऽयं भ्रमः, बाधकाभावात्। **एतेन** वायुः बहिरिन्द्रियाप्रत्यक्षः नीरूपद्रव्यत्वात् आकाशवदिति ***तत्त्वचिन्तामणिकारोक्त*मपास्तं मन्तव्यम्** अप्रयोजकत्वात्, साध्याभाववति निदाघोष्मणि हेतोः सत्त्वेन व्यभिचारात्; फूत्कारादौ वाय्वभिघातस्य प्रत्यक्षत्वेन बाधाच्च। **एतेन** शब्दो गुणः चक्षुर्ग्रहणायोग्यबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वात् स्पर्शवत् इति (मुक्ता. श्लो. ३४. टीका पृ. ३६४) ***मुक्तावलीकारवचनं* निरस्तं** द्रष्टव्यम्; अनभिभवनीयत्वादेरुपाधित्वात्, साध्यव्यापकानभिभवनीयत्वादेः तादृशबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमति वायाववृत्तित्वेन साधनाव्यापकत्वात्। "महता हि शब्देनाऽल्पः शब्दोऽभिभूयत" 'इति प्रतीतेरनभिभवनीयत्वादेरभावेन गुणत्वाभावसिद्धिः, व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धेः। **एतेन'** चक्षुर्ग्रहणायोग्यत्वगिन्द्रियातिरिक्तबहिरिन्द्रियजातिमत्त्वस्य हेतुत्वसम्भवादिति (मुक्ता. मं. पृ. ३६५) नव्यमतं पुरस्कृत्य शब्दगुणत्वप्रतिपादनं ***मुक्तावलीमञ्जूषाकारेणोक्तं*** **तत्परास्तम्** (ग्रन्थाग्रं. ५००) अनभिभावुकत्वादेरुपाधित्वाच्च। **एतेन** तेनैव तत्रैव 'जन्यत्वे सति अनेकद्रव्यसमवेतत्वाभावेन द्रव्यभिन्नत्वसाधनसंभवात्' (मुक्ता. मं. पृ. ३६६) इत्युक्तं **तदप्यपास्तम्**, विशेष्यासिद्धेश्च।

यत्तु समवायेन शब्दस्य समवेतसमवायेन शब्दत्वादेः विशेषणतया शब्दाभावस्य ग्रह इति (तत्त्वचिं. प्रत्यक्षखण्ड सन्निकर्षवादे) ***चिन्तामणिकारेणो*क्तं** तदसत् संयोगेन शब्दग्रहणे बाधाभावात्समवायस्यासिद्धत्वाच्च।

✱ शब्द में स्पर्शादि अवश्य है ✱

यहाँ यह शंका हो सकती है कि - "यदि भाषापरिणमनयोग्य द्रव्यों में वर्ण-गंध-रस आदि है तो उपलब्ध क्यों नही होते हैं?" - इसका समाधान यह है कि - "भाषाद्रव्य अत्यंत सूक्ष्म होने से अतीन्द्रिय है। इंद्रियों की शक्ति स्थूल द्रव्यों को ग्रहण करने की है, सूक्ष्म द्रव्यों और उनके गुणों को ग्रहण करने की नहीं है। लेकिन आगम प्रमाण से शब्द में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श मान्य हैं। अनुमान प्रमाण से भी भाषायोग्य द्रव्यों के स्पर्शादि अनुमेय है। देखिये हम जब किसीकी बहुत ऊँची आवाज सुनते है, तब कान में दर्द का अनुभव होता है। बहुत जोर से आवाज सुनने पर किसीके कान के पर्दे भी टूट जाते हैं। यदि शब्द अमूर्त्त हो, गुण हो, स्पर्शादि शून्य हो तब ऐसा न होता। जैसे आकाश अमूर्त्त होने के सबब आकाश से उपघात-पीडा का हमें अनुभव नहीं होता है, वैसे यदि शब्द=भाषाद्रव्य भी अमूर्त्त हो तो उनसे कान में पीडा आदि होने का संभव नहीं है। अतः अनुमान प्रमाण से भी शब्द में मूर्त्तता, स्पर्शादि तथा द्रव्यत्व की सिद्धि होती है। इस बात की सूचना करने के लिए भी विवरणकार ने 'ऊहनीयं' शब्द का प्रयोग किया है।

---

१ दृश्यतां स्याद्वादकल्पलतायां दशमस्तबके १६० तमे पृष्ठे।

स्निग्धस्पर्शानीत्यादिदिशा मृदुस्पर्शावयवानां स्पर्शान्तरयोगै समुदायमधिकृत्य भावनीयम्। कानिचिच्चतुःस्पर्शान्यपि। समुदायमधिकृत्य तु चतुःस्पर्शान्येव। तत्र चतुःस्पर्शेषु[1] द्वौ मृदुलघुरूपाववस्थितौ, स्पर्शौ अन्यौ तु द्वौ स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ, रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ

'स चायं शब्दो द्वेधा, भाषात्मकोऽभाषात्मकश्च। भाषात्मकोऽपि द्विप्रकारोऽक्षरात्मकोऽनक्षरात्मकश्च। प्रथमः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतादिभेदादार्य-म्लेच्छव्यवहारहेतुः। अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामनतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। स एष प्रायोगिक एव। अभाषात्मकोऽपि द्वेधा-प्रयोग-विश्रसानिमित्तत्वात्। तत्र प्रयोगनिमित्तश्चतुर्धा ततादिभेदात्। ततस्तन्त्रीप्रभवः, आनद्धो मुरजादिसमुद्भवः, घनः कांस्यतालादिजनितः, सौषिरो वंशादिनिमित्तः। विश्रसानिमित्तःतु शब्दो मेघादिप्रभवः इति व्यक्तं ***स्याद्वादरत्नाकर*** [५/८] इति।

यच्च वाक्यपदीये 'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं। (वा. प. १/१) इति ***भर्तृहरिणोक्तं, तन्न मनोरमम्*** ब्रह्मणश्चैतन्यरूपत्वाच्छब्दस्य च पौद्गलिकत्वेन जडत्वादनयोरैक्यापादनस्य बाधितत्वात्, सर्वथाऽक्षरत्वासिद्धेश्च। शब्दस्य स्फोटरूपत्वनिरासस्तु **स्याद्वादरत्नाकर-कल्पलतादितो**[1] ज्ञातव्यः, विस्तरभयादत्र नोच्यते। ततः शब्दे वर्णादिविचारः सुसंगत एवेति सिद्धम्।

वर्णादीनामनन्तपर्यायत्वेऽपि मौलभेदप्रसिद्ध्यथ **'भावतस्तु वर्णवन्ती'** त्यादिना प्रक्रियते। अत्र तावन्मनाग्मीमांसामहे। एकस्मिन् परमाणौ मृदुस्पर्शवत्त्वं, अत्र 'मृदुशीतौ मृदूष्णौ वे'त्यादिनोक्तं तद् **व्याख्याप्रज्ञप्त्यादि**भिः सह विरुद्धमिव प्रतिभाति। ***व्याख्याप्रज्ञप्तौ*** एकपरमाणुविचारे, "दुफासे सिय सिए य निद्धे य १ सिय सीए य लुक्खे य २ सिय उसिणे य णिद्धे य ३ सिय उसिणे य लुक्खे य ४"। (भ. सू. श. २०/उ. प./सू. ६६८) इत्युक्तम्। **प्रज्ञापनाटिप्पणे** पञ्चमपदस्यान्ते च **हरिभद्रसूरिभि**रप्युक्तं "शीतोष्णस्निग्धरूक्षाणां संवादिद्वयस्पर्शः परमाणु"रिति। **तत्त्वार्थटीकाकृता**ऽपि "अत्र च स्निग्धरूक्षशीतोष्णाश्चत्वार एवाणुषु सम्भवन्ति"। (५/२३ तत्त्वा. वृत्ति) इत्युक्तम्। **प्रज्ञापनायामपि** 'परमाणुपुग्गले परमाणुपोग्गलस्स...फासाणं सीयउसिणनिद्धलुक्खेहिं छट्ठाणवडिए' (प्रज्ञा. पद-५/सू-१२०) इत्युक्तम्। तद्व्याख्यानं च ***श्रीमलयगिरिचरणै***रेवं कृतं, "परमाण्वादीनामसङ्ख्यातप्रदेशस्कंधपर्यन्तानां केषांचिदनन्तप्रादेशिकानामपि स्कंधानां तथैकप्रदेशावगाढानां यावत्संख्यातप्रदेशावगाढानां शीतोष्णस्निग्धरूक्षरूपाश्चत्वार एव स्पर्शा इति"। अतः **"त्रिस्पर्शत्वं कानिचिन्मृदुशीतस्पर्शानि"** इत्यादि यदुक्तमत्र विवरणकारेण तदप्युपर्युक्तशास्त्रवचनैः सह विसंवदति। **व्याख्याप्रज्ञप्ता**वप्युक्तं 'जइ तिफासे सव्वे सीए देसे निद्धे देसे लुक्खे १, सव्वे उसिणे देसे निद्धे देसे लुक्खे २, सव्वे निद्धे देसे सीए देसे उसिणे ३, सव्वे लुक्खे देसे सीए देसे उसिणे ४ (भ. सू. श. २०/उ. ५/सू. ६६८)। अत्र च त्रिस्पर्शविचारे मृदुस्पर्शो नोक्तः। तथा चतुःस्पर्शविचारेऽपि 'द्वौ मृदुलघुरूपाववस्थितौ स्पर्शौ' इत्यादिकमपि **प्रज्ञापना-व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिभिः** सह प्रतिकूलमिव प्रतिभाति। तदुक्तं ***प्रज्ञापनाया*** गहणदव्वाइं पडुच्च णो एग फासाइं गेण्हति, दुफासाइं गिण्हइ, जाव चउफासाइं गेण्हति, णो पंचफासाइं गेण्हइ जाव नो अट्ठफासाइं गेण्हति। सव्वगहणं पडुच्च नियमा चउफासाइं गेण्हति। तं जहा - सीतफासाइं गेण्हति, उसिणफासाइं, णिद्धफासाइं, लुक्खफासाइं गेण्हति। (प्रज्ञा. पद-११/सूत्र १६८) अत्र च नामग्रहं "णो पंचफासाइं गेण्हइ, जाव णो अट्ठफासाइं गेण्हति" इत्यादिना

✻ भाषा में स्पर्शसंख्या विचार ✻

'स्पर्शसंख्या.' इत्यादि। जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है उनमें से किसीमें दो स्पर्श होते हैं लेकिन सिर्फ एक स्पर्श किसी में भी नहीं होता है, क्योंकि एक परमाणु में भी दो स्पर्श तो अवश्य होते हैं, एक स्पर्श नहीं। दो स्पर्श मृदुशीत या मृदुउष्ण होते हैं। कतिपय भाषाद्रव्य तीन स्पर्शवाले भी होते हैं। तीन स्पर्श की घटना इस तरह विवरणकार ने बताई है कि - कतिपय भाषाद्रव्यों में मृदुशीत स्पर्श और कतिपय भाषाद्रव्यों में मृदुस्निग्ध स्पर्श इस तरह मृदुस्पर्श के साथ अन्य स्पर्श का योग होने पर

---

१ दृश्यतां स्याद्वाद कल्पलतायां दशमस्तबके १६० तमे पृष्ठे।

चेति। अत्र चावस्थितयोः स्पर्शयोरव्यभिचरितत्वेनाऽविवक्षणाद्वैकल्पिकस्पर्शमाश्रित्य चतुःस्पर्शवन्तीति निर्देश इति **सम्प्रदायः**। न चायं पर्यनुयोज्यो विचित्रत्वात्सूत्रगतेरिति भावनीयम्।

षट्स्पर्शप्रतिषेधस्य प्रतिपादितत्वात्, **व्याख्याप्रज्ञप्तौ** गुरुलघु-मृदु-कर्कशस्पर्शानां बादरस्कन्धेष्वेव प्रतिपादनाच्च। **षट्खंडागमे**ऽपि भाषावर्गणायां चतुःस्पर्शत्वमुक्तं 'चदुपासाओ' (षट्खंडागम ५/६/७८३) इत्यादिना।

यत्तु धवलायामेतत्सूत्रव्याख्याने तेजोवर्गणातिदेशेन "णिद्धल्हुक्खाणमेक्कदरो, सीदुण्हाणमेक्कदरो, कक्खडमउआणमेक्कदरो, गरूअलहुआणमेक्कदरो पासो" इति **वीरसेनेनो**क्तं **तदविचारितरमणीयम्, भगवत्यादि**भिर्विरोधात्।

'सम्प्रदाय' इति। विवरणकारेणात्र वर्णादिस्पर्शान्तविवरणं प्रज्ञापनावृत्तिमवलम्ब्य कृतम्। **'भावनीयमिति'**। अत्रेदमस्माकमाभाति - कार्मणवर्गणानिरूपणे **बंधशतकचूर्णौ** "ताइं एक्केक्काइं खंधदव्वाइं पंचवन्नाई, दुगंधाई, पंचरसाइं, निद्धुण्हं, णिद्धसीयलं, लुक्खुण्हं, लुक्खसीयलं, मउयं लहुयमिति चउफासाइं" त्ति (बं. श. चू. श्लो. ८७ वृत्ति) **शिवशर्मसूरिभि**रुक्तम्। अतः **प्रज्ञापनायां** कार्मग्रन्थिकाभिप्रायेण **मलयगिरिचरणै**र्भाषापदे "मृदुलघुरूपौ स्पर्शाववस्थितौ ताववस्थितत्वादेव व्यभिचाराभावात्र गण्येते" इत्युक्तं संभवेत् तदनुवादरूपेण च प्रकरणकारेणात्रोक्तं स्यात्। तथा सैद्धान्तिकमताभिप्रायेण पर्यायपदे च तैरेव 'परमाण्वादीनामित्यादितःशीतोष्णस्निग्धरूक्षरूपाश्चत्वार एव स्पर्शा' इत्यन्तं (प्रज्ञा. पद-५/सू. १२० वृत्ति) व्याख्यातमिति।

अत्राऽपीदं ध्येयं, **मुनिचन्द्रसूरिभिः बन्धशतकचूर्णिटिप्पणे** "मउयं लहुयमिति। यदत्र मृदुलघुस्पर्शाभ्यां अवस्थायिभ्यां युक्तत्वेन स्निग्धमुष्णमित्यादिभिश्चतुर्भिश्च द्विकसंयोगैश्चतुःस्पर्शत्वमुक्तं तद् **व्याख्याप्रज्ञप्त्यादिभिः** सह विरुद्धमिव भाति। तत्र स्निग्धरूक्षशीतोष्णरूपाणामेव चतुर्णां स्पर्शानां कर्मद्रव्येष्वभिधानात्" (बं. श. श्लो. ८७ चूर्णिटिप्पणे) इत्यभिहितम्। **उदयप्रभसूरिभिरपि बन्धशतकचूर्णिटिप्पणे** "तत्र मृदुलघू अवस्थितौ, द्वौ तु स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ वा, रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ वाऽविरुद्धौ भवतः। **प्रज्ञप्तौ** तु स्निग्धरूक्षशीतोष्णा उक्ताः" (बं. श. श्लो. ८७

उस स्कंध में=समुदाय में, जो कि एक समय गृहीत भाषाद्रव्य समूह का अंशरूप है, तीन स्पर्श होते हैं। इसी तरह मृदुस्पर्श के साथ अन्य उष्ण और रूक्ष स्पर्श का योग होने पर तीन स्पर्श की स्कंधसमुदाय के एक देशभूत परमाणुसमुदायात्मक स्कंध में भावना करने की 'विवरणकार' सूचना करते हैं। इस विषय में अधिक सूक्ष्म विचार किया जा सकता है। इसकी सूचना करने के लिए 'भावनीयम्' पद का प्रयोग किया गया है। इस तरह कतिपय भाषाद्रव्यों में चार स्पर्श भी होते हैं। समुदाय की अपेक्षा से भाषाद्रव्य में स्पर्शसंख्या का विचार किया जाय तब एक समय में गृहीत भाषाद्रव्यसमूह में अवश्य चार स्पर्श होते हैं, न न्यून और न अधिक। चार स्पर्श की भाषाद्रव्य समूह में उपपत्ति इस तरह विवरणकार ने की है कि - "भाषाद्रव्यों के स्कंध में मृदु-लघु स्पर्श अवस्थित=सदा रहनेवाले होते हैं तथा अन्य दो स्पर्श के युगल स्निग्ध-उष्ण, स्निग्ध-शीत, रूक्ष-उष्ण, और रूक्ष-शीत चार युगल में से कोई भी एक युगल होता है। इस प्रकार मृदु-लघुअन्यतम कोईभी एक युगल= ४ स्पर्श होते हैं। यहाँ मृदु-लघु स्पर्श अवस्थित होने से भाषाद्रव्य के स्पर्श की संख्या में परिगणित नहीं है। जब कि स्निग्ध-उष्ण इत्यादि चार युगल हैं वे अनवस्थित=अनियत होने से भाषाद्रव्यस्पर्श की संख्या में परिगणित हैं। तात्पर्य यह है कि भाषाद्रव्य में परमार्थ से मृदु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष ये छ स्पर्श होते हैं। इनमें से मृदु-लघु स्पर्श भाषाद्रव्यस्कंध के प्रत्येक परमाणु में वैकल्पिक होते हैं। भाषाद्रव्य के किसी परमाणु में मृदु-लघु तथा स्निग्धोष्ण स्पर्श होते हैं, किसी परमाणु में मृदु-लघु तथा स्निग्ध-शीत स्पर्श होते हैं, किसी परमाणु में मृदु-लघु तथा रूक्ष-उष्ण स्पर्श तथा किसी परमाणु में मृदु-लघु तथा रूक्ष-शीत स्पर्श होते हैं। स्पष्ट है कि किसी भी भाषाद्रव्य में मृदु-लघु स्पर्श अवश्य हैं, नियत हैं तथा स्निग्ध-उष्ण आदि स्पर्श के चार युगलो में से एक युगल होता है। अतः समुदाय की अपेक्षा भाषाद्रव्यों में मृदु-लघु स्पर्श अवस्थित होने से उनका व्यभिचार=अभाव न होने से वे अपरिगणित हैं, भाषाद्रव्यों के समूह में उनकी विवक्षा=गणना नहीं की गई है और शेष शीत आदि चार स्पर्श अनियत होने से भाषाद्रव्यों में उनकी संख्या की गणना की गई है। इस तरह भाषाद्रव्यों के समूह में समुदाय की अपेक्षा चार स्पर्श होते हैं। यह प्राचीन सम्प्रदाय है।

'नच.' इत्यादि। यहाँ यह शंका कि - "भाषाद्रव्य में मृदु-लघु स्पर्श अवस्थित होने से अविवक्षित हैं और शेष शीत-उष्ण-स्निग्ध-

शीतस्पर्शादीन्यपि चैकगुणशीतस्पर्शादीनि यावदनन्तगुण-शीतस्पर्शादीन्यपीति द्रष्टव्यम्। आलापकश्चात्र विषये प्रज्ञापनायामनुसन्धेयः।।३।।

चूर्णिटिप्पणे) इति प्रतिपादितमिति।

किञ्च भाषायां लघुस्पर्शो **विशेषावश्यकभाष्ये**ऽपि निषिद्धः। तथा च तद्ग्रन्थः 'ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेय गुरुलहू दव्वा। कम्मग-मण-भासाई एयाइं अगुरुलहुयाइं।। (वि. आ. भा. ६५८) 'निच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं। बायरमिह लहुयं अगुरुलहुं सेसयं सव्वं।। (वि. आ. भा. ६६० गाथा) निश्चयनयेन "शेषं तु भाषाऽऽनाऽपान-मनोवर्गणादिकं परमाणु-द्व्यणुक-व्योमादिकं च सर्वं वस्त्वगुरुलघ्विति" इति तद्वृत्तौ **श्रीहेमसूरिभि**रुक्तमिति सुधीभिः सूक्ष्मेक्षिकया विभावनीयम्। ज्ञातः स्पर्शविमर्शोऽयमागमज्ञानदायितः। श्रीजयघोषसूरीशात्तं नमामि सदाऽप्यहम्।।१।।

आलापकश्चेति। स चैवं वर्तते जीवे णं भंते! जातिं दव्वातिं भासत्ताए गिण्हति ताइं किं ठियाइं गेण्हति अठियाइं गेण्हति?, गो.! ठियाइं गिण्हति नो अठियाइं गिण्हति, जाइं भंते! ठियाइं गिण्हति ताइं किं दव्वतो गिण्हति खेत्तओ गिण्हति कालतो गिण्हति भावतो गिण्हति?, गो.! दव्वओवि गिण्हति खेत्तओवि कालओवि भावओवि गिण्हति, जातिं भंते! दव्वओ गेण्हति ताइं किं एगपदेसिताइं गिण्हति दुपदेसियाइं जाव अणंतपदेसियाइं गेण्हति? गोयमा! नो एगपदेसियाइं गेण्हति जाव नो असंखिज्जपदेसियाइं गिण्हइ, अणंतपदेसियाइं गेण्हति, जाईं खेत्तओ गेण्हति ताइं किं एगपएसोगाढाइं गेण्हति, दुपएसोगाढाइं गेण्हति, असंखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति? गो.! नो एगपएसोगाढाइं गेण्हति जाव नो संखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति असंखेअपएसोगाढाइं गेण्हति, जाइं कालतो गेण्हति ताइं किं एगसमयठितीयाइंपि गेण्हति दुसमयठिइयाइं गिण्हति, जाव असंखिज्जसमयठिइयाइं गेण्हति? गो.! एगसमयठितीयाइंपि गेण्हति, दुसमयठितीयाइंपि गेण्हति जाव असंखेज्जसमयठितीयाइंपि गेण्हति, जाइं भावतो गेण्हति ताइं किं वण्णमंताइंपि गेण्हति गंधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं गेण्हति? गो.! वण्णमंताइंपि जाव फासमंताइंपि गेण्हति, जाइं भावओ वण्णमंताइंपि गेण्हति ताइं किं एगवण्णाइं गेण्हति जाव पंचवण्णाइं गेण्हति?, गो.! गहणदव्वाइं पडुच्च एगवण्णाइंपि गेण्हति जाव पंचवण्णाइंपि गेण्हति, सव्वग्गहणं पडुच्च णियमा पंचवण्णाइं गेण्हति, तंजहा-कालाइं नीलाइं लोहियाइं हालिद्दाइं सुक्किल्लाइं, जाइं वण्णतो कालाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणकालाइं गेण्हति जाव अणंतगुणकालाइं गिण्हति?, गो.! एगगुणकालाइंपि गिण्हति जाव अणंतगुणकालाइंपि गेण्हति, एवं जाव सुक्किल्लाइंपि, जाइं भावतो गंधमंताइं गिण्हति ताइं किं एगगंधाइं गिण्हति दुगंधाइं गिण्हति?, गो.! गहणदव्वाइं पडुच्च एगगंधाइंपि दुगंधाइंपि गेण्हति, सव्वग्गहणं पडुच्च नियमा दुगंधाइं गिण्हति, जाइं गंधतो सुब्भिगंधाइं गिण्हति ताइं किं एगगुणसुब्भिगंधाइं गिण्हति जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइंपि गिण्हति?, गो.! एगगुणसुब्भिगंधाइंपि जाव अणंतगुणसुब्भिगंधाइंपि गेण्हइ, एवं दुब्भिगंधाइंपि गेण्हइ, जाइं भावतो रसमंताइं गेण्हति ताइं किं एगरसाइं गेण्हति जाव किं पंचरसाइं गेण्हति?, गो.! गहणदव्वाइं पडुच्च एगरसाइंपि गेण्हति जाव पंचरसाइंपि गेण्हति सव्वग्गहणं

ऋक्ष ये चार स्पर्श अनियत होने से विवक्षित हैं, इसका क्या प्रयोजन है? -"करना उचित नहीं है, क्योंकि सूत्रकारों के सूत्र की शैली विचित्र=विविधप्रकार वाली होती है। भिन्न भिन्न पहलू से सूत्र की रचना बदलती रहती है। अतः यह शंका करना उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार हमने **मोक्षरत्ना** में किया है।

* भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा षट्स्थानपतित है *

'शीतस्पर्शादी' इत्यादि। अमुक भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा की अपेक्षा अन्य भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा में समानता भी होती है और विषमता भी होती है। जब विषमता होती है तब इसके छ प्रकार होते हैं। देखिये, अमुक भाषाद्रव्य में मानो कि शीत स्पर्श अमुक मात्रा में=प्रमाण में है, तब उनकी अपेक्षा अन्य किसी भाषाद्रव्य में शीत स्पर्श की मात्रा दो गुनी, चार गुनी, संख्यात गुनी,

पडुच्च नियमा पंचरसाइं गेण्हति, जाइं रसओ तित्तरसाइं गेण्हति ताइं किं एगगुणतित्तरसाईं गिण्हति जाव अणंतगुणतित्तरसाइं गिण्हति?, गो.! एगगुणतित्ताइंपि गिण्हइ जाव अणंतगुणतित्ताइंपि गिण्हति, एवं जाव मधुररसो, जाइं भावतो फासमंताइं गेण्हति ताइं किं एगफासाइं गेण्हइ जाव अट्ठफासाइं गिण्हति?, गो.! गहणदव्वाइं पडुच्च णो एगफासाइं गेण्हति, दुफासाइं गिण्हइ जाव चउफासाइं गेण्हति, णो पंचफासाइं गेण्हति, जाव नो अट्ठफासाइं गेण्हति, सव्वगहणं पडुच्च नियमा चउफासाइं गेण्हति, तंजहा सीतफासाइं गेण्हति उसिणफासाइं निद्धफासाइं लुक्खफासाइं गेण्हति, जाइं फासतो सीताइं गिण्हति ताइं किं एगगुणसीताइं गेण्हति जाव अणंतगुणसीताइं गेण्हति?, गो.! एगगुणसीताइंपि गेण्हति जाव अणंतगुणसीताइंपि गेण्हति, एवं उसिणणिद्धलुक्खाइं जाव अणंतगुणाइंपि गिण्हति, जाइं भंते! जाव अणंतगुणलुक्खाइं गेण्हति।

तद्वृत्तिश्चैवम् 'जीवे णं भंते! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गिण्हइ' इत्यादि. सुगमं नवरं 'ठियाइं' स्थितानि न गमनक्रियावन्ति द्रव्यतश्चिन्तायामनन्तप्रादेशिकानि-अनन्तरपरमाण्वात्मकानि गृह्णाति, नैकपरमाण्वाद्यात्मकानि, तेषां स्वभावत एव जीवानां ग्रहणायोग्यत्वात्, क्षेत्रचिन्तायामसङ्ख्यातप्रदेशावगाढानि, एकप्रदेशाद्यवगाढानां तथास्वभावतया ग्रहणायोग्यत्वात्, कालतश्चिन्तायामेकसमयस्थितिकान्यपि यावदसङ्ख्यसमयस्थितिकान्यपि गृह्णाति, पुद्गलानामसङ्ख्येयमपि कालं यावदवस्थानसम्भवात्, तथा चोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ सैजनिरेजपुद्गलावस्थानचिन्तायां- 'अणंतपएसिए णं भंते! खंधे केवइकालं सेए?, गो.! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असङ्खेज्जतिभागं, निरेए जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं काल'मिति, तेषां च गृहीतानां ग्रहणानन्तरसमये अवश्यं निसर्ग इति स्वभावस्यानन्तरसमये ग्रहणं प्रतिपत्तव्यं, **अन्ये** तु व्याचक्षते-एकसमयस्थितिकान्यपीति आदिभाषापरिणामापेक्षया द्रष्टव्यं, विचित्रो हि पुद्गलानां परिणामः, तत एकप्रयत्नगृहीतमुक्ता अपि ते केचिदेकं समयं भाषात्वेनावतिष्ठन्ते केचिद् द्वौ समयौ यावत् केचिदसङ्ख्येयानपि समयानिति, तथा 'गहणदव्वाइं' इति गृह्यन्ते इति ग्रहणानि, ग्रहणानि च तानि द्रव्याणि च ग्रहणद्रव्याणि, किमुक्तं भवति?- यानि ग्रहणयोग्यानि द्रव्याणि तानि कानिचित् वर्णपरिणामेन एकेन वर्णेनोपेतानि कानिचिद् द्वाभ्यां कानिचित् त्रिभिः कानिचित् चतुर्भिः कानिचित्पञ्चभिः, यदा पुनरेकप्रयत्नगृहीतानामपि सर्वेषां द्रव्याणामपि समुदायो विवक्ष्यते तदा नियमात् पञ्चवर्णानि गृह्णन्ति (ह्णाति), एवं गन्धरसेष्वपि भावनीयं, स्पर्शतः चिन्तायामेकस्पर्शप्रतिषेध एकस्यापि परमाणोरवश्यं स्पर्शद्वयभावात्, तथा चोक्तम्- "कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च।" [ ] द्विस्पर्शानि- मृदुशीतानि मृदूष्णानीत्यादि, 'जाव चउफासा' इति यावच्छब्दकरणात् त्रिस्पर्शपरिग्रहः, तत्र त्रिस्पर्शान्येवं-कानिचित् द्रव्याणि किल मृदुशीतस्पर्शानि कानिचित् मृदुस्निग्धस्पर्शानि, तत्र मृदुस्पर्शो मृदुस्पर्श एवान्तर्भूत इत्येकस्पर्शः शीतस्निग्धरूपौ तु द्वावन्यौ स्पर्शाविति समुदायमधिकृत्य त्रिस्पर्शानि, एवं स्पर्शान्तरयोगेऽपि त्रिस्पर्शानि भावनीयानि, कानिचिच्चतुःस्पर्शानि **तत्र** चतुःस्पर्शेषु मृदुलघुरूपौ द्वौ स्पर्शाववस्थितौ सूक्ष्मस्कन्धेषु तयोरवश्यंभावात्, अन्यौ तु द्वौ स्पर्शौ स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ, सर्वसमुदायमपेक्ष्य नियमात्तानि चतुःस्पर्शानि गृह्णाति, तत्र यौ द्वौ मृदुलघुरूपौ स्पर्शाववस्थितौ तावस्थितत्वादेव व्यभिचाराभावान्न गण्येते ये त्वन्ये स्निग्धादयश्चत्वारस्ते किल वैकल्पिका इति तानधिकृत्य सूत्रमाह, तद्यथा-'सीयफासाइं गेण्हइ' इत्यादि सुगमं, यावत् 'जाइं भंते!

असंख्यात गुनी, अनंत गुनी, अनंत भाग, असंख्य भाग और संख्यात भाग अधिक होती है। इसी तरह कतिपय अन्य भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा विवक्षित भाषाद्रव्य के स्पर्श की मात्रा की अपेक्षा अनंतभाग हीन, असंख्यातभाग हीन, संख्यातभाग हीन, संख्यात गुनी हीन, असंख्यातगुनी हीन और अनंतगुनी हीन होती है। इस तरह भाषाद्रव्यों के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की मात्रा में षट्स्थान वृद्धि-हानि होती है। यह सब अपनी मनमानी कल्पना नहीं है किन्तु शास्त्रानुसारी वास्तविकता है। इस विषय के सम्बन्धी आलापकों का=सूत्रों का प्रज्ञापना नामक चतुर्थ उपांग के ग्यारहवें भाषापद में से अनुसंधान करे-ऐसी विवरणकार ने सूचना की है।।३।।

अथ स्पृष्टास्पृष्टादिजिज्ञासायामाह-

पुट्ठोगाढ-अणंतर-अणु-बायर-उड्ढमहतिरियगाइं। आइविसयाणुपुव्वीकलियाइं छद्दिसिं चेव।।४।।

उक्तलक्षणानि भाषाद्रव्याणि **स्पृष्टान्येव** = आत्मप्रदेशैः सह सङ्गतान्येव गृह्णाति माऽस्पृष्टानि।।१।। **तान्यवगाढान्येव** =

अणंतगुणलुक्खाइं गेण्हइ' इह किल चरमं सूत्रमनन्तरमिदमुक्तं 'अणंतगुणलुक्खाइंपि गिण्हइ' ततः सूत्रसम्बन्ध-वशादिदमुक्तं, जाइं भंते! जाव अणंतगुणलुक्खाइं गेण्हइं, इति 'यावता जाइं भंते! एगगुणकालवण्णाइं' इत्याद्यपि द्रष्टव्यं, (प्र. भा. सू. २६८ म. वृ.) अत्र यो विशेषः स च भावित एव। शेषं स्पष्टम्।।३।।

इहात्मप्रदेशैः संस्पर्शनमात्मप्रदेशावगाहक्षेत्राद्बहिरपि सम्भवतीत्यत आह **"अवगाढान्येवे"** ति। **"येषु आत्मप्रदेशेषु"** इत्यादि। अत्रेदं ध्येयं अवगाह आकाशस्य गुणो न तु जीवस्य। अतः आत्मप्रदेशेषु भाषाद्रव्याणि अवगाढानीति वक्तुं नार्हति तथापि आधारस्य कथञ्चिदाधेयाभेदादुपचारेणाकाशप्रदेशकथनं न विरुद्धम्। **वस्तुतस्तु** प्रतियोगितासम्बन्धेन भाषाद्रव्यग्रहणं प्रति वचोयोगपरिणताऽऽत्मप्रदेशानां स्ववृत्त्याधेयतानिरूपिताधिकरणतावच्छेदकावच्छिन्नाधारतानिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेन कारणता। तेन नात्मप्रदेशानधिकरणदेशावच्छेदेन गगनेऽवगाढानां भाषाद्रव्याणां ग्रहणम्, प्रतियोगितासम्बन्धेन ग्रहणविशिष्टेषु भाषाद्रव्येषु तादृशाऽऽधेयतावत्त्वसम्बन्धेन वचोयोगपरिणतात्मप्रदेशानामसत्त्वात्, भाषाद्रव्यनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणताया वचोयोगपरिणतात्मप्रदेशनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणतावच्छेदकीभूताकाशप्रदेशानवच्छिन्नत्वात्। न वा स्वेतरात्मप्रदेशाधिकरणदेशावच्छेदेन गगनेऽवगाढानां भाषाद्रव्याणां स्वैरात्मप्रदेशैर्ग्रहणम्। नापि स्वाधिकरणदेशावच्छेदेन गगनेऽवगाढानां भाषाद्रव्याणां स्वेतरात्मप्रदेशैर्ग्रहणमित्यादि विभावनीयं समाकलितस्वसमयरहस्यैरिति **दिक्**।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि - 'जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है वे क्या जीव से संबद्ध=स्पृष्ट होते हैं या नहीं?' इत्यादि इसका समाधान प्रकरणकार चतुर्थ श्लोक से कर रहे हैं।

गाथार्थ :- जीव स्पृष्ट, अवगाढ, अनंतर, अणु, बादर, ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् दिशा में रहे हुए, ग्रहण के आद्य-मध्यम और अंतिम-समय में ग्रहण किये जानेवाले वक्ता के विषयभूत आनुपूर्वी से युक्त और छ दिशाओं से आये हुए ही भाषापरिणमन योग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है।४।

✵ जीव स्पृष्ट आदि भाषाद्रव्यों को ही ग्रहण करता है ✵

विवरणार्थ :- उक्तलक्षणानि. इत्यादि। तृतीय श्लोक में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा जिनका विचार किया गया है, वे भाषायोग्यद्रव्य जब जीव से स्पृष्ट होते हैं, तभी जीव उनको ग्रहण करता है। जो भाषाद्रव्य वक्ता जीव से असंबद्ध हैं, अलग हैं उनको जीव ग्रहण नहीं कर पाता।१।

जिज्ञासा :- आत्मा से संबद्ध भाषाद्रव्य के दो प्रकार हो सकते हैं। प्रथम प्रकार है जीवप्रदेश जिन आकाशप्रदेश में रहे हुए हैं, उन्हीं आकाशप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्य तथा दूसरा प्रकार है जीव के प्रदेश जिन आकाशप्रदेश में रहे हुए हैं उनके अनंतर आकाश प्रदेशो में रहे हुए भाषाद्रव्य। जीव क्या अपने अवगाह के आधारभूत आकाशप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है या अपने अवगाह के अनाधारभूत संस्पृष्ट आकाशप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्यों को?

समाधान :- जीव जिन आकाशप्रदेश में रहा हुआ है, उन्हीं आकाशप्रदेशों में रहे हुए स्पृष्ट भाषाद्रव्यों को जीव ग्रहण करता है, अन्य अनवगाढ अनंतर स्पृष्ट भाषाद्रव्यों को जीव ग्रहण नहीं करता है। जीव का यह स्वभाव है कि वह अपने आधारभूत आकाशप्रदेश में रहे हुए ही सूक्ष्मद्रव्यों को ग्रहण करता है।२।

जिज्ञासा :- जीव अपने आधारभूत आकाशप्रदेश में रहे हुए अनन्तर अवगाढ भाषा द्रव्यों को ग्रहण करता है या परंपर अवगाढ

---

१ स्पृष्टावगाढानन्तराणुबादरोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतानि। आदिविषयानुपूर्वीकलितानि षड्दिग्भ्यश्चैव।।४।।

आत्मप्रदेशैः सहैकक्षेत्रावस्थितान्येव न त्वात्मप्रदेशैः स्पृष्टान्यप्यात्मप्रदेशावगाहक्षेत्राद्बहिरवस्थितानि।।२।। तान्यप्यनन्तरावगाढा-न्येव न परम्परावगाढानि। येष्वात्मप्रदेशेषु यानि भाषाद्रव्याण्यवगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येव गृह्णाति न त्वेक-द्वित्रात्मप्रदेश-व्यवहितानि।।३।। तान्यपि भाषायोग्यस्कन्धानां मिथ एव प्रदेशस्तोकबाहुल्याऽपेक्षयाऽणूनि बादराणि च न त्वन्यथा।।४।। तानि च

'न त्वन्यथा' इति। **यद्यपि** विशेषावश्यकभाष्यादौ भाषाद्रव्येषु निश्चयतः सूक्ष्मत्वमेवोक्तं, न तु बादरत्वमपि **तथापि** अत्र भाषायोग्यस्कन्धानां अन्यभाषायोग्यस्कन्धप्रदेशस्तोकबहुत्वमधिकृत्याऽणुत्व-बादरत्वे कथिते इति न विरोधः। यानि स्वेतरभाषास्कन्धप्रदेशापेक्षया स्तोकप्रदेशानि तान्यणूनि, यानि च स्वेतरभाषास्कन्धप्रदेशापेक्षया प्रभूतप्रदेशो-पचितानि तानि बादराणीत्येवं व्याख्यानं कर्तव्यम् न तु भाषायोग्यस्कन्धानामौदारिकादिस्कंधप्रदेशस्तोकबहुत्वम-पेक्ष्याऽणुत्वं बादरत्वं च व्याख्यातव्यम्। तथा सति सर्वेषामेव भाषाद्रव्याणामौदारिकस्कन्धप्रदेशापेक्षया प्रदेश-बाहुल्याऽविशेषात्स्थूलत्वं प्रसज्येत यद्वा मनआदियोग्यस्कन्धप्रदेशापेक्षया प्रदेशस्तोकत्वाऽविशेषादणुत्वं प्रसज्येत। न चेष्टमेतदिति। अत्र च **'प्रदेशस्तोकबाहुल्याऽपेक्षया'** इत्यनेनाऽवगाह-क्षेत्र-कालस्थिति-वर्णगन्धरसादिस्तोकबाहुल्या-पेक्षया नाणुत्वबादरत्वे भाषायोग्यस्कन्धानामित्यपि प्रदर्शितमिति ध्येयम्।

भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है? आशय यह है कि-जीव जिन आकाशप्रदेशों में रहता है उन आकाशप्रदेशों में रहे हुए भाषाद्रव्यों में से जिन भाषाद्रव्यों को जीव जिन आत्मप्रदेशों से ग्रहण करता हैं वे भाषाद्रव्यस्कंध क्या उन्हीं आत्मप्रदेशों के ही आधारभूत आकाशप्रदेशों में रहते हैं या अन्य आत्मप्रदेशों के आधारभूत अन्य आकाशप्रदेशों में रहते हैं?

इस प्रश्न को हम ऐसे भी पूछ सकते हैं कि - जिन जीवप्रदेशों में अर्थात् जीवप्रदेश अवगाहित आकाशप्रदेशों में ये भाषाद्रव्य रहते हैं उनको जीव क्या उन्हीं आत्मप्रदेशों से ग्रहण करता है या अन्य व्यवहित=अंतरित आत्मप्रदेशों से ग्रहण करता है?

समाधान :- जिन आत्मप्रदेशों से जीव अवगाढ भाषायोग्यद्रव्यों को ग्रहण करता है, वे भाषाप्रायोग्य द्रव्य उन आत्मप्रदेशों में = उन आत्मप्रदेशों से अवगाहित आकाशप्रदेशों में ही रहते हैं, अन्य आत्मप्रदेशों में = अन्य आत्मप्रदेशों से अवगाहित आकाशप्रदेशों में नहीं रहते हैं। आशय यह है कि जिन जीवप्रदेशावगाहित आकाशप्रदेशों में ये भाषायोग्यद्रव्य रहते हैं उनको जीव उन आत्मप्रदेशों से ही ग्रहण करता है। भिन्न आत्मप्रदेश में रहे हुए भाषाद्रव्यों को भिन्न आत्मप्रदेशों से जीव ग्रहण नहीं कर सकता है, यह तात्पर्य है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि विवरणकार ने 'येषु आत्मप्रदेशेषु यानि भाषाद्रव्याणि अवगाढानि' ऐसा कहा है वह उपचार से कहा है। यद्यपि आत्मप्रदेशों में तो भाषाद्रव्य अवगाहित नहीं होते है किन्तु आकाशप्रदेशों में ही भाषाद्रव्य रहते हैं तथापि आधेयभूत आत्मप्रदेशों से आधारभूत आकाशप्रदेशों के अभेद का उपचार कर के आकाशप्रदेशों को ही 'आत्मप्रदेश' कहा गया है।३।

जिज्ञासा :- जीव जिन अनन्तर अवगाढ भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है वे क्या अणू=सूक्ष्म होते हैं या बादर=स्थूल होते हैं?

समाधान :- जीव जिन अनन्तर अवगाढ भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है वे अणु भी होते हैं और बादर भी होते हैं। अमुक भाषायोग्यद्रव्यों में अन्य भाषायोग्यस्कंध की अपेक्षा अल्प परमाणु हो तब वे भाषायोग्यद्रव्यों उन भाषायोग्यस्कंध की अपेक्षा से अणु कहे जाते हैं। जब अन्य भाषायोग्य स्कंध की अपेक्षा अमुक भाषा द्रव्यों में अधिक परमाणु हो तब वे अन्य भाषायोग्य स्कंध की अपेक्षा बादर=स्थूल कहे जाते हैं। मगर भाषाद्रव्य को अन्य औदारिक आदि की अपेक्षा से या कालस्थिति आदि की अल्पता और अधिकता की अपेक्षा से किसी भाषाद्रव्य को अणु या बादर नहीं कहा जाता है। आशय यह है कि-जीव जिन भाषायोग्य द्रव्यों को ग्रहण करता है वे सभी प्रदेशों=परमाणु की अपेक्षा परस्पर समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं।४।

जिज्ञासा :- जीव जिन आकाशप्रदेशों में रहता है उन आकाशप्रदेशों के उर्ध्वभाग में ही ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्य रहते हैं या अधोभाग में भाषाद्रव्य रहते हैं या मध्यभाग में भाषाद्रव्य रहते हैं?

* स्वावगाहक्षेत्रस्थित भाषाद्रव्य का ग्रहण *

समाधान :- जीव जिन आकाशप्रदेशों में रहता है उन आकाशप्रदेशों में उपर, नीचे और मध्यभाग में ग्रहणयोग्य भाषाद्रव्य

जीवस्य यावति क्षेत्रे ग्रहणयोग्यानि भाषाद्रव्याण्यवस्थितानि तावत्येव क्षेत्रे **ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गानि**।।५।। तानि चान्तर्मुहूर्तिकस्य ग्रहणोचितकालस्याऽऽदावपि मध्येऽपि तिर्यगपि, आदिशब्दस्योपलक्षणत्वात्।।६।। तान्यपि **स्वविषयाणि** स्पृष्टादीनि न पुनरविषयाणि तद्व्यतिरिक्तानि।।७।। तान्यप्या**नुपूर्वीकलितानि** 'आनुपूर्वी नाम ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं तया कलितानि, न पुनरनीदृशानि।।८।।

'ऊर्ध्वं' इति। अत्र च जीवावगाहिताकाशप्रदेशात्मकक्षेत्राऽपेक्षयैवोर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं द्रष्टव्यम्। **'तिर्यगपि'** = भाषाद्रव्यग्रहणोचितकालपर्यवसानसमयेऽपीत्यर्थः। **'उपलक्षणत्वादिति'**। अत्र स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्वं उपलक्षणत्वं ज्ञेयम्। अत्र श्लोकस्थादिपदस्योपलक्षणत्वाद्ग्रहणप्रथमसमयवद् ग्रहणद्वितीयादिपर्यवसानसमयस्याप्यादिपदाद् भानमिति। **'स्वविषयाणी'**ति स्पृष्टावगाढानन्तरावगाढाख्यानि। **'तद्व्यतिरिक्तानि'** = स्पृष्टादिव्यतिरिक्तानि।

ग्रहणाऽपेक्षयेति। भाषायोग्यद्रव्यग्रहणाऽपेक्षया। अयं भावः सूक्ष्मपुद्गलग्रहणं योगानुसारितया भवति। यदा यदा योगः प्रबलो भवति तदा तदा प्रभूतपरमाणुनिष्पन्नान् सूक्ष्मस्कंधान् जीवो गृह्णाति, यदा यदा च योगो मन्दो भवति तदा तदाऽल्पपरमाणुनिष्पन्नान् सूक्ष्मस्कन्धान् सर्वात्मप्रदेशैः जीवो गृह्णाति। एकस्मिन्नपि समये विवक्षितात्मप्रदेशेन सूक्ष्मस्कन्धग्रहणे विवक्षितसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धादारभ्य क्रमिकवृद्धिप्राप्तविवक्षितसङ्ख्यापर्यन्तपरमाणुनिष्पन्नान् महदन्तरालविनिर्मुक्तान् सर्वान् स्कन्धान् युगपद् गृह्णाति, न तु तन्मध्यात्कांश्चित् परित्यजति न वाऽन्यान् महदन्तरालान् स्कन्धान् जीवो गृह्णाति। तथाहि - प्रकृते प्रबलयोगेनाऽसत्कल्पनया त्रिंशत्सहस्रादारभ्य क्रमशः चत्वारिंशत्सहस्रपर्यन्तसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नान् भाषाद्रव्यस्कन्धान् युगपदेव गृह्णाति न तु तन्मध्यगतसङ्ख्याकान् काँश्चित् भाषाद्रव्यस्कंधान् त्यजति न वाऽन्यान् कांश्चित् पञ्चाशदादि-लक्षादिसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नान् भाषाद्रव्यस्कन्धान् गृह्णाति। कदाचिद्विवक्षितात्मप्रदेशावगाढाकाशप्रदेशे त्रिंशत्सहस्रादितः प्रारभ्य चत्वारिंशत्सहस्त्रपर्यन्तपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धमध्यात् पञ्चत्रिंशत्सहस्रादिसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्ना भाषाद्रव्यस्कन्धा न भवन्ति तदा तद्व्यतिरिक्तशेषक्रमिकवृद्धिप्राप्तत्रिंशत्सहस्रादिचत्वारिंशत्सहस्रपर्यन्तपरमाणुनिष्पन्नान् विवक्षितात्मप्रदेशाधिकरणीभूताकाशप्रदेशनिष्ठान् भाषाद्रव्यस्कन्धान् गृह्णाति। यदा च जघन्ययोगः तदाऽसत्कल्पनया द्विशतपरमाणुनिष्पन्नभाषास्कन्धादारभ्य क्रमशः पञ्चशतपर्यन्तपरमाणुनिष्पन्नान् सर्वसङ्ख्याकभाषायोग्यद्रव्यस्कन्धान् युगपद् गृह्णाति, न तु विवक्षितात्म-प्रदेशावगाढाकाशप्रदेशवृत्तितन्मध्यात् कतिचित्संख्याकस्कंधान् विजहाति न वाऽन्यान् कांश्चिद् गृह्णाति।

स्यादेतत् - ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं नाम भाषाद्रव्यग्रहणापेक्षया सामीप्यम्। विवक्षितात्मप्रदेशावगाढाकाशप्रदेशेऽनन्ता भाषाद्रव्यस्कन्धा भवन्ति। तन्मध्याद् ये समीपाः तान् जीवो विवक्षितात्मप्रदेशद्वारा गृह्णाति न तु

अवश्य रहते हैं तथा जीव अपने आधारभूत आकाशप्रदेशों के ऊर्ध्व, अधः मध्यभाग में ही रहे हुए भाषाद्रव्यों को ग्रहण भी करता है।५।

जिज्ञासा :- भाषायोग्य द्रव्यों को जीव ग्रहणकाल के प्रारंभ में ग्रहण करता है या मध्य में ग्रहण करता है या अंत में ग्रहण करता है?

समाधान :- भाषाद्रव्यों के ग्रहण का जघन्यकाल एक समय का है और उत्कृष्टकाल असंख्यसमयप्रमाण अंतर्मुहूर्त काल है। ग्रहणकाल के प्रारंभ, मध्य और अंत में जीव अवश्य भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। जब तक ग्रहणप्रयत्न समाप्त न हो, तब तक जीव भाषाद्रव्यों को सतत ग्रहण करता है।६।

जिज्ञासा :- जीव जिन भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है वे क्या जीव के विषय होते हैं या नहीं?

समाधान :- आप भी कमाल करते हैं! प्रश्नों का लम्बा-चौडा पर्वत खडा कर देते हैं। हमने पूर्व में ही बता दिया है कि - जीव स्पृष्ट-अवगाढ, अनन्तर अवगाढ भाषाद्रव्यों को ही ग्रहण करता है वे तो जीव के विषयभूत ही होते हैं, अविषयभूत नहीं। जीव के अविषयभूत भाषाद्रव्य अस्पृष्ट, अनवगाढ, परंपर अवगाढ होते हैं, जिनका ग्रहण जीव कदापि नहीं करता हैं।७।

तानी च नियमात् षड्दिग्भ्य आगतानि गृह्णाति न तु तिसृभ्यश्चतसृभ्यो वा दिग्भ्यः, भाषकाणां नियमात्त्रसनाड्यामवस्थानेन तेषां दूरवर्तिस्कंधानिति **चेत्? नैतत्** चारु, दूरत्व-सामीप्य-समीपतरत्वादिभावानां भिन्नाकाशप्रदेशवृत्तिद्रव्येष्वेव संभवात्, न त्वभिन्नगगनप्रदेशावगाढद्रव्येषु। अतो विवक्षितात्मप्रदेशे वर्तमानेषु भाषाद्रव्यस्कन्धेषु विवक्षितात्मप्रदेशद्वारा ग्राह्येषु न सामीप्यादिकं घटामञ्चति। विवक्षितात्मप्रदेशावगाढाकाशप्रदेशात्पृथगात्मप्रदेशाऽवगाढभाषास्कन्धेषु सामीप्यमुपपाद्य क्रमिकतद्ग्रहणप्रतिपादनेऽपसिद्धान्तप्रसङ्गात्। अतो ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं नाम ग्रहणभाषाद्रव्यापेक्षया क्रमिकत्वम्। तच्च प्रदर्शितरीत्या ग्रहणभाषाद्रव्यघटकीभूतपरमाणुगताऽल्पबहुसङ्ख्याकत्वापेक्षयैव कोटिमाटीकते।

एवञ्च ग्राहकापेक्षयापि यथासन्नत्वं संभवति। तथाहि समीप-समीपतरात्मप्रदेशेषु समधिकन्यूनयोगतारतम्यं भवति न त्वत्यधिकन्यूनयोगतारतम्यम्। अतो विवक्षितात्मप्रदेशसमीपतरात्मप्रदेशद्वारा गृह्यमाणेषु भाषास्कन्धेषु विवक्षितात्मप्रदेशद्वारेण गृह्यमाणभाषास्कन्धापेक्षया विशेषाधिकन्यूनसंख्याकपरमाणुनिष्पन्नत्वं भवति न तु द्वित्रिगुणाधिकन्यूनसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नत्वम्। असत्कल्पनया विवक्षितात्मप्रदेशेन जीवो यदा त्रिंशत्सहस्रादिचत्वारिंशत्सहस्रपर्यन्तपरमाणुनिष्पन्नान् भाषास्कन्धान् गृह्णाति तदैव तत्समीपवर्त्याकाशप्रदेशावगाढान् पञ्चाशदधिकत्रिंशत्सहस्रादिशताधिकचत्वारिंशत्सहस्रपर्यन्तसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नान् भाषाद्रव्यस्कन्धान् विवक्षितात्मप्रदेशीययोगसमधिकयोगविशिष्टतत्समीपवर्त्यात्मप्रदेशेन गृह्णाति तथाऽन्यसमीपाकाशप्रदेशवृत्तीन् पञ्चाशन्न्यूनत्रिंशत्सहस्रादिनवत्रिंशत्सहस्रपर्यन्तसङ्ख्याकपरमाणुनिष्पन्नान् भाषाद्रव्यस्कन्धान् विवक्षितात्मप्रदेशीययोगविशेषन्यूनयोगविशिष्ट-तत्सन्निहितऽऽत्मप्रदेशेन गृह्णातीति तावद् वयमवगच्छामः।

ननु सूक्ष्मतरभाषाद्रव्यस्कन्धग्रहणे समर्थोऽपि द्वीन्द्रियादिः कथं सूक्ष्मवैक्रियस्कन्धग्रहणेऽसमर्थः? न हि क्षेत्रगृहादिक्रयणे समर्थः पुमान् कदल्यादिक्रयणेऽसमर्थो भवतीति **चेत्? मैवम्,** योग्यतानतिक्रमेणैव योगानां सूक्ष्मस्कन्धग्रहणे सामर्थ्यात्। अत एव सूक्ष्मतमकार्मणस्कन्धग्रहणे समर्थस्यापि द्वीन्द्रियादेः सूक्ष्मसूक्ष्मतरवैक्रियाहारकादिस्कन्धग्रहणेऽशक्तत्वमुपपद्यते। दृष्टं हि स्वर्णभाजनभेदे समर्थस्याऽपि पारदस्याऽलाबुपात्रभेदेऽसामर्थ्यम्। केवलं यो जीवो यज्जातीयद्रव्यग्रहणे समर्थः स मन्द-मन्दतर-मन्दतम-तीव्र-तीव्रतरादियोगानुसारेणाल्पाऽल्पतराऽल्पतम-प्रभूत-प्रभूततरादिपरमाणुनिष्पन्नान् तज्जातीयद्रव्यस्कंधान् गृह्णाति। क्वचित् तद्ग्रहणे जीवेच्छाऽपि

जिज्ञासा :- जीव आनुपूर्वीयुक्त भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है या अनानुपूर्वी द्रव्यों को ग्रहण करता है?

समाधान :- जीव आनुपूर्वीयुक्त भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है, आनुपूर्वीरहित भाषाद्रव्यों को नहीं। आनुपूर्वी का अर्थ है ग्रहण की अपेक्षा से क्रमिकता। जीव अपने योगवीर्य के अनुसार भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। देखिये, मानो कि एक जीव भाषाद्रव्यों को तीव्र योग से ग्रहण करता है तब यद्यपि भाषाद्रव्यों का स्कंध अनन्त परमाणु-निष्पन्न होता है तथापि असत् कल्पना से अपने योग के अनुसार ३०००० परमाणुओं से निष्पन्न भाषाद्रव्यों के स्कंध से लेकर ३०००१, ३०००२, ३०००३ यावत् ४०००० परमाणुओं से निष्पन्न भाषाद्रव्यों को एक ही काल में ग्रहण करता है। ३०००० और ४०००० परमाणुओं से निष्पन्न अलग भाषाद्रव्यों के स्कंध में से किसी स्कंध को जीव ग्रहण नहीं करता है ऐसा नहीं है और क्रम को तोडकर २०००० परमाणुओं से निष्पन्न या ५०००० परमाणुओं से निष्पन्न भाषायोग्य स्कंध का ग्रहण जीव नहीं करता है।८।

जिज्ञासा :- आपको हम ज्यादा परेशान नहीं करेंगे। एक अंतिम प्रश्न आपसे करते हैं कि जीव क्या एक दिशा में से आये हुए भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है? या दो दिशा में से आये हुए भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है? या छ दिशाओं में से आये हुए भाषाद्रव्यों का ग्रहण करता है?

समाधान :- भाषाद्रव्यों का ग्रहण त्रस जीव करते हैं, पृथ्वी आदि स्थावर जीव नहीं। ये त्रस जीव त्रसनाडी में ही रहते हैं। त्रस जीवों जिस स्थान में रहते हैं ऐसे स्थान को त्रसनाडी कहते हैं, जो कि १ राज व्यासवाली है और १४ राज लम्बी है। असंख्य योजन को १ राज कहते हैं। इसका स्वरूप लोकप्रकाशादि ग्रन्थों में से द्रष्टव्य है। त्रस जीव त्रसनाडी में जहाँ रहते हैं वहाँ उनको

[1]षड्दिगागतानामेव पुद्गलानां ग्रहणसम्भवात्।।९।। आलापकश्चात्र **प्रज्ञापनायामे**वानुसन्धेयः।।४।।

सहकारिणी यथा भाषाद्रव्यग्रहणादौ। क्वचिच्चेच्छामृतेऽपि तज्जातीयद्रव्यग्रहणं योगानुसारेण निरंतरं भवति यथा कार्मणादिद्रव्यग्रहणे। संभवति चेदमपि यदुत प्रभूततमपरमाणुनिष्पन्नभाषावर्गणाग्रहणेऽसमर्थोऽपि मन्दवचोयोगवान् जीवः तीव्रतरमनोयोगसाचिव्येन पुष्कलपरमाणुनिष्पन्नमनोद्रव्यग्रहणे शक्तो भवतीति।

इदं त्ववधेयं यथा जीवः सर्वैरेवाऽऽत्मप्रदेशैः भाषाद्रव्यस्कन्धान् गृह्णाति तथैव सर्वैरेवाऽऽत्मप्रदेशैः भाषात्वेन परिणम्य मुञ्चति। **न चैवं** मुखवत् हस्तपादादिदेशावच्छेदेनाऽपि भाषोत्पादप्रसङ्ग इति **वाच्यम्** इष्टापत्तेः, नवरमयं विशेषो यदुतास्माभिः कण्ठताल्वाद्यभिघातेन भाषास्कन्धेषु व्यक्तोऽस्माभिर्ग्राह्यो भाषापरिणाम उत्पाद्यते, हस्तादिदेशावच्छिन्नात्मप्रदेशेषु सामग्रीविशेषविरहात् न तैर्व्यक्तचकारादिशब्दपरिणामाधानं संभवति, किन्तु अव्यक्तः शब्दपरिणामस्तु जन्यत एव। अव्यक्तत्वञ्चाऽस्मादृशापेक्षया बोध्यं न तु योगिप्रभृत्यपेक्षया, तेषां तदवबोधसमर्थत्वात्। **इत्थमेव** ध्यानस्थदशायां कण्ठताल्वाद्यभिघातव्यापाररहितानामपि योगिविशेषाणां कर्णविवरादिदेशावच्छेदेनार्हमादिनादोऽस्माभिरपि ग्राह्यः सम्प्रत्यपि उपलभ्यमान **उपपद्यते**। अतो मुखविवरादितो भिन्नावयवावच्छेदेनाऽपि भाषापरिणामाधानविशिष्टानामेव भाषाद्रव्यस्कन्धानां परित्यागो व्यवहितयोगिचाक्षुषानुरोधेन नेत्राऽप्राप्यकरित्वमिवाऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति **दिक्**।

भाषकाणामिति। यद्यपि त्रसनाड्यामपि अधोलोकान्ते ऊर्ध्वलोकान्ते च व्याघातात्पञ्चभ्यो दिग्भ्यो भाषाद्रव्याण्यागच्छन्ति तथाऽपि तत्र तेषां ग्राहकस्याऽभावात् षड्दिग्भ्य आगतानि गृह्णातीत्युक्तमिति ध्येयम्।

अलापकश्चेति। स चैवं तत्र वर्तते- 'ताइं किं पुट्ठाइं गेण्हति अपुट्ठाइं गेण्हति?, गो.! पुट्ठाइं गेण्हति नो अपुट्ठाइं गेण्हति, जाइं भंते! पुट्ठाइं गेण्हति ताइं किं ओगाढाइं गेण्हति अणोगाढाइं गेण्हति?, गो.! ओगाढाइं गेण्हति नो अणोगाढाइं गेण्हति, जाइं भंते! ओगाढाइं गेण्हति ताइँ किं अणंतरोगाढाइं गेण्हति परंपरोगाढाइं गेण्हति?, गो.! अणँतरोगाढाइं गिण्हति नो परंपरोगाढाइं गेण्हति जाइं अणंतरोगाढाइं गेण्हति ताइं भंते! किं अणूइं गेण्हति बायराइँ गेण्हति?, गो.! अणूइंपि गेण्हति बायराइंपि गेण्हति, जाइं भंते! अणूइं गेण्हति ताइं किं उड्ढं गेण्हति अधे गेण्हति तिरियं गेण्हति?, गो.! उड्ढंपि गेण्हति अधेवि गेण्हति तिरियंपि गेण्हति, जाइं भंते! उड्ढंपि गेण्हति अधेवि गेण्हति तिरियंपि गेण्हति ताइँ किं आदि गेण्हति मज्झे गेण्हति पज्जवसाणे गेण्हति?, गो.! आदिंपि गेण्हति मज्जेवि गेण्हति पज्जवसाणेवि गेण्हति, जाइं भंते! आदिंपि गिण्हति मज्झेवि गेण्हति पज्जवसाणेवि गिण्हति ताइं किं सविसए गिण्हति अविसए गिण्हति?, गो.! सविसए गेण्हति नो अविसए गेण्हति, जाइं भंते! सविसए गेण्हति ताइं किं आणुपुव्विं गेण्हति अणाणुपुव्विं गेण्हति?, गो.! आणुपुव्विं गेण्हति, नो अणाणुपुव्विं गेण्हति, जाइं भंते! आणुपुव्विं गेण्हति ताइं किं तिदिसिं गेण्हति जाव छद्दिसिं गेण्हति?, गो.! नियमा छद्दिसिं गेण्हति, "पुट्ठोगाढअणंतर अणु य तह बायरे य उड्ढमहे। आदिविसयाणुपुव्विं णियमा तह छद्दिसिं चेव।।१।।" (सूत्रं १६८) **तद्वृत्ति**श्चैवं- 'ताइं भंते! किं पुट्ठाइं इत्यादि। तानि भदन्त! किं स्पृष्टानि = आत्मप्रदेशसंस्पृष्टानि गृह्णाति उताऽस्पृष्टानि? भगवानाह गौतम! स्पृष्टानि = आत्मप्रदेशैः सह संस्पर्शमागतानि गृह्णाति नास्पृष्टानि, इहात्मप्रदेशैः संस्पर्शनमात्मप्रदेशावगाह-क्षेत्राद्बहिरपि सम्भवति ततः प्रश्नयति-'जाइं भंते!' इत्यादि, अवगाढानि-आत्मप्रदेशैः सह एकक्षेत्रावस्थितानि गृह्णाति न परम्परावगाढानि,

किसी दिशा में व्याघात का संभव नहीं है। अतः छ दिशाओं में से आये हुए ही भाषाद्रव्यों का जीव ग्रहण करता है तीन, चार या पांच दिशा में से आये हुए भाषाद्रव्यों को नहीं, क्योंकि जहाँ तीन, चार या पांच दिशाओं में से भाषाद्रव्य आते हैं, वहाँ कोई उसका ग्राहक=वक्ता ही नहीं है। इस विषय में अधिक जिज्ञासु को प्रज्ञापना नामक उपांग को देखने की विवरणकार सूचना करते हैं।९।

१ मुद्रितप्रतौ तु 'षड्दिग्गतानामेव' इति पाठः।

तदेवमुक्तं कीदृशानि गृह्णातीति। अथ कीदृशानि निसृजतीत्याह -

[1]भिन्नाइ कोइ निसिरइ तिव्वपयत्तो परो अभिन्नाइं। भिन्नाइ जंति लोगं, अणंतगुणवुढ्ढिजुत्ताइं।।५।।

कश्चिन्नीरोगतादिगुणयुक्तस्तथाविधादरात् **तीव्रप्रयत्नो** वक्ता **भिन्नानि** = आदाननिसर्गप्रयत्नाभ्यां खण्डशः कृतानि भाषाद्रव्याणि, **निसृजति**, **परः** = व्याधिग्रस्ततयाऽनादरतो मन्दप्रयत्नः, **अभिन्नानि** = तथाभूतस्थूलखण्डात्मकानि तानि निसृजति।

तत्र **भिन्नानि** भाषाद्रव्याणि सूक्ष्मबहुत्वाभ्यामन्यद्रव्यवासकत्वात् **अनन्तगुणवृद्धियुक्तानि** सन्ति **लोकं यान्ति** = षट्सु दिक्षु

किमुक्तं भवति?- येष्वात्मप्रदेशेषु यानि भाषाद्रव्याण्यवगाढानि तैरात्मप्रदेशैस्तान्येव गृह्णाति न त्वेकद्वित्र्यात्म-प्रदेशव्यवहितानि, 'जाइं भंते! अणंतरोगाढाइं' इत्यादि, अणून्यपि-स्तोकप्रदेशान्यपि गृह्णाति बादराण्यपि-प्रभूतप्रदेशोपचितान्यपि, इहाणुत्वबादरत्वे तेषामेव भाषायोग्यानां स्कन्धानां प्रदेशस्तोक-बाहुल्यापेक्षया व्याख्याते, मूलटीकाकारेण तथाव्याख्यानात्, 'जाइं भंते! अणूइंपि गेण्हइ' इत्यादि, ऊर्ध्वमपि अधोऽपि तिर्यगपीति, इह जीवस्य यावति क्षेत्रे ग्रहणयोग्यानि भाषाद्रव्याण्यवस्थितानि तावत्येव क्षेत्रे ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्त्वं द्रष्टव्यं, 'जाइं भंते! उड्ढंपि गेण्हइ' इत्यादि यानि भाषाद्रव्याण्यन्तर्मुहूर्त्तं यावत् ग्रहणोचितानि तानि ग्रहणोचितकालस्य उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाणस्यादावपि-प्रथमसमये गृह्णाति मध्येऽपि-द्वितीयादिष्वपि समयेषु गृह्णाति, पर्यवसानेऽपि-पर्यवसानसमयेऽपि गृह्णाति, 'जाइं भंते! आइंपि गेण्हइ' इत्यादि, स्वविषयान्-स्वगोचरान् स्पृष्टावगाढानन्तराव-गाढाख्यान् गृह्णाति, न त्वविषयान् स्पृष्टादिव्यतिरिक्तान्, 'जाइं भंते! सविसए गेण्हइ' इत्यादि आनुपूर्वी नाम ग्रहणापेक्षया यथासन्नत्वं तद्विपरीता अनानुपूर्वी, तत्रानुपूर्व्या गृह्णाति न त्वनानुपूर्व्या, 'जाइं भंते! आणुपुव्विं गेण्हइ' इत्यादि 'तिदिसि'ति त्रिदिशि गृह्णाति तिसृभ्यो दिग्भ्य आगतानि गृह्णाति एवं चतुर्दिशि पञ्चदिशि षड्दिशि च, एवमुक्ते भगवानाह - गौतम! नियमात् षड्दिशि गृह्णाति-षड्भ्यो दिग्भ्य आगतानि गृह्णाति, भाषको हि नियमात् त्रसनाड्यां, अन्यत्र त्रसकायासम्भवात्, त्रसनाड्यां च व्यवस्थितस्य नियमात् षड्दिगागतपुद्गलसम्भवात्। एतेषामेवार्थानां सङ्ग्रहणिगाथामाह-'पुट्ठोगाढअणंतरमि'त्यादि प्रथमतः स्पृष्टविषयं सूत्रं तदनन्तरमवगाढसूत्रं ततोऽनन्तरावगाढसूत्रं ततोऽणुबादरविषयं सूत्रं तदनन्तरमूर्ध्वाधःप्रभृतिविषयं सूत्रं तत 'आइ' इति उपलक्षणमेतत् आदिमध्यावसानसूत्रं ततो विषयसूत्रं तदनन्तरमानुपूर्वीसूत्रं ततो नियमात् षड्दिशीतिसूत्रं (प्र. भा. सू. १६८ म. वृ.) इति। व्यक्तमेव सर्वमिदं विशेषतो निरूपितार्थञ्च।।४।।

इस तरह नोआगम से तद्व्यतिरिक्त ग्रहण द्रव्यभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार नोआगम से तद्व्यतिरिक्त निसरण द्रव्यभाषा के निरूपण के बारे में एक शंका को उठाते हैं। वह शंका इस प्रकार है कि - 'जीव भाषाद्रव्यों का ग्रहण कैसे करता है? यह तो ज्ञात हुआ, मगर गृहीत भाषाद्रव्यों का निसरण=विसर्जन कैसे होता है? यह तो संदिग्ध ही है'। इसका समाधान पंचम श्लोक से ग्रंथकार देते हैं।

गाथार्थ :- तीव्र प्रयत्नवाला कोई जीव भिन्न भाषाद्रव्यों को छोडता है और अन्य कोई मन्द प्रयत्नवाला जीव अभिन्न भाषाद्रव्यों को छोडता है। अनंतगुणवृद्धि से युक्त भिन्न भाषा द्रव्य लोक में फैलते हैं।५।

विवरणार्थ :- भाषाद्रव्यों के ग्रहण और त्याग करनेवाले जीव दो प्रकारके होते हैं तीव्र प्रयत्नवाले और मंद प्रयत्नवाले। पूर्ण स्वास्थ्यवाला जीव समर्थ होने से उसका भाषाद्रव्यग्रहणविषयक प्रयत्न और भाषाद्रव्य निसरणविषयक प्रयत्न तीव्र होता है। तीव्र प्रयत्नवाला जीव ग्रहणप्रयत्न से भाषाद्रव्यों के टूकडे टूकडे कर के उन्हें ग्रहण करता है ओर निसरणप्रयत्न से भाषाद्रव्यों के अधिक सूक्ष्म खंड खंड कर के उनका त्याग करता है। अतः तीव्र प्रयत्न से निसृष्ट=त्यक्त भाषाद्रव्यों को भिन्न निसरण भाषाद्रव्य कहते हैं। जब कि रोगग्रस्त होने से कोई दुर्बल जीव मंद प्रयत्न से भाषाद्रव्यों को छोटे छोटे खंड बनाये बिना ही ग्रहण करता है, और मन्द प्रयत्न से ही, उन भाषा द्रव्यों को टुकडे बनाये बिना ही, छोडता है तब वे निसृष्ट भाषाद्रव्य अभिन्न निसरण भाषाद्रव्य कहे जाते हैं।

लोकान्तं व्याप्नुवन्तीत्यर्थः। तथा च पारमर्ष "[1]जीवे णं भंते! जाइं दव्वाइं भासत्ताए गहिआइं णिसिरइ ताइं किं भिण्णाइं णिसिरइ अभिण्णाइं निसिरइ? गोयमा! भिन्नाइं पि णिसिरइ, अभिण्णाइं पि णिसिरइ। जाइं भिण्णाइं णिसिरइ ताइं अणंतगुणपरिवुड्ढिए परिवुढ्ढ-माणाइं लोअंतं फुसंति त्ति।। (प्र.भा.सूत्र १६९) **भाष्यकारोऽप्याह**" [2]कोई मंदपयत्तो णिसिरइ सयलाइं[3] चेव दव्वाइं अन्नो तिव्वपयत्तो सो मुंचइ भिंधिउं [4]ताइं।। भिन्नाइं सुहमयाए, अणंतगुणवढ्ढियाइं लोगंतं। पाविंति पूरयंति य भासाइ निरंतरं लोगं।। (वि.आ.भा. गाथा ३८०-३८२)।।५।।

'षट्सु' इत्यादि। **ननु** निसृष्टानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमये एव षट्सु दिक्षु लोकान्तं व्याप्नुवन्ति। अतोऽस्मिन् विषये सूक्ष्मबहुत्वाभ्यामन्यद्रव्यवासकत्वादिति कथनमसङ्गतमिति **चेत्? मैवम्**, सूक्ष्मबहुत्वाभ्यामन्यद्रव्यवासकत्वादिति न षट्सु दिक्षु लोकान्तं व्याप्नुवन्तीत्यत्र हेतुः किन्तु भाषाद्रव्याणामनन्तगुणवृद्धियुक्तत्वे हेतुः। भाषाद्रव्याणां लोकान्त-व्याप्तौ चानन्तगुणवृद्धियुक्तत्वं न हेतुविशेषणं किन्तु संपूर्णलोकव्याप्तौ हेतुविशेषणमिति विवेकः।

ननु भाषाद्रव्याणि किं शब्दपरिणामं त्यक्त्वा लोकान्तं प्राप्नुवन्ति यदुताऽत्यक्त्वा? आद्ये पक्षेऽपसिद्धांतः। द्वितीये चासङ्ख्ययोजनदूरस्थानामपि शब्दश्रवणं प्रसज्येत। **मैवम्**, श्रोत्रग्राह्यत्वस्य शब्दपरिणामव्यापकत्वाभावेन न तदभावात्तदभावसिद्धिः। श्रोत्रस्य द्वादशयोजनपरत आगतभाषाद्रव्यग्रहणेऽशक्तत्वान्न तद्ग्रहणं। नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति। **'सयलाइं'**त्ति। सकलानि सम्पूर्णानि = अखण्डितानि, अभिन्नानीति यावदिति ***श्रीहेमसूरिभिस्तद्वृत्तौ*** व्याख्यातम्। **'निरन्तरं'** इति। सम्पूर्णमित्यर्थः। लोकव्याप्तिश्च त्रिसामयिकी चतुःसामयिकी पञ्चसामयिकी यथा भवति तथा ***विशेषावश्यकभाष्यतो*** [वि.आ.मा.३७९-३९०] विस्तरतो विज्ञेया।।५।।

* भिन्न निसरण भाषाद्रव्यों की लोकव्यापिता *

'तत्र.' इत्यादि। तीव्र प्रयत्नवाला जीव ग्रहणप्रयत्न से और निसरणप्रयत्न से भाषाद्रव्यों का अनेक सूक्ष्म खंड बनाता है। अतः वे निसरण भाषाद्रव्य अन्य भाषापरिणमनयोग्य द्रव्यों को वासित करते हैं = उनमें शब्दपरिणाम को उत्पन्न करते हैं। अतः वक्ता जितनी संख्या में भिन्न भाषा द्रव्यों को छोडता हैं उनकी अपेक्षा अनंतगुण अन्य भाषापरिणमनयोग्य द्रव्यों में भाषापरिणाम उत्पन्न होता है। इस तरह निसरण भाषाद्रव्यों अनंतगुण वृद्धि से बढते हुए छ दिशाओं में लोकांत तक फैल जाते हैं। यहाँ विवरणकार प्रज्ञापना आगम का हवाला देते हैं जिसका अर्थ यह है - "गौतमस्वामी महावीर भगवंत से प्रश्न करते हैं कि, हे भगवंत! जीव भाषारूप से जिन द्रव्यों को ग्रहण करके छोडता है वे क्या भिन्न होते हैं या अभिन्न होते हैं? इसका समाधान देते हुए प्रभु महावीरस्वामी कहते हैं कि - 'हे गौतम! जीव भिन्न भाषाद्रव्यों को भी छोडता है और अभिन्न भाषाद्रव्यों को भी छोडता है। उनमें से भिन्न भाषाद्रव्य अनंतगुण वृद्धि से बढते हुए लोकांत को छूते हैं।"

'भाष्यकारो.' इत्यादि। यहाँ श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यकभाष्य का भी हवाला दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि-'मंदप्रयत्नवाला कोई जीव संपूर्ण=अखंड=अभिन्न भाषाद्रव्यों को ही छोडता है अर्थात् स्थूलरूप से छोडता है। तीव्र प्रयत्नवाला अन्य जीव भाषाद्रव्यों का खंड खंड=टुकडा कर के उन्हें छोडता है। जो भाषाद्रव्य भिन्न होते हैं वे अतिसूक्ष्म होते हैं। अतः अनंतवृद्धि से युक्त वे भाषाद्रव्य लोकांत को प्राप्त करते हैं और भाषाद्रव्यों से सकल लोक को पूर्ण कर देते हैं' विशेषावश्यक भाष्य के उपर्युक्त दो श्लोकों के अर्थ से भी निसरण भाषाद्रव्य के दो प्रकार सिद्ध होते हैं और सूक्ष्म होने से अन्य भाषाद्रव्य को वासित कर के अनंतगुणवृद्धियुक्त होते हुए संपूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं।।५।।

१ जीवो भदन्त! यानि द्रव्याणि भाषातया गृहीतानि निसृजति तानि किं भिन्नानि निसृजति, अभिन्नानि निसृजति? गौतम! भिन्नान्यपि निसृजति, अभिन्नान्यपि निसृजति। यानि भिन्नानि निसृजति तान्यनन्तगुणवृद्ध्या परिवर्धमानानि लोकान्तं स्पृशति।।

२ कश्चिन्मन्दप्रयत्नो निसृजति सकलान्येव द्रव्याणि। अन्यस्तीवप्रयत्नः स मुञ्चति भेदयित्वा तानि।। भिन्नानि सूक्ष्मतयाऽनन्तगुणवर्धितानि लोकान्तं। प्राप्नुवन्ति पूरयन्ति च भाषया निरंतरं लोकम्।।

३ अत्र मुद्रितप्रतौ "सकलाई...भिन्नाइ...वट्ठियाइ" इति पाठः।

४ अत्र मुद्रितप्रतौ 'ताई' शब्दः "भिन्नाइ" श्लोक - स्यादौ वर्तते। भिन्नानि कश्चिन्निसृजतितीव्रप्रयत्नः परोऽभिन्नानि। भिन्नानि यान्ति लोकमनन्तगणिवृद्धियुक्तानि।।५।।

अथाऽभिन्नानि कथं भवन्तीत्याह -

[1]भिज्जन्ति अभिन्नाइं अवगाहणवग्गणा असंखिज्जा। गंतुं व जोयणाइं संखिज्जाइं विलिज्जंति।।६।।

अभिन्नानि भाषाद्रव्याणि **असङ्ख्येया अवगाहनावर्गणाः**, अवगाहना नामैकैकस्य भाषाद्रव्यस्याऽऽधारभूता असंख्येयप्रदेशात्मक-क्षेत्रविभागरूपाः, तासां वर्गणाः = समुदायास्ताः, **गत्वा**=अतिक्रम्य, **भिद्यन्ते**=विशरारुभावं बिभ्रति, विशरारूणि च पुनस्तानि **संख्येयानि योजनानि गत्वा विलीयन्ते** = शब्दपरिणामं विजहतीत्यर्थः।

तथा च सूत्रम्-''[2]जाइं अभिण्णाइं णिसिरइ ताइं असंखेज्जाओ ओगाहणवग्गणाओ गंता भेदमावज्जंति। संखेज्जाइं जोयणाइं गंता विद्धंसमावज्जंति त्ति (प्र.भा.सूत्र १६९) **भाष्यमपि** ''[3]गंतुमसंखेज्जाओ अवगाहणवग्गणा अभिन्नाइं। भिज्जंति धंसमेंति य, संखेज्जा जोयणा गंतुं[4]।। (वि.आ.भा.श्लो. ३८१)।।६।।

'भिद्यन्त' इति विशरारुभावं बिभ्रतीति, खण्डशो भवन्तीत्यर्थः। अभिन्नभाषाद्रव्याणां भिन्नभाषाद्रव्याणामिव खण्डशो भवनमन्यभाषायोग्यद्रव्यवासकत्वे हेतुरिति ध्येयम्। **न चैवं** सति भिन्नभाषाद्रव्याणामभिन्नभाषाद्रव्येभ्योऽभिन्नत्वं प्रसज्येत; अन्यद्रव्यवासकत्वाविशेषादिति **वाच्यम्** प्रथमत एव भिन्नत्वाऽभिन्नत्वविशेषात्, लोकान्तप्राप्त्यप्राप्तिविशेषात्, तथाविधानन्तगुणवृद्धियुक्तत्वायुक्तत्वविशेषाच्च तद्विशेषसिद्ध्या अभिन्नभाषाद्रव्याणामप्यन्यद्रव्यवासकत्वाऽभ्युपगमे न क्षतिः, अन्यथा 'भाष्यमाणा एव भाषा' इति वक्ष्यमाणनियमात् जीवसूक्ष्मपुद्गलयोरनुश्रेणिगतिनियमाच्च भाषकदिग-पेक्षयाऽन्यदिक्स्थश्रोतॄणां तदश्रवणप्रसङ्गादिति **दिक्**। **'संख्येयानि'** इति। **ननु** यानि भाषाद्रव्याणि न लोकान्तं प्राप्नुवन्ति नापि संख्येययोजनात्परं शब्दपरिणामं जहति किन्तु तथाविधप्रयत्नवशादसंख्येययोजनात्परं शब्दपरिणामं विजहति तेषां कुत्राऽन्तर्भाव इति **चेत्? उच्यते** संपूर्णलोकव्यापित्वाभावात्तानि न भिन्नानि निसरणभाषाद्रव्याणि किन्त्वभिन्नानि निसरणभाषाद्रव्याणि 'सङ्ख्येयानि'पदस्योपलक्षणत्वात्तथाविधासङ्ख्येययोजनस्यापि ग्रहणमित्य-स्माकमाभाति। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति। **'शब्दपरिणामं विजहती'**ति। विवक्षितककारादिशब्दपरिणामं विजहतीत्यर्थः।

इस तरह नोआगम से तद्व्यतिरिक्त निसरणद्रव्यभाषा के प्रथमभेद भिन्न निसरणद्रव्यभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि - 'नोआगम से तद्व्यतिरिक्त निसरण द्रव्यभाषा के द्वितीय भेदरूप अभिन्न निसरणद्रव्यभाषा का आगे क्या होता है?' इसका समाधान स्वयं ग्रंथकार छट्ठे श्लोक से कर रहे हैं।

गाथार्थ :- अभिन्न भाषाद्रव्य असंख्य अवगाहनावर्गणा का उल्लंघन कर के भिन्न होते हैं और संख्यात योजन आगे चल कर विलीन होते हैं।६।

*** अभिन्न भाषाद्रव्यस्वरूप ***

विवरणार्थ :- उपर्युक्त गाथा में अभिन्न भाषाद्रव्य असंख्य अवगाहनावर्गणा प्रमाण क्षेत्र तक जा कर भिन्न=खंडित होते हैं, यह कहा गया है। भाषाद्रव्यों के स्कंध अंगुल के असंख्यभाग प्रमाण आकाशप्रदेशों में रहते हैं। अतः तादृश असंख्य आकाशप्रदेशात्मक क्षेत्रविभाग यहाँ अवगाहना शब्द से वाच्य है। तादृश अवगाहनाओं के समूहों को अवगाहना वर्गणा कहते हैं। अर्थात् भाषाद्रव्यों के अनंतस्कंध के आश्रयभूत विशेषक्षेत्र को अवगाहनावर्गणा कहते हैं। जब वक्ता मंद प्रयत्न से असंख्यगुण क्षेत्र तक समश्रेणि में अखंडित रूप से गमन करने के बाद खंडित होते हैं यानी उनके टुकडे टुकडे हो जाते हैं और अपने आसपास में रहे हुए भाषापरिणमन योग्य द्रव्यों को वासित करते हैं। अभिन्न भाषाद्रव्य भिन्न होने के बाद वक्ता के प्रयत्न के अनुसार संख्यात योजन तक दूर जा कर शब्दपरिणाम को छोड देते हैं। भिन्न भाषाद्रव्य की तरह अभिन्न भाषाद्रव्य भी भिन्न होकर अन्य भाषापरिणामयोग्य

---

१ भिद्यन्तेऽभिन्नानि अवगाहनावर्गणा असङ्ख्येया। गत्वा वा योजनानि सङ्ख्येयानि विलीयन्ते।।६।।

२ यानि अभिन्नानि निसृजति तान्यसंख्येया अवगाहनवर्गणा गत्वा भेदमापद्यन्ते संख्येयानि योजनानि गत्वा विध्वंसमापद्यन्ते।

३ गत्वा असंख्येया अवगाहनवर्गणा अभिन्नानि। भिद्यन्ते ध्वंसं यन्ति च संख्येयानि योजनानि गत्वा।।

४ अत्र 'धंसमिति य संखिज्जे जोयणे गंतु' इति विशेषावश्यकभाष्ये पाठः।

अथ योऽयं भाषाभेदः क्रियते स कतिविध इति प्रसङ्गादाह-

से भेए पंचविहे खंडे पयरे अ चुन्निआभेए। अणुतडियाभेए तह, चरिमे उक्करिआभेए।।७।।[1]

स=पूर्वोक्तः, **भेदः** = भाषाद्रव्याणां यथावस्थितानामवयवविभागः[2], **पञ्चविधः** = पञ्चप्रकारः। **खंडेति** खंडभेदः प्रथमः, **पयरेति** प्रतरभेदो द्वितीयः; **चूर्णिकाभेदस्तृतीयः** तथेति समुच्चये; **अनुतटिकाभेदश्चतुर्थः**; **चरमः** = सूत्रोक्तक्रमापेक्षयाऽन्तिम, **उत्करिकाभेद**

तेन च मंदप्रयत्ननिसृष्टभाषाद्रव्याणां सङ्ख्येययोजनात्परं भाषावर्गणारूपेण विनाशानियमः सूचितः।।६।।

'प्रसङ्गादि'ति। प्रसङ्गसंगत्येत्यर्थः। प्रसङ्गसङ्गतित्वं चोपस्थितविषयनिष्ठोपेक्षानर्हतावच्छेदकधर्मवत्त्वम्। भिन्नभाषाद्रव्यनिरूपणे विशेषणतयोपस्थितो भेद उपेक्षां नार्हतीति तन्निरूपणं न्याय्यमित्यर्थः। अनेन पूर्वोत्तर-श्लोकयोरेकवाक्यता प्रतिपादिता। तदुक्तं ***चिंतामणिवृत्तौ भवानंदेन*** 'सङ्गतिप्रदर्शनस्य फलमेकवाक्यताप्रतिपत्ति'रिति (त. चि. अनुमानखंड भवानंदवृत्ति पृ. ४)। एवमन्यत्राऽपि सङ्गतिभावना कार्या। **'भेदः'** इति ***तत्त्वार्थसिद्धसेनीयवृत्तौ*** "एकत्वद्रव्यपरिणतिविश्लेषो भेदः। स च पुद्गलपरिणामो भिद्यमानवस्तुविषयत्वात्; तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेर्भिन्नद्वयमेव भेद" इत्येवमुक्तम्। **'यथावस्थिताना'**मित्यनेन पूर्वरूपापरित्यागेनाऽवयवविभागो भेदः इत्यर्थः प्राप्तः। 'पञ्चविध' इति। अनेन भेदविभागः प्रतिपादितः। सामान्यतोऽवगतानां विशेषरूपेण परस्परसङ्कराऽसमावेशपरिहारपूर्वमभिधानं विभागः। विभागस्य न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदपरत्वादेव पञ्चविधत्वं लब्धं तथापि विप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पञ्च-विधग्रहणम्। **अनेन** "भेदः षट्प्रकारः - उत्करः चूर्णः खण्डः चूर्णिका, प्रतरोऽणुचटनं चेति ***तत्त्वार्थश्रुतसागरीय-वृत्ति***वचन**मपास्तं** मन्तव्यम् चूर्ण-चूर्णिकयोरविशेषात्, अनुतटिकाभेदासमावेशात्, भेदानात्मकस्याऽणुचटनस्य भेद-रूपेण प्रदर्शनाच्च। यत्तु तत्र "अतितप्तलोहपिण्डादिषु द्रुघणादिभिः कुट्यमानेषु अग्निकणनिर्गमनमणुचटनमुच्यते" (तत्त्वा. श्रुतसागरीयवृत्ति ५।२४) इति ***श्रुतसागरेण*** **प्रदर्शितम्**, **तच्चायुक्तम्**; अतप्तलोहपिण्डकुट्टनान्नवीनाग्न्युत्पाद-स्येव तप्तलोहपिण्डकुट्टनादपि नवीनाग्न्युत्पादस्याऽवयवविभागरूपभेदानात्मकत्वात्, अन्यथा मातुर्योनितः पुत्र-निर्गमनस्याऽप्यतिरिक्तभेदप्रसङ्गेन भेदेयत्ता विशीर्येतेति **दिक्**। **"सूत्रोक्तक्रमापेक्षया"** = प्रज्ञापनासूत्रोक्तानुपूर्व्यपेक्षया;

द्रव्यों को वासित करते हैं। अन्य भाषाद्रव्यों को वे वासित न करे तो वक्ता की विदिशा में रहे हुए श्रोता को शब्द श्रवण न होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि सूक्ष्म भाषाद्रव्यों की गति समश्रेणि में ही होती है।

शंका :- वाह! जंगल में मोर नाचा किसने देखा? भाषाद्रव्यों जैसे अतीन्द्रिय पदार्थ के भेद आदि का निरूपण शास्त्रप्रमाण बिना कैसे मान्य होगा? क्या आपकी बात का समर्थक कोई आगमवचन है?

समाधान :- जी हाँ, इस विषय में प्रमाणभूत अनेक शास्त्रवचन उपलब्ध हैं। सर्वप्रथम शास्त्रप्रमाणवादी आपको हम प्रज्ञापना आगम का साक्षीपाठ देते हैं। यह रहा शास्त्रपाठ, कान खोल कर सुनिये - 'जीव जिन अभिन्न भाषाद्रव्यों को छोडता है, वे असंख्य अवगाहना वर्गणा तक दूर जा कर खंडित=भिन्न होते हैं और उससे आगे संख्यात योजन जा कर वे शब्दरूप से नष्ट होते हैं'। दूसरा शास्त्रपाठ विशेषावश्यक भाष्य का है। देखिये, 'असंख्यात अवगाहनावर्गणा (प्रमाणक्षेत्र) तक दूर जा कर अभिन्न भाषाद्रव्य भिन्न होते हैं और संख्यात योजन दूर जा कर वे शब्दरूप से नष्ट होते हैं।' इन शास्त्रवचनों के बल पर अभिन्न भाषाद्रव्य के सम्बन्धी वह बात सिद्ध होती है, जो हमने बताई है।।६।।

नोआगम से तद्व्यतिरिक्त भिन्न - अभिन्न निसरणद्रव्यभाषा में विशेषणरूप से प्रविष्ट भेद की उपस्थिति होने से उसकी उपेक्षा करनी समीचीन न होने से प्रकरणकार प्रसंगतः सातवीं गाथा से भेद के स्वरूप और प्रकारों का निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- भेद के पाँच प्रकार हैं (१) खंड भेद, (२) प्रतर भेद, (३) चूर्णिका भेद, (४) अनुतटिका भेद (५) और अन्तिम उत्करिका भेद।।७।

---

१ स भेदः पञ्चविधः खंडः प्रतरश्च चूर्णिकाभेदः। अनुतटिकाभेदस्तथा चरम उत्करिकाभेदः।।७।।

२ प्रकरणकारहस्तलिखितप्रतौ "अवयविभागः" इति पाठः। स चाऽशुद्धो भाति।

इति। तता च पारमर्षम्[१] "एतेसिं णं भंते! दव्वाणं कतिविहे भेदे पण्णत्ते? गोयमा! पंचविहे भेए पण्णत्ते। तं जहा खंडाभेए, पयरभेए, चुण्णिआभेए, अणुतडियाभेए, उक्करिआभेएत्ति। (प्र. भा. सू - १७०)।।७।।

अथैतेषां भेदलक्षणान्याह-

[२]अयखंडवंसपिप्पलिचुण्णदहेरंडबीअभेअसमा। एए भेअविसेसा, दिट्ठा तेलुक्कदंसीहिं।।८।।

एते भेदविशेषास्त्रैलोक्यदर्शिभिः = भगवद्भिः; **अयःखण्डवंशपिप्पलीचूर्णह्रदैरण्डबीजभेदसमा द्रष्टाः**। तथा च "अयः खण्डादिभेदवदितरभेदापेक्षं भेदनिष्ठं वैलक्षण्यमेव खण्डभेदादीनां लक्षणम्। तच्च जातिरूपमुपाधिरूपं वेत्यन्यदेतत्।

न तु तत्त्वार्थभाष्योक्तक्रमापेक्षया, **तत्त्वार्थभाष्ये** च "भेदः पञ्चविधः, औत्कारिकः चौर्णिकः खण्डः प्रतरः अनुतट इति (तत्त्वा. भा. ५।२४) एवमुक्तत्वेन तदपेक्षया उत्करिकाभेदस्याऽऽनुपूर्व्या प्रथमत्वप्रसङ्गादिति।।७।।

'अयःखण्डादीति। अस्तित्वरूपेणाऽयःखंडादिभेदापेक्षं नास्तित्वरूपेण वंशादिभेदापेक्षं भेदवृत्ति प्रतिनियतं वैलक्षण्यं खण्डभेदलक्षणम्। अस्तित्वरूपेण वंशादिभेदापेक्षं नास्तित्वरूपेणाऽयःखंडादि-पिप्पलीचूर्णादिभेदापेक्षं भेदवृत्ति प्रतिनियतं वैलक्षण्यं प्रतरभेदलक्षणम्। एवमन्यत्राऽपि भावना कार्या। खण्डभेदलक्षणे 'नास्तित्वरूपेण वंशादिभेदापेक्षं' इत्यनुक्तौ वंशादिभेदवृत्तिधर्ममादाय प्रतरभेदेऽतिव्याप्तिः स्यात् अतो व्यभिचारवारकत्वेन तस्य सार्थकत्वम्। भेदनिष्ठमित्यनुक्तावसम्भवदोषापातः स्यात्। प्रतिनियतमित्यनुक्तावयःखंडवृत्ति-त्रपुखण्डाद्यवृत्तिधर्ममादाय त्रपुखण्डादिभेदेऽव्याप्तिः स्यात्। **'तच्च जातिरूपं'** इति। यथावस्थितानां भाषाद्रव्याणामवयवविभागरूपभेदः पुद्गलपरिणामरूपो विभज्यमानवस्तुविषयत्वात्, तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेर्भिन्नद्वयमेव भेदः। तथा च सति भेदवृत्तिप्रतिनियतवैलक्षण्यस्य जातित्वाङ्गीकारेऽयस्त्वादिना साङ्कर्यप्रसङ्गात्। तथाहि - अयोगोलके तादृशवैलक्षण्यं नास्ति अयस्त्वं चास्ति, ताम्रखंडे तादृशवैलक्षण्यमस्ति अयस्त्वं च नास्ति, अयःखंडे चोभयमस्तीति यदि परो ब्रूयात् तदा तं प्रति कल्पान्तरबोधनार्थं **'उपाधिरूपं वे**'त्येवं वाकार उपन्यस्तः। अत्रोपाधिः बहुपदार्थघटितधर्मात्मकः सखण्डो ग्राह्य इति

✱ भेद के ५ प्रकार ✱

विवरणार्थ :- भिन्न भाषाद्रव्य का अर्थ है भेदयुक्त भाषाद्रव्य। इसके विशेषणरूप भेद का अर्थ है यथावस्थित भाषाद्रव्यों के अवयवों का विभाग। अर्थात् भाषा के स्वरूप में रहते हुए ही भाषाद्रव्यों के अवयवों का विभाग। इसके पाँच प्रकार हैं। प्रथम खंडभेद, द्वितीय प्रतरभेद, तृतीय चूर्णिका भेद, चतुर्थ अनुतटिका भेद और आगमोक्त क्रम की अपेक्षा अन्तिम उत्करिका भेद।

प्रकरणकार ने जो भेद बताये हैं इस विषय में प्रज्ञापना ग्रंथ साक्षी है। देखिये, प्रज्ञापना का वचन - "हे भगवंत! इन भाषाद्रव्यों के कितने भेद आपने बताये हैं?" ऐसे गौतमस्वामीकृत प्रश्न के प्रत्युत्तर में महावीर भगवंत कहते है कि - 'हे गौतम! इन द्रव्यों के भेद पाँच प्रकार के होते हैं। देखो, खंड भेद, प्रतर भेद, चूर्णिका भेद, अनुतटिका भेद और उत्करिका भेद।" यह वचन पूर्वधर श्रीमद् श्यामाचार्य का है।।७।।

अब प्रकरणकार इन भेदों के लक्षणों को ८ वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- लोहे का टुकडा, बाँस, पिप्पली का चूर्ण, तालाब, एरंड बीज - इनके भेदों के समान द्रव्यों के भेद त्रिलोकदर्शी ने देखे हैं।८।

✱ खंड भेद आदि का लक्षण ✱

विवरणार्थ :- पाँच भेद क्रमशः लोहे का टुकडा, बाँस, पिप्पली चूर्ण, तालाब के तट का भेद, एरंड बीज के भेद के समान है, ऐसा त्रिलोकदर्शी भगवंतों ने देखा है। आगम में खंडभेदादि का निरूपण इन द्रष्टांतों से किया है। इन द्रष्टांतों के बल पर

१ एतेषां भदन्त! द्रव्याणां कतिविधो भेदः प्रज्ञप्तः? गौतम! पञ्चविधो भेदः प्रज्ञप्तः, तद्यथा, खण्डभेदः, प्रतरभेदः, चूर्णिकाभेदः, अनुतटिकाभेदः, उत्करिकाभेद इति।

२ अयःखंडवंशपिप्पलीचूर्णह्रदैरण्डबीजभेदसमाः। एते भेदविशेषा द्रष्टास्त्रैलोक्यदर्शिभिः।।८।।

तथा चाभिहितम् - [1]से किं तं खंडाभेए? खंडाभेए जण्णं अयखंडाण वा तउखंडाण वा तंबखंडाण वा सीसगखंडाण वा रययखंडाण[2] वा जातरूपखंडाण वा खंडएण भेदे भवति से त्तं खंडाभेए।१। से किं तं पयरभेए? पयरभेए जण्णं वंसाण वा वेत्ताण वा णलाण वा कदलीथंभाण वा अब्भपडलाण वा पयरभेएणं भेदे भवति से त्तं पयरभेदे।२। से किं तं चुण्णियाभेदे? चुण्णिआभेदे जण्णं तिलचुण्णाण वा मुग्गचुण्णाण वा मासचुण्णाण वा पिप्पलीचुण्णाण वा [3]मिरियचुण्णाण वा सिंगबेरचुण्णाण वा चुण्णिआए भेदे भवति

ध्येयम्। अयःखंडादीनां तादृशवैलक्षण्यविषयताव्यापकविषयतावत्त्वात्तदज्ञाने तादृशवैलक्षण्यज्ञानं न संभवतीत्यतो घटकत्वात् अयःखण्डादिनिरूपणार्थं संवादमाह **'तथा चे'**त्यादिना। **'से किं'** इत्यादि। अत्र **प्रज्ञापनावृत्तौ** च भेदनिरूपणे **मलयगिरिसूरिभिः** "खण्डभेदो लोहखण्डादिभेदवत्, प्रतरभेदोऽभ्रपटलभूर्यपत्रादिवत्, चूर्णिकाभेदः क्षिप्तपिष्टवत्, अनुतटिकाभेद इक्षुत्वगादिवत्, उत्करिकाभेदः स्नत्याघर्षवदि"त्युक्तम्। ***तत्त्वार्थवृत्तौ*** तु "तत्रौत्कारिकः समुत्कीर्यमाणदारुप्रस्थकभेरीबुन्दाघर्षादिविषयः; अवयवशश्चूर्णनं चौर्णिकः क्षिप्तपिष्टमुष्टिवत्, खण्डशो विशरणं खण्डभेदः क्षिप्तमृत्पिंडवत्, प्रतरभेदोऽभ्रपटलभूर्यपत्रादिषु बहुतिथपुटोच्छोटनलक्षणः अनुतटभेदस्तु वंशेक्षुयष्टित्वगुत्पाटनमिति (तत्त्वा. ५।२४ वृत्ति) **सिद्धसेनगणिनोक्तम्**। प्रज्ञापनायां वंशभेदः प्रतरभेदे दर्शितः। तत्त्वार्थवृत्तौ त्वनुतटभेदे दर्शितः। "दार्वादीनां क्रकचकुठारादिभिः उत्करणं भेदनं उत्कर" इति (तत्त्वा. ५।२४. श्रु. वृत्ति) **श्रुतसागरेणोक्तम्**। **'वंसाण'** इति। अत्र वंशो दीर्घदारुविशेषो ग्राह्यो न तु पुत्रपौत्रपरम्परानुगतशरीरसंततिप्रवाहरूप इति। **'तलागाण'** इति। सरःतडागयोर्भेदो **धर्मसंग्रहवृत्तौ** 'अखातं सरः, खातं तु तडागमित्यनयोर्भेदः' (धर्मसंग्र. श्लो. ५४ वृत्ति) एवं प्रतिपादितः। **प्रज्ञापनावृत्तौ मलयगिरिसूरिभिः** "अवटाः कूपाः, तडागानि प्रतीतानि, ह्रदा अपि प्रतीताः, नद्यो गिरिनद्यादयः, वाप्यः चतुरस्राकाराः, ता एव वृत्ताकाराः पुष्करिण्यः, दीर्घिका ऋज्व्यो नद्यः, वक्रा नद्यो गुञ्जालिकाः,

---

विवरणकार खंडभेदादि का लक्षण बताते हैं। जो सभी लक्ष्य में रहे और अलक्ष्य में न रहे उसे लक्षण कहते हैं। अतः जब लक्षण बनाना हो तब सब लक्ष्य में रहनेवाले और अलक्ष्य में न रहनेवाले विशेष धर्म को ढूंढना चाहिए और वह विशेषधर्म ही अपने अभीष्ट लक्ष्य का निर्दोष लक्षण बनता है। सामान्य भेद आदि का लक्षण बताया गया है। अतः यहाँ विशेषभेद यानी खंडभेद आदि का लक्षण बताया जाता है। खण्ड भेद के लिए शास्त्र में लोहे का टुकडा, कलइ का टुकडा आदि द्रष्टांत दिये गये हैं और प्रतर भेद आदि के लिए वंशभेद आदि का द्रष्टांत बताया गया है। अतः लोहे का टुकडा, कलइ का टुकडा आदि की अपेक्षा से खंडभेद में एक विलक्षणधर्म रहता है जो वंशभेद आदि में नहीं रहता है। वह वैलक्षण्य ही खंड भेद का लक्षण है, जो लोहे का टुकडा कलइ का टुकडा आदि खंडभेद के सभी लक्ष्यों में रहता है और अलक्ष्यभूत वंशभेद आदि में, जो कि प्रतरभेदादि के द्रष्टांत हैं, नहीं रहता है। अतः लोहे के टुकडे आदि खंडभेद की अपेक्षा भेद में रहनेवाला और वंशभेद आदि की अपेक्षा से भेद में नहीं रहनेवाला अर्थात् नास्तित्वरूप से वंशभेद आदि की अपेक्षा से भेद में रहनेवाला वैलक्षण्य ही खण्डभेद का निर्दोष लक्षण प्राप्त होता है। यदि खंडभेद के लक्षण में तादृशवैलक्षण्यरूप विशेष्य का 'इतरभेदापेक्ष' अर्थात् "वंशभेदादि की अपेक्षा से नहीं रहनेवाला" ऐसा विशेषण न लगाया जाय तब अयःखंडादि की अपेक्षा प्रतिनियत भेदत्वरूप वैलक्षण्य लेकर प्रतर भेद आदि में अतिव्याप्ति दोष आयेगा। अतः व्यभिचारदोषनिवारक होने से वह विशेषण सार्थक है। इस तरह अन्य विशेषणों की विचारणा भी स्वयं समझ लें। विशेष जिज्ञासु **मोक्षरत्ना** टीका देख सकते हैं।

---

१ अथ कः स खंडभेदः? खंडभेदो यत् अयःखंडानां वा त्रपुखंडानां वा ताम्रखण्डानां वा सीसकखंडानां वा रजतखंडानां वा जातरूपखंडानां वा खंडत्वेन भेदो भवति स तत्खंडभेदः। अथ कः स प्रतरभेदः? प्रतरभेदो यत् वंशानां वा वेत्राणां वा नलानां वा कदलीस्तम्भानां वा अभ्रपटलानां वा प्रतरत्वेन भेदो भवति स तत्प्रतरभेदः। अथ कः स चूर्णिकाभेदः? चूर्णिकाभेदो यत्तिलचूर्णानां वा मुद्गचूर्णानां वा माषचूर्णानां वा पिप्पलीचूर्णानां वा मिरिचचूर्णानां वा शृंगबेरचूर्णानां वा चूर्णतया भेदो भवति स तच्चूर्णिकाभेदः। अथ कः स अनुतटिकाभेदः? अनुतटिकाभेदो यदगडानां वा तडागानां वा ह्रदानां वा वापीनां वा पुष्करिणीनां वा दीर्घिकानां वा गुञ्जानां वा गुञ्जालिकानां वा सरसां वा सरस्सरसां वा सरःपंक्तीनां वा सरस्सरःपंक्तीनां वा अनुतटिकाभेदो भवति स तदनुतटिकाभेदः। अथ कः स उत्करिकाभेदः? उत्करिकाभेदो यद् मूषाणां वा मंडूसानां वा तिलशिम्पानां वा मुद्गशिम्पानां वा माषशिम्पानां वा एरण्डबीजानां वा स्फुटिता उत्करिकतया भेदो भवति स तदुत्करिकाभेद इति।

से त्तं चुण्णिआभेदे।३। से किं तं अणुतडियाभेदे? अणुतडियाभेदे जण्णं अगडाण वा तलागाण वा दहाण वा नदीण वा वावीण वा पुक्खरिणीण वा दीहिआण वा गुंजाण वा गुंजालियाण[१] वा सराण (ग्रन्थाग्रं-१०० श्लोक) वा सरसराण वा सरपंतियाण वा सरसरपंतिआण वा अणुतडियाभेदे भवति से त्तं अणुतडियाभेदे।४। से किं तं [२]उक्कारियाभेए? उक्कारियाभेए जण्णं मूसाण वा मंडूसाण वा तिलसिंगाण वा मुग्गसिंगाण वा माससिंगाण वा एरंडबीआण वा फुडिया उक्कारि आए भेए भवति से त्तं उक्कारिआभेए त्ति।५। (प्र. भा. सू. १७०)

बहूनि केवलकेवलानि पुष्पप्रकरवत् विप्रकीर्णकानि सरांसि, तान्येवैकैकपंक्त्या व्यवस्थितानि सरःपङ्क्त्यः, येषु सरस्सु पंक्त्या व्यवस्थितेषु कूपोदकं प्रणालिकया संचरति सा सरःसरःपङ्क्तिः, अप्रतीता भेदा लोकतः प्रत्येतव्या" (प्र. भा. सूत्र १७० वृत्तिः) एवं व्याख्यातम्। ***सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसङ्ग्रहे*** तु वापीलक्षणं "कृत्रिमसरः वापी" एवमुक्तम्। **'मूसाण'** = मूषकाणां। **'मंडूसाण'** इति दर्दुराणामित्यस्माकमाभाति।

खंडभेद का जैसे लक्षण बताया है वैसे ही प्रतरभेद आदि का लक्षण भी जानना चाहिए। जैसे कि वंश का भेद आदि द्रष्टांतो की अपेक्षा से भेद में रहनेवाला और अयःखंड, पिप्पलीचूर्ण आदि द्रष्टांतों की अपेक्षा भेद में नहीं रहनेवाला प्रतिनियत वैलक्षण्य ही प्रतरभेद का लक्षण है। इस तरह वाचकवर्ग चूर्णभेद आदि के लक्षण की योजना स्वयं करे-यह विनंति। वह वैलक्षण्य जातिरूप है या उपाधिरूप? इस विषय में विवरणकार का कोइ आग्रह नहीं है। फिर भी इसे उपाधिरूप मानना समीचीन लगता है।

✱ खंडभेद आदि के द्रष्टांत ✱

खंडभेद के लक्षणभूत तादृश वैजात्य को जानने के लिए अयःखंड आदि द्रष्टांतों को और वंशभेद आदि इतर भेद के द्रष्टांतों को जानना आवश्यक है, क्योंकि वह वैलक्षण्य अयःखडादि भेदों से घटित है। अतः तादृश वैजात्य के घटकरूप अयःखण्ड आदि द्रष्टांतों को विवरणकार प्रज्ञापना आगम का शास्त्रपाठ दे कर बता रहे हैं। यह रहा वह शास्त्र पाठ, सुनिये "खंडभेद क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि - "लोहे का टुकडा, कलइ का टुकडा, तांबे का टुकडा, सीसे का टुकडा, चाँदि का टुकडा, सोने का खंड येन सब खंड भेद कहे जाते हैं। लोहे के अवयवों का विभाग=भेद खंडरूप में होने से और वंशभेद आदि से विलक्षण होने से लोहे के खंड आदि खंडभेद कहे जाते हैं।१। 'प्रतरभेद क्या है?' इस समस्या का समाधान यह है कि - "बाँस की चीरी, नेतर की चीरी, नल नाम के घांस का खडा चीर, केले के वृक्ष के स्तंभ = थड का पटल = चीर, बादलों के पड - इन सबको प्रतरभेद कहते हैं।" ।२। "चूर्णिकाभेद क्या है?" इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि - "तिल का चूर्ण, मूँग का चूर्ण, उडद का चूर्ण, पिप्पल का चूर्ण, मिर्च का चूरा, सोंठ का चूर्ण = भूका, ये सब अपने मौलिक स्वरूप का त्याग किये बिना चूर्णरूप से विभक्त होते हैं, अतः वे चूर्णभेदस्वरूप हैं। चूर्ण भेद कहो या चूर्णिका भेद कहो - दोनों एक ही है।३। अनुतटिका भेद किसे कहते हैं?" इस शंका का समाधान है - "कुँआ, तालाब, नदी, चतुष्कोण = चार कोने वाली वावडी, गोल आकारवाली वावडी जिसको द्रहपुष्करिणी कहते हैं, दीर्घिका यानी सीधी नदी, गुंजालिका यानी टेढी नदी, सरोवर, सरःसर यानी जिसमें कुँआ का पानी नीक-नल आदि से आता हो ऐसा सरोवर, सरोवरों की पंक्तियाँ, सरःसरों की श्रेणियाँ, इन सबका अनुतटिका भेद होता है।" आशय यह है कि कुएँ की दीवार, नदी आदि के तट ये सब टूटते हैं तब इनके भेद को अनुतटिका भेद कहते हैं।४। "उत्करिका भेद क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर है - "चूहे का उत्करण अर्थात् चूहा जब अपना घर (दर) बनाता है तब दो पाँवों से जमीन से मिट्टी को बाहर निकालता है वह भेद, वैसे मेंढक जमीन से मिट्टी को निकालता है वह भेद, तिल की फली, मुँग की फली, उडद की फली, एरंड के बीज ये सब फूटते हैं तब जो भेद होता है उनको उत्करिका भेद कहते हैं। उत्किरण का अर्थ है अंदर से बाहर निकालना। चूहा, मेंढक- ये सब जमीन में से मिट्टी को बाहर निकालते हैं" तिल की फली, मुँगफली आदि में से तिल आदि बाहर निकाले जाते हैं। अतः इनको उत्करिका भेद कहते हैं।५।" यह दर्शित प्रज्ञापना सूत्र का अर्थ है। इस तरह भाषाद्रव्यों के भी ये पाँच भेद होते हैं।

नैयायिक :- लोहे का टुकडा इत्यादि द्रष्टांतों से आप भाषाद्रव्यों के भेद का निरूपण करते हैं, मगर इस तरह भाषाद्रव्यों के भेद का निरूपण करने से भाषाद्रव्यों का ही नाश हो जायेगा, क्योंकि भेद होने के बाद भाषाद्रव्य ही नष्ट हो जाते हैं। आशय यह

१ 'रययखंडाण वा'... "गुंजालियाण वा " इमौ पाठौ कप्रतौ न स्तः किन्तु प्रज्ञापनायां मुद्रितप्रतौ च वर्तमानत्वेनाऽस्माभिर्गृहीतौ। ३ कप्रतौ च 'मरियचूण्णाण' अयं पाठः। २ प्रज्ञापनायां च "उक्कारियाभेदे भवति से त्तं उक्कारियाभेदे "एवं पाठः वर्तते।

न च [1]वाच्यमेवं भिद्यमानानां भाषाद्रव्याणामेव नाशापत्तिरवयवविभागाद्द्रव्याऽसमवायिकारणीभूत-विजातीयवयवसंयोगनाशादिति

नैयायिकमतं खण्डयितुमुपक्रमते **'न चेति'**। **'असमवायिकारणीभूते'** ति। अत्र समवायिकारणसमवेतत्वे सति कार्यजनकत्वम् असमवायिकारणत्वम्। **"विजातीयावयवसंयोगनाशादि"**ति। अवयवसंयोगे वैजात्यं च कार्यजनि-नियामकत्वे सति कार्यस्थितिनियामकत्वं बोध्यम्। इयमत्र ***नैयायिकानां*** प्रक्रिया - अवयवेषु क्रियोत्पत्त्यनन्तरमवयवेषु विभागोत्पादः; तदनन्तरमसमवायिकारणीभूतविजातीयावयवसंयोगनाशः, ततः कार्यद्रव्यविनाशः। न चेष्टापत्तिः स्याद्वादिभिः कर्तुं शक्यते; तथा सति भाषाद्रव्याणां सतां चतुःसमयेषु लोकव्यापित्वाभ्युपगमभङ्गप्रसङ्गादिति नैयायिकाशयः। **यद्यपि** समवायसम्बन्धस्यैवाऽसत्त्वात् समवायेन समवायिकारणवृत्तित्वे सति कार्यजनकत्वरूप-स्याऽसमवायिकारणत्वस्य विजातीयावयवसंयागेऽप्रसिद्ध्या असमवायिकारणनाशस्याऽप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वेनाऽ-प्रसिद्धत्वं दूषणं **तथापि** स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य स्याद्वादी परिहारान्तरमाह 'घट' इत्यादिना। छिद्रघटे 'स एवायं घट' इति प्रत्यभिज्ञानान्न पूर्वघटनाशः न वा छिद्रघटोत्पादः किन्तु धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीतिन्यायेन पूर्वघटे छिद्रपर्यायोत्पादः कल्प्यते। अत्र द्रव्यान्तरोत्पादानभ्युपगमेऽयमेवाशयः स्याद्वादिनाम्। **यत्तु** घटत्वावाच्छिन्ने कृतित्वेन हेतुत्वेऽपि खण्डघटाद्युत्पत्तिकाले कुलालादिकृतेरसत्त्वादीश्वरसिद्धिरिति ***दीधितिकृतोक्तं* तन्न सम्यक्**, अस्माभिस्तत्र घटे खण्डत्वपर्यायस्यैवाऽभ्युपगमात्। युक्तञ्चैतत्; प्रत्यभिज्ञोपपत्तेः। अत एव पाकेनाऽपि नान्यघटोत्पत्तिः; विशिष्टसामग्रीवशाद् विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिदविनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवादिति व्यक्तं ***सम्मतिटीकायाम्***। **एतेन** प्रत्यभिज्ञानं च ज्वालादिवत् सामान्यविषयं (प्र.भा. २६४) इति **न्यायकन्दलीकारवचनं परास्तम्** तत्र सादृश्यादिदोषेण भ्रमत्वकल्पने गौरवात्। **"विशिष्टध्वंसप्रयोजकत्वेनेति**। विशिष्टस्य ध्वंसः प्रयोजको यस्य सः, तद्भावस्तत्त्वं तेनेत्यर्थः। अयमाशयो नैयायिकानां, 'छिद्रघट उत्पन्न' इति व्यवहारात् छिद्रघटोत्पादस्य सिद्धिः। निश्छिद्रघटध्वंसस्य छिद्रघटप्रयोजकत्वेन निश्छिद्रघटध्वंसं विना छिद्रघटोत्पादस्यानुपपन्नत्वात् निश्छिद्रघटध्वंसः सिध्यति। एवमेव तार्किकमतेन भाषाद्रव्यध्वंसः सेत्स्यति। तन्निराकरोति **"अविशिष्ट"** इत्यादिना। वस्तुतोऽविशिष्टस्य तादात्म्येन विशिष्टव्यापकत्वान्न विरोधगंधोऽपि। स्याद्वादिनामयमाशयः विशिष्टोत्पादस्य विशिष्टान्तरपरिपन्थित्वेऽपि

कि किसी भी कार्य का नाश कार्य के असमवायिकारण के नाश से होता है। जो कार्य के समवायि कारण में रहता हो और कार्य का जनक हो वह असमवायि कारण कहा जाता है जैसे कि कपालद्वयसंयोग। जब घट पर दंडादि प्रहार होता है तब कपालद्वय में कर्म = क्रिया उत्पन्न होती है बाद में कपालद्वय में विभाग होता है बाद में कपालद्वयसंयोग का, जो कि घट का असमवायि कारण है, नाश होता है। इसके बाद घट का नाश होता है। इसी तरह भाषाद्रव्यों के अवयवों में कर्म = क्रिया उत्पन्न होने के बाद, अवयवविभाग उत्पन्न होगा, जो कि आपको खंडादि भेद रूप से इष्ट है। उसके बाद भाषाद्रव्य के असमवायिकारणरूप भाषा द्रव्यों के अवयवों का विजातीय संयोग नष्ट होगा। कार्य की स्थिति असमवायि कारण के अधीन होने से असमवायिकारणात्मक विजातीय अवयवसंयोग के नाश से भाषा द्रव्य का ही नाश हो जायेगा। इसका इष्टापत्तिरूप से स्वीकार करना भी स्याद्वादी के लिए मुनासिब नहीं है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर भाषाद्रव्यों की चार समय में लोकव्यापिता की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। अतः भाषाद्रव्यों के भेद का ऐसा निरूपण करना ठीक नहीं है।

* भेद पर्याय स्वीकार पक्ष में भाषाद्रव्य का नाश नहीं है *

स्याद्वादी :- जनाब! हीरे की परख तो जौहरी ही कर सकता है, कुम्हार नहीं। वैसे ही जगत् के स्वरूप का सच्चा ख्याल स्याद्वादी को ही हो सकता है, एकांतवादी को नहीं। "असमवायि कारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होता है" ऐसी आपकी मान्यता भ्रान्त है। जैसे घट की एक कंकड घट में से निकल जाती है तब पूर्व घट में छिद्रपर्याय उत्पन्न होता है, न कि नवीन छिद्रघटात्मक द्रव्य। ठीक वैसे ही पूर्व भाषाद्रव्यों में भी भेदपर्याय उत्पन्न होता है, न कि नवीन भिन्न भाषाद्रव्य। अतः भिद्यमान = भिन्न होते हुए भाषाद्रव्यों के विनाश का आपादन करना समीचीन नहीं है।

१ प्रथमं 'वाच्यं' अधिकं भाति। कप्रतौ पूर्वं पश्चाच्च 'वाच्यं' पदमस्ति, मुद्रितप्रतौ च पश्चात् 'वाच्यं' पदं नास्ति।

वाच्यम् घटे छिद्रपर्यायवत्तत्र भेदपर्यायोत्पादेऽपि द्रव्यान्तरोत्पादानभ्युपगमात्, विशिष्टोत्पादस्य च विशिष्टध्वंसप्रयोजकत्वे-नाऽविशिष्टावस्थानाऽप्रतिपन्थित्वात्, अन्यथा द्वितीयादिसमयेष्ववस्थितस्यैव घटस्य द्वितीयादिसमये विशिष्टतयोत्पादेन ध्वंसव्यव-हारप्रसङ्गात्। **न च** छिद्रघटोऽपि तद्घटभिन्न एवोत्पद्यत इति **वाच्यम्** दण्डाद्यव्यापारेण तदुत्पादस्याऽऽकस्मिकत्वात्।

नाऽविशिष्टपरिपन्थित्वम्। अतो विशिष्टान्तरध्वंसकल्पना युक्ता न त्वविशिष्टध्वंसकल्पना। छिद्रघटोत्पादस्य निच्छिद्रघटपरिपन्थित्वेन निश्छिद्रघटध्वंसः सिध्यतु किं नश्छन्नम्, किन्तु घटसामान्यध्वंसो न सिध्यति अविरोधात्। अत्र निश्छिद्रपर्यायरूपेण घटध्वंसः सिध्यति न तु घटत्वेन घटध्वंस इति हार्दम्। विपक्षे बाधमाह **अन्यथे**ति। विशिष्टोत्पादस्याऽविशिष्टपरिपन्थित्वाभ्युपगमे इत्यर्थः। उत्पत्तिसमये घटःप्रथमसमयविशिष्टः द्वितीयसमये च द्वितीयसमयविशिष्टः। अतो द्वितीयसमये द्वितीयसमयविशिष्टतयोत्पादेन त्वत्सिद्धान्ताद् घटध्वंसव्यवहारप्रसङ्गो दुर्निवार इति भावः।

नैयायिक :- "छिद्र घट उत्पन्न हुआ" उस व्यवहार से विशिष्ट घट की उत्पत्ति सिद्ध है मगर निश्छिद्र घट के रहते हुए छिद्र घट की उत्पत्ति शक्य नहीं है, क्योंकि छिद्र घट और निश्छिद्र घट परस्पर विरोधी हैं और छिद्ररहित घट का ध्वंस छिद्रघट का प्रयोजक है। अतः छिद्र घट की उत्पत्ति से निश्छिद्र घट के नाश का अनुमान होता है। वैसे ही भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति अभिन्न भाषाद्रव्य के नाश के बिना नामुमकिन हैं, क्योंकि भिन्नभाषाद्रव्य और अभिन्न भाषाद्रव्य परस्पर विरुद्ध है और अभिन्न भाषाद्रव्य का ध्वंस भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति में प्रयोजक है। अतः भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति से अभिन्न भाषाद्रव्य का नाश अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

❋ विशिष्टद्रव्यनाश सामान्य द्रव्य का विरोधी नहीं है - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- वाह! आपको यह किसने पढा दिया कि-अभिन्न भाषाद्रव्य का नाश होने पर भाषाद्रव्य का भी नाश हो जाता है? भिन्न भाषाद्रव्योत्पाद के पूर्व अभिन्नत्वरूप से भाषाद्रव्य का नाश भले हो मगर भाषात्वेन = भाषारूप से भाषा का नाश होता है, यह हमें मान्य नहीं हैं, क्योंकि भाषाद्रव्य अभिन्न भाषाद्रव्य का विरोधी नहीं हैं। आशय यह है कि भिन्न भाषाद्रव्य का अभिन्न भाषाद्रव्य के साथ विरोध है। अतः भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति के समय अभिन्नत्वेन = अभिन्नरूप से भाषाद्रव्य का ध्वंस मानना युक्तियुक्त है, मगर भिन्नभाषाद्रव्य और भाषाद्रव्य में परस्पर विरोध नहीं है बल्कि पराऽपरभाव = व्याप्यव्यापकभाव है। अतः भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति के समय भाषात्वेन = भाषारूप से भाषा का नाश मानना तर्कशून्य है। अतः भिन्न भाषाद्रव्य की उत्पत्ति के समय भी भाषात्वेन = भाषारुप से भाषासामान्य की अवस्थिति युक्तियुक्त ही है और यह 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' इस शास्त्रवचन से भी सिद्ध है। वैसे छिद्र घट की उत्पत्ति होने पर निश्छिद्ररूप से घट का नाश होता है न कि घटत्वरूप से भी, क्योंकि छिद्र घट को घट के साथ विरोध नहीं है। अतः छिद्र घट के जन्म से घटसामान्य के नाश की कल्पना करना मूर्खता ही है।

नैयायिक :- छिद्र घट के उत्पाद से घटसामान्य के ध्वंस का अनुमान लगाया जाय तो क्या दोष है? प्रत्युत निश्छिद्रघट के ध्वंस का अनुमान करने में गौरव है। अतः छिद्र घट के उत्पाद से घटसामान्य का यानी घटत्वरूप से घट का ध्वंस लाघवसहकृत अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

स्याद्वादी :- **'अन्यथा इत्यादि!'** वाह! रस्सी जल गई पर बल न गया ! उस्ताद! आपका तर्क बाधित होने से उपादेय नहीं है। यदि छिद्र घट के उत्पाद से निश्छिद्ररूप से घटध्वंस का अनुमान करने के बजाय घटत्वरूप से घटध्वंस का आप अनुमान करेंगे तब आपत्ति यह आयेगी कि - जब घट उत्पन्न होता है तब उत्पत्तिकाल में घट प्रथमसमयविशिष्ट होता है और द्वितीयादि क्षण में द्वितीयादिसमयविशिष्ट होता है। घट उत्पत्तिकाल में तो द्वितीयादिक्षणविशिष्ट नहीं होता है, किन्तु द्वितीयादि क्षण में ही द्वितीयादिक्षणविशिष्ट होता है। अतः द्वितीयादि क्षण में द्वितीयादिक्षणविशिष्ट रूप से घट की उत्पत्ति सिद्ध होती है। आपके सिद्धांत को यदि मान्यता दी जाय तब तो द्वितीयादि क्षण में मुद्गरप्रहार आदि घटनाशक सामग्री का सन्निधान न होने पर भी 'घटो ध्वस्तः' 'यह घट नष्ट हुआ' ऐसा व्यवहार प्रमाणिक हो जायेगा, क्योंकि द्वितीयादि समयविशिष्टरूप से घट की उत्पत्ति होने पर घटत्वरूप से घट का ध्वंस आपकी मान्यता के अनुसार अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। किन्तु ऐसा व्यवहार नहीं होता है। प्रसिद्ध प्रमाणिक व्यवहार का अपलाप करना आपके लिए उचित नहीं है। अतः मानना ही होगा कि विशिष्ट रूप से द्रव्य की उत्पत्ति होने पर

अथ दण्डादिकं हेतुर्घटविशेष एव न त्वत्रापीति **चेत्? अपूर्वेयं** कल्पना। अस्तु वा तथा, तथापि 'घटे छिद्रमुत्पन्नं न तु घटो विनष्ट' इति व्यवहारः कथमुपपादनीयः? इत्यधिकं **सम्मतिटीकायाम्**।

'आकस्मिकत्वात्' = निर्हेतुकत्वापत्तेरित्यर्थः। तथा सति प्रसिद्धकार्यकारणभाव-देश-कालादिनियमभङ्गप्रसंगः। तदुक्तं **धर्मकीर्तिना प्रमाणवार्तिके** नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात्। अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्व-संभवः।। ( ) किञ्च छिद्रघटस्य कार्यत्वेन 'सामग्री वै कार्यजनिके'त्यभियुक्तवचनविरोधः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां लाघवाच्च घटत्वावच्छेदेनैव दण्डादीनां कारणता न तु निश्छिद्रघटत्वावच्छेदेनेति खण्डघटोत्पादस्याऽऽकस्मिकत्व-प्रसङ्गो दुर्निवारः। ततश्च भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति सोपहासं नैयायिकंमन्यमाह - **'अपूर्वा'** इति। किञ्च कार्यकारणभावस्य घटत्वं परित्यज्य निश्छिद्रघटत्वावच्छेदेन कारणतामङ्गीकृत्य सङ्कोचकरणे मानाभावात्, कार्यतावच्छेदकधर्मे गौरवाच्चेत्यजां निष्काशयतः क्रमेलकापात इत्युपहासबीजम्। न चाकस्मिकत्वदोषवारकत्वेन गौरवस्याऽदुष्टत्वमिति वाच्यम्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्।

ननु छिद्रघटोत्पादान्निश्छिद्रघटध्वंसानुमित्यपेक्षया घटध्वंसानुमित्यङ्गीकारो युक्तः, साध्यतावच्छेदकलाघवा-दित्याशङ्कायां सत्यामभ्युपगमवादेनाह **अस्त्विति**। शेषमतिरोहितार्थम्।

पूर्वकालीन विशिष्टरूप से कार्य का ध्वंस प्रमाणसिद्ध होता है, न कि सामान्यरूप से कार्य का ध्वंस। अतः भाषाद्रव्य के सर्वथा नाश की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि भिन्नत्वरूप से भाषाद्रव्य की उत्पत्ति होने पर अभिन्नत्वरूप से भाषाद्रव्य का नाश प्रमाणसिद्ध होता है, न कि भाषात्वरूप से भाषाद्रव्य का नाश। अतः यह सिद्ध हुआ कि भाषाद्रव्य में जब भेदपर्याय उत्पन्न होता है तब पूर्वकालीन अभेदपर्याय का नाश प्रमाण से निश्चित होता है, न कि मूलतः भाषाद्रव्य का नाश।

नैयायिक :- **'न च'** इत्यादि। आप तो भाषा में भेद पर्याय की उत्पत्ति की बात करते हो और वह भी घट में छिद्रपर्याय उत्पन्न होता है इस मान्यता के आधार पर। मगर आपकी यह मान्यता निराधार है, क्योंकि घट में छिद्रपर्याय उत्पन्न नहीं होता है मगर छिद्रघटरूप नवीन द्रव्य की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा हमारा सिद्धांत है। इस सिद्धांत से ही भिन्न भाषारूप नूतनद्रव्य के उत्पाद की सिद्धि होगी, न कि पूर्वस्थित भाषा में ही भेदपर्याय की उत्पत्ति।

* छिद्रघटरूप नवीन द्रव्य के उत्पाद में दोषों की परंपरा *

स्याद्वादी :- **'दण्डा'**. इत्यादि। उस्ताद! लातों के भूत बातों से नहीं मानते-यह बात ठीक है। अब तक हमने हमारे पक्ष की ही युक्ति आपको बताई थी। अब आपके सिद्धांत में क्या क्या दोष हैं? यह भी बताते हैं। कान खोल कर सुनिए। घट में छिद्रपर्याय उत्पन्न नहीं होता है मगर छिद्रघटरूप द्रव्य उत्पन्न होता है-ऐसी आपकी मान्यता का स्वीकार यह आकस्मिक कार्योत्पाद की आपत्ति आयेगी। देखिये, कोइ भी कार्य अपनी सामग्री से उत्पन्न होता है, सामग्री के बिना नहीं। घट की कारण सामग्री दण्ड-चक्र-चीवर-कुम्हार आदि है। मगर जहाँ आपके मतानुसार छिद्र घट की उत्पत्ति होती है वहाँ कुम्हार-दंड आदि घटोत्पादक सामग्री कहाँ होती है? कुम्हार तो अपने घर में या बाजार में रहता है तब उसके बिना ही यहाँ छिद्र घट की उत्पत्ति होती है। यह तो सर्वजन से सुविदित है। अतः आपके सिद्धांत को स्वीकृति देने पर छिद्र घट की आकस्मिक उत्पत्ति का अनिष्ट प्रसंग आयेगा। 'सामग्री वै कार्यजनिका' यह अभियुक्त पुरुषों की उक्ति का भी विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि छिद्र घट की उत्पत्ति को आकस्मिक = निर्हेतुक मानने पर छिद्र घट सब देश में और सब काल में रहेगा या फिर कहाँ भी न रहेगा, क्योंकि जिसको किसीकी अपेक्षा नहीं है, वह या तो सर्वत्र सदा रहेगा या तो कहीं भी कभी भी नहीं रहेगा। किसी काल में या किसी देश में वह चीज रहती है, जिसको किसीकी अपेक्षा हो जैसे कि मकान। सोचने पर ऐसी अनेक आपत्तियाँ आपके सिद्धांत को मान्यता देने पर आती है। अतः इन सब दोषों से मुक्त होने के लिए आपको यही मानना होगा कि घट में छिद्र पर्याय उत्पन्न होता है न कि नवीन छिद्रघट'। इसी तरह "भाषाद्रव्य में भेदनाम का पर्याय = धर्म उत्पन्न होता है, न कि नूतन भिन्नभाषाद्रव्य" यह प्रमाणसिद्ध होने की वजह, निर्दोष होने से अनिच्छा से भी आपको स्वीकार करना होगा।

✱ सछिद्रघट की सामग्री भिन्न है - नैयायिक ✱

नैयायिक :- 'अथ.' इत्यादि। छिद्रघटात्मक नूतन द्रव्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य में आकस्मिकता आदि दोषों को आपने बताया है वह अरण्यरुदन समान है, क्योंकि दण्डादि भी घटविशेष यानी निश्छिद्र घट की सामग्री है, न कि घट सामान्य की यानी सछिद्र घट और निश्छिद्र घट दोनों की। यह नियम तो सर्वमान्य है कि - कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति में अपनी सामग्री की अपेक्षा रखता है, अन्य कार्य की सामग्री की नहीं। दण्डादि निश्छिद्र घट की सामग्री है, सछिद्र घट की नहीं। अतः छिद्र घट को अपनी उत्पत्ति के लिए दण्ड-चक्र-चीवर-कुम्हार आदि की अपेक्षा ही नहीं है। सछिद्र घट को तो दण्डादि से विलक्षण अपनी सामग्री की ही अपेक्षा होगी जो कि जहाँ जहाँ सछिद्रघट की उत्पत्ति होती है, वहाँ वहाँ अवश्य विद्यमान रहती ही है। आपके मत में जो छिद्रपर्याय की सामग्री है वही हमारे पक्ष में छिद्रघट की सामग्री है। अतः अब सछिद्र घट में आकस्मिकता दोष और तन्मूलक अन्य दोषों की परंपरा का आगमन नहीं होगा। अतः निश्छिद्र घट का नाश और सछिद्र घट की उत्पत्ति मानना ही युक्त है। इसी तरह अभिन्न भाषाद्रव्य का नाश और भिन्न भाषाद्रव्य का उत्पाद मानना ही तर्कसंगत रहेगा। इसी सबब पूर्वे अवस्थित भाषाद्रव्य में ही भेद पर्याय की उत्पत्ति की कल्पना करना नामुनासिब है।

✱ छिद्रघट की सामग्री घटसामग्री से भिन्न - स्याद्वादी ✱

स्याद्वादी :- **अपूर्व. इति**। वाह! आपकी यह अजायब कल्पना है। सारे जहाँ की यह दशवीं अजायबी है। विवरणकार सत्तू बाँध कर नैयायिक के पीछे पडे हैं। कभी कभी उपहास से भी नैयायिक को परास्त करते हैं। यहाँ उपहास का कारण यह है कि - दण्ड-चक्र-चीवर-कुम्हार आदि में अन्वय, व्यतिरेक और लाघव से घटत्वावच्छेदेन यानी घट सामान्य की अपेक्षा से कारणता सिद्ध होती है, क्योंकि सामान्य कार्यकारणभाव की सिद्धि के बिना विशेषकार्यकारणभाव का निर्णय नामुमकिन है। घट और दण्डादि में सामान्यतः कार्यकारणभाव निश्चित होने के बाद नील घट पीत घट आदि विशेष कार्य की सामग्री का निश्चय होता है। इस तरह जब घटसामान्य और दण्डादि के बीच कार्यकारणभाव निश्चित ही है तब तो छिद्र घट भी घट तो है ही, अतः छिद्र घट को घटसामान्य की सामग्री की तो अवश्य अपेक्षा रहेगी ही, विशेष में अन्य हेतुओं की भी अपेक्षा रहेगी। अतः छिद्रघटात्मक नूतन द्रव्य के स्वीकार में आकस्मिकता का प्रसंग तो वज्रलेप ही रहेगा।

दूसरी बात यह है कि छिद्रशून्य घट और दण्ड-चक्रादि के बीच कार्यकारणभाव मानने पर कार्यतावच्छेदक धर्म निश्छिद्रघटत्व होगा जब कि घट और दण्डादि के बीच कार्यकारणभाव मानने पर कार्यतावच्छेदक घटत्व होगा। अतः घट सामान्य में दंडादि को कारण मानने में लाघव है, जब कि निश्छिद्रघट में दंडादि को कारण मानने पर गौरव है। दार्शनिक जगत में जब लघुरूप से कार्यकारणभाव संभव हो तब गुरुतररूप से कार्यकारणभाव मान्य नहीं होता है। यह सामान्य ज्ञान भी पूर्वपक्षी बने हुए नैयायिक को नहीं है। अतः विवरणकार ने 'अपूर्वेयं' कल्पना' कह कर उपहास किया है। दूसरे भी दोष पूर्वपक्ष के सिद्धांत में रहे हैं, जिन्हें वाचकवर्ग **मोक्षरत्ना** से जान सकते हैं।

नैयायिक :- घटसामान्य और दंडादि के बीच में व्यापकरूप से यानी घटत्वरूप से कार्यकारणभाव मानने में छिद्र घट की आकस्मिक उत्पत्ति होने की आपत्ति है। अतः इस दोष से मुक्त होने के लिए व्यापकरूप से कार्यकारणभाव का त्याग कर के व्याप्यरूप से=विशेषरूप से कार्यकारणभाव मानना जरूरी है। हाँ, कार्यतावच्छेदक में गौरव जरूर है, मगर वह फलमुख होने की वजह दोषरूप नहीं है। दूधार गाय की लात भी भली! अतः निश्छिद्ररूप से ही घट की कारणता दण्डादि में मानना उचित है। अतः उपहास करना उचित नहीं है।

✱ सछिद्र घट की सामग्री अलग मानने पर व्यवहार का अपलाप ✱

स्याद्वादी :- **'अस्तु वा.'** इत्यादि। आपकी यह बात भी अन्योन्याश्रयदोषग्रस्त होने से नामुनासिब है। फिर भी 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से आपकी इस कल्पना को हम स्वीकार करते हैं। अब आपसे हमारा यह प्रश्न है कि - "घट में छिद्र पैदा हुआ है, घट नष्ट हुआ नहीं है" ऐसा जो प्रसिद्ध और प्रामाणिक व्यवहार है इसका समर्थन आपकी कल्पना के अनुसार कैसे हो सकेगा? इस लौकिक व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि - 'घट के रहते हुए हीं घट में छिद्र की उत्पत्ति हुइ है'। यह व्यवहार भी हमारी मान्यता का समर्थन करता है। आपके सिर पर इस व्यवहार के अपलाप करने का कलंक भी लगा हुआ ही है। अतः सछिद्र घट की आकस्मिक उत्पत्ति होने की आपत्ति का निवारण करने के लिए घटसामान्य और दंडादि के बीच कार्यकारणभाव को छोड कर

वस्तुतः संयोगनाशस्य न द्रव्यनाशकत्वम्, किन्त्वावश्यकत्वाद् भेदस्यैव; तस्य च न भेदत्वेन तथात्वं किन्तु भेदविशेषत्वेन। तथा च मन्दप्रयत्नोच्चरितभाषाद्रव्याणां गतिविशेषप्रयुक्तभेदस्य तद्ध्वंसजनकत्वेऽप्यादाननिसर्गप्रयत्नजनितभेदस्य न तथात्वमिति

'तद्धेतोरस्तु किं तेन?' इतिन्यायेनावयवविभागलक्षणभेदेनैव द्रव्यनाशसम्भवे किं विभागजन्यसंयोगनाशस्य द्रव्यनाशकत्वकल्पनयेत्याशयेन स्वसिद्धान्तं प्रकटयति **वस्तुत** इति प्रमाणमपेक्ष्य। **'आवश्यकत्वात्'** = द्रव्यनाशं प्रत्यनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वकत्वादित्यर्थः। ननु स्ववधाय शस्त्रोत्थापनमेतत्, भेदस्य द्रव्यनाशकत्वाभ्युपगमे भिद्यमानानां भाषाद्रव्याणां नाशापत्तिर्वज्रलेपायमानेति सिद्धं नः समीहितमित्यारेकां निराकरोति **तस्य** = भेदस्य, **च न भेदत्वेन** रूपेण **तथात्वं** = द्रव्यनाशकत्वं **किन्तु भेदविशेषत्वेन** रूपेण द्रव्यनाशकत्वम्। **न च** कारणतावच्छेदकगौरवं, यथा तव विजातीयावयवसंयोगनाशत्वेन द्रव्यनाशकारणता न त्ववयवसंयोगनाशत्वेन तथा ममाऽपि विलक्षणावयवभेदत्वेन द्रव्यनाशकारणता न त्ववयवभेदत्वेन रूपेण। तथा च न गौरवं प्रत्युत त्वदपेक्षया लाघवमपि। **गतिविशेषप्रयुक्तभेदस्य** = स्वावगाहनातोऽसंख्येयगुणक्षेत्रातिक्रमणप्रयुक्तभेदस्य, **तद्ध्वंसजनकत्वे** = अभिन्नभाषाद्रव्यत्वेन रूपेण

घटविशेष और दंडादि के बीच कार्यकारणभाव का अंगीकार करना नामुनासिब है। अतः "छिद्रपर्याय की जो सामग्री है वही छिद्रघट की सामग्री है" यह कथन भी बाधित होता है। हमारे पक्ष में तो घट की सामग्री अलग है और छिद्रपर्याय की सामग्री अलग है। अतः हमारे पक्ष में कोई दोष नहीं है। इसी तरह - "भाषाद्रव्य में भी भेदपर्याय की ही उत्पत्ति होती है, भिन्न भाषाद्रव्यरूप नूतन द्रव्य की नहीं - "यह सिद्ध होता है। इस विषय में अधिक जानकारी के लिए जिज्ञासु वर्ग को **सम्मतितर्क** की टीका देखने की प्रकरणकार सूचना करते हैं।

नैयायिक :- कार्य के असमवायि कारण का नाश होने से कार्य द्रव्य का नाश होता है। इसलिए असमवायिकारणभूत विजातीय अवयव संयोग के नाश को ही कार्य द्रव्य का नाशक मानना ठीक है।

स्याद्वादी :- आपकी यह मान्यता निराधार है। यह तो "घट में छिद्र उत्पन्न हुआ है, घट विनष्ट नहीं हुआ है" इस व्यवहार और अनुभव से ही हमने आपको दिखलाया है। क्या आप भूल गये? धन्यवाद है आपकी स्मरण शक्ति को!

नैयायिक :- हमारी मान्यता मिथ्या है - यह आपने सिद्ध किया है, वह मुनासिब है-ऐसा हम मान लेते हैं, मगर कार्यद्रव्य का नाश किससे होगा? यह तो आपने नहीं बताया है। यदि कार्य का नाशक कोई सिद्ध न होगा तब कार्यद्रव्य को अविनाशी मानने की अनिष्टापत्ति आयेगी। अतः "कार्य द्रव्य का नाशक कौन है?" इस समस्या को सबसे पहले ही हल करना उचित है।

स्याद्वादी :- **'वस्तुतः'** इत्यादि। आपकी बात ठीक है। लेकिन दुनिया में समस्याएँ होती हैं, तब उनका समाधान भी जरूर होता है। उसे अपनी बुद्धि से ढूँढना चाहिए। सुनिए, द्रव्य के असमवायिकारणरूप विजातीय अवयवसंयोग का नाश द्रव्यनाश का कारण नहीं है किन्तु कार्यद्रव्य के अवयवों का भेद ही द्रव्यनाश का कारण है, क्योंकि विजातीयावयवसंयोग के नाश को द्रव्यनाश का कारण मानने के बाद भी अवयवों के भेद को द्रव्यनाश का कारण मानना आवश्यक ही है, क्योंकि अवयवभेद भी द्रव्यनाश के अव्यवहितपूर्वकाल में अवश्य रहता है और अन्यथासिद्धिशून्य है। इसलिए विजातीय अवयवसंयोग के नाश को द्रव्यनाशक मानने के बाद भी अवयवभेद को द्रव्यनाशक मानना होगा। इस की अपेक्षा अवयवभेद को ही द्रव्यनाशक मानना उचित है।

नैयायिक :- उस्ताद! गाय के सींग गाय को भारी। आपका सिद्धांत आपको ही प्रतिकूल बना रहेगा। देखिये; जब वक्ता भाषाद्रव्य के ग्रहण का और त्याग का तीव्र प्रयत्न करेगा तब आपके सिद्धांतानुसार भाषाद्रव्य का भेद होता है और आपने भेद को द्रव्यनाश का कारण माना है। अतः ग्रहण और निसर्ग के प्रयत्न से उत्पन्न भेद ही भाषाद्रव्य का नाशक हो जायेगा। अपना सर्जक ही अपना विसर्जक = विनाशक बनेगा। तब तो हमने जो पूर्व में आपत्ति दी है वह वज्रलेप हो जायेगी।

✻ भेदविशेषरूप से भेद द्रव्यनाशक है - स्याद्वादी ✻

स्याद्वादी :- बिना सोचे आग बबूला होने की कोई जरूरत नहीं है। आप हमारे सिद्धांत को शांति से सुनो। हम भेदरूप से भेद को द्रव्यनाशक नहीं मानते हैं, किन्तु भेदविशेषरूप से भेद को द्रव्यनाशक मानते हैं। अर्थात् सब भेद कार्यद्रव्य का नाशक नहीं हैं

यथासूत्रं युक्तमुत्पश्यामः।।८।।

अथैतैरेव भेदैर्भिद्यमानानां मिथोऽल्पबहुत्वमाह-

[1]हुंति अणंतगुणाइं दव्वाइं इमेहिं[2] भिज्जमाणाइं। पच्छाणुपुव्विभेआ [3]सव्वत्थोवाइं चरमाइं।।९।।

भाषाद्रव्यध्वंसजनकत्वे, किं पुनरितरथेत्यपिशब्दार्थः। **न तथात्वं** = न भाषाद्रव्यनाशकत्वं, आदाननिसर्गप्रयत्नजभेदे भाषाद्रव्यनाशकारणताऽवच्छेदकरूपस्य भेदविशेषत्वस्याऽसत्वात्।

इदमत्र ध्येयं यदुताऽसंख्येयावगाहनावर्गणाप्रमितक्षेत्रातिक्रमप्रयुक्तभेदस्याऽभिन्नभाषाद्रव्यत्वेन भाषाद्रव्यध्वंसकत्वेऽपि न भाषाद्रव्यत्वेन रूपेण भाषाद्रव्यध्वंसकत्वम्। तथा सति संख्येययोजनगमनात्पूर्वमेव भाषात्वेन भाषाया विनष्टत्वेन "संखेज्जाइं जोयणाइं गंता विद्धंसमावज्जंति" (प्र.भा. सूत्र १६९) इत्यागमविरोधप्रसङ्गात् भाषाद्रव्याणामसंख्येयकालचक्रप्रमितस्थितिप्रतिपादकागमविरोधप्रसङ्गाच्चेति **दिक्**।।८।।

'सव्वत्थोवाइं' इति। इदञ्चाल्पबहुत्वं खण्डादिभेदभिन्नपुद्गलद्रव्याऽपेक्षया न तु जीवादिद्रव्यापेक्षया, अनधिकाराद्, बाधाच्च। नापि खंडादिभेदभिन्नभाषाद्रव्याऽपेक्षया, सूत्रस्य व्यापकत्वेन संकोचे मानाभावात्। **सूत्रप्रामाण्यादिति।** केवलिभाषितागमनिष्ठप्रामाण्यमाश्रित्येत्यर्थः। सर्वज्ञभाषितत्वात् कषछेदतापशुद्धत्वाच्च जैनागमानां प्रामाण्यम्। **एतेन** निर्ग्रन्थानामस्माकमागमानां यत् **सांख्यतत्त्वकौमुदीकारेण**-विगानात्, विच्छिन्नमूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्वा (सां.का. ५. कौ.) इत्यादिनाऽप्रामाण्यमुक्तं **तन्निरस्तम्**, विगानादीनामसिद्धेश्च। किञ्चावेदमूलकत्वस्याप्रामाण्यव्याप्यत्वाभावात् न ततः तत्सिद्धिः; हिंसादिप्रतिपादकत्वेन कषादिशुद्ध्यभावेन च वेदानामप्रमाणत्वादिति **दिक्**। **सम्प्रदायः** = अविच्छिन्नगुरुपरम्परावतीर्णोपदेश इत्यर्थः। **सप्रसङ्गं** = प्रसङ्गसङ्गत्येत्यर्थः।

अथेति। आनन्तर्यार्थः। तदुक्तम् - "अथ प्रक्रियाप्रश्नान्तर्यमङ्गलोपन्यासनिर्वचनसमुच्चयेषु इति।" अनेनाऽवसरसङ्गतिः प्रदर्शिता। अवसरस्तु विषयसिद्ध्या प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्तावनन्तरमवश्यवक्तव्यत्वम्।।९।।

किन्तु विशेषभेद = अमुक भेद ही कार्यद्रव्य का नाशक है। आशय यह है कि जिस भेद में भेदविशेषरूपता = वैलक्षण्य है वह भेद कार्यद्रव्यनाशक है, अन्य भेद नहीं। जब वक्ता भाषाद्रव्यों का मंद प्रयत्न से ग्रहण और त्याग करेगा तब वे भाषाद्रव्य - अपने अवगाह क्षेत्र से असंख्यगुण क्षेत्र तक अखंडितरूप से गति करने के बाद खंडित होगे=भिन्न होगे। भाषाद्रव्यों का गतिविशेषप्रयुक्त यह जो भेद होता है उसमें कार्यद्रव्य=भाषाद्रव्य के नाश का कारणताच्छेदक भेदविशेषत्व है। अतः वह भेद अभिन्नरूप से=अखंडितरूप से भाषाद्रव्य का नाश करेगा। मगर जब वक्ता तीव्र प्रयत्न से भाषाद्रव्यों का ग्रहण और त्याग करता है, तब उन प्रयत्नों से भाषाद्रव्य में जो भेद उत्पन्न होता है वह भाषाद्रव्य का नाशक नहीं है, क्योंकि उस भेद में भाषाद्रव्यनाश की कारणता का नियामक भेदविशेषत्वात्मक धर्म नहीं है। अतः आपने जो अनिष्ट आपादन किया है, वह गलत सिद्ध होता है। इस तरह नैयायिक के दांत खट्टे करने के बाद विवरणकार अंत में कहते हैं कि हमारी यह मान्यता आगम के अनुसार है। अतः अपसिद्धांत आदि दोषों से भी मुक्त है।।८।।

खंडादि भेदों से भिद्यमान भाषा द्रव्यों का अल्पबहुत्व प्रकरणकार ९वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- खंडादि भेदों से भिन्न होते हुए द्रव्य पश्चानुपूर्वी की अपेक्षा से अनंतगुण होते हैं। अंतिम भेद से भिन्न द्रव्य अन्य भिन्नद्रव्यों की अपेक्षा से कम = न्यून होते हैं।९।

विवरणार्थ :- खंडादि ५ भेदों से भिन्न होते हुए भाषाद्रव्य पश्चानुपूर्वी से अर्थात् पीछे से क्रमिक गिनती करने पर अनंतगुण होते

---

१ भवन्ति अनन्तगुणानि द्रव्याणि ऐभिर्भिद्यमानानि। पश्चानुपूर्विभेदात्सर्वस्तोकानि चरमाणि।।९।।

२ अत्र मुद्रितप्रतौ 'इमेहि' इति पाठो वर्तते। ३ अत्र मुद्रितप्रतौ 'सव्वत्थोवाइ' इति पाठो वर्तते।

एभिः = भेदैः, **भिद्यमानानि द्रव्याणि पश्चानुपूर्वीभेदात्** पश्चानुपूर्व्येव भेदः = यथासंख्यं गणनप्रकारः ततः, **अनन्तगुणानि भवन्ति**। तत्र च **सर्वस्तोकानि चरमाणि** = उत्करिकाभेदेन भिद्यमानानि। तथा चालापकः।

[1]*"एएसिं णं भंते! दव्वाणं खंडाभेएणं पयराभेदेणं* चुण्णिआभेदेणं अणुतडिआभेदेणं उक्कारियाभेदेण[2] च भिज्जमाणाणं कतरे कतरेहिंतोअप्पा *वां बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवाइं दव्वाइं उक्कारिआभेदेणं भिज्जमाणाइं,* [3]अणुतडिआभेदेण भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, चुण्णिआभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं, पयराभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणइं, खंडाभेदेणं भिज्जमाणाइं अणंतगुणाइं ति" (प्र. भा. सू. १७०) इदं चाल्पबहुत्वं सूत्रप्रामाण्यादेव युक्तेरविषयत्वादिति **सम्प्रदायः**।।९।।

तदेवमुक्तं सप्रसङ्गं कीदृशानि निसृजतीति। **अथ** कैः केषां पराघात इत्याह-

---

'किर' इति। किरेरहिर किलार्थे वा इति (सि.हे.श. ८।२।१८६) **सिद्धहेमशब्दानुशासनवचनात्** तस्य किलार्थ-वाचकत्वं सिद्धम्। **"अनुश्रेणि गतिः"** इति। श्रेणेरनतिक्रमणम नुश्रेणि (कात. २।५।१४), अत्राव्ययीभावसमासः। तदुक्तम् "पूव वाच्यं भवेद्यस्य सोऽव्ययीभाव इष्यते" वर्तमानोपलब्धतत्त्वार्थप्रतिषु 'अनुश्रेणिर्गतिः' (तत्त्वा. २।२७) इत्येवं सूत्रमुपलभ्यते। दिगम्बराम्नाये च 'अनुश्रेणि गतिः' इत्येवं सूत्रमुपलभ्यते किन्तु' जीवसूक्ष्मपुद्गलयोरनुश्रेणि गतिः' इत्येवं सूत्रं न क्वापि दृश्यते इति ध्येयम्।

हैं। खंडभेद, प्रतरभेद, चूर्णिकाभेद, अनुतटिकाभेद और उत्करिका भेद-इस क्रम से यहाँ भेद का निरूपण हुआ है। इस क्रम से जो अंतिम उत्करिका भेद है उससे भिन्न होते हुए द्रव्य सबसे कम होते हैं। इसका स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिए विवरणकार पन्नवणा नामक उपांग का साक्षी पाठ बताते हैं। यह रहा वह साक्षी पाठ, सुनिये, - "गौतमस्वामीजी वीरप्रभु से प्रश्न करते हैं कि - "हे भगवंत! खंडभेद, प्रतरभेद, चूर्णिकाभेद, अनुतटिकाभेद और उत्करिकाभेद से भिन्न हुए द्रव्यों में से कौन किस से अल्प हैं? कौन किससे अधिक हैं? या सब समान संख्यावाले हैं? या विशेषाधिक हैं?" इस समस्या को हल करते हुए वीर प्रभु गौतम से कहते हैं कि - "हे गौतम! उत्करिकाभेद से भिन्न द्रव्य सबसे कम होते हैं। इनकी अपेक्षा अनुतटिकाभेद से भिन्न द्रव्य अनंतगुण होते हैं। इनकी अपेक्षा चूर्णिकाभेद से भिन्न द्रव्य अनंतगुण होते हैं। इनकी अपेक्षा प्रतरभेद से भिन्न द्रव्य अनंतगुण होते हैं। इनकी अपेक्षा खंडभेद से भिन्न द्रव्य अनंतगुण होते हैं।

शंका :- भिन्नद्रव्यों के प्रस्तुत अल्पबहुत्व में क्या तर्क=युक्ति है?

समाधान :- सारे जहाँ में विषय दो प्रकार के होते हैं। हेतुवाद का विषय और आगमवाद का विषय। जिस विषय के स्वीकार में कोई तर्क-युक्ति हो वह हेतुवाद का विषय कहा जाता है। अतः हेतुवाद के विषय में विषय के स्वीकार के लिए युक्ति-तर्क की जाँच करना आवश्यक है। मगर जिस विषय के स्वीकार में कोइ युक्ति नहीं है - जैसे कि अभव्य जीवों से भव्य जीवों की संख्या अनन्तगुण होती है - वहाँ नहीं। सिर्फ सर्वज्ञ भगवंत कथित आगमवचन ही इसका समर्थक है। अतः वह आगमवाद का विषय कहा जाता है। आगमवाद के विषय का स्वीकार आगम के प्रामाण्य से ही करना पडता है। अर्थात् प्रमाणभूत आगम से कथित विषय युक्तिगम्य न होने पर भी मान्य होता है, क्योंकि वह प्रमाणभूत आगम से प्रतिपादित है। आगमवाद के विषय में युक्ति को जाँचना गधे के बालों की संख्या गिनने की तरह निष्फल है। प्रस्तुत में भी भिन्नद्रव्यों का अल्पबहुत्व आगमवाद का विषय है। प्रामाणिक आगम से प्रतिपादित होने से ही वह स्वीकर्तव्य है। यह हमारी अविच्छिन्नगुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ उपदेश है।।९।।

'तदेवं' इति! इस तरह नो-आगम से तद्व्यतिरिक्त निसरण द्रव्यभाषा के प्रसंग से "जीव कैसे भाषाद्रव्यों को छोडता है?" यह निरूपण समाप्त हुआ। अब नोआगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा के तृतीयभेद=पराघात भाषाद्रव्य का निरूपण अवसरोचित है। पराघात का अर्थ है वासित करना। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि - "किन भाषाद्रव्यों से किन भाषाद्रव्यों का पराघात होता

---

१ एतेषां भदन्त! भाषाद्रव्याणां खंडभेदेन, प्रतरभेदेन, अनुतटिकाभेदेन, उत्करिकाभेदेन भिद्यमानानां कतराणि कतरेभ्योऽल्पानि वा बहुकानि वा तुल्यानि वा विशेषाधिकानि वा? गौतम! सर्वस्तोकानि द्रव्याणि उत्करिकाभेदेन भिद्यमानानि, अनुतटिकाभेदेन भिद्यमानानि अनन्तगुणानि, चूर्णिकाभेदेन भिद्यमानानि अनन्तगुणानि, प्रतरभेदेन भिद्यमानानि अनन्तगुणानि, खंडभेदेन भिद्यमानानि अनन्तगुणानि इति।

२ अत्र मुद्रितप्रतौ "अक्कारिआभेदेणं" इति पाठः। ३ अत्र मुद्रितप्रतौ "अणुतडियाभेदेणं" इति पाठः।

[1]दव्वेहिं णिसिट्ठेहिं तप्पाओग्गाण[2] किर पराघाओ। वीसेढीए इक्को, मीसो य समाइ सेढीए।।१०।।

निसृष्टैः = ताल्वादिप्रयत्नपूर्वमुच्चरितैः, **द्रव्यैस्तत्प्रायोग्यानां** = वासनायोग्यानां द्रव्याणाम्, **किले**ति सत्ये, **पराघातो** नाम वासना भवति। स च **विश्रेण्यां एकः** = निसृष्टद्रव्यकरम्बितो भवति, निसृष्टानां भाषाद्रव्याणां सूक्ष्मतयाऽनुश्रेण्येव गमनात्। "जीवसूक्ष्मपुद्गलयोरनुश्रेणि गतिः" इति वचनात्। **समायां** = भाषकदिगपेक्षया प्रध्वरायां **श्रेण्यां मिश्रः** = निसृष्टद्रव्यकरम्बितो भवति। तथा चोक्तं **निर्युक्तिकृता** - "[3]भासासमसेढीओ सद्दं ज सुणइ मिसयं सुणइ। वीसेढी पुण सद्दं सुणेइ नियमा पराघाए" (आव. नि. श्लो. ६) इति।

"भासासमसेढीओ" इति। अत्र च" भाष्यत इति भाषा वक्त्रा शब्दतयोत्सृज्यमाना द्रव्यसंहतिरित्यर्थः। तस्याः समाः प्राञ्जलाः श्रेणय आकाशप्रदेशपङ्क्तयो भाषासमश्रेणयः; समग्रहणं विश्रेणिव्यवच्छेदार्थं भाषासमश्रेणिषु इतो गतः स्थित इत्यनर्थान्तरं भाषासमश्रेणीतः। इदमुक्तं भवति-भाषकस्य अन्यस्य वा भेर्यादेः समश्रेणिव्यवस्थितः श्रोता यं शब्दं पुरुषाश्वभेर्यादिसम्बन्धिनं ध्वनिं श्रुणोति तं मिश्रकं श्रुणोतीत्यवगन्तव्यम्। भाषकादुत्सृष्टशब्दद्रव्याणि तद्वासिता-पान्तरालस्थद्रव्याणि चेत्येवं मिश्रं शब्दद्रव्यराशिं श्रुणोति, न तु वासकमेव, वास्यमेव वा केवलमित्यर्थः। 'विसेढी पुणेत्यादि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इतिन्यायाद् विश्रेणिव्यवस्थितः श्रोताऽपि विश्रेणिरुच्यते। स विश्रेणिः पुनः श्रोता शब्दं नियमाद् = नियमेन पराघाते = वासनायां सत्यां श्रुणोति। इदमुक्तं भवति - यानि भाषकोत्सृष्टानि शब्दद्रव्याणि भेर्या-दिशब्दद्रव्याणि वा तैः पराघाते वासनाविशेषे सति यानि वासितानि समुत्पन्नशब्दपरिणामानि द्रव्याणि तान्येव विश्रेणिस्थः श्रुणोति, न तु भाषकाद्युत्सृष्टानि, तेषामनुश्रेणिगामित्वेन विदिग्गमनासम्भवात्" इत्येवं ***श्रीहेमसूरिभि-*** र्व्याख्यातं ***विशेषावश्यकभाष्यवृत्तौ*** ।।१०।।

है?" शिष्य की इस जिज्ञासा का प्रकरणकार १०वीं गाथा से शमन करते हैं।

गाथार्थ :- निसृष्ट भाषाद्रव्यों से भाषाप्रायोग्य अन्यद्रव्यों में संस्कार=पराघात होता है। यह संस्कार=पराधात विश्रेणि में एक=संपूर्ण होता है और समश्रेणि में मिश्र होता है।१०।

❋ पराघात द्रव्यभाषा ❋

विवरणार्थ :- पूर्व में तालुकंठादि स्थानों में प्रयत्न कर के छोडे हुए भाषाद्रव्यों से संस्कार के योग्य भाषाद्रव्यों में संस्कार पैदा होता है। अर्थात् वक्ता से उच्चरित शब्द संस्कारयोग्य भाषाद्रव्यों को अपने समानरूप से वासित करते हैं। जिन भाषाद्रव्यों में संस्कार होता है, इनके दो प्रकार होते हैं। समश्रेणि में यानी वक्ता के मुख की सीधी दिशा में रहे हुए और विश्रेणि में यानी वक्ता के मुख की अपेक्षा टेढी दिशा में रहे हुए। "जीव और सूक्ष्म पुद्गल की गति आकाशप्रदेश की पंक्तियों के अनुसार होती है" इस शास्त्रवचन के बल पर भाषाद्रव्यों की गति भी आकाशप्रदेशपंक्तियों के अनुसार ही होती है-यह सिद्ध होता है, क्योंकि भाषाद्रव्य सूक्ष्म पुद्गलद्रव्य है। अतः वक्ता जब शब्दोच्चारण करेगा तब वे शब्द वक्ता के मुँह से पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ऊर्ध्व और अधो दिशा, इन छ दिशाओं में आकाशप्रदेश की श्रेणि के अनुसार गतिमान होंगे और अपने मार्ग में रहे हुए भाषायोग्य अन्य द्रव्यों को भी वासित करते जायेंगे=शब्दसंस्कार को उत्पन्न करते जायेंगे। अतः वक्ता के मुँह से सीधी छ दिशाओं में वक्ता से बोले गये शब्द और उनसे वासित हुए अन्य शब्द दोनों रहेगे। मतलब यह हुआ कि वक्ता के मुख से सीधी छ दिशाओं में जो पराधात = शब्दसंस्कार होगा वह वक्ता से बोले गये शब्दों से मिश्र होगा। जब कि वक्ता के मुँह की विदिशा में = विश्रेणि रहे हुए भाषायोग्य पुद्गलो में जो संस्कार = पराघात होगा वह वक्ता से उच्चरित शब्द से = भाषाद्रव्यों से मिश्र नहीं होगा, क्योंकि भाषाद्रव्य सूक्ष्म होने से आकाशप्रदेश की पंक्तियों के अनुसार ही गति करता है। आकाशप्रदेशों की श्रेणि सरल=सीधी ही होता है, टेढी नहीं। अतः वक्ता से उच्चरित भाषाद्रव्यों का विदिशा में गमन असंभवित होने से वक्ता के मुँह की विदिशा में सिर्फ वासित भाषाद्रव्यों की ही

१ द्रव्यैर्निसृष्टैस्तत्प्रयोग्याणां किल पराघातः। विश्रेण्यामेको मिश्रश्च समायां श्रेण्याम्।।१०।।

२ मुद्रितप्रतौ तु 'तप्पाओगाण' एवं पाठो वर्तते। स चाशुद्धः।

३ भाषासमश्रेणीतः शब्दं यच्छृणोति मिश्रकं श्रुणोति। विश्रेणिः पुनः शब्दं श्रृणोति नियमात् पराघाते।।

तदेवमुक्तं कैः केषां पराघात इत्यपि। अथ ग्रहणादीनां द्रव्यभाषात्वमेव समर्थयति -

[१]पाहन्नं दव्वस्स य अप्पाहन्नं तहेव किरिआणं। भावस्स य आलंबिय गहणाइसु दव्ववएसो।।११।।

द्रव्यस्य च[२] प्राधान्यं तथैव क्रियाणां = ग्रहणादिरूपाणां, **भावस्य च** = भाषापरिणामलक्षणस्य, **अप्राधान्यमालम्ब्य** = विवक्षाविषयीकृत्य, **ग्रहणादिषु द्रव्यव्यपदेशः**। तथा चोक्तं **दशवैकालिकवृत्तौ** "एषा त्रिप्रकाराऽपि क्रिया द्रव्ययोगस्य[३] प्राधान्येन विवक्षितत्वात् द्रव्यभाषेति भाव[४] इति (दश.वै.अध्य.७ नि.गा. २७१ हा. वृत्तौ)।।११।। अन्यथाङ्गीकारे दोषमाह-

'अप्राधान्यमालम्ब्ये' ति। अनेन क्रियाभावापलापमकृत्वेत्यर्थो व्यज्यते; अन्यथाऽप्रमाणत्वप्रसङ्गात्। एतदेव ग्रहणादिषु द्रव्यव्यपदेशस्य सम्यक्त्वे बीजम्।।११।।

संभावना है, न कि मिश्र भाषाद्रव्य की।

✱ आवश्यकनिर्युक्ति की साख ✱

'तथा चोक्तं', इत्यादि। विवरणकार यहाँ भद्रबाहुस्वामीकृत आवश्यकनिर्युक्ति का हवाला देते हैं जिसका अर्थ है - "भाषा की समश्रेणि में रहा हुआ श्रोता जिन शब्दों को सुनता है, वे मिश्र होते हैं। भाषा की विश्रेणि में रहा हुआ श्रोता जिन शब्दों को सुनता है वे अवश्य पराघात = शब्दसंस्कार होने पर ही श्रवण के विषय होते हैं"।।१०।।

'तदेवं' इति। इस तरह १०वीं गाथा में किन भाषाद्रव्यों से किन भाषाद्रव्यों का पराघात होता है?" यह भी बताया गया है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि - "ग्रहणभाषा, निसरणभाषा और पराघातभाषा द्रव्यभाषास्वरूप ही क्यों है? भावभाषास्वरूप क्यों नहीं? इन तीन भाषा में भावभाषा का व्यवहार करने में क्या दोष है?" इस शंका को ग्रंथकार ११वीं गाथा से दूर करते हैं।

गाथार्थ :- द्रव्य के प्राधान्य की विवक्षा और भाव तथा क्रिया की अप्रधानता की विवक्षा कर के ग्रहणादि तीन भाषा में द्रव्यभाषा का व्यवहार होता है।११।

✱ ग्रहणादि भाषा द्रव्यप्राधान्यविवक्षा से द्रव्यभाषा है ✱

विवरणार्थ :- यहाँ यह शंका कि - "ग्रहणादि द्रव्यभाषा में ग्रहणादि क्रिया विद्यमान है और भाषा के परिणामरूप भाव भी विद्यमान है तब तो ग्रहण-निसरण-पराघात भाषा में भावभाषा का व्यवहार होना चाहिए। अतः ग्रहणादि भाषा को द्रव्यभाषा कहना ठीक नहीं है।" करना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि वास्तव में सब चीजों में अनंत धर्म रहते हैं यानी सब चीजें अनंतधर्मात्मक होती हैं। मगर वस्तु में रहे हुए सब धर्म का व्यवहार कोई भी नहीं करता और वह शक्य भी नहीं है। कोई भी व्यक्ति देश-कालादि की अपेक्षा से और प्रयोजन के अनुसार वस्तु में रहे हुए अनंत धर्म में से किसी धर्म की मुख्यता और किसी धर्म की गौणता का आलंबन ले कर व्यवहार करती है। लौकिक व्यवहार इस तरह ही चलता है। यहाँ भी ग्रहण आदि भाषा में विद्यमान ग्रहणादि क्रिया और भाषारूप परिणाम की विवक्षा किये बिना द्रव्य की विवक्षा करने से ग्रहणादिभाषा को द्रव्यभाषा कहा गया है। मतलब यह है कि ग्रहणादि भाषाद्रव्य में ग्रहणादि क्रिया की और भाषापरिणामरूप भाव की गौणता और द्रव्यत्व की मुख्यता विवक्षित होने से ग्रहणादि भाषाद्रव्य को द्रव्यभाषारूप से बताता गया है। प्रयोजन के अनुसार किसी धर्म में मुख्यता और किसी धर्म में गौणता की विवक्षा करने में कोई दोष नहीं है। हाँ, दोष तब आता यदि ग्रहण आदि भाषा में ग्रहणआदि क्रिया और भाषापरिणामरूप भाव का अपलाप किया जाय। मगर ऐसा अपलाप नहीं किया है। अतः द्रव्य की प्रधानता तथा क्रिया और भाव की अप्रधानता की विवक्षा कर के ग्रहणादि तीनों में द्रव्यभाषा का व्यवहार करना निर्दोष है। यह हमारी मनमानी कल्पना नहीं है किन्तु शास्त्रविशारद महनीय आचार्यदेवेश श्रीहरिभद्रसूरि महाराज ने दशवैकालिकसूत्र-निर्युक्ति की टीका बनाई है, इसका पाठ भी इसके लिए साक्षीभूत है। दशवैकालिकनिर्युक्ति के वृत्ति पाठ का अर्थ यह है कि - "ग्रहणादि तीन प्रकार की क्रिया द्रव्यभाषा है, क्योंकि ग्रहणादि में द्रव्ययोग के प्राधान्य की विवक्षा है।" अतः श्रीहरिभद्रसूरिजी के वचन से भी यही सिद्ध होता है कि 'ग्रहणादि में द्रव्य की प्रधानता विवक्षित है'।।११।।

१ प्राधान्यं द्रव्यस्य चाप्राधान्यं तथैव क्रियाणां। भावस्य चालम्ब्य ग्रहणादिषु द्रव्यव्यपदेशः।।११।।

२ कप्रतौ चपदं नास्ति। ३ अत्र कप्रतौ 'द्रव्ययोगप्राधान्येने'ति पाठः। ४ 'भाव इति' च हारिभद्रवृत्तौ भिन्नवाक्यस्थतया प्रदर्शितम्।

[१]अण्णह विरुज्झए किर दोहि अ समएहि भासए भासं।

वयजोगप्पभवा सा, भासा भासिज्जमाणि त्ति।।१२।।

अन्यथा विरुद्ध्यते किल द्वाभ्यां समयाभ्यां भाषते भाषामिति। इदं हि प्रथमसमये भाषाद्रव्याणि गृहीत्वा द्वितीयसमये भाषात्वेन परिणमय्य निसर्गाभिप्रायेण सङ्गच्छते। एवं च निसर्गसमये भाषाद्रव्याणां भावभाषात्वमेवेति ग्रहणमेव द्रव्यभाषा स्यान्न निसर्गादीत्युक्तविवक्षैवादरणीया।

'अन्यथेति ग्रहणादिषु द्रव्यस्य प्राधान्यमनालम्ब्य स्वरूपत एव द्रव्यभाषात्वाङ्गीकारे इत्यर्थः। स्वरूपतो द्रव्यभाषात्वं नाम भावभाषाकारणत्वम्। निसरण-पराघातभाषयोः स्वरूपतो भावभाषात्वाद् ग्रहणस्यैव भावभाषा-कारणत्वेन द्रव्यभाषात्वं स्यात्। अतः ग्रहणादिषु त्रिषु स्वरूपतो द्रव्यभाषात्वं परित्यज्य वैवक्षिकद्रव्यभाषात्व-मेवाङ्गीकर्तव्यमित्याशयः। **न च** निसरणभाषाद्रव्याणां पराघातभाषाजनकत्वेन स्वरूपतो द्रव्यभाषात्वं तत्राऽव्याहत-मिति **वाच्यम्** तथापि पराघातभाषाद्रव्याणां स्वरूपतो द्रव्यभाषात्वस्यानुपपन्नत्वात्।

"ग्रहणादि भाषा में द्रव्य के प्राधान्य की विवक्षा न की जाय और स्वरूप से ही द्रव्यभाषात्व का अंगीकार किया जाय तब दोष क्या है?" इस समस्या का समाधान प्रकरणकार १२वीं गाथा से दे रहे हैं।

गाथार्थ :- अन्यथा 'जीव दो समय से भाषा को बोलता है' "भाषा वचनयोग से उत्पन्न होती है" और "जब शब्दोच्चारण होता है तब वह भाषा कहलाती है" इन तीन सिद्धांत वचनों का विरोध आयेगा (विवरणार्थ देखने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी)।।१२।।

*** द्वाभ्यां समयाभ्यां भाषते भाषां-सिद्धांत का विरोध ***

विवरणार्थ :- यदि "ग्रहणादि भाषा में द्रव्य के प्राधान्य की अपेक्षा से द्रव्यभाषात्व नहीं है मगर स्वरूपतः द्रव्यभाषात्व है" ऐसा माना जाय तो तीन सिद्धांतो का भंग होता है। प्रथम सिद्धांत है - "दो समय से भाषा बोली जाती है"। इस सिद्धांत का तात्पर्य यह है कि - जीव प्रथम समय में ग्रहणप्रयत्न से भाषाद्रव्यों को ग्रहण करता है। प्रथमसमयगृहीत सब भाषाद्रव्यों को भाषारूप से परिणमन कर के निर्सर्गानुकूल प्रयत्न से द्वितीय समय में छोडता है। तृतीय समय में प्रथमसमयगृहीत एक भी भाषाद्रव्य नहीं रहता है। इस तरह भाषा की उत्पत्ति दो समय से होती है। इस सिद्धांत से सिद्ध होता है कि द्वितीय समय में=निसर्गकाल में भाषाद्रव्य भावभाषा ही है, क्योंकि भाषारूप से परिणमन कर के उनका निसर्ग=त्याग किया गया है। निसर्गकालीन भाषा स्वयं भावभाषा होने से भावभाषा के कारणभूत नहीं है। आपके अभिप्रायानुसार भावभाषा के कारणभूत द्रव्यभाषा अर्थात् स्वरूपतः द्रव्यभाषारूप से ग्रहणादि तीनों का स्वीकार किया जाय तो वह सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि स्वरूपतः द्रव्यभाषात्व सिर्फ ग्रहण भाषाद्रव्य में ही रहेगा; भावभाषात्मक निसरणभाषाद्रव्य और पराघातभाषाद्रव्य में नहीं। द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप का एक काल में एक व्यक्ति में होना असंभव है, क्योंकि एक काल में एक व्यक्ति में एक ही चीज का द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप विरुद्ध हैं। आपकी मान्यता को अनुमति देने पर 'दोहिं समएहिं'... सिद्धांत बाधित होता है। अतः 'साँप मरे नहीं और लाठी भी टूटे नहीं' ऐसा मार्ग अपनाना ही युक्त होगा जो कि हमने पूर्व में ही बता दिया है कि ग्रहणादि तीनों में द्रव्य के प्राधान्य की विवक्षा से द्रव्यभाषा का व्यवहार होता है।

*** वचोयोगप्रभवा भाषा - सिद्धांत का विरोध ***

'एवं' इत्यादि। "ग्रहणादि तीन भाषा विवक्षा से द्रव्यभाषा नहीं है किन्तु स्वरूपतः द्रव्यभाषा है" ऐसी आपकी मान्यता को स्वीकार करने पर 'वचोयोगप्रभवा भाषा' सिद्धांत का भी विरोध होगा। इस सिद्धांत का अर्थ है वचनयोग भाषा का जनक है और भाषा वचनयोग से जन्य है। यहाँ वचनयोग का अर्थ है निसर्ग के अनुकूल कायव्यापार। जो कायव्यापार निसर्ग का हेतु है वह कायव्यापार वचनयोगात्मक है अथवा वचनयोग की दूसरी व्याख्या विवरणकार ने इस तरह बताई है कि - काययोग से गृहीत भाषाद्रव्यों के समूह के आलंबन से जीव जो व्यापार करता है वह जीवव्यापार वचनयोग है। वचनयोग के दोनो अर्थ में क्या अंतर है? इसका स्पष्टीकरण मोक्षरत्ना से ज्ञातव्य है। प्रस्तुत में विवरणकार कहते हैं कि वचनयोग चाहे भाषाद्रव्यत्यागहेतुभूत शरीरव्यापारात्मक हो या चाहे काययोग से गृहीत भाषाद्रव्यों की सहायता से होनेवाला जीवव्यापारात्मक हो, इस विषय में हमारा

१ अन्यथा विरुध्यते किल, द्वाभ्यां च समयाभ्यां भाषते भाषाम्। वचोयोगप्रभवा सा भाषा भाष्यमाणेति।।१२।।

एवं **वचोयोगप्रभवा भाषे**त्यपि निसर्गकाले भावभाषाऽनभ्युपगमे विरुद्ध्येत। वचोयोगो हि "निसर्गानुकूलः कायसंरम्भः, काययोगाहृतवाग्द्रव्यसमूहसध्रीचीनजीवव्यापारो वेत्यन्यदेतत्। उभयथाऽपि तज्जन्या भावभाषेत्युपेयम्, अन्यथा भाषापरिणत्यनुकूल-वाग्योगवैकल्यात्।

किं बहुना? एवं हि '**भाष्यमाणा भाषे'ति** भागवतमपि वचनं विरुध्यते। अत्र भावभाषात्वस्यैव विधेयत्वात्,

---

वस्तुतस्तु भावभाषाभिन्नत्वे सति भावभाषाजनकत्वस्यैव स्वरूपतो द्रव्यभाषालक्षणत्वम्, युगपद्विवक्षितैकविषयक-द्रव्यभावोभयनिक्षेपस्यैकस्मिन् विरोधात्; अन्यथा भावजिनस्याऽपि भावजिनानन्तरहेतुत्वेन द्रव्यजिनत्वप्रसङ्गात्। ततश्च निसरणभाषाद्रव्याणामपि न स्वरूपतो द्रव्यभाषात्वमिति स्थितम्। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः*** 'दव्ववक्कं नाम जाणि दव्वाणि भासत्ताए गहियाणि ण ताव उच्चारिज्जंति सा भासा, तेण चेव उच्चारिज्जमाणाणि तमत्थं भासयंती भावभासा भवतित्ति। (द.वै.अ.७.नि.श्लो.२७१ जि.चू.) ग्रहणादिषु त्रिषु स्वरूपत एव द्रव्यभाषात्वाऽभ्युपगमे दोषान्तरमाह **'एव'**मित्यादिना। निसर्गहेतुकायव्यापारस्यैव वचोयोगत्वाङ्गीकारे वचोयोगस्य स्वातन्त्र्यं वाहन्येतेति कल्पान्तरमाह - **'काययोगाहृतवाग्द्रव्यसमूहसध्रीचीनजीवव्यापार'** इति काययोगगृहीतवाग्द्रव्यसमूहसहकृतजीव-व्यापार इत्यर्थः। द्वितीयकल्पे च वाग्द्रव्यसचिवस्य जीवस्य व्यापाररूपः स्वतन्त्र एव वाग्योगः न तु काय-योगविशेषरूपः। अत्र द्वितीयकल्पे वाग्द्रव्यनिसर्गकाले कायव्यापारो नास्तीति न, किन्तु सन्नपि न विवक्षितः, स्वतन्त्रवाग्योगप्रतिपादनपरत्वादिति सूक्ष्मेक्षिकया निभालनीयम्। उभौ सदादेशौ भगवदनुमतविचित्रनयाश्रितमहर्षि-वचनानुयायित्वादिति द्योतनार्थमाह **'इत्यन्यदेतत्'** इति। **अन्यथे**ति निसर्गहेतुकायव्यापारजन्यत्वे वाग्द्रव्यालंबनक-जीवव्यापारजत्वे वा सत्यपि भावभाषात्वं न स्यात्तर्हि तज्जनको वाग्योगो न स्यात् भाषापरिणामा-नुकूलत्वाभावादिति प्रसङ्गापादनमेतत्। (ग्रन्थाग्रम्-१०००)

कोई आग्रह नहीं है। मगर हमारा कहना तो यह है कि तादृशवचनयोग से जो उत्पन्न होता है वह भावभाषा ही है न कि द्रव्यभाषा। यह तो एक प्रसिद्ध नियम है कि जीव जिस कार्य के अनुकूल प्रयत्न करता है उस प्रयत्न से वह कार्य उत्पन्न होता है, अन्य कार्य नहीं। कुम्हार घटोत्पाद के अनुकूल प्रयत्न करे और पट की उत्पत्ति हो जाय यह तो कथमपि संभव नहीं है। इसी तरह यहाँ वचनयोग निसर्गानुकूल कायव्यापाररूप माना जाय तब उससे निसर्ग की उत्पत्ति अवश्य होगी, अन्यथा वह वचनयोग निसर्ग अनुकूल ही नहीं होगा अर्थात् वह वचनयोग वचनयोगरूप ही नहीं होगा, अन्यरूप ही होगा। चाहे निसर्ग कहो या चाहे भाषाद्रव्यों का त्याग कहो या चाहे भावभाषा कहो सिर्फ शब्द में ही फर्क है, अर्थ में नहीं। अतः तादृशवचनयोगजन्य भाषा को भावभाषास्वरूप ही मानना होगा। यदि वचनयोग को काययोग से गृहीत भाषाद्रव्यों के आलंबनवाले जीवव्यापारस्वरूप माना जाय तब भी इससे भावभाषा की ही उत्पत्ति होगी, क्योंकि गृहीतभाषाद्रव्यों के आलंबन से जीव गृहीतभाषाद्रव्यों में भाषापरिणाम का आधान कर के उन भाषाद्रव्यों को छोडने का ही काम करता है दूसरा नहीं। अतः तादृश जीवव्यापाररूप वचनयोग से जन्य भी भावभाषा ही होगी, न कि द्रव्यभाषा। तादृश वचनयोग से जन्य भाषा निसर्गरूप ही है। अतः निसर्ग भाषाद्रव्य में स्वरूपतः द्रव्यभाषात्व की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः ग्रहणादि तीन भाषाद्रव्यों में विवक्षा से ही द्रव्यभाषात्व का स्वीकार उचित है। द्रव्यप्राधान्य की विवक्षा से निसरणभाषाद्रव्य में द्रव्यभाषात्व के स्वीकार से भावभाषात्व का अपलाप नहीं होता है। अतः वचोयोगप्रभवा भाषा-इस सिद्धांत का भंग भी नहीं होता है और ग्रहणादि तीन भाषाद्रव्यों में द्रव्यभाषात्व की उपपत्ति भी हो सकती है।

※ भाष्यमाणा भाषा - सिद्धांत का विरोध ※

'किं बहुना' इत्यादि। अन्य शास्त्रवचनों के साथ विरोध की क्या बात करे? अरे! भगवती सूत्र के साथ भी विरोध आयेगा, यदि - "ग्रहणादि तीनों भाषा स्वरूप से हि द्रव्यभाषा है न कि विवक्षा से द्रव्यभाषा" ऐसे आपके अभिप्राय का स्वीकार किया जाय। देखिये, भगवती सूत्र में वीर प्रभु ने गौतमस्वामी से कहा है कि - "भाषणकाल में ही भाषा होती है, भाषा के पूर्व काल में या पश्चात् काल में नहीं"। यहाँ स्वयं भगवंत ने ही भाषणकाल में भावभाषात्व का विधान किया है। यदि भाषण काल में भावभाषात्व का विधान

अन्यथा न पूर्वं नापि पश्चादित्यवधारणानुपपत्तेः।

अथ भाष्यमाणा भाषेति कथं? न हि भाषैव भाष्यते किन्तु विषय इति चेत्? **सत्यम्**, भाषापदसमभिव्याहारे वचनार्थकधातोर्यत्नविशेषपरत्वात्। अत एव **'वाचमुच्चरती'** त्यादिर्लोकेऽपि प्रयोगः।

'एवं' = ग्रहणादिषु त्रिषु वैवक्षिकद्रव्यभाषात्वाऽनङ्गीकारे सतीत्यर्थः। **'भाष्यमाणा भाषा'** इति। उद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतानियामकसंबन्धेन विधेयस्योद्देश्यव्यापकतायाः संसर्गमर्यादया लाभादुद्देश्यस्य च व्याप्यत्वं तादात्म्यसम्बन्धेनेति सर्वसिद्धा व्युत्पत्तिः। तथा च प्रकृतेऽपि भाष्यमाणाया उद्देश्यत्वात् भाषायाश्च तादात्म्यसम्बन्धेन विधेयत्वाद् भाष्यमाणव्यापकत्वं भाषायाः तादात्म्यसंबन्धेन लभ्यते। उद्देश्य-विधेयभावस्थले च विधेयतावच्छेदकरूपेणैव विधेयस्य व्यापकत्वं संसर्गमर्यादया प्रतीयतेऽतो भावभाषात्वेनैव भाषाया भाष्यमाणव्यापकत्वं न तु द्रव्यभाषात्वेन। ननु भावभाषात्वेन रूपेण कथं विधेयतेत्याशङ्कायामाह **अन्यथे**ति। यदि भाषणकालेऽपि भाषा भावभाषा न स्यात् तदा न पूर्वं नापि पश्चादित्यवधारणं एवपदलभ्यमनुपपन्नं स्यादिति प्रसङ्गापादनम्।

अयं भावः ***व्याख्याप्रज्ञप्तौ,*** "पुव्विं भंते! भासा, भासिज्जमाणी भासा, भासासमयवितिक्कंता भासा? गोयमा! नो पूव्विं भासा, भासिज्जमाणी भासा, णो भासासमयवितिक्कंता भासा। (भग. शत. १३.। उद्दे. ७। सू. ४९३)। इत्येवमुक्तम्। यदि भाषणकाले भाषा भावभाषा न स्यात्तदा "नो पुव्विं भासा, णो भासासमयवितिक्कंता भासा" इति निषेधः कथं युज्येत? कदाचित्सतोऽन्यदा निषेधः क्रियते न तु सर्वथाऽसतः; अप्रसिद्धप्रतियोगिकत्वापत्तेः। अतो भाष्यमाणा भावभाषैवेति भावभाषात्वस्य विधेयतावच्छेदकत्वमुपपन्नम्।

'भाषापदसमभिव्याहारे' = भाषापदसाहचर्ये सति। शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणं समभिव्याहारः। अयं भावः; 'यथा नृत्यन्ति नृत्यं, पाकं पचती'त्यादिस्थले नर्तनाद्यर्थकधातोर्यत्नविशेषपरत्वेन 'नृत्यं कुर्वन्ति, पाकं करोती'त्यादिवाक्यमुन्नीयानुन्नीय वा पदार्थाभिनयपूर्वकत्वे भूचरणसंयोगत्वे वा सति सविलासतालानुसार्यङ्गविक्षेपात्मकनृत्यानुकूल-

---

न माना जाय तो 'शब्दोच्चारण के पूर्व काल में और पश्चात् काल में भाषा नहीं होती है' यह निषेध अनुपपन्न रह जायेगा। अतः भाषणकाल में भाषा भावभाषा ही होती है - यह स्वीकार आवश्यक है। भाषणकालीन भाषा कहो या निसर्गकालीन भाषा कहो, या निसरण भाषा कहो, अर्थ में कोइ फर्क नहीं है। निसरणभाषा में स्वरूपतः द्रव्यभाषात्व की उपपत्ति आपके अभिप्राय के अनुसार नामुमकिन होने से यह मानना होगा कि-ग्रहणादि तीन भाषाविवक्षा से ही द्रव्यभाषा है।

शंका :- **'अथ' इत्यादि**। आप 'भाष्यमाणा भाषा' सिद्धांतवचन की रक्षा करने का प्रयास कर रहे हो मगर आप पहले यह तो सोचिए कि 'भाष्यमाणा भाषा' यह वचनप्रयोग ही समीचीन है या नहीं?" विचार करने पर 'भाष्यमाणा भाषा' यह प्रयोग ही निर्दोष प्रतीत नहीं होता है क्योंकि लोक में" वह भाषा को पुकारता है" ऐसा अनुभव नहीं होता है, किन्तु 'वह आदमी को पुकारता है" ऐसा अनुभव और प्रयोग होता है। अतः भाष्यमाण अर्थात् उच्चार्यमाण तो पुरुष आदि या घट आदि विषय ही होना संगत है न कि भाषा। इस तरह 'भाष्यमाणा भाषा' यह प्रयोग ही असंगत सिद्ध होता है, तब इसके बल पर आप "निसरण आदि भाषा में विवक्षा से ही द्रव्यभाषात्व है, स्वरूपतः नहीं" यह कैसे सिद्ध करोगे? मूलं नास्ति कुतः शाखा?

✻ भाष्यमाणा भाषा' प्रयोग समीचीन है ✻

समाधान :- **'सत्यम्'** पद शंकाकार की बात के अर्ध स्वीकार अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। अर्ध स्वीकार इसलिए है कि - सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया-न्याय से जब प्रयोग किया गया ही है तब उसके लिए कोई रास्ता सोचना आवश्यक है। इस प्रयोग की उपपत्ति - इस तरह की जा सकती है कि जैसे 'पाकं पचति' इत्यादि प्रयोग स्थल में, जहाँ धातु से जो अर्थ बताना है वही अर्थ जब नाम से भी प्रतीत होता है, पाक अर्थप्रतिपादक पच् धातु का अर्थ केवल प्रयत्नविशेष ही होता है, वैसे ही यहाँ भी भाष् धातु से जो अर्थ बताना है वही अर्थ 'भाषा' पद भी बता रहा है। अतः भाषापद के सन्निधान में भाषण अर्थवाले 'भाष्' धातु का अर्थ केवल प्रयत्नविशेष ही है। यहाँ 'भाष्' धातु कृतिविशेष बोधक होने से ही इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। अब 'भाष्यमाणा भाषा' का अर्थ होगा - "वर्तमानकालीन प्रयत्नविषयिणी भाषा।" अर्थात् "सांप्रतकालीन जो प्रयत्न है इसका विषय भाषा है"। इस व्यवस्था

ननु[1] तथापि कथमेतत्? अभिन्नानामेव भाषाद्रव्याणामारम्भतः[2] शब्दपरिणामत्यागात्, भिन्नानां तु लोकाभिव्याप्त्यादिना परतोऽपि तत्परिणामावस्थानान्निसर्गसमय एव भाषेति प्रतिज्ञाविरोधात्।

वर्तमानकालिककृतिमन्तः, विक्लित्त्यनुकूलवर्तमानकालिककृतिमानित्याद्याकारकः शाब्दबोधोऽभ्युपगम्यते तथैवाऽत्रापि यत्किञ्चिज्ज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगार्थकधातोः कृतिविशेषपरत्वेन 'क्रियमाणा भाषे'तिवाक्यमुन्नीयाऽनुन्नीय वा 'वर्तमानकालिककृतिविषया भाषे'त्याकारकशाब्दबोधो युक्त एवेति भावः। **अत एव**=भाषापदसमभिव्याहारे वचनार्थकधातोर्यत्नविशेषपरत्वादेव **'वाचमुच्चरती'**त्यत्र कण्ठताल्वाद्यभिघातपूर्वकशब्दजनकव्यापारार्थकधातोर्यत्नविशेषपरत्वाभ्युपगमेन 'वाचं करोती'तिवाक्यमुन्नीयाऽनुन्नीय वा 'वाग्विषयकवर्तमानकालिककृतिमानि'त्याकारकशाब्दबोधजनकः प्रयोग इत्यर्थः। **यद्यपि** 'चर् भक्षणे चे'ति **हैमधातुपाठान्न** वचनार्थो लभ्यते **तथापि' उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'** न्यायेन तत्प्राप्तिरिति **दिक्**।

पूर्वपक्षयति-**नन्विति**। **'कथमेतदि'**ति। कथं भाष्यमाणैव भाषेति सिद्धान्तवचनं, युक्तमिति शेषः। न युक्तमिति नन्वाशयः। अयुक्तत्वमेवाह **'अभिन्नानामि'**त्यादिना। **एव**पदं भिन्नभाषाद्रव्यव्यवच्छेदार्थम्। **आरम्भतः** = आरम्भकालतः, अव्यवहितोत्तरत्वं तसिलर्थः आरम्भकालानन्तरमिति यावत्। **परतः** = निसर्गकालोत्तरं, किं पुनर्निसर्गकाले इत्यपिशब्दार्थः। पूर्वपक्षिणोऽयमाशयो यदुत निसर्गसमये एवाभिन्नानां भाषाद्रव्याणामुत्कर्षतः संख्येययोजनगमनात् तदनन्तरं तेषां शब्दपरिणामत्यागेन 'भाष्यमाणैव भाषा' इति भावभाषालक्षणप्रवृत्तिस्तेषु सम्भवति किन्तु भिन्नभाषाद्रव्याणां समयचतुष्केन लोकव्यापित्वान्निसर्गोत्तरकालमपि शब्दपरिणामावस्थानाद् 'भाष्यमाणैव भाषा' इतिभावभाषालक्षणस्य प्रवृत्तिस्तेषु वर्तमानकालिककृतिविषयत्वाभावेन न सम्भवतीत्यव्याप्तिदोषदुष्टं 'भाष्यमाणैव भाषे'तिसिद्धान्त-

के अनुसार ही लोकप्रसिद्ध, जैसे 'वाचमुच्चरति' इत्यादि, प्रामाणिक प्रयोग की भी उपपत्ति हो सकेगी। इस व्यवस्था के अस्वीकार में कथित प्रयोग की उपपत्ति कदापि संभव नहीं है। उपर्युक्त व्यवस्था के स्वीकार किए बिना 'वाचमुच्चरति' का अर्थ यह प्राप्त होगा कि 'वाक्कर्मक - वर्तमानकालीन - वागनुकूलकृतिमान् (चैत्रादि)' जो कि पुनरुक्ति दोषयुक्त होने से अयुक्त है। जब कि पूर्वोक्त व्यवस्था का स्वीकार करने पर - 'वाक्कर्मक - वर्तमानकालीन कृतिमान् (चैत्रादि)' - यह अर्थ प्राप्त होता है जो संगत प्रतीत होता है। उक्त व्यवस्था से ही इस लौकिक प्रयोग की उपपत्ति भी हो सकती है। लोग भी यह व्यवस्था होने के कारण 'वाचमुच्चरति' इत्यादि वाक्य का प्रयोग करते हैं। अतः 'भाष्यमाणा भाषा' यह सिद्धांत वचनप्रयोग की दृष्टि से भी शुद्ध ही है, अशुद्ध नहीं।

* भाष्यमाणा भाषा - यह भाषालक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त है - पूर्वपक्ष *

पूर्वपक्ष :- आपने 'भाष्यमाणा भाषा' इस प्रयोग को शुद्ध बताने का सराहनीय प्रयास किया है लेकिन यह समुद्रवृष्टि की तरह निष्फल है, क्योंकि 'भाष्यमाणैव भाषा' अर्थात् "वक्ता जब शब्दोच्चारण करता है तभी वह भाषा है, अन्यदा नहीं" यह भाषा का लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित है। देखिये, आपने निसरणभाषा के दो भेद भिन्न भाषाद्रव्य और अभिन्न भाषाद्रव्य बताये हैं। दोनों ही भाषारूप होने से लक्ष्य ही है। निसरणभाषारूप लक्ष्य के एक देशभूत अभिन्न भाषाद्रव्य में आपसे बताया गया भाषालक्षण नहीं जाता है, क्योंकि अभिन्न भाषाद्रव्य अपने आरंभ = उत्पत्तिकाल = निसर्गकाल के बाद शब्दपरिणाम का त्याग करते हैं। अतः निसर्ग के दूसरे समय में वे भाषारूप नहीं हैं और जब वे आरंभकाल में = शब्दोच्चारण काल में भाषा स्वरूप हैं तब इनमें 'भाष्यमाणा भाषा' यह लक्षण जाता है, मगर अभिन्न भाषाद्रव्य में जो कि अपने निसर्गकाल=आरंभकाल के बाद तीन समय में संपूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं; 'भाष्यमाणा भाषा' यह लक्षण नहीं जाता है। भाष्यमाणत्व यानी वर्तमानकालीन कृतिविषयत्व सिर्फ आरंभकाल में ही भिन्नभाषा द्रव्य में रहता है जब कि शब्दपरिणाम तो आरंभकाल के बाद भी रहता है। भिन्नभाषाद्रव्य ४ समय में लोकव्याप्त होते है ऐसा आगम में कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि संपूर्ण लोक में फैलने तक वे भाषापरिणाम का त्याग नहीं करते हैं। यदि वे उत्पत्तिकाल के अनंतर शब्दपरिणाम को छोड दे तब तो वे भाषास्वरूप ही न होने से 'भिन्न भाषाद्रव्य संपूर्ण लोक में फैल

१ ननु' शब्दत आरभ्य अनुपरमादिति चेत्' पर्यन्तं पूर्वपक्षः ततः 'न' इत्यादिनोत्तरपक्षः प्रारभ्यते।

२ कप्रतौ - 'मारत' इति पाठः।

न च निसर्गानन्तरं वासनयैव भाषापरिणामाद्विशेषोऽभिधेयः; तया द्रव्यान्तराणां भाषापरिणामाधानेऽपि निसृष्टद्रव्याणां तदपरित्यागात्। **न च** सूक्ष्मर्जुसूत्रनयेनोपपत्तिः, तन्नयेऽपि परतस्तत्परिणति-धाराऽविच्छेदात्।

वचनम्। इदं चापाततः। वस्तुतस्तु शब्दपरिणामस्योत्कर्षत आवलिकाऽसंख्येयभागप्रमितस्थितेः ***व्याख्याप्रज्ञप्त्यादौ*** सामान्यत एव प्रतिपादितत्वादभिन्नभाषाद्रव्याणामपि निसर्गसमयानन्तरं शब्दपरिणामसम्भवेन भवति तत्राप्यव्याप्तिः।

कश्चिन्मुग्धो भिन्नभाषाद्रव्येष्वव्याप्तिं निराकरोति तन्मतं निरसितुमुपन्यस्यति **'न चे'**त्यादिना। भिन्नभाषाद्रव्याणां निसर्गसमयानन्तरं न मौलः शब्दपरिणामः किन्तु भाषाद्रव्यैर्वासितत्वात् पराघातजन्यः शब्दपरिणाम इति तदा तेषामलक्ष्यत्वादेव नाव्याप्तिरिति मुग्धाशयं पूर्वपक्षी निराकरोति **तया**=वासनया भाषाप्रयोग्य**द्रव्यान्तराणां भाषापरिणामाधानेऽपि** निसर्गसमयानन्तरं **निसृष्टद्रव्याणां तदपरित्यागात्**=मौलशब्दपरिणामाऽपरित्यागात् तेषां तदाऽपि लक्ष्यत्वेनाऽव्याप्तिर्वज्रलेपायितेति भावः।

कश्चित् पंडितंमन्योऽव्याप्तिं निराकरोति तन्निरासाथ पूर्वपक्षी तन्मतं प्रदर्शयति **'न च सूक्ष्मे'**त्यादिना। **सूक्ष्मर्जुसूत्रनयेन** = व्यवहारनयानुपगृहीतशुद्धर्जुसूत्रनयेनेत्यर्थः। शुद्धर्जुसूत्रनयमतेन सर्वे भावाः क्षणिकाः सत्त्वात् विद्युदादिवत्। अतः प्रतिक्षणमुत्पद्यन्ते निरन्वयं विनश्यन्ति च। तथा च भिन्नभाषाद्रव्याण्यपि निसर्गसमयानन्तरं निरन्वयं विनश्यन्ति। मूलं नास्ति कुतः शाखा? ततो निसर्गद्वितीयसमये निसृष्टद्रव्याणामेवाभावात्कुतोऽव्याप्तिरित्याशयः। पूर्वपक्षी तन्निराकरोति **'तन्नये'**इत्यादिना। **तन्नयेऽपि**=सूक्ष्मर्जुसूत्रनयेऽपि, आस्तां स्थूलर्जुसूत्रनैगमादिनये इत्यपि-

---

जाते हैं' - यह वचन ही अनुपपन्न रह जायेगा। अतः आरंभकाल के बाद भी शब्दपरिणाम से युक्त होने से द्वितीयादि समय में भी भिन्न भाषाद्रव्य भाषा के लक्ष्यभूत ही हैं, अलक्ष्य नहीं। मगर द्वितीयादि, समय में भिन्न भाषाद्रव्यों में भाष्यमाणत्व नहीं है = वर्तमानकालीनप्रयत्नविषयत्वरूप लक्षण नहीं है। इसी सबब 'भाष्यमाणा भाषा' ऐसा भावभाषा का लक्षण अव्याप्ति दोष से दुष्ट है। अव्याप्ति दोष होने से ही 'भाष्यमाणैव भाषा' इस प्रतिज्ञा का विरोध होगा।

शंका :- **'न च'** इत्यादि। भाषाद्रव्यों का निसर्ग करने के बाद द्वितीयादि समय में भाषाद्रव्य वासित होने से उनमें वासना से शब्द परिणाम उत्पन्न होता है, मगर मौलिक शब्दपरिणाम नहीं होता है। अतः प्रथम समय की अपेक्षा द्वितीय समय में विलक्षण होने से हि वह भावभाषा का लक्ष्य नहीं है। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है प्रत्युत अलक्ष्य में न जाने से लक्षण समीचीन होता है। द्वितीयादि समय में भिन्न भाषाद्रव्य भी अलक्ष्य होने से 'भाष्यमाणा भाषा' यह प्रतिज्ञा संगत है।

अन्य भाषाद्रव्य में शब्दसंस्कार का आधान करने पर भी निसरणभाषा में शब्दपरिणाम रहता है

समाधान :- **'तया'** इति। जनाब! तीर नहीं तो तुक्का यह यहाँ नहीं चलेगा। द्वितीयादि समय में वासना = पराघात से निसृष्ट भाषाद्रव्य भले अन्य भाषापरिणमन योग्य द्रव्यों में भाषापरिणाम को उत्पन्न करे, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि अन्य भाषाप्रायोग्य द्रव्य में भाषापरिणाम को उत्पन्न करने से निसृष्ट भाषाद्रव्य में विद्यमान शब्द का परिणाम चला जाय। अन्य भाषाद्रव्यों को वासित करने के बाद भी निसृष्ट भाषा में द्वितीयादि समय में शब्दपरिणाम के स्वीकार में कोई बाध नहीं है, प्रत्युत इसका समर्थक श्रीभगवतीसूत्र भी है जिसमें भाषापरिणाम की उत्कृष्टस्थिति आवलिका के असंख्यभागप्रमित असंख्य समय की बताई गई है। अतः आपकी यह शंका निराधार है।

शंका :- जनाब! आँखें मूँद कर बोलने से समस्या भी हल नहीं होती है, मगर सूक्ष्म बुद्धि से सोचने पर सही समाधान प्राप्त होता है। यहाँ सूक्ष्म द्रष्टि = सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि का आलम्बन लिया जाय तो 'भाष्यमाणा भाषा' यह प्रतिज्ञावचन निर्दोष प्रतीत है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से सब चीज सत् होने से बिजली की तरह क्षणिक होती हैं। उत्पत्ति के अनन्तर समय में कार्य अपने उपादान कारण के साथ नष्ट होता है, जिसको निरन्वय नाश कहते हैं। भिन्न भाषाद्रव्य भी सत् होने से सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय के अभिप्राय से क्षणिक हैं अर्थात् अपनी उत्पत्ति के बाद भिन्न भाषाद्रव्य भी बिजली की तरह निरन्वय नष्ट होते हैं। द्वितीय क्षण में भाषा ही नहीं रहती है, तब 'भाष्यमाणा भाषा' इस लक्षण की प्रवृत्ति न होने से अव्याप्ति का आपादन करना कैसे संगत होगा? क्योंकि द्वितीयादि समय में भाषा ही नहीं रहती है, तब अव्याप्ति कैसे आयेगी?

नापि स्थूलकालमादाय वर्तमानत्वोपग्रहान्न दोष इति **वाच्यम्** वर्तमानयत्नोपरमेऽपि भाषापरिणामानुपरमादिति **चेत्? न**; अत्र क्रियारूपभावभाषाया एव ग्रहणाच्छब्दार्थोपपत्तेरिति, हेत्वभिधानात् भाषापरिणामस्य तदुत्तरकालमप्यप्रत्यूहात् शब्दार्थवियोगादिति

शब्दार्थः। **परतः** = निसर्गकालानन्तरम् **तत्परिणतिधाराऽविच्छेदात्** = शब्दपरिणामप्रवाहविच्छेदाभावात्। अयं भावः सूक्ष्मर्जुसूत्रनयमतेन विजातीयसन्तानप्रयोजकासमवधाने पूर्वकार्यसजातीयसन्ततिरुत्पद्यते विजातीयसन्तानप्रयोजक-समवधाने सति विजातीयसन्ततिरुत्पद्यते। प्रकृते भिन्नभाषाद्रव्याणां विजातीयसन्तानप्रयोजकासमवधानान्निसर्गकाला-नन्तरं पूर्वसजातीयशब्दपरिणतिसन्तानाविच्छेदेन शब्दपरिणामस्य निसर्गसमयानन्तरमप्रत्यूहात् वर्तमानकालिककृति-विषयत्वाभावादव्याप्तिर्दुर्निवारेति गिरिमुत्पाट्य मूषिकोद्धृतेति पूर्वपक्षाशयः। पुनरपि मुग्धोऽव्याप्तिनिराकरणम-पाकर्तुमाह-समयात्मकं सूक्ष्मकालं त्यक्त्वा 'सत्सामीप्ये सद्वद्वे'ति न्यायेन विवक्षितसमयसमूहात्मकं **स्थूलकालमादाय** भिन्नभाषाद्रव्याणामपि निसर्गकालानन्तरं **वर्तमानत्वोपग्रहात्** = वर्तमानकालिककृतिविषयत्वोपपत्तेर्भवति तत्र लक्षण-समन्वय इति न दोष इति वाच्यम् **'वर्तमानयत्नोपरमेपि** = विवक्षितसमयसमूहात्मकवर्तमानकालिकप्रयत्नविरामे सत्यपि **भाषापरिणामानुपरमादि**ति। अयं भावो विवक्षितसमयसमूहात्मकस्थूलकालचरमसमयकालीनप्रयत्नजन्यशब्देषु तादृशस्थूलकालानन्तरसमयेऽपि भाषापरिणामाविच्छेदेन तेषां तदा लक्ष्यत्वेऽपि विवक्षितसमयसमूहात्मकवर्तमान-कालिकप्रयत्नविषयत्वाभावेनाऽव्याप्तितादवस्थ्यमिति घट्टकुट्यां प्रभातमिति पूर्वपक्षाशयः।

समाधत्ते 'ने'त्यादिना। अयमाशयो विवरणकारस्य यदुत भावभाषा द्विविधा निसरणक्रियारूपा शब्दपरिणामरूपा च। 'भाष्यमाणैव भाषे'त्यत्र निसरणक्रियारूपभावभाषाया ग्रहणम्। कुत? इत्याह **'शब्दार्थोपपत्तेः** = कंठताल्वाद्यभिघा-तजन्यशब्दोत्पादकव्यापारात्मकभाषाशब्दार्थोपपत्तेरिति। क्रियाविशिष्टपदार्थाभ्युपगन्तुरेवम्भूतनयस्याभिप्रायेण क्रिया-काले एव वस्तुनः सत्वात्। तथा च निसर्गसमयानन्तरं भाषाया अलक्ष्यत्वादेव नाऽव्याप्तिरिति हृदयम्।

ननु भावभाषाद्वैविध्यकल्पनापेक्षया किमिति लाघवान्निसर्गसमयानन्तरं भिन्नभाषाद्रव्याणां शब्दपरिणाम एव न त्यज्यत इत्यारेकायामाह **'हेत्वभिधानादि'ति**। "पराघातस्वभावश्च लोकव्याप्तौ हेतुरिति" (वि.आ.भा.गा. ३९३ वृ) ***विशेषावश्यकवृत्तिवचना***त्पराघातस्वभावस्य लोकाभिव्याप्तिहेतुरुपेणाऽभिधानादित्यर्थः। **"अप्रत्यूहात्"** = अनिराकार्य-

---

*** सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से भी 'भाष्यमाणा भाषा' सिद्धांत नामुनासिब है ***

समाधान :- उस्ताद! इस दुनिया में शेर को सवा शेर मिलना मुश्किल नहीं है। उस्ताद! हमने बाल धूप में नहीं पकाये हैं कि तुम्हारी बातों से हम मान जाये। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की द्रष्टि से द्वितीय समय में भले ही भाषाद्रव्य का नाश हो जाय। इसका हम विरोध नहीं करते हैं। मगर सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की द्रष्टि से भी विजातीयसंतति का प्रयोजक जब तक न आयेगा तब तक सजातीय संतति चलती रहती है, नष्ट नहीं होती है। यह तो आपको मालुम है न? निसर्ग के पश्चात् काल में भी भिन्न भाषाद्रव्यनिष्ठ शब्दपरिणाम के सजातीय शब्दपरिणाम की संतति = धारा चलती रहेगी। अतः सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय की द्रष्टि से भी निसर्गानन्तर समय में शब्दपरिणाम होने से वह भी भावभाषास्वरूप ही है। अतएव वह लक्ष्य ही है, अलक्ष्य नहीं। मगर शब्दपरिणाम के होते हुए भी द्वितीयादि समय में 'भाष्यमाणत्व' न होने से अव्याप्ति दोष का निराकरण नहीं हुआ है। घांची का बैल सो मील चले फिर भी वहाँ का वहाँ। आप इतने दूर तक सोचते हैं, फिर भी अव्याप्ति से मुक्त नहीं हो पाते हैं।

शंका :- इस तरह आप हमारा दाँत खट्टे नहीं कर सकते हैं। अव्याप्ति दोष का निराकरण बहुत सरल है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय तक जाने की कोई जरूरत नहीं है। व्यवहार नय से ही अव्याप्ति का निवारण हो जायेगा। यहाँ नैश्चयिक सूक्ष्मसमयरूप वर्त्तमान काल को लेने की आवश्यकता नहीं है। व्यवहारिक वर्त्तमान काल का ग्रहण ही उचित है। यह व्यवहारिक वर्तमान समय तो निसर्ग समय में और निसर्ग समय के बाद तीन समय तक भी रहेगा ही, क्योंकि सूक्ष्म समय व्यवहार्य नहीं है। अतः स्थूल वर्तमान काल को लेकर वर्तमानकालीनप्रयत्नविषयत्वरूप भाष्यमाणत्व, जो कि भावभाषा के लक्षणरूप से इष्ट है, निसर्गोत्तर काल में भी भिन्न भाषाद्रव्य में रहेगा। अतः अव्याप्ति दोष नहीं है।

त्वात्। अयं भावो निसर्गसमयोत्तरकालं भिन्नभाषाद्रव्याणां भाषापरिणामत्यागः स्यात्तदा भाषाद्रव्याणां सतां तेषां चतुर्थसमये लोकव्यापित्वे पराघातस्वभावस्य हेतुत्वमुक्तमनुपपन्नं स्यादिति तदा तत्र भाषापरिणामस्य निराकर्तुमनर्हत्वादित्याशयः। एतेन ताल्वादिव्यापारसहकारिकारणनिवृत्तौ हि पुद्गलस्य श्रावणस्वभावव्यावृत्तिरिति (प्र.क.मा.प्रताकार-पृ-१२३) ***प्रमेयकमलमार्तण्डकारवचनमपास्तं*** द्रष्टव्यम्, सहकारिकारणस्य कार्यस्थितिनियामकत्वाभावाच्च।

❋ स्थूलकाल की अपेक्षा भी 'भाष्यमाणा भाषा' सिद्धांत तथ्यहीन है ❋

समाधान :- तुम किस खेत की मूली हो? हमने सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय का भी खंडन कर दिया, फिर व्यवहारनय की तो बात ही क्या? स्थूल व्यावहारिक वर्तमान काल लेने पर भी अव्याप्ति दोष तदवस्थ ही है। देखिये, आप स्थूलकालरूप वर्तमानकाल कितने समय का मानेंगे? आपसे कल्पित=विवक्षित स्थूलकालरूप वर्तमानकाल के चरमसमयपर्यन्त भाषाद्रव्यों के निसर्ग में जीव प्रयत्न करेगा तब आपका विवक्षित स्थूलकालरूप वर्तमानकाल समाप्त हो जायेगा, मगर उसके बाद वे भिन्न भाषाद्रव्य लोक में व्याप्त हों तब तक उनमें भाषा का परिणाम तो अवश्य रहेगा ही। लेकिन उस वक्त आपका विवक्षित स्थूलकालात्मक वर्तमानकाल खत्म हो चूका होगा। इसलिए उस वक्त भाष्यमाणत्व=स्थूलवर्तमानकालिकप्रयत्नविषयत्व उन भिन्न भाषाद्रव्यों में न होने से अव्याप्ति दोष फिर आयेगा ही। बंदा ठेर का ठेर!

❋ भाष्यमाणा भाषा - सिद्धांत क्रियारूप भावभाषा के उद्देश्य से है - उत्तरपक्ष **❋**

उत्तरपक्ष :- साँप भी न मरे और लाठी भी न तूटे - ऐसा मार्ग लेने से कोई बाधा नहीं होती। सुनिये, भावभाषा दो प्रकार की होती हैं (१) क्रियारूप भावभाषा और (२) परिणामरूप भावभाषा। क्रियाशब्द से यहाँ निसरण क्रिया ग्राह्य है और परिणामशब्द से शब्दपरिणाम ग्राह्य है। 'भाष्यमाणा भाषा' इस सिद्धांत वचन में निसर्गक्रियारूप भावभाषा अभिप्रेत है; शब्दपरिणामरूप भावभाषा नहीं। तात्पर्य यह है कि जो निसर्गक्रियारूप भावभाषा है वह भाष्यमाण = वर्तमानकालीनप्रयत्न की विषयभूत होती है, अविषयभूत नहीं। यहाँ यह शंका कि - "भाषापरिणामरूप भावभाषा को छोड कर निसरणक्रियारूप भावभाषा का ही ग्रहण क्यों किया? यह तो अर्धजरतीय न्याय है" - करना मुनासिब नहीं है, क्योंकि शब्दोच्चारणक्रियारूप भावभाषा का ग्रहण करने पर ही भाषाशब्द के अर्थ की उपपत्ति होती है। भाषाशब्द का अर्थ है कंठ-तालु आदि के अभिघात से शब्द का उत्पादक व्यापार। यह अर्थ तभी घटता है जब भाषा शब्दोच्चारणक्रियारूप ली जाय। शब्दपरिणामरूप भावभाषा का ग्रहण करने पर भाषा शब्द के अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

'**हेत्वभि**'। यहाँ यह संदेह हो सकता है कि - "भावभाषा के इस तरह क्रियारूप और परिणामरूप दो विभाग करने की अपेक्षा से उचित तो यह है कि निसर्ग काल के बाद भिन्न भाषाद्रव्यों में शब्दपरिणाम का ही स्वीकार न किया जाय। जब निसरण क्रिया के काल के बाद में भिन्न भाषाद्रव्य में शब्द परिणाम ही न होगा तब उसमें अव्याप्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा है। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। अतः शब्दोच्चारणकाल के बाद भिन्न भाषाद्रव्यों में शब्दपरिणाम के नाश की कल्पना करना ही उचित प्रतीत होता है"। - मगर यह समीचीन इसलिए नहीं है कि - विशेषावश्यकभाष्य की वृत्ति में श्रीमलधारी हेमचंद्रसूरीजी महाराज ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि 'पराघातस्वभाव संपूर्ण लोक में भिन्न भाषाद्रव्यों को फैलाने में हेतु होता है। इससे साफ साफ यह सिद्ध हो जाता है कि भिन्न भाषाद्रव्य भिन्नभाषाद्रव्य के रूप में ही लोक में फैलते है। अतएव तब तक उनमें शब्द का परिणाम भी अवश्य रहता है। उसमें कोई विवाद नहीं है।

❋ एवंभूतनय की दृष्टि से भाषण के पूर्वोत्तर काल में भाषा का निषेध ❋

'शब्दार्थवियोगादिति'। वापस यहाँ यह संदेह कि - "यदि निसर्गकाल के बाद भी भिन्नभाषाद्रव्यों में शब्दपरिणाम विद्यमान है तब 'शब्दोच्चारण काल में ही भाषा भाषारूप है, शब्दोच्चारण के पूर्व में और पश्चात् काल में नहीं 'ऐसा भगवतीसूत्र में बता कर शब्दोच्चारण के पश्चात् काल में भिन्न भाषाद्रव्य में भावभाषात्व का निषेध क्यों किया गया है? यह तो परस्पर विरुद्ध है। चोर से कहे चोरी करना और साहूकार को कहे जागते रहना" - इसलिए निराकृत हो जाता है कि - "शब्दोच्चारण काल के बाद भाषाशब्द का अर्थ=कंठ, तालु आदि से शब्दोत्पादक व्यापाररूप अर्थ भिन्नभाषाद्रव्य में नहीं रहता है। अतः क्रियारूप भावभाषा का ही निसर्गोत्तर काल में निषेध है, भाषापरिणामरूप भावभाषा का नहीं - ऐसा हमें प्रतीत होता है "ऐसा प्रकरणकार श्रीमद् कहते हैं।

हेतुना तदा क्रियारूपभावभाषाया एव निषेधादित्याकलयामः।।१२।। **अथ** भावभाषामाह-

उवउत्ताणं भासा णायव्वा एत्थ भावभासत्ति। उवओगो खलु भावो णुवओगो दव्वमिति कट्टु।।१३।।[१]

अत्र = भाषानिक्षेपप्रक्रमे, **उपयुक्तानां** = 'इदमित्थं मया भाषितव्यम्, इत्थमेव भाष्यमाणं श्रोतृपरिज्ञानाय भविष्यती'त्यादि सम्यगुपयोगशालिनां; **भाषा भावभाषेति ज्ञातव्या, 'कुतः**इत्याह, **खल्विति** निश्चये **उपयोगो भावोऽनुपयोगश्च द्रव्यमिति कृत्वा।**

ननु भिन्नभाषाद्रव्याणां निसर्गोत्तरकालमपि शब्दपरिणामयुक्तत्वात्किमिति 'ण पुव्विं भाषा ण भासासमयवितिक्कंता भासा' इति निषेधः कृत इत्याशङ्कायामाह **'शब्दार्थवियोगादिति'** = भाष्यमाणत्वाभावादित्यर्थः, कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यशब्दोत्पादकव्यापाररूपभाषाशब्दार्थशून्यत्वादिति यावत्। **'एवे'**ति। **अनेन** शब्दपरिणामरूपभावभाषाया व्यवच्छेदः सूचितः। 'भाष्यमाणैव भाषे'ति वचनाच्छब्दपरिणामरूपभावभाषाया निसर्गानन्तरसमये निषेधो न क्रियते किन्तु निसरणक्रियारूपभावभाषाया इति गूढार्थः।।१२।।

अथेति। अनेनाऽवसरसङ्गतिप्रदर्शनात्पूर्वोत्तरग्रन्थयोरेकवाक्यताप्रतिपत्तिः प्रदर्शिता।

'उपयोग'· इति। भावजन्यभाषायां कार्ये कारणोपचाराद् भावभाषाव्यपदेशो व्यवहारनयेनेति ध्येयम्। 'भवइ' इति धातूनामनेकार्थत्वादुत्पद्यत इत्यर्थः।

ननु भाषायाः कण्ठताल्वाद्यभिधातेन जन्यत्वात्कथमभिप्रायात्मकोपयोगजन्यत्वमित्याशङ्कायामाह - **'जो'** इति। व्यक्तम्।

इस तरह १२वीं गाथा में ग्रहणादि तीन भाषा भावभाषा का कारण होने से द्रव्य भाषा नहीं है, किन्तु द्रव्यप्रधानता की विवक्षा से ही द्रव्यभाषा है - यह 'भाष्यमाण भाषा' इत्यादि तीन सिद्धांत की अनुपपत्ति के बल पर सिद्ध किया है और साथ साथ द्रव्यभाषा के वक्तव्य को प्रकरणकार ने जलांजलि दी है।।१२।।

इस तरह दूसरी गाथा से १२वीं गाथा तक नोआगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्यभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब अवसर प्राप्त भावभाषा का १३वीं गाथा से प्रकरणकार निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- यहाँ -'उपयोगवाले जीवों की भाषा भावभाषा है' - यह जानना चाहिए, क्योंकि उपयोग ही भाव है, अनुपयोग तो द्रव्य है।१३।

भावभाषा का प्रतिपादन

विवरणार्थ :- भाषा के निक्षेप के प्रसंग में भावभाषा को कैसे जाना जाए? इस समस्या का समाधान यह है कि - उपयोगवाले जीवों की भाषा भावभाषा है। यहाँ खाने, पीने, गाने के उपयोग नहीं लेने हैं, किन्तु भावभाषा के प्रसंग से, "मुझे यह इस तरह बोलना चाहिए, मैं ऐसा बोलूँगा तभी श्रोता को अर्थज्ञान हो सकेगा" ऐसा उपयोग=प्रणिधान लेना है और इस उपयोग से वक्ता बोले तब उसकी भाषा भावभाषा कही जाती है। आशय यह है कि बुद्धिमान् वक्ता जब श्रोता को अपने इष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए नियत शब्दों का नियतरूप से उच्चारण करता है और तभी श्रोता को वक्ता के तात्पर्य के विषयभूत अर्थ का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। जैसे कि घटशब्द की शक्ति कम्बुग्रीवादिमान् घटपदार्थ में है। अतः वक्ता जब श्रोता को घटअर्थ का बोध कराने के तात्पर्य से 'घट' शब्द को बोलता है तब इसको सुन कर श्रोता को घटअर्थ का बोध होता है। यहाँ वक्ता "घटशब्द से इसको घटअर्थ का बोध हो" - इस उपयोग से घटशब्दोच्चारण करता है। अतः यह भावभाषा है। उपयोग को शास्त्र में भाव कहा गया है और अनुपयोग को द्रव्य। अतः उपयोगात्मक भाव से प्रयुक्त होने से, कार्य में कारण का उपचार कर के इस भाषा को भी भावभाषा कहते हैं।

'तदिदम्'. इत्यादि। विवरणकार वाक्यशुद्धिचूर्णि का पाठ बता कर उपर्युक्त बात का ही समर्थन करते हैं। वाक्यशुद्धिचूर्णिवचन का अर्थ यह है कि - "जिस अभिप्राय से भाषा उत्पन्न होती हैं वह भाषा भावभाषा होती है। अर्थात् अभिप्रायजन्य भाषा भावभाषा

१ उपयुक्तानां भाषा ज्ञातव्याऽत्र भावभाषेति। उपयोगः खलु भावोऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा।।१३।।

तदिदमभिप्रेत्योक्तं वाक्यशुद्धिचूर्णौ - "[1]भावभासा णाम जेणाभिप्पाएण भासा भवइ सा भावभासा। कहं?, जो भासिउमिच्छइ सो पुव्वमेव अत्ताणं पत्तियावेइ, जहा-इमं मए वत्तव्वंति भासमाणो परं पत्तियावेइ, एयं भासाए पओअणं जं परमप्पाणं च अत्थे[2] अवबोधयति त्ति (द.वै.जि.चू.पृ. २३५)।

अथाग्न्युपयोगस्य भावाग्नित्ववद् भाषोपयोगस्य भावभाषात्वमुच्यतां, न तूपयोगविषये वचन इति **चेत्? न**, भाव एव भाषेति

'अर्थाभिधानप्रत्ययाः तुल्यनामधेया' इत्यभिप्रायेण कश्चित्शङ्कते **अथेति**। **'भाव एव'** इति। आगमतो भाषाविषयकोपयोग एव भावभाषा कर्मधारयसमासाभ्युपगमात्। एवंरीत्या वचने भावभाषात्वस्याऽनुपपत्तिस्तथापि भावेन भाषेति तृतीयातत्पुरुषसमासाभ्युपगमे न काऽपि क्षतिः। **'भावेने'**त्यत्र करणत्वार्थे तृतीया द्रष्टव्या, तदुक्तं ***सिद्धहेमे*** 'हेतुकर्तृकरणेत्थम्भूतलक्षणे तृतीये'ति। (सि.हे. २।२।४४) भावकरणकभाषेत्यर्थः। भावो नाम भाषणविषयकोपयोगः कण्ठताल्वाद्यभिघातद्वारा स शब्दोत्पादक इति प्रसिद्धेः तत्र भावे करणत्वम्।

नन्वेकं सन्धित्सतोऽन्यत् प्रच्याव्यते, यत एवं सति बहुव्रीह्यादिसमासेनान्यार्थेऽतिप्रसंगापत्तिर्न दुर्लभेत्याशङ्काया-

होती है।" यह कैसे हो सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि - "जो वक्ता बोलना चाहता है वह शब्दोच्चारण के पूर्व में ही अपने को - "मुझे यह बोलना चाहिए" - ऐसे अभिप्राय से भावित करता है और बाद में वैसे बोलता हुआ दूसरों = श्रोताओं को अर्थ का बोध कराता है। भाषा का यही प्रयोजन है कि वह भाषा दूसरों को और अपने को अर्थ का बोध कराती है"। - चूर्णिकार श्रीजिनदासगणी के वचन से भी सिद्ध होता है कि अभिप्राय यानी उपयोग से जन्य भाषा ही भावभाषा है, अनुपयोग से जन्य नहीं।

❋ वचन भावभाषा नहीं है - पूर्वपक्ष ❋

पूर्वपक्ष :- **'अथ'** इत्यादि। भावभाषा शब्द का अर्थ उपयोगपूर्वक वचनप्रयोग समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि जैसे अनुयोगद्वारसूत्र आदि में अग्निविषयक उपयोगरूप भाव को ही आगमतः भाव अग्नि कहा है वैसे भाषाविषयक उपयोगरूप भाव को ही भावभाषा कहना मुनासिब है। दूसरी बात यह है कि अग्निविषयक उपयोगरूप भाव को ही भावाग्नि मानने में भावाग्नि शब्द की यथार्थता उपपन्न हो सकती है, क्योंकि भाव ही आग या भावात्मक आग ऐसा भावाग्नि इस सामसिक पद का विग्रह भी उपपन्न होता है। इसी तरह भाव ही भाषा ऐसा विग्रह वाक्य भी तब सार्थक हो सकता है जब भाषाविषयक उपयोग को ही भावभाषारूप माना जाय। दूसरी बात यह है कि उपयोग के विषयभूत वचन को भावभाषा कहने में 'भाव ही भाषा' इस विग्रह वाक्य की उपपत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि वचन तो जैन दर्शन में पौद्गलिक होने से द्रव्यात्मक है, भावात्मक नहीं। अतः द्रव्यात्मक वचन को भावभाषा कहने में शब्दार्थ का भी बाध होता है। अतः उपयोग के विषयभूत वचन को भावभाषा कहना युक्त नहीं है बल्कि वचनविषयक उपयोग को ही भावभाषा कहना ठीक है।

❋ वचन भावभाषारूप है - उत्तरपक्ष ❋

उत्तरपक्ष :- **न.** इति। आपकी यह बात ठीक नहीं है। आपके अभिप्राय के अनुसार यदि 'भाव ही भाषा' इस विग्रह वाक्य को अनुमति दी जाय तो आपका बताया हुआ दोष आ सकता है, मगर हमने यहाँ आपका बताया हुआ विग्रह मान्य नहीं किया है। हम तो यहाँ 'भावेन भाषा = भावभाषा 'ऐसा विग्रह करते हैं। अतः अब भावभाषा शब्द का अर्थ होगा भावकरणकभाषा अर्थात् भाव यानी उपयोग जिसका असाधारण कारण है ऐसी भाषा। इस विग्रह के अनुसार तो उपयोग से वचन को भावभाषा कहना सुसंगत ही है, क्योंकि वचन का असाधारण कारण उपयोग होता है। उपर्युक्त विग्रहवाक्य के स्वीकार करने से जन्य वचन में भावभाषत्व की उपपत्ति होती है। अतः कोई दोष नहीं है।

शंका :- अरे! क्या तुम्हारी अक्ल चरने को गई है? आपके मनपसंद रूप से समास का विग्रह कर के अपने इष्ट अर्थ की निष्पत्ति आप कर रहे हैं तब तो अन्य कोई बहुव्रीहि समास आदि के अनुकूल विग्रह कर के अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि बिना किसी रोक टोक के कर सकता है जैसे कि 'भाव ही है भाषा जिसकी' ऐसा विग्रह करने पर मूक पुरुष भी भावभाषा कहलायेगा, क्योंकि हाव-भाव ही उसकी भाषा होती है। यह तो बकरी को निकालते निकालते ऊँट घूस गया।

१ भावभाषा नाम येनाऽभिप्रायेण भाषा भवति सा भावभाषा। कथं? यो भाषितुमिच्छति स पूर्व्वमेवात्मानं प्रत्याययति यथा-इदं मया वक्तव्यमिति भाषमाणः परं प्रत्याययति। एतद् भाषायाः प्रयोजनं यत्परमात्मानं चार्थानवबोधयतीति। २ 'अत्थे' इति कप्रतो नास्ति।

भाष्योक्तार्थानुपपत्तावपि भावेन भाषेति भङ्ग्या प्रकृतोपपत्तेः; परिभाषकेच्छायाश्चातिप्रसङ्गभञ्जकत्वादिति **दिग्**।।१३।।

ननु भाषा न निर्णायिका, तादात्म्य-तदुत्पत्तिविरहेण शब्दार्थयोरसम्बन्धात्प्रतिनियतबोधानुपपत्तेः। **न चैवं** शब्दानामेवानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽर्थबोधकत्वं प्रतिसन्धायैव तदुच्चारादिति **वाच्यम्** विकल्पेभ्य एव तदुत्पत्तेस्तेषामपि विकल्पजननेनैव चरितार्थत्वात्। उक्तंच

माह **'परि'** इत्यादि। परिभाषाकर्तृशास्त्रकारेच्छाया नियामकत्वान्नातिप्रसङ्ग इति भावः। नोआगमतो भावेन भाषा भावभाषेत्याकारकेच्छायाः शास्त्रपर्यालोचनेनोन्नयनादिति **दिगर्थः**।।१३।।

सौगत आशङ्कते **'ननु'** इति। अत्रैवमनुमानप्रयोगाः भाषा न प्रमाणं अर्थनिर्णायकत्वाभावात् संशयवत्। तदेव कुत इति चेत्? उच्यते, भाषा न अर्थनिर्णायिका प्रतिनियतबोधानुत्पादकत्वात् विकल्पवत्। तदपि कथमिति चेत्? उच्यते, भाषा न प्रतिनियतबोधजनिका अर्थासंबद्धत्वात् कल्पनावत्। अर्थाऽसंबद्धत्वमपि कुत इति चेत्? उच्यते, भाषाया अर्थप्रतियोगिक-तादात्म्य-तदुत्पत्त्यन्यतरसम्बन्धाभावात् तद्वद्। तदपि कुत इति चेत्? उच्यते, भाषाया अर्थतादात्म्याभ्युपगमे शस्त्रादिशब्दान्मुखच्छेदादिप्रसङ्गात्। भाषाया अर्थजनकत्वे धनशब्दादेव विश्वदारिद्र्यं विदारितं स्यात्, भाषाया अर्थजन्यत्वे सदैव कोलाहलप्रसङ्गादिति न तदुत्पत्तिसंबन्धोऽपि युक्तः। तदुक्तं ***शास्त्रवार्तासमुच्चये*** बौद्धमतनिरूपणप्रसङ्गे - "न तादात्म्यं द्वयाभावप्रसङ्गाद् बुद्धिभेदतः। शस्त्राद्युक्तौ मुखच्छेदादिसङ्गात् समयस्थितेः।। अर्थाऽसन्निधिभावेन, तद्द्रष्टावन्यथोक्तितः। अन्याभावनियोगाच्च न तदुत्पत्तिरप्यलम्।। (शा.स. स्त. ११/२-३) तादात्म्यतदुत्पत्तिव्यतिरिक्तसंबन्धाभावात्, विशेषाभावकूटस्य सामान्याभावसाधकत्वाच्च शब्दो नार्थसंबद्ध इति स्थितम्। असम्बद्धत्वे तु सर्वार्थबोधकत्वमबोधकत्वं वाऽविशेषादिति न प्रतिनियतार्थबोधकत्वम्। **'विकल्पेभ्य'** इति।

※ अर्थघटन परिभाषाकार की इच्छा के अनुसार ※

समाधान :- परि. इति। यहाँ भावभाषारूप समास का विग्रह कैसे करना? इसमें न आपकी इच्छा नियामक है, न हमारी इच्छा नियामक है और न अन्य किसीकी इच्छा नियामक है, किन्तु शास्त्र की परिभाषा बनानेवाले शास्त्रकार भगवंतों की ही इच्छा नियामक है। प्रस्तुत में 'भाव=अभिप्राय=उपयोग से जन्य भाषा भावभाषा है' इस चूर्णिकार के वचन से सिद्ध होता है कि यहाँ 'भावेन भाषा=भावभाषा' ऐसा विग्रह इष्ट है, न कि 'भाव एव भाषा = भावभाषा' ऐसा कर्मधारयसमासानुकूल विग्रह या बहुव्रीहिसमासानुकूल विग्रह। अतः हम दोनों के ऊपर, अरे! सभी के ऊपर जब शास्त्रकारों का अनुशासन है तब उनके वचन के अनुसार ही अर्थघटन करना मुनासिब है। अनुयोगद्वार आदि सूत्र के अनुसार भी वचन नोआगम से भावभाषास्वरूप ही है। अतः कोई दोष नहीं है। यह तो एक दिशासूचनमात्र है। इसके उपर अधिक विचार भी किया जा सकता है - इस बात की सूचना देने के लिए विवरणकार ने १३वीं गाथा के विवरण के अंत में 'दिक्' शब्द का प्रयोग किया है।

※ शब्द प्रमाण नहीं है - बौद्ध ※

बौद्ध :- ननु. इति। 'अन्य को बोध कराने के लिए वक्ता उपयोगपूर्वक शब्दोच्चारण करता है वह भावभाषा है' - यह आपका कथन जलमन्थन की तरह निष्फल है - क्योंकि भाषा अर्थ का निर्णय कराने में समर्थ ही नहीं है। भाषा से अर्थ का निर्णय तब हो सकता है, जब भाषा और अर्थ के बीच संबंध हो। अर्थ के साथ असंबद्ध हो कर भाषा अर्थ का निर्णय कराये - यह कथमपि संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि अर्थ से असंबद्ध होने पर भाषा या तो सब अर्थ का निर्णय करायेगी या तो एक भी अर्थ का नहीं। इसलिए शब्द को अर्थ का निर्णय कराने के लिए अर्थ से संबद्ध रहना आवश्यक है, मगर शब्द का अर्थ के साथ संबंध नहीं घटता है। यदि शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य संबंध माना जाय तो वह संगत नहीं है, क्योंकि तब तो लड्डु शब्दोच्चारण से ही मुँह लड्डु से भर जायेगा और शस्त्र शब्द को बोलने पर जीभ कट जायेगी, क्योंकि 'अर्थ और शब्द अभिन्न है' ऐसा स्वीकार अर्थ और शब्द के बीच तादात्म्य संबंध के स्वीकार में निहित रहता है। यदि शब्द का अर्थ के साथ तदुत्पत्ति संबंध माना जाय तो वह भी संगत नहीं है, क्योंकि यदि आप शब्द को अर्थ का जनक मानेगे तब धन शब्द का उच्चारण करने से हि धन पैदा हो जायेगा फिर इस जगत में कोई दरिद्रनारायण नहीं रहेगा। यदि शब्द को अर्थ से जन्य मानेंगे तब जगत में घट-पट आदि अनेक अर्थ

- विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः। कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि।। ( ) इति। एवं च न 'गामानये'त्यतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिरपि।

वक्तृविकल्पः शब्दजनकः शब्दश्च श्रोतृविकल्पजनक इति भावः। न हि आबालगोपालप्रतीतः शब्दार्थो निषिध्यते किन्तु तत्र सांवृतत्वमभ्युपगम्य तात्त्विकत्वं निषिध्यत इति निगूढार्थः।

ननु शब्दस्य विकल्पमात्रजननाऽभ्युपगमे प्रवृत्तिर्न स्यात्, विकल्पस्याऽप्रमाणत्वात् तदुक्तं **योगसूत्रे पतंजलिना**- "शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः (यो.सू. १/९) इत्यत आह '**एव**'मिति। शब्दार्थे सांवृतसत्यत्वाभ्युपगमात्, 'गामानये'ति वाक्यतः प्रवृत्तिः युज्यत इति। अयमाशयो विकल्पे पारमार्थिकत्वाऽभावेऽपि संवादिभ्रमेणैव प्रवृत्ति-रुपपन्ना। संवादिभ्रमो नाम सफलप्रवृत्तिजनको भ्रमो यथा मणिप्रभायां मणिबुद्धिरिति। ननु शाब्दस्थले विकल्पामात्र-जननेन सांवृतसत्यत्वाभ्युपमे सति शक्यते ह्येवं वक्तुं यदुतानुमानस्थलेऽपि हेतोर्विकल्पमात्रजननान्नानुमितौ पार-मार्थिकसत्यत्वम्। तथा च सत्यनुमानस्य प्रमाणत्वं विलूनशीर्णं स्यादित्याशङ्कां सौगतो निरसितुमुपन्यस्यति **न चे**त्यादिना। समाधत्ते **तत्र** = हेतौ। अनुमितौ प्रमात्वविशेषस्याऽनुभवसिद्धस्यानपलपनीयतया तदन्यथानुपपत्त्या तत्का-रणीभूता व्याप्तिर्हेतुनिष्ठा सिध्यतीत्यतो नानुमानस्य प्रमाणत्वं दुर्घटमिति तात्पर्यम्।

वस्तुतस्तु बौद्धमते नानुमानं प्रत्यक्षवत् साक्षात्प्रमाणं किन्तु प्रणालिकया। तथाहि नार्थं विना तादात्म्य-तदुत्पत्तिसम्बन्धप्रतिबद्धलिङ्गसद्भावः न तद्विना तद्विषयं ज्ञानं, न तज्ज्ञानमन्तरेण प्रागवधारितसम्बन्धस्मरणम्, तदस्मरणे नानुमानमित्यर्थाव्यभिचारित्वाद् भ्रान्तमप्यनुमानं प्रमाणमिति ध्येयम्। नन्वेवं सति शब्दोऽपि प्रमाणं

विद्यमान होने से सदा के लिए शब्द की उत्पत्ति होती रहेगी और सारे जहाँ में कोलाहल ही सदा के लिए बना रहेगा। अतः शब्द और अर्थ में जन्यजनकभाव न होने से शब्द में अर्थ के साथ तदुत्पत्तिसंबंध भी संभव नहीं है। तादात्म्य और तदुत्पत्ति के सिवा अन्य कोई संबंध तो शब्द का अर्थ के साथ संभव नहीं है। अतः सिद्ध होता है कि शब्द को अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं है। अतः शब्द से प्रतिनियत अर्थ का बोध नहीं हो सकता है। अतएव शब्द में अर्थनिर्णायकत्व और प्रामाण्य नहीं हैं।

शंका :- शब्द को प्रतिनियत अर्थ का बोधक नहीं मानेंगे तब तो शब्द की उत्पत्ति ही न हो सकेगी, क्योंकि सब लोग शब्द में अर्थबोधकत्व का ज्ञान कर के ही शब्दोच्चारण करते हैं। आपके अभिप्राय के अनुसार यदि शब्द अर्थविषयक ज्ञान का जनक ही नहीं है तब तो शब्द की उत्पत्ति ही कैसे होगी?

❋ विकल्प और शब्द में कार्यकारणभाव - बौद्ध ❋

समाधान :- '**विकल्पेभ्य**' इत्यादि। आपको यह किसने पढा दिया कि शब्द में अर्थबोधजनकत्व का प्रामाणिक भान होने पर ही लोग शब्द का उच्चारण करते हैं? लोग तो ऐसे ही "इस शब्द से इस अर्थ का श्रोता को बोध हो" - इस विकल्प से ही शब्द प्रयोग करते हैं और वे शब्द भी श्रोता के दिमाग में घटादिअर्थ का विकल्प उत्पन्न करने से ही चरितार्थ = सफल हो जाते हैं। लेकिन इससे-शब्द श्रोता के दिमाग में घटादि प्रतिनियत अर्थ का प्रामाणिक निश्चय उत्पन्न कराता है - यह सिद्ध नहीं होता है। कहा भी गया है कि - "शब्द की योनि = कारण विकल्प है और विकल्प की योनि = कारण शब्द है। विकल्प और शब्द के बीच ही कार्यकारण भाव है। शब्द तो अर्थ को छूते भी नहीं है।

शंका :- यदि शब्द को अर्थाकार विकल्प का ही कारण मानेगे तब तो 'गाय को ले आओ' इत्यादि वाक्य को सुन कर श्रोता गाय लाने की प्रवृत्ति ही नहीं कर सकेगा, क्योंकि विकल्प तो एक कल्पना है, जो प्रमाण नहीं है। जो प्रमाण नहीं है, उससे प्रवृत्ति आदि व्यवहार कैसे हो सकता है? प्रेक्षावान् लोग तो प्रमाण से ही प्रवृत्ति करते हैं, अप्रमाणात्मक विकल्प से नहीं, अन्यथा अनध्यवसाय आदि से भी प्रवृति होने की आपत्ति आयेगी।

समाधान :- '**एवं**' इति। आपकी यह बात समीचीन नहीं है, क्योंकि बौद्धमत में सत्य के दो प्रकार है पारमार्थिक सत्य और सांवृतिक सत्य। विकल्प में पारमार्थिक सत्यत्व का हम निषेध करते हैं मगर सांवृतिक सत्यत्व का निषेध हम नहीं करते हैं। लोकव्यवहार की प्रवृत्ति तो शब्द और विकल्प में पारमार्थिक सत्यत्व न होने पर भी सांवृतिक सत्यत्व से हो सकती है। अतः शब्द

न चैवमनुमानोच्छेदः, **तत्रानु**भवसिद्धप्रमाविशेषकारणस्य व्याप्त्यादेरबाधाद्, अत्र तु सङ्गतिबाध-स्योक्तत्वादित्यत आह -

[1]ओहारिणी य ए[illegible] सुआउ णायं इमंति ववहारा। संभावणा य णिण्णयहेउअसज्सत्ति दट्ठव्वं।।१४।।

एषा च = भाषा, **अवधारिणी** = निश्चायिका, पदपदार्थयोः सङ्केतरूपसम्बन्धव्यवस्थापनेन हेत्वनुपपत्तिनिरासात्। **न**

स्यादित्यत आह - **'अत्र त्विति**। शब्दे तु तादात्म्यतदुत्पत्त्यन्यतरसम्बन्धबाधस्योक्तत्वादिति सौगताशयं निराकरोति **'ओहारिणी य'** इत्यादिना।

विवृणोति समाधानं **'एषे'**त्यादिना। अत्रैवमनुमानप्रयोगाः भाषा प्रमाणं निर्णायकत्वात् प्रत्यक्षवत्। तदपि कुत इति चेत्? उच्यते भाषा निर्णायिका प्रतिनियतबोधजनकत्वात् प्रत्यक्षवत्। तदपि कुत इति चेत्? उच्यते, भाषा प्रतिनियतबोधजनिका सङ्केताख्यसम्बन्धेनाऽर्थसम्बद्धत्वात्। **एतेन** तादात्म्यतदुत्पत्तिविरहेण शब्दार्थयोरसम्बन्धात्प्रतिनियतबोधानुपपत्तिः **निरस्ता।** पदपदार्थयोः तादात्म्य-तदुत्पत्तिव्यतिरिक्तस्य 'इदं पदमिममर्थं बोधयत्वित्यादिसङ्केत-रूपस्य संबन्धस्य व्यवस्थापनात्। **एतेन** मणिप्रभायां प्रवृत्तस्य यथा मणिप्राप्तिस्तथैवास्माकमप्याकारे प्रवृत्तस्य बाह्यप्राप्तिरिति **निरस्तम्** मणिप्रभायां तत्सन्निधानाविनाभावान्मणिमासादयति न चाकाररूपस्य विकल्पस्य तथासम्भव इति। एतच्चा**त्म-विवेकदीधितौ शिरोमणिना** स्पष्टीकृतमिति अधिकं ततोऽवसेयम्।

में पारमार्थिक सत्यत्व का निषेध करने से व्यवहार की अनुपपत्ति आदि दोषों को कोई अवकाश नहीं है।

शंका :- यदि शब्द और अर्थ परस्पर असम्बद्ध होने से शब्द प्रमाण नहीं है' - ऐसा आप कहेंगे तब तो शब्द की तरह अनुमान भी अप्रमाण ही हो जायेगा, क्योंकि अनुमानस्थल में भी साध्य और हेतु में तादात्म्य-तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता है। इस तरह शब्द में प्रमाणत्व न मानने पर अनुमान में प्रामाण्य दुर्घट हो जाने से अनुमान प्रमाण का ही उच्छेद होने की अनिष्टापत्ति आयेगी।

❋ अनुमान प्रमाण है - बौद्ध **❋**

समाधान :- **'तत्र'** इति। आपकी यह बात भी तथ्यहीन है, क्योंकि अनुमानस्थल में तो हेतु में व्याप्ति रहती है, जो कि प्रत्यक्ष से विलक्षण प्रमा का कारण है। अनुमान में प्रामाण्य अनुभवसिद्ध है। धूम होने पर पर्वत में आग अवश्य रहती है। कभी भी ऐसा नहीं देखा है कि धूआँ होने पर भी पर्वत में आग न हो। इसलिए अनुमान में अनुभवसिद्ध प्रामाण्य का अपलाप करना ठीक नहीं है। जब अनुमिति प्रमा विशेष है, तब तो उसका हेतु अवश्य होना चाहिए, वह है व्याप्तिज्ञान। यह व्याप्ति हेतु में रह कर अनुमिति में प्रामाण्य की घोषणा करती है। व्याप्ति अबाधित होने से अनुमान प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं।

शंका :- यदि अनुमान प्रमाण है तब तो शब्द भी प्रमाण ही होगा, क्योंकि वे दोनों परोक्ष प्रमिति को उत्पन्न करते हैं। अतः अनुमान को प्रमाण कहना और शब्द को अप्रमाण कहना यह तो अर्धजरतीय न्याय है।

समाधान :- **'अत्र तु'** इति। साँप निकल गया, अब लकीर पीटने से क्या? हमने पहले ही बता दिया है कि - शब्द में अर्थ का न तो तादात्म्य संबन्ध है और न तो तदुत्पत्ति संबंध है फिर शब्द में प्रामाण्य की घोषणा करना यह आपका निरर्थक प्रयास है। पर्वत में आग न होने पर भी 'पर्वत पर आग है' ऐसे अप्रामाणिक शब्द भी हम सुनते हैं

अब प्रकरणकार १४वीं गाथा से बौद्ध के दाँत खट्टे करते हैं। सुनिये, प्रकरणकार का वक्तव्य,

गाथार्थ :- 'यह भाषा अवधारिणी है'। 'मैंने यह श्रुत से जाना है' यह व्यवहार होता है। यह भाषा संभावनारूप नहीं हैं, क्योंकि संभावना निर्णायक हेतु से साध्य नहीं होती है, इस प्रकार समझना चाहिए।।१४।।

विवरणार्थ :- इस श्लोक के प्रथम पाद से बौद्ध मत का निराकरण अभिप्रेत है। द्वितीय पाद से वैशेषिकमत का अपाकरण इष्ट है और पश्चार्द्ध से नास्तिकमत का खंडन अभीष्ट है। यह आगे जा कर स्पष्ट हो जायेगा। बौद्ध मत का निराकरण कैसे किया गया है? यह देखिये;

---

१ अवधारिणी चैषा श्रुताज्ज्ञातमेतदिति व्यवहारात्। सम्भावना च निर्णयहेत्वसाध्येति द्रष्टव्यम्।।१४।।

चानाकाङ्क्षादिपदेष्वप्रत्यायकत्वदर्शनादन्यत्राऽपि प्रमाणत्वसंशयः; **प्रत्यक्षे**ऽपि तदनुद्धारात्। न च शास्त्रोक्तार्थानां विसंवाददर्शना-

पुनरपि सौगत आशंकते-**न चानाकाङ्क्षादी**ति। अत्रैवमनुमानप्रयोगाः शब्दो न प्रमाणं अप्रत्यायकत्वात्। तदपि कुत इति चेत्? उच्यते, शब्दो न प्रत्यायकः अनाकाङ्क्षादिपदसजातीयत्वात्। अत्र प्रतिबन्द्या समाधत्ते **'प्रत्यक्षे'** इति। प्रतिबन्दी चैवम्, प्रत्यक्षं न प्रमाणं विसंवादिसजातीयत्वात् 'पीतः शङ्ख' इति प्रत्यक्षवदिति। यदि सौगतः अदुष्टं प्रत्यक्षं प्रमाणं अविसंवादित्वादित्यादिना समाधत्ते तदा आकाङ्क्षादिमत्पदं प्रमाणं अविसंवादित्वात् तादृशप्रत्यक्षवदिति समाधानं ममाऽपि सुलभमित्याशयः। तदुक्तं-"यच्चोभयोः समो दोषः परिहारस्तयोः सम" इति। (श्लो. वा.)

❋ शब्द निर्णायक होने से प्रमाण है - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- तुम क्या सिद्ध कर सकते हो बौद्धराज! बहुत होगा तो शब्दार्थ की तरह जगत को भी मिथ्या कह दोगे। इसके सिवा तुम्हारे बस की और क्या बात है? लेकिन यह मत भूलना कि मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक! सभी लोगों को शब्द और अर्थ के बीच वाच्य-वाचकभाव संबंध निर्विवाद मान्य है। "यह शब्द इस अर्थ का वाचक है और यह अर्थ इस शब्द से वाच्य है" इत्याकारक जो संकेत किया गया है, वही वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है। इसको ही अभिधेय-अभिधायकभाव भी कहते हैं। जब यह सम्बन्ध सब मनीषियों को मान्य है, तब इसकी सिद्धि के लिए अधिक प्रयास करने की जरूरत क्या? हाथ कंगन को आरसी क्या? फिर भी व्याकरण, शब्दकोश, आप्तपुरुषों का व्यवहार, उपमान आदि अनेक प्रमाण 'शब्द को अर्थ के साथ संकेत नाम का सम्बन्ध है' इस बात के साक्षी हैं। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत होगा, उसी शब्द से उस अर्थ का बोध होगा। इसी सबब- "प्रतिनियतबोध की उपपत्ति न होने से शब्द निर्णायक नहीं है" - ऐसा आपका कथन निराकृत हो जाता है।

बौद्ध :- "भाषा अर्थनिर्णायक है" - यह आपका कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि आकांक्षादि से रहित वाक्यों से अर्थ का निर्णय श्रोता को नहीं होता है। 'घटेन पश्य' अर्थात् 'घट से देखो' - इस वाक्य से श्रोता को कुछ भी अर्थनिर्णय नहीं होता है। इस तरह योग्यता, आसत्ति आदि से शून्य वाक्य को सुन कर भी श्रोता को अर्थनिर्णय नहीं होता है। अतः भाषा को अर्थनिर्णायक कहना यह एक दुःसाहस है।

❋ शब्दस्थल में प्रतिबन्दी ❋

स्याद्वादी :- **प्रत्य.** इति। वाह भाई! दूध का जला छाछ को भी फूँक फूँक कर पीता है। आकांक्षा, योग्यता आदि से शून्य वाक्य से अर्थनिर्णय न होने से आपने आकांक्षा-योग्यता आदि से संपन्न वाक्य को भी अर्थनिर्णायक न कहने का अपूर्व साहस कर दिया। वाह बौद्धराज ! मगर आप यह नहीं जानते कि मियाँ की जूती मियाँ के सर! शब्दस्थल में जो अनिष्ट आपादान आपने किया है वह तो प्रत्यक्षस्थल में आपके लिये भी समान है। कोई आपको यह कह दे कि - 'शंख में जो पीतिमा कि बुद्धि होती है, वह प्रत्यक्ष जैसे अप्रमाण है; वैसे ही अन्य प्रत्यक्ष भी अप्रमाण है, क्योंकि विसंवादिसजातीय है' तब आप क्या समाधान बताओगे? इस आपत्ति का उद्धार तो आपको करना ही पड़ेगा।

बौद्ध :- यह तो बहुत सरल है। हम प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण नहीं मानते हैं, किन्तु निर्दोष प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। "जो प्रत्यक्ष दोषादि से रहित हो वह प्रमाण है" - 'ऐसा कहने से 'शंखः पीतः' इस प्रत्यक्ष में प्रमाणत्व नहीं आयेगा और इस से भिन्न निर्दोष सामग्री से उत्पन्न प्रत्यक्ष में प्रमाणत्व रहेगा। अतः कोई दोष नहीं है।

स्याद्वादी :- तब तो यह समाधान हमारे पक्ष में भी समान रूप से लागु होता है। हम भी यही कहते हैं कि - 'जो वाक्य आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति आदि से संपन्न हो, आप्तपुरुष से कथित हो वह वाक्य प्रमाण है और इससे भिन्न आकांक्षादि से शून्य अनाप्तपुरुषोच्चरित वाक्य अप्रमाण है' - इस रीति से विषयविभाग निदर्शनपुरस्सर भाषा को प्रमाण कहने में कोई क्षति नहीं है, क्योंकि 'घटेन पश्य' यह वाक्य आकांक्षा से शून्य है। अत एव वह प्रमाण नहीं है, मगर 'घटं पश्यं' अर्थात् "तुम घट को देखो" यह वाक्य तो आकांक्षादि से युक्त होने से प्रमाण ही है। अतः आकांक्षा आदि से युक्त भाषा को अर्थनिर्णायक होने से प्रमाण कहने में कोई क्षति नहीं हैं।

बौद्ध :- प्रत्यक्षस्थल में और शब्दस्थल में समानता नही है किन्तु विषमता है। हम तो जो प्रत्यक्ष सदोष = विसंवादी हो उसको अप्रमाण कह सकते हैं, मगर आपके लिए यह कथन नामुमकिन है, क्योंकि शास्त्र, जो कि आपको प्रमाणरूप से मान्य है, जिन

तदप्रामाण्यम्; तद्विसंवादस्यैवासिद्धेः; क्वचिद्विहितकर्मणः फलाभावस्याङ्गवैकल्याद्यधीनत्वादिति **दिग्**।

अथाऽस्तु शब्दप्रामाण्यं तथाऽपि न स्वतन्त्रतया किन्तु अनुमानविधया। न च शब्दस्याऽर्थाऽव्याप्यत्वात्कथं ततस्तदनुमानमिति

ननु 'इक्कोवि नमुक्कारो' इत्यादेर्विसंवादः किं पाणिपिहित? इत्यत आह '**क्वचिदि**'**ति**। तत्र संसारनिस्तारण-फलाभावस्य तादृशभावनाद्यङ्गवैकल्यप्रयुक्तत्वात्। न ह्येकस्माद्धेतोरेव कार्योत्पत्तिर्द्रष्टेति भावः। **न च** तादृशभावना-देस्तत्राऽङ्गत्वमसिद्धम्, तदुक्तं ***धर्मसङ्ग्रहे***-"सति सम्यग्दर्शने परया भावनया क्रियमाण एकोऽपि नमस्कारस्तथाभूत-स्याऽध्यवसायस्य हेतुर्भवति यथाभूतात् श्रेणिमवाप्य निस्तरति भवोदधिमिति (धर्म सं. भाग. २/पृ. १११)।

किञ्च सर्वथा वचनस्य प्रामाण्यमनभ्युपगम्याऽपि बौद्धाः किल सम्बन्धाद्यभिधानपूर्वकमेव ग्रन्थादौ प्रवृत्ता इति शब्दप्रामाण्यप्रतिक्षेपस्तेषां कथमर्हति? **न च** सांवृतसत्यत्वाभ्युपगमान्न दोष इति **वाच्यम्** मिथ्यात्वसंवलितत्वे सति व्यवहारौपयिकसत्यत्वाऽभ्युपगमाऽपेक्षया सत्यत्वाऽभ्युपगम एव श्रेयान् लाघवात्; व्यवहारानपलापाच्च। किञ्च तन्मते वस्तुनो निरंशत्वात्कथमेकत्र मिथ्यात्वं सत्यत्वं चेति **चिन्त्यम**।

सर्ववैनाशिकं निराकृत्य वैनाशिकत्वसाम्यादर्धवैनाशिकं वैशेषिकं पूर्वपक्षयति-**अथे**ति। अत्रेदमवधेयं वैशेषिक-

अर्थों का प्रतिपादन करता है उन अर्थों के विषय में अनेकशः विसंवाद उपलब्ध होते हैं। मगर आपके लिए उन शास्त्रवचनों को 'विसंवादी होने से वे अप्रमाण है' यह कहना शक्य नहीं है। लेकिन हमें तो विसंवादि होने से उन शास्त्रों और उन शास्त्रों के वचनों को अप्रमाण कहने में कुछ हिचकिचाहट नहीं होती है और यह युक्त भी है।

स्याद्वादी :- 'शास्त्र विसंवादि है' ऐसा आप कहते हैं तो क्या 'बौद्ध शास्त्र अप्रमाण है' ऐसा भी आप कहते हैं? यह तो हमें भी इष्ट ही है। बौद्ध पिटकों को अप्रमाण कहने में हमें भी कोई हिचकिचाहट नहीं होती है, क्योंकि उनमें अनेक विसंवाद उपलब्ध होते ही हैं। यदि आप जैनागमों को विसंवादी होने से, अप्रमाण कहने का प्रयास करते हैं तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि जैनागमो में विसंवाद ही असिद्ध है।

बौद्ध :- जैनशास्त्रों में भी विसंवाद उपलब्ध है, देखिये, "इक्कोवि नमुक्कारो..." इत्यादि जो कहा गया है वह वचन विसंवादी है, क्योंकि उस सूत्र का अर्थ है - "श्रीमहावीरस्वामीजी को किया गया एक भी नमस्कार नर या नारी को संसारसागर से पार लगाता है"। आपने अनेक बार महावीरस्वामी को नमस्कार किया है, फिर भी आपका संसारसागर से निस्तार नहीं हुआ है। इस विसंवाद के बल पर ही हम कहते हैं कि जैनशास्त्र प्रमाण नहीं है।

※ सामग्री कार्यजनक है ※

स्याद्वादी :- **क्व.** इति। उस्ताद! आप दूर की नहीं सोचते। आप सूत्र के तात्पर्य - संपूर्ण अर्थ को सोचे बिना मात्र शब्दार्थ को ही पकडते हैं। इसी सबब आपको विसंवाद लगता है। सम्यग्दर्शन-विशिष्टभावोल्लास-श्रद्धा-अध्यवसायविशुद्धिसहित एक बार श्री वर्धमानस्वामी को किया गया सामर्थ्ययोग का नमस्कार चरमशरीरी को भवितव्यता का परिपाक करा के क्षपकश्रेणियोग्य अध्यवसाय की प्राप्ति कराता है और कैवल्यलक्ष्मी की भेट दे कर संसारसागर से पार उतारता है। वैसी श्रद्धा भक्ति आदि कारणों की उपस्थिति न हो तब उस नमस्कार से कैसे संसारसागर से निस्तार होगा। अतः कभी कभी शास्त्रों के अर्थों में जो विसंवाद दिखाई देता है वह शेष कारणों के अभाव से प्रयुक्त है, न कि शास्त्रों के अप्रामाण्य से। अतः शेष कारणों के अभाव से प्रयुक्त नमस्कार से प्रस्तुत फल की अप्राप्ति को देख कर शास्त्र में अप्रामाण्य की घोषणा करना यह मूर्खता की ही निशानी है। समझे?

बौद्ध को हक्का-बक्का करने के बाद अब विवरणकार वैशेषिक को अपने सामने लाते हैं।

※ शब्द स्वतंत्र प्रमाण नहीं है - वैशेषिक ※

वैशेषिक :- '**अथ**' इति। शब्द प्रमाण है - ऐसा तो हम मानने के लिये तैयार है मगर आप शब्द को अनुमान से स्वतंत्ररूप से प्रमाण मानते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जाता है। अनुमान में अंतर्भाव होने पर भी शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानने में गौरव होता है। अनुमानरूप मानने में लाघव है। अतः शब्द अनुमान प्रमाण ही है - यह सिद्ध होता है।

शंका :- '**नच शब्दस्य**' इति। शब्द अनुमान प्रमाण है - यह आपका मनोरथ तब सिद्ध होता, यदि शब्द अर्थ का व्याप्य होता।

वाच्यम्, एते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः, आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादित्यादिदिशाऽनुमानादिति **चेत्**? अत्राह - **श्रुतात् ज्ञातमेतदिति व्यवहारात्**। यथाहि अनुमिनोमीति धिया प्रमाविशेषसिद्धेः प्रमाणान्तरसिद्धि स्तथा शब्दात्प्रत्येमीति धिया प्रमाविशेषसिद्धेः तत्राऽपि

दर्शनेऽपि ***व्योमशिवाचार्येण*** तु प्रमाणत्रैविध्यमभ्युपगम्य शब्दे स्वतन्त्रतया प्रामाण्यं प्रतिपादितम्। ***प्रशस्तपादानुसारि-न्यायकन्दलीकारेण श्रीधरेण*** तु शब्दस्य स्वतन्त्रतया प्रामाण्यं दूषितं। **'एते'** इत्यादिकं शाब्दस्थलीयानुमानशरीरम्; 'दण्डेन गामभ्याज' इति पदस्मारितपदार्थवदिति च 'इत्यादि'**शब्दार्थः**।

अत्र च **यद्यपि** अनाप्तोक्तपदस्मारिते पदार्थे व्यभिचारः। आप्तोक्तत्वेन हेतुर्विशेषणीय इति चेत्? न, आप्तत्वस्य पूर्वं दुर्ग्रहत्वात्। अत एव योग्यताया हेतुप्रवेशेऽपि न निस्तारः, एकपदार्थेऽपरपदार्थवत्त्वरूपायाः तस्याः प्रागनिश्चयात्, निश्चये वा सिद्धसाधनान्नानुमानम्। आकाङ्क्षाऽपि समभिव्याहृतपदस्मारितजिज्ञासारूपा स्वरूपसत्येव हेतुः, न तु

जैसे कि अनुमान स्थल में धूमादि हेतु वह्निरूप साध्य को व्याप्त होता है। जहाँ जहाँ धुआँ रहता है वहाँ वहाँ अवश्य वह्नि रहता है। अतः धूम से वह्नि का अनुमान हो सकता है। मगर प्रस्तुत में ऐसा नहीं है। जहाँ जहाँ शब्द होता है, वहाँ वहाँ अर्थ नहीं होता है, क्योंकि घटादि शब्द तो मुँह में उत्पन्न होते हैं और कानों से सुनायी देते हैं, मगर घटादि अर्थ तो भूतलादि में रहते हैं मुँह में या कानों में नहीं। अतः शब्द अर्थ का व्याप्य नहीं है। अर्थ की व्याप्ति = अविनाभाव शब्द में नहीं है तब शब्द को अनुमान कहना कैसे उचित होगा? अतः शब्द अनुमानप्रमाणस्वरूप नहीं हो सकता।

वैशेषिक-समाधान :- आपका यह कथन मुनासिब नहीं है, क्योंकि श्रोता को वाक्य का श्रवण होने पर जब वाक्य के घटक पदों से तत्तत् अर्थ की स्मृति हो जाती है तब उन अर्थों में वक्ता के अभिमत परस्परसम्बन्ध का अनुमान हो जाता है। अनुमान का आकार इस प्रकार होता है - "अमुक अमुक पदार्थ वक्ता के अभिमत परस्परसम्बन्ध के आश्रय हैं, क्योंकि आकांक्षा आदि से युक्त पदों से स्मारित है। जो पदार्थ आकांक्षा आदि से युक्त पदों से स्मारित होते हैं वे वक्ता के अभिमत परस्परसम्बन्ध के आश्रय होते हैं जैसे कि 'घट को लाओ' इस वाक्य का अर्थ। इससे सिद्ध होता है कि शब्द अनुमानप्रमाणरूप ही हैं, न कि अनुमान से भिन्न स्वतंत्र प्रमाणरूप।

❋ शब्द स्वतंत्र प्रमाण है - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- वाह! अधजल गगरी छलकत जाए! इधर उधर से कुछ ज्ञान प्राप्त कर के इस तरह अनुमानप्रयोग बनाने से आपके अभिमत अर्थ की सिद्धि नहीं होगी। वस्तु की सिद्धि तो आगम से, अनुमान से और लौकिकव्यवहार से होती है। आपके कथन में तो सिर से पैर तक गलतियाँ भरी है? फिर भी आज ऐसी मजा चखाऊँगा कि आप भी जानेंगे कि स्याद्वादी कौन है? सबसे प्रथम तो शब्द को अनुमान प्रमाणरूप मानने में लौकिक प्रतीति, स्वअनुभव एवं व्यवहार का अपलाप करना पडता है, क्योंकि लोगों का व्यवहार तो ऐसा ही होता है कि "मैने शब्द से यह जाना है", "मुझे शब्द से अर्थ की अनुमिति नहीं हुई है किन्तु शाब्दबोध हुआ है" ऐसा अनुव्यवसाय होता है।

***'यथाहि'* इति**। आशय यह है कि जैसे अनुमान स्थल में लिंगज्ञानजन्य बोध का अनुभव प्रत्यक्षत्व रूप से न हो कर अनुमितित्व रूप से ही होता है, क्योंकि व्याप्यतादिज्ञान से जन्य बोध होने पर "मैं अर्थ का साक्षात्कार नहीं करता हूँ किन्तु अनुमान करता हूँ," "मुझे अर्थ का साक्षात्कार नहीं हुआ है किन्तु अनुमिति हुई है"। इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। व्यवसाय ज्ञान का स्वरूप क्या है? वह तो व्यवसाय ज्ञान के बाद उत्पन्न होनेवाले अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से ही ज्ञात होता है। उपर्युक्त अनुव्यवसाय से प्रत्यक्षविषयता की अपेक्षा अनुमिति ज्ञान की विलक्षण विषयता सिद्ध होती है। अतः अनुमिति में प्रत्यक्षभिन्नता अनिवार्य है। दूसरी बात यह है कि कार्य भिन्न होने पर सामग्री में भी भेद होता है। प्रत्यक्ष प्रमिति से अनुमितिरूप प्रमिति भिन्न है। अतः उसका कारण भी भिन्न ही होना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष प्रमिति के करणभूत इन्द्रिय से विलक्षण व्याप्तिज्ञान आदिरूप करण=प्रमाण की सिद्धि होती है। इस तरह शाब्द स्थल में भी शब्दजन्य बोध का अनुभव अनुमितित्वरूप से न हो कर शाब्दत्वरूप से ही होता है, क्योंकि शब्दजन्य बोध होने पर 'शब्दात् प्रत्येमि' = 'मुझे शब्द से अर्थ की प्रतीति हुई है (लिंग ज्ञानादि से नहीं)' तथा 'शब्दात् नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामि' = "मुझे शब्द से अर्थ की अनुमिति नहीं हुई है किन्तु शाब्दबोध हुआ है" इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है। इस अनुव्यवसाय से अनुमितिविषयता से शाब्द बोध की विलक्षण विषयता सिद्ध होने से शाब्द बोध में अनुमितिभिन्नता की सिद्धि

प्रमाणान्तरसिद्धिरप्रत्यूहैव, व्याप्त्यादिज्ञानं विनाऽपि शब्दादाहत्यार्थप्रतीतेश्च न तस्यानुमानत्वमिति **दिग्**।

लौकायतिकस्त्वाह - अनुमानमपि न प्रमाणं कुतस्तरां शब्दः?

ज्ञाता। अनुमाने च लिङ्गं न स्वरूपसद्धेतुः किन्तु ज्ञातं सदिति विशेषः। तादृशसंसर्गस्य प्रत्यक्षादिना सिद्धाविच्छां विना शाब्दबोधानुदयः स्यात्, पक्षताया अभावादित्यादिदोषापत्तिर्दुर्निवारा वैशेषिकमते **तथापि** स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य दोषान्तरमाह-**श्रुतादिति**। शब्दादित्यर्थः। **'व्यवहारादिति'**। 'गम्ययपः कर्माधारे' (सि.हे. २/२/७४) इत्यतो व्यवहार-माश्रित्येत्यर्थः, निश्चियत इति शेषः। **ननु** व्यवहारः कथं निश्चायक इति **चेत्**? व्यवहारशब्दस्य यौगिकत्वादिति गृहाण। तदुक्तं, "वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः।।" यथाहि **अनुमिनोमीति धिया** = अनुव्यवसायेन प्रत्यक्षविषयतातो विलक्षणविषयतासिद्धेरनुमितौ प्रत्यक्षविलक्षणप्रमात्वसिद्धिः, ततः कार्यवैजात्यात्करणवैजात्यसिद्ध्याऽनुमानात्मकप्रमाणान्तरसिद्धिर्वैशेषिकेनेष्यते तथैव **शब्दात्प्रत्येमीति धिया** = अनुव्यवसायेनाऽनुमितिविषयतातो विलक्षणविषयतासिद्धेरशाब्दबोधेऽनुमितिभिन्नप्रमात्वसिद्धिस्ततः शब्दात्मकप्रमाणा-न्तरसिद्धिः, प्रमाभेदे प्रमाणभेदनियमादित्याशयः।

एतेन पदानि स्मारितार्थसंसर्गविज्ञप्तिपूर्वकाणि, योग्यतासत्तिमत्वे सति संसृष्टार्थपरत्वादिति ***न्यायलीलावती-कारोक्तं निरस्तं***, कालात्ययापदिष्टत्वात्, 'नानुमिनोमि किन्तु शाब्दयामी' त्यनुभवविरोधाच्च। न हि अनुभवोऽपि व्याख्याय कथ्यते। द्वितीयहेतुमाह-**'व्याप्त्यादिज्ञानं'** इति। आदिशब्दात्परामर्शज्ञानं गृह्यते। अत्रैवं प्रयोगः शब्दो नानुमानं व्याप्त्यादिज्ञानासध्रीचीनत्वे सत्यर्थनिश्चायकत्वादिन्द्रियवत्। **अनेन** शब्दोऽनुमानं व्याप्तिबलेनाऽर्थप्रति-पादकत्वादिति ***न्यायकन्दलीकारोक्तमपहस्तितं*** मन्तव्यम्, अभिनवकविविरचितस्य वाक्यस्याऽदृष्टपूर्वस्याननुभूतचर-वाक्यार्थबोधकत्वानुपपत्तेश्च।

लौकायतिकः इति। लोके आयतं = विस्तीर्णं = प्रसिद्धं यत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तल्लोकायतम्। तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि

अनिवार्य है। तथा प्रमा भिन्न होने पर प्रमाण भी भिन्न ही होता है, अभिन्न नहीं, अन्यथा अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्षप्रमाण से गतार्थ हो जायेगा। अतः अनुमितिरूप प्रमिति के करणभूत व्याप्तिज्ञान से विलक्षण पदज्ञानरूप करण की=प्रमाण की सिद्धि होती है। पदज्ञान का विषय होने से पद को=शब्द को भी प्रमाण कहा जाता है। इस तरह शब्द अनुमान से अतिरिक्त=स्वतंत्र प्रमाण है, यह सिद्ध होता है।

* व्यतिरेक व्यभिचार से भी शब्द अनुमानरूप नहीं है *

व्याप्त्यादिज्ञानं' इति। शब्द अनुमानरूप नहीं है, किन्तु स्वतंत्र प्रमाण ही है - इसकी सिद्धि के लिए विवरणकार दूसरे हेतु को बताते हैं। देखिये, जहाँ अनुमिति होती है वहाँ अनुमिति के अव्यवहित पूर्व क्षण में व्याप्तिज्ञान रहता है, क्योंकि व्याप्तिज्ञान अनुमिति का करण है। यह एक नियम है कि कार्य की उत्पति के पूर्व क्षण में कारण अवश्य उपस्थित रहता है। यदि शब्द को अनुमानरूप माना जाय तब तो शब्द को सुनने के बाद शब्द से अर्थबोध होने के पूर्व में व्याप्तिज्ञान होना आवश्यक है। मगर ऐसा नहीं होता है। आबालगोपाल प्रतीति यही है कि शब्द से तुरंत ही=व्याप्ति ज्ञान के सिवा ही अर्थ का बोध होता है। अभिमत कारण के सिवा ही कार्य का होना यह तो व्यतिरेकव्यभिचार ही है। इससे सिद्ध होता है कि शब्द से जो अर्थबोध होता है वह अपनी उत्पत्ति में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता है। तब व्याप्तिज्ञानरूप करण से जन्य न होने पर भी उस अर्थबोध को अनुमिति कहना यह तो मूर्खता की ही निशानी है। इसी सबब सिद्ध होता है कि शब्द स्वतंत्र प्रमाण है। शब्द को सर्वथा अप्रमाण माननेवाले बौद्ध तथा शब्द को अनुमानान्तर्गत माननेवाले वैशेषिक दोनों भ्रान्त हैं, क्योंकि शब्द प्रमाण है और अनुमान से भिन्न प्रमाणरूप है। इस विषय में अधिक विचारणा की जा सकती है। इसकी सूचना देने के लिए विवरणकार ने दिग् शब्द का निर्देश किया है। बौद्ध और वैशेषिक के होश उडा कर अब विवरणकार लौकायतिक यानी नास्तिक को अपने सामने लाते हैं। नास्तिक का मत क्या है? वह पहले देखिये -

धूमादिदर्शनानन्तरमग्न्यादिव्यवहारस्याऽपि सम्भावनयैवोपपत्तेरिति। तत्राह**सम्भावना च निर्णयहेत्वसाध्येति द्रष्टव्यम्**। सम्भावना हि संशयरूपैव। सा च न परामर्शादिनिश्चयहेतुसाध्या, निश्चय-सामग्र्यां सत्यां संशयानुत्पादात्, अन्यथा वक्रकोटरादिज्ञाने सत्यपि स्थाणौ पुरुषत्वसंशयोत्पादप्रसङ्गात्।

लोकायतम्। तदभ्युपैतीति लौकायतिकः नास्तिक इति यावत्। 'ऋतुक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' (पाणि. ४/२/६०) इति सूत्रेणोक्थादिगणान्तर्गतत्वाट्ठक्प्रत्ययः। लोकायतमधीते वेद वेति लौकायतिकः। **'न प्रमाणं'** इति व्यभिचारि-साधारण्यादिति शेषः क्वचित् संवादस्त्वजाकृपाणीयन्यायेनेति नास्तिकाशयः। **'कुतस्तरां शब्दः?'** व्यभिचारित्वपरोक्ष-त्वाद्यविशेषादिति भावः।

ननु परोक्षाग्न्यानयनादिव्यवहारः कथं स्यात्? इत्याह **'धूमादी'**ति। यद्यपि अगृहीताऽसंसर्गकज्वलनादिस्मृति-रूपायां सम्भावनायामसद्विषयिण्यां परमार्थसद्विषयविषयकत्वरूपसंवादोऽपि न सम्भवति दृष्टसाधर्म्येण चानुमा-नाऽप्रामाण्यसाधनमनुमानप्रामाण्याऽनभ्युपगमेऽनुपपन्नं **तथापि** स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य दोषान्तरमाह-**'सम्भावना चे'**ति। सम्भावना चोत्कटैकतरकोटिज्ञानं तच्चौत्कट्याऽऽपन्नसंशय एवेत्याह **'संशयरूपैवे'**ति संशयविशेषरूपैवेत्यर्थः। एवकारेण निश्चयव्यवच्छेदः कृतः। **अनेन** भूयःसहचारदर्शनजन्यं संभवाख्यमतिरिक्तं प्रमाणं **निरस्तम्** अनिश्चय-रूपत्वात् निश्चयरूपत्वेऽनुमानमेव स्यात्, खार्या द्रोणाढकप्रस्थादिनिश्चयस्य द्रोणाद्यविनाभूतखारीत्वज्ञानजन्य-त्वादित्यधिकं ***स्याद्वादरत्नाकरादौ***।

सा उ संशयात्मिका सम्भावना **च न परामर्शादिनिश्चयहेतुसाध्ये**ति 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्याद्याकारक-परामर्शादिना निश्चयहेतुना साध्या नेत्यर्थः। निश्चयसामग्र्याः संशयसामग्रीतो बलवत्त्वान्न संशयोत्पादः। विपक्षे

❋ अनुमान भी प्रमाण नही है - नास्तिक ❋

नास्तिक :- प्रमाण तो सिर्फ प्रत्यक्ष ही है। जो परोक्ष होता है वह प्रमाण कैसे? अनुमान भी परोक्ष होने से प्रमाण नहीं है तब आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ का निरूपक शब्द=आगम कैसे प्रमाण होगा? अनुमान में विसंवाद=व्यभिचार पाया जाता है वैसे ही शब्द में भी विसंवाद=व्यभिचार पाया जाता है, तब उन दोनों को प्रमाण कैसे कहा जाय? दूसरी बात यह है कि अतीन्द्रिय चीज का सूचक कोई संवाद उपलब्ध नहीं होता है।

शंका :- यदि अनुमान को प्रमाण न माना जायगा तब धूम से वह्नि का अस्तित्व प्रमाणित नही होगा और फिर उस दशा में कोई वह्नि को प्राप्त करने की आशा से उस स्थान में, जहाँ उसे धूम दिखाई दिया है, जाने का प्रयत्न नहीं करेगा। मगर वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य जिस स्थान में धूम को देखता है, उस स्थान में अग्नि के अस्तित्व को प्रामाणिक मान कर अग्नि पाने की आशा से उस स्थान तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। अतः मानना होगा की अनुमान प्रमाण ही है, अप्रमाण नहीं।

❋ संभावना से प्रवृत्ति की उपपत्ति - चार्वाक ❋

नास्तिक का समाधान :- आपने यह कहाँ से पढ लिया कि - "निश्चय ज्ञान ही प्रवृत्ति का जनक है?" व्यवहार निश्चयात्मक ज्ञान से ही साध्य है, यह आपकी भ्रान्ति है। संभावना से भी प्रवृत्ति घट जायेगी। देखिये, जिस स्थान में धूम दीख पडता है, उस स्थान में वह्नि के अस्तित्व को प्रामाणिक मान कर मनुष्य उस स्थान तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु उस स्थान में वह्नि के अस्तित्व को संभवित मान कर वहाँ जाने का प्रयत्न करता है। कहने का आशय यह है कि कई स्थानों में धूम को वह्नि के साथ देख कर मनुष्य जब किसी नये स्थान में दूर से केवल धूम को देखता है किन्तु वह्नि को नहीं देखता तब उस स्थान में धूम के होने से वह्नि के होने की केवल संभावना ही होती है, न कि उसे यह निश्चय होता है कि उस स्थान में वह्नि अवश्य है, क्योंकि इस प्रकार के निश्चय के लिए उसके पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। फलतः धूम को देखने से मनुष्य को वह्नि की जो सम्भावना होती है उसीसे वह अग्नि पाने की आशा से उस स्थान में, जहाँ उसे धूम दीख पडा है, जाने का प्रयास करता है।

❋ अनुमान भी निश्चयात्मक होने से प्रमाण है - जैन ❋

स्याद्वादी :- **'संभावना च'** इति। वाह! तीन लोक से मथुरा न्यारी! सब दार्शनिक अनुमान को प्रमाण मानते हैं मगर आप

अथ भावांशे उत्कटकोटिकसंशय एव संभावना। उत्कटत्वं च निष्कम्पप्रवृत्तिप्रयोजको धर्मविशेषः। तत्प्रयोजकतया च

बाधकमाह-**'अन्यथे'ति** निश्चयसामग्र्यां सत्यां संशयोत्पादाभ्युपगमे **वक्रकोटरादिज्ञाने**स्थाणुत्वव्याप्यवक्रकोटरादिप्रकारकविशेषज्ञाने स्थाणुत्वनिश्चयहेतौ सत्यपि स्थाणौ उच्चैस्तरत्वादिप्रकारकसामान्यज्ञानात् संशयहेतोः **पुरुषत्वसंशयोत्पादप्रसङ्गादि**ति प्रसङ्गापादनम्।

ननु धूमदर्शनात्पूर्वमपि समानधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकसंशयज्ञानरूपा सम्भावनाऽस्त्येव न तु प्रवृत्तिरित्यन्वयव्यभिचार इत्याशङ्कायां **चार्वाकः** प्राह **'अथ'** इति। एवेति एवकारेण एकस्मिन् धर्मिणि तुल्यकोटिकभावाभावप्रकारकसंशयस्य व्यवच्छेदः कृतः। धूमदर्शनप्राक्कालीनस्य च तस्य विध्यंशेऽनुत्कटकोटिकत्वेन सम्भावनऽनात्मकत्वान्न व्यभिचार इति भावः। ननु धूमदर्शनेनाऽनलादौ प्रवृत्तिरनुमानप्रामाण्याऽनभ्युपगमे दुर्घटेत्याह-

---

इसका भी अपलाप कर रहे हो। प्रवृत्ति संभावना से हो या अन्य से हो इसके साथ हमारा कुछ विरोध नही है। मगर आप पर्वत आदि में धूम दर्शन के बाद वह्नि की सम्भावना होने की जो बात कर रहे हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि पर्वत में धूम देखने के बाद व्याप्तिस्मरण होने के पश्चात् 'वह्नि से व्याप्त धूम पर्वत पर है' इत्याकारक जो परामर्शज्ञान दर्शक को होता है वह निश्चय का कारण है, संशय का नहीं। निश्चय की सामग्री होने पर अनन्तर समय में संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि निश्चय की सामग्री से संशय की सामग्री दुर्बल है। यह एक नियम है कि दुर्बल और बलवान दोनों की सामग्री होने पर बलवान सामग्री से संपाद्य कार्य की ही उत्पत्ति होती है। अतः प्रस्तुत में परामर्शरूप निश्चयसामग्री बलवान होने से निश्चय की ही उत्पत्ति होगी, संभावना की नहीं। यदि निश्चय की सामग्री होने पर भी आप संशय की ही उत्पत्ति मानेंगे तब तो जिस स्थाणु में यानी सूखे पेड में पुरुष जितना ऊँचार होने से दूर से 'यह पुरुष है या सूखा पेड?' ऐसा संदेह पेदा होता है, उसमें 'यह स्थाणु=सूखा पेड है' ऐसे निश्चय के जनक ऐसे बखोल, (वक्र कोटर) शाखा आदि विशेषधर्म का ज्ञान होने पर भी 'क्या यह पुरुष है या नहीं? 'ऐसे संदेह की उत्पत्ति होने की आपत्ति आयेगी। मगर हमारा अनुभव ऐसा है कि - विशेषधर्म का ज्ञान होने पर निश्चयात्मक ज्ञान ही उत्पन्न होता है, संशय नहीं। अतः परामर्श से, जो कि निश्चयज्ञान का जनक है, निश्चय की उत्पत्ति को मानना संगत है, न कि संशयरूप संभावना की उत्पत्ति।

❋ धूम से आग की संभावना की उत्पत्ति के स्वीकार में लाघव - नास्तिक ❋

नास्तिक :- अथ. इति। हम एक ही धर्मी में भाव अंश और अभाव अंश में तुल्यता अवगाही संशय को संभावना नहीं कहते हैं किन्तु संशयविशेष को ही सम्भावना रूप कहते हैं। संशयविशेष का अर्थ है जो संशय भाव अंश में उत्कट कोटिवाला हो वह संशय। अर्थात् "क्या यह धूम है या धूलि?" ऐसा जो संशय है वह संभावनारूप नहीं है, किन्तु 'यह धूम ही होना चाहिए' ऐसा भाव अंश में = विधि अंश में उत्कटतावाला जो संशय है वही संभावनास्वरूप है। इस तरह पर्वत में धूम को देख कर मनुष्य अग्नि की संभावना से ही यानी 'पर्वत में अग्नि होनी चाहिए' ऐसे संशय से ही अग्नि लेने के लिए पर्वत की ओर जाता है। यहाँ भावांश में उत्कटकोटिक संशय को संभावना कहा है इसमें उत्कटता का अर्थ है निष्कम्प प्रवृत्ति का प्रयोजक धर्मविशेष। पर्वत में धूम को देख कर निष्कम्प रूप से=निश्चितरूप से मनुष्य अग्नि को लेने के लिए प्रवृत्त होता है। उस निष्कम्प प्रवृत्ति का प्रयोजक धर्म 'यहाँ अग्नि होनी चाहिए' इस संशय में रहता है। अतः यह संशय संभावनारूप है। यहाँ यह शंका करने की कुछ आवश्यकता नहीं है कि - "संशयरूप संभावना की उत्पत्ति के लिए धूम को देखने कि आवश्यकता क्या है?, क्योंकि पर्वत में अग्नि का संशय तो धूम को देखे बिना भी हो सकता है" - इसका कारण यह है कि अग्निविषयक संशय की उत्पत्ति के लिए धूम को देखने की आवश्यकता है। धूम को देखे बिना पर्वत में जो संशय होता है कि - "पर्वत में आग है या नहीं?" यह अग्नि लाने की निष्कम्प प्रवृत्ति में प्रयोजक नहीं है। जब कि धूम को पर्वत में देखने के बाद जो संशय होता है कि - "पर्वत में अग्नि होनी चाहिए" वही अग्नि लाने की निष्कम्प प्रवृत्ति में प्रयोजक होता है। इस तरह संशय में निष्कम्प प्रवृत्ति के प्रयोजक धर्मविशेषरूप उत्कटता के लिए मानव प्रयास करता है। अतः निष्कम्प प्रवृत्ति के लिए धूमदर्शन के बाद अग्नि की प्रमितिरूप अनुमिति की उत्पत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी कोई आवश्यकता न हो फिर भी कल्पना की जाय यह तो निरर्थक कल्पना गौरव ही है। इस गौरव दोष के कारण अनुमितिरूप प्रमा ज्ञान की अदृष्ट कल्पना त्याज्य है।

धूमदर्शनाद्यादरः। न च धूमादेरग्न्यादिसम्भावनाहेतुत्वे गौरवम्, तदभावाप्रकारकत्वघटितनिश्चयत्वाऽपेक्षया तदभावप्रकारकत्वघटितसंशयत्वस्य लघुत्वादिति **चेत्? न** संशयव्यावृत्तानुमितित्वस्यैव व्याप्तिज्ञानादिजन्यतावच्छेदकत्वात्।

'तत्प्रयोजकतये' ति। उत्कटत्वप्रयोजकतयेत्यर्थः। धूमदर्शनस्योत्कटत्वप्रयोजकविधया विध्यंशे उत्कटकोटिकसंशयरूपायां 'पर्वते वह्निना भवितव्यमि'त्यादिरूपायां सम्भावनायामेवोपयोगादित्यर्थः। **धूमादेरिति**। विषयवाचिना धूमग्रहणेन विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति। 'सम्भाव्यमानवह्निसत्ताज्ञापको धूमः' इति यः प्रत्ययः तस्येत्यर्थः। उपलक्षणत्वात् पक्षधर्मताज्ञानमपि उपलक्षितं भवति। ततः सम्भाव्यमानसत्ताज्ञापकत्वपक्षधर्मताज्ञानादेरिति फलितम्। **गौरवमिति** कार्यतावच्छेदके गौरवमित्यर्थः। सम्भावनायाः कार्यत्वाभ्युपगमे कार्यतावच्छेदकं संशयत्वं स्यात्। तच्च तद्धर्माभावप्रकारकत्वे सति तद्धर्मप्रकारकत्वरूपं निश्चयस्य तु कार्यत्वाभ्युपगमे कार्यतावच्छेदकं निश्चयत्वं स्यात्। तच्च तद्धर्मप्रकारकत्वरूपमितिलाघवम्। धूमदर्शनादेरग्न्यादिसम्भावनाहेतुत्वे तु गौरवमिति शङ्काकर्तुराशयः। चार्वाकस्तन्निराकरोति- **'तदभावाप्रकारकत्वे'**त्यादिना। अवधारणरूपस्य निश्चयस्य तद्धर्माऽभावप्रकारकत्वाऽभावे सति तद्धर्मप्रकारकत्वरूपतया तद्धर्माभावाऽप्रकारकत्वघटितत्वात् सम्भावनारूपस्य संशयस्य च तद्धर्माभावप्रकारकत्वे सति तद्धर्मप्रकारकत्वरूपतया तद्धर्माभावप्रकारकत्वघटितत्वेनाऽभावाप्रवेशात् संशयत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवमिति। निश्चये तद्धर्माभावाप्रकारकत्वानिवेशे संशयेऽतिव्याप्तिस्स्यादिति तन्निवेश आवश्यकः। तथा च गौरवमिति लौकायतिकाशयः।

जैनः समाधत्ते **'ने'** त्यादिना। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां **संशयव्यावृत्तानुमितित्वस्यैव व्याप्तिज्ञानादिजन्यतावच्छेदक-**

शंका :- न च धूमा. इति। धूम को देखने के बाद अग्नि की संभावना मानने में गौरव है, क्योंकि संभावना भाव अंश में उत्कटकोटिक संशयस्वरूप है और ऐसे संशय को कार्य मानने पर कार्यतावच्छेदक संशयत्व होगा, जो तद्धर्माभावप्रकारकत्वे सति तद्धर्मप्रकारकत्व स्वरूप है। यदि धूमदर्शन से अग्नि का निश्चय माना जाय तब निश्चय कार्य होने से कार्यतावच्छेदक यानी कार्यता का नियामक धर्म निश्चयत्व होगा जो तद्धर्मप्रकारत्वस्वरूप है। निश्चय के स्वरूप में तद्धर्माभावप्रकारकत्व का प्रवेश नहीं है। अतः धूमदर्शन से अग्नि का निश्चय मानने में लाघव है और अग्नि की संभावना मानने में गौरव है। अतः गौरव दोष के कारण धूमदर्शन से अग्नि की संभावना की उत्पत्ति होने का आग्रह कदाग्रह है, अतः त्याज्य है।

❋ संशय की अपेक्षा निश्चय का स्वरूप गुरुभूत है - चार्वाक ❋

समाधान :- तदभावा. इति। आप छोटे बच्चे को समझाने की कोशिष कर रहे हैं, ऐसा महसूस होता है, क्योंकि निश्चय के पूर्ण स्वरूप को आप छूपा रहे हो। यदि आप निश्चय के स्वरूप को नहीं पहचानते हैं, तो हम आपको निश्चय का स्वरूप बता रहे हैं। कान खोल कर सुनिये निश्चय का स्वरूप। निश्चयत्व का अर्थ है - एकस्मिन् धर्मिणि तद्धर्माणिभावाप्रकारकत्वे सति तद्धर्मप्रकारकत्वम्। अर्थात् एक वस्तु में अमुक धर्म के अभाव का विशेषणविधया भान न हो और उस धर्म का विशेषणविधया भान हो ऐसा ज्ञान निश्चय है। जैसे कि पुरुष में पुरुषत्वरूप धर्म के अभाव का प्रकाररूप से भान न हो और पुरुषत्वरूप धर्म का विशेषणरूप से भान हो ऐसा 'यह पुरुष ही है' इत्याकारक ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान है। जब कि संशय का स्वरूप है-एकस्मिन् धर्मिणि तद्धर्माभावप्रकारकत्वे सति तद्धर्मप्रकारकत्वम्। अर्थात् एक ही वस्तु में अमुक धर्म के अभाव का विशेषणरूप से भान होते हुए उसी धर्म का विशेषणरूप से भान हो ऐसा ज्ञान संशय है। जैसे एक ही पुरुष में पुरुषत्व और पुरुषत्व के अभाव दोनों का विशेषणरुप से भान हो ऐसा "क्या यह पुरुष है या नहीं?" इत्याकारक ज्ञान संशयात्मक है। हम देख सकते हैं कि निश्चय के स्वरूप में विशेषण कुक्षि में तद्धर्माभावाप्रकारकत्व का प्रवेश है, जिसका अर्थ है तद्धर्माभावप्रकारकत्वाभाव, जब कि संशय के स्वरूप में विशेषणकुक्षि में तद्धर्माभावप्रकारकत्व का प्रवेश है। अतः संशय की विशेषणकुक्षि में द्वितीय अभाव का प्रवेश न होने से लाघव ही है। अतः गौरव दोष के कारण धूमदर्शन से वह्नि का निश्चय मानना ठीक नहीं है।

❋ धूमदर्शन का कार्यतावच्छेदक संभावनात्व नहीं है - स्याद्वादी ❋

स्याद्वादी :- 'न' *इति*। लानत है आपकी अक्कल को। देखिए, अन्वय और व्यतिरेक से, धूमदर्शन से वह्नि की निश्चयात्मक

सम्भावनायास्तज्जन्यत्वे तद्घटितनिश्चयसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककोटावनुत्कटकोटिकत्वादिप्रवेशे गौरवात्।

त्वात्। आदिपदेन परामर्शज्ञानस्य ग्रहणम्। संशयव्यावृत्तेति विशेषणं च परिचायकम्। परिचायकं नाम तदघटकत्वे सत्यर्थविशेषज्ञापकम्। तेन संशयभिन्ना याऽनुमितिस्तद्वृत्त्यनुमितित्वं व्याप्तिज्ञानादिकार्यतावच्छेदकमित्यर्थः। धूमदर्शनादेरग्न्यादिसम्भावनाहेतुत्वे गौरवं दृढयति **सम्भावनायाः, तज्जन्यत्वे** = व्याप्तिज्ञानादिजन्यत्वे, **तद्घटितनिश्चयसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदककोटाविति**। व्याप्तिज्ञानघटिता या परामर्शज्ञानरूपा निश्चयसामग्री। घटितत्वं चात्र व्याप्तिज्ञानविषयिताव्याप्यविषयिताकत्वरूपं बोध्यं, परामर्शज्ञाने व्याप्तिज्ञानीयविषयितायाः सत्त्वात्, तस्याः प्रतिबध्यतावच्छेदककोटावित्यर्थः। सम्भावनाया विध्यंशे उत्कटकोटिकसंशयरूपत्वेन परामर्शदशायां अनुत्कटकोटिकसंशयोत्पादवारणाय विध्यंशेऽनुत्कटकोटिकसंशयत्वस्य तादृशनिश्चयसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वकल्पनमावश्यकम्। मत्पक्षे तु संशयत्वस्यैव तादृशनिश्चयसामग्रीप्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाल्लाघवम्।

लाघवञ्च त्रिविधं भवति, सम्बन्धकृतं, उपस्थितिकृतं, शरीरकृतञ्च। तत्राद्यं दण्डत्वाद्यपेक्षया दण्डादेर्घटकारणत्वे सम्बन्धकृतं लाघवम्। द्वितीयं गन्धं प्रति गन्धप्रागभावस्य हेतुता शीघ्रोपस्थितिकत्वात् न तु रूपप्रागभावस्येति। अनेकद्रव्यत्वं विहाय महत्त्वत्वजातेः प्रत्यक्षकारणतावच्छेदकत्वाङ्गीकारे शरीरकृतं तृतीयं लाघवम्। शरीरकृतं लाघवञ्च कारणतावच्छेदकलाघवं, कार्यतावच्छेदकलाघवं, विधेयतावच्छेदकलाघवं, उद्देश्यतावच्छेदकलाघवं, साध्यतावच्छेदकलाघवं, हेतुतावच्छेदकलाघवं, प्रतिबध्यतावच्छेदकलाघवं, प्रतिबन्धकतावच्छेदकलाघवं, शक्यतावच्छेदकलाघवमित्यादिकं नानाविधं भवति। केचित्तु कल्पनालाघवं चतुर्थमिति वदन्ति। प्रकृते तु स्याद्वादिमते प्रतिबध्य-

अनुमिति की ही उत्पत्ति होती है, संभावनात्मक अनुमिति की नहीं-यह सिद्ध होता है। कार्य की उत्पत्ति का निर्णय आपके वचन से नहीं होता है, मगर अन्वय-व्यतिरेक से होता है। अतः व्याप्तिज्ञान आदिरूप निश्चयात्मक अनुमिति की सामग्री से तो संशय से भिन्न अनुमिति ही उत्पन्न होती है। यह सिद्ध होने से व्याप्तिज्ञानादि का कार्यतावच्छेदक संशयभिन्नअनुमितित्व ही होगा अर्थात् संशयज्ञान से भिन्न अनुमिति में रहा हुआ अनुमितित्व नाम का धर्म कार्यता का नियामक होगा। आशय यह है कि व्याप्तिज्ञान आदि से जन्य ज्ञान में अनुमितित्वरूप धर्म होगा जो संशयज्ञान में नही रहता है।

नास्तिक :- हमने पहले ही बता दिया है कि - धूमदर्शन से अग्नि की संभावना की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा अग्नि की निश्चयात्मक अनुमिति मानने में कार्यतावच्छेदक धर्म में गौरव होगा - फिर भी आप गौरव दोष की उपेक्षा कर के अग्नि की निश्चयात्मक अनुमिति की उत्पत्ति होने की कल्पना क्यों कर रहे हैं?

स्याद्वादी :- ***संभावनायास्तज्ज.*** इत्यादि। वाह! मियाँ अपने मुँह मिट्ठ बनता है! आप संभावना की उत्पत्ति मानने में लाघव की प्रसंसा कर रहे हो, मगर धूमदर्शन से अग्नि की संभावना की संभावना भी कथमपि संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि अग्नि की निश्चयात्मक अनुमिति को छोड कर संभावना की उत्पत्ति मानने में ही गौरव है। देखिये, आपके अभिप्राय के अनुसार संभावना भावांश में उत्कटकोटिक संशयरूप ही है। अतः धूमदर्शन से अग्नि के अनुत्कटकोटिक संशय की उत्पत्ति का निवारण करने के लिये आपको अग्नि अंश में अनुत्कटकोटिक संशय को प्रतिबध्य मानना होगा। अतः धूमदर्शन-व्याप्तिज्ञान आदि का प्रतिबध्यतावच्छेदक=प्रतिबध्यता का नियामक धर्म भावांश में अनुत्कटकोटिकसंशयत्व को मानना होगा जब कि हमारे पक्ष में व्याप्तिज्ञानादि का प्रतिबध्यतावच्छेदक संशयत्व ही होगा। यहाँ भावांश में अनुत्कटकोटिकत्व को संशयत्व का विशेषण बनाना आवश्यक नहीं है। अतः आपके मत में संभावना की उत्पत्ति मानने में प्रतिबध्यतावच्छेक गौरव होता है। गुरुतर धर्म में प्रतिबध्यतावच्छेदकत्व की कल्पना दूषणरूप है, क्योंकि जो प्रतिबध्यतावच्छेदक होता है वह प्रतिबन्धकाभाव का कार्यतावच्छेदक होता है। अतः प्रतिबन्धकाभावनिष्ठ कारणता, जो कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्तिअभाव- प्रतियोगिप्रतियोगिकत्वरूप है, उसकी प्रतिबध्यतावच्छेदक कोटि में गुरुतर प्रतिबध्यतावच्छेदकरूप कार्यतावच्छेदक का प्रवेश करने से कारणता के शरीर में गौरव होने से कार्यकरणभाव में गौरव होगा। यह तो सुविदित है कि लघुरूप से कार्यकारणभाव की संभावना हो तब गुरुरूप से कार्य-कारणभाव मान्य नहीं होता है। अतः धूमदर्शन से अग्नि की संभावना सिर्फ संभावनारूप = कल्पनारूप ही रहेगी, वास्तविक नहीं।

'इदमित्थमेवे'त्यवधारणस्य, 'न सन्देह्मि किन्तु निश्चिनोमी'त्याद्यनुव्यवसायस्य चानुपपत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

तावच्छेदकधर्मलाघवं तृतीयभेदावान्तरप्रकाररूपं बोध्यम्।

ननु सम्भावनायाः तज्जन्यत्वाऽभ्युपगमे आगतं प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवं कथं दूषणमिति **चेत**? **श्रुणु**, प्रतिबध्यतावच्छेदकं प्रतिबन्धकाभावकार्यतावच्छेदकं भवति। प्रतिबन्धकाभावनिष्ठकारणता च कार्याऽव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगिप्रतियोगिकत्वरूपा। तत्र च प्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ गुरुतरप्रतिबध्यतावच्छेदकरूपकार्यतावच्छेदकप्रवेशे कारणताशरीरे गौरवात् कार्यकारणभावे गौरवं भवति। अतः प्रतिबध्यतावच्छेदकगौरवस्य दूषणत्वमिति निपुणतरं निभालनीयमिति **दिक्**।

अनुमितौ निश्चयत्वमुपपाद्य शाब्दबोधेऽपि तत्संगमयति **'इदमि'**त्यादिना। आप्तोपदेशादपि सम्भावनोत्पादाभ्युपगमे **इदमित्थमेवे**त्यवधारणमनुपपन्नं स्यात्। सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः। अनुव्यवसायस्य व्यवसायस्वरूप-

❋ नास्तिकमत में प्रसिद्ध अवधारण की अनुपपत्ति ❋

'इदमित्थ.' इत्यादि। इससे अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि जैसे व्याप्तिज्ञान आदि से निश्चयात्मक अनुमिति होती है, वैसे आप्तोपदेश से भी निश्चयात्मक ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि आप्तपुरुषों के उपदेश को सुनने के पश्चात् 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चय होता है, "शायद यह ऐसा होगा।" इत्याकारक संशयविशेष=संभावना नहीं। यदि शब्द से संभावना की उत्पत्ति मानेंगे तब यह अवधारण=निश्चय, जो अनुभव सिद्ध है, कैसे उत्पन्न होगा? शब्द से संभावना की उत्पत्ति मानने में अवधारण=निश्चय की अनुपपत्ति हो जायेगी। इसका समाधान तभी हो सकेगा जब शब्द से आप्तपुरुष के उपदेश से निश्चयात्मक शाब्दबोध की उत्पत्ति का स्वीकार किया जाय।

'न सन्देह्मि.' इत्यादि। इसके अलावा अन्य भी अनेक प्रमाण है जिससे यह सिद्ध हो सकता है कि व्याप्तिज्ञान आदि से निश्चयात्मक ज्ञानविशेष की ही उत्पत्ति होती है। देखिये, कोई भी व्यवसाय ज्ञान- "संशयरूप है या निश्चयात्मक है? प्रत्यक्षरूप है या अनुमितिरूप है? स्मरणरूप है या अनुभवरूप है?" - इसका निर्णय उस व्यवसायज्ञान के उत्तर काल में होनेवाले अनुव्यवसाय ज्ञान से होता है। व्यवसायज्ञान का स्वरूप व्यवसायज्ञान की विषयता आदि का व्यवस्थापक=नियामक तदुत्तरकालवर्ती अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है, क्योंकि अनुव्यवसाय ज्ञान व्यवसायज्ञान के अव्यवहित उत्तरकाल में उत्पन्न होने से व्यवसायज्ञान विषयक होता है। हाँ, व्यवसाय ज्ञान भ्रांत भी हो सकता है, संशयरूप भी हो सकता है, मगर अनुव्यवसाय ज्ञान कभी भी भ्रान्त या संशयात्मक नहीं होता है। वह सर्वदा सर्वत्र निश्चयात्मक ही होता है और प्रमाज्ञानरूप ही होता है। अतः यहाँ व्याप्तिज्ञानादि से जन्य ज्ञान (=अनुमिति) निश्चयरूप है या विध्यंश में उत्कटकोटिक संशयात्मक संभावनास्वरूप है? इस समस्या को हल करने के लिए मध्यस्थ अनुव्यवसाय को ही न्यायधीश बनाना होगा, जिसका निर्णय हमारे लिए और आपके लिए अवश्य स्वीकर्तव्य बना रहेगा। अब चलिये, अनुव्यवसाय के पास।

❋ चार्वाक के मत में अनुव्यवसाय की अनुपपत्ति ❋

पर्वत में धूम देख कर व्याप्तिस्मरण होने पर 'पर्वत अग्निवाला है' ऐसा व्यवसाय ज्ञान होने के पश्चात्(१) "पर्वत अग्निवाला है-ऐसा मैं निश्चय करता हूँ; न की संशय" ऐसा अनुव्यवसाय होता है या(२) "पर्वत अग्निवाला है-यह मैंने निश्चित किया है, संदिग्ध नहीं-" ऐसा अनुव्यवसाय होता है या(३) 'मैं "पर्वत अग्निवाला है" इत्याकारक निश्चयवाला हूँ; "पर्वत वह्निवाला है या नहीं?" इत्याकारक संदेहवाला या "पर्वत अग्निवाला होगा" इत्याकारक संभावनावाला नहीं हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। उपर्युक्त तीन प्रकार के अनुव्यवसाय से यही सिद्ध होता है कि - व्याप्तिज्ञानादि के पश्चात् काल में निश्चयात्मक ज्ञान ही उत्पन्न होता है, संशयात्मक या संभावनात्मक ज्ञान नहीं। यह अनुव्यवसाय का चुकादा आपको इच्छा न होने पर भी अवश्य मान्य करना होगा। इस तरह शब्दस्थल में भी आकांक्षादियुक्त पदों को सुनने के बाद व्यवसायरूप शाब्दबोध के बाद में 'पद के अर्थ का निश्चय करता हूँ, संशय नही' इत्याकारक अनुव्यवसाय भी यही फेंसला देता है कि "आकांक्षा आदि से युक्त शब्द से जन्य शाब्द बोध भी निश्चयात्मक ही है, संशयरूप नही"। अतः व्याप्तिज्ञान, पदज्ञान आदि के उत्तरकाल में निश्चयात्मक अनुमिति और शाब्दबोध उत्पन्न होता है - यह सिद्ध हुआ। इस विषय का विस्तार अन्य ग्रंथ में किया है - ऐसा कह कर अन्य ग्रंथों को देखने की विस्तार

तदिदमभिप्रेत्योक्तं **भगवता श्यामाचार्येण**- "[1]से नूणं भंते! मन्नामीति ओहारिणी भासा, चिंतेमीति ओहारिणी भासा, अह मन्नामीति ओहारिणी भासा, अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा, तह मन्नामीति ओहारिणी भासा, तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा? हंता गोयमा!

निश्चायकतया तं प्रदर्शयति **'ने'** त्यादिना। आप्तोपदेशादिजन्यव्यवसायात्मकशाब्दबोधादौ संशयत्वाभाव-निश्चयत्वयोः **'न सन्देह्मि किन्तु निश्चिनोमी'**त्याद्यनुव्यवसायेन सिद्धेरप्रत्यूहाच्छब्दादौ प्रमाणत्वसिद्धिरित्याशयः। आदिशब्देन "मया निश्चितोऽयं न तु सन्दिग्धः", 'निश्चयवानहं न संशयवानि'त्यनयोर्ग्रहः। अन्यत्र = न्यायालोकादौ विस्तरः।

आगमसंवादं दर्शयति- **'तदिदमि'**त्यादिना। ननु आगमस्याऽभ्यर्हितत्वेन प्रथमं तदुपादानं कर्तव्यमिति **चेत्? न,** प्रतिवादिनो नास्तिकत्वेन तं प्रत्यवधारणानुव्यवसाययोः प्रथमं ग्रहणमुचितमतो न दोषः। ननु तर्हि पश्चादपि तदुपादानं न कर्तव्यमिति **चेत्? न** आगमवादिनं प्रति तस्य सार्थकत्वात्। **ननु** तर्ह्यधिकं नाम निग्रहस्थानमिति चेत्? **मैवं,** तस्य वादे दोषत्वात् ग्रन्थादौ तस्य न दोषत्वम्। **वस्तुतस्तु** प्रतिपत्तिदार्ढ्य-संवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावात्तस्य वादेऽपि दोषत्वं नास्त्येवेत्यधिकं ***प्रमाणमीमांसायां*** द्रष्टव्यमित्यलं प्रसङ्गेन।

"से नूणं" इति। ***अत्र मलयगिरिसूरिभि***रेवं व्याख्यातं, "से-शब्दोऽथशब्दार्थः स च वाक्योपन्यासे। नूनमुपमाना-वधारणतर्कप्रश्नहेतुषु, इहाऽवधारणे, भदन्त! इत्यामन्त्रणे मन्ये=अवबुध्ये इति- एवं यदुत अवधारिणी भाषा। अवधार्यते = अवगम्यते अर्थोऽनयेत्यवधारिणी - अवबोधबीजभूतेत्यर्थः। भाष्यते इति भाषा तद्योग्यतया परिणामितनिसृज्यमान-द्रव्यसंहततिः। एष पदार्थः। वाक्यार्थः पुनरयं अथ भदन्त! एवमहं मन्ये यदुताऽवश्यमवधारिणी भाषेति। न चैतत् सकृत् अनालोच्यैव मन्ये किन्तु चिन्तयामि = युक्तिद्वारेणाऽपि परिभावयामीति-एवं यदुत अवधारणीयं भाषेति। एवमात्मीयमभिप्रायं भगवते निवेद्याधिकृतार्थविनिश्चयनिमित्तमेवं भगवन्तं पृच्छति 'अह मण्णामी इह ओहारिणी भासा इति। 'अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु' इह प्रश्ने काक्वा चास्य सूत्रस्य पाठस्ततोऽयमर्थः। अथ भगवन्नेवमहं मन्ये = एवमहं मननं कुर्यां यथा अवधारिणी भाषेति। द्वितीयाभिप्रायनिवेदनमधिकृत्य प्रश्नमाह- 'अह चिंतेमी ओहारिणी भासा इति। अथ भगवन्नेवमहं चिन्तयामी? एवमहं चिन्तनं कुर्या? यदुतावधारिणी भाषेति निरवद्यमेतदित्यभिप्रायः। सम्प्रति पृच्छासमयात् यथा पूर्वं मननं चिन्तनं वा कृतवानिदानीमपि पृच्छासमये तथैव मननं चिन्तनं वा करोमि नान्यथेति भगवतो ज्ञानेन संवादयितुकामः पृच्छति- "तह मन्नामी इति ओहारिणी भासा तह चिंतेमीति ओहारिणी भासा" इति। "तथेति समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रश्नेषु" इह निर्देशे काक्वा चाऽस्यापि पाठः। ततः प्रश्नार्थत्वावगतिः। भगवन्! यथा पूर्वं मतवानिदानीमप्यहं तथा मन्ये इति-एवं यदुत अवधारिणी भाषेति,

रुचिवाले जीवों को प्रकरणकार सूचना करते हैं। इस तरह वैशेषिक की भाँति नास्तिक की धोती भी ढीली हो गई और वह नौ-दो-ग्यारह हो गया।

शंका :- हम तो आगम को प्रमाण मानते हैं। शास्त्रप्रमाण से जब तक यह सिद्ध न हो कि- "शब्द से जो बोध होता है वह निश्चयात्मक है-" तब तक हम तर्क से आपकी बात माननेवाले नहीं हैं।

* आगमप्रमाण से भी भाषा में निश्चयात्मकत्व की सिद्धि *

समाधान :- जी हाँ, इस विषय में पूर्वधर महर्षि श्यामाचार्य, (जिन्होंने प्रज्ञापना नाम के गंभीर शास्त्र की रचना की है,) का वचन साक्षी है। यह रहा वह प्रज्ञापना का वचन - गौतमस्वामी वीर प्रभु को प्रश्न करते हैं कि "है भगवंत! मैं मानता हूँ कि भाषा अवधारिणी = अर्थनिश्चायक है। मैं तर्क और युक्ति लडा कर सोचता हूँ कि भाषा अर्थ की निश्चायक है। क्या मैं यह बार बार

१ अथ नूनं भदन्त! मन्ये इत्यवधारिणी भाषा, चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषा, अथ मन्ये इत्यवधारिणी भाषा, अथ चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषा तथा मन्ये इत्यवधारिणी भाषा तथा चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषा? हन्त गौतम ! मन्ये इत्यवधारिणी भाषा, चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषा, अथ मन्ये इत्यवधारिणी भाषा, अथ चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषा, तथा मन्ये इत्यवधारिणी भाषा, तथा चिन्तयामीत्यवधारिणी भाषेति।

मण्णामीति ओहारिणी भासा, चिंतेमीति ओहारिणी भासा, अह मण्णामीति ओहारिणी भासा, अह चिंतेमीति ओहारिणी भासा, तह मण्णामीति ओहारिणी भासा, तह चिंतेमीति ओहारिणी भासत्ति" (प्र. भा. प. सू. १६१)।।१४।।

उक्ताया एव भावभाषाया भेदानाह-

भावे वि होइ तिविहा, दव्वे अ सुए तहा चरित्ते य। दव्वे चउहा सच्चासच्चा मीसा अणुभया य।।१५।।

भावेऽपि = भावनिक्षेपेऽपि **भवति त्रिविधा** = त्रिप्रकारा भाषा, **द्रव्ये च श्रुते तथा चरित्रे च** = द्रव्यं प्रतीत्य भावभाषा, श्रुतं प्रतीत्य, चारित्रं प्रतीत्य च सेत्यर्थः। **द्रव्ये चतुर्द्धा सत्याऽसत्या मिश्राऽनुभया च**। एतासां लक्षणं (ग्रन्थाग्रं-२००श्लोक) यथावसरं

किमुक्तं भवति? नेदानीन्तनमननस्य पूर्वमननस्य च मदीयस्य कश्चिद्विशेषोऽस्त्येतत् भगवन्निति, तथा यथा पूर्वं भगवन्! चिन्तितवान् इदानीमप्यहं तथा चिन्तयामि इति- एवं यदुत अवधारिणी भाषेति। अस्त्येतदिति? एवं गौतमेनाऽभिप्रायनिवेदने प्रश्ने च कृते भगवानाह- "हंता गोयमा! मन्नामी इति ओहारिणी भासा" इति। 'हन्तेति सम्प्रेषणप्रत्यवधारण-विवादेषु' इह प्रत्यवधारणे। मन्नामी इत्यादीनि क्रियापदानि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च युष्मदर्थेऽपि प्रयुज्यन्ते। ततोऽयमर्थः। हन्त गौतम! मन्यसे त्वं यदुत अवधारिणी भाषेति, जानाम्यहं केवलज्ञानेनेद-मित्यभिप्रायः। तथा चिन्तयसि त्वमित्येवं यदुतावधारिणी भाषेति, इदमप्यहं वेदिम् केवलित्वात्। "अह मन्नामी इति ओहारिणी भासा" इति। अथेत्यानन्तर्ये मत्सम्मतत्वात् ऊर्ध्वं निःशङ्कं मन्यस्व इति- एवं यदुतावधारिणी भाषेति, अथ इति ऊर्ध्वं निःशङ्कं चिन्तय इति एवं यदुतावधारिणी भाषेति, अतीवेदं साध्वनवद्यमित्यभिप्रायः। तथा तथा अविकलं=परिपूर्णं मन्यस्व इति एवं यदुतावधारिणी भाषेति यथा पूर्वं मतवान्। किमुक्तं भवति? यथा त्वया पूर्वं मनं कृतमिदानीमपि मत्सम्मतत्वात्सर्वं तथैव मन्यस्व मा मनागपि शङ्कां कार्षीरिति। तथा तथा अविकलं परिपूर्णं चिन्तयेति- एवं यदुताऽवधारिणी भाषेति यथा पूर्वं चिन्तितवान्, मा मनागपि शङ्किष्ठा इति।।१४।।

अपिशब्दो नोआगमतो द्रव्यनिक्षेप-तद्व्यतिरिक्तद्रव्यनिक्षेपयोः समुच्चयार्थः। 'द्रव्ये' इत्यत्र विषयत्वं सप्तम्यर्थः। तथा च द्रव्यविषयिणी भावभाषेत्यर्थः। 'एवं श्रुते चारित्रे' इत्यत्राऽपि बोध्यम्। शेषमतिरोहितार्थम्।।१५।।

सोचूँ कि भाषा अवधारिणी है? भगवंत! आपको प्रश्न करने के, पूर्व में मैं जैसे मनन और चिंतन करता था वैसे अभी भी मैं मनन और चिंतन करता हूँ कि भाषा अवधारिणी है। क्या यह मनन और चिंतन निर्दोष है?" गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीरस्वामी कहते हैं कि-" हे गौतम! तू मानता है और सोचता है कि "भाषा अवधारिणी है" यह मैं केवलज्ञान से जानता हूँ। अब तुम निश्चिंत होकर बिना कुछ हिचकिचाहट के मानो और सोचो कि - "भाषा अर्थनिश्चायक है"। पूर्व में तुम जैसे मनन और चिंतन करते थे अब भी वैसे ही मनन और चिंतन करो कि - 'भाषा अवधारिणी है'। यह मनन और चिंतन अत्यंत निर्दोष है, क्योंकि मुझे यह संमत है।" प्रज्ञापना के उपर्युक्त वचन से भी यह सिद्ध होता है कि - शब्द अर्थ का निश्चय कराता है ही।।१४।।

१४वीं गाथा में जिस भावभाषा के स्वरूप का निरूपण किया है उस भाषा के ही भेदों को अब १५वीं गाथा से ग्रंथकार बता रहे हैं।

भावभाषा के तीन भेद

गाथार्थ :- भावविषयक भाषा के तीन प्रकार=भेद हैं - द्रव्यभावभाषा, श्रुतभावभाषा और चारित्रभावभाषा। द्रव्यभावभाषा के चार प्रकार है - सत्य, असत्य, मिश्र और अनुभय।१५।

विवरणार्थ :- भावनिक्षेप में भी भाषा के तीन प्रकार हैं। द्रव्यविषयक भावभाषा अर्थात् विषयविधया द्रव्य का आलंबन कर के बोली जानेवाली भावभाषा, श्रुतविषयक भावभाषा और चरित्रविषयक भावभाषा। द्रव्यविषयक भावभाषा के चारं भेद हैं-सत्य भावभाषा, असत्य भावभाषा, मिश्र भावभाषा और अनुभय यानी न सत्य और न मृषा ऐसी भावभाषा। इस भावभाषा के भेदों का लक्षण उनके निरूपण का जब आगे अवसर आयेगा तब बताया जायेगा।।१५।।

---

१ भावेऽपि भवति त्रिविधा द्रव्ये च श्रुते तथा चारित्रे च। द्रव्ये चतुर्द्धा सत्याऽसत्या मीश्राऽनुभया च।।१५।।

वक्ष्यामः।।१५।।

पढमा दो पज्जत्ता उवरिल्लाओ अ दो अपज्जत्ता। अवहारेउं सक्कइ पज्जत्तण्णा य विवरीआ।।१६।।

प्रथमे द्वे = सत्यासत्ये भाषे **पर्याप्ते; उपरितने द्वे** = सत्यामृषाऽसत्यामृषे, **अपर्याप्ते। तत्राऽवधारयितुं शक्यते** या सा **पर्याप्ता; च** = पुनः **विपरीता च** = अवधारयितुमशक्या च, **अन्या** = अपर्याप्ता। तदुक्तं **वाक्यशुद्धिचूर्णौ** -

[२]पज्जत्तिगा णाम जा अवहारेउ[३] सक्कइ जहा एसा सच्चा मोसा वा, एसा पज्जत्तिगा। जा पुण सच्चा वि मोसा वि दुपक्खगा वि सा न सक्कइ विभाविउं जहा एसा सच्चा वा मोसा वा,[४] सा अपज्जत्तिगत्ति।। (द. वै. जि. चू. पृ. २३९)

अवधारणीयत्वं च "सत्यासत्यान्यतरत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वम्" अनवधारणीयत्वं च तदभावः। तेन न तदन्यतरभ्रमविषय-

ननु भाषानिष्ठमवधारणीयत्वं च यदि सत्यासत्यान्यतरत्वप्रकारकनिश्चयविषयत्वं, अनवधारणीयत्वं च तदभावः तदा मिश्रभाषायामपि कस्यचिच्छ्रोतुः 'इयं सत्ये'तिभ्रमात्मकनिश्चये जातेऽपर्याप्तत्वेनाऽभिमतायां मिश्रभाषायां तादृशान्यतरत्वनिश्चयविषयतायाः सत्त्वात् तत्राऽतिव्याप्तिस्स्यादवधारणीयत्वलक्षणस्य, तदभावाभावेनाऽनवधारणीय-त्वलक्षणस्य चाव्याप्तिः स्यात्। सत्यभाषायामपि कस्यचिच्छ्रोतुः 'इयं सत्या न वेंति संशये जाते तादृशान्यतरत्व-निश्चयविषयत्वस्याऽभावेनाऽवधारणीयत्वलक्षणस्याऽव्याप्तिस्स्यात् तदभावसत्त्वेनाऽनवधारणीयत्वलक्षणस्याऽतिव्या-प्तिः च स्यादित्यत आह - **अवधारणीयत्वं चेति**। "इयं सत्या" "इयमसत्या" इति सत्यासत्यान्यतरत्वप्रकारिका या प्रमा तस्या विषयत्वं यत्र सा पर्याप्ता भाषा, यत्र तादृशप्रमाविषयत्वाभावः साऽपर्याप्ता भाषेत्यर्थः।

गाथार्थ :- प्रथम दो भाषा पर्याप्त हैं और अंतिम दो भाषाएँ अपर्याप्त हैं। पर्याप्तभाषा उसको कहते हैं जिसके स्वरूप का अवधारण हो सके। अपर्याप्तभाषा इसके विपरीत है।।१६।।

*** पर्याप्त और अपर्याप्तरूप से भाषा द्विविध ***

विवरणार्थ :- द्रव्यभाषा के चार भेदों में से प्रथम दो भेद यानी सत्य और मृषा भाषा, ये पर्याप्त हैं और अंतिम दो भेद यानी सत्यामृषा = मिश्र और असत्यमृषा = अनुभय भाषा, ये अपर्याप्त हैं। पर्याप्त का अर्थ है जिसके स्वरूप का निश्चय हो सके ऐसी भाषा। तथा इसके विपरीत यानी जिसके स्वरूप का अवधारण=निश्चय करना नामुमकिन है वह भाषा अन्य यानी अपर्याप्त है। यहाँ विवरणकार वाक्यशुद्धि चूर्णि का हवाला देते हैं जिसका अर्थ है - "पर्याप्त भाषा का मतलब है जिसके स्वरूप का अवधारण इस तरह हो सके कि - "यह भाषा सत्य ही है", या "यह भाषा असत्य ही है।" जो भाषा (मिश्र) सत्य भी होती है और मृषा भी होती है, वह उभयपक्ष में जाती है। तथा जो भाषा न सत्य होती है, न मृषा वह एक भी पक्ष में समाविष्ट नहीं होती है। अतएव वहाँ हम यह नहीं सोच सकते कि - "यह भाषा सत्य है या मृषा है।" अतः वे भाषा अपर्याप्त भाषा हैं।

शंका :- जिस भाषा में सत्यत्व या असत्यत्व का निश्चय हो सके वह भाषा पर्याप्त भाषा है ऐसा कहने पर पर्याप्तभाषा भी अपर्याप्त बन जायेगी और अपर्याप्तभाषा भी पर्याप्तभाषा बन जायगी। देखिये, मिश्रभाषा या अनुभयभाषा, जो कि अपर्याप्तभाषारूप से इष्ट है, में किसी श्रोता को "यह भाषा सत्य है" ऐसा भ्रमात्मक निश्चय होने पर वह भाषा पर्याप्त हो जायेगी, क्योंकि सत्यरूप से श्रोता को जो निर्णय हुआ है, इसका वह विषय है। सत्य और असत्यभाषा, जो कि आगम की परिभाषा के अनुसार पर्याप्त भाषा है, उनमें अपनी प्रज्ञा की अकुशलता आदि के कारण श्रोता को जब ऐसा संशय होता है कि "यह भाषा सत्य है या मृषा?" तब वह पर्याप्तभाषा भी अपर्याप्तभाषा हो जायेगी, क्योंकि अन्यतरत्व का निश्चय न होने से तादृश निश्चय की विषयता नहीं रहती है। अतः पर्याप्त-अपर्याप्त के विभाग में संकर दोष होने की अनिष्टापत्ति आयेगी।

*** अवधारणीयत्व का तात्त्विक अर्थ ***

समाधान :- ***'अवधारणीयत्वं'*** इति। आपने जो दोष दिखाये हैं उन दोषों का अवकाश तब हो सकता है, यदि हम 'जिस भाषा में सत्यासत्यअन्यतरत्वप्रकारक निश्चय विषयता हो वह भाषा अवधारिणी=पर्याप्त है'- ऐसा कथन करे। मगर हमारा अभिप्राय

१ प्रथमे द्वे पर्याप्ते उपरितने च द्वेऽपर्याप्ते। अवधारयितुं शक्यते पर्याप्ताऽन्या च विपरीता।।१६।। २ पर्याप्तिका नाम याऽवधारयितुं शक्यते यथा सत्या वा मृषा वा एषा पर्याप्तिका। या पुनः सत्याऽपि मृषाऽपि द्विपक्षगाऽपि सा न शक्यते विभावयितुं यथा एषा सत्या वा मृषा वा सा अपर्याप्तिका। ३ अत्र मुद्रितप्रतौ 'अवहारेतुं' इति पाठः। ४ 'अओ सा' इति चूर्णौ पाठ उपलभ्यते।

त्वेनाऽपर्याप्तायाः पर्याप्तत्वं न वा तत्संशयविषयत्वेन पर्याप्ताया अपर्याप्तत्वमित्याद्यूह्यम्।

अन्यतरव्यवहार एवावधारणमित्यपरे।।१६।।

अनेनापर्याप्तभाषायामवक्तव्यत्वावधारणस्य प्रमात्मकस्य सम्भवेन कुतो न पर्याप्तत्वमिति कुचोद्य**मपास्तम्** अवक्तव्यत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वस्य सत्त्वेऽपि निरुक्तान्यतरत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वरूपस्यावधारणीयत्वस्य पर्याप्तभाषालक्षणस्याऽसत्त्वात्। **तेने**ति तादृशनिश्चयविषयतामनादृत्य तादृशप्रमाविषयत्वस्य विवक्षणेनेत्यर्थः। मिश्रभाषायां तादृशान्यतरत्व-प्रकारकनिश्चयविषयतायाः सत्त्वेऽपि तादृशप्रमाविषयत्वस्याऽसत्त्वान्न तस्याः पर्याप्तत्वं न वाऽव्याप्त्यतिव्याप्ती सत्यभाषायां श्रोतृसन्देहदशायां च तादृशनिश्चयविषयत्वाभावस्य सत्त्वेऽपि न तस्या अपर्याप्तत्वं तादृशप्रमाविषयत्वाभावस्याऽसत्त्वात्। **न च** श्रोतृसन्देहदशायां तादृशप्रमाविषयत्वस्याऽसत्त्वात् कथं न तत्राऽपर्याप्तत्वमिति **वाच्यम्** श्रोतुः सन्देहेऽपि वक्तुः सत्यत्वप्रकारकप्रमाया विषयत्वस्याऽबाधात्, अन्ततो गत्वा तादृशान्यतरत्वप्रकारककेवलज्ञानरूपप्रमाविषयत्वस्याऽप्रत्यूहाच्च न तत्राऽपर्याप्तत्वं न वाऽव्याप्त्यतिव्याप्ती।

नन्वन्यतरस्य तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नभिन्नरूपत्वेन भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिकभेदस्वरूपस्याऽन्यतरत्वस्य निरुक्तलक्षणघटकत्वे गौरवमिति **चेत्? मैवम्**, गौरवं न स्वरूपसत्प्रतिबन्धकं, नापि तत्संशयः प्रतिबन्धकः किन्तु तन्निर्णय एव प्रतिबन्धकः। प्रमाणप्रवृत्तिसमये च सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन फलमुखगौरवस्याऽदोषत्वात्, प्रमाणवतस्तस्य न्याय्यत्वात्, अन्यतरत्वस्याऽखण्डोपाधित्वमते गौरवानवकाशाच्चेत्यादिकं **स्वयमूहनीयम्।**

अन्यमतमाह-"**अन्यतरव्यवहार एवावधारणमिति। न च** यत्र पर्याप्तभाषायां व्यवहार एव न जातस्तत्राऽव्याप्तिराशङ्कनीया। सत्याऽसत्यान्यतरत्वव्यवहारयोग्यत्वरूपस्याऽवधारणीयत्वस्य तत्राऽबाधात्। **एतेनान्य**तरव्यवहारपूर्वकाले पर्याप्ताया अपर्याप्तत्वप्रसङ्गो **निर्लोठितो द्रष्टव्यः**। एवकारेण चास्मिन् मते तादृशान्यतरप्रमाया व्यवच्छेदः प्रतीयते। **'अपरे'** इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः। अस्वरसबीजं चेदम् व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानाधीनत्वाद् भ्रमात्मकव्यवहर्तव्यज्ञानजन्यतदन्यतरभ्रान्तव्यवहारेऽपर्याप्तायाः पर्याप्तत्वप्रसङ्गनिवारणार्थं सत्यासत्यान्यतरयथार्थव्यवहारयोग्यत्वनिवेशापेक्षया लाघवात् 'तद्धेतोरस्तु किं तेने'तिन्यायेनाऽन्यतरप्रमाया अवधारणत्वं तद्विषयस्य चावधारणीयत्वं वक्तुमर्हतीत्याशयः।।१६।।

अलग ही है। हम कहते हैं कि - भाषा में सत्य-असत्यअन्यतरत्वप्रकारक प्रमाविषयता ही अभिलषित अवधारणीयत्व है और यदि इसका अभाव हो तब वह भाषा अनवधारिणी=अपर्याप्त है। आशय यह है कि- "यह भाषा सत्य है" या "यह भाषा असत्य है" ऐसा जो प्रमात्मक निश्चय है उसका विषयभूत शब्द या वाक्य पर्याप्त भाषा है और उक्त प्रमात्मक निश्चय का जो वाक्य विषय न हो वह अपर्याप्तभाषास्वरूप है। ऐसा निर्वचन करने पर कोई अनिष्ट उपस्थित नहीं होता है। जो भाषा अपर्याप्त है अर्थात् मिश्रभाषा या अनुभयभाषा है वह "यह भाषा सत्य है" या "यह भाषा असत्य है" ऐसे भ्रमात्मक निश्चय का विषय होने पर भी अवधारणी=पर्याप्त भाषा नहीं है, क्योंकि वह भाषा "यह भाषा सत्य है" या "यह भाषा असत्य है" ऐसे प्रमात्मक निश्चय का विषय नहीं है। अतएव वह भाषा पर्याप्त नहीं है, किन्तु अपर्याप्त ही है। इस तरह वक्ता जब पर्याप्त भाषा को, जैसे कि सत्य भाषा को, बोलता है और अव्युत्पन्न श्रोता को "यह भाषा सत्य है या नहीं?" ऐसा संशय होने पर भी वह भाषा अपर्याप्त न बनेगी, क्योंकि वह भाषा "यह भाषा सत्य ही है" इत्याकारक वक्ता के प्रमात्मक निश्चय का विषय होती है। उन भाषा में सत्यत्वप्रकारक प्रमाविषयता अबाधित ही है। इस तरह अवधारणीयत्व और अनावधारणीयत्व का समीचीन निरूपण करने पर कोई दोष नहीं आते हैं। इस विषय में अधिक विचार वाचक स्वयं करे यह सूचना देने के लिए विवरणकार ने 'इत्यादि ऊह्यं' ऐसा प्रयोग किया है।

अन्य विद्वान मनीषियों का यह कहना है कि - अन्यतर व्यवहार ही अवधारण है। अर्थात् जिस भाषा में 'यह सत्य है' या 'यह असत्य है' ऐसा व्यवहार हो वह भाषा पर्याप्त है और ऐसा व्यवहार जिसमें न हो वह भाषा अपर्याप्त है।

अब पूर्वनिर्दिष्ट भाषा के विभाग का निश्चयनय और व्यवहारनय से ग्रंथकार १७वीं गाथा से विवेचन करते हैं।

अथ प्रागुक्तमेव भाषाविभागं निश्चयव्यवहाराभ्यां विवेचयति।

भासा चउव्विहत्ति य ववहारणया सुअम्मि पन्नाणं।

सच्चा मुसत्ति भासा, दुविह च्चिय हंदि[1] णिच्छयओ[2]।।१७।।

भाषा चतुर्विधेति च व्यवहारनयात् श्रुते प्रज्ञानम्। इह खलु विप्रतिपत्तौ वस्तुप्रतितिष्ठासया यथाश्रुतं यदुच्यते अस्ति जीवः सदसद्रूपः इति तदेव सत्यं परिभाष्यते आराधकत्वात्।

भासा इति मूलस्थम्। इयं गाथा ***प्रतिमाशतकधर्मसङ्ग्रहयोरु***द्धृता वर्तते। **व्यवहारनयात्** = व्यवहारनयमवलम्ब्येत्यर्थः। **विप्रतिपत्ताविति**। विरुद्धा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः तस्यां सत्यां; **वस्तुप्रतितिष्ठासया** = वस्तुप्रतिष्ठाशया। एतेन विप्रतिपत्त्यभावे वस्तुनिर्देशमात्रेच्छया प्रयुक्तायां भाषायां न सत्यत्वमित्यावेदितं भवति, तस्या यथायथं प्रज्ञापन्यादौ निवेशात्। **यथाश्रुतमिति**। श्रुतानुसारेणेत्यर्थः। अत्र श्रुतपदं सर्वज्ञभाषितागमपरं **न च** पयःप्रभृत्यर्थे पिच्चादिपदस्य सर्वज्ञोपदर्शितागमाप्रतिपादितत्वात्सत्यत्वं न स्यादिति **वाच्यम्**, जनपदसत्यत्वेन रूपेण तस्य सर्वज्ञागमानुसारितया सत्यत्वाव्याहतेः सर्वव्यवहाराणां द्वादशाङ्गीमूलकत्वादिति **दिग्।**

'परिभाष्यते' इत्यनेन पारिभाषिकं सत्यत्वमुक्तं, व्यवहारनयवक्तव्यत्वात्। पारिभाषिकसत्यत्वे हेतुमाह- **आराधकत्वात्**। या भाषा आराधनी सा सत्येति व्यवहारनयपरिभाषा।

द्वितीयभेदं प्रदर्शयति- **'यत्तु'** इति। **'तदा'** = विप्रतिपत्तौ सत्यां। इदं च स्वरूप-परिचायकं न त्वसत्यभाषाया लक्षणे प्रविष्टं श्रुतोत्तीर्णत्वस्यैवासत्यलक्षणत्वात्। तेन विप्रतिपत्तिं विनैव स्वमनः-कल्पितवस्तुप्रतिष्ठाशया 'सप्त द्रव्याणी'त्यादेर्नाऽसङ्ग्रह इति ध्येयम्। असत्यत्वे हेतुमाह **'विराधकत्वात्'** या भाषा विराधनी साऽसत्ये'तीयं

गाथार्थ :- 'आगम में व्यवहारनय से 'भाषा के चार भेद है' और निश्चयनय से 'भाषा के सत्य और मृषा ये दो ही भेद है'- यह प्रसिद्ध ही है।।१७।।

*** सत्यभाषालक्षण, व्यवहारनय से ***

विवरणार्थ :- व्यवहारनय का अवलंबन कर के आगम में भाषा के चार भेद प्रसिद्ध हैं - सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा और अनुभयभाषा। जब किसी वस्तु के स्वरूप में विवाद हो तब वस्तु के मूल स्वरूप को स्थापित करने की इच्छा से आगम के अनुसार जो बोला जाय वह सत्यभाषा है - यह व्यवहारनय की परिभाषा है। जैसे की नैयायिक और नास्तिक जीव के विषय में विवाद करते हैं। नैयायिक कहता है कि 'जीव एकांत सद्रूप है' जब कि उसके विरुद्ध नास्तिक कहता है कि "जीव एकांत असद्रूप है" अर्थात् 'जीव है ही नहीं'। ऐसा विवाद=विरुद्ध अभिप्राय या वक्तव्य उपस्थित होने पर वस्तु के मूल स्वरूप की प्रतिष्ठा करने की इच्छा से 'जीव सद् और असद्रूप है' इस तरह आगम के अनुसार जो भाषा बोली जाती है वह भाषा व्यवहारनय से सत्यरूप से परिभाषित है, क्योंकि यह भाषा आराधनी है। जो भाषा आराधनी होती है वह सत्य है - यह व्यवहारनय की परिभाषा है।

*** असत्यभाषा का लक्षण, व्यवहारनय से ***

'यत्तु' इति। जब वादी और प्रतिवादी के अभिप्राय परस्पर विरुद्ध हो तब आगम से विपरीत जो कथन किया जाय वह असत्यभाषा है, क्योंकि वह भाषा विराधनी है। व्यवहारनय की यह परिभाषा है कि-जो भाषा विराधनी होती है, वह असत्य होती है। जैसे कि 'जीव नित्य है या अनित्य?' इस तरह जीव के विषय में विरुद्ध अभिप्राय उपस्थित होने पर आगम से विरुद्ध - "जीव एकांत नित्य है" अर्थात् "जीव सर्वथा नित्य है" यह प्रतिपादन किया जाय तब वह भाषा व्यवहारनय की दृष्टि में विराधनी भाषा होने से मृषा=असत्यभाषा स्वरूप है। 'जीव एकान्तनित्य है' यह वचन आगमविरुद्ध इसलिए है कि - आगम में "जीव नित्यानित्यरूप है" ऐसा तर्कसंगत यथार्थ प्रतिपादन किया गया है।

---

१ अत्र कप्रतौ 'हदि' इति पाठः। २ भाषा चतुर्विधेति च व्यवहारनयात् श्रुते प्रज्ञानम्। सत्या मृषेति भाषा द्विविधैव हन्दि निश्चयतः।।१७।।

यत्तु तदा श्रुतोर्त्तीणमुच्यते 'अस्ति जीव एकान्तनित्य' इत्यादि तदसत्यं विराधकत्वात्। यच्च धवादिवृक्षसमूहेऽप्यशोकबाहुल्या- 'दशोकवनमेवेदमि'त्युच्यते तन्मिश्रं, यच्च वस्तुमात्रपर्यालोचनपरं 'हे देवदत्त! घटमानये'त्यादि तदनुभयस्वभावमिति। अत्र च परिभाषैव शरणं परिभाषा च व्यवहार एवेति द्रष्टव्यम्।

व्यवहारनयपरिभाषा। **'अशोकवनमेवेद'**मिति। वनस्य वृक्षसमुदायरूपत्वात् 'अशोकवृक्षसमूह एवायमि'त्यर्थः। वृक्षसमूहे अशोकवृक्षांशे संवादात् सत्यत्वमितरांशे धवादिवृक्षव्यवच्छेदस्यैवकारार्थस्य विसंवादादसत्यत्वमित्यतः परिस्थूलव्यवहारनयमतेनाऽऽराधकविराधकत्वान्मिश्रत्वं भावनीयम्। **अनुभयस्वभावमिति**। अत्र आराधकत्व-विराधकत्व-तदुभयविरहादिति शेषः। **परिभाषेति**। अत्र प्रसङ्गात्किञ्चिदुच्यते। पदं यौगिक-रूढ-योगरूढ-यौगिकरूढभेदाच्चतुर्विधं भवति। तत्र रूढपदं नैमित्तिकपारिभाषिकौपाधिकभेदात् त्रिविधम्। तत्र पारिभाषिकमपि लौकिकशास्त्रीयभेदाद् द्विविधं भवति। ***गदाधर***मते आधुनिकसंज्ञा परिभाषा। तदुक्तं **शक्तिवादे** 'आधुनिकसङ्केतः परिभाषा, तया चार्थबोधकं पदं पारिभाषिकं यथा शास्त्रकारादि सङ्केतितनदीवृद्ध्यादिपदम्। ***जगदीशो***ऽपि **शब्दशक्तिप्रकाशिकायां** - 'उभयाऽवृत्तिधर्मेण संज्ञा स्यात् पारिभाषिकी' [श.श. २२] इत्युक्तवान्। अन्ये कृत्रिमसञ्ज्ञा परिभाषेत्याहुः। **अपरे** तूभयवृत्तिधर्मावच्छिन्नसंकेतवती संज्ञा परिभाषेति व्याचक्षते। **केचित्तु** लक्ष्यधर्मिकसाधुत्व-प्रकारकबोधोपयोगिबोधजनकसञ्ज्ञा परिभाषेति वदन्ति। ***बलिरामशुक्ल***मते तु परिवर्तनीयसङ्केतः परिभाषा। ***वादिदेवसूरयस्तु*** " यस्याः सञ्ज्ञाया विना निमित्तेन श्रुङ्गग्राहिकया सङ्केतः सा पारिभाषिकी **सञ्ज्ञा**" (स्या. रत्ना. ५/८) इति ***न्यायकन्दलीकारा***नुवादरूपेण ***स्याद्वादरत्नाकरे*** प्राहुः। ***वस्तुतस्तु*** शास्त्रकारकृतासाधारणसञ्ज्ञा परिभाषेति ध्येयम्। अनेनैवाभिप्रायेण प्रकृतप्रकरणकृता ***तत्त्वार्थवृत्तौ*** "नामकरणसंस्काराधीनसङ्केतशालिनी परिभाषा" (तत्त्वा. १/३५ यशो. वृत्ति) इत्युक्तम्।

यत्तु पारिभाषिकं पदं पारिभाषिकमेव न तु वाचकमिति **नैयायिकमतं तन्न मनोरमं** वाचकादिव पारिभाषिकपदादपि जायमाने बोधे विशेषाभावात्, तत्र शक्तिभ्रमकल्पने मानाभावात्, विनिगमनाविरहात्। किञ्चैकत्र वाचकमपि पदमन्यत्र पारिभाषिकमपि भवति। एकत्र तस्य शक्तत्वेऽन्यत्र चाऽशक्तत्वे स्याद्वादप्रवेशादिति **दिक्। विवरणे 'एव'**

❋ मिश्रभाषा का लक्षण, व्यवहारनय से ❋

'यच्च' इति। व्यवहारनय की दृष्टि से भाषा का तीसरा भेद है, मिश्र भाषा। अर्थात् जो भाषा अंश में सत्य हो और अंश में असत्य हो वह भाषा मिश्रभाषा है, क्योंकि यह आराधक-विराधक भाषा है। जैसे कि वृक्षों के समुदाय में, जिसमें अशोकवृक्ष की संख्या अधिक हैं और धव आदि वृक्ष की संख्या अल्प हैं, "यह अशोक वन ही है" यह वचन मिश्रभाषा है। यह भाषा वृक्षसमुदाय के एक अंशरूप अशोकवृक्ष अंश में सत्य है और अन्य धवादि वृक्ष अंश में असत्य है। अतः आराधक-विराधक है। अतएव मिश्रभाषा स्वरूप है।

❋ अनुभय भाषा का लक्षण, व्यवहारनय से ❋

'वस्तुमात्र' इति। व्यवहारनय के अभिप्राय से भाषा का अंतिम भेद है, अनुभय भाषा। जो भाषा सिर्फ वस्तु का निरीक्षण ही कराती है, वह अनुभयभाषारूप है। जब वक्ता वस्तु के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने की इच्छा से नहीं मगर वस्तु का सिर्फ प्रतिपादन करने की इच्छा से बोलता है, तब वह भाषा सत्यभाषा नहीं है तथा असत्यरूप या मिश्रभाषारूप भी नहीं है-यह तो स्पष्ट है। अतः पूर्वोक्त तीन भाषाओं से विलक्षण अनुभय भाषा है। यह बात द्रष्टांत से स्वयं विवरणकार स्पष्ट करते हैं। जैसे कि - हे देवदत्त! घट को ले आ" इत्यादि वचन। यह भाषा न है आराधक और न है विराधक। जो भाषा आराधक भी न हो और विराधक भी न हो वह अनुभयभाषा है - यह व्यवहारनय की परिभाषा है। यह बात प्रज्ञापना आगम की टीका में; जो श्रीमलयगिरि महाराज ने बनाई हुई है, स्पष्ट है।

शंका :- व्यवहारनय की दृष्टि से भाषा के भेद चार ही क्यों हैं? सत्यभाषा के लक्षण में आगमानुसारिता आदि का प्रवेश क्यों किया गया है?

हन्दीत्युपदर्शने, **निश्चयतो द्विविधैव भाषा सत्या मृषेति**, सत्यामृषाभाषायास्तात्पर्यबाधेनाऽसत्यायामेवान्तर्भावात् अबाधित-तात्पर्यस्यैव शब्दस्य सत्यत्वात्, अन्यथा 'द्रव्यं रूपवदि'त्यस्य देश-कात्स्न्र्यतात्पर्यभेदेन प्रामाण्याऽप्रामाण्यद्वैविध्यानुपपत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

शब्दोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थे। परिभाषाया अपर्यनुयोज्यत्वात्तदेव शरणं नान्यत्। **'व्यवहार एवे'**त्यनेन निश्चयव्यवच्छेदः कृतः। परिभाषा परिभाषाकेच्छानुगामिनी न तु वस्तुस्वरूपानुगामिनी। निश्चयस्तु वस्तुस्वरूपानुयायी न पुरुषाभिप्राया-नुपाती। ततः परिभाषाया व्यवहारगोचरत्वं न तु निश्चयविषयत्वमित्याशयः।

निश्चयतो = निश्चयनयमवलम्ब्य। **ननु** निश्चयनये सत्यामृषाभाषा किं नास्तीत्याशङ्कायामाह **सत्यामृषाभाषाया** इति। तस्या असत्यायामन्तभार्व एव हेतुमाह- **'अबाधिततात्पर्यस्यैवेति'**। एवकारेण देशतोऽबाधितार्थस्य शब्दस्य सत्यत्वव्यवच्छेदः कृतः। विपक्षबाधकतर्कमाह- **"अन्यथेति"**। अबाधिततात्पर्यस्य शब्दस्य सत्यत्वानभ्युपगमे इत्यर्थः। **'द्रव्यं रूपवत्'** इति। इदं वाक्यं देशतात्पर्ये प्रमाणं कात्स्न्र्यतात्पर्ये चाऽप्रमाणम्। अयं भावः द्रव्यत्वसामानाधिकरण्येन रूपवत्तायाः तात्पर्ये सत्यत्वं द्रव्यत्ववति पुद्गले रूपस्य सत्त्वेन तात्पर्याऽबाधात्, द्रव्यत्वावच्छेदेन रूपवत्तायास्तात्पर्ये चाऽसत्यत्वं द्रव्यत्ववति धर्माधर्माकाशादौ रूपस्याऽसत्त्वेन तात्पर्यबाधात्।

परिभाषा प्रश्नार्ह नहीं है

समाधान :- यह व्यवहारनय की निजी परिभाषा है। शास्त्रकार महर्षि वस्तु में जो असाधारण संकेत करते हैं, वह परिभाषा है। शास्त्रकारों ने ऐसी परिभाषा क्यों की? यह प्रश्न उचित नहीं है। अतः यहाँ सभी समस्याओं का समाधान यह है कि - "व्यवहारनय की ऐसी परिभाषा है।" यही अंतिम शरण है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि - परिभाषा व्यवहार में ही होती है, निश्चय में नहीं।

शंका :- निश्चय नय में यदि कोई परिभाषा नहीं होती है, तब निश्चयनय से भाषा के भेद कितने हैं?

❋ भाषा के दो भेद हैं - निश्चय नय ❋

समाधान :- ***'निश्चयतो'*** इति। निश्चयनय की दृष्टि से विचार किया जाय तब भाषा के दो भेद होते हैं, सत्यभाषा और असत्यभाषा। यहाँ यह शंका कि - 'यदि निश्चयनय से भाषा के दो भेद हैं तब व्यवहारनयसंमत मिश्रभाषा निश्चयनय की दृष्टि से क्या असत् है?' - करने की कुछ आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मिश्रभाषा का तात्पर्य बाधित होने से मिश्रभाषा=सत्यामृषाभाषा का निश्चयनय की दृष्टि से असत्यभाषा में समावेश होता है। इसका कारण यह है कि - निश्चयनय के अभिप्राय से जिस शब्द का तात्पर्य बाधित न हो वह भाषा सत्य है। अर्थात् वक्ता जिस अभिप्राय से जिस शब्द का प्रयोग करता है, वह अभिप्राय यदि बाधित न हो तब वह भाषा सत्यभाषा है। निश्चयनय की दृष्टि सिर्फ शब्द के अर्थ में ही सीमित नहीं है, मगर शब्द के तात्पर्य तक दूर फैली हुई है। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि 'शब्द का अर्थ अबाधित हो वह सत्यभाषा और शब्द का अर्थ बाधित हो वह असत्यभाषा' - सिर्फ ऐसा सत्य और असत्य भाषा का लक्षण बनाया जाय तब तो 'द्रव्यं रूपवत्' इस वाक्य में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की देश और संपूर्ण तात्पर्य से अनुपपत्ति हो जायेगी।

❋ द्रव्यं रूपवत्-वाक्यविचार ❋

अन्यथा इति। आशय यह है कि - 'द्रव्यं रूपवत्' अर्थात् "द्रव्य रूपवाले हैं" यह वाक्य जब देश तात्पर्य से प्रयुक्त होता है तब वह प्रमाण होता है - सत्य होता है, क्योंकि द्रव्य के एक देशभूत पुद्गलद्रव्य में रूप होता है। जब कार्त्स्न्यतात्पर्य अर्थात् द्रव्यमात्र यानी सब द्रव्यों की अपेक्षा से 'द्रव्यं रूपवत्' वाक्य का प्रयोग होता है, तब वह वाक्य मृषा होता है=अप्रमाण होता है, क्योंकि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल, इन पाँच द्रव्यों में रूप नहीं रहता है। अतः 'द्रव्यं रूपवत्' यह एक ही वाक्य द्रव्य के एक देश में रूप का विधान करने पर सत्य=प्रमाण होता है और सर्व द्रव्य में=षट्द्रव्य में रूप का विधान करने पर असत्य=अप्रमाण होता है - यह स्याद्वाद के ज्ञाता के लिए सुपरिचित है। मगर 'जिस शब्द का अर्थ अबाधित हो वह भाषा सत्य है और बाधित हो वह भाषा असत्य है' - ऐसा सत्य और असत्यभाषा का लक्षण किया जाय तब उपर्युक्त वाक्य

अत्र च वने वृक्षसमूहरूपेऽशोकाऽभेदतात्पर्यबाधेन मृषात्वस्य स्पष्टत्वात्। उक्तं च **पञ्चसंग्रहटीकायां**- "व्यवहारनयमतापेक्षया चैवमुच्यते। परमार्थतः पुनरिदमसत्यमेव यथाविकल्पितार्थाऽयोगादिति ( ) **न च** समूहदेशे एवाशोकाभेदान्वयान्न **बाधः**, **तथासम**भिव्याहारे देशान्वयस्याऽव्युत्पन्नत्वात्।

अनुपपत्तेरिति। अबाधितार्थकत्वस्य सत्यलक्षणत्वे द्वैविध्यमनुपपन्नं स्यात् धर्माधर्मादौ बाधितार्थकत्वेनाऽसत्यत्व-प्रसङ्गात्। इदं चोपलक्षणं, तेनाबाधिततात्पर्यकत्वस्य सत्यत्वाऽनुपगमे "गङ्गायां घोष" इत्यादेः सत्यत्वं दुर्घटं स्यात् बाधितार्थत्वात्।

परमार्थत इति। परमार्थमधिकृत्य निश्चयमधिकृत्येति यावत्। **समूहदेशे** = वृक्षसमूहघटकाशोकवृक्षे **एव, अशोका-भेदान्वयात्** = अशोकवृक्षाभेदसम्बन्धात्, एवकारेण समूहेऽशोकतादात्म्यसंसर्गस्य व्यवच्छेदः कृतः। तथा च न बाध इति शङ्काकर्तुराशयः। तस्याऽश्रद्धेयत्वे बीजमाह-**तथासमभिव्याहार** इति। अशोकवनमित्येवं शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणे सति इत्यर्थः। **देशान्वयस्य** = विशेष्यीभूतसमूहैकदेशे विशेषणीभूताशोकतादात्म्यसम्बन्धस्य **अव्युत्पन्नत्वात्** = तादृशसमभिव्याहारज्ञानात्मकाकाङ्क्षाज्ञानजन्या या प्रतिपत्तिस्तद्विषयत्वाभावात्।

में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की अर्थात् सत्यत्व और असत्यत्व की घटना किसी भी तरह नही हो पाएगी, क्योंकि 'द्रव्यं रूपवत्' वाक्य का अर्थ बाधित है। यदि उपर्युक्त वाक्य में प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उपपत्ति करनी हो तो यह स्वीकार करना ही होगा की जिस शब्द का तात्पर्य बाधित नहीं है वह सत्यभाषा और जिस शब्द का तात्पर्य बाधित है वह असत्यभाषा। इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्य ग्रंथों में ग्रंथकार ने किया है। इसलिए यहाँ इस प्रासंगिक विषय का विस्तार से विवेचन ग्रंथकार ने किया है। इसलिए यहाँ इस प्रासंगिक विषय का विस्तार से विवेचन ग्रंथकार ने नहीं किया है।

❋ 'अशोकवनं' - वाक्यविचार ❋

'अत्र च.' प्रस्तुत में 'यह अशोक वन ही है' यह वाक्य निश्चयनय की दृष्टि से असत्य है, क्योंकि इस वाक्य का तात्पर्य बाधित है। आशय यह है कि वन वृक्षसमुदाय से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु वृक्षसमुदायस्वरूप ही है। प्रस्तुत वृक्षसमुदाय में जहाँ अशोक के वृक्ष अनेक होते हुए भी कतिपय धव-आम-नींब आदि अन्य वृक्ष भी हैं, सिर्फ अशोकवृक्ष के अभेद=तादात्म्य का तात्पर्य=अभिप्राय बाधित है। 'अशोकवन एव' यहाँ 'एव' शब्द का निवेश है, उससे यह ज्ञात होता है कि वक्ता का तात्पर्य सिर्फ अशोकवृक्ष के अभेद का बोध कराना ही अभिमत है, जो कि बाधित है। अतः निश्चयनय की दृष्टि से उपर्युक्त वाक्य का असत्यभाषा में समावेश होता है।

'उक्तं च.' इति। विवरणकार यहाँ इस विषय में **पंचसंग्रह** शास्त्र की टीका का, जो कि महनीय आचार्यदेवेश श्रीमलयगिरि महाराजा द्वारा रची हुई है, हवाला देते हैं जिसका अर्थ है - "व्यवहारनय की अपेक्षा से यह मिश्रभाषा कही जाती है। परमार्थ से तो मिश्रभाषा असत्य ही है, क्योंकि वक्ता ने जैसा अर्थ सोचा है वैसा अर्थ नहीं है।" पंचसंग्रह की टीका में 'परमार्थतः' शब्द का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ है परमार्थ की दृष्टि से=निश्चयनय की दृष्टि से। स्पष्ट हो गया कि निश्चयनय मिश्रभाषा को तात्पर्य बाधित होने से असत्य कहता है।

शंका :- **'न च'** इति। 'अशोकवनमेवेदं' वाक्य बाधित तब होता, जब अशोकपदार्थ का सम्बन्ध वृक्षसमूहरूप वन से किया जाय। मगर हम इस शाब्दबोध का यहाँ स्वीकार नहीं करते हैं। हमारा अभिप्राय है अशोक पदार्थ का तादात्म्य सम्बन्ध से वृक्षसमूह के एक देश में, जहाँ अशोकवृक्षपना है, अन्वय=सम्बन्ध होता है, जो अबाधित ही है। इस तरह से यहाँ वक्ता का तात्पर्य वृक्षसमूह के एक देश में अशोक के तादात्म्य का बोध कराना है, जो अबाधित होने से उसका प्रतिपादक वाक्य भी सत्यभाषा में समाविष्ट होगा, न कि मृषाभाषा में। अतः इस वाक्य का मृषाभाषा में अन्तर्भाव करना ठीक नहीं है।

❋ कर्मधारय समासस्थल में अर्थबोध ❋

समाधान :- आप तो अक्ल के दुश्मन हैं। क्या आप नहीं जानते हैं कि यहाँ 'अशोकवनं' पद में कर्मधारय समास है? कर्मधारय समास के पूर्व पदार्थ के, जो प्रायः विशेषणरूप से ज्ञात होता है, अभेदसंसर्ग का कर्मधारय समास के उत्तर पदार्थ के, जो प्रायः

यदा त्वशोकप्रधानं वनमिति विवक्षया प्रयोगस्तदा श्रमणसङ्घ इत्यादिवद् व्यवहारसत्यताऽपि न विरुध्यत इत्याभाति।

असत्यामृषाऽपि विप्रलिप्सादिपूर्विकाऽसत्य एव, अन्या च सत्य एवान्तर्भवति। तदुक्तं **पञ्चसंग्रहटीकायामेव** - "इदमपि

स्वाभिप्रायं व्यनक्ति **'यदे'**ति। श्रमणसङ्घ इति सङ्घस्य श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकासमूहरूपत्वेऽपि 'श्रमणप्रधानः सङ्घ' इति तात्पर्येण 'श्रमणसङ्घ' इति प्रयोगो यथा व्यवहारसत्यः तदंशे प्राधान्यार्पणस्य तत्पर्यवसानरूपत्वात् तथा वनस्य वृक्षसमूहरूपत्वेऽपि 'अशोकप्रधानं वनमिति तात्पर्येण 'अशोकवन'मिति प्रयोगो व्यवहारसत्यस्तत एवेति विवरणकारस्याऽऽशयः। तदुक्तं **प्रतिमाशतके-'** तत्तदंशप्राधान्ये शुभाशुभान्यतरस्यैव पर्यवसानाद्, निश्चयाङ्गव्यवहारेणाऽपि तथैव व्यवहरणात्। अत एवाशोकप्रधानं वनमशोकवनमिति विवक्षया न मिश्रभाषापत्तिः (प्र.श. ७९ वृ.) इति। इति न विरोधगन्धोऽपि।

यद्यपि बन्धहेतुभङ्गप्रकरणे प्रकृतप्रकरणकारेणैव - "अशोकप्राधान्यविवक्षया भावसत्यमेवेति" (बंहे. भं. पृ. ३) प्रतिपादयितुं, अत्र च तदा व्यवहारसत्यत्वमुक्तमिति आपाततो **विरोधस्तथापि** सूक्ष्मदृष्ट्या नास्ति विरोधः। तथाहि बन्धहेतुभङ्गप्रकरणे अशोकप्राधान्यविवक्षया द्रव्यविषयकभावभाषात्वसाक्षाद्व्याप्यभावसत्यत्वमुक्तम्, अत्र च तदा द्रव्यविषयकभावभाषात्वव्याप्यभावसत्यत्वव्याप्यव्यवहारसत्यत्वमुक्तमिति न विरोधः। न हि पूर्व सामान्यतो 'घटोऽयमि'त्युक्त्वा पश्चाद् विशेषदृष्ट्या 'नीलघटोऽयमि'ति प्रतिपादने विरोधं प्रतियन्ति विद्वांसः तथैव तत्र तदा सामान्यतो भावसत्यमुक्तमत्र च तस्य विशेषदृष्ट्या भावसत्यावान्तरभेदरूपव्यवहारसत्येऽन्तर्भावःकृतः।

ननु निश्चयनयमते सत्यमृषाभाषाया असत्यान्तर्गतत्वं ज्ञातं किन्तु व्यवहारनयसम्मताया अनुभयभाषायाः कुत्रा-न्तर्भाव इत्याशङ्कायामाह - **असत्यमृषाऽपीति**। किम्पुनः सत्यामृषेत्यपिशब्दार्थः। विप्रलिप्सादिपूर्विकाया असत्या-

---

विशेष्यरूप से ज्ञात होता है, एक देश में अन्वय व्युत्पन्न नहीं होता है। विशेषणविशेष्यवाचक पदों के सान्निध्य रूप समभिव्याहार का ज्ञान होने पर जो बोध होता है वह बोध संपूर्ण विशेष्य में विशेषण के तादात्म्य को अपना विषय बनाता है, न कि विशेष्य के एक देश में विशेषण के तादात्म्य को। जैसे कि 'नीलघटः' इस वाक्य से नीलपदार्थरूप विशेषण का घटपदार्थरूप संपूर्ण विशेष्य में' तादात्म्य सम्बन्ध से बोध होता है, न कि घटपदार्थरूप विशेष्य के एक अंश में। अन्यथा नील और पीत कपाल से आरब्ध घट में 'नीलोऽयं घटः' वाक्य भी प्रमाण=सत्य हो जायेगा। अतः यहाँ विशेष्य के एक देश में विशेषण के तादात्म्य का तात्पर्य मान कर 'अशोकवनं' प्रयोग का सत्यभाषा में समावेश करना ठीक नहीं है, अभियुक्त पुरुषों को मान्य नहीं है।

❋ प्राधान्यप्रतिपादन की अपेक्षा मिश्रभाषा भी व्यवहारसत्य बनती है ❋

यदा तु.' इति। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जब वक्ता 'अशोकप्रधानं वनं' अर्थात् 'जिसमें अशोकनाम के वृक्षों की प्रधानता है ऐसा यह वन है' इस तात्पर्य से 'अशोकवनं' शब्द का प्रयोग करे तब तो यह भाषा 'श्रमणसंघ' इत्यादि प्रयोग की तरह व्यवहारसत्यरूप से ज्ञात होती है। आशय यह है कि - संघ तो साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के समूहरूप ही है, सिर्फ साधुसमुदायरूप संघ नहीं है। फिर भी 'श्रमणसंघ' ऐसा जो वाक्य प्रयोग होता है वह "संघ श्रमणप्रधान होता है" अर्थात् 'जिसमें श्रमणों की प्रधानता है ऐसा संघ है' इस तात्पर्य से प्रयुक्त होने से जैसे व्यवहारसत्य है वैसे ही वन वृक्षसमुदायरूप होते हुए भी "अशोकवृक्षों की जिसमें प्रधानता है ऐसा यह वन है" इस विवक्षा = तात्पर्य से जो वाक्यप्रयोग होता है उसका व्यवहारसत्यरूप से स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं आता है - यह विवरणकार का अभिप्राय है।

शंका :- सत्यामृषाभाषा का निश्चयनय की दृष्टि से असत्यभाषा में अंतर्भाव होता है - यह तो ज्ञात हुआ, मगर असत्यामृषाभाषा का समावेश किस भाषा में करेंगे?

❋ असत्यामृषा भाषा स्वतंत्र नही है - निश्चयनय **❋**

समाधान :- 'असत्यामृषापि'. इति। असत्यामृषा भाषा के दो प्रकार होते हैं। एक विप्रलिप्सा अर्थात् दूसरों को ठगने की इच्छा आदि से प्रयुक्त होती है और अन्य असत्यामृषाभाषा विप्रलिप्सा आदि से प्रयुक्त नहीं होती है। जो असत्यामृषा भाषा विप्रलिप्सा आदि

व्यवहारनयमतापेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यथा विप्रतारणादिबुद्धिपूर्वकमसत्येऽन्तर्भवति, अन्यस्तु सत्य इति (पं. सं.)।।१७।।

उक्तार्थे सूत्रोपष्टंभमाह -

एत्तो च्चिय आणमणी, जाईए केवला य णिदिट्ठा। पण्णवणी पण्णवणासुत्ते तत्तत्थदंसीहिं।।१८।।

यतो निश्चयेन चरमभाषाद्वयं पूर्वभाषाद्वयेऽन्तर्भावितम्, **इत एवाज्ञापनी** = असत्यामृषाभेदान्तर्गणिताऽपि **जात्या** = सामान्यपुरस्कारेण, **केवला** = तद्विनिर्मुक्ता **च प्रज्ञापनासूत्रे तत्त्वार्थदर्शिभिः श्यामाचार्यैः** प्रज्ञापनी निर्दिष्टा। तथाहि -

"अह भंते! जातीति इत्थि आणमणी, जातीति पुमआणमणी, जातीति नपुंसग आणमणी, पण्णवणी णं एसा भासा? ण एसा भासा मोसा? हंता गोयमा! जातीति इत्थिआणमणी, जातीति पुमआणमणी, जातीति नपुंसगआणमणी, पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसत्ति। अह भंते! जा य इत्थिआणमणी, जा य पुमआणमणी, जा य नपुंसगआणमणी पण्णवणी णं एसा भासा? ण एसा भासा मोसा? हंता गोयमा! जा य इत्थिआणमणी, जा य पुमआणमणि, जा य नपुंसगआणमणी पण्णवणी णं एसा भासा। ण एसा भासा

मृषायाः सद्भ्योहितत्वस्याऽसत्त्वेन व्युत्पत्त्यर्थविरहान्निश्चयनयमतेऽसत्यायामेवान्तर्भावात्।।१७।।

'जातीति इत्थि आणमणी' इति। अत्र ***मलयगिरिचरणैरेवं*** व्याख्यातं - "जातिमधिकृत्य स्त्रिया आज्ञापनी यथा 'अमुका ब्राह्मणी क्षत्रिया वैवं कुर्यादि'ति, एवं जातिमधिकृत्य पुमाज्ञापनी नपुंसकाज्ञापनी, प्रज्ञापनी एषा भाषा? नैषा

से प्रयुक्त होती है वह भाषा परमार्थ से = निश्चयनय के अभिप्राय से मृषा = असत्यभाषा में ही समाविष्ट होती है और अन्य भाषा अर्थात् विप्रलिप्सादि से अप्रयुक्त असत्यामृषाभाषा सत्यभाषा में अंतर्गत है। **पंचसंग्रह** की टीका में ही कहा गया है कि - "असत्यामृषा भाषा भी मिश्रभाषा की तरह व्यवहारनय की दृष्टि से ही स्वतंत्र भाषारूप से है यानी भाषा का अतिरिक्त एक प्रकार है। अन्यथा निश्चयदृष्टि से=परमार्थ से तो दूसरों को ठगने की बुद्धि से बोली हुई असत्यामृषा भाषा भी असत्यभाषा में ही अन्तर्भूत होती है। अन्य अर्थात् दूसरों को ठगने की इच्छा के सिवा ही प्रयुक्त असत्यामृषाभाषा तो सत्यभाषा में प्रविष्ट होती है।" इस तरह पंचसंग्रह टीका से भी स्पष्ट हो जाता है कि असत्यामृषाभाषा भी यथासंभव सत्य या असत्य भाषा में अंतर्भूत होती है, किन्तु अतिरिक्त नहीं है। दूसरों को ठगने की इच्छा से प्रयुक्तभाषा को असत्यभाषा कहने का तात्पर्य ऐसा प्रतीत होता है कि - सत्यपद का अर्थ है 'सद्भ्यो हितं सत्यं'। अर्थात् जो भाषा संत को हितकारी हो वह सत्य है - यह सत्यभाषा का व्युत्पत्ति अर्थ है। विप्रलिप्सा आदि से प्रयुक्त भाषा संत को हितकारक न होने से सत्य नहीं है, किन्तु असत्यभाषा ही है।।१७।।

"निश्चयनय से सत्यमृषाभाषा और असत्यामृषाभाषा का प्रथम दो भाषा में यथासंभव समावेश होता है" इस बात को ग्रंथकार १८वीं गाथा से आगम के बल से सिद्ध करते हैं।

गाथार्थ :- अतएव तत्त्वार्थद्रष्टा श्यामाचार्य ने प्रज्ञापनासूत्र में जातिरूप से और जाति के सिवा आज्ञापनी भाषा को प्रज्ञापनी = प्ररूपण करने योग्य बताई है।१८।

विवरणार्थ :- निश्चयनय मिश्र भाषा और अनुभय भाषा का, जो कि व्यवहारनय की दृष्टि से भाषा के अंतिम भेदद्वय हैं, यथासंभव सत्य और असत्य भाषा में समावेश करता है। अतएव महनीय पूर्वधर तत्त्वार्थदर्शी श्यामाचार्य ने अपने रचे हुए प्रज्ञापना नाम के उपांग में जाति का पुरस्कार कर के और जाति का पुरस्कार किये बिना आज्ञापनी भाषा का असत्यामृषाभाषा के द्वितीय भेद = प्रकार में समावेश करने पर भी उसे प्रज्ञापनी अर्थात् अर्थप्रतिपादन करने योग्य बताई है। विवरणकार साक्षी के लिए प्रज्ञापना सूत्र के पाठ को बता रहे हैं, जिसका अर्थ निम्नोक्त है।

❋ आज्ञापनी भाषा सत्यभाषा भी है - प्रज्ञापनासूत्र ❋

"अह भंते!" इति। गौतमस्वामीजी वर्धमानस्वामी को प्रश्न करते हैं कि - "हे भगवंत! जाति स्त्री आज्ञापनी भाषा, जाति पुरुष

१ इत एवाज्ञापनी जात्या केवला च निर्दिष्टा। प्रज्ञापनासूत्रे तत्त्वार्थदर्शिभिः।।१८।।

२ अथ भदन्त! जातिरिति स्त्र्याज्ञापनी जातिरिति पुमाज्ञापनी, जातिरिति नपुंसकाज्ञापनी प्रज्ञापन्येषा भाषा? नैषा भाषा मृषा? हन्त गोतम! जातिरिति...! अथ भदन्त! या च स्त्र्याज्ञापनी या च पुमाज्ञापनी या च नपुंसकाज्ञापनी प्रज्ञापन्येषा भाषा? नैषा भाषा मृषा? हन्त गोतम! या च... ३ अविनीतमाज्ञापयन् क्लिश्नाति भाषते मृषामेव। घंटालोहं ज्ञात्वा कः कटकरणे प्रवर्तेत।।

मोसत्ति।" (प्र. भा. प. सू. १६२) अत्र च **यद्यपि** केवलसूत्रमाज्ञाप्येन कार्याकरणे मृषात्वाशंकया प्रश्नकरणात्, विनीतविषयत्वान्न मृषात्वमन्यथा त्वविनिताज्ञापनस्य स्व-परपीडानिबन्धनत्वात् पारिभाषिकं मृषात्वमेव। तदुक्तं - "[२]अविणीयमाणवंतो, किलिस्सइ

भाषा मृषेति?"। अत्र प्रज्ञापनीति नासत्यामृषाभेदान्तः परिगणिता किन्तु प्ररूपणीयेत्यर्थः। जातिमधिकृत्य स्त्र्याज्ञापनी भाषा किं प्ररूपणीया? इति प्रश्नतात्पर्यम्। **'जा य इत्थि आणमणी'** इति। अत्र ***मलयगिरिचरण***रेवं व्याख्यातं - "या च स्त्र्याज्ञापनी, आज्ञाप्यते = आज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी, स्त्रिया आज्ञापनी, स्त्र्याज्ञापनी स्त्रिया आदेशदायिनीत्यर्थः।" व्यतिरेकमुखेन सत्यत्वं निश्चाययति - 'ण एसा भासा मोसत्ति' इति। इदं चाऽत्र **ध्येयं** यदुत वर्तमानोपलब्धप्रज्ञापनाप्रतौ पूर्वं केवलसूत्रं ततो जातिसूत्रं निर्दिष्टं वर्तते।

'यद्यपी'त्यनेन सूत्रं समर्थयति। **केवलसूत्र**मिति। "अह भंते! जा य इत्थिआणमणी" इत्यादिसूत्रम्। आज्ञाप्यमानस्स्त्र्यादिस्तथा कुर्यान्न वेति संदेहात् स्त्र्याद्याज्ञापनीभाषायां **मृषात्वाशङ्कया** 'किमियं भाषा प्ररूपणीया? किमियमसत्या नेति प्रश्नकरणादित्यर्थः। अस्य च **समर्थित**मित्यनेनान्वयः। केवलसूत्रप्रश्नांशसमर्थनानन्तरं केवलसूत्रोत्तरांशसमर्थने हेतुमाह - **'विनीतविषयत्वादि'**ति। या स्वपरानुग्रहबुद्ध्या शाठ्यमन्तरेण आमुष्मिकफलसाधनाय प्रतिपन्नैहिकालम्बनप्रयोजना विवक्षितकार्यप्रसाधनसामर्थ्ययुक्ता विनीतस्त्र्यादिविनेयजनविषया। सा परलोकाबाधिनी, एषैव च साधूनां प्ररूपणीया, परलोकाऽबाधनात्। इतरा त्वितरविषया, सा च स्वपरसङ्क्लेशजननान्मृषेत्यप्ररूपणीया साधुवर्गस्येति भावः। इदं च ***मलयगिरिवृत्तौ*** स्पष्टम्। **'पारिभाषिक'**मिति। शास्त्रीयपरिभाषाघटितं मृषात्वं, न तु लौकिकपरिभाषाघटितम्।

आज्ञापनी भाषा, जाति नपुंसक आज्ञापनी भाषा क्या प्ररूपणा करने योग्य हैं? क्या ये असत्यभाषाएँ तो नहीं हैं न?" महावीर प्रभु इसका समाधान देते हैं कि - "हे गौतम! जाति स्त्री आज्ञापनी, जाति पुरुष आज्ञापनी, जाति नपुंसक आज्ञापनी भाषा प्रतिपादन करने योग्य हैं। ये असत्यभाषाएँ नहीं हैं। वापस गौतमस्वामीजी द्वारा किये गये "हे भगवंत! जो भाषा स्त्री आज्ञापनी है, जो भाषा पुरुष आज्ञापनी है, जो भाषा नपुंसक आज्ञापनी है ये भाषाएँ क्या कथन करने योग्य हैं? क्या ये भाषा मृषाभाषा तो नहीं हैं न?" - इस प्रश्न का समाधान देते हुए महावीरस्वामीजी कहते हैं कि - "हे गौतम! जो भाषा स्त्रीप्रज्ञापनी है जो पुरुषप्रज्ञापनी है, जो भाषा नपुंसक प्रज्ञापनी है, कथन करने योग्य हैं। ये भाषाएँ मृषा भाषा नहीं हैं"

* प्रज्ञापनासूत्र का समर्थन *

'अत्र च.' इति। अब यहाँ विवरणकार पूर्वोक्त प्रज्ञापना सूत्र का संक्षेप से समर्थन करते हैं। हम यहाँ मलयगिरिसूरिजी की प्रज्ञापनावृत्ति के अनुसार विवरणकार के संक्षिप्त कथन को स्पष्ट करते हैं। यहाँ एक सूचन करना आवश्यक है कि प्रज्ञापना सूत्र में केवलसूत्र के बाद में जातिसूत्र का ग्रहण किया गया है, फिर भी विवरणकार ने केवलसूत्र का संक्षिप्त समर्थन करने के बाद जातिसूत्र का संक्षेप से समर्थन किया है। स्त्रीआज्ञापनी भाषा का अर्थ है स्त्री को आज्ञा देनेवाली भाषा। इस तरह पुरुष को आज्ञा करनेवाली भाषा पुरुषआज्ञापनी भाषा और नपुंसक को आज्ञा देनेवाली भाषा नपुंसकआज्ञापनी भाषा। जब स्त्री आदि, जिसको आज्ञा दी जा रही है, आज्ञा के अनुसार कार्य को नहीं करती हैं तब संशय होता है कि - "स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा मृषाभाषा तो नहीं है न?" इस संशय से गौतमस्वामीजी भगवंत को प्रश्न करते हैं। भगवंत भी इस समस्या को हल करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि - जब आज्ञा देनेवाला, अपने और दूसरों के अनुग्रह की - उपकार की दृष्टि से, माया के बिना अपने परलोकसंबंधी फल को सिद्ध करने के लिए अर्थात् जिस वचन से अपना परलोक बूरा न हो इस प्रयोजन से, इस लोक के कार्य की सिद्धि के निमित्त से अपने अभीष्ट कार्य का संपादन करने में समर्थ ऐसी आज्ञा विनययुक्त स्त्री आदि को करता है, तब वह भाषा विनीतविषयक होने से मृषाभाषा नहीं है। जब कि - "मैं जिसको आज्ञा दे रहा हूँ वह विनयी है या नहीं?" यह सोचे बिना ही अविनीत को आज्ञा देने पर तो वक्ता और श्रोता दोनों को संक्लेश=पीडा होती है। इसलिए वैसी अविनीतविषयक आज्ञापनी भाषा में तो पारिभाषिक मृषात्व ही है। जिससे दोनों को संक्लेश हो उस भाषा में सच्चाई कैसे रहेगी? कहा गया भी है कि - "अविनीत को आज्ञा देने पर क्लेश ही होता है और वह भाषा झूठी ही होती है। जो जानता है कि - "यह घंट बनाने का अत्यंत कठिन लोहा

भासइ मुसं चेव। घंटालोहं नाउं, को कडकरणे पवत्तिज्जा।।( ) इत्यभिप्रायेण प्रतिवचनौचित्याच्च समर्थितम्। जातिसूत्रमप्येवमेव, नवरं सर्वत्राऽऽज्ञापनयोग्यत्वासंभवेऽपि सम्भवाभिप्रायग्रहणान्नासंभव इति, **तथापि** सत्यासत्यान्यतर-त्वेऽविवाद एवान्यथाऽसत्यामृषात्वे-नैव सत्यत्वव्यतिरेकनिश्चयात्प्रश्ननिबन्धनसत्यत्वसन्देहस्यैवानुपपत्तेः।

'एवे'ति। अनेन पारिभाषिकसत्यत्वस्य व्यवच्छेदः कृतः। **'अविणीयमि'**ति। अस्या गाथाया अभिप्रायः "क्रिया हि द्रव्यं विनमयति नाऽद्रव्यमि"त्येवं ***मलयगिरिचरणैः*** प्रदर्शितः। **'जातिसूत्रमि'**ति। 'अह भंते! जातीति इत्थिआणमणी' इत्यादि सूत्रम्। ननु स्त्रीत्वादिसामानाधिकरण्येनाऽऽज्ञापनयोग्यत्वमस्तु स्त्रीत्वाद्यवच्छिन्ने कथमाज्ञापनयोग्यत्वं? इत्याशङ्कायामाह - **'नवरमि'**ति। **सम्भवाभिप्रायग्रहणादिति**। स्त्रीत्वादिकं यत्राऽस्ति तत्राऽऽज्ञापनयोग्यत्वसम्भवा-भिप्रायग्रहणादित्यर्थः। ततो नासम्भव इति भावः।

ननु निश्चयनयेन चरमभाषाद्वयस्य पूर्वभाषाद्वयेऽन्तर्भावसमर्थनार्थमिदं सूत्रमवलम्बितं किन्तु भवद्भिस्सूत्रमेव समर्थितं न तु स्वेष्टमिति 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरमि'ति न्यायापात इत्याशङ्कायामाह **'तथापी'ति। अविवाद एवेति**। परमार्थतोऽसत्यामृषाभाषायाः सत्यासत्यान्यतरत्वे विप्रतिपत्तिर्नास्त्येवेत्यर्थः। विपक्षे बाधकतर्कमाह - **'अन्यथे**ति। आज्ञापनीभाषाया असत्यामृषाभाषाभेदान्तःपरिगणितायाः सत्यासत्यान्यतरत्वविप्रतिपत्तावित्यर्थः। **'सत्य-त्वव्यतिरेके'ति। यद्यपि** आज्ञापन्यामसत्यामृषात्वप्रकारकज्ञानेन सत्यत्व-मृषात्व-मिश्रत्वाभावनिश्चयो जायेत, असत्या-मृषात्वस्य तन्मते तस्य सत्यत्वाद्यसामानाधिकरण्येन सत्यत्वाद्यभावव्याप्यत्वात् **तथापि** सत्यत्वसन्देहानुपपत्ताव-प्रयोजकत्वान्मृषात्व-मिश्रत्वे उपेक्ष्य सत्यत्वव्यतिरेकनिश्चयादित्युक्तम्। **अनुपपत्तेरिति**। तदभाववत्तानिश्चयस्य तद्वत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वनियमात् आज्ञापन्यामसत्यामृषात्वप्रकारकज्ञानप्रयुक्तसत्यत्वाभावनिश्चये सति बुद्धिविशेषरूप-

है" वह क्या उसे मोड देकर बनाई जाती जाली आदि नाजुक चीज बनाने के लिए प्रयास करेगा? यानी नहीं करेगा। तात्पर्य यह है कि अग्निताप आदि क्रिया भी योग्य लोहा आदि द्रव्य को नम्र-नाजुक बनाती है, अयोग्य द्रव्य को नहीं। जो लोहा गढ पीढ कर बनाया हुआ नहीं है, मगर परती है यानी घंट के योग्य (कास्टिंग) है, उससे नाजुक चीज बनाने का प्रयास करनेवाला सिर्फ क्लेश=दुःख का अनुभव करता है वैसे अविनीत अयोग्य को आज्ञा देनेवाला सिर्फ क्लेश का अनुभव करता है - यह तात्पर्य है। इस तरह केवलसूत्र यानी व्यक्तिविषयक आज्ञा की प्रतिपादक स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा के सूत्र के प्रश्नांश का और समाधानांश का समर्थन किया गया है। जातिसूत्र का भी इस तरह समर्थन किया गया है।

शंका :- जाति सूत्र का अर्थ है जाति का पुरस्कार करनेवाला सूत्र। अतः जाति स्त्री आज्ञापनी सूत्र का अर्थ होगा जो भाषा जाति का आलंबन ले कर स्त्री को आज्ञा दे रही है वह भाषा। मगर स्त्रीजाति जिनमें है, उन सब स्त्रियों को आज्ञा करना संभव ही नहीं है, फिर जातिस्त्री आज्ञापनी भाषा का संभव ही कैसे होगा? तथा उसका समर्थन भी कैसे होगा? अर्थात् जब जातिस्त्री आज्ञापनी भाषा ही नहीं है, तब उसका समर्थन भी वन्ध्यापुत्रनामोत्कीर्तनतुल्य होगा। इस तरह जाति पुरुषआज्ञापनी आदि में भी होगा।

❋ संभावनाअभिप्राय से जातिसूत्र की उपपत्ति ❋

समाधान :- **'नवरं'** इति। आपकी यह बात ठीक है कि सर्वत्र यानी स्त्रीमात्र को, पुरुषमात्र को और नपुंसकमात्र को आज्ञा करना संभव नहीं है, मगर हम यह तो कहते ही नहीं है कि - जाति स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा सब स्त्रियों आदि को आज्ञा देनेवाली भाषा है। हमारा तो तात्पर्य यह है कि स्त्रीत्व आदि जिसमें है उसमें "यह आज्ञा देने योग्य है" इस तरह आज्ञा देने की योग्यता की संभावना कर के ही यह जाति आज्ञापनी आदि भाषा प्रवृत्त होती है। अब तो असंभव दोष की कोई संभावना ही नहीं है। अतः जातिसूत्र का समर्थन भी ठीक ही है।

शंका :- आपने तो पूर्व में - निश्चयनय के अभिप्राय से अंतिम दो भाषाओं का प्रथम दो भाषाओं में समावेश होता है - ऐसा निरूपण किया था और इसका समर्थन करने के लिए आपने प्रज्ञापना सूत्र के उपर्युक्त पाठ का उपादान ग्रहण किया है मगर यहाँ तक के आपके प्रयत्न से सिर्फ इतना ही सिद्ध हुआ है कि - 'जातिसूत्र और केवलसूत्र का समर्थन कैसे किया जाय?' मगर इससे

इदमुपलक्षणं प्रज्ञापन्या अपि, **"जा य इत्थिपण्णवणी"** (प्र. भा. पद. सू. १६२) इत्यादिप्रबन्धेन सत्यत्वाभिधानाच्छाब्द-सत्यत्वसन्देहस्य "किमियं स्त्र्याद्याज्ञापनी सत्या?" इत्यर्थकप्रश्ननिबन्धनस्य अनुपपत्तेः स्त्र्याद्याज्ञापन्याः सत्या-सत्यान्यतरत्वान्तर्भावसिद्धिः। तदुक्तं ***चिन्तामणौ*** 'सर्वतो बलवती ह्यन्यथानुपपत्तिः "(त.चिं.प्रत्य.खं.पृ. ४८६)

'उपलक्षण'मिति। स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्वमुपलक्षणत्वम्। **'जा य इत्थिपण्णवणी'**ति अत्रेदं सूत्रं (ग्रन्थाग्रम् - १५००) द्रष्टव्यम्, "अह भंते! जा य इत्थिपण्णवणी, जा य पुमपण्णवणी, जा य नपुंसगपण्णवणी, पण्णवणी णं एसा भासा? ण एसा भासा मोसा? हंता गोयमा! जा य इत्थिपण्णवणी, जा य पुमपण्णवणी, जा य नपुंसगपण्णवणी, पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा मोसत्ति।" **सत्यत्वाभिधानादि**ति। "ण एसा भासा मोसत्ति"

यह तो सिद्ध नहीं हुआ कि - 'अंतिम दो भाषा का सत्य या असत्य भाषा में समावेश होता है वह ठीक है'। रोटी बनाने का प्रयास करने पर लडकी ने भारत का नकशा बना दिया हो वैसा हो गया!

❋ आज्ञापनी भाषा में सत्यासत्यान्यतरत्व निश्चित है ❋

समाधान :- तथापि. इति। जनाब! हम सात घाट का पानी पी चुके हैं। हमारी हजामत करना इतना आसान नहीं है। केवल सूत्र और जातिसूत्र का समर्थन जैसे हुआ हो वैसे हो, लेकिन इतना तो निश्चित ही है कि - स्त्री आज्ञापनी आदि भाषाओं का या तो सत्यभाषा में या तो असत्य भाषा में समावेश होता ही है। इस विषय में कोई विवाद नहीं है। यदि चरम दो भाषाओं का स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा का सत्य या असत्य भाषा में समावेश न किया जाय तब तो स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा में सत्यत्व का संदेह हो ही नहीं सकता है। देखिये, स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा तो असत्यामृषा के भेद में परिगणित है। अतः उन भाषाओं में असत्यमृषात्व है ही। आज्ञापनी भाषा का सत्य या असत्य भाषा में समावेश न होने से आपके अभिप्राय से असत्यामृषात्व सत्यत्व के अभाव का व्याप्य होता है। अर्थात् जहाँ असत्यामृषात्व रहता है वहाँ सत्यत्व का अभाव रहता है। इस नियम के अनुसार गौतमस्वामीजी को यह तो ज्ञात ही है कि स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा में असत्यमृषात्व होने से उसमें सत्यत्व का अभाव है ही। अर्थात् स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा असत्यामृषा होने से सत्यभाषा नहीं है। तब उसको यह संदेह कि "क्या स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा सत्य है या नहीं?" होने का संभव ही नहीं है, क्योंकि गौतमस्वामीजी को स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा में सत्यत्व के अभाव का निश्चय हो चुका होगा। यह एक नियम है कि - तदभाववत्ता का निश्चय तद्वत्ता की बुद्धि में प्रतिबंधक है। जैसे भूतल में घटाभाववत्ता का निश्चय होने पर भूतल में घटवत्ता की बुद्धि, चाहे वह संशयात्मक हो या निश्चयात्मक हो, नहीं हो सकती है, वैसे स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा में सत्यत्व के अभाव का निश्चय होने से सत्यत्व का संदेह भी नहीं हो सकता है, जो कि बुद्धिरूप है। जब स्त्री आज्ञापनी आदि में सत्यत्व का संशय ही नहीं होता है तब "हे भगवंत! स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा सत्य है या नहीं?" ऐसा प्रश्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त प्रश्न का निमित्त पूर्वोक्त संशय है। यदि स्त्री आज्ञापनी आदि भाषा का सत्य या असत्य भाषा में अन्तर्भाव न किया जाय तब इस संशय की कथमपि उपपत्ति नहीं हो सकती है। अतः इस अनुपपत्ति के बल पर स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा का सत्य या असत्य भाषा में समावेश करना आवश्यक है। आशय यह है कि - गौतमस्वामी ने भगवंत से उपर्युक्त प्रश्न तो किया ही है और यह प्रश्न स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा में सत्यत्व के संदेह बिना तो नहीं हो सकता है, क्योंकि वह प्रश्न इस संशय का कार्य है। कार्य से उसके कारण का अनुमान होता है। सत्यत्व के संशय की सत्ता सत्यत्वाभाव के निश्चयरूप प्रतिबन्धक होने पर संभव नहीं है। अतः सत्यत्व के अभाव का निश्चय गौतमस्वामीजी को स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा में नहीं हुआ है यह सिद्ध होता है। स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा में असत्यामृषात्व का ज्ञान होने पर भी सत्यत्व के अभाव का निश्चय नहीं हुआ। इससे ही यह फलित होता है कि सत्यामृषात्व सत्यत्व का विरोधी नहीं है। अर्थात् स्त्रीआज्ञापनी आदि भाषा में असत्यमृषात्व रहते हुए भी सत्यत्व रह सकता है। अतः असत्यमृषाभाषा का सत्यभाषा में अंतर्भाव हो सकता है। इसी तरह असत्यभाषा में भी असत्यामृषा भाषा का समावेश हो सकता है।

❋ प्रज्ञापनी भाषा भी सत्य भाषा है ❋

'इदमुपलक्षणं' इति। स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा का सत्य या असत्य भाषा में समावेश होता है यह जो कहा गया है वह प्रज्ञापनी भाषा का उपलक्षण है। अर्थात् आज्ञापनी भाषा की तरह प्रज्ञापनी भाषा का भी सत्य या असत्य भाषा में समावेश होता

व्यवहारानुगतं स्त्र्यादिलक्षणमादाय तस्या असत्यत्वेऽपि वेदानुगतं तदादाय सत्यत्वस्य युक्तत्वाच्च प्रागुक्तमेव युक्तमित्यपि द्रष्टव्यम्।।१८।।

एवं व्यतिरेकमुखेन प्रतीतिदार्ढ्यार्थं सत्यत्वाभिधानादित्यर्थः।

ननु स्त्रीप्रज्ञापनी नाम स्त्रीलक्षणप्रतिपादिका यथा, "योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य मुग्धता क्लीबता स्तनौ। पुंस्कामितेति लिङ्गानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते।" या च पुम्प्रज्ञापनी = पुरुषलक्षणप्रतिपादिका - 'मेहनं खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्य श्मश्रु धृष्टता। स्त्रीकामितेति लिङ्गानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते।।' इत्यादिरूपा, या च नपुंसकप्रज्ञापनी = नपुंसकलक्षण-प्रतिपादिका यथोक्तं ***निशीथभाष्य*** - "महिलासहावो सरवण्णभेओ, मिंढं महंतं मउया य वाणी। ससद्दयं मुत्तमफेणयं च एआणि छप्पंडगलक्खणाणि।। (नि. भा. ३५६७) तथा "न मूत्रं फेनिलं यस्य विष्टा चाप्सु निमज्जति। मेढ्रं चोन्मादशुक्राभ्यां हीनः क्लीबः स उच्यते।।" इत्यादिरूपा। स्त्रीप्रभृतिलिङ्गरूपाः खट्वाघटकुड्यादयः शब्दास्तु शाब्दव्यवहारबलादन्यत्रापि खट्वादिष्वर्थेषु प्रवर्तन्ते, न च तत्र यथोक्तानि स्त्र्यादिलक्षणानि सन्ति। अतोऽव्यापक-त्वात्तस्याः स्त्र्यादिप्रज्ञापन्या असत्यत्वात्कथं नाम तत्र सत्यत्वप्रतिपादनं सङ्गच्छते? इत्याशङ्कायामाह **'शाब्दे'**ति। 'अपि'शब्दोऽभ्युपगमपूर्व कोट्यन्तरप्रतिपादनार्थः। **'वेदानुगतमि'**ति 'योनिमृदुत्वमस्थैर्यमि'त्यादिरूपायाः स्त्र्यादिप्रज्ञा-पन्या वेदानुगतस्त्र्यादिलक्षणप्रतिपादकत्वेन यथावस्थितार्थाभिधानाद् वेदानुगतं तल्लक्षणमादाय सत्यत्वस्य युक्तत्वा-दिति भावः। स्वेष्टसाधनार्थमाह- **'प्रागुक्तमिति'**। "निश्चयनयेन चरमभाषाद्वयं पूर्वभाषाद्वयेऽन्तर्भावितमि"ति प्रागुक्तम्। **'एव'**शब्देन चरमभाषाद्वयस्य सत्यासत्यान्यतरत्वविप्रतिपत्तिर्व्यवच्छिन्नेति ध्येयम्।।१८।।

है। प्रज्ञापना सूत्र में ही भाषापद में "जा य इत्थि पण्णवणी' इत्यादिरूप से 'प्रज्ञापनी भाषा मृषा नहीं है किन्तु सत्य भाषा है' यह प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रज्ञापनी भाषा भी उपलक्षण से ग्राह्य है। आशय यह है कि 'स्त्री आदि आज्ञापनी भाषा के ग्रहण से उपलक्षण से स्त्रीआदिप्रज्ञापनीभाषा भी सत्यभाषा में समाविष्ट होती है' यह सिद्ध होता है, क्योंकि असत्यामृषाभाषा के भेद में प्रविष्ट होने पर भी प्रज्ञापनी भाषा में सत्यत्व का प्रतिपादन प्रज्ञापना सूत्र में विस्तार से किया गया है।

शंका :- स्त्रीप्रज्ञापनी, पुरुषप्रज्ञापनी, नपुंसकप्रज्ञापनी - इन भाषाओं को सत्य भाषा कहना कैसे उचित होगा? क्योंकि शाब्द व्यवहार अनुगत स्त्रीत्वादि के लक्षण का ग्रहण करने पर यह भाषा असत्य ही है। आशय यह है कि स्त्रीप्रज्ञापनी भाषा का अर्थ है स्त्री के लक्षण का प्रतिपादन करनेवाली भाषा जैसे कि - 'योनि, मृदुता, अस्थैर्य आदि स्त्री के लक्षण हैं'। पुरुषप्रज्ञापनी अर्थात् पुरुषके लक्षण का प्रतिपादन करनेवाली भाषा जैसे कि - 'दाढी, मुछ, द्रढता ये सब पुरुष के चिह्न हैं'। नपुंसकप्रज्ञापनी भाषा वह होती है जो नपुंसक के लक्षण का प्रतिपादन करती हो जैसे कि - "जिसके पेसाब में बुदबुदे नहीं होते हैं और जिसकी विष्ठा पानी में डूब जाती है इत्यादि नपुंसक के लक्षण हैं"। मगर स्त्रीलिंग का प्रयोग तो जिसमें 'योनि, मृदुता "आदि चिह्न नहीं होते हैं उसमें भी होता है। जैसे कि पाठशाला आदि शब्द, जो स्त्रीलिंगरूप होते हैं, योनि-मृदुता आदि स्त्री चिह्न जिसमें नहीं हैं ऐसी पाठशाला में शाब्द व्यवहार के बल से प्रवर्तमान होते हैं। स्त्रीलिंगवाले शब्द के विषय होने पर भी पाठशाला आदि में स्त्री के लिंग नहीं हैं, तब तो स्त्री के लक्षण का प्रतिपादन करनेवाली पूर्वोक्त स्त्रीप्रज्ञापनीभाषा असत्य ही होगी न कि सत्य। वैसे पुरुषप्रज्ञापनी, नपुंसकप्रज्ञापनी भाषा (शब्द) भी सत्य नहीं हैं, क्योंकि जिसमें पुल्लिंग-नपुंसक लिंग शब्द का प्रयोग होता है उन सबमें पुरुषप्रज्ञापनी आदि भाषा से कथित पुरुष आदि के लक्षण नहीं होते हैं। अतः अव्यापकरूप से = संकुचितरूप से स्त्री आदि के लक्षण का प्रतिपादन करनेवाली स्त्रीप्रज्ञापनी आदि भाषा सत्य नहीं है, किन्तु मृषा ही है।

❋ वेदानुगतलक्षणप्ररूपण की अपेक्षा स्त्री प्रज्ञापनी आदि भाषा सत्य है ❋

समाधान :- **'शाब्दव्यवहार.'** इति। स्त्रीलिंगवाले शब्दों की प्रवृत्ति=व्यवहार जिसमें स्त्री आदि के लक्षण नहीं होते हैं उसमें भी होने से स्त्री आदि के लक्षण की प्रतिपादक = स्त्रीप्रज्ञापनी भाषा को सर्वथा मृषाभाषा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वेदानुगत लक्षण की अपेक्षा से ये सत्य ही हैं। तात्पर्य यह है कि "योनि, मृदुता आदि स्त्री के लक्षण है" इत्यादिरूप से स्त्री के लक्षण की प्रतिपादक भाषा यदि - 'जहाँ जहाँ स्त्रीलिंगवाले शब्द का प्रयोग होता है वहाँ वहाँ ये लक्षण होते हैं' - इस अभिप्राय से बोली जाय, तब तो

अथाऽऽराधकत्व - विराधकत्व-देशाराधकविराधकत्वानाराधकविराधकत्वोपाधिभिश्चतुर्द्धैव विभागो युक्तो न तु द्विधेत्यत आह -

[१]आराहणं पडुच्च वि परिभासा चेव चउविहविभागे। सच्चंतब्भावे च्चिय, चउण्ह आराहगत्तं जं।।१९।।

आराधनां प्रतीत्याऽपि चतुर्विधविभागे परिभाषैव। निश्चयतस्त्वाराधकत्वानाराधकत्वाभ्यां च द्विविधैव भाषा।

'अथेति। ननु भाषाविभाजकोपाधयश्चत्वारः, अतो भाषायाश्चतुर्द्धा विभागो युक्तः, विभागस्य विभाजकोपाध्यधीनत्वात्। द्विधा विभागकरणे तु भाषाविभाजकोपाध्यव्यापकत्वान्न्यूनता दोष इत्याक्षेपो व्यवहारनयस्य निश्चयनयं प्रति। **द्वेधेति**। अत्र इतिशब्दः पदार्थविपर्यासे। तदुक्तम***मरचंद्रेण शब्दानुशासनबृहद्वृत्त्यवचूर्णौ*** - "इति-एवमर्थे १, आद्येऽर्थे २, हेत्वर्थे ३, प्रकारार्थे ४, शब्दप्रादुर्भावे ५, ग्रन्थसमाप्तौ ६ पदार्थविपर्यासादौ" (श.बृ.अ. १।१।३१) इति। अतः = "द्विधा भाषाविभागो न युक्त" इतिपदार्थविपर्यासाद्धेतोः।

आराधनां = भाषानिष्ठाराधकत्वमित्यर्थः। एतच्चोपलक्षणं भाषावृत्तिविराधकत्व-देशाराधकविराधकत्वानाराधक-

---

पाठशाला आदि में, जिसमें यथोक्त स्त्री के लक्षण नहीं होते हैं, स्त्रीलिंगवाले "पाठशाला" आदि शब्दों का प्रयोग होने से अव्याप्ति आने से स्त्रीप्रज्ञापनी भाषा मृषा हो सकती है। वैसे ही पुरुष प्रज्ञापनी, नपुंसक प्रज्ञापनी भाषा में भी समझना चाहिए। मगर 'योनि, मृदुता' इत्यादिरूप से जो स्त्री के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है वह पूर्वोक्त विवक्षा से नहीं किया गया है किन्तु वेदानुगत लक्षण की अपेक्षा से किया गया है। अर्थात् "योनि, मृदुता 'आदि लक्षण वहाँ होते हैं जहाँ स्त्रीवेद का प्रधानरूप से उदय होता है। इस विवक्षा से स्त्रीप्रज्ञापनी = स्त्रीलक्षण की प्रतिपादक भाषा मृषा नहीं है, किन्तु सत्य ही है, क्योंकि स्त्रीवेद का प्रधानरूप से जहाँ उदय होता है, वहाँ यथोक्त स्त्री लक्षण होते हैं। इस तरह पुरुषप्रज्ञापनी, नपुंसकप्रज्ञापनी भाषा में भी वेदानुगत पुरुषादि के लक्षण के प्रतिपादन करने का तात्पर्य होने से सत्यत्व अव्याहत है। जिस तरह आज्ञापनी, प्रज्ञापनी भाषा में, जो असत्यामृषा भाषाओं में परिगणित हैं, सत्यत्व रहता है, इस तरह सब असत्यामृषाभाषा में सत्यत्व भी रह सकता है और मिश्रभाषा में असत्यत्व रह सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः - "निश्चयनय से मिश्रभाषा और असत्यामृषा भाषा का प्रथम दो भाषा में समावेश होता है" - ऐसा जो हमने पूर्व में कहा था वह युक्तियुक्त और आगमसंगत भी है-यह जानना चाहिए।।१८।।

※ भाषा के भेद चार है - व्यवहारनय ※

शंका :- आप मिश्र भाषा और अनुभय भाषा = असत्यामृषा भाषा का प्रथम दो भाषाओं में समावेश कर के भाषा के दो प्रकार मानते हैं, वह मुनासिब नहीं है, क्योंकि विभाग की नियामक उपाधि होती है। जिन चीजों का विभाग करना अभिप्रेत होता है उन चीजों में रहे हुए अनुगत और परस्पर असंकीर्ण विलक्षणधर्म को विभाजक धर्म यानी विभागकउपाधि कहते हैं। जैसे कि जीवत्व-अजीवत्व आदि पदार्थविभाजकउपाधि के ९ प्रकार होने से पदार्थ=तत्त्व के नौ भेद होते हैं। प्रस्तुत में भी भाषाविभाजक धर्म के चार भेद हैं आराधकत्व, विराधकत्व, देशाराधकविराधकत्व और अनाराधकविराधकत्व। भाषाविभाजक उपाधि के चार भेद होने से भाषा का चार प्रकार = भेद सत्य, असत्य, मिश्र और अनुभय (असत्यामृषा) मानने ही तर्कसंगत हैं। भाषा के सत्य और असत्य दो ही भेद मानने में मिश्र भाषा और अनुभयभाषा का समावेश न होने से न्यूनता नाम का दोष आयेगा। अतः भाषा का द्विधा विभाग माननेवाला निश्चयनय भ्रान्त है।

इस प्रकार व्यवहारनय जब निश्चय का खंडन करने के लिए कमर कसता है, तब निश्चयनय का वक्तव्य क्या है? यह १९वीं गाथा से प्रकरणकार बताते हैं।

गाथार्थ :- आराधना का अवलंबन कर के भाषा के चार भेद मानने में भी परिभाषा ही नियामक है। अतएव भाषा के चार भेदों का आराधकत्व की अपेक्षा से सत्यभाषा में अंतर्भाव ही किया है।१९।

भाषा के दो भेद है - निश्चयनय

विवरणार्थ :- वाह! अपनी गली में कुत्ता भी शेर! हे व्यवहारनय के शागिर्द! आप भी भाषा के चार भेद को बताते हैं, तब

---

१ आराधनां प्रतीत्यापि परिभाषा चैव चतुर्विधविभागे। सत्याऽन्तर्भाव एव चतसृणामाराधकत्वं यत्।।१७।।

वस्तुतो भाषानिमित्तयोः शुभाशुभसङ्कल्पयोरेवाराधकत्वं विराधकत्वं वा न तु भाषायाः।

विराधकत्वानाम्। **'परिभाषैवे'**ति। शरणमितिशेषः। प्रतिबन्द्या समाधत्ते - **'निश्चयत'** इति। **आराधकत्वानाराधकत्वाभ्यां**=आराधकत्वविराधकत्वाभ्याम्। नञो विरोधार्थकत्वात्। तदुक्तं-सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता।। अयमाशयो यथा आराधकत्वादिभिश्चतुर्भिरुपाधिभिर्व्यवहारनयेन भाषायाश्चतुर्द्धा विभागः क्रियते तथैकाखण्डामिश्रितवस्तुग्राहिणा निश्चयनयेनाऽऽराधकत्वानाराधकत्वोपाधिभ्यां द्विधा विभागः क्रियते, तन्मते भाषात्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मत्वस्य तयोरेव वृत्तित्वात्।

नन्वेवं सत्यसत्यामृषाया असत्यत्वमेव स्यात्, तस्या अनाराधकविराधकत्वेनाऽऽराधकत्वव्यतिरेकनिश्चयादनाराधकत्वस्यैव सत्त्वादित्याशङ्कायामाह - **'वस्तुत'** इति। **अथवा** भाषाया भाषावर्गणापुद्गलद्रव्यनिष्पन्नत्वेन जडत्वात्कथमाराधकत्वादिकमित्याशङ्कायामाह **'वस्तुत'** इति। **अथवा** निश्चयनयेन प्रतिबन्द्याऽपि परिभाषासमाश्रयणं कथं युक्तं? इत्यत आह **'वस्तुत'** इति। **अथवा** देशाराधकविराधकत्वानाराधकविराधकत्वयोः कथमस्वीकारो निश्चयनयमते? इत्याशङ्कायामाह **'वस्तुत'** इति। **वेति**। वाकारो व्यवस्थायाम्। निश्चयनयः "तद्धेतोरस्तु किं तेने'तिन्यायेन भाषाहेतौ शुभसङ्कल्पे आराधकत्वं पुण्यबंध-निर्जराहेतुत्वमशुभसङ्कल्पे च विराधकत्वमशुभकर्मबन्धहेतुत्वं मन्यते, निश्चयनयेन सङ्कल्पस्यैव प्रमाणत्वान्न तु भाषायाः। अत एव "अन्नत्थ निवडिए वंजणंमि, जो खलु मणोगओ भावो। तं खलु पच्चक्खाणं, न पमाणं वंजणच्छलणा।। (आ.नि. १५९२) ***इत्यावश्यकनिर्युक्ता***वुक्तं सङ्गच्छते। व्यवहारनयस्तु कार्ये कारणोपचाराद् भाषायामाराधकत्वादिकं प्रधानं मन्यते। निश्चयनयस्तु गौणं मन्यत इति विवेकः। अतो नासत्यामृषायाः सत्यत्वमेवासत्यत्वमेव वा किन्तु तत्प्रयोजकसङ्कल्पानुसारेण निश्चयनयेन तत्र गौणं सत्यत्व-

आराधकत्व, विराधकत्व आदि की अपेक्षा से ही भाषा का चतुर्धा विभाग करते हैं न? आखिर तो आपके लिए भी आराधकत्व आदि की अपेक्षा करनेवाली परिभाषा ही शरण है न? इस तरह तो हमारी = निश्चयनय की दृष्टि से भी भाषा के दो विभाग का समर्थन हो सकता है। देखिये, जैसे आप कहते हो कि - "जिस भाषा में आराधकत्व होगा वह भाषा सत्य कहलायेगी, जिसमें विराधकत्व होगा वह असत्य भाषा कहलायेगी, जिस भाषा में देश से आराधकत्व और देश=अंश से विराधकत्व होगा वह मिश्र भाषा कहलायेगी और जिस भाषा में न तो आराधकत्व है और न तो विराधकत्व है वह भाषा अनुभय=असत्यामृषा भाषा कहलायेगी" -वैसे हम = निश्चयनयवादी यह कहेंगे कि -"जिस भाषा में आराधकत्व होगा वह सत्य भाषा कहलायेगी और जिस भाषा में विराधकत्व होगा वह भाषा असत्य भाषा कहलायेगी। इस तरह से भाषा के दो ही भेद=प्रकार हैं।" यहाँ यह शंका कि -"तब मिश्र भाषा का समावेश सत्य या असत्य में नहीं हो सकेगा-" करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि निश्चयनय की दृष्टि से भाषा में अंशतः भी विराधकत्व हो तब वह भाषा आराधक नहीं कहलायेगी। अतः उस भाषा में असत्य भाषा का व्यवहार होगा।

✵ भाषा के निमित्त संकल्प में ही आराधकत्व या विराधकत्व है - निश्चयनय **✵**

'वस्तुतः' इति। अभी तक जो बात बताई थी वह तो अभ्युपगमवाद से बताई थी। मगर वास्तविकता तो यह है कि भाषा में आराधकत्व या विराधकत्व है ही नहीं, क्योंकि भाषा तो भाषावर्गणा के पुद्गलद्रव्यों से निष्पन्न होने से जडरूप ही है। अतः उसमें आराधकत्व या विराधकत्व की संभावना ही कैसे हो सकती है? मगर भाषा का निमित्तभूत जो संकल्प है, वही आराधक या विराधक है, भाषा नहीं। जब भाषा का हेतुभूत संकल्प शुभ होगा तब वही शुभ संकल्प आराधक होगा और जब भाषा का हेतुभूत संकल्प अशुभ होगा तब वह अशुभ संकल्प विराधक होगा। हाँ, उपचार से भाषा को आराधक या विराधक कहना हो तो कह सकते हैं। अर्थात् जिस भाषा का निमित शुभ संकल्प होगा वह भाषा उपचार से आराधक है, अतएव सत्य है और जिस भाषा का निमित्त अशुभ संकल्प होगा वह भाषा उपचार से विराधनी है, अतएव असत्य है। भाषा का निमित्तभूत एक ही संकल्प शुभाशुभ नहीं हो सकता है, अतः संकल्प में देश आराधकत्व और देश विराधकत्व नहीं है। इसी सबब भाषा में उपचार से भी मिश्रत्व नहीं है। वैसे भाषा का निमित्त संकल्प शुभ न हो और अशुभ भी न हो ऐसा भी नहीं हो सकता है। इसलिए संकल्प में नो-आराधकत्व और नो-विराधकत्व नहीं है। अतएव भाषा में उपचार से भी अनुभयत्व = असत्यामृषात्व नहीं है।

अथ मन्दकुमारादीनां करणाऽपटिष्ठतादिना "अहमेतद्भाषे 'इत्यादिज्ञानशून्यानां या भाषा तन्निबन्धनाशुभसङ्कल्पाभावात्कथं तत्र विकल्पेन भाषोपक्षय इति **चेत्**? **न**, अनायुक्तपरिणामस्यैव कर्मबन्धनहेतुत्वेन विराधकत्वात् तेन तदुपक्षयात्। समर्थितञ्चेदं

मसत्यत्वं वा सम्भवति। अत एव 'दुविहच्चिय हंदि णिच्छयओ' (भा.र.गा. १७) इत्यत्र निश्चयनयमतेन - "अबाधित-तात्पर्यस्यैव शब्दस्य सत्यत्वादिति" (दृश्यतां ७५ तमे पुटे) ग्रन्थकृता पूर्वमुक्तं सङ्गच्छत इति ध्येयम्।

ननु निश्चयनयेन किमिति भाषाया आराधकत्वादिकं मुख्यरीत्या नाभ्युपेयते इति **चेत्? उच्यते** आराधकत्वं नाम निर्जरादिहेतुत्वं, निर्जरादिकं प्रति भाषाया अन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामन्यथासिद्धत्वान्नाराधकत्वम्। शुभसङ्कल्पस्य निर्जरादिकं प्रत्यनन्यथासिद्धत्वादाराधकत्वं, विधिविशुद्धशुभसङ्कल्पात्कारणवशान्मृषाभाषणे सत्याऽभाषणेऽपि वा निर्जरादेर्जायमानत्वात् शुभसङ्कल्पविरहदशायामशुभसङ्कल्पात्सत्यभाषणेऽपि निर्जरादेरभावाच्चेति। अध्यवसाय-रूपे च सङ्कल्पे शुभाशुभत्वसङ्कीर्णत्वस्य शुभाशुभत्वविनिर्मुक्तत्वस्य चाभावेन देशाराधकविराधकत्वाऽनाराधक-विराधकत्वयोरसम्भवाद् भाषायामपि गौणं मिश्रत्वमनुभयत्वं वा निश्चयेन नास्तीति। निश्चयनयरहस्यश्रवणाद् या शङ्का जायते ता'**मथे**'त्यादिना प्रदर्शयति। **करणापटिष्ठतादिनेति**। आदिशब्दत्पूर्वापरानुसन्धानवैकल्यप्रयोजकं वातादिनोपहतचैतन्यकत्वादिकं ग्राह्यम्। **विकल्पेने**ति। अशुभसङ्कल्पेनेत्यर्थः। **भाषोपक्षय** इति भाषाया अन्यथा-सिद्धत्वम्। शङ्काकर्तुरयं भावः; मंदकुमारादिभाषाया अशुभसङ्कल्पप्रयुक्तत्वाभावेन तत्र स्थलेऽशुभसङ्कल्पस्यै-वाभावात्कुत्र विराधकत्वं भवन्मते स्यात्। अतोऽनन्यगत्या भाषायामेव विराधकत्वमाराधकत्वं वा न तु तत्प्रयोजके सङ्कल्पे इत्यभ्युपेयमिति।

तन्निराकरोति '**ने**'त्यादिना। '**अनायुक्तपरिणामस्यैव**' इत्यनेन भाषाया व्यवच्छेदः कृतः। **कर्मबन्धनहेतुत्वेन** = अशुभकर्मबन्धनहेतुत्वेन। **तेन** = अनायुक्तपरिणामेनाऽनुपयोगात्मकाध्यवसायविशेषरूपेण सम्यक्सङ्कल्पविरहलक्षणेन वा। **तदुपक्षयात्** = भाषाया अन्यथासिद्धत्वात्। अयं भावः; अनायुक्तं भाषमाणस्याऽनायुक्तपरिणामस्याशुभकर्मबन्ध-

*** भाषा में ही आराधकत्व आदि मानना युक्त है** - व्यवहारनय *****

व्यवहारनय :- ***'अथ मंद'*** इति। यदि भाषा के जनक संकल्प में ही आराधकत्व या विराधकत्व माना जाए तो जो बहुत छोटे बच्चे हैं, जिनकी इंद्रियाँ और मन का विकास नहीं हुआ है - इसी सबब अत्यंत मंद क्षयोपशमवाले हैं, "मैं यह बोल रहा हूँ" इत्यादि ज्ञान = संकल्प से शून्य हो कर यत्किंचित् बोलते हैं, वहाँ आप क्या करेंगे? छोटे बच्चे को तो शुभ या अशुभ संकल्प ही नहीं है, तब उसमें आराधकत्व और विराधकत्व का विचार भी कैसे हो सकेगा? मूलं नास्ति कुतः शाखा? इसलिए - "वक्ता का संकल्प ही शुभ या अशुभ होने पर कर्मनिर्जरा आदि का कारण होने से आराधक और अशुभकर्मबंध आदि का कारण होने पर विराधक है; भाषा नहीं। पापकर्मबन्ध या निर्जरा आदि कार्य तो वक्ता के संकल्प से ही हो जाने से भाषा उपक्षीण = चरितार्थ = असमर्थ हो जायेगी" - इत्यादि कथन युक्तिसंगत नहीं होगा। आशय यह है कि जहाँ संकल्प नहीं है, फिर भी भाषा का प्रादुर्भाव = जन्म हो सकता है। वहाँ तो कर्मबंध आदि के प्रति भाषा ही कारण बनेगी, न कि संकल्प। अतः भाषा को कर्मनिर्जरा या पापकर्मबंध आदि के प्रति कारण मानना आवश्यक है। एक स्थल में भाषा कर्मनिर्जरादि की जनक है - यह सिद्ध होने पर अन्यत्र भी भाषा में ही आराधकत्व या विराधकत्व मानना उचित होगा, न कि संकल्प में।

*** संकल्प में ही आराधकत्व या विराधकत्व मानना युक्त है** - निश्चयनय *****

निश्चयनय :- **'न' इति**। आप आँखों में धूल झोंकने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। आपके कथन से आपको आगम का कुछ ज्ञान नहीं है, यह पता चल रहा है। आगम में अनुपयोग को प्रमाद कहा गया है, जो कि कर्मबंध का पाँचवाँ कारण है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद - ये पाँच कर्मबंध के हेतु हैं। जब छोटा बच्चा या अन्य कोई वक्ता - "मैं क्या बोलता हूँ, मुझे

१ यह ग्रंथ विद्वान् मुनिराजश्री अभयशेखरविजयजी कृत गुर्जर अनुवाद के साथ 'आदीश्वर जैन टेम्पल ट्रस्ट वालकेश्वर' से प्रकाशित हो चूका है।

"निच्छयओ सकयं चिय" (अध्या. प. गा. ४८) इत्यादिना महता प्रबन्धेन **'स्वोपज्ञाध्यात्ममतपरीक्षायामिति** नेह प्रतन्यते।

अत्रैव हेतुमाह - **'सत्यान्तर्भाव एव यद्** = यस्मात् कारणात्, **चतसृणां** भाषाणा**माराधकत्वम्**। अयं भावः "[1]इच्चेयाइं भंते! चत्तारि

हेतुत्वेन विराधकत्वस्याऽव्याहतत्वात्; अशुभाध्यवसायरूपेऽशुभसङ्कल्पे विराधकत्वाभिधानं युक्तमेव। अनायुक्त-परिणामेनैवाऽवश्यक्लृप्तेनाऽशुभकर्मबन्धसम्भवेऽशुभकर्मबन्धं प्रति भाषाया अन्यथासिद्धत्वस्य स्फुटत्वेनाऽशुभकर्म-बन्धहेतुत्वरूपविराधकत्वप्रतिपादनस्याश्रद्धेयत्वादिति।

'निच्छयओ' इति। ***अध्यात्ममतपरीक्षायामियं*** गाथा-"निच्छयओ सकयं चिय सव्वं, णो परकयं हवे वत्थु। परिणामावंझत्ता, ण य वंझं दाणहरणाइ।।" इत्येवं वर्तते। तत्र चानेनैव विवरणकारेण - "निश्चयतः सव सुखदुःखा-दिकं पुण्यपापरूपस्वपरिणामकृतमेव न तु परकृतं, शुभाशुभपरिणामप्रसूतसुख-दुःखहेतु-पुण्यपापविपाककालेऽवर्ज-नीयसन्निधितया स्थितानां बाह्यनिमित्तानामुपचारमात्रेणैव हेतुत्वादि'त्यादिकं व्याख्यातम्। अधिकं ततोऽवसेयम्।

अत्रैव = 'निश्चयत आराधकत्वानाराधकत्वाभ्यां च द्विविधैव भाषे'त्यत्रैव। **आराधकत्वमि**ति। एतच्च विराधकत्व-स्योपलक्षणम्, उपपद्यत इति शेषः। अत्र निश्चयनयेनैवमापादनं क्रियते - यदि चतसृणां भाषाणां सत्यान्तर्भावो न स्यात्तर्हि तासामाराधकत्वं न स्यादिति। अत्र विवादास्पदीभूता सर्वभाषा सत्यान्तर्भूता आराधकत्वादि'त्येवं प्रयोगो द्रष्टव्यः। **'अयं भाव'** 'इत्ययमुपक्रमः, अस्य चोपसंहारः **'इति पर्यवसितमि'**त्यत्र द्रष्टव्यः। ननु चतसृणां भाषाणामा-राधकत्वं कुतः सिद्धमित्यारेकायां प्रज्ञापनासूत्रस्य 'इच्चेयाइं' इति पाठं प्रदर्शयति। अत्रानुमानप्रयोगः "प्रकृताः सर्वा भाषा आराधन्य आराधकवक्तृजन्यत्वात्" एवं द्रष्टव्यः। ननु सर्वभाषाया वक्तर्याराधकत्वमपि कुतः? इत्याह - **"आयुक्तमि'**ति। क्रियाविशेषणञ्चैतत्। अत्र च प्रयोग एवं बोध्यः, सर्वभाषाया विवक्षितो वक्ता आराधक आयुक्तं भाषमाणत्वात् आराधकत्वेनोपदिष्टत्वाद्वेति।

वस्तुतस्तु मृषात्वादि सत्यत्वसमानाधिकरणं न वा? इति विप्रतिपत्तिः। अत्र विधिकोटिः निश्चयनयस्य निषेध-कोटिश्च व्यवहारनयस्य। निश्चयनयेन विवादास्पदीभूतमृषात्वादि सत्यत्वसमानाधिकरणं, आराधकभाषावृत्तित्वात्,

---

क्या बोलना चाहिए" इत्यादि उपयोग से शून्य होकर बोलता है, तब उसका अनायुक्त परिणाम अर्थात् अनुपयोग ही अशुभकर्मबंध का निमित्त होता है। उसकी भाषा चाहे संवादी हो या विसंवादी, मगर अनुपयोग से बोलने से उसको पापकर्म का बंध ही होगा। पाप कर्म का बंध कराने से अनुपयोग ही विराधक है। इसलिए वहाँ भी पापकर्मबंध में भाषा कारण नहीं है, मगर अनायुक्त परिणामरूप अध्यवसाय, जो संकल्प शब्द से अभिप्रेत है, ही पापकर्मबंध का हेतु है। अनायुक्त परिणाम से ही अशुभकर्मबंधरूप कार्य की उत्पत्ति होने से अशुभकर्मबंधरूप कार्य के प्रति भाषा उपक्षीण = असमर्थ हो जायेगी। अतः पूर्व में हमने जो कहा था कि 'भाषा के जनक संकल्प में ही परमार्थ से आराधकत्व या विराधकत्व है' वह ठीक ही है। परमार्थ से संकल्प जन्य भाषा में आराधकत्व आदि की कल्पना करना अयुक्त है। हो गया दूध का दूध, पानी का पानी। इस विषय का 'निच्छयओ सकयं' इत्यादि गाथा से, इस ग्रंथ के रचयिता उपाध्याय श्रीयशोविजयजी महाराज ने ही अध्यात्ममतपरीक्षा नाम के स्वरचित ग्रंथ में विस्तार से निरूपण किया है। इसलिए यहाँ निश्चयनय के मन्तव्य की विस्तार से प्ररूपणा ग्रंथकार ने नहीं की है। इस तरह अर्थतः जिज्ञासुवर्ग को अध्यात्ममतपरीक्षा ग्रंथ देखने की सूचना ग्रंथकार करते हैं।

* निश्चयनय से भाषा के केवल दो भेद है *

'अत्रैव' इति। पूर्व में जो बताया गया है कि निश्चयनय के अभिप्राय से आराधकत्व और अनाराधकत्व की दृष्टि से भाषा के दो ही भेद हैं। इस बात की सिद्धि के लिए प्रकरणकार गाथा के पश्चार्द्ध से हेतु का प्रतिपादन करते हैं। निश्चय से भाषा के दो ही भेद हैं अर्थात् अन्य भाषाओं का सत्य या असत्यभाषा में समावेश हो जाता है। यहाँ यह शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं

---

१ इत्येतानि चत्वारि भाषाजातानि भाषमाणः किमाराधकः विराधकः? गौतम ! इत्येतानि चत्वारि भाषाजातानि आयुक्तं भाषमाणः आराधकः, नो विराधकः ।

भासज्जायाइं भासमाणे किं आराहए विराहए? गोयमा! इच्चेयाइं चत्तारि भासज्जाताइं आउत्तं भासमाणे आराहए, णो विराहएत्ति।। (प्र. भा. प. सू. १७४) **प्रज्ञापनासूत्रे** सर्वा अपि भाषा आयुक्तं भाषमाणस्याराधकत्वोपदेशात् क्रियाद्वयस्य समानकालीन-सम्प्रतिपन्नवदिति प्रयोगः क्रियते।

ननु सर्वा अपि भाषा आयुक्तं भाषामाणस्याराधकत्वोपदेशादिति कुतः सिद्धं? इत्याह-**क्रियाद्वयस्येति**। आयुक्त-भाषणक्रियाऽऽराधनाक्रिययोः समानकालीनत्वलाभादौत्सर्गिकहेतु-हेतुमद्भावसिद्धिः। अयं भावः, यथा"ऽनुपयुक्तं गच्छन् स्खलति" अत्राऽनुपयुक्तगमनक्रियास्खलनक्रिययोर्हेतुहेतुमद्भावसिद्धिस्तथा "आयुक्तं भाषमाण आराधक" इत्यत्राऽपि आयुक्तभाषणाराधनयोः कार्यकारणभावसिद्धिः।

ननु कार्यात्कारणानुमानं 'वह्निमान् धूमादि'त्यादौ दृष्टं, न तु कारणात्कार्यानुमानमत आयुक्तभाषणक्रिया-रूपकारणात् कथमाराधनाकार्यानुमानमिति **चेत्? न**; कारणादपि कार्यानुमानोपगमात्। न हि सुपरिक्षितं कारणं कार्यं व्यभिचरति। तदुक्तं ***सिद्धर्षिगणिनोपमितिभवप्रपञ्चाकथायां*** - "न ह्युपाय उपेयव्यभिचारी। उपायश्चाऽप्रतिहत-शक्तिकः" (उप.पृ. २६) इति।

ननु समानकालीनत्वे कुलो हेतुहेतुमद्भावसिद्धिरिति **चेत्? न**; उत्सर्गतो निश्चयनयेन समानकालीनयोरेव कार्यकारणभावोगमात् समानकालीनत्वे सति आयुक्तभाषणे कारणत्वस्य युक्तत्वात्।

यत्तु *न्यायसिद्धान्तदीपे* "कार्यनियतपूर्ववर्तिजातीयत्वमेव कारणत्वम्। न चाकाशादेरपि कारणत्वम्, सामान्यत इष्टत्वादित्युक्तं, **तन्मन्दम्** एवं सति दण्डत्वादेरपि कारणत्वं प्रसज्येत। **न च** कार्यगतजातेः कारणगतजाति-प्रयुक्तत्वनियमादिष्टापत्तिरिति **वाच्यम्**, अनभ्युपगमात्, तन्नियमस्वीकर्तृमतेऽपि कार्यगतजातेर्निमित्तकारणगतजाति-प्रयुक्तत्वास्वीकाराच्च। **एतेन** सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं कारणत्व**मित्यपास्तम्** सहकारित्वनिर्वचने आत्माश्रय-प्रसङ्गात्।

है कि - 'अन्य भाषा का सत्यभाषा में समावेश कैसे होगा?' इसका कारण यह है कि सर्व भाषाओं का सत्यभाषा में अंतर्भाव हो तभी चार भाषाओं में आराधकत्व घटेगा, अन्यथा नहीं। यदि सब भाषाओं का परमार्थ से सत्यभाषा में अंतर्भाव न हो और मृषाभाषा, मिश्रभाषा आदि रूप से स्वतंत्र अस्तित्व हो, तब तो सब भाषा में आराधकत्व ही दुर्घट हो जायेगा। एक ओर से मृषा भाषा, मिश्र भाषा इत्यादि कहना और दूसरी ओर उसे आराधक कहना यह कैसे समीचीन होगा? अतः सर्वभाषा का सत्यभाषा में अंतर्भाव होता है - यह मानना ही होगा।

शंका :- सर्व भाषा में आराधकत्व है - यह प्रतिपादन आप किस आधार पर कर रहे हैं? क्यां इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम प्रमाण है?

*** अपेक्षा से सर्व भाषा सत्यभाषा है** - निश्चयनय *****

समाधान :- ***'अयं भावः'*** इति। हमने जो बताया है कि - 'सर्व भाषा में आराधकत्व है' वह हमारी मन मानी कल्पना नहीं है या शेखचल्ली का तरंग नहीं है, मगर इस विषय में आगम ही बलवान् प्रमाण है। प्रज्ञापना नामक उपांग में जो कहा है उसको कान खोल कर सुनिये। यह रहा वह प्रज्ञापनाशास्त्रवचन का अर्थ-"गौतमस्वामीजी के इस प्रश्न को कि - "हे भगवंत! इन चार भाषाओं को बोलनेवाला क्या आराधक होता है या विराधक?" - हल करते हुए महावीर प्रभु ने कहा कि - "हे गौतम! इन चार भाषाओं को आयुक्त परिणामपूर्वक बोलता हुआ जीव आराधक होता है, विराधक नहीं"। प्रज्ञापना सूत्र के उक्त वचन से यह साफ साफ स्पष्ट हो जाता है कि भाषा चाहे सत्य हो, चाहे मृषा हो, चाहे सत्यामृषा हो, चाहे असत्यामृषा हो मगर आयुक्त परिणाम से बोलता हुआ जीव आराधक ही होता है। जैसे - वह आँखें मूँद कर चलता हुआ किसीसे टकराता है - इस वाक्य में आँखें मूँद कर चलने की और किसीसे टकराने की दो समानकालीन क्रिया में कार्य-कारणभाव का ज्ञान होता है। अर्थात् आँखें मूँद कर चलना यह टकराने का कारण है और टकराना यह ऑखें मूँद कर चलने का कार्य है, वैसे ही यहाँ भी 'आयुक्त परिणाम से बोलता हुआ

त्वलाभादौत्सर्गिक[1]-हेतु-हेतुमद्भावसिद्धिः। अत्र चाऽऽयुक्तमिति पदं सम्यक्प्रवचनमालिन्यादिरक्षणपरतयेत्यर्थकम्।

यदपि अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्याव्यवहितप्राक्क्षणनियतवृत्तिजातीयत्वं कारणत्वम्। तेनाऽरण्यस्थदण्डेऽपि कारणत्वोपपत्तिरिति **नैयायिकमतं, तन्न सम्यक्,** गौरवाद्, व्यभिचाराच्च। अस्माभिस्तत्र निश्चयनयमाश्रित्य लाघवात् "अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यक्षणनियतवृत्तित्वस्यैवाभ्युपगमात्, तेन समानकालभाविनोः प्रदीपप्रकाशयोर्न हेतुहेतुमद्भावासिद्धिरिति। **न च** प्रदीपप्रकाशयोरपि पूर्वोत्तरभाव एवाभ्युपगम्यते न समानकालीनत्वमिति **वाच्यम्** मानाभावात्, प्रदीपप्रकाशयोः समानकालीनत्वस्याऽऽगमप्रमाणसिद्धत्वाच्च। **तदुक्तमावश्यकनिर्युक्तौ-**'कारणकज्जविभागो दीवपगासाण जुगवं जम्मेविति। (आ.नि. ११५६) **न च** प्रागभावेऽव्याप्तिरिति **वाच्यम्** निश्चयनयमतेन प्रागभावे मानाभावात्, ***सामान्यलक्षणायां दीधितिकारेणा***ऽपि विस्तरतो निरस्तत्वाच्च। **किञ्च** प्रतियोगिप्रत्यक्षोत्पत्तिदशायामेव तदभावप्रत्यक्षं दुर्वारम्, तत्पूर्वक्षणे प्रतिबन्धकविरहरूपकारणस्य सत्त्वात्, प्रतियोग्युपलम्भकसामग्र्या अपि दोषत्वोपगमे गौरवात्, मानाभावाच्चेति **दिक्।**

'आयुक्तं भाषमाण आराधक' इत्यत्रानश्प्रत्ययेनाऽनयोस्समानकालीनत्वं लभ्यते। ततस्तयोः कार्यकारणभावसिद्धिरिति भावः। **औत्सर्गिकहेतुहेतुमद्भावसिद्धिः** = व्यापककार्यकारणभावनिश्चय इत्यर्थः अव्यभिचारिकार्यकारणभाव इति यावत्, न तु बलवद्बाधकापोद्यहेतुहेतुमद्भावसिद्धिः नैश्चयिकहेतुहेतुमद्भावस्यानपोद्यत्वात्।

अत्रापीदं ध्येयम्, "सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाध' इतिन्यायेन शुद्धनिश्चयनयस्त्वायुक्तपरिणामाराधनक्रिययोरेव हेतुहेतुमद्भावमङ्गीकरोति न त्वायुक्तभाषणाराधनाक्रिययोर्व्यभिचारात्, भाषणं विनाऽपि आयुक्तपरिणामेनैवाराधनाभ्युपगमात्। तदुक्तं प्रकृतप्रकरणकारेणैव **सामाचारीप्रकरणे**-" विशिष्टविधेर्विशेष्ये बाधकावतारे विशेषणमात्र एव पर्यवसानमिति निश्चयनयतात्पर्याद्विशेषणहेतुत्वाऽऽवश्यकत्वेनैवोपपत्तौ विशिष्टहेतुत्वकल्पनाऽनौचित्यादिति" (सा.प्र.गा.५७वृत्तौ)। तथाप्यत्र चतसृणां भाषाणां सत्यान्तर्भावसाधनार्थं व्यवहारोपगृहीतनिश्चयनयस्य समानकालीनायुक्तभाषणाराधनाक्रिययोरौत्सर्गिकहेतुहेतुमद्भावप्रतिपादनमिति न दोषः कश्चिदिति विभावनीयं सुधीभिः।

नन्वेवं सत्युपयोगपूर्वकं क्रोधादिना मृषाभाषणेऽप्याराधकत्वं प्रसज्येतेत्याशङ्कायामाह- **'अत्र चे'ति। 'सम्यक्-**

आराधक है', इस वाक्य से आयुक्त परिणाम से बोलना और आराधना - इन समकालीन दो क्रियाओं में औत्सर्गिक कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। अर्थात् आयुक्त परिणाम से बोलना यह आराधना का कारण है और आराधना आयुक्तपरिणाम से बोलने का कार्य है। भाषा सत्य हो या असत्य हो, इसके साथ आराधना का कोई संबंध नहीं है। आराधना का संबंध है आयुक्त परिणाम से बोलने के साथ। इन दोनों के बीच जो कार्य-कारणभाव है, वह औत्सर्गिक है, व्यापक है, अव्यभिचारी है - आपवादिक नहीं है या कादाचित्क नहीं है या व्यभिचारी भी नहीं है। निश्चयनय से कार्य-कारणभाव समकालीन ही होता है, पूर्वोत्तरभाव से नहीं। इस बात की विस्तृत चर्चा विशेषावश्यक भाष्य के निह्नववाद प्रकरण में द्रष्टव्य है।

शंका :- यदि आप कहें कि आयुक्त परिणाम से सब भाषा बोलने पर वक्ता आराधक ही होगा, तब तो क्रोध, लोभ आदि के उपयोगपूर्वक जब वक्ता मृषा भाषा बोलेगा तब भी - 'वह आराधक है' - यह स्वीकार करने की आपत्ति होगी। इसलिए आयुक्त परिणाम से बोलना ही आराधकत्व का प्रयोजक नहीं है किन्तु सत्य बोलना, अविसंवादी बोलना यही आराधकत्व का प्रयोजक है।

*** आयुक्त परिणाम का अर्थ ***

समाधान :- ***'अत्र च.'*** इति। जनाब! हमने इतने साल धूप में बाल पकाए नहीं है। आयुक्त परिणाम का अर्थ सिर्फ उपयोगपूर्वक बोलना यह नहीं है, मगर सम्यक् रूप से यानी शास्त्रविहितपद्धति से प्रवचन = जिनशासन की अपभ्राजना, मालिन्य को दूर करने के प्रयोजन से बोलना यह अर्थ है। अर्थात् शासनरक्षा, आत्मरक्षा, संयमरक्षा, संयमपालन आदि निमित्त से शास्त्रोक्त विधि के

१ अत्र मुद्रितप्रतौ "...र्गिकहेतुमद्भावसिद्धिः" इति अशुद्धः पाठः।

तथा चाऽऽयुक्तं भाष्यमाणाः सर्वा अपि सत्या एवेति पर्यवसितम्।

अत एव "[1]दो न भासिज्ज सव्वसो [2](द. अ. ७/गा. १) इत्यस्यापि न विरोधः; अपवादतस्तद्भाषणेऽप्युत्सर्गानपायात्। 'द्वे'

प्रवचनमालिन्यादिरक्षणपरतया=सम्यक्प्रवचनमालिन्यादिरक्षणेच्छयोच्चरिततयेत्यर्थः। आदिपदात् संयमादिग्रहः। अयं भावः प्रवचनोड्डाहरक्षणादिनिमित्तं शास्त्रोपदर्शितदिशा गुरुलाघवपर्यालोचनेन मृषाऽपि भाषमाणः साधुराराधक एवेति। तदुक्तं **निशीथचूर्णौ जिनदासगणिमहत्तरैः** - "जइ केइ लुद्धगादी पुच्छंति" कतो एत्थ भगवं! दिट्ठा मिगादी?" 'आदि'-सद्दातो सुअराती ताहे दिट्ठेसु वि वत्तव्वं - 'ण वि पासे'त्ति' ण दिट्ठ' त्ति वुत्तं भवति। 'अहवा तुसिणीओ अच्छति'। भणति वा 'ण सुणेमि'ति।" एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमुपसंहरति - **'तथा चे'**ति। सुगममिति न तन्यते।

ननु चतसृणां भाषाणां सत्यान्तर्भावे 'दो न भासिज्ज सव्वसो' इति **दशवैकालिकवचनं** विरुध्येतेत्याशङ्कायामाह **अत एवे**ति। आयुक्तभाषणाराधकत्वयोरौत्सर्गिकहेतुहेतुमद्भावनिश्चयादित्यर्थः। **'दो न भासिज्ज सव्वसो' इति**। द्वे = असत्या-सत्यामृषे न भाषेत = वदेत्; सर्वशः = सर्वैः प्रकारैरित्यस्यार्थः। अत्र व्यवहारनयेनोत्सर्गतो मृषामिश्रयोर्भाषणं निषिद्धम् तथापि **न विरोधः**। कथमित्यत्र हेतुमाह **'अपवादत'** इति। सम्यक्प्रवचनमालिन्यादिरक्षणनिमित्त-माश्रित्येत्यर्थः। **तद्भाषणेऽपि** = तयोर्मृषामिश्रयोर्भाषणेऽपि। **उत्सर्गानपायात्** = पूर्वोक्तनिश्चयनयाभिप्रेतौत्सर्गिकहेतु-

अनुसार बोलना यह आयुक्त पद का अर्थ है जो आराधकत्व का कारण है। जैसे कि अपनी बाईं ओर जाते हुए हिरन को देखने के बाद भी, साधु जब शिकारी से पूछा जाय कि - "आपने हिरन को देखा है? वह किस दिशा में गया है?" - तब साधु मौन रहे या - "हिरन दाईं ओर गया है" या "मैंने देखा नहीं है" इत्यादि प्रत्युत्तर संयमरक्षा के उपयोग से कहे तब भी वह साधु आराधक ही है, विराधक नहीं।

तथा च.' इति। प्रासंगिकरूप से आयुक्त पद के अर्थ को बताने के बाद विवरणकार मूल विषय का उपसंहार करते हुए बताते हैं कि - आयुक्तपरिणामपूर्वक चारों भाषाओं को बोलने पर भी वक्ता आराधक ही है। इससे सिद्ध होता है कि 'आयुक्त होकर सब भाषा बोलने पर भी परमार्थ से वे सब भाषा सत्य ही हैं। यदि उन भाषाओं में सत्यत्व नहीं होगा, तब उसमें आगमकथित आराधकत्व अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि उन भाषाओं का असत्य आदि रूप से स्वीकार करने पर भी उनको आराधक कहना यह 'मेरी माता वंध्या है' इस वाक्य की तरह विरुद्ध होगा।

व्यवहारनय :- आप सब भाषा को आयुक्त होकर बोलने पर आराधक कह कर सब भाषा का सत्य भाषा में समावेश करते हैं, वह मुनासिब नहीं है। इसका कारण यह है कि दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिए 'दो न भासिज्ज सव्वसो' अर्थात् "साधु को सर्व प्रकार से मृषा और सत्यामृषा भाषा नहीं बोलनी चाहिए" इस तरह से मृषा और सत्यामृषा भाषा बोलने का स्पष्ट निषेध किया गया है। आपकी दृष्टि से तो सत्य भाषण या मृषा भाषण को आराधकत्व के साथ कोई संबंध ही नहीं है। आराधकत्व का जहाँ तक कारणरूप से संबंध है, वह आयुक्त हो कर बोलने में है। अतः आपके अभिप्राय से मृषा या मिश्र भाषा भी आयुक्त होकर बोले तब भी इसमें आराधकत्व ही रहता है, तो मृषा भाषा और मिश्र भाषा बोलने का निषेध क्यों किया गया है? मृषा और मिश्र भाषा आराधक हो तो उनको बोलने का निषेध कैसे हो सकता है? इसीसे सिद्ध होता है कि आराधकत्व सत्य या अनुभय = असत्यामृषा भाषा में रहता है और विराधकत्व मृषा और सत्यामृषा भाषा में रहता है। इन दोनों का आयुक्त परिणाम या अनायुक्तपरिणाम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा मानने पर ही मृषा और मिश्र भाषा बोलने का किया हुआ निषेध उपपन्न होगा।

* 'दो न भासिज्ज' वचन का विरोध नहीं है - निश्चयनय *

निश्चयनय :- ***अत एव.*** इति। आपकी यह बात ठीक नहीं है। आपकी (व्यवहारनय की) दृष्टि से मृषा और मिश्रभाषा उत्सर्ग से भले निषिद्ध हो मगर अपवाद से यानी शासनमालिन्य निवारण, रक्षा आदि निमित्त से शास्त्रोक्त विधि से मृषा और मिश्र भाषा बोलने पर भी हमने जो औत्सर्गिक कार्यकारणभाव आयुक्त भाषण और आराधकत्व के बीच बताया है, वह अबाधित रहता है, क्योंकि अपवाद से मृषा या मिश्र भाषा आयुक्त परिणाम से बोलने पर मृषा और मिश्र भाषा में आराधकत्व रहने से वे भाषाएँ परमार्थ

१ द्वे न भाषेत सर्वशः। २ चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं। दुण्हं तु विणयं सिक्ख। इति शेषः पूर्वभागः।

इत्यत्रैव 'धर्मविरोधित्वं **विशेषणमित्यन्ये**।

एवमनायुक्तं भाष्यमाणानां सर्वासामपि विराधकत्वेन मृषात्वमेव। तदुक्तं, "तेण परं असंजय-अविरय-अप्पडिहयअपच्चक्खाय-पावकम्मे सच्चं भासं भासंतो, मोसं वा, सच्चामोसं वा, असच्चामोसं वा भासं भासमाणे णो आराहए विराहए त्ति²"। इत्थं

हेतुमद्भावानपायादित्यर्थः। अयं भावः; व्याधादिना मृगादिपृच्छायां आयुक्तं मृषादिभाषणे यथावस्थितवस्तुतत्त्वप्ररूपण-रूपाराधकत्वं शुद्धव्यवहारनयाभिप्रेतं नास्ति; शुद्धव्यवहारनयस्य निश्चयनयाऽगर्भितत्वात्, लोकव्यवहारपरत्वात् तथापि निश्चयनयाभिमतनिर्जरादिहेतुत्वरूपाराधकत्वस्याऽप्रत्यूहात्। 'चत्तारि भासज्जाताइं आउत्तं भासमाणे आराहए' इति नैश्चयिक उत्सर्गोऽनपोदितो भवतीत्यर्थः।

अत्राऽन्येषां समाधानप्रकारमाह - **द्वे इत्यत्रैव धर्मविरोधित्वं विशेषणमिति**। अत्र मूलप्रतौ 'धर्माविरोधित्वमि'ति पाठः स चाशुद्धो भाति। अन्येषामिदमाकूतं-विराधकत्वेन धर्मविरोधिन्यौ मृषामिश्रभाषे न भाषेत सर्वप्रकारैरिति। तेन सम्यक्प्रवचनमालिन्यादिरक्षणनिमित्तं मृषादिभाषणेऽपि न क्षतिः, धर्मविरोधित्वविशेषणविरहप्रयुक्तस्य विशिष्टाभावस्य निषेध्यकोटिबहिर्भूतत्वात्, विशिष्टे एव निषेधविषयतोपगमादिति। **'अन्ये'** इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः। तद्बीजञ्चेदं सावद्यसत्याया विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावरूपाया निषेध्यकोटिबहिर्भूतत्वेन विराधकत्वं न स्यात्।

'तेण' इत्यादि। अत्र **मलयगिरिसूरिभिरेवं** व्याख्यातम् - "ततः = आयुक्तभाषमाणात् परोऽसंयतः = मनोवाक्काय-संयमविकलः; अविरतो विरमति स्म विरतः न विरतोऽविरतः सावद्यव्यापारादनिवृत्तिमना इत्यर्थः। अत एव न प्रतिहतं

से सत्य भाषा ही हैं, मृषा या मिश्र भाषारूप नहीं। अतः तब वे निषेध के विषय ही नहीं हैं, तब उनको उस अवस्था में आयुक्त परिणाम से बोलने में क्या विरोध है? कोई नहीं।

✱ दो न भासिज्ज - सूत्र में अन्य विद्वानों का अभिप्राय ✱

'दो न भासिज्ज सव्वसो' यह निषेध वचन कैसे उपपन्न हो सकता है? इस सम्बन्ध में विवरणकार अन्य विद्वानों का समाधानप्रकार=अभिप्राय बताते हैं। अन्य विद्वान मनीषियों का यह कहना है कि - 'दो न भासिज्ज' इत्यादि निषिद्ध वचन में 'दो' पद के विशेषणरूप में धर्मविरोधित्व लेना इष्ट है। तब निषेध वचन का अर्थ यह प्राप्त होता है कि - "धर्मविरोधी मृषा और मिश्रभाषा सर्व प्रकार से बोलना नहीं चाहिए"। अतः जब शासनरक्षा आदि के आलंबन से यतनापूर्वक शास्त्रकथित पद्धति के अनुसार साधु भगवंत मृषा और मिश्रभाषा बोलते हैं तब वे मृषा भाषा और मिश्र भाषा धर्मविरोधी नहीं हैं, बल्कि धर्मपोषक हैं-रक्षक हैं। अतः धर्मविरोधित्व विशेषण के अभाव से ही विशिष्ट भाषा का अभाव प्राप्त होने से तब वे मृषादि भाषा निषेध कुक्षि से बहिर्भूत हो जाती हैं, क्योंकि निषेध सिर्फ मृषा या मिश्र भाषा के भाषण में नहीं है, किन्तु धर्मविरुद्ध मृषा या मिश्र भाषा के भाषण में ही है।

✱ अनायुक्त परिणाम से बोलनेवाला विराधक है - प्रज्ञापनासूत्र ✱

एवमनायुक्तं.' इति। जैसे आयुक्त परिणाम से सर्व भाषा को बोलने पर भी वे भाषाएँ आराधक होती हैं। अतएव सत्य होती है, वैसे ही अनायुक्त परिणाम से बोलने पर सर्व भाषाएँ विराधक होती हैं अतएव असत्य होती हैं। इस विषय में विवरणकार प्रज्ञापना सूत्र का ही वचन बताते हैं जिसका अर्थ है "आयुक्त हो कर बोलनेवाले से भिन्न=अन्य असंयत, अविरत, अप्रतिहतपापकर्म यानी जिसने पश्चाताप-प्रायश्चित्त आदि से पापकर्म का नाश नहीं किया है और अप्रत्याख्यात पापकर्म अर्थात् जिसने भविष्यकाल में पाप न करने का पच्चक्खाण=नियम नहीं किया है ऐसे जीव चाहे वे सत्य भाषा बोले चाहे मृषा भाषा बोले, चाहे मिश्रभाषा बोले, चाहे असत्यामृषा भाषा बोले तो भी वे जीव आराधक नहीं होते हैं, किन्तु विराधक होते हैं।" प्रज्ञापना सूत्र का पर्यालोचन करने से यह ज्ञात होता है कि अनायुक्त परिणाम से बोलनेवाला विराधक होता है। अतः अनायुक्त परिणाम से बोली जानेवाली सर्व भाषाएँ भी विराधक ही हैं। विराधक होने से उन भाषाओं को असत्य ही कहना होगा न कि सत्य।

इत्थं च' इति। यहाँ तक के विचार-विमर्श से यह सिद्ध हुआ कि आयुक्त परिणाम से बोली जानेवाली सर्व भाषाएँ आराधक

१ अत्र कप्रतौ मुद्रितप्रतौ च 'धर्माविरोधित्वमि'ति पाठः। स चाशुद्धो भाति।

२ ततः परोऽसंयताविरताप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्मा सत्यां भाषां भाषमाणो मृषां वा सत्यामृषां वा भाषमाणो नोआराधकः विराधक इति।

चाराधकत्वानाराधकत्वाभ्यामपि सत्यासत्ये द्वे एव भाषे निश्चयतः पर्यवसन्ने इति।।१९।।

= मिथ्यादुष्कृतदान-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यादिना न नाशितं अतीतं तथा न प्रत्याख्यातं = भूयोऽकरणतया निषिद्धमनागतं पापकर्म येनासावप्रतिहताऽप्रत्याख्यातपापकर्मा।" पूर्वं निश्चयतस्त्वित्यादिनोपक्रान्त'**इत्थं चे**'त्यादिनोपसंहरति। व्यक्तमेवेति न विव्रियते।।।१९।।

'**सा न** इति। युक्तेति शेषः। व्यवहारनयाभिमतभाषाचतुर्विधत्वं तुच्छं वासनामात्रसमुत्थप्ररूपणविषयत्वात् 'एष वन्ध्यापुत्रो याती'त्यादिप्ररूपणविषयवदिति मतिर्न युक्तेत्याशयः। अत्र हेतुमाह 'यत' इति। अत्र प्रयोगस्त्वेवं - 'व्यवहारनयाभिमतभाषाचतुर्विधत्वं न तुच्छं श्रुतप्रमाणसिद्धत्वात्; भाषाद्वैविध्यवत्"। ननु श्रुतप्रमाणसिद्धत्वमपि कुतः? "भाषाचतुर्विधत्वं श्रुतप्रमाणसिद्धं व्यवहारनयाभिमतत्वादित्यनेन गृहाण। श्रुतप्रमाणस्य व्यवहारनिश्चयोभयघटितत्वेन श्रुतप्रमाणविषयताया व्यवहारनयविषयताव्यापकत्वात्ततस्तत्सिद्धिरित्याशयः। **खट्वेति**। अष्टकाष्ठादिनिर्मितशयन-साधनं खट्वा। खट्वादिष्ववयवशो निभालनेऽपि योनिमृदुत्वादीनां स्त्र्यादिलक्षणानामसत्त्वेन तत्र स्त्रीत्वादीनि तुच्छा-नीत्याशङ्कां निरस्यति **'न तुच्छानीति'**। न कल्पितानीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह '**लिङ्गे**'ति। अत्र प्रयोगस्त्वेवं - "खट्वा-दिनिष्ठस्त्रीत्वादीनी न तुच्छानि लिङ्गानुशासननियन्त्रितसङ्केतविशेषविषयकशब्दाभिधेयत्वात्।

ननु तादृशशब्दाभिधेयत्वेऽपि योनिमृदुत्वादिस्त्र्यादिलक्षणानामसत्त्वेन कथं वास्तवत्वमित्यारेकायामाह- **स्त्र्यादिपादानां** = स्त्रीत्वादिवाचकपदानां; **नानार्थकत्वात्** = विभिन्नार्थकत्वात्। अत्र खट्वादिषु 'स्त्रीत्वादिवाचक-खट्वादिपदानां न योन्यादिमत्त्वोपलक्षितप्रधानस्त्र्यादिवेदमोहनीयविपाकोदयरूपस्त्रीत्वाद्यर्थकत्वं किन्तु लिङ्गानुशा-सननियन्त्रितसङ्केतविशेषविषयकशब्दाभिधेयत्वरूपस्त्रीत्वाद्यर्थकत्वं, तादृशशब्दाभिधेयत्वरूपस्त्रीत्वादीनामपि वास्तवत्वात् वस्तुनस्तत्तच्छब्दाभिधेयरूपतया परिणमनभावात्। अर्थाभिधानप्रत्ययाः तुल्यनामधेयाः ( ) इति वचनात्।

होने से सत्य हैं और अनायुक्त परिणाम से बोली जानेवाली सर्व भाषाएँ विराधक होने से असत्य हैं। इस तरह आराधकत्व और विराधकत्व की अपेक्षा से क्रमशः भाषा के दो भेद सत्य और असत्य ही सिद्ध होते हैं। स्वतंत्र मिश्र या अनुभय (असत्यामृषा) भाषा परमार्थ से है ही नहीं। अतः परमार्थ से भाषा के दो भेद=प्रकार ही हैं यह जो पीछे १७वीं गाथा में निश्चयनय के अभिप्राय से कहा गया था वह आगमसंगत एवं युक्तिसंगत ही है।।१९।।

यहाँ यह शंका कि - "यदि परमार्थ से भाषा के दो ही भेद हैं, तब तो भाषा के चार भेद, जो व्यवहारनय से प्रदर्शित हैं, कल्पित ही होने चाहिए" - होने पर उसका समाधान प्रकरणकार २०वीं गाथा से करते हैं।

गाथार्थ :- "ऐसा होने पर चार भेद कल्पित हो जायेंगे" - यह बुद्धि हो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारानुगत वस्तु भी आगम सिद्ध है।२०।

* व्यवहारनय का विषय भी वास्तविक है *

विवरणार्थ :- यहाँ यह शंका हो सकती है कि - "यदि निश्चयनय ही पारमार्थिक सत्य है, तब तो निश्चयनय के अभिमत भाषा के दो भेद ही वास्तविक बनेंगे, किन्तु व्यवहारनय को अभिमत भाषा के चार भेद नहीं। व्यवहारनय को मान्य भाषा के भेद काल्पनिक यानी तुच्छ ही होंगे, क्योंकि व्यवहारनय की मिथ्या वासना से उत्पन्न प्ररूपणा का वह विषय है। जो जो मिथ्या वासना=कल्पना से उत्पन्न प्ररूपणा का विषय होता है, वह तुच्छ होता है, यह नियम 'वंध्यापुत्र जाता है' इत्यादि स्थल में देखा गया है। अतः भाषा के चार भेद तुच्छ ही है" - किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारनय की अभिमत वस्तु भी आगम में प्रसिद्ध है। आगम निश्चय और व्यवहार दो नयों से घटित है। जो वस्तु व्यवहारनय को मान्य होती है, वह वस्तु आगमप्रमाण से सिद्ध होने से वास्तविक होती है। इस विषय की सिद्धि करने के लिए एक द्रष्टांत बताते हैं।

'तथाहि.' इति। देखिए - खट्वा यानी खाट=आठ लकडी से निर्मित शयनसाधनरूप पदार्थ में स्त्रीपना, जो कि योनि आदि स्त्री के लक्षण से व्यक्त होता है, नहीं है तथा घट पदार्थ में पुरुषपना = पुरुषत्व नहीं है तथा कुड्य यानी दीवार में नपुंसकत्व

नन्वेवं चातुर्विध्यं कल्पितमेवेत्याशङ्कायामाह-

एवं चउव्विहत्तं पकप्पियं होज्ज जइ मई एसा। सा ण जओ ववहाराणुगयं वत्थुं पि सुयसिद्धं।।२०।।

"**एवं** निश्चयनयस्य पारमार्थिकत्वे **चतुर्विधत्वं** = चतुष्प्रकारत्वं **प्रकल्पितं** = तुच्छं वासनामात्रसमुत्थप्ररूपणत्वात्, "**यदि एषा मतिर्भवेत् सा न, यतो व्यवहारानुगतमपि वस्तु श्रुतसिद्धम्**। तथाहि-खट्वा-घट-कुड्यादिषु स्त्रीत्व-पुंस्त्व-क्लीबत्वानि न प्रसिद्धानीति न तुच्छानि, लिङ्गानुशासननियन्त्रितसङ्केतविशेषविषयशब्दाभिधेयत्वरूपस्त्रीत्वादीनामपि वास्तवत्वात्, स्त्र्यादिपदानां नानार्थकत्वात्। **न च** पारिभाषिकं स्त्रीत्वादि शब्दनिष्ठमेवेति **वाच्यम्**, स्त्रीत्यादियोगिनि वस्तुन्येवेयमित्यादिव्यवहारात्। तदिदमुक्तं **शकट**-

शङ्कते **न चेति**। **शब्दनिष्ठमेवे**ति। एवकारेणार्थनिष्ठत्वव्यवच्छेदः कृतः। शङ्काकर्तुरयमाशयःस्त्र्यादिवेदविपाकोदयरूपस्त्रीत्वादीनामस्त्वर्थनिष्ठत्वमपारिभाषिकत्वात्, शब्दे बाधाच्च किन्तु पारिभाषिकं स्त्रीत्वादि तु शब्दमात्रनिष्ठं पारिभाषिकत्वात्। तथा च वस्तुवाचकताविशेषरूपपारिभाषिकस्त्रीत्वादि शब्दनिष्ठं वक्तुं युज्यते। तेन नैकत्र लिङ्गत्रयादिविरोधप्रसङ्ग इति।

अस्याऽश्रद्धेयत्वे बीजमाह- **'स्त्रीत्वादियोगिनि वस्तुन्येव 'इयमि'त्यादिव्यवहारात्**। **न च** तादृशव्यवहारो वस्तुन्येवाऽस्तु, माऽस्तु शब्दे किन्तु ततोऽपि कथं तत्रैव स्त्रीत्वादिसिद्धिरिति **वाच्यम्**, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानाधीनत्वात्, ज्ञाने च सर्वैः स्त्रीत्वादीनां बाह्यार्थधर्मतयैव प्रतीयमानत्वाद्वस्तुन्येव स्त्रीत्वादिसिद्धिः। **एतेन** शब्दनिष्ठपारिभाषिकस्त्रीत्वाद्यपेक्षया वस्तुनीयमित्यादिव्यवहाराभ्युपगमकल्पना **परास्ता** क्लिष्टकल्पनायासमात्रत्वात् वैयधिकरण्येन शब्दवाच्य 'इयमि'त्यादिव्यवहारानुपपत्तेः। न हि शब्दनिष्ठैकत्वाद्यपेक्षया शब्दवाच्ये 'अयमेकः' इत्यादिव्यवहारो दृश्यते।

नहीं है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि खाट आदि में स्त्रीत्व, आदि काल्पनिक है - तुच्छ है। किन्तु उनमें भी स्त्रीत्वादि वास्तविक है। यद्यपि वहाँ स्त्रीत्वादि स्त्रीआदि वेदमोहनीय विपाकोदय स्वरूप में विद्यमान नहीं है; किन्तु शब्दविशेषवाच्यतास्वरूप है; जो वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। शब्दविशेष का अर्थ है लिंगानुशासन से नियंत्रित संकेतविशेष विषयक शब्द। यहाँ यह शंका करना कि "शब्दविशेषवाच्यतारूप स्त्रीत्वादि वास्तविक कैसे हो सकते हैं?" - ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री आदि शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। कहीं पर स्त्रीवेदोदय आदिरूप स्त्रीत्वादि तो कहीं पर शब्दविशेषवाच्यतास्वरूप स्त्रीत्व आदि। अतः खाट आदि में स्त्रीत्वादि वास्तविक ही है, काल्पनिक नहीं।

शंका :- ***'न च पारि'*** इति। जहाँ तक लौकिक व्यवहार को लक्ष्य में लिया जाए तो हम कह सकते हैं कि - स्त्रीपना योनि आदि वैशिष्ट्यरूप ही है और सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाए तो योनि आदि से उपलक्षित स्त्रीवेदोदय आदिरूप स्त्रीत्व=स्त्रीपना है, जो कि शब्द से वाच्य वस्तु में रहता है। मगर आप प्रसिद्ध स्त्रीत्व आदि को छोड कर लोक व्यवहार में अप्रसिद्ध शब्दविशेषवाच्यतारूप स्त्रीत्व आदि को बता रहे हैं, जो कि पारिभाषिक ही है। अतः उनको शब्द में मानना ही युक्त है। अर्थात् पारिभाषिक स्त्रीत्व शब्दविशेषवाच्यतास्वरूप नहीं किन्तु अर्थवाचकताविशेषस्वरूप मानना ही युक्त है जो शब्द में रहेगा। ऐसा मानने पर विषयविभाग भी व्यवस्थित हो जाएगा कि - अपारिभाषिक स्त्रीत्व आदि वस्तु=अर्थ में रहेंगे और पारिभाषिक स्त्रीत्वादि शब्दविशेष में रहेंगे।

समाधान :- ***स्त्रीत्वादियोगि.*** इति। हमने घाट-घाट का पानी पिया है - यह आप नहीं जानते हैं। अतएव ऐसी तथ्यहीन बातें कह कर हमें परेशान कर रहे हैं। सुनिये, "यह खाट है," "यह घट है" इत्यादि व्यवहार बाह्य वस्तु में ही होता है न कि शब्द में। इसीसे सिद्ध होता है कि - स्त्रीत्वादि बाह्य वस्तु में ही है न कि शब्द में। यदि शब्द में स्त्रीत्वादि होता तो शब्द में 'यह सोने की खाट है' 'यह पानी पीने का घट है' इत्यादि व्यवहार क्यों नहीं होता? इससे सिद्ध होता है कि पारिभाषिक स्त्रीत्वादि शब्दविशेषवाच्यता स्वरूप ही है और वह बाह्य अर्थ में ही रहता है, न कि शब्द में। यदि बाह्य वस्तु में पारिभाषिक स्त्रीत्व-पुंस्त्व आदि न हो तब 'यह घट हलका है' इस प्रयोग की तरह 'यह घट हलकी है' इत्यादि प्रयोग भी होना चाहिए, क्योंकि घट में न

१ 'अप्पडिहयपच्चक्खाय' इति कप्रतौ। मुद्रितप्रतौ प्रज्ञापनासूत्रे च यः पाठः सोऽस्माभिर्दत्तः। २ एवं चतुर्विधत्वं प्रकल्पितं भवेद्यदि मतिरेषा। सा न यतो व्यवहारानुगतं वस्त्वपि श्रुतसिद्धम्।।२०।।

सूनुनाऽपि- 'इयमयमिदमि'ति शब्दव्यवस्थाहेतुः अभिधेयधर्म उपदेशगम्यः स्त्री-पुं-नपुंसकत्वानीति।

एतदभिप्रायेण सूत्रमप्येवं व्यवस्थितम्- "अह भंते! जा य इत्थिवऊ, जा य पुमवऊ, जा य नपुंसगवऊ, पण्णवणी णं एसा भाषा ण एसा भासा मोसा? गोयमा! जा य इत्थिवऊ, जा य पुमवऊ, जा य णपुंसगवऊ पण्णवणी णं एसा भासा, ण एसा भासा

एतेन घटपदार्थः घटव्यक्तिः घटवस्त्वित्येवं प्रयोगेण घटे लिङ्गत्रयविरोधप्रसङ्गाच्छब्द एव स्त्रीत्वादिकल्पना श्रेयसीति **निरस्तम्**, शब्दविशेषाभिधेयत्वरूपस्त्रीत्वादित्रयस्यैकस्मिन् विरोधाभावात्। तदुक्तं प्रकृतविवरणकारेण **स्याद्वादकल्पलतायाम्** "यथाविवक्षमनन्तधर्माध्यासिते वस्तुनि कस्यचिद् धर्मस्य केनचित् शब्देन प्रतिपादनात्, प्रतिनियतोपाधिविशिष्टवस्तुप्रतिभासस्य प्रतिनियतक्षयोपशमविशेषनिमित्तत्वेन शबलाभासानापत्तेरिति (स्या.क.ल.स्त.११ श्लो. २६) **अभिधेयधर्म** इत्यनेन स्त्रीत्वादीनामभिधायकधर्मत्वव्यवच्छेदः कृतः। **उपदेशगम्य** इति। आप्तोपदेशगम्य इत्यर्थः। उपदेशपदस्योपलक्षणत्वाद् व्याकरण-कोश-व्यवहारादीनां ग्रहः।

यापनीयसम्प्रदायमुख्य***शाकटायनाचार्य***वचनसंवादं प्रदर्श्य **प्रज्ञापनासूत्रं** प्रदर्शनार्थमुपक्रमते **'एतदभिप्रायेणे'**ति। 'स्त्रीत्वादि वाच्यधर्म' इत्येतदभिप्रायेणेत्यर्थः। **सूत्रं** = प्रज्ञापनासूत्रम्। **'अपी'**ति किं पुनः शाकटायनाचार्यवचनमित्यपिशब्दार्थः। **'इत्थिवऊ'**त्ति। अयं भावः, स्त्रीवाक् = स्त्रीलिङ्गप्रतिपादिका भाषा खट्वेत्यादिरूपा, पुरुषवाक् = पुरुषलिङ्गप्रतिपादिका 'घट' इत्यादिलक्षणा, नपुंसकवाक् = नपुंसकलिङ्गप्रतिपादिका कुड्यमित्यादिस्वरूपा

तो स्त्रीत्व है और न तो पुंस्त्व है। घट पीला है इस प्रयोग की तरह 'घट पीली है' इस प्रयोग को भी प्रामाणिक मानना होगा। लेकिन ऐसा मान्य नहीं होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पारिभाषिक स्त्रीत्व भी वस्तु में ही है शब्द में नहीं।

✻ स्त्रीत्वादि अर्थनिष्ठ है - *शाकटायनाचार्य* ✻

'तदिदमुक्तं.' इति। पारिभाषिक स्त्रीत्वादि, जो कि शब्दविशेषवाच्यता स्वरूप है, बाह्य वस्तु में ही रहता है, शब्द में नहीं - यह हमारी मनमानी कल्पना नहीं है, किन्तु महावैयाकरण यापनीयसंप्रदायअग्रणी शाकटायनाचार्य ने भी यही बताया है। सुनिये, महनीय शाकटायन आचार्य को - "संस्कृत भाषा में स्त्रीत्व वाचक 'इयं' शब्द, पुंस्त्व वाचक 'अयं' शब्द और नपुंसकत्व वाचक 'इदं' शब्द के प्रयोग की व्यवस्था में नियामक है अभिधेय-अर्थ में रहा हुआ स्त्रीत्व-पुंस्त्व-नपुंसकत्व, जो कि आप्त पुरुषों के उपदेश से ज्ञातव्य है"। शाकटायन आचार्य के वचन से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि स्त्रीत्वादि, चाहे पारिभाषिक हो या अपारिभाषिक हो, शब्द से वाच्य अर्थ का धर्म है, शब्द का नहीं।

शंका :- शाकटायन आचार्य तो यापनीय संप्रदाय के आचार्य हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रतिनिधि - या अनुगामी आचार्य नहीं हैं। इसी सबब उनके वचन को प्रामाणिक मान कर शब्दवाच्य बाह्य अर्थ में स्त्रीत्व आदि को मानना हमें मंजूर नहीं है। हम तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुगामी हैं। अतः श्वेताम्बर आचार्य आदि से रचित या कथित संवाद हमें मान्य होगा। अतः पारिभाषिक स्त्रीत्वादि अर्थनिष्ठ है या शब्दनिष्ठ? इस विषय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की ओर से शास्त्रवचन दिखाना मुनासिब है।

✻ स्त्रीत्वादि अर्थनिष्ठ है - प्रज्ञापनासूत्र **✻**

समाधान :- ***'एतदभिप्रायेण.'*** इति। वाह! अध जल गगरी छलकत जाए! आपकी यह शंका सांप्रदायिक व्यामोह की निर्मिति है, जो कि संसारवृद्धि का हेतु होने से त्याज्य है। अन्य दर्शन में भी कही गई जो बातें द्वादशांगीविरुद्ध नहीं हैं और प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाण से सिद्ध होती हैं, उनका प्रेमपूर्ण स्वीकार करना ही सम्यग् दृष्टि के लिए उचित है। शाकटायन आचार्य तो जैनाचार्य ही है, जो कि यापनीय संप्रदाय में हुए हैं। उनका उपर्युक्त वचन प्रमाणिक ही है, अप्रामाणिक नहीं, क्योंकि श्रीशाकटायन आचार्य के वचन के अनुकूल भाव को प्रदर्शित करता हुआ श्रीप्रज्ञापना आगम के भाषापद में एक सूत्र आता है जिसका अर्थ यह है - "गौतमस्वामी से किये गए इस प्रश्न का कि - "हे भगवंत! स्त्रीवचन यानी स्त्रीलिंगप्रतिपादक वचन, पुल्लिंगवचन और नपुंसकलिंगवचन क्या प्रज्ञापनी भाषा हैं? प्ररूपणा करने योग्य भाषा हैं? ये वचन=भाषा मृषा भाषा तो नहीं हैं न?" - समाधान

---

१ अथ भदन्त! या च स्त्रीवाक्, या च पुंवाक्, या च नपुंसकवाक् प्रज्ञापनी एषा भासा? नैषा भाषा मृषा? गौतम! या च स्त्रीवाक्, या च पुंवाक, या च नपुंसकवाक्, प्रज्ञापनी ऐषा भाषा। नैषा भाषा भृषेति।

मोसत्ति।। (प्र. भा. प. सू. १६२) एवं भाषाचातुर्विध्यमपि व्यवहारानुगतं श्रुतमूलकतया नावास्तवमिति भावः।

भाषा। एतत् सूत्रं खट्वादिषु योनिमृदुत्वादिस्त्र्यादिलक्षणानुपलम्भे मृषात्वाशङ्कया प्रश्नकरणात्, शाब्दव्यवहारापेक्षया यथावस्थितार्थप्रतिपादनादियं भाषा प्रज्ञापनी = प्ररूपणीयेत्यभिप्रायेण प्रतिवचनौचित्याच्च समर्थितमिति। ततः प्रतीयते शब्दप्रवृत्तिचिन्तायां नेह योनिमृदुत्वादिस्त्र्यादिलक्षणानि स्त्रीलिङ्गादिशब्दाभिधेयानि किन्त्वभिधेयधर्माः 'इयमि'त्यादिशब्दव्यवहारव्यवस्थाहेतवः तात्त्विका आप्तोपदेशादिगम्याः स्त्रीलिङ्गादिशब्दाभिधेयाः; अन्यथा तत्र स्त्र्यादिवाचो मृषात्वनिषेध-प्ररूपणीयत्वोपदेशानुपपत्तेरिति।

द्रष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकार्थम**धिकरणसिद्धान्तेन** सङ्गमयति **'एव**मि'ति। खट्वादिषु 'इयमि'त्यादिव्यवहारविषयतायाः श्रुतविषयताव्याप्यतया तत्र स्त्रीत्वादीनां वास्तवत्वमित्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः। **श्रुतमूलकतया** = व्यवहारनिश्चयनयोभयविषयताव्यापकविषयताकश्रुतविषयतयेत्यर्थः। प्रयोगस्त्वत्रैवं-व्यवहारनयाभिमतं भाषाचतुर्विधत्वं न मिथ्या नयद्वयघटितश्रुतविषयत्वात् निश्चयनयाभिमतभाषाद्वैविध्यवदिति। सोऽयमधिकरणसिद्धान्तः तदुक्तं **न्यायसूत्रे** यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। (न्या. सू. १/१/३०) व्यवहारबलात्पारिभाषिकस्त्रीत्वादेर्वास्तवत्वसिद्धौ भाषाचतुर्विधत्वे वास्तवत्वसिद्धिरिति **दिक्**।

करते हुए महावीरस्वामी भगवंत ने यह बताया कि - "हे गौतम! स्त्रीवचन, पुरुषवचन और नपुंसकवचन ये प्रज्ञापनीय = प्ररूपणा करने योग्य भाषा=वचन हैं। ये वचन मृषा वचन नहीं हैं"। वास्तव में तो स्त्री आदि के लिंग=चिह्न योनि आदि है, मगर स्त्रीलिंग प्रतिपादक शब्द तो खट्वा=खाट आदि पदार्थ में भी प्रवृत्त होता है जहाँ स्त्री के पूर्वोक्त योनि आदि लिंग नहीं होते हैं। अतः खट्वा आदि शब्द, जो कि स्त्रीलिंगप्रतिपादक यानी स्त्रीवचनरूप हैं, वे क्या मृषा नहीं हैं न? - ऐसी शंका से किये गये प्रश्न का भगवंत ने समाधान किया है कि - "स्त्री वचन आदि प्ररूपणा करने योग्य है, मृषा नहीं है" - इससे यह निश्चित होता है कि स्त्रीलिंगप्रतिपादक वचन मृषा नहीं हैं तब तो जरूर अर्थ में - बाह्य वस्तु में स्त्रीपना आदि होना चाहिए, जो पारमार्थिक हो। वैसा स्त्रीपना आदि शब्दविशेषवाच्यता स्वरूप ही हो सकता है, जो खाट आदि बाह्य पदार्थ = वाच्य में रहता है। अतः प्रज्ञापना सूत्र का विमर्श करने पर भी यह सिद्ध होता है कि खट्वा आदि में प्रधानरूप से स्त्रीवेदोदय रूप स्त्रीपना भले ही न हो, मगर शब्दविशेषवाच्यता स्वरूप स्त्रीत्व आदि अवश्य होते हैं जो पारमार्थिक होते हैं।

❋ व्यवहार के बल से भाषा में चतुर्विधत्व की सिद्धि ❋

'एवं भाषा.' इति । स्त्रीत्व आदि के द्रष्टांत के बल से विवरणकार दार्ष्टांतिक अर्थ की सिद्धि करते हैं। जिस तरह प्रसिद्ध स्त्रीपना बाह्य खाट आदि चीज में न होने पर भी पारिभाषिक स्त्रीपना आदि इनमें रहते हैं जो पारमार्थिक है, क्योंकि बाह्यवस्तु में स्त्रीलिंग आदि प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग होता है, वैसे ही व्यवहारनय से जो भाषा के चार भेद दिखाये गये हैं, वे भी पारमार्थिक हैं - वास्तविक है, क्योंकि वे श्रुतमूलक हैं। श्रुत यानी आगम तो व्यवहारनय और निश्चय दोनों से घटित होता है। अतः व्यवहारनय की जहाँ विषयता रहती है वहाँ श्रुत = आगम की विषयता भी रहती है अर्थात् जो व्यवहारनय का विषय होता है वह अवश्य श्रुत=शास्त्र=आगम का विषय होता है। यह एक नियम है कि जो शास्त्र का विषय होता है वह पारमार्थिक होता है, काल्पनिक नहीं। अतः व्यवहारनयसंमत भाषा के चार भेद भी पारमार्थिक ही हैं - यह सिद्ध हुआ।

शंका :- ***'अथ.'*** इति। निश्चयनय से भाषा के दो भेद हैं और व्यवहारनय से चार भेद हैं यह अपने जो कहा है वह सर्वथा सत्य नहीं हो सकता है। द्विविधत्व और चतुर्विधत्व परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। अतः भाषा में यदि निश्चयनय अभिमत द्विविधत्व होगा तो चतुर्विधत्व नहीं होगा और यदि भाषा में व्यवहारनय अभिमत चतुर्विधत्व होगा तब द्विविधत्व नहीं होगा। जैसे एक ही अग्नि में शीतस्पर्श और उष्णस्पर्श नहीं रहता है वैसे। अतः भाषा में द्विविधत्व और चतुर्विधत्व में से कोई एक धर्म रहेगा और इसका विरोधी

२ 'कुड्यं' शब्द संस्कृतभाषा में नपुंसकलिंग में आता है। हिन्दी भाषा में उसका अर्थ दिवार होता है जो कि हिन्दी भाषा में स्त्रीलिंग में आता है। फिर भी संस्कृत भाषा में नपुंसकलिंग में होने से यह 'कुड्य' शब्द का नपुंसकलिंग से निर्देश विवरणकार को इष्ट है - यह ध्यातव्य है।

अथ निश्चयव्यवहारयोरेकमवश्यमप्रमाणमेव, अन्यथा वस्तुनस्तदभिमतद्वैरूप्यानुपपत्तेरिति **चेत्? न**, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वस्य प्रामाणिकत्वात्, अन्यथा एकस्यैव पितृपुत्रादिव्यवस्थानुपपत्तेः तत्तद्धर्मगौणमुख्यत्वोपपत्त्यर्थमेव नयभेदानुसरणादित्यन्यत्र

द्वैरूप्यानुपपत्तेरिति। भाषायां द्वैविध्य-चातुर्विध्यान्यतरस्यैव युक्तत्वं न तु तदुभयस्य तदन्यतरस्याऽसत्त्वाद् द्विविधत्व-चतुर्विधत्वयोः परस्परविरोधात्। अतो भाषायां द्वैविध्य-चातुर्विध्यप्रतिपादकयोर्निश्चयव्यवहारयोरन्यतरद-प्रमाणं तदन्यतरविषयासत्त्वात्। प्रामाण्यस्य तथाविषयसत्ताधीनत्वादिति आशयः।

तमपाकरोति **'ने'**ति। **अन्यथा**=वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वस्याप्रामाणिकत्वे। **एकस्यैव पितृपुत्रादिव्यवस्थानुपपत्ते-रिति**। एकस्मिन् पितृपुत्रादिप्रामाणिकप्रसिद्धव्यवहारबलेन पितृत्व-पुत्रत्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वसिद्धिरित्याशयः। **एतेन** पितृत्वपुत्रत्वादयो धर्मा एव तत्तन्निरूपिता भिद्यन्ते धर्मी त्वेकस्वभाव एवेति **परास्तम्**, 'एतदपेक्षयाऽयं पिता, तदपेक्षया च न पिता' इत्यादिप्रतीत्यनुपपत्तेः; धर्मिभेदप्रतीतेर्धर्माभावावगाहितायां 'घटो न पट' इत्यादावपि तथात्वापत्त्या भेदकथोच्छेदप्रसङ्गाच्च।

ननु द्वयोः प्रमाणत्वे किमर्थं व्यवहारनयं विहाय निश्चयनयानुसरणं क्रियते इत्याशङ्कायामाह-**तत्तद्धर्मगौण-**

दूसरा धर्म नहीं रहेगा। यदि भाषा में द्विविधत्व रहेगा तब चतुर्विधत्व नहीं रहेगा। अतः भाषा के चातुर्विध्य का प्रतिपादक व्यवहारनय अप्रमाण होगा। यदि भाषा में चतुर्विधत्व होगा तो इसका विरोधी होने से द्विविधत्व नहीं रहेगा। अतः भाषा में द्वैविध्य का प्रतिपादक निश्चयनय अप्रमाण होगा। अतः निश्चयनय या व्यवहारनय में से कोई एक अवश्य ही अप्रमाण होना चाहिए।

✱ भाषा में द्विविधत्व और चतुर्विधत्व दोनों वास्तविक हैं ✱

समाधान :- *न.वस्तु.* इति। मिस्टर! आप दूर की नहीं सोचते हैं और विरोध करते हैं। आप न तो इधर के हैं, न उधर के। जैसे धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का होता है वैसे आप न तो व्यवहारनय के हैं और न तो निश्चयनय के। मगर एक बात समझ लीजिए कि वस्तु में सिर्फ एक या दो धर्म नहीं रहते है, किन्तु अनंत धर्म रहते हैं। वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। वस्तु में अनन्तधर्मात्मकता को वास्तविक न मानी जाय, तो एक ही मनुष्य में पिता-पुत्र आदि व्यवहार अनुपपन्न रह जायेगा। आशय यह है कि - जैसे एक व्यक्ति को देख कर लडका बोलता है कि-'यह मेरे पिताजी है' दूसरा आदमी बोलता है कि-'यह मेरा लडका है'। इस प्रसिद्ध लौकिक प्रमाणिक व्यवहार से सिद्ध होता है कि एक ही व्यक्ति एक के प्रति पिता है, तो किसी अन्यकी अपेक्षा पुत्र है, अन्य किसीकी दृष्टि में अध्यापक है और अन्य किसीकी अपेक्षा विद्यार्थी है। एक ही मनुष्य किसीका मामा होता है तो किसीका भानजा भी होता है। जो एक की अपेक्षा से चाचा है वही अन्य किसीकी दृष्टि में भतिजा भी होता है, मगर इसमें कोई विरोध नहीं हैं; क्योंकि अपेक्षाभेद से एक व्यक्ति में ही अनन्त धर्म रहने में कोई विरोध नहीं हैं। हाँ, वह विरोध तब होता यदि जिसकी अपेक्षा से वह पिता हो उसीकी अपेक्षा से "वह पुत्र है" ऐसा कहा जाए। मगर भिन्न भिन्न अपेक्षा से एक ही व्यक्ति में पितृत्व-पुत्रत्व होने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् भिन्न अपेक्षा से एक ही मनुष्य को पितारूप-पुत्रस्वरूप, अध्यापकस्वरूप, विद्यार्थीस्वरूप मानने में कोई विरोध नहीं है। इस तरह भाषा में भी भिन्न भिन्न अपेक्षा से द्वैविध्य और चातुर्विध्य रहने में कोई विरोध नहीं है। निश्चयनय की अपेक्षा से भाषा में द्वैविध्य है और व्यवहानय की अपेक्षा से भाषा में चातुर्विध्य है, इसमें कोई विरोध नहीं है। सो बात की एक बात-निश्चयनय से भाषा के दो भेद हैं और व्यवहारनय से भाषा के चार भेद हैं वह सुसंगत ही है। 'निश्चय या व्यवहार में से कोई एक अवश्य अप्रमाण है' - यह कहने से अब क्या? अब पछताये होत क्या जब चिडियाँ चूग गई खेत!

शंका :- यदि भाषा में द्वैविध्य और चातुर्विध्य पारमार्थिक है, तब पहले आपने भाषा के चार भेदों का प्रतिपादन किया और बाद मे भाषा के दो भेदों का प्रतिपादन किया। पहले व्यवहारनय का आश्रय लिया बाद में निश्चयनय का आश्रय लिया-ऐसा क्यों किया? यह हमारी समझ में नहीं आता है।

✱ नयविशेष का आश्रयण गौण-मुख्यभाव की सिद्धि के लिए ✱

समाधान :- *तत्तद्धर्म. इति*। सब वस्तुएँ अनन्तधर्मात्मक होती हैं। मगर एक ही काल में एक व्यक्ति इन सब = अनंत धर्मो का कथन करने में समर्थ नहीं होती है। प्रयोजनवश वस्तु में अमुक धर्म की मुख्यता और अमुक धर्म की गौणता की सिद्धि के लिए

विस्तरः।।२०।।

तदेवं समर्थितं नयभेदेन भाषाया द्वैविध्यं चातुर्विध्यं च।

अथ सौत्रविभागमनुसृत्योद्देशक्रमप्रामाण्यात् सत्याया एव लक्षणाभिधानपूर्वकं विभागमाह-

---

मुख्यत्वोपपत्त्यर्थमेवेति। वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेऽपि अभिप्रायविशेषमवलम्ब्य केषाञ्चिद्धर्माणां गौणत्वं केषाञ्चिद्धर्माणां मुख्यत्वं साधयितुमेव नयविशेषाश्रयणमित्यर्थः। 'एव'कारेण विवक्षितेतरधर्मव्यवच्छेदप्रयोजनव्यवच्छेदः कृतः, अप्रामाणिकत्वेन नयाभासत्वप्रसङ्गादिति **दिक्**।।२०।।

अथेति। अनेनाऽवसरसङ्गतिः प्रदर्शिता। विषयसिद्ध्या प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्तौ सत्यामवश्यवक्तव्यत्वमवसरः। जिज्ञासितार्थसिद्धत्वमवसर इति **कश्चित्**। भवति हि जिज्ञासाविषये सिद्धे 'इदं ज्ञातं किमन्यद्वक्तव्यमिति जिज्ञासेति तदाशयः।

सौत्रविभागमिति। दशवैकालिकसूत्रनिर्युक्तिप्रदर्शितविभागमित्यर्थः। विभागस्तु प्रकृते न प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिः न वा समानाश्रयत्वे सति संयोगनाशकः किन्तु परस्पराऽसङ्कीर्णव्याप्यधर्मकथनम्। **किरणावलीरहस्यकारस्तु** "सामान्यतोऽवगतानां विशेषरूपेणाभिधानं विभाग" इति व्याचष्टे।

उद्देशेति। नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः। दशवैकालिकसूत्रप्रदर्शितभाषाविभागमनुसृत्य उद्देशक्रमे यत् प्रामाण्यं तमाश्रित्येत्यर्थः। निरुक्तोद्देशक्रमविवक्षयेति भावः। **एतेन** उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिकेति **तर्कसङ्ग्रहदीपिकाकारवचनमपास्तम्** तदीयप्रमाणाद्युद्देशक्रमस्याऽपि न्यायसूत्रीयोद्देशक्रमनियन्त्रितत्वात्।

अवधारणैकभावेनेति। अन्ययोगव्यवच्छेदमात्राभिप्रायेणेत्यर्थः। प्रयोज्यत्वं तृतीयार्थः। तस्य तद्वचनशब्दार्थेऽन्वयः। मृषाभाषाव्यवच्छेदार्थं केवलं तस्मिंस्तद्वचनमित्युक्तौ त्वसत्यामृषाभाषायामतिव्याप्तिः स्यात्। अतोऽवधारणैकभावेनेति

नयविशेष = अपेक्षा विशेष का मानव आश्रय करता है और अपने अभीष्ट धर्म के प्रतिपादन का, उसकी सिद्धि का प्रयास करता है। मगर इसका मतलब यह नहीं है कि उस वस्तु में इस धर्म के सिवा अन्य धर्म है ही नहीं, क्योंकि अन्य धर्मों का वस्तु में अस्वीकार या खंडन करने पर वह वचन दुर्वचन हो जाता है, वह नय दुर्नय या नयाभास हो जाता है। अतः प्रस्तुत में कर्मनिर्जराहेतुत्व और पापकर्मबंधहेतुत्व की अपेक्षा से निश्चयनय भाषा का दो भेद मानता है। जब कि बाह्य अर्थ में संवादित्व, विसंवादित्व आदि की अपेक्षा व्यवहार नय भाषा का चार भेद मानता है। मगर इसमें कोई विरोध नहीं है। आशय यह है कि निश्चयनय का अभिप्राय ऐसा है भाषा के दो ही भेद हो सकते हैं क्योंकि या तो भाषा निर्जरा की हेतु बनेगी या तो पापकर्मबंध का हेतु। इसके अलावा भाषा का तीसरा कोई भेद संभवित नहीं है। जब कि व्यवहारनय भिन्न पहलू का स्वीकार करता है। व्यवहारनय का अभिप्राय यह है कि-या तो भाषा संपूर्ण संवादी हो सकती है, या तो सर्वथा विसंवादी हो सकती है, या तो अमुक अंश में संवादी और अमुक अंश में विसंवादी हो सकती है, या तो न संवादी और न विसंवादी ऐसी हो सकती है। इन चार भेद से अतिरिक्त पाँचवा कोई भेद भाषा में संभवित नहीं है। सुस्पष्ट ही है कि दोनों नय अपने अपने दृष्टिकोण की अपेक्षा से सत्य है, प्रमाण है, अप्रमाण-असत्य नहीं। वस्तु में अनंतधर्मात्मकता कैसे युक्त है? - इस विषय का विस्तार से निरूपण स्याद्वादरत्नाकर - स्याद्वादकल्पलता आदि में प्राप्य है।।२०।।

तदेवं इति। इस तरह भिन्न भिन्न नय की अपेक्षा भाषा में द्वैविध्य और चातुर्विध्य हैं। अर्थात् निश्चयनय से भाषा के दो भेद हैं और व्यवहारनय की दृष्टि से भाषा के चार भेद हैं - यह सिद्ध हुआ। अब ग्रंथकार प्रज्ञापनासूत्रप्रदर्शित भाषा के विभागों के अनुसार उद्देशक्रम को प्रमाण कर के सत्य भाषा के लक्षण का प्रतिपादनपूर्वक सत्यभाषा का विभाग बताते हैं। उद्देश का अर्थ है नाममात्र से वस्तु को बताना। दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति में भाषा का विभाग जैसे बताया गया है, उसी क्रम के अनुसार भाषा के भेदों का कथन करने पर उद्देश क्रम प्रामाणिक होता है। अतः ग्रंथकार उस क्रम से सत्यभाषा के भेदों का कथन करने के पूर्व में सत्यभाषा का लक्षण २१वीं गाथा से बताते हैं और २२वीं गाथा में सत्यभाषा के भेदों का उल्लेख करते हैं।

[1]तम्मी तव्वयणं खलु, सच्चा अवहारणिक्कभावेणं। आराहणी य एसा, सुअंमि परिभासिया दसहा।।२१।।

[2]जणवय-संमय-ठवणा-णामे रूवे पडुच्चसच्चे य। ववहार-भाव-जोए दसमे ओवम्मसच्चे य।।२२।।

खल्विति निश्चये, **अवधारणैकभावेन तस्मिंस्तद्वचनं सत्या**। अवधारणैकभावेनेति असत्यामृषाव्यवच्छेदार्थं, तस्या आमन्त्रणाद्यभिप्रायेणैव प्रयोगात्। अवधारणस्य च वस्तुप्रतितिष्ठासायामेवैवकाराद्यध्याहारात् संसर्गमहिम्ना वा लाभात्। तस्मिंस्तद्वचनं च 'तद्धर्मवति तद्धर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकः शब्दः'।

निवेशः। तेन न तत्राऽतिव्याप्तिः। **तस्याः** = असत्यामृषायाः, **आमन्त्रणाद्यभिप्रायेणैवेति** आदिपदेनाऽऽज्ञादिग्रहः। एवकारेण अवधारणाभिप्रायव्यवच्छेदः कृतः।

नन्ववधारणस्य लाभः सर्वत्र सत्यायां कथं स्यात्? न हि सर्वैरेवकारादिप्रयोगः क्रियत इत्याशङ्कायामाह - **एवकाराद्यध्याहारादिति**। आदिपदान्मात्रादिपदग्रहः। अश्रुतपदानुसन्धानं, प्रकृतोपयोगिशब्दकल्पनं, अस्पष्टार्थवाक्यस्य शब्दान्तरकल्पनाद्वारा स्पष्टकरणं वाऽध्याहारः। तमाश्रित्याऽवधारणस्य लाभ इति भावः।

नन्वेवं सति सर्वत्रैवकाराद्यध्याहारस्स्यादित्यारेकानिरासार्थं **"वस्तुप्रतितिष्ठास्यामेवे'त्युक्तम्**। वक्तुर्वस्तुस्थापनेच्छैवैवकाराद्यध्याहारनियामिकेति नातिप्रसङ्ग इति भावः। अश्रुतशब्दकल्पनाऽपेक्षया लाघवादावश्यकत्वात् साक्षादर्थकल्पनमेव युक्तमित्यस्वरसात्कल्पान्तरमाह - **'संसर्गमहिम्ना वे'**ति। पदसमभिव्याहारबलेनाऽवधारणस्य लाभ इति भावः।

तद्धर्मवति तद्धर्मप्रकारकशाब्दबोधजनकः शब्द इति। **तद्धर्मवतीति**, विशेष्यित्वं सप्तम्यर्थः। तस्य चावच्छिन्नतासम्बन्धेन तत्प्रकारकतायामन्वयः। तत्प्रकारकत्वं च तद्वैशिष्ट्यविषयकत्वं तद्विशेषणज्ञानजन्यत्वं वा। तथा च तद्धर्मवद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतद्धर्मप्रकारकताशालिशाब्दबोधजनकः शब्दः सत्यमिति फलितम्। अवच्छिन्नत्वं च 'इदमेतद्विशेष्यकत्वांशे एतत्प्रकारकमि'ति प्रतीतिसाक्षिकः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। तेन रजतरङ्गयो'रिमे रङ्गरजते' इत्यादिविपरीतसमूहालम्बनशाब्दभ्रमजनकशब्दे नातिव्याप्तिः; तज्जन्यबोधे रजतविशेष्यकत्वावच्छिन्नं न रजतत्वप्रकारकत्वं अपि तु रङ्गविशेष्यकत्वावच्छिन्नमिति।

गाथार्थ :- मात्र अवधारणैकभाव से उस वस्तु में उस वस्तु का कथन करना यह सत्य भाषा है। आगम में यह आराधनी भाषारूप से परिभाषित है, जिसके दश भेद हैं।२१।

गाथार्थ :- जनपदसत्य१, संमतसत्य२ स्थापना सत्य३, नामसत्य४, रूपसत्य५, प्रतीत्यसत्य६, व्यवहारसत्य७, भावसत्य८, योगसत्य९ और दशवाँ भेद औपम्यसत्य१० हैं।२२।

*** सत्य भाषा का लक्षण ***

विवरणार्थ :- श्लोक में खलु शब्द निश्चय अर्थ में है। अतः अवधारणमात्र के अभिप्राय से उस वस्तु में उस शब्द का प्रयोग करना यह सत्य भाषा ही है। यहाँ सत्यभाषा के लक्षण के दो अंश हैं। प्रथम अंश है अवधारणैकभावेन और दूसरा अंश है तस्मिंस्तद्वचनं। यदि सत्यभाषा के लक्षण में पूर्व अंश का यानी 'अवधारणैकभावेन' का निवेश न किया जाय और सिर्फ तस्मिंस्तद्वचनं' इतना ही लक्षण किया जाय तब तो असत्यामृषा भाषा में, जो कि सत्य भाषा के प्रस्तुत लक्षण की अलक्ष्य है, सत्यभाषा के लक्षण की प्रवृत्ति होने से सत्यभाषा का लक्षण अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त हो जायेगा, क्योंकि अलक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति हो यही तो अतिव्याप्ति दोष का अर्थ है। अतः सत्यभाषा के लक्षण में 'अवधारणैकभावेन' पद का निवेश किया गया है। 'अवधारणैकभावेन' पद का निवेश करने पर असत्यामृषा भाषा में प्रस्तुत लक्षण की प्रवृति नहीं होगी, क्योंकि असत्यामृषा भाषा, जैसे कि "हे देवदत्त!" "तुम गाय ले आओ" इत्यादि भाषा, तो आमंत्रण आदि के अभिप्राय से प्रयुक्त होती है, न कि अवधारणमात्र

१ तस्मिंस्तद्वचनं खलु सत्याऽवधारैणकभावेन। आराधनी च एषा श्रुते परिभाषिता दशधा।।२१।।

२ जनपद-सम्मत-स्थापनायां नाम्नि रूपे प्रतीत्यसत्यं च। व्यवहार-भाव-योगे दशममौपम्यसत्यं च।।२२।।

अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येकधर्माभिधानं च न सत्यं अवधारणबाधादित्याद्यूह्यम्।

इदन्तु ध्येयं तद्धर्मवतीत्यत्र विशेष्यितासम्बन्धेनावच्छिन्नत्वमेव सप्तम्यर्थः, अन्वयश्चास्य तत्प्रकारकत्वे। तथा च विशेष्यितासम्बन्धेन तदवच्छिन्ना या तत्प्रकारिता तच्छालिशाब्दबोधजनकः शब्दः सत्यमिति फलितम्। इदमत्रैतत्प्रकारकमितिप्रतीत्या विशेष्यस्याऽपि विशेष्यितासम्बन्धेन तत्प्रकारितायामवच्छेदकत्वात्। पूर्वोक्तविपरीतसमूहालम्बन-शाब्दभ्रमजनकशब्दे च नातिव्याप्तिः; तज्जन्यशाब्दभ्रमे च रजतावच्छिन्नं न रजतत्वप्रकारकत्वमपि तु रङ्गावच्छिन्नमिति। सर्वत्र तद्वत्ताप्रकारिता च प्रमात्वनियामकसम्बन्धेन ग्राह्या। तेन संयोगादिसम्बन्धेन वह्न्यादिमति पर्वतादौ समवायादिना तच्छाब्दबोधजनकशब्दे नातिव्याप्तिरिति। जनकत्वं च फलजननस्वरूपयोग्यत्वं न तु फलोपहितत्वं। तेन श्रोतुरनवधान-शक्तिग्रहाभावादिना तादृशशाब्दबोधाजननेऽपि नाव्याप्तिरिति। वस्तुतस्तु विषयताविशेष एव ज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यमिति भावनीयम्।

नन्वेवं सति "आत्मा नित्य एव" इत्यादिपरतीर्थिकवचनानामपि सत्यत्वप्रसङ्गात्, अनन्तधर्मात्मके आत्मनि नित्यत्वस्य सत्त्वेन नित्यत्वाश्रयात्मविशेष्यक-नित्यत्वप्रकारकताशालिशाब्दबोधजनकत्वादित्याशङ्कां निराकरोति- **'अवधारणबाधादिति**। सर्वथा अनित्यत्वव्यवच्छेदाभिप्रायस्य बाधात् पर्यायार्थिकनयेन आत्मन्यनित्यत्वादेरपि सत्त्वात्, अनन्तधर्मात्मकत्वादिति। तदुक्तं **सम्मतौ** - सवियप्प-णिव्वियप्पं इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं। सवियप्पमेव वा

के अभिप्राय से। अवधारण का अर्थ है - "यह वस्तु ऐसी ही है" ऐसा निश्चयात्मक अभिप्राय, जिससे वस्तु के अन्य स्वरूप का निषेध प्राप्त होता है। जब किसी वस्तु के स्वरूप में विवाद होता है तब वक्ता अपनी अभिप्रेत वस्तु की सिद्धि के लिए एवकार = 'ही' शब्द का प्रयोग करता है। अतः वक्ता के अवधारणअभिप्राय=अन्ययोगव्यवच्छेद का श्रोता को ज्ञान होता है।

शंका :- वक्ता अपनी इष्ट वस्तु की सिद्धि के लिए सदा एवकार = 'ही' शब्द का प्रयोग करता ही है, ऐसा नहीं है। कभी कभी वस्तु के स्वरूप आदि में विवाद होने पर भी एवकार का प्रयोग वक्ता नहीं करता है। अतः तब श्रोता को वक्ता के अवधारणअभिप्राय का, अर्थात् 'वक्ता को यही अर्थ अभिप्रेत है, अन्य अर्थ नहीं' इस तात्पर्य का लाभ कैसे होगा?

❋ एवकार के प्रयोग बिना भी अवधारण प्राप्य है ❋

समाधान :- दुनिया का मुँह किसने बन्द किया है? मगर मुँह खोलने से ही वह अक्ल का दुश्मन है - यह ज्ञात होता है। आप भी अक्ल का उपयोग किये बिना ही शंका कर रहे हैं। वास्तविकता यह है कि जहाँ वक्ता अवधारण के लिए एवकार = 'ही' शब्द का प्रयोग, जैसे कि "शंख श्वेत ही है" - इस तरह करता नहीं है तब 'एव', 'ही' आदि पद का यानी संस्कृतभाषा में 'एव' आदि शब्द का और हिन्दीभाषा में 'ही' इत्यादि शब्द का अध्याहार करने से वक्ता के अवधारणअभिप्राय का लाभ होता है। अध्याहार का अर्थ है नहीं सुने गये शब्द की कल्पना। वक्ता 'शंख श्वेत है' ऐसा वाक्य प्रयोग करता है तब 'ही' शब्द का अध्याहार=कल्पना कर के 'शंख श्वेत ही है' इत्याकारक अवधारणअभिप्राय का ज्ञान श्रोता को होता है। यहाँ यह शंका करना कि - "यदि वक्ता से अकथित शब्द की कल्पना की जाय तब तो कोई भी श्रोता अपनी इच्छा के अनुसार मनपसंद शब्द का अवधारण कर सकता है। तब तो भारी अव्यवस्था हो जायेगी।" - मुनासिब नहीं है, क्योंकि 'एवकार की कल्पना का नियामक वक्ता का वस्तुस्थापन करने का अभिप्राय है। अर्थात् जहाँ वक्ता को वस्तु को अमुक रूप में सिद्ध करने की इच्छा होगी तभी एवकार का अध्याहार हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस व्यवस्था के स्वीकार में किसी दोष का अवकाश नहीं है। अथवा संसर्गमहिमा से यानी पदसमभिव्याहार बल से भी वक्ता के अवधारण-अभिप्राय का लाभ हो सकता है।

'तद्धर्मवति.' इति। अब विवरणकार सत्यभाषा के लक्षण के द्वितीय अंश को, जो कि तस्मिंस्तद्वचनं' रूप है, स्पष्ट करते हैं। इसका अर्थ है तद्धर्मवति=विवक्षितधर्म से विशिष्ट वस्तु में, तत्प्रकारक अर्थात् विवक्षित धर्म का विशेषणरूप से अवगाहन करनेवाला जो शाब्द बोध हो उसका जनक शब्द। जैसे कि - 'यह शंख श्वेतवर्णवाला है' यह वचन श्वेतिमा धर्म से विशिष्ट शंख में श्वेतवर्ण का प्रकार रूप से = विशेषण रूप से शाब्द बोध का जनक होने से अवधारण-अभिप्राय से प्रयुक्त होने पर सत्य होता है। अतः 'शंखः पीतः' इत्यादि वाक्य में सत्यभाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं आयेगी, क्योंकि 'शंखः पीतः' यह वाक्य पीतवर्ण

एषा च श्रुते आराधनी परिभाषिता। परिभाषितत्वानुधावने च परिभाषिकाराधकत्वेन लक्षणत्वोपदर्शनार्थम् अन्यथा

णिच्छएण ण स णिच्छिओ समये।। (स.त. १.३५) अस्माभिस्तत्र द्रव्यार्थादेशेन 'स्यादात्मा नित्य एव' इत्येवमुच्यते। अतो न सत्यत्वव्याहतिः। सङ्ख्याशब्दानां पर्याप्त्याऽन्वयबोध एव साकाङ्क्षत्वादुत्पन्नमिश्रादिवचने नातिव्याप्तिरित्यादिसूचनार्थ**मूह्यमित्युक्तम्**।

आराधनी परिभाषितेति। लक्षणान्तरञ्चेदम्, अष्टात्रिंशत्तमगाथायां वक्ष्यमाणाऽसत्याभाषालक्षणद्वैविध्यवत्। यथा वक्ष्यमाणपारिभाषिकविराधकत्वं सद्भूतप्रतिषेधत्वादिना तथाऽत्र पारिभाषिकाराधकत्वं असद्भूतप्रतिषेधत्वादिनेति नानुपपत्तिरिति दिक्।

विपक्षे बाधमाह **अन्यथेति।** परिभाषितत्वेनाऽऽराधकत्वानभ्युपगमे किं विहितत्वेनाऽऽराधकत्वं? किं वा सम्यगुपयोगपूर्वकत्वेनाऽऽराधकत्वं? किं वा प्रातिस्विकरूपेणाऽऽराधकत्वं? इति विकल्पत्रयी त्रिपथगाप्रवाहत्रयीव जगत्त्रयी

से शून्य शंख में पीतवर्ण का प्रकार रूप से जहाँ भान होता है ऐसे शाब्दबोध का जनक होता है। पीतवर्णशून्य शंख में पीतवर्ण की विशेषणतावगाही शब्द बोध का जनक होने से 'पीतः शंख' यह वाक्य असत्य ही है, सत्य नहीं।

शंका :- जैनधर्म के सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है। जैसे कि जीव में नित्यता भी है और अनित्यता भी है, सद्रूपता भी है और असद्रूपता भी है, वाच्यता भी है और अवाच्यता भी है। अब देखिये, एकान्त नित्यवादी नैयायिकादि जब कहेगा कि - "आत्मा नित्य ही है" तब वह वचन भी सत्य हो जायेगा क्योंकि सत्यभाषा का उपर्युक्त लक्षण वहाँ जाता है। आत्मा में नित्यत्व है ही। अतः नित्यत्वविशिष्ट आत्मा में नित्यत्व प्रकारक शाब्दबोध का जनक शब्द, जो कि अवधारण अभिप्राय से प्रयुक्त होने से 'आत्मा नित्य ही है' इत्यादि नैयायिक-सांख्य-वेदान्ती आदि के वचन भी सत्य हो जायेंगे। इस तरह सब एकान्तवादी, जो कि परमार्थ से भ्रान्त है, सत्य वक्ता हो जायेंगे। उनके सब वचन सत्य हो जायेंगे।

* अवधारण बाधित होने से एकान्तवादी का वचन सत्य नहीं है *

समाधान :- अनेकान्तवादी के नाम पर धब्बा लगाने का आपका यह प्रयास साहनीय नहीं है। एकान्तवादी के वचन में सत्यता की सिद्धि कभी भी नहीं हो सकती है। विष स्वर्ण के बर्तन में रखने से अमृत नहीं होता है। इसका कारण यह है कि एकान्तवादी 'एव' शब्द का जो प्रयोग **अवधारण** के अभिप्राय से करते हैं; वह बाधित हो जाता है। जैसे कि -' आत्मा नित्य ही है' यह वचन आत्मा में अनित्यता आदि धर्म के निषेध के अभिप्राय से प्रयुक्त होने से बाधित होता है। आत्मा में पर्यायनय की अपेक्षा अनित्यत्वादि धर्म है ही। अतः सर्वथा निरपेक्ष हो कर अवधारण के अभिप्राय से एवकारादि के प्रयोग, जो एकान्तवादी से किये जाते हैं, वे कथमपि सत्य नहीं हो सकते हैं। इस विषय में गंभीरता से अनेक विषय विमर्श करने योग्य हैं। इस बात की सूचना देने के लिए 'इत्यादि ऊह्यम्' ऐसा शब्द प्रयोग विवरणकार ने किया है।

* पारिभाषिकआराधकत्व - सत्यभाषा का द्वितीय लक्षण *

'एषा च.' इति। यह सत्य भाषा आगम में सत्य भाषा रूप से परिभाषित है। मतलब आगम की परिभाषा से - आराधनी भाषा सत्यभाषा है। अतः पारिभाषिक आराधकत्व ही सत्यभाषा का द्वितीय लक्षण है। मतलब यह है कि आगममूलक व्यवहारनय के अभिप्राय से निर्मित परिभाषा से जो भाषा आराधक होती है वह भाषा सत्य है। यहाँ प्रकरणकार ने मूल में 'आराहणी परिभासिआ' ऐसा जो कहा है, वह पारिभाषिकआराधकत्वरूप से द्वितीय लक्षण बताने के अभिप्राय से कहा है।

शंका :- प्रकरणकार ने मूल में 'आराहणी विहिआ' न कह कर 'आराहणी परिभासिआ ऐसा क्यों कहा है? मतलब यह है कि विहितत्वरूप से आराधकत्व को सत्य भाषा का लक्षण मानने में क्यों आपके दांत खट्टे हो रहे हैं? पारिभाषिकरूप से आराधकत्व कहने से आराधकत्व सीमित हो जायेगा। अतः अप्रामाणिक संकोच करने की आवश्यकता क्या है?

* विहितत्वेन आराधकत्व को मानने में असंभव दोष *

समाधान :- **'अन्यथा.'** इति। आपकी दृष्टि कूपमंडूक की तरह संकुचित है। इसी सबब आपको 'परिभाषिक आराधकत्व में संकुचितता के दर्शन होता है। ठीक ही कहा गया है जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। मगर वास्तविकता का दर्शन करना ही होगा। देखिये,

विहितत्वेनाऽऽराधकत्वस्याऽसम्भवात्। विहितत्वं हि विधिबोधितकर्तव्यताकत्वं। तच्च सत्यभाषाघटितमित्यन्योन्याश्रयात्।

पवित्रयन्ती त्रौकते। तत्र प्रथमे तावदसम्भवः। ननु कथमसम्भव इत्याह-**'विहितत्वं हि विधिबोधितकर्तव्यताकत्व**मिति। **एतेन**ष्टसाधनत्वेन वेदबोधितत्वं विहितत्वमिति **निरस्तम्**, वेदानामप्रमाणत्वात्। **'तच्चे'**ति विधिबोधितकर्तव्यताकत्वरूपं विहितत्वम्। **सत्यभाषाघटितमिति**। विधिवाक्यस्य सत्यभाषारूपत्वेन विधिबोधितकर्तव्यताकत्वरूपस्य विहितत्वस्य सत्यभाषाघटितत्वम्। घटितत्वं च तद्विषयताव्याप्यविषयतावत्त्वम्। सत्यभाषायाश्च विहितत्वघटकत्वम्, तद्विषयता-व्यापकविषयतावत्त्वलक्षणत्वाद् घटकत्वस्य। **अन्योन्याश्रयादिति**। अन्योन्याश्रयो हि ज्ञप्तौ, उत्पत्तौ स्थितौ च भवति। प्रकृते चाऽन्योन्याश्रयो ज्ञप्तौ। तस्य चेदं लक्षणं स्वग्रह-सापेक्षग्रहसापेक्षग्रहकः। प्रकृते स्वग्रहः सत्यभाषाज्ञानं सत्यत्वज्ञानमिति यावत्। तस्य सापेक्षोऽपेक्षाकारी विहिताराधकत्वग्रहः, विहितत्वेन आराधकत्वज्ञानमिति यावत्। तस्य सापेक्षः=अपेक्षाकारी ग्रहः=सत्यभाषाज्ञानं यस्य स इति। अयं भावः, सत्यभाषास्वरूपविधिवाक्यनिष्ठविषयताया विधिबोधितकर्तव्यताकत्वलक्षणविहितत्वनिष्ठविषयताव्यापकत्वात् यावत् सत्यभाषात्वं लक्ष्यं न ज्ञायते तावद् विहिता-राधकत्वं लक्षणं न ज्ञायते, यतो घटकस्याज्ञाने सति घटितं न ज्ञायते। यावच्च विहिताराधकत्वं न ज्ञायते तावत्सत्य-भाषात्वं न ज्ञायते लक्षणज्ञानाधीनत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्येति। एवं विहिताराधकत्वं सत्यभाषाज्ञानाधीनं, सत्यभाषाज्ञानञ्च

विहितत्वरूप से आराधकत्व को सत्यभाषा का लक्षण बनाया जाये तो असंभव दोष आता है। असंभव दोष अन्योन्याश्रयदोष के कारण यहाँ आता है। वह अन्योन्याश्रय दोष कैसे आयेगा? यह देखिये, - विहितत्व का अर्थ है विधिबोधितकर्तव्यताकत्व। अर्थात् विधिवचन से जिसमें कर्तव्यता का बोध होता है वह विहित होता है। जैसे कि - 'मुक्तिकामो जिनं पूजयेत्' इस विधिवाक्य से मोक्षकामी जीव को जिनपूजा में कर्तव्यता का बोध होता है। अतः जिनपूजा विधिवाक्य से बोधित कर्तव्यता वाली होने से विहित है। जिनपूजा में विधिवाक्यबोधितकर्तव्यता ही विहितत्व है। जो विहित होता है वह इष्ट का साधन होता है और अधिकारी इसका पालन न करे तो इसे अवश्य पापकर्म का बंध होता है। अतः यह विधिवाक्य वही हो सकता है जो सत्यवचन हो। यहाँ सत्य भाषा के लक्षण की विचारणा चल रही है। अतः विहितत्वरूप से आराधकत्व को सत्यभाषा का लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आयेगा। देखिये; विहितत्व विधिबोधित कर्तव्यतारूप है और विधि अर्थात् विधिवाक्य सत्यवचन स्वरूप है। अतः विहितत्व का अर्थ होगा सत्यवचन-बोधितकर्तव्यता। अतः विहितत्व के ज्ञान के लिए सत्यवचन का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि विहितत्व सत्यवचन से घटित है और सत्यवचन विहितत्व का अंग=घटक है। यह एक नियम है कि घटक के ज्ञान के बिना इससे घटित का नहीं ज्ञान होता है। अतः विहितत्वेन=विहितत्वरूप से आराधकत्व का, जो कि सत्यभाषा के लक्षणरूप से यहाँ अभिप्रेत है, ज्ञान करने के लिए सत्यभाषा का ज्ञान आवश्यक है, जो लक्ष्य होने से अभी तक सिद्ध=ज्ञात नहीं है। तथा सत्यभाषा के ज्ञान के लिए सत्यभाषा के लक्षण भूत विहितत्वेन आराधकत्व का ज्ञान आवश्यक है। फलतः दोनों में से एक का भी ज्ञान न होगा। विहितत्व का ज्ञान सत्य भाषा के ज्ञान पर अवलंबित है और सत्यभाषा का ज्ञान विहितत्व के ज्ञान पर अवलंबित है। दोनों अपने ज्ञान के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। अतः यहाँ विहितत्वरूप से आराधकत्व को सत्य भाषा का लक्षण मानने पर अन्योन्याश्रय दोष आने के कारण सत्यभाषा का ज्ञान ही असंभवित हो जायेगा।

शंका :- विहितत्वेन आराधकत्व को सत्यभाषा का लक्षण मानने में अन्योन्याश्रय दोष आता है तब सम्यगुपयोगपूर्वकत्वेन आराधकत्व को सत्यभाषा का लक्षण मानना चाहिए। अर्थात् जो भाषा सम्यग् उपयोगपूर्वक बोली जाती है वह भाषा आराधक है, इसी सबब सत्य है। अर्थात् सम्यक् उपयोग से जन्यत्वरूप से आराधकत्व को सत्यभाषा का लक्षण मानना उचित है। इसमें कोई दोष नहीं आता है।

* सम्यगुपयोगपूर्वकत्व आराधकत्व नहीं है *

समाधान :- आपकी यह बात ठीक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर अतिव्याप्ति दोष आयेगा। देखिये, साधु भगवंत शासन रक्षा आदि निमित्त से अपवाद से सम्यग् उपयोगपूर्वक मृषा या मिश्र भाषा को बोलते हैं तब सम्यग् उपयोगपूर्वकत्व तो आपवादिक मृषा और मिश्र भाषा में है ही, फिर भी इस भाषा में शुद्ध व्यवहारनय की दृष्टि से सत्यत्व नहीं है। निश्चयनय की दृष्टि से भले ही

सम्यगुपयोगपूर्वकत्वेन प्रातिस्विकरूपेण वाऽऽराधकशब्दत्वस्य चाऽसत्याद्यतिव्याप्तेरिति **दिग्**।

सा च दशधा, जनपदसत्या, सम्मतसत्या, स्थापनासत्या, नामसत्या, रूपसत्या, प्रतीत्यसत्या, व्यवहारसत्या, भावसत्या, योगसत्या, औपम्यसत्या चेति।।२२।। तत्र पूर्वं जनपदसत्याया एव लक्षणमाह-

---

विहिताराधकत्वज्ञानाधीनमिति प्रथमेऽन्योन्याश्रयबुभुक्षितराक्षसी कण्ठपृष्ठिलग्ना न कथमपि पश्चात्कर्तुं प्रभूयते भूतपतिनाऽपि। अत एव 'आराधनी विहिते'त्यनुक्त्वा आराधनी परिभाषिते'त्युक्तम्।

द्वितीयतृतीयविकल्पयोरतिव्याप्तिः निर्लज्जकुट्टिनी कण्ठपीठनिविष्टा कथमुत्सारणीयेत्याह-**सम्यगुपयोगपूर्वकत्वेनेत्यादि**। सम्यगुपयोगपूर्वकं भाष्यमाणत्वेनाऽऽराधकत्वाभ्युपगमेऽपवादतः सम्यगुपयोगपूर्वकं मृषामिश्रभाषाभाषणेऽतिव्याप्तिः स्यात्। **न च** निश्चयनयमते इष्टापत्तिरिति **वाच्यम्** व्यवहारनयाभिमतसत्यभाषालक्षणस्य प्रक्रान्तत्वात्। नाऽपि तृतीयः, अनिर्वचनात्। **न च** प्रति स्वं यद्रूपं वर्तते तत्प्रातिस्विकरूपमिति **वाच्यम्** मृषादावतिव्याप्तेः। **न च** सत्यभाषावृत्तित्वेन विशेषणान्न दोष इति **वाच्यम्** अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्। **एतेन** सत्येतराऽवृत्तित्वे सति सत्यमात्रवृत्ति यद्रूपं तत्प्रातिस्विकरूपमिति **निरस्तम्** व्यवहारानुपयोगित्वाच्च। **अत एव** मृषा-मिश्राऽनुभयभाषाभिन्नत्वे सति भाषात्वं प्रातिस्विकरूपं तेन रूपेणाऽऽराधकत्वं सत्याभाषालक्षणमित्यपि **परास्तम्** विशेषण-विशेष्यभावे विनिगमनाविरहेणाऽप्रामाणिककल्पनागौरवात् भेदप्रतियोगिमृषादिज्ञानाभावे तद्भेदघटितप्रातिस्विकरूपस्याऽज्ञानेन सत्यत्वाज्ञानप्रसङ्गात्, लाघवेन परिभाषितत्वेनाऽऽराधकत्वाभ्युपगमस्यैव युक्तत्वाच्चेति निपुणतरं निभालनीयमिति सूचनार्थं दिगित्युक्तम्।।२२।।

सत्यत्व हो, मगर यहाँ व्यवहारनय का आश्रय ले कर सत्यभाषा के लक्षण का विचार चल रहा है। अतः तादृश आपवादिक मृषा या मिश्र भाषा में सत्यभाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति आयेगी।

शंका :- तब विहितत्व और सम्यग् उपयोगपूर्वकत्व दोनों को छोड कर प्रातिस्विक रूप से आराधकत्व को ही सत्यभाषा का लक्षण मानना चाहिए। मतलब यह है कि अपने विलक्षण स्वरूप से हि आराधकभाषात्व को सत्यभाषा का लक्षण मानना संगत है।

*** प्रातिस्विकरूप से आराधकत्व सत्यभाषा का लक्षण नहीं है ***

समाधान :- ***'प्रातिस्विकरूपेण वा.'*** इति। आपकी यह बात भी गलत है। इसका कारण यह है कि चारों भाषाओं में अपना प्रातिस्विकरूप = वैलक्षण्य तो रहता ही है। अतः प्रातिस्विकरूप से आराधकत्व मानने में तो मृषा आदि भाषा में भी सत्यभाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। यदि प्रातिस्विकरूप का अर्थ ऐसा किया जाय कि - "मृषा आदि भाषा में न रहनेवाला ऐसा शब्दत्व ही आराधकत्व अर्थात् आराधक - शब्दत्व है" - तब तो जब तक असत्य आदि भाषा का ज्ञान न हो तब तक तादृश प्रातिस्विकरूप से आराधकभाषात्व का ज्ञान न होने से सत्यभाषारूप लक्ष्य दुर्ज्ञेय हो जायेगा। अतः पूर्व में जो कहा था कि 'पारिभाषिकरूप से ही आराधकत्व सत्यभाषा का लक्षण है' वही मुनासिब लगता है। इस संबंध में सूक्ष्मता से अधिक विचार किये जा सकते हैं - इस बात की सूचना देने के लिए विवरणकार ने 'दिग्' शब्द का प्रयोग किया है।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि - भाषा तो भाषावर्गणा के पुद्गलद्रव्यों से निष्पन्न होने से जड ही है। अतः इसमें आराधकत्व नहीं हो सकता है। आराधक या विराधक तो भाषक = वक्ता होता है। फिर भी यहाँ भाषा और भाषक में अभेद का उपचार कर के भाषा में आराधकत्व व्यवहारनय की दृष्टि से मान्य है। अतः 'आराधकशब्दत्वस्य' ऐसा प्रयोग जो विवरणकार ने किया है, यह मुनासिब है - निर्दोष है। पूर्व में भी हमने जहाँ आराधकत्व बताया है वह व्यवहारनय की दृष्टि से आराधकशब्दत्व ही है - यह ख्याल में रखे।

*** सत्य भाषा के दश भेद** - व्यवहारनय *****

'सा च.' इति। व्यवहारनय से सत्यभाषा के दश भेद होते हैं। (१) जनपदसत्य भाषा, (२) सम्मतसत्य भाषा, (३) स्थापनासत्य भाषा, (४) नामसत्य भाषा, (५) रूपसत्य भाषा, (६) प्रतीत्यसत्य भाषा, (७) व्यवहारसत्य भाषा, (८) भावसत्य भाषा (९) योगसत्य भाषा, (१०) औपम्यसत्य भाषा।।२२।।

जा जणवयसंकेया, अत्थं लोगस्स पत्तियावेई। एसा जणवयसच्चा पण्णत्ता धीरपुरिसेहिं[1] ।।२३।।

या जनपदसङ्केताल्लोकस्याऽर्थं प्रत्याययति एषा[2] भाषा **धीरपुरुषैः** तीर्थकरगणधरैः **जनपदसत्या प्रज्ञप्ता**। तथा च 'जनपदसङ्केतमात्रप्रयुक्ताऽर्थप्रत्यायकत्वं' एतल्लक्षणम्। मात्रपदं अनादिसिद्धसङ्केतव्यवच्छेदार्थम्। अस्ति चाऽत्रेदं लक्षणं कोङ्कणादिसङ्केतज्ञानादेव [1]पिच्चादिपदात्पयः प्रभृतिप्रतीतेः।

स्यान्मतम् अपभ्रंशे शक्त्यभावादबोधकत्वम्। यदि च ततोऽपि बोधस्तदा शक्तिभ्रमादेवेति। **मैवम्**, ईश्वराऽसिद्धौ

प्रज्ञप्तेति। प्रज्ञापनावृत्तौ च **मलयगिरिचरणैः** "तं तं जनपदमधिकृत्येष्टार्थप्रतिपत्तिजनकतया, व्यवहारहेतुत्वात् सत्या जनपदस्त्ये"ति व्याख्यातम्। ***याकिनीमहत्तरासूनुना श्रीदशवैकालिकनिर्युक्तिं*** विवृण्वता-'जनपदसत्यं नाम नानादेशभाषारूपमप्यविप्रतिपत्त्या यदेकार्थप्रत्यायनव्यवहारसमर्थमिति, यथोदकार्थे कोङ्कणादिषु, पयः पिच्चमुदकं नीरमित्यादि, अदुष्टविवक्षाहेतुत्वात्, नानाजनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वाद्, व्यवहारप्रवृत्तेः सत्यमेतदि'त्युक्तम्। ***अगस्त्यसिंहसूरिभिरपि तच्चूर्णौ***-"भिण्णदेसिभासेसु जणवदेसु एगम्मि अत्थे संदेण-वंजण-कुसण-जेमणाति भिण्ण-मत्थपच्चायणसमत्थमविप्पडिवत्तिरूवेणेति जणवदसच्चं (दश.नि.चूर्णि-७/१७५) ***जिनदासगणिकृतचूर्णौ* तु**-"तत्थ जणवयसच्चं नाम जहा एगम्मि चेव अभिधेये अत्थे अणेयाणं जणवयाणं विप्पडिवत्ती भवति, ण च तं असच्चं भवति, तं जहा पुव्वदेसयाणं पुग्गलि ओदणो भण्णइ, लाड-मरहट्ठाणं कूरो, द्रविडाणां चोरो, अन्ध्राणां कनायुं, एवमादि जणवयसच्चं भवति।" इत्युक्तम्।

अत्र=जनपदसत्यायाम्। **कोङ्कणादिसङ्केतज्ञानादेवेति**। एवकारेणाऽऽनुशासनिकसङ्केतज्ञानव्यवच्छेदः कृतः। तदुक्तं ***स्याद्वादरत्नाकरे***-"एकस्यापि हि शब्दस्य देशादिभेदेन प्रतिनियतः सङ्केतोऽनुभूयते। यथा गूर्जरादौ चोर-

अब सत्य भाषा के दश भेद में से प्रथमभेद - जनपदसत्य भाषा के निरूपण का अवसर प्राप्त है। अतः सर्व प्रथम जनपदसत्यभाषा के लक्षण को प्रकरणकार २३वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- जो भाषा जनपदसंकेत से लोक को अर्थ का बोध कराती हो वह जनपदसत्य भाषा है - ऐसा धीरपुरुषों ने प्रतिपादन किया है।२३।

जनपद सत्य भाषा - १

विवरणार्थ :- जनपद का अर्थ है देश। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न शब्दों से भिन्न भिन्न अर्थ का संकेत होता है। अतः तत्तत् देश के संकेत से लोगों को जो अर्थबोध = शाब्दबोध जिन शब्दों से होता है, वे शब्द जनपद सत्य भाषा हैं - ऐसा तीर्थंकर, गणधर भगवंतों ने, जो कि पुरुषों में धीर है, प्रतिपादन किया है। तीर्थंकर-गणधरभगवंतों के वचन से जनपद सत्य भाषा का लक्षण प्राप्त होता है - "सिर्फ जनपद (देश) के संकेत से जो अर्थ का बोध कराये ऐसी भाषा"। यहाँ लक्षण में 'मात्र' अर्थात् सिर्फ पद का निवेश अनादिसिद्ध संकेत का व्यवच्छेद करने के लिए किया गया है। जो भाषा=शब्द अनादिकालीन संकेत से अर्थात् अनादिकाल से प्रवृत्त संकेत से अर्थबोध कराती हो वह भाषा जनपद सत्य भाषा नहीं है - ऐसा यहाँ अभिप्रेत है। जनपदभाषा का लक्षण जनपदसत्यभाषा में रहता ही है जैसे कि - कोंकण देश में पिच्च पद का संकेत जल में होने से कोंकण देशवासिओं को कोंकणदेश में किये गये इस संकेत के बल से जल पदार्थ का बोध पिच्च पद से होता है। अतः पिच्च आदि पद जनपद सत्य भाषा है।

✱ अपभ्रंश में शक्ति नहीं है - नैयायिक **✱**

नैयायिक :- '**स्यान्मतं.**' इति। पिच्च आदि पद संस्कृत नहीं है, किन्तु असंस्कृत है, अपभ्रंश है। अपभ्रंश शब्द से बोध कैसे हो सकता है? क्योंकि अपभ्रंश पद में अर्थबोध कराने कि शक्ति होती ही नहीं है। शाब्दबोध स्थल में यह एक नियम है कि - जिस

१ या जनपदसंकेतादर्थं लोकस्य प्रत्याययति। एषा जनपदसत्या प्रज्ञप्ता धीरपुरुषैः।।२३।। २ अत्र 'सैषा' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

१ इस वचन से सिद्ध होता है कि ग्रंथकार के काल में कोंकणदेश में 'पिच्च' शब्द से पानी का बोध होता था। मगर आज-कल कोंकणदेश में 'पिच्च' पद से 'जल' का बोध होता है या नहीं? यह खोज का विषय है।

तत्तत्पदबोद्धव्यत्वप्रकारित्वावच्छिन्नेश्वरेच्छारूपशक्तेरप्यसिद्धेः।

शब्दस्य तस्करे द्रविडादौ पुनरोदन इति।" (स्या. रत्ना. ४।११) ***स्याद्वादमञ्जर्यामप्युक्तं*** "चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढोऽपि दाक्षिणात्यानामोदने प्रसिद्धः। यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः। एवं कर्कटीशब्दादयोऽपि तत्तद्देशापेक्षया योन्यादिवाचका ज्ञेयाः" (स्या.मं.श्लो. १४)।

'तत्तत्पदबोद्धव्यत्वप्रकारित्वाऽवच्छिन्नेश्वरेच्छारूपशक्ते'रिति। 'अस्मात्पादादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारकतत्तत्पदजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रकारितावच्छिन्नेश्वरेच्छारूपशक्तेरित्यर्थः। **असिद्धे**रित्यस्य हेतुः पूर्वमेवोक्तः। **'ईश्वरासिद्धावि'**ति। ईश्वरासिद्धिश्च प्रकृतविवरणकारेणैव एतत्प्रकरणरचनायाःपश्चात् **स्याद्वादकल्पलतायां** तृतीयस्तबके विस्तरेण कृतेति ततोऽवसेया।

किञ्चेश्वरमनङ्गीकुर्वतामपि वाच्यत्व-वाचकत्वव्यवहारदर्शनान्नेश्वरेच्छारूपा शक्तिः। **एतेन** यद् ***वर्धमानोपाध्यायेन*** **अन्वीक्षानयतत्त्वबोधे**"यः शब्दो यत्रेश्वरेण सङ्केतितः स तत्र शक्तः साधुरिति चोच्यते" (अन्वी. ५/२) इत्युक्तं **तन्निरस्तम्**। अस्तु वा ईश्वरः तथापि तेन संस्कृतशब्देष्वेव सङ्केतः कृतो नापभ्रंशशब्देष्वित्यत्र विनिगमनाविरहात्, पाणिन्यादिसङ्केतितनदीवृद्ध्यादिपदेन प्रामाणिकशाब्दबोधानुपपत्तेश्च।

पद में शक्ति होती है वह पद ही अर्थविशेष का शाब्दबोध कराने में समर्थ होता है। जो अशक्त है अर्थात् शक्ति से रहित है वह शब्द अर्थ का शाब्दबोध कराने में समर्थ नहीं होता है। शक्ति तो संस्कृत शब्दो में रहती है, अपभ्रंश आदि में नहीं। अतः अपभ्रंश से शाब्दबोध होता ही नहीं है। फिर भी यदि आप यदि ऐसा कहो कि "अपभ्रंश शब्दों से भी लोगों को अर्थबोध=शाब्दबोध तो होता ही है। अतः अर्थविशेष के शाब्दबोध रूप कार्य से अपभ्रंश शब्दो में भी शक्ति होती है, यह सिद्ध होता है" - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द में शक्ति हो तभी उससे शाब्दबोध हो, अन्यथा न हो - ऐसा कोई नियम नहीं है। शब्द में शक्ति न होने पर भी यदि श्रोता को शब्द में शक्ति का भ्रम हो जाय तब उस शब्द से उस श्रोता को शक्तिभ्रम के कारण शाब्दबोध हो सकता ही है। प्रस्तुत में अपभ्रंश शब्द स्थल में भी ऐसा ही है। अपभ्रंश शब्द में शक्ति - अर्थबोध कराने का सामर्थ्य नहीं है मगर प्रकृत जन को अपभ्रंश शब्द में शक्ति का भ्रम हो गया है। इसी सबब उस शक्तिभ्रम के कारण आम जनता को अपभ्रंश शब्द से अर्थ का बोध होता है। मगर इस अर्थबोधरूप कार्य से अपभ्रंश शब्द में शक्ति का अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि इस अर्थबोध का कारण शक्ति नहीं है किन्तु शक्तिभ्रम है। हाँ, शक्तिभ्रम का अनुमान हो तो हमें कोई क्षति नहीं है। अतः आपने जो जनपद सत्यभाषा का लक्षण बताया है कि "जो शब्द सिर्फ जनपद के संकेत से अर्थबोध कराता हो वह जनपद सत्य है" - वह ठीक नहीं है, क्योंकि जो भाषा शक्तिभ्रम से शाब्दबोध कराये उसे सत्य कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है?

* ईश्वरेच्छास्वरूप शक्ति असिद्ध है - स्याद्वादी *

स्याद्वादी :- नैयायिक के शागिर्द! ऐसा कहने से तो आपकी इज्जत दो कौडी की हो जायेगी। अतः ऐसा मत कहिए कि अपभ्रंश में शक्ति नहीं है। जो चीज अन्यत्र प्रसिद्ध हो उसका अन्यत्र निषेध हो सकता है, अप्रसिद्ध चीज का नहीं। यदि आपको अभिमत शक्ति संस्कृत शब्द में सिद्ध हो तब तो अपभ्रंश में शक्ति नहीं है ऐसा निषेध करना उचित होता। मगर संस्कृत शब्द में भी आपको इष्ट शक्ति नहीं रहती है। इसका कारण यह है कि आपने शब्द में रही हुई शक्ति को ईश्वरेच्छारूप मानी है। "अमुक पद से अमुक अर्थ का बोध हो" - "यह वस्तु अमुक पद से जन्य शाब्दबोध का विषय हो" ऐसी ईश्वर की इच्छा ही शक्तिरूप से आपको मान्य है, जिसमें तत्पदजन्यबोधविषयता का प्रकारता रूप से भान होता है। तत्पदजन्यबोधविषयता उस ईश्वरेच्छा में प्रकार = विशेषणरूप से ज्ञात होती है। मगर यह ईश्वरेच्छारूप शक्ति तब सिद्ध होती यदि ईश्वर सिद्ध हो। आपको जगत्कर्ता रूप से ईश्वर मान्य है, वह सर्वथा असिद्ध है। जब जगत्कर्ता ईश्वर ही नहीं है तब ईश्वरेच्छा बेचारी कैसे अपना स्थान प्राप्त करेगी? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी! जगत्कर्तारूप से ईश्वर नहीं है - इस विषय की सिद्धि प.पू. महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने स्याद्वाद कल्पलता में बडे विस्तार से की है।

शंका :- यदि ईश्वरेच्छारूप शक्ति आपको मान्य नहीं है, तब शक्ति आपको किस रूप से मान्य है? जिसके ज्ञान से श्रोता को

सङ्केतज्ञानत्वेनैव शाब्दबोधहेतुत्वात्, संस्कृतसङ्केतस्यैव सत्यत्वं नापभ्रंशसङ्केतस्येत्यर्थस्य विनिगन्तुमशक्यत्वाच्चेत्यन्यत्र (ग्रन्थाग्रं-३०० श्लोक) विस्तरः।

एतेन शब्दस्य नैसर्गिकशक्त्याख्यसम्बन्धाभावादीश्वरविरचितसमयनिबन्धनः शब्दार्थव्यवहारो नाऽनादिरिति (न्या. मं. चतु. आ. पृ. ३०) ***न्यायमञ्जरीकारवचनमपहस्तितम्***, नैसगिकसामर्थ्यसद्भावात्। एतच्च-'स्वाभाविकसामर्थ्य-समयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः (प्र. तत्त्वा. ४/११) इत्येनत्सूत्रं विवृण्वता ***श्रीवादिदेवसूरिणा*** महता प्रबन्धेन ***स्याद्वाद-रत्नाकरे*** स्थापितम्।

ईश्वरेच्छारूपशक्तेरसिद्धत्वात्, ईश्वरेच्छाज्ञानत्वापेक्षया लाघवेन सङ्केतज्ञानत्वेनैव शाब्दबोधहेतुताया युक्तत्वा-च्चेत्याशयेनाह-**सङ्केतज्ञानत्वेनैवेति। अनेन** शक्तिलक्षणान्यतरज्ञानत्वेन शाब्दबोधहेतुता **निरस्ता** कारणतावच्छेदक-गौरवात्। तदुक्तं ***स्याद्वादकल्पलतायां*** 'शाब्दबोधे शक्तिलक्षणाऽन्यतरत्वेन प्रयोजकत्वापेक्षया शक्तित्वेनैव तत्त्वौचित्या-दिति (स्या. क. स्त. ११/२० गा. वृ.) शक्तित्वेनेति सङ्केतत्वेनेत्यर्थः, पराभिमतशक्त्यसिद्धेः।

एतेन व्युत्पत्तिवादे यद् ***गदाधरेण*** - न हि 'यूस्त्र्याख्यौ नदी'त्यनुशासनात्स्त्र्याख्येदूदन्तादिशब्दे नद्यादिपदस्य शक्तिः सिध्यति किन्तु तदीयसङ्केत एव। अत एव नद्यादिसंज्ञा आधुनिकसंकेतशालित्वात्पारिभाषिक्येव न त्वौपाधिकी (व्यु. का. १/पृ. १८६) इत्युक्तं **तन्निरस्तम्** शक्तिसंङ्केतलक्षणान्यतमज्ञानत्वेन शाब्दबोधहेतुत्वकल्पनापे-क्षया सङ्केतज्ञानत्वेनैव तत्त्वकल्पनाया औचित्यात्, अन्यतमत्वस्य तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्न-भिन्नत्वरूपत्वादिति **दिक्**।

विनिगन्तुमशक्यत्वादिति। एकतरपक्षपातियुक्तिविरहेण निश्चेतुमशक्यत्वादित्यर्थः। अयं भावः, संस्कृतशब्देष्वि-वाऽपभ्रंशशब्देष्वपि सङ्केतसद्भावात् तज्ज्ञाने सत्यपभ्रंशशब्दादप्यभ्रान्तशाब्दबोधो गिर्वाणगुरुणापि न निवारयितुं शक्यते, अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गात्।

शाब्दबोध हो सके?

❋ शक्ति संकेतरूप है ❋

समाधान :- **'संकेतज्ञानत्वेन.'** इति। शक्ति ईश्वरेच्छारूप नहीं है किन्तु संकेतरूप ही है। अमुक शब्द का अमुक अर्थ में संकेत है - इत्याकारक ज्ञान होने पर श्रोता को शब्द बोध होता है। अतः संकेतज्ञान को ही शाब्दबोध का हेतु मानना उचित है। ईश्वरेच्छा का ज्ञान शाब्दबोध का हेतु नहीं है।

शंका :- ठीक है, हमने ईश्वरेच्छारूप शक्ति मानी और आपने संकेतरूप शक्ति मानी। मगर इससे अपभ्रंश स्थल में जो शाब्दबोध होता है वह सत्य ही है, भ्रान्त नहीं है - यह सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि संकेत भी संस्कृत शब्द में ही होता है, अपभ्रंश शब्द में नहीं। अतः जनपदसंकेत, जो अपभ्रंश शब्दो में होता है, असत्य ही है। अतः उस असत्य संकेत के ज्ञान से जो शाब्दबोध होता है उसको सत्य = प्रमाण = अभ्रान्त कहना ठीक नहीं है।

समाधान :- ***संस्कृतसंकेत.*** इति। क्या यह कोई राजाज्ञा है कि - 'संकेत संस्कृत शब्द में हो तब सत्य है और अपभ्रंश शब्द में हो तब असत्य है' - संस्कृत शब्द में संकेत की सत्यता और अपभ्रंश में संकेत की असत्यता तब मान्य हो सकती जब इसमें कोई प्रमाण होता। मगर इस विषय में कोइ निश्चायक प्रमाण या तर्क नहीं है। अतः आपकी बात कैसे मान्य हो सकती है? यदि प्रमाण के बिना भी विषय की सिद्धि हो तब हम ऐसा कहेंगे कि - 'अपभ्रंश शब्द में ही सत्य संकेत होता है, संस्कृत शब्द में नहीं' - तब आप क्या उत्तर देंगे? आप इस विषय में जो उत्तर देंगे हम भी उसी उत्तर से समाधान करेंगे। इस विषय का विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है ऐसा विवरणकार ने सूचित किया है।

वैयाकरण :- अपभ्रंश भाषा में संकेत मान कर जनपदभाषा में सत्यता का आपने जो समर्थन किया है वह तो ठीक है। मगर जनपदभाषा को सर्वत्र सत्य मानना मुनासिब नहीं है। जिस देश में संकेत किया हो उस देश में ही उसको सत्य मानना चाहिए।

एतेन वाक्यपदीये यदुक्तं 'न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः। ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः।। (वा. प. का. १/श्लो. १४२) **तन्निरस्तम्** अपभ्रंशतः संस्कृतशब्दानुमानं ततोऽर्थबोध इत्येवमननुभवात्, तमजानतामपि ततोऽर्थप्रतीतेश्च। तद्धेतोरस्तु किं तेन? इतिन्यायेन सङ्केतज्ञानसहकारिणः तत एव शाब्दबोधाभ्युपगमस्य युक्तत्वात्, शक्तिग्रहबाधकाभावात्, तथैवानुभवाच्च, अन्यथा सङ्केतमहासत्याः प्राणहत्यापापारोपपङ्ककालिमा शिरसि सरसिरुहारोह इवायाता कथं पश्चात्क्रियते वैयाकरणवावदूकैः?

यत्तु *वर्धमानोपाध्यायेन* - 'एकशक्तेरन्यत्र तदारोप्यार्थप्रतीत्युपपत्तौ शक्तिरेकत्रैव कल्प्यते, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्, अन्यथा वृत्त्यन्तरोच्छेदः। सा च संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात्। नापभ्रंशेषु तेषां प्रतिदेशमेकत्राऽर्थे भिन्नरूपाणां तावच्छक्तिकल्पने गौरवात् (अन्वी. त. ५/२) इति **अन्वीक्षानयतत्त्वबोधे** उक्तं **तन्न सम्यक्** प्रामाणिकगौरवस्याऽदोषत्वात्। कुतः गौरवस्य प्रामाणिकत्वमिति चेत्? संस्कृतशब्दवृत्तितया शक्तिमजानतामपि अपभ्रंशशब्दादर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्तेरुक्तत्वात्, आरोपे आरोप्यज्ञानस्य हेतुत्वात्। **न च** वृत्त्यन्तरोच्छेदः; अर्थान्तरबोधार्थमाश्रीयमाणे सङ्केतान्तरे एव तद्व्यपदेशेन लक्षणारूपवृत्त्यन्तरानुच्छेदात्।

यत्तु "शब्दानामपभ्रंशत्वं व्याकरणाशिक्षितत्वमेव, तच्छिक्षितत्वमेव साधुत्वम्। तथा च गर्गर्यादिशब्दानां व्याकरणाशिक्षितत्वेन प्रयोगाऽप्रसिद्ध्या असच्छब्दव्यावृत्तैव शक्तिर्वाच्या। तादृशशक्तिः 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारिकेच्छैव। एवं च 'गर्गर्यादिशब्दादयमर्थो बोद्धव्य' इत्याकारकेच्छासत्त्वेऽपि साधुपदज्ञानजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन निरुक्तेच्छायाः कुत्राऽप्यवर्त्तमानतया न तस्याश्शक्तिरूपत्वं किन्तु गर्गर्यादिशब्दानां साधुपदत्वभ्रान्तिमतः साधुपदज्ञानघटितविशेष्यतासम्बन्धेन निरुक्तेच्छावत्त्वभ्रमरूपशक्तिभ्रमसम्भवात् तस्यैव गर्गर्यादिशब्दाच्छाब्दबोधः नान्यस्येति नवीनमतमेव साधु" (मुक्ता. प्र. पृ. ५४९) इति ***मुक्तावलीप्रभाकृता नृसिंहशास्त्रिणोक्तं,*** **तन्न चारु**, अस्मात् साधुशब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्यपेक्षया अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारकेच्छाभ्युपगमस्यैव लाघवेन युक्तत्वात्, तत्र साधुपदप्रवेशे मानाभावात् अपभ्रंशेषु शक्त्यभावसिद्धौ साधुपदनिवेशः सिद्ध्यति तन्निवेशे च तत्र शक्त्यभावसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयाच्च। **एतेन** अपभ्रंशात्मकगर्गर्यादिपदे शक्तिभ्रमादेव बोधः (मुक्ता. दि. पृ. ५४९) इति ***मुक्तावलीदिनकरीयकृतो*** वचनं **प्रत्युक्तम्**, प्रमात्वापेक्षया भ्रमत्वकल्पनेऽप्रामाणिकगौरवात्, अस्खलद्वृत्तित्वात्, अविसंवादात्, शक्तिग्रहे बाधकाभावाच्च। इत्थमेव सर्वे सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये इति प्रवादस्योपपत्तेः तदप्रमाणत्वकल्पने मानाभावात्।

अस्तु वा साधुपदनिवेशः तथापि न तत्र शक्त्यभावसिद्धिः, संस्कृतशब्दानामिव प्राकृतादिशब्दानामपि ***सिद्धहेमशब्दानुशासनादिसिद्धत्वात्***।

वस्तुतस्तु व्याकरणशिक्षितत्वं न साधुत्वम् व्याकरणस्यापि प्रसिद्धलोकप्रयोगमुपजीव्यैव प्रवृत्तेः। नहि **पाणिन्यादिभिः** प्रसिद्धशब्दव्यवहारमननुरुध्य व्याकरणं रचितम्। अत एव तत्र त्रुटौ जातायां महाभाष्य-वार्तिक-वृत्त्यादिरचनानामावश्यकत्वम्, लोकव्यवहारस्योपजीव्यत्वेन बलवत्त्वात्। इत्थमेव 'लोकात्' (सि. श. १/१/३) इति सूत्रमप्युप-

मगर शास्त्र में भी जहाँ संस्कृत शब्द के साथ संकीर्ण ऐसी असंस्कृत भाषा का प्रयोग हो उसे सत्य मानना नामुनासिब है। इसी सबब शास्त्र में जनपदभाषा को सत्य बताना मुनासिब नहीं है।

*** शास्त्र की अपभ्रंश-अर्धमागधी आदि भाषा सत्य ही है** - स्याद्वादी *

स्याद्वादी :- उस उस देश में अपभ्रंश भाषा को सत्य मानने के जो कारण हैं वे कारण तो शास्त्र में प्रदर्शित असंस्कृत भाषा में और संस्कृत शब्दो से संकीर्ण असंस्कृत=अपभ्रंश शब्दों में भी विद्यमान ही हैं। फिर एक को सत्य कहना और अन्यको असत्य कहना कैसे न्याय्य होगा? आशय यह है - 'उन देश के लोगों को जनपद सत्यभाषा से अर्थबोध होने में जैसे कोई विवाद नहीं

न चेयं तत्तद्देश एव सत्या, न तु शास्त्रेऽपि शक्तशब्दान्तरमध्यपतिताऽपीति **वाच्यम्** अविप्रतिपत्त्याऽदुष्टविवक्षाहेतुत्वेनाऽन्यत्राऽपि तस्याः सत्यत्वात्, अन्यथा देशीयशब्देन कुत्राऽप्यन्वयाऽनुपपत्तिप्रसङ्गात्।।२३।।

उक्ता जनपदसत्या। अथ सम्मतसत्यां निरूपयति-

णाइक्कमित्तु रूढिं जा जोगत्थेण णिच्छयं कुणइ। सम्मयसच्चा एसा, पंकयभासा जहा पउमे।।२४।।

पद्यते। व्याकरणस्योपजीवकत्वेन दुर्बलत्वान्न तेन प्रसिद्धापभ्रंशशब्दनिष्ठशक्तिमहासती कलङ्किता कर्तुं शक्या।

भर्तृहरिमतं खण्डयितुमुपक्रमते **'न चे'**ति। **अन्यत्रा**पीति। शास्त्रेऽपि शक्तशब्दान्तरसंकीर्णस्थलेऽपीत्यर्थः। अयं भावः, यथा तत्तज्जनपदेष्विष्टार्थप्रतिपत्तिजनकत्वात्, अदुष्टविवक्षाहेतुत्वात्, व्यवहारप्रवर्तकत्वात्, तत्तद्देशेऽपभ्रंशानां सत्यत्वं तथैव शास्त्रे शक्तशब्दान्तरसंकीर्णस्थलेऽपि तस्याः सत्यत्वाऽप्रत्यूहात्। **एतेन** संकीर्णायां वाचि साधुविषयेऽपशब्दाः प्रयुज्यन्ते। तैः शिष्टा लक्षणविदः साधून् प्रतिपद्यन्ते।" (वाक्यपदीय १/१४४ वृ. दे. वृत्ति) इति ***वृषभदेववचनं*** **निरस्तम्** अप्रामाणिककल्पनागौरवात्, अपभ्रंशेऽपि संकेतसद्भावात् व्यवहारादिना संकेतग्रहबाधकाभावात्। **एतेन** प्राकृताऽर्धमागधीभाषानिबद्धा आगमा न प्रमाणमिति प्रलापः **पलायितः** इष्टार्थप्रतिपतिजनकत्वात्, अविसंवादित्वाच्च।

विपक्षे बाधकतर्कमाह-**अन्यथेति**। अपभ्रंशशब्दे सङ्केतसत्यत्वाऽनङ्गीकारे। **कुत्राऽपि** पदार्थेऽ**न्वयानुपपत्तिप्रसङ्गात्**, अशक्तपदानां पदार्थानुपस्थापकत्वादिति भावः।।२३।।

सम्मतसत्यां निरूपयति। द्वितीयार्थो विषयत्वरूपं कर्मत्वं, तस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन ज्ञानानुकूलव्यापारात्मक-

---

है और निर्दोष विवक्षा=वक्ता के अभिप्राय से वह भाषा उत्पन्न होती है। अतएव जनपद भाषा को उन उन देशों में सत्य कही जाती है। यह हेतु तो शास्त्र में प्रयुक्त अपभ्रंश-प्राकृत-अर्धमागधी आदि भाषा में भी निर्विवादरूप से सिद्ध है, क्योंकि शास्त्र में प्रयुक्त अर्धमागधी आदि भाषा से उस भाषा के अभ्यासियों को, जिन्हें अर्धमागधी आदि अपभ्रंश भाषा के संकेतों का ज्ञान है, अर्थबोध होने में कोई विवाद नहीं है। तथा शास्त्र में प्रयुक्त अर्धमागधी आदि अपभ्रंश भाषा के प्रयोग में तीर्थकर-गणधर आदि भगवंतों की कोई दुष्ट विवक्षा = अभिलाषा नहीं होती है। इसलिए वह भाषा सत्य ही है। इस तरह जहाँ संस्कृत शब्दों के साथ साथ जो प्राकृत आदि अपभ्रंश शब्द आते हैं; जैसे की भरतेसरबाहुबली वृत्ति, सम्यक्त्वसप्ततिवृत्ति, पंचशतीप्रबोध आदि शास्त्र; वे प्राकृत आदि अपभ्रंश शब्द भी सत्य ही होते हैं, क्योंकि उनसे संकेतज्ञ पुरुषों को अर्थबोध होने में कोई विवाद नहीं है और उन शब्दों के प्रयोग में वक्ता का कोई दुष्ट अभिप्राय नहीं होता है। शास्त्र में प्रयुक्त अर्धमागधी, प्राकृत आदि अपभ्रंश को सत्यभाषा रूप में माननी ही होगी। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाए तब तो देशी शब्द - अपभ्रंश शब्द से कभी भी अर्थ का संबंध=अन्वय नहीं हो सकेगा। शब्द से अर्थ की उपस्थिति होने पर उस अर्थ का अन्य पदार्थ के साथ अन्वय होता है। मगर अपभ्रंश शब्द में आपके अभिप्राय से संकेत को सत्य न माना जाय अर्थात् संकेत का अभाव माना जाए, तब तो अशक्त होने से अपभ्रंश = देशीय शब्दों से अर्थ की ही उपस्थिति नहीं होगी तब तो एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय संबंध कैसे हो सकेगा? जब तक एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय न होगा, तब तक शाब्दबोध कैसे होगा? इस अनुपपत्ति के बल पर यही मानना होगा कि - अपभ्रंश=देशीय शब्दों में भी संकेत अवश्य है - वह सत्य है और इस संकेत के ज्ञाता को प्रामाणिक शाब्दबोध होता है। अतएव अपभ्रंश-देशीय शब्दों को तत्तदेश एवं शास्त्रादि में सत्य मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।।२३।।

जनपदभाषा का निरूपण करने के बाद अवसरप्राप्त सम्मतसत्य भाषा का, जो कि सत्यभाषा का दूसरा भेद है, २४वीं गाथा से प्रकरणकार निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- सम्मतसत्य भाषा वह होती है जो रूढि का उल्लंघन कर के सिर्फ योगार्थ से ही वस्तु का निश्चय न कराये जैसे कि - पद्म में पंकज शब्द।२४।

---

१ नातिक्रम्य रूढिं या योगार्थेन निश्चयं करोति। सम्मतसत्यैषा, पंकजभाषा यथा पद्मे।।२४।।

या रूढिमतिक्रम्य योगार्थेन = व्युत्पत्त्यर्थसम्भवमात्रेण, **न निश्चयं करोति** एषा **सम्मतसत्या** यथा पद्मे पङ्कजभाषा। इयं हि शैवालादीनामपि समाने पङ्कसम्भवत्वेऽरविन्द एव प्रवर्तते, न तु शैवालादाविति सम्मतसत्या। एवं च "समुदायशक्तिप्रतिसन्धान-वैकल्यप्रयुक्ताबोधकत्ववत्पदघटिता भाषा सम्मतसत्या" इति फलितम्।

निपूर्वकरूपधात्वर्थे तदेकदेशे ज्ञाने वाऽन्वयः, व्यापारश्चाऽत्र शब्दप्रयोगात्मकः। तथा च सम्मतसत्याविषयकज्ञानानुकूलशब्दप्रयोगात्मकव्यापारानुकूलवर्तमानकालिककृतिमान् ग्रन्थकार इत्यर्थः। **रूढिमतिक्रम्येति**। समुदायशक्तिमुपेक्ष्येत्यर्थः। अयं भावः केवलयाऽवयवशक्त्या न शैवालादौ पद्मप्रयोगः तत्र रूढ्यर्थाभावात् रूढिप्रकारकज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञाने स्वनिरूपितप्रकारताश्रयाभाववत्त्वसम्बन्धेन प्रतिबन्धकत्वात्। रूढ्यर्थतावच्छेदकपद्मत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वाऽनिरूपितरूढ्यर्थतावच्छेदकसमानाधिकरणावयवार्थतावच्छेदकपङ्कजनिकर्तृत्वावच्छिन्नविषयताकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति पद्मपदरूढिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात्, पद्मविशेष्यकयौगिकार्थबुद्धेः प्रतिबध्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेन पद्मबोधस्तु स्यादेव।

वस्तुतस्तु प्रथमोपस्थितिविषयत्वात् समुदायशक्त्युपस्थापिते रूढ्यर्थ एवावयवार्थस्याऽन्वयो भवति। **एतेन** - "न तु पद्मत्वविशिष्टे पङ्कजनिकर्तृत्वं तद्विशिष्टे चाऽऽनयनमिति प्रतीतिः। यद्वा पङ्कजनिकर्तृत्वानां प्रत्येकपदोपस्थापितानां प्रथमतस्तावदन्वयबोधस्तदनन्तरं तेन समं पद्मत्वस्याऽनन्तरमानयनेनाऽन्वय इति" (न्या. सि. दी. पृ. ५९) ***शशधरशर्मणो*** वचनं **निरस्तम्** समुदायशक्त्युपस्थापितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात् रूढ्यर्थस्यैव प्रथमं लाभात्, समुदायशक्तेरवयवशक्त्यपेक्षया बलवत्त्वात्। प्रकरणकारस्याप्यत्रैव तात्पर्यम्, अवयवशक्त्युपस्थापिते समुदायशक्तिविषयस्याऽन्वयस्येष्टत्वे तु रूढिमतिक्रम्य योगार्थेन निश्चयं न करोतीत्युक्त्यनुपपत्तेः। व्यवहारनयमतप्रदर्शनमेतत्। ततश्च न ***नयोपदेशा***दिग्रन्थविरोध इति समाकलितस्याद्वादैदम्पर्यैः सुदृढं विभावनीयम्।

समुदायशक्तीत्यादि। समुदायशक्तिः = रूढिः तस्याः प्रतिसन्धानं = ज्ञानं; तद्वैकल्यप्रयुक्तं **अबोधकत्वं** = शाब्दबोधाऽजनकत्वं यत्र तत् तेन पदेन घटितेत्यर्थः। **सम्मतसत्येति**। इयं च परेषां योगरूढत्वेन सम्मतेति ध्येयम्।

ननु समुदायशक्तिबोधविरहप्रयुक्ताऽननुभावकत्वं तु जनपदसत्यभाषाघटकपदेऽप्यस्तीति सम्मतसत्यभाषालक्षणस्य जनपदसत्यायामतिव्याप्तिः अलक्ष्यगमनादित्याशयेन कश्चिदाशङ्कते **अथैव**मिति। "क्वचित् समुदायशक्तिविकलानां

*** सम्मतसत्यभाषा-२ ***

विवरणार्थ :- ***या. इति***। जो भाषा रूढि यानी पद की समुदाय शक्ति का उल्लंघन = उपेक्षा कर के सिर्फ योगार्थ से अर्थात् व्युत्पत्त्यर्थ=अवयवार्थ की संभावना मात्र से अर्थ का निश्चय न कराती हो वह भाषा सम्मतसत्य भाषा है। जैसे कि पंकज शब्द का अवयवार्थ=व्युत्पत्त्यर्थ=योगार्थ है पंकसंभवत्व यानी पंकजनिकर्तृत्व अर्थात् कीचड में उत्पन्न होना। यह योगार्थ तो कादव-कीचड में उत्पन्न होनेवाली शेवाल, वनस्पति, जीवजंतु, किडे आदि में भी रहता है। फिर भी पंकज शब्द की प्रवृत्ति शेवाल-किडे आदि में नहीं होती है, किन्तु अरविन्द में ही होती है। पंकज शब्द से अरविन्द का ही निश्चय होता है - यह बात तो आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। योगार्थ और रूढ्यर्थ से युक्त अरविंद = पद्म का ही पंकज शब्द से निश्चय होता है–यह बात सर्वजनसम्मत होने से यह भाषा सम्मतसत्य भाषा है। इस तरह विचार-विमर्श करने से सम्मतसत्य भाषा का लक्षण यह फलित होता है कि - 'समुदायशक्ति के अज्ञान से जिनमें अर्थबोधकता न हो ऐसे पदों से घटित भाषा सम्मतसत्य भाषा है'।

*** सम्मतसत्य भाषा का लक्षण अतिव्याप्तिदोषग्रस्त - पूर्वपक्ष ***

पूर्वपक्ष :- **अथ.** इति। समुदायशक्ति ज्ञान के अभाव से जिन शब्द में अर्थ की अबोधकता हो ऐसे पदों से घटित भाषा सम्मतसत्य है - ऐसा लक्षण बनाने पर तो जनपदसत्यभाषा में भी अतिव्याप्ति आयेगी, क्योंकि जनपदसत्य भाषा के घटक शब्द की समुदायशक्ति का ज्ञान न होने पर वे शब्द अर्थ के बोधक नहीं होते हैं। अतः अलक्ष्यभूत जनपदसत्य भाषा में=सम्मतसत्य के लक्षण की अतिव्याप्ति आयेगी।

अथैवं जनपदसत्याऽतिव्याप्तिः **न चावयवशक्त्यतिप्रसङ्गभञ्जकत्वेन** समुदायशक्तेरुपादानान्न **दोषः**; व्युत्पत्तिविरहितरूढशब्दाऽतिव्याप्तेरिति **चेत्? न**, शक्तिर्हि न सङ्केतमात्रं किन्त्वनादिः शास्त्रीयोऽबाधितः सङ्केतः।

अन्यथा लक्षणाद्युच्छेदा-दित्यनतिप्रसङ्गादिति **दिग्**।।२४।।

जनपदभाषाघटकपदानामवयवशक्त्यैवार्थबोधकत्वं न तु समुदायशक्त्या। ततस्तत्र समुदायशक्तिज्ञानवैकल्यप्रयुक्तार्थाबोधकत्वं नास्ति। अतोऽवयवशक्त्याऽर्थबोधकजनपदसत्यभाषाघटकपदेऽतिप्रसङ्गभञ्जनायैव सम्मतसत्यालक्षणे समुदायशक्तिनिवेशादर इति न जनपदसत्यातिव्याप्तिरूपो दोष" **इत्याशङ्कां** निराकरोति अथमतवादी **'न चे'**त्यादिना। अथमतवाद्यत्र निरासे हेतुमाह **व्युत्पत्तिविरहितरूढशब्दाऽतिव्याप्तेरिति**। अत्र मूलादर्शे मुद्रितप्रतौ च 'व्युत्पत्तिविरहितरूढशब्दाऽव्याप्तेरित्येवं पाठः। स चाऽशुद्धः अनतिप्रसङ्गादित्यग्रिमोत्तरपक्षग्रंथाऽलग्नताऽऽपत्तेरिति।

"समुदायशक्त्युपादानेपि पिच्चादिपदानां अवयवशक्तिशून्यतया व्युत्पत्तिविरहितरूढपदानां कोङ्कणजनपदसङ्केतरूपसमुदायशक्तिबोधविरहप्रयुक्ताबोधकत्ववत्त्वेन तद्घटिताया जनपदसत्यायाः सम्मतसत्यभाषालक्षणाक्रान्तत्वेनाऽतिव्याप्तिशाकिनी पृष्ठलग्ना कथं निवारणीया?" इत्याशयवन्तं अथमतं निराकरोति विवरणकारो **'ने'**ति। सङ्केतमात्रमिति। सङ्केतत्वाऽवच्छेदेन न शक्तित्वं किन्त्वनादिशास्त्रीयाऽबाधितसङ्केतत्वावच्छेदेनेति। आधुनिकसञ्ज्ञाव्यवच्छेदार्थमनादिविशेषणम्।

शंका :- जनपदसत्य भाषा में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए तो सम्मतसत्य भाषा के लक्षण में समुदायशक्ति का उपादान = ग्रहण किया है। जनपद सत्य भाषा में तो अवयव शक्ति से ही अर्थ का निश्चय हो सकता है। वहाँ समुदायशक्ति मानने की क्या आवश्यकता है? तब अतिव्याप्ति कैसे? क्योंकि समुदायशक्तिज्ञानविरह से प्रयुक्त अर्थ की अबोधकता जनपदसत्य भाषा में नहीं है।

समाधान :- ***व्युत्पत्ति.*** । इति आपका यह कथन ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि - आपका यह समाधान मानना तब ठीक होता यदि जनपदभाषा के घटक सब शब्दों में अवयवशक्ति की संभावना हो। मगर ऐसा नहीं है, क्योंकि तब अवयवशक्ति से शून्य रूढ पदों में अवयवशक्ति के ज्ञान से कैसे अर्थबोध होगा? वहाँ तो समुदायशक्ति=रूढि के ज्ञान से ही अर्थबोध हो सकता है। अतः व्युत्पत्तिशून्य रूढ शब्दों में तो, जैसे कि जनपदसत्य भाषा के निरूपण में पूर्व बताए गए पिच्च आदि शब्द, समुदायशक्ति के ज्ञान के अभाव से प्रयुक्त जल आदिरूप अर्थ की अबोधकता आयेगी। अतः फिर से व्युत्पत्तिशून्य रूढ शब्द में सम्मतसत्य भाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति वज्रलेप हो जायेगी। मान न मान मैं तेरा मेहमान!

✱ संकेतमात्र शक्ति न होने से सम्मतसत्य भाषा का लक्षण निर्दोष - उत्तरपक्ष **✱**

उत्तरपक्ष :- वाह! आप तो दूध में से पोरा (जंतुविशेष) निकालने का प्रयास करते हैं! देखिए, व्युत्पत्तिशून्य रूढ शब्द, जो कि जनपदसत्य भाषा के घटकरूप हैं, उनमें जो संकेत है वह शक्तिस्वरूप ही नहीं है तब समुदायशक्तिज्ञानविरहप्रयुक्त अबोधकत्व उस शब्द में रहेगा कैसे? जिसके कारण व्युत्पत्ति से शून्य रूढ पदों में सम्मतसत्य भाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति हो सके! जनपदसंकेत शक्तिस्वरूप न होने का कारण यह है कि संकेतमात्र शक्ति नहीं है, किन्तु जो अनादि है, शास्त्रीय है और अबाधित है, ऐसा संकेतविशेष ही शक्तिस्वरूप है। जनपदसंकेत शास्त्रीय नहीं है, किन्तु अशास्त्रीय=लौकिक है। अतः जनपदसंकेत शक्तिस्वरूप नहीं है। यहाँ यह शंका कि - 'जो संकेत अनादि-शास्त्रीय-अबाधित हो वही शक्तिस्वरूप है, संकेतसामान्य नहीं - इस नियम का स्वीकार न किया जाए तो क्या दोष है?, क्योंकि जब बाधक की उपस्थिति हो तभी संकोच करना आवश्यक होता है। किसी बाधक की उपस्थिति न होने पर भी संकोच करने से तो लक्षण के शरीर में अप्रामाणिक गौरव होता है' - हो तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि संकेतमात्र को ही शक्तिस्वरूप माना जाय तब तो लक्षणा नाम की द्वितीय वृत्ति का उच्छेद ही हो जायेगा। आशय यह है कि - अन्वय की या तात्पर्य की अनुपपत्ति आदि उपस्थित होने पर शब्द की अन्य अर्थ में लक्षणा होती है। जैसे कि - 'गंगायां घोषः' वाक्य में गंगापद के शक्यार्थ जलप्रवाहरूप अर्थ में घोष (गोशाला) का अन्वय बाधित होता है। अतः गंगापद के शक्यार्थ को छोड कर तीररूप अर्थ में गंगापद की लक्षणा होती है। तब श्रोता को 'गंगा के तट पर गोशाला है' - ऐसा निरकांक्ष

उक्ता सम्मतसत्या। अथ स्थापनासत्यामाह-

नन्वनादिसङ्केतस्यैव शक्तित्वमस्तु किमिति शास्त्रीयत्वादिविशेषणनिवेशेनेति **चेत्? न**, अनादितात्पर्यवत्यां निरूढलक्षणाग्रामतिव्याप्तिवारणार्थं तन्निवेशौचित्यात्। एतेन जनपदसङ्केते शक्तित्वव्यवच्छेदः कृतः। (ग्रन्थाग्रम्- २०००)

विपक्षे बाधकतर्कमाह- **'अन्यथेति'**। अनादित्वादिशून्यसङ्केतस्याऽपि शक्तित्वाऽभ्युपगमे इति। **'लक्षणाद्युच्छेदादि'ति**। आदिपदात् व्यञ्जनाग्रहः। गङ्गापदस्य गङ्गातीरे सङ्केतकरणेन 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र गङ्गापदस्य जलप्रवाहतीरबोधने शक्तत्वाभ्युपगमे लक्षणोच्छेदो दुर्निवारः; सङ्केतितार्थेऽन्वयानुपपत्त्यादेर्विरहात्। एवमेव पराभिमतव्यञ्जनोच्छेदोऽपि बोध्यः।

अनतिप्रसङ्गादिति अतिप्रसङ्गविरहादित्यर्थः। अयं भावः, व्युत्पत्तिशून्ये पिच्चादिपदे जनपदसङ्केतस्य सत्त्वेऽपि सङ्केतविशेषरूपशक्तेरभावान्न तत्र समुदायशक्तिविज्ञानवैकल्यप्रयुक्ताऽबोधकत्वं किन्तु जनपदसङ्केतज्ञानविरहप्रयुक्ताऽबोधकत्वमतो न तदघटितजनपदसत्यायां सम्मतसत्यालक्षणातिव्याप्तिः, न वा मण्डलादौ रूढपदेऽतिव्याप्तिः; मण्डं लाति = आदत्ते इति मण्डलमित्यवयवार्थबाधेनाऽबाधितत्वविशेषणविरहादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।।२४।।

स्थापनासत्येति। ***अगसत्यसिंहसूरिणा*** तु - "गणितोवतेसद्वाणसंभवेण सयक्खनिक्केवाति ठवणासच्चं" इत्युक्तम्। ***जिनदासगणिना*** तु - "ठवणासच्चं नाम जहा अक्खं निक्खिवइ, एसो चेव मम समयो एवमादि" इत्युक्तम्। ***हारिभद्रवृत्तौ*** च - "स्थापनासत्यं नाम अक्षरमुद्राविन्यासादिषु, यथा-माषकोऽयम्, कार्षापणोऽयम्, शतमिदम्, सहस्रमिद-

---

शाब्दबोध होता है। मगर संकेतमात्र को शक्ति मानने पर तो गंगापद का गंगातीररूप अर्थ में ही संकेत मान कर अन्वय हो सकता है। संकेतमात्र शक्ति है - इस पक्ष में तो गंगापद की शक्ति गंगातीर अर्थ में भी रहेगी। जलप्रवाहतीररूप अर्थ भी गंगापद का शक्यार्थ होने से अन्वय की अनुपपत्ति नहीं होती है, क्योंकि जलप्रवाहतीररूप अर्थ में गोशालारूप अर्थ, जो घोषपद का शक्यार्थ है, अन्वित=संबद्ध हो सकता है। अतः संकेतमात्र को शक्ति मानने पर लक्षणा नाम की द्वितीय वृत्ति के उच्छेद होने के अनिष्ट प्रसंग को दूर करने के लिए यह मानना ही होगा कि - संकेतमात्र = सकल संकेत शक्ति नहीं है, किन्तु संकेतविशेष ही शक्ति है, जो अनादि, शास्त्रीय और अबाधित है। अब लक्षणा का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि गंगापद का अनादि-शास्त्रीय-अबाधित संकेत तो जलप्रवाहविशेष में ही है, न कि जलप्रवाहसंबद्ध तीररूप अर्थ में। गंगापद के शक्यार्थ में तो गोशालारूप अर्थ का अन्वय बाधित ही है। अतः गंगापद की जलप्रवाहविशेषसंबद्ध तीररूप अर्थ में लक्षणा करने पर ही गोशालारूप अर्थ का उसमें अन्वय=सम्बन्ध हो सकता है। अतः अनादि-शास्त्रीय-अबाधित संकेत ही शक्ति है - यह सिद्ध होता है।

'अनतिप्रसङ्गादिति.'। अब देखिये, आपने जो पूर्व में बताया था कि - 'व्युत्पत्तिशून्य रूढ पदों में सम्मतसत्य भाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी' - वह ठीक नहीं है, क्योंकि व्युत्पत्तिशून्य पिच्च आदि रूढ पद में जो संकेत है वह अनादि-शास्त्रीय-अबाधित नहीं होने से शक्तिरूप ही नहीं है। अतः पिच्च आदि पद में समुदायशक्तिबोधविरहप्रयुक्त अबोधकत्व नहीं है, किन्तु जनपदसंकेतग्रहविरहप्रयुक्त अबोधकत्व है। अतः पिच्चादि व्युत्पत्तिशून्य रूढ पदों से घटित भाषा सम्मतसत्य भाषा के लक्षण से आक्रांत न होने से सम्मतसत्य भाषा के लक्षण में अलक्ष्य में गमनरूप अतिव्याप्ति दोष नहीं है। अतः सम्मतसत्य भाषा का निर्दिष्ट लक्षण निर्दोष ही है। इस सम्बन्ध में सूक्ष्मदृष्टि से अन्य विचार भी किये जा सकते हैं। इसकी सूचना देने के लिए विवरणकार ने यहाँ 'दिग्' शब्द का प्रयोग किया है।।२४।।

सम्मतसत्य भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार अवसरप्राप्त सत्यभाषा के तृतीय भेद - स्थापनासत्य भाषा का २५वीं गाथा से निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- जिस भाषा का संकेत भावार्थ से शून्य में है ऐसी भाषा जब स्थापना में प्रवर्तमान होती है, तब स्थापनासत्या भाषा

ठवणाए वट्टंती अवगयभावत्थरहियसंकेया। ठवणासच्चा भन्नइ जह जिणपडिमाइ जिणसद्दो।।२५।।[1]

स्थापनायां वर्तमाना स्थापनासत्या भण्यते। कीदृशी? अवगतः = प्रमितो भावार्थरहितः = योगार्थविनिर्मुक्तः **सङ्केतो** यस्याः सा। उदाहरणमाह **यथा जिनप्रतिमायां जिनशब्द** इति।

अयं भावः; जिनशब्दो यथा भावजिने प्रवर्त्तते तथा स्थापनाजिनेऽपि निक्षेपप्रामाण्यात्, नानार्थानां च शब्दानां प्रकरणादिमहिम्नैव विशेष नियमनमिति। यत्र प्रकरणादिबलाद्बहुशो भावे प्रवर्तमानानामपि शब्दानां नियन्त्रितशक्तितया स्थापनाप्रतिपादकत्वप्रतिपत्तिस्तत्र स्थापनासत्यत्वमिति।

मिति।" एवं व्याख्या वर्त्तते। **'योगार्थविनिर्मुक्त'** इति। अत्रेदं ध्येयं यदुत स्थापनासत्यायाः सङ्केतो यदा स्थापनां बोधयति तदा तत्रैव स्थापनायां सङ्केतस्य योगार्थविनिर्मुक्तत्वम्, अवयवार्थबाधात्, न त्वन्यत्र भावजिनादाववयवार्थाबाधादिति। जिनशब्दः स्थापनाजिनेऽपि वर्तत इत्यत्र हेतुमाह **निक्षेपप्रामाण्यादिति** निक्षेपानुशासनप्रामाण्यादित्यर्थः। निक्षेपानुशासनं चाऽत्र ***भद्रबाहुस्वामिवचनम्*** - "जत्थ य जं जाणिज्जा, णिक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं। जत्थ वि य न जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ।। (आ. नि. गा.) **धवलायामप्युक्तम्**- "जत्थ बहुं जाणिज्जा अवरिमिदं तत्थ णिक्खिवे णियमा। जत्थ बहुवं ण जाणदि चउड्ढयं णिक्खिवे तत्थ।। (ध. १४ गाथा)

नन्वेवं सत्यव्यवस्था स्यादित्याशङ्कां निरस्यति- **'नानार्थानामिति। यत्रेति**। यस्मिन् जिनादिशब्द इत्यर्थः। अस्य च स्थापनाप्रतिपादकत्वप्रतिपत्तिरित्यनेनाऽन्वयः। **नियन्त्रितशक्तितयेति** निक्षेपानुशासननियन्त्रितशक्तितयेत्यर्थः। अत्रेदं ध्येयम् जिनादिशब्दो यदा यत्र प्रकरणादिबलेन स्थापनाप्रतिपादकः तत्रैव प्रकरणे जिनादिशब्दे स्थापनासत्यत्वम्, अन्यत्र तु नामसत्य-रूपसत्य-भावसत्यत्वादिकमपि न विरुध्यते।

कही जाती है। जैसे कि - जिनप्रतिमा में जिनशब्द।२५।

❋ स्थापनासत्य भाषा - ३ ❋

विवरणार्थ :- जिस भाषा का संकेत योगार्थ=व्युत्पत्त्यर्थ=भावार्थ से शून्य में है - ऐसा प्रमाण से निश्चित हुआ है वह भाषा जब स्थापना में प्रवर्तमान होती है तब स्थापनासत्य भाषा कही जाती है। आशय यह है कि - जो भाषा स्थापना का, जिसमें भाषा का अवयवार्थ=योगार्थ बाधित है, बोध कराती हो वह भाषा स्थापना सत्यभाषा है। जैसे कि जिनप्रतिमा में जिनशब्द। जिनपद का योगार्थ है - रागादि अंतरंगशत्रुजेतृत्व। जैसे रागद्वेषादि शत्रुओं को जीतनेवाले केवली जिन आदि में जिनशब्द की प्रवृत्ति होती है। वैसे रागादिजेतृत्वरूप योगार्थ से शून्य ऐसी जिनप्रतिमा में भी जिनशब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि निक्षेप अनुशासन से, जिनशब्द की स्थापना में भी शक्ति है, यह प्रमाणसिद्ध है। चरम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने श्रीआवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि - 'कम से कम सब शब्दों के चार निक्षेप अवश्य होते हैं।' अर्थात् शब्दमात्र की जघन्य से नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव में शक्ति होती है। शब्दमात्र कम से कम नाम-स्थापना-द्रव्य-भावनिक्षेप का वाचक होता है। श्रीभद्रबाहुस्वामीजी के वचन की प्रामाणिकता से स्थापना में भी शब्द की शक्ति सिद्ध होती है।

❋ प्रकरणादि के बल से अर्थनियमन ❋

नानार्थानां इति। यहाँ यह शंका होने का अवकाश है कि - 'यदि शब्दमात्र की जघन्यतः नामादि चार निक्षेप में शक्ति है, तब तो नामनिक्षेप के स्थान में स्थापनानिक्षेप की और स्थापनानिक्षेप के स्थान पर नामादिनिक्षेप की और भावनिक्षेप के स्थान में नामादि निक्षेप की प्रवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी। ऐसा होने पर तो भारी गड़बडी हो जायेगी - अव्यवस्था होगी। अतः शब्दमात्र की नामादि चार निक्षेप में शक्ति मानना ठीक नहीं है' - किन्तु यह शंका भी इसलिए निराधार सिद्ध होती है कि - 'शब्दमात्र की नामादि निक्षेप में शक्ति होने पर भी प्रकरणादि के बल से शब्द से प्रतिनियत विशेष अर्थ का ही बोध होगा, सब अर्थ का नहीं। जैसे कि - 'राम और लक्ष्मण दोनों चले गये।' 'औरों की बात छोडो, तुम अपनी कहो।' 'लकीर और सीधी करो' इन तीन वाक्यों में और

---

१ स्थापनायां वर्तमानाऽवगतभावार्थरहितसंकेता। स्थापनासत्या भण्यते यथा जिनप्रतिमायां जिनशब्दः।।२५।।

एतेनाऽचेतनायां प्रतिमायामर्हदादिपदं प्रतिपादयतामजीवे जीवसंज्ञेति वदता**मपहृतं सर्वस्वम्**,

एतेन=स्थापनायामपि निक्षेपानुशासनसद्भावप्रतिपादनेनेत्यर्थ। अस्य चापहृतं सर्वस्वमित्यत्राऽन्वयः। **'स्थापना-सत्यत्वप्रतिपादकसूत्रोन्मूलनेने'**ति। स्थापनासत्यत्वप्रतिपादकसूत्राणि त्रिविधानि स्थापनायां शब्दशक्तिविधायकानि, स्थापनास्वरूपप्रतिपादकानि स्थापनायां प्रवर्तमानानि च। तत्र स्थापनायां शब्दशक्तिविधायकानि सूत्राणि - 'णामं ठवणा दविए, खित्ते काले तहेव भावे य। एस खलु णिक्खेवो दसगस्स छव्विहो होइ'।। (द. नि. गा. ८/९) 'णामं ठवणा दविए, माउयपयसंगहेक्कए चेव। पज्जवभावे य तहा सत्तेऐ एक्कगा होंति'।। (   ) 'णामं ठवणा दविए, ओहे भव तब्भवे य भोगे य। संजम जस कित्ती जीवियं च भण्णत्ती दसहा'।। (   ) 'नामं ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढ उवरती वसही। संजमप्पग्गह जोहे, अचल गणण संघणा भावे'।। (   )। "नामं ठवणा दविएत्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो"। (सं. तर्क १/६) इत्यादीनि।

स्थापनास्वरूपप्रतिपादकानि च "जं पुण तयत्थसुन्नं, तदभिप्पाएण तारिसागारं। कीरइ व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा।। (वि. आ. भा. २६)" यत्तु तदर्थवियुक्तं, तदभिप्रायेण यच्च तत्करणि। लेप्यादिकर्म तत्स्थापनेति क्रियतेऽल्पकालञ्च।। ( ) इत्यादीनि।

स्थापनायां प्रवर्तमानानि च प्रदर्श्यन्ते। तथाहि ***महानिशीथसूत्रे***-"गोयमा! पमायं पडुच्च तहारूवे समणे वा माहणे वा जो **जिणघरं** न गच्छेज्जा तओ छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा।। (म. नि. अ. ७) इत्युक्तम्। द्रौपद्यधिकारे ***ज्ञाताधर्मकथांगे***"... मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, जेणेव **जिणघरे** तेणेव उवागच्छइ। (ज्ञा.) इत्युक्तम्। **राजप्रश्नीये** सूर्याभदेवाधिकारे" धूवं दाऊण **जिणवराणं** अट्ठसयविसुद्धिगंथजुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं

शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ और शब्द का अर्थ एक नहीं है, अलग अलग है। फिर भी आस-पास के शब्दों से, प्रकरण से प्रस्तुत में इस शब्द का अर्थ क्या है? वह पता चल जाता है। प्रस्तुत में प्रथम वाक्य में और शब्द का अर्थ समुच्चय=संग्रह है, दूसरे वाक्य में और शब्द का अर्थ अन्य है, तीसरे वाक्य में और शब्द का अधिकरूप क्रियाविशेषण अर्थ है। इस तरह जिन आदि शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी, किस जगह उसका क्या अर्थ होता है? यह प्रकरणादि के बल पर मालुम होता है। अतः अव्यवस्था-संशय आदि दोषों का अवकाश नहीं है।

✱ स्थापनासत्यभाषा का लक्षण ✱

उपर्युक्त विचारविमर्श करने से स्थापनासत्य भाषा का यह लक्षण प्राप्त होता है कि - अनेक बार भावनिक्षेप में प्रवर्तमान शब्द भी निक्षेप अनुशासन से नियन्त्रित-मर्यादित शक्तिवाले होने से प्रकरणादि के बल से जब स्थापना के बोधक होते हैं तब वे शब्द स्थापनासत्य भाषास्वरूप हैं।

शंका :- अचेतन प्रतिमा में अरिहंत आदि शब्दों का प्रयोग ठीक उसी तरह मिथ्या है जैसे कि अजीव में जीव शब्द का प्रयोग। आशय यह है कि जीव पद की शक्ति जीवरूप अर्थ में होती है, न कि अजीव में क्योंकि अजीव में जीवपद का प्रवृत्तिनिमित्त=शक्यतावच्छेदक नहीं है। प्रवृत्तिनिमित्त के बिना अजीव में जीवशब्द का प्रयोग जैसे असत्य होता है। वैसे ही अरिहंत पद का अरिहंत की प्रतिमा में प्रयोग मिथ्या होता है। अरिहंत शब्द परमात्मा का वाचक होता है जब कि प्रतिमा तो आत्मस्वरूप भी नहीं है, तो परमात्मस्वरूप की तो बात ही कहाँ प्रतिमा तो जड होती है। अतः अरिहंतशब्द का जड प्रतिमा में प्रयोग मिथ्या है।

✱ प्रतिमा में अरिहंतपद प्रयोग नितांत सत्य है ✱

समाधान :- ***एतेन इति***। जाकी रही जैसी भावना, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी। प्रतिमा को आप जड कहते हैं, यह बात आपकी जडता का ही दिग्दर्शन कराती है। आपके वक्तव्य का निराश तो हमने पूर्व में जो बताया था कि - 'निक्षेप अनुशासन से

एवम्भाषणे स्थापनासत्यत्व-प्रतिपादकसूत्रोन्मूलनेनाऽर्हदादीनामाशातनयाऽनन्तसंसारित्वप्रसंगादित्यन्यत्र विस्तरः।

महावित्तेहिं संथुणइ। (रा. प्र. सू. १३९) इत्युक्तम्। ***महाकल्पसूत्रे*** "काउंपि **जिणायणेहिं** मंडियं सयलमेइणीवट्टं।" (म. नि. अ. ३) तथा "दव्वच्चणं तु **जिणपूया**। (म. नि. अ. ३) इत्याद्युक्तम्। ***उपदेशमालायामपि*** "सव्वायरेण लग्गइ, **जिणवर**पूयातवगुणेसु।। (उ. मा. २४१) इत्युक्तम्। कियन्ति तानि प्रदर्शयितुं शक्यन्ते? स्थापनाभाषायाः सत्यत्वाऽनुपगमे त्वेतेषां सूत्राणां मृषात्वं प्रसज्येत; भावार्थशून्यायां प्रवर्तमानजिनादिशब्दैर्घटितत्वात्।

अर्हदादीनामिति। आदिशब्दात् गणधरादीनां ग्रहः। पूर्वोक्तसूत्राणामर्थतोऽर्हताऽभिहितत्वात् सूत्रतश्च गणधरादिभिर्निबद्धत्वात् तत्सूत्राऽपलापे तद्भाषकार्हदादीनामाशातनाऽनन्तभवानुबन्धिनी प्रसज्येत। तदुक्त**मुपदेशपदे** "तित्थयर-पवयणं सुअं, आयरिअं गणहरं महड्ढीअं। आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ होइ।। (उप. प. ४२३) अन्यत्राऽपि-'उस्सुत्तभासगाणं बोहिणासो अणंतसंसारो' (   ) इत्युक्तम्। न केवलमस्माकं किन्तु **महावग्गाख्ये**[1] बौद्ध-शास्त्रेऽपि राजगृहस्थ***सुपार्श्वनाथ***जिनायतने सुगताऽऽगमनस्य प्रतिपादितत्वेन सर्ववैनाशिकानामपि स्थापनायां शक्ति-रभिमता। लुम्पकस्तु ततोऽपि हीन इत्यलं लुम्पकेन सह वादेन। छिन्ने पुच्छे लूने कर्णे श्वा श्वैव नाश्वो नाऽपि गर्दभः। **अन्यत्रेति। *प्रतिमास्थापनन्याय-प्रतिमाशतकादा***वेतत्प्रकरणकारकृत इत्यर्थः।

व्यक्त्याकृतीति। 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ' इत्येवं पाठो वर्तमानोपलभ्यमानगौतमीयन्यायसूत्रे वर्तते। आकृतिश्च सद्भूतस्थापनैव, लोके तस्यामेव आकृतिव्यवहारात्। **एतेन** यत्तु **श्लोकवार्तिककारणे कुमारिलेन** जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराक्रियते यया। (श्लो. वा. आकृतिवा. श्लो. ३) **भर्तृहरिणा** च - आकृतिः सर्वशब्दानां यदा वाच्या प्रतीयते। एकत्वादेकशब्दत्वं न्याय्यं तस्यां च वर्ण्यते।। (वा. प. कां ३/वृ. स. श्लो. ३१६) इत्यनेन जात्याकृत्योरैक्यं नित्यत्वं च प्रतिपादितं **तन्निरस्तम्**, प्रतीतिबाधात् स्त्र्यादिलिङ्गसंख्याऽन्वयबाधात् तदभिमतजातेरसत्त्वाच्च।

यच्च परैः 'न च गामानयेत्युक्तः, सत्यामपि तथाकृतौ।

चित्रपिष्टमयं कञ्चिद्, गामानयति बुद्धिमान्।।' **इत्युच्यते,**

तत्र मया 'गोशून्ये गां नयेत्युक्तः, सत्यामेव तथाकृतौ।

शक्यतावच्छेदक = प्रवृत्तिनिमित्त स्थापना में भी रहता है' - उसीसे हो जाता है। जिसमें जिस शब्द का शक्यताअवच्छेदक धर्म = प्रवृत्तिनिमित्त हो उसमें उस शब्द का प्रयोग हो तब कोई भी विद्वान् इसे मिथ्या कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता है। निक्षेपसूचक शास्त्रवचन से ही जब अरिहंत की प्रतिमा में भी अरिहंत पद की शक्ति एवं प्रवृत्तिनिमित्त = शक्यतावच्छेदक सिद्ध हैं तब अरिहंतपद प्रयोग असत्य कैसे होगा?

✻ सूत्र के अपलाप से आशातना और अनंतसंसार ✻

एवम्भाषणे. इति। एक बात यह भी है कि जब 'स्थापना में शक्ति है', ऐसा प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रवचन प्राप्य हैं, स्थापना के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले अनेक शास्त्रवचन लभ्य है, स्थापना में प्रवर्तमान अनेक शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं तब इन सब शास्त्रवचनों का, जो कि स्थापना में सत्यत्व का बोध कराते हैं, उन्मूलन करने से - अपलाप करने से उन शास्त्रवचनों को अर्थ से कहनेवाले अरिहंत भगवंत और सूत्र से कहनेवाले गणधरादि भगवंतों की ही आशातना होती है। पुरुषविश्वास से वचनविश्वास होता है। जब वचन का अविश्वास - अपलाप होता है, तब अर्थतः उस वचन के वक्ता पुरुष पर अविश्वास-अपलाप -अनादर व्यक्त होता है, जो कि उस पुरुष की हीलना-तिरस्काररूप है। अरिहंत आदि महापुरुषों की हीलना-अपलाप आदि उनकी आशातनास्वरूप है, जो कि अनंतसंसार का कारण है। अनंतसंसारोपार्जन न करना हो तब अरिहंत भगवंत की आशातना का त्याग

---

१ दृश्यतां महावग्गे २-२२-२३ इत्यत्र।

सद्भावस्थापनायां च शक्तिः 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थ' (न्या. सू. २।२।६८) इति वदतां गौतमीयादीनामप्याभिमता। **न च** गवादिपदानां लाघवाद्गोत्वविशिष्ट एव शक्तिः, आकृत्यादौ तु लक्षणैव, सूत्रं त्वन्याभिप्रायकमिति **वाच्यम्**,

चित्रपिष्टमयं कञ्चिद्, गां हि नयति बुद्धिमान्।।' इत्येवं **प्रतिविधीयते**।

यच्च परैः 'व्यक्तौ तावत्क्रियायोगो जातौ सम्बन्धसौष्ठवम्।

नाकृतौ द्वयमप्येतदिति तद्वाच्यता कुतः?।।' **इत्युच्यते**,

तत्र मया "व्यक्तौ तावत्क्रियायोगो, जातौ सम्बन्धसौष्ठवम्।

आकृतौ द्वयमप्येतदिति तद्वाच्यता स्फुटा।।" इत्येवं **समाधीयते**।

'जिनं स्नपय', 'रक्ताः पिष्टमय्यो गावः क्रियन्तामि'त्यादिप्रयोगदर्शनात्, सङ्केतसम्बन्धग्रहणे बाधकाभावाच्च।

अत एव "आकृतिवचनत्वे गोशब्दस्य शुक्लादिगुणवाचिभिः पदान्तरैः सामानाधिकरण्यं न प्राप्नोति। न हि शुक्लादिगुणा आकृतिवृत्तय इत्यपि **प्रत्युक्तम्**; लोकोऽपि "आकृतौ सर्वे गुणा वसन्ति" इति व्यपदिशति।

'गवादिपदानामि'ति। ननु यद्धर्मेण यदर्थे यत्पदस्य शक्तिग्रहः, लाघवात् तद्धर्मविशिष्ट एव तत्पदस्य शक्तिरिति नियमात्, गोत्वादिधर्मेण गवादिरूपार्थे गोत्वाद्यवच्छिन्ने गवादिपदस्य शक्तिः, न त्वाकृत्यादौ गौरवात्। अन्वयाद्यनुपपत्तिमहिम्ना तत्र लक्षणैवोचिता। **न च** व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थ' इति सूत्रापलापः, तेनाऽऽकृत्यादौ पदार्थत्वप्रतिपादनेन तत्र शक्तिसमर्थनादिति **वाच्यम्** तत्सूत्रस्याऽभिप्रायान्तरोन्नयनादित्याशङ्काकर्तुरभिप्रायं निरस्यति

करना आवश्यक है और उसके लिए अरिहंत भाषित आगमों का अपलाप भी त्याज्य है। इस विषय का विस्तार विवरणकार अन्य ग्रन्थों में कर चूके हैं।

* सद्भावस्थापना में भी शक्ति है - नैयायिक की साख *

सद्भावस्थापनायां. इति। दूसरी बात तो यह है कि सिर्फ जिनागम में ही यह नहीं कहा गया है कि - सद्भूतस्थापना में पदमात्र की शक्ति है - किन्तु नैयायिक संप्रदाय के गौतमऋषिकृत न्यायसूत्र में भी आकृति में यानी सद्भूतस्थापना में शक्ति का प्रतिपादन किया गया है। देखिये, यह रहा वह न्यायसूत्र - 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः' अर्थात् 'पद का अर्थ-व्यक्ति, आकृति और जाति है'। आकृति भी पद का अर्थ है यानी पद का शक्यार्थ है - यह ज्ञात होता है। गौतममहर्षि को अभिमत आकृति सद्भावस्थापना को छोड कर अन्य कुछ नहीं है। सद्भावस्थापना ही आकृति है। अतः गौतमीय न्यायसूत्र से भी सद्भावस्थापना में पद की शक्ति सिद्ध होती है।

* लाघवतर्क से गोत्वविशिष्ट में ही शक्ति है - नव्य नैयायिक *

पूर्वपक्ष :- ***गवादिपदानां. इति***। आकृति आदि में यानी सद्भावस्थापना में शक्ति को मानना कैसे उचित होगा? क्योंकि आकृति आदि में पद की शक्ति मानने पर शक्यतावच्छेदक धर्म में गौरव होगा। अतः आकृति आदि में पद की लक्षणा माननी ही उचित है। आशय यह है कि - जिस धर्म से विशिष्ट जिस धर्मी का जिस शब्द से शाब्दबोध होता है उस धर्म से विशिष्ट व्यक्ति में ही उस पद की शक्ति होती है। गोत्व धर्म से गायस्वरूप धर्मी का गोशब्द से भान होता है। अतः गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति में ही गोपद की शक्ति मानना उचित है, न कि आकृति आदि में, क्योंकि गोपद से गाय की आकृति आदि का भान नहीं होता है। शब्द से जिसका भान न हो उसमें शब्द की शक्ति मानना कैसे उचित होगा? अतः आकृति आदि अर्थ में तो लक्षणा का स्वीकार ही उचित है, न कि शक्ति का स्वीकार।

सूत्रं. इति। यहाँ यह शंका होने का अवकाश है कि - 'यदि आकृति में शक्ति नहीं है तब 'व्यक्ति-आकृति-जातयः पदार्थः' इस गौतमीयसूत्र का विरोध होगा, क्योंकि यहाँ सूत्र में तो कंठतः आकृति में पद की शक्ति का प्रतिपादन किया गया है' - किन्तु यह शंका इसलिए निराधार है कि - उस गौतमीयसूत्र की अन्य अभिप्राय से उपपत्ति हो सकती है। आशय यह है कि - शास्त्र के सूत्रों का जब व्याख्यान करना हो तब प्रत्यक्ष अनुमान आदि अन्य प्रमाण से बाध न हो यह ध्यान रखना आवश्यक है। शब्दार्थ मात्र में

आनुशासनिके गुरावप्यर्थे शक्त्यङ्गीकारात्, निक्षेपानुशासनस्य च स्थापनायामपि सत्त्वात्, असति बाधके तत्रापि शक्तेरिति दिग्।

आनुशासनिक इति अनुशासनप्रतिपादित इति। तदुक्तं प्रकरणकारेण ***तत्त्वार्थवृत्तौ***- "व्युत्पन्नस्य यत्पदाद् यावद्धर्मावच्छिन्नमस्खलद्वृत्त्योपतिष्ठते, तावद्धर्माणां तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वस्य न्याय्यत्वात्, लक्ष्यतावच्छेदकस्येव शक्यतावच्छेदकत्वस्य गुरुण्यपि स्वीकारात् अत एव च प्रकृतिजन्यबोधप्रकारत्वाद्यथ वैयाकरणा व्याचक्षते" (तत्त्वा. १।५-यशो. वृ.) इति। जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिः, जात्याकृत्योर्लक्षणेत्येवं व्याख्याने वाक्यभेदप्रसङ्गात्, केवलं लाघवतर्कस्तु नानार्थेषु शब्देषु बाधित एव।

एतेन आकृतिपदेन जातिव्यक्त्योः समवाय एवाभिप्रेतः। तथा च जातिसमवायव्यक्तयः पदार्थ इति त्रिषु पर्याप्त्यभिप्रायकं गौतमीयसूत्रमिति ***नव्यनैयायिकानां*** प्रलापः **परास्तः**, समवायाऽसिद्धेः, आकृतेरनन्यलभ्यत्वेन शब्दार्थत्वत्यागानौचित्याच्च। न हि जातिरिवाऽऽकृतिरपि स्वरसतः पदान्न प्रतीयते, न वा जातिमत्ताया इवाकृतिमत्ताया अपि संशयः शाब्दबोधानन्तरमवतिष्ठत इति **दिग्**।

यदपि *मुक्तावलीकारेण*- 'तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तावेव विश्राम्यतीत्युक्तं (मुक्ता. पृ. ५७८) **तन्मन्दम्**, विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण गौरवात्, जात्यादिविनिर्मुक्ते मृण्मयपिण्डेऽपि 'इयं गौरि'ति व्यवहाराच्च।

एतेन - परस्परपरित्यागेन परस्परस्य बोधाभावात् त्रिष्वेकैव शक्तिः। एतद्बोधनायैव सूत्रे 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः इत्येकवचनमिति (मुक्ताः दि. पृ. ५७९) सम्प्रदायमतं विवृण्वता **दिनकरीयकारेणोक्तं तन्निरस्तम्** गवादिपदादाकृतिविशेषानुपस्थितावपि केवलगोत्वादिप्रकारेण शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धतया त्रिष्वेकशक्तिकल्पनाया असम्भवाच्च।

एतेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिः। संस्थाने च पृथगेव शक्तिरिति **नव्यमतमपास्तम्** जातिशून्यानामपि अभावादीनामभावत्वादिरूपेण शाब्दबोधस्यानुभवात् केवलं व्यक्तावपि पृथक्शक्तिकल्पनाऽऽवश्यक्येव। **न च** जातिशब्दस्य धर्मे लक्षणेति **वाच्यम्,** लक्षणाश्रयणस्यातिजघन्यत्वात्। अस्तु वा तथा तथापि गोत्वादिशब्दाद् व्यक्त्यनुपस्थितावपि केवलं गोत्वभानात् जातावपि पृथक्शक्तिस्वीकारस्याऽऽवश्यकत्वात्। **न च** गोत्वत्वेन रूपेण गोत्वभानात्तत्र गोत्वं व्यक्तिरेवेति **वाच्यम्,** एवं सति गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं स्यात्। तच्च गवेतरासमवेतत्वे सति

मूढता नहीं करनी चाहिए। अन्य प्रमाण का विरोध उपस्थित न हो यह ख्याल में रख कर शास्त्रवचनों के तात्पर्य को=अभिप्राय को ढूँढने का प्रयास करना चाहिए। यहाँ तो आकृति आदि में शक्ति मानने पर गौरव दोष की उपस्थिति होती है। अतः आकृति आदि को छोड कर जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही पद की शक्ति मानना उचित है, न कि आकृति आदि में भी-यह हमारा कथन नितांत निर्दोष है।

*** आनुशासनिक गुरु अर्थ में भी शक्ति है - स्याद्वादी ***

उत्तरपक्ष :- ***'आनुशासनिके.' इति***। क्या यह कोई राजाज्ञा है कि - लघु अर्थ में ही शब्द की शक्ति हो और गुरु अर्थ में शब्द की शक्ति न हो? नियम तो यह है कि अनुशासन जिस शब्द के जितने अर्थ बताये, उन सब अर्थ में, चाहे अर्थ एक हो या अनेक हो, उस शब्द की शक्ति रहती है। जब 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः' यह गौतमीयसूत्र साक्षात् समानरूप से व्यक्ति, आकृति और जाति में शब्द की शक्ति का प्रतिपादन करता है, फिर भी आकृति आदि में शक्ति का स्वीकार न करना और लक्षणा का स्वीकार करना इसमें प्राप्त का त्याग और अप्राप्त की कल्पना करनी पडेगी। अतः इससे अच्छा यही है कि गौतमीय अनुशासन के बल से आकृति आदि तीनों में शक्ति का ही स्वीकार किया जाय।

'निक्षेपानुशासनस्य.' इति। यहाँ इस शंका का कि 'भले गौतमीय अनुशासन से आकृति में शब्दशक्ति सिद्ध हो, मगर इससे

सकलगोसमवेतत्वरूपम्। तथा च गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदके प्रवेशात्तवैव गौरवात्। तस्मात् शक्तित्रितयकल्पनैव युक्ता तव मतेऽपीति **दिक्**।

ननु गौतमीयानुशासनेनाऽपि सद्भूतस्थापनायामेव शक्तिः स्यान्न त्वसद्भूतस्थापनायामित्याशङ्कां दूरीकरोति **निक्षेपानुशासनस्येति**। **स्थापनायामपीति**। स्थापनात्वाऽवच्छिन्नेऽपीत्यर्थः। एवं च नासद्भूतस्थापनायामव्यापकतेति।

ननु 'जत्थ वि य न जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खिवे तत्थ। इत्यनेन निक्षेपानुशासनेन यत्तत्पदाभ्यां निक्षेपचतुष्टयस्य व्याप्तिः स्फुटीकृता तथापि अनभिलाप्यभावेषु नामनिक्षेपाऽप्रवृत्तेः, द्रव्यजीवद्रव्यद्रव्याद्यसिद्ध्याऽभिलाप्यभावैकदेशे द्रव्यनिक्षेपाऽप्रवृत्तेश्च, व्यभिचार इति कथं निक्षेपचतुष्टये पदशक्तिरित्याशङ्कां निराकर्तुमाह - '**असति बाधक**' इत्येवमवतरणिका न कार्या, प्रकृतस्थापनानिक्षेपेऽनुपयोगित्वेन 'तत्रापी'त्यनेनाऽन्वयाऽनुपपत्तेः, अनुपदमेव वक्ष्यमाणस्थापनाविषयककल्पान्तराऽलग्नताऽऽपत्तेश्च। किन्तु "नन्वेवं सति पार्श्वस्थादौ भावयतिस्थापनासम्भवेन तत्र यतिशब्दस्य स्थापनासत्यत्वं प्रसज्येत। तथा सति चाऽऽवश्यकनिर्युक्त्यादिग्रन्थविरोधः स्यादित्याशङ्कां निराकर्तुमाह- '**असति बाधक** इति। इत्येवमवतरणिका कार्या। आनुशासनिकशक्तेः बाधकं च दोषादिप्रतिसन्धानम्। प्रकटप्रतिसेविनि दोषादिप्रतिसन्धानरूपबाधकस्य सत्त्वे तत्र भावयतित्वारोपस्य दुःशकत्वेन न तत्र यतिपदस्य स्थापनासत्यत्वम्। तदुक्तं ***भद्रबाहुस्वामिना*** 'अगुणे उ वियाणंतो कं नमउ मणे गुणं काउं? (आ.नि. ११३६) प्रतिमास्थले च लोहादिधातुनिर्मितत्व-ध्यानस्थ-नाग्न्याद्यवस्था-मुखाद्यवयभङ्गादिकं दोषः' मुह-नक्कनयण-नाहि-कडिभंगे मूलनायगं चयह।' (   ) इत्यादिशास्त्रवचनात्। प्राणप्रतिष्ठादिसम्पादितस्थापनायां शास्त्रोक्तदोषादिप्रतिसन्धाने सति निक्षेपानुशासनप्राप्तशक्तिः नास्ति, प्राणप्रतिष्ठाद्यसम्पादितलौकिकस्थापनायां तु लौकिकशक्तेर्मुखभङ्गादिकं न बाधकमिति **ध्येयम्**।

ननु दोषादिप्रतिसन्धानदशायां स्थापनायां न शक्तिः, इतरथा त्वस्तीति वक्तुं कथं शक्यते? यदि स्थापनायां पदशक्तिः तदा श्रोतुर्वक्तुर्द्रष्टुर्वा दोषादिप्रतिसन्धानरूपबाधके सत्यपि त्रिदशाधिपतिनाऽपि सा पश्चात्कर्तु न शक्यते, अन्यथा शक्तिमहासत्या व्याकोपः प्रसज्येत। यदि स्थापनायां न शक्तिः तदा बाधकाभावदशायामपि तत्र शक्तिः न

सिर्फ सद्भूतस्थापना में ही शब्दशक्ति की सिध्धि होगी न कि असद्भूतस्थापना में। जब कि आपकी अभिमत स्थापना सत्याभाषा तो सद्भूतस्थापना की तरह असद्भूतस्थापना में भी प्रवृत्त होती है। असद्भूतस्थापना में आप कैसे शब्दशक्ति की सिद्धि करोगे? तथा असद्भूतस्थापना में स्थापनाभाषा भी कैसे सत्य बनेगी?' - निराकरण इसलिए हो जाता है कि - 'असद्भूतस्थापना में भले गौतमीय अनुशासन शब्दशक्ति का समर्थन न करे, मगर निक्षेप अनुशासन तो सद्भूतस्थापना की तरह असद्भूतस्थापना में भी शब्दशक्ति की समानरूप से सिद्धि करता ही है। 'जत्थ वि न जाणिज्जा' इत्यादि पूर्वोक्त श्रीभद्रबाहुस्वामीजी का निक्षेप अनुशासन सर्व प्रकार की स्थापना में समानरूप से पदशक्ति का समर्थन करता है। अतः सद्भूतस्थापना और असद्भूतस्थापना में शब्दशक्ति समान होने से, उन दोनों में प्रवर्त्तमान स्थापनाभाषा सत्य ही है, असत्य नहीं।

* बाधक न होने पर स्थापना में भी शक्ति है *

असति. इति। यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि - जहाँ जिसकी स्थापना करनी हो वहाँ दोष आदि की उपस्थिति हो तब वहाँ स्थापना नहीं हो सकती है। जैसे कि प्रतिमा के मुँह-गला-नाक आदि खंडित हो गये हो तब उस प्रतिमा में जिनेश्वर की स्थापना नहीं हो सकती है। जिनेश्वरपद की शक्ति दूषित-खंडित आदि स्थापना में नहीं होती है। मगर जहाँ कोई बाधक नहीं है वहाँ जिनेश्वर की स्थापना हो सकती है। वहाँ जिनेश्वर पद की शक्ति रहती ही है - इसमें कोई विवाद नहीं है। आशय यह है कि खंडित मूर्ति आदि में लौकिकदृष्टि से स्थापना होने पर भी आनुशासनिक शक्ति वहाँ नहीं है, क्योंकि अनुशासनप्राप्त शक्ति का विरोधी=बाधक वहाँ विद्यमान है। जहाँ प्राणप्रतिष्ठा आदि नहीं होते हैं; सिर्फ मनुष्यादि का आकार ही होता है जैसे महात्मा गांधीजी की स्थापना=मूर्ति; वहाँ हस्तादि खंडित होने पर भी लौकिकदृष्टि से शक्ति मानने में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। इस विषय में विद्वान् लोग अधिक विचार कर सकते हैं।

अस्तु वा तत्र निरूढलक्षणा तथापि सङ्केतशब्देन तदाश्रयणान्न दोष इति दिग्।

स्यात् भ्रान्तत्वप्रसक्तेः। न हि पदशक्तिर्भाषकादेर्दोषादिप्रतिसन्धानाऽप्रतिसन्धानावलम्बिनी। अतः स्थापनायां पदशक्तिकल्पना न कार्या मानाभावात्। तदुक्तम् ***तन्त्रवार्तिके*** 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि। वालाग्रशतभागोऽपि न कल्प्यो निस्प्रमाणकः।। (त.वा. २-१-२-५) इत्येवं यदि परः स्थापनायां शक्तिकल्पनेऽस्वरसं दर्शयेत् तदा कल्पान्तरमाह-'**अस्तु** वेति। **तत्र** = स्थापनायां **निरूढलक्षणेति** अनादितात्पर्यविषयीभूताऽर्थनिष्ठा लक्षणा निरूढलक्षणा। 'दोषादिप्रतिसन्धानरूपबाधकेऽसत्येव यति-जिनादिपदं यति-जिनादिस्थापनापरं' इत्याकारकानादितात्पर्यस्य विषयीभूतयति-जिनादिस्थापनायां लक्षणा निरूढलक्षणेति हृदयम्। स्थापनायां निरूढलक्षणाप्रदर्शनार्थमेव शक्तिपदं विहाय सङ्केतपदस्य निवेशः कृतः। **तदाश्रयणात्** = निरूढलक्षणाऽऽश्रयणात्, **न दोषः** =नासंग्रहदोष इति।

इदं चात्र ध्येयं, स्थापनायां निरूढलक्षणाप्रदर्शनं त्वभ्युपगमवादमाश्रित्य कृतं न तु स्वमतेन। तदुक्तं प्रकरणकारेणाऽ***ष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे*** 'गोपदशक्यतावच्छेदकं निक्षेपचतुष्टयानुगतगोत्वमेकं तद्व्याप्यानि च भावगोत्वादीनि नानेति निष्कर्ष' (   ) इति। तथा च प्रकृते जिनपदशक्यतावच्छेदक-निक्षेपचतुष्टयानुगतजिनत्व-व्याप्यस्थापनाजिनत्वं सर्वेषु स्थापनात्मकेषु जिनेष्वेकमिति सिद्धमिति बहुतरमूहनीयमिति सूचनार्थ दिक्पदप्रयोगः कृतः।

❋ स्थापना में निरूढलक्षणा का भी संभव है ❋

अस्तु वा. इति । अब विवरणकार स्थापना के विषय में अन्य प्रकार का निरूपण करते हैं। यदि स्थापना में पद की शक्ति के स्वीकार में किसीको हिचकिचाहट हो तब आप स्थापना में निरूढलक्षणा भी मान सकते हैं। निरूढलक्षणा का अर्थ है - अनादितात्पर्यवती लक्षणा अर्थात् जिस शब्द का योगार्थ जहाँ बाधित हो फिर भी अनादिकाल से उस शब्द से उस अर्थ का बोध कराने का तात्पर्य = वक्ता का अभिप्राय हो तब उस अर्थ में उस शब्द की निरूढलक्षणा होती है। जैसे कि 'कुशं लाति इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशल शब्द की कुशछेदनरूप अर्थ में शक्ति है, फिर भी कुशल शब्द का निपुण=होशियार अर्थ के बोध कराने के तात्पर्य से, जो कि अनादिकालीन है, प्रयोग वक्ता करता है। अतः निपुणरूप अर्थ में कुशल-शब्द की निरूढलक्षणा हुई। ठीक वैसे ही जिनशब्द की 'रागादीन् जयति इति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भावजिनेश्वररूप अर्थ में=रागादिविजेता अर्थ में शक्ति होती है, फिर भी 'जिनेश्वर भगवंत की पूजा करो, पक्षाल करो' 'जिनेश्वर भगवंत की आंगी रचाओ' इत्यादि वाक्यप्रयोग में वक्ता जिनेश्वरशब्द का जिनेश्वर की स्थापना=प्रतिमारूप अर्थ के अभिप्राय से प्रयोग करता है - यह तो सुविदित ही है। लोगों का अभिप्राय अनादिकाल से जिनशब्द से जिनेश्वर की प्रतिमा=स्थापनारूप अर्थ में होता है। अतः स्थापना में शब्द की निरूढलक्षणा भी हो सकती है। इसी सबब प्रकरणकार ने २५वीं गाथा में 'अवगयभावत्थरहियसत्ती' ऐसा प्रयोग न कर के 'अवगयभावत्थरहियसंकेया' ऐसा प्रयोग किया है। संकेतशब्द शक्ति और लक्षणा दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः संकेतशब्द का निरूढलक्षणा अर्थ करने में कोई बाध नहीं है। अतः स्थापना में निरूढलक्षणा मानने में भी कोई दोष नहीं है।

शंका :- यदि स्थापना में पद की निरूढलक्षणा मानेंगे तब तो स्थापनासत्य भाषा में सम्मतसत्य भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति होने से स्थापनाभाषा भी सम्मतसत्य भाषास्वरूप ही बन जायेगी। आशय यह है कि - जैसे पंकज आदि शब्द, जो कि सम्मतसत्य भाषारूप है, शैवाल कीडे आदि अर्थ में पंकजनिकर्तृत्वरूप योगार्थ होने पर भी अरविंदरूप अर्थ में ही रूढी से प्रवृत्त होता है वैसे ही स्थापनासत्य भाषा भी अन्यत्र=भावजिन आदि में जिनादि शब्द का योगार्थ होने पर भी, स्थापनाजिनादि का हि रूढी से बोध कराती है। तब तो रूढीअर्थ का बोधकत्व सम्मतसत्यभाषा और स्थापनासत्यभाषा में समान होने से स्थापनासत्यभाषा भी सम्मतसत्य भाषास्वरूप ही बन जायेगी।

❋ सम्मतसत्य और स्थापनासत्य के लक्षणों में सांकर्य नहीं है ❋

समाधान :- आप बिना सोचे दूसरों के दोष ही देखते हैं। ठीक कहा है - चूहे का बच्चा बिल ही खोदेगा। लेकिन आपको यह

अथ सम्मतसत्यालक्षणाक्रान्तैवेयमिति **चेत्?** **न**, उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यात्।।२५।।

उक्ता स्थापनासत्या। अथ नामसत्यामाह-

[1]भावत्थविहूणच्चिय, णामाभिप्पायलद्धपसरा जा। सा होइ णामसच्चा, जह धणरहिओवि धणवंतो।।२६।।

स्थापनायां निरूढलक्षणास्वीकारे कश्चिच्छङ्कते-**अथेति**। **सम्मतसत्यालक्षणाक्रान्तैवेति** सम्मतसत्यैवेति। यथा सम्मतसत्याभाषाऽन्यत्रावयवार्थसत्त्वेऽपि रूढ्यर्थमेव बोधयति तथैव रागादीन् जयतीति व्युत्पत्त्या भावजिनेऽवयवार्थसत्त्वेऽपि स्थापनाजिनरूपरूढ्यर्थं स्थापनाभाषा बोधयतीति रूढ्यर्थे प्रवर्तनात् स्थापनासत्याभाषा सम्मतसत्यभाषैवेति अथशङ्काकारस्याऽऽशयः।

तन्निराकरोति **'ने'**ति। **उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यादिति**। अयं भावः यथा नरत्वसिंहत्वयोरेकस्मिन्नरसिंहे वृत्तित्वेन नरत्ववतः सिंहत्ववतश्चैक्येनोपधेयसाङ्कर्येऽपि नरत्वसिंहत्वरूपोपध्योरैक्याभावेन न साङ्कर्यम् **यद्वा** यथा दण्डादेर्द्रव्यत्वादिनाऽन्यथासिद्धत्वं दण्डत्वादिना च हेतुत्वमित्येकस्मिन्नेव दण्डादावन्यथासिद्धत्वानन्यथासिद्धत्वयोः वृत्तित्वेनाऽन्यथासिद्धत्ववतो हेतुत्ववतश्चैक्येनोपधेययोः साङ्कर्येऽप्यन्यथासिद्धत्व-हेतुत्वरूपोपाध्योर्व्यावर्त्तकधर्मयोर्न साङ्कर्यम् तथैवाऽत्र सम्मतसत्यात्वस्थापनासत्यात्वरूपोपाध्यालिङ्गितयोः सम्मतसत्या-स्थापनासत्यारूपोपधेययो रूढ्यर्थे वर्तमानत्वेन **साङ्कर्येऽपि** = रूढ्यर्थप्रतिपादकत्वापेक्षयैक्येऽपि **न** सम्मतसत्यत्व-स्थापनासत्यत्वरूपोपाध्योः प्रवृत्तिनिमित्तयोः **साङ्कर्यं** = ऐक्यम्, सम्मतसत्यत्वस्य योगार्थसंवलितस्थापनाभिन्नरूढ्यर्थपरत्वात्, स्थापनासत्यत्वस्य योगार्थविमुक्तस्थापनारूपरूढ्यर्थपरत्वात्। एतावतोपाध्योः सम्मतसत्यत्व-स्थापनासत्यत्वयोरसङ्कीर्णस्वरूपतोपपादिता भवति।

यत्र भेदप्रतीतिनिमित्तं नास्ति तत्रैवोपधेयगतसाङ्कर्यदोषो भवति। अत्र तूपधेयगतभेदप्रतीतिनिमित्तं भिन्नोपाधिद्वयं वर्तते। अतो न कोऽपि दोषावकाशः। **एतेन** सत्यभाषाविभाजकोपाधीनां परस्परसामानाधिकरण्यरूपाऽऽधिक्यदोषोऽपि **प्रत्युक्तो** भवतीति**दिक्**।।२५।।

मालुम नहीं है कि - सम्मतसत्यभाषा और स्थापनासत्यभाषा दोनों भले ही रूढ्यर्थ में प्रवर्तमान हो, मगर यह तो उपधेय का सांकर्य हुआ अर्थात् रूढि अर्थ में प्रर्वतकत्व होने की अपेक्षा सम्मतसत्यत्व और स्थापनासत्यत्वरूप उपाधियों से उपहित=युक्त ऐसी उपधेयभूत सम्मतसत्यभाषा और स्थापनासत्यभाषा में ऐक्य हुआ। मगर इतने से हि सम्मतसत्यत्व और स्थापनासत्यत्वरूप दो उपाधिओं में सांकर्य=ऐक्य नहीं हो सकता है। सम्मतसत्यभाषात्व और स्थापनासत्यभाषात्व-रूप दो उपाधि तो ठीक उसी तरह भिन्न=असंकिर्ण हैं जैसे कि दंड में रहा हुआ द्रव्यत्व और दंडत्व। आशय यह है कि सम्मतसत्य भाषा तो योगार्थ से संवलित और स्थापना से भिन्न रूढ अर्थ में प्रवृत्त होती है जब कि स्थापना तो योगार्थ से शून्य ऐसे स्थापनारूप रूढ अर्थ में प्रवृत्त होती है। स्पष्ट ही है कि सम्मतसत्यभाषात्व और स्थापनासत्यभाषात्व दो उपाधियाँ अपने भिन्न भिन्न लक्षण से ही असंकीर्ण हैं, चाहे दोनों रूढ अर्थ में प्रवृत्त भाषा में क्यों न रहती हो? इस तरह स्थापना में पद की निरूढलक्षणा मानने में भी कोई दोष नहीं है - यह सिद्ध हुआ।।२५।। अब ग्रंथकार, स्थापनासत्य भाषा का निरूपण समाप्त हो जाने से सत्यभाषा के चतुर्थ भेद नामसत्य भाषा को, जो कि उद्देश क्रम से प्राप्त है, बताते हैं।

गाथार्थ :- नाम के अभिप्राय से ही जो भाषा भावार्थरहित में ही प्रवृत्त होती है, वह भाषा नामसत्य भाषा है। जैसे कि धनरहित भी नाम से धनवान कहा जाता है।२६।

* नामसत्यभाषा - ४ *

विवरणार्थ :- नामसत्य भाषा वह होती है, जो नाम संकेतमात्र के बल से योगार्थ = भावार्थ = अवयवार्थ के अभाव का ज्ञान

---

१ भावार्थविहीन एव नामाभिप्रायलब्धप्रसरा या। सा भवति नामसत्या यथा धनरहितोऽपि धनवान्।।२६।।

भावार्थविहीन[1] **एव या** भाषा **नामाभिप्रायलब्धप्रसरा** "नामसङ्केतमात्रादेव योगार्थबाधमवगणय्य स्वप्रतिपाद्यं प्रतिपादयतीति यावत्", **सा भवति नामसत्या यथा धनरहितोऽपि** नाम्ना **धनवानिति**।

हन्त! यदीयं सत्या कथं तर्हि तत उपहास इति चेत्? मध्यस्थानां न कथञ्चित्, अन्येषां तु नवकम्बलोऽयमित्यादाविवाभिप्रायान्तरावलम्बनेन वाक्छलादिति गृहाण, विचित्रो हि महामोहशैलूषस्य नर्तनप्रकार इति।

भावार्थविहीन एवेति। एवकारेण भावार्थयुक्ते प्रवर्तमानाया भाषाया नामसत्यत्वव्यवच्छेदः कृतः। तदुक्तं ***विशेषावश्यकभाष्ये***-'पज्जायाऽणभिधेयं ठियमन्नत्थे तयत्थनिरवेक्खं। जाइच्छियं च नाम जावद्दव्वं च पाएण।' (वि. आ.) **स्वप्रतिपाद्यमिति**। स्वपदेन नामसत्यभाषा ग्राह्या। तस्याः प्रतिपाद्यं द्विविधं क्वचिद् योगार्थशून्यवस्तूपाधिकं नाम क्वचिन्नामोपाधिकं योगार्थशून्यं वस्तु। यदा योगार्थशून्यवस्तुविशेष्यकनामप्रकारकशाब्दबोधो जायेत तदा तत्र वस्तुनि नामोपाधिकैव शक्तिः तादृशसङ्केताऽभिव्यङ्ग्या। यदा च नामविशेष्यकभावार्थशून्यवस्तुप्रकारकशाब्दबोधो जायेत तदा नाम्न्येव शक्तिः स्वीकर्तव्या। प्रथमे नाम्नः शक्यतावच्छेदकत्वम् द्वितीये च विकल्पे नाम्नः शक्यत्वम्। तथा च भावार्थबाधप्रतिसन्धानदशायां नामसङ्केतमात्रबलात् शक्यत्व-शक्यतावच्छेदकत्वान्यतररूपेण नामविषयकशाब्दबोधजनकत्वं नामसत्यत्वमिति फलितम्। एवं च न स्थापनासत्यादावतिव्याप्तिरिति भावनीयम्।

जिनदासगणिमहत्तरकृतचूर्णौ तु 'नामसच्चं नाम जं जीवस्स अजीवस्स वा 'सच्चं' इति नाम कीरइ, जहा सच्चो नाम कोइ साहू एवमादि' इत्युक्तमिति **ध्येयम्**।

अन्येषां = अमध्यस्थानाम्। **तु**र्विशेषताप्रदर्शनार्थम्। **वाक्छलादिति**। तदुक्तं ***गौतमीयन्यायसूत्रे*** 'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्' (न्या.सू. १/२/११) ननु 'नवकम्बलोऽयमित्यत्र कथं वाक्छलं भवेत्? उच्यते नव इति चतुर्विधम् = नवः, नव, न वः, न व इति। **तदुक्तं उपायहृदये'** कश्चिदाह-'यो मया परिहितः स नवकम्बलः। अत्र दूषणं वदेत् - 'यद्भवता परिहितं तदेकमेव वस्त्रं कथं नवेति? अत्र प्रतिवदेत् - 'मया नव इत्युक्तं तथा च नवः कम्बलः न तु नवेति'। अत्र दूषयेत् 'कथं नवः? 'नवलोमनिर्मितत्वान्नव' इत्युक्ते प्रतिवादी वदेत्-

---

होने पर भी योगार्थ से शून्य में प्रवृत्त हो कर अपने विषय का बोध कराती हो। जैसे कि किसीका, जिसके पास फूटी कोडी भी नहीं है, नाम धनवान रखा गया हो तब धनवान शब्द से श्रोता को उस धनहीन मनुष्य का बोध होता ही है यदि श्रोता ने धनवान नाम का संकेत उस धनहीन व्यक्ति में गृहीत किया हो। धनवान शब्द से उस मनुष्य का ज्ञान होने के लिए-'उसके पास धन है' ऐसा ज्ञान आवश्यक नहीं है, आवश्यक है सिर्फ धनवान नाम के संकेत का धनहीन आदमी में ग्रहण=ज्ञान। यह बात सब लोगों को अनुभवसिद्ध ही है। इसलिए इसके विषय में ज्यादा चर्चा आवश्यक नहीं है।

शंका :- यदि धनहीन में धनवानशब्द सत्य ही है तब लोग उस दरिद्र का 'देखो, बडा धनवान आया!' ऐसा बोल कर मजाक क्यों उडाते हैं? लोग व्युत्पत्त्यर्थशून्य संकेतित अर्थ में उपहास करने की वृत्ति से उन उन शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतएव यह ज्ञात होता है कि नामभाषा सत्य नहीं है, मृषा है। यदि भाषा सत्य हो तो उपहास क्यों और उपहास हो तब उस भाषा में सत्यत्व कैसे?

*** मध्यस्थ पुरुषों के व्यवहार के बल से नामभाषा सत्य ***

समाधान :- ***मध्यस्थानां. इति***। लोग दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार है शिष्ट लोग यानी मध्यस्थ लोग और दूसरा प्रकार है अशिष्ट लोग यानी अमध्यस्थ लोग। शिष्टपुरुषों जिस भिखारी का नाम धनवान रखा गया है उसको मजाक की दृष्टि से 'धनवान' शब्द से नहीं पुकारते हैं, किन्तु मध्यस्थभाव से धनवान शब्द से बुलाते हैं। वस्तु के स्वरूप का निर्णय शिष्ट पुरुषों के व्यवहार से होता है। शिष्टपुरुषों की प्रवृत्ति से ही यह सिद्ध होता है कि नामभाषा सत्यभाषा है, मृषा नहीं। अशिष्ट पुरुषों की तो बात ही अलग है। वे तो जिस दरिद्र का नाम धनवान रखा गया है, उसके लिए धनवानशब्द का ठीक उसी अभिप्राय से प्रयोग

---

१ मुद्रितप्रतौ "विहीना एव" इति अशुद्धः पाठः।

यत्तु नाम यथार्थं तत्र न नामसत्यैव किन्तु परिणामसत्यत्वम्, एवम्भूताभिप्रायेण क्रियाविरहकाले त्वतथात्वमपीत्याद्यूह्यम्।।२६।।

'तत्त्वतोऽपरिमितानि लोमानि कथं नव लोमानि इत्युच्यते?

अत्राऽऽह- 'नव इति मया पूर्वमुक्तं न तु नवसंख्या'। अत्र दूषणम्- 'तद्वस्त्रं युष्माकमेवेति ज्ञातं कस्मादेतन्नवः कथ्यते'? अत्रोत्तरम् - 'मया नव इत्युक्तं किन्तु न व इति नोक्तम्'। अत्र दूषणम्- 'भवतः कायं कम्बलो वस्त इति प्रत्यक्षमेतत् कथमुच्यते न वः कम्बलः!' (उ.ह.पृ. १४-१६)।

आदाविवेति। आदिशब्दात् 'नवतन्त्रोऽयं भिषक्' इत्यादेर्ग्रहणम्। तदुक्तं ***चरकसंहितायां*** - 'यथा कश्चिद् ब्रूयात् 'नवतन्त्रोऽयं भिषक्' इति। भिषग् ब्रूयात् - 'नाऽहं नवतन्त्रः, एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयात् - 'नाहं ब्रवीमि नव तन्त्राणि तवेति अपि तु नवाऽभ्यस्तं हि ते तन्त्रमि'ति। भिषग् ब्रूयात् - न मया नवाभ्यस्तं तन्त्रं अनेकधा अभ्यस्तं मया तन्त्रमिति। एतद्वाक्छलम्।' (च.सं.पृ. २६६) मध्यस्थव्यवहारस्य प्रमाणत्वेन नामभाषा सत्यैवेति भावः। नाम च वैयाकरणैरपि पदार्थ इष्यते। 'घटमुच्चारयती'त्यादावर्थस्योच्चारणाऽसम्भवेन तैर्घटपदस्य घटपदार्थत्वमिष्यते 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।' (वा.प. १/११५) इत्यादिवचनात्। ***अत एव*** स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-सङ्ख्या-कारकरूपपञ्चप्रातिपदिकार्थतोऽपरं नाम षष्ठः प्रातिपदिकार्थः स्वीक्रियते **शाब्दिकैरिति दिग्**।

भावार्थविहीन एवेति पूर्वोक्तैवकारफलं प्रदर्शयति- **यत्त्विति। यथाथ**=अर्थमनुसृत्य प्रवृत्तम्, **तत्र** = यथार्थे नाम्नि। **न नामसत्यैवेति** नैव नामसत्यत्वमित्यर्थः कार्यः, योगार्थविरहाभावात्। **परिणामसत्यत्वमिति**। परिणामतः सत्यत्वं, परिणाममाश्रित्य सत्यत्वं, भावसत्यत्वमिति यावत्। यथावस्थितार्थे वर्तमानस्य नाम्नः पारमार्थिकभावविषयत्वेन सत्यभाषाऽष्टमभेदरूपभावसत्यत्वमेवेति भावः। इदं च **ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढनयमतेन** ज्ञातव्यम्। एवम्भूतनयमत-माह- **एवम्भूताभिप्रायेणेति**। एवं = व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापुरस्कारेण भूत इति एवम्भूतः, तदभिप्रायेणेति। **क्रियाविरह-काले** = नामव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाविरहकाले। अतथात्वम् = परिणामाऽसत्यत्वमेवाऽवस्तुनि वर्तमानत्वात् एवम्भूतन-

---

करते हैं जैसे कि वाक्छल में अन्य अभिप्राय से शब्दप्रयोग होता है। आशय यह है कि - वक्ता 'इसके पास नूतन कंबल है' इस अभिप्राय से 'नवकम्बलोऽयं' इस वाक्य का प्रयोग करता है। तब श्रोता वक्ता के अभिप्राय से अन्य अभिप्राय का उद्भावन कर के वक्ता के वचन को दूषित करता है कि - 'इसके पास नौ कंबल कहाँ है? सिर्फ एक ही कम्बल है।' इस को वाक्छल कहते हैं। 'नव' शब्द का संस्कृतभाषा में नूतन, नौ संख्या आदि अनेक अर्थ होते हैं। वक्ता नूतन=नवीन अर्थ में 'नव' शब्द का प्रयोग करता है तब 'नौ संख्या' रूप अर्थ का बाध बताने से वक्ता का वचन असत्य सिद्ध नहीं होता है। ठीक वैसे ही 'धनवान' नाम का किसीमें संकेत होने पर उस संकेतित व्यक्ति में उस संकेत का तात्पर्य अबाधित होने से वह भाषा=नामभाषा सत्य ही होती है, असत्य नहीं। सिर्फ छल करने से सत्य वचन कभी असत्य नहीं बनता है और असत्य वचन सत्य नहीं बनता है। सोने को मिट्टी में डालने पर भी वह सोना ही रहता है, मिट्टी नहीं बनता। मज़ाक उडाना, छल करना आदि सिर्फ मोहरूपी नट का नाच कराने का अनूठा प्रकार है, जिससे जीव भवभ्रमण करते रहते हैं।

✱ यथार्थ नाम परिणामसत्य है ✱

यत्तु. इति। यहाँ एक बात ज्ञातव्य है कि - जब नाम यथार्थ होता है तब वह नाम नामसत्य नहीं होता है, किन्तु परिणामसत्य होता है। आशय यह है कि - जब किसी धनिक का ही नाम धनवान रखा जाय तब वह धनिक 'यथा नाम तथा गुण' होने से वह नाम सार्थक होता है। अतएव वह नाम नामसत्य नहीं है, क्योंकि धनिक में धनवानशब्द के योगार्थ धनिकपना का बाध नहीं है। अतएव परिणामतः सत्य है। हाँ जब एवंभूतनय की दृष्टि से विचार किया जाय तब वस्तु में शब्द की व्युत्पत्तिनिमित्तभूत क्रिया विद्यमान होने पर ही शब्द परिणामसत्य होता है। जब वस्तु में शब्द की व्युत्पत्तिनिमित्तभूत क्रिया नहीं होती है उस काल में वह शब्द परिणामसत्य नहीं कहलाता है, क्योंकि एवंभूतनय की दृष्टि से क्रिया के अभाव काल में विवक्षितपदवाच्यरूप से वह वस्तु ही नहीं होती है। अतः क्रियाविरह काल में अवस्तु में प्रवर्तमान होने पर वह भाषा परिणामसत्य नहीं होती है। इस तरह इस विषय

उक्ता नामसत्या। अथ रूपसत्यामाह-

[1]एमेव रूवसच्चा णवरं णामंमि रूवअभिलावो। ठवणा पुण ण पवट्टइ, तज्जातीए सदोसे अ।।२७।।

एवमेव = नामसत्यावदेव, **रूपसत्या** ज्ञेया, नवरं = केवलं, **नाम्नि** = नामस्थले **रूपाभिलापः** = रूपशब्दप्रयोगः कर्तव्यः। तथा च भावार्थबाधप्रतिसन्धानसध्रीचीनतद्रूपवद्गृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वं तल्लक्षणम्। अस्ति च प्रकटप्रतिषेविणि 'अयं यति'रिति

यमतेन शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतक्रियाविरहितस्याऽवस्तुत्वं, शब्दार्थविरहात्। '**अपि**' शब्दात् क्रियाविशिष्टे वस्तुनि वर्तमानस्य नाम्न एवंभूताभिप्रायेण सत्यत्वमेव न त्वसत्यत्वमिति दर्शितम्।

यत्तु नाम अर्थमननुसृत्य प्रवृत्तं सत् पश्चाद् यथावस्थितार्थप्रतिपादकं जातं तत्र व्यवहारनयेन नामसत्यत्वमेव न तु परिणामसत्यत्वम्; अर्थमनुसृत्य प्रवृत्तस्य नाम्नो वाच्यस्य पश्चाद् भावार्थवियुक्तत्वे सत्यपि तन्नाम्नि व्यवहारतो नामसत्यत्वं न किन्तु परिणामसत्यत्वमित्यादिसूचनार्थ**मूह्यमि**त्युक्तम्।।२६।।

भावार्थेत्यादि। योगार्थाभावज्ञानसहकृतः तद्रूपवति=योगार्थवद्रूपवति=द्रव्यलिङ्गिन्यादौ गृहीत उपचारो यस्य पदस्य तेन पदेन घटिता भाषा, तस्या भावः तत्त्वं **तल्लक्षण**=रूपसत्यालक्षणम्। उपचारहेतुश्चाऽत्र तद्रूपयोगः। तदुक्तं ***गौतमीयन्यायसूत्रे*** 'सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गंगा-शाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः' (न्या.सू. २/२/६४) इति। **प्रकटप्रतिषेविणीति** प्रवचनोपघातनिरपेक्षमेव मैथुनजलानलादिसेविणि लिङ्गिनीत्यर्थः।

यद्यपि निह्नवेषु रजोहरणादिरूपलिङ्गसत्त्वेऽपि भावयतित्वविरहेण लिङ्गस्य श्रामण्याऽव्याप्यत्वान्न ततो यतित्वानुमानं सम्भवति किन्तु श्रामण्यव्याप्यसदालय-विहारादिलिङ्गज्ञानेन तु यतित्वविधेयकानुमितिः सम्भवति। **तदुक्तं**

में सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने की विवरणकार सूचना देते हैं।।२६।।

नामसत्याभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार उद्देशक्रमानुसार व्यवहारनयाभिमत द्रव्यविषयक सत्य द्रव्यभावभाषा के पाँचवें भेद रूपसत्यभाषा का २७वीं कारिका से निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- नामसत्य की तरह रूपसत्य भाषा को जाननी चाहिए। सिर्फ नाम के स्थान में रूपशब्द का अभिलाप=प्रयोग करना होगा। रूपसत्य भाषा के विषय में, जो कि तज्जातीय और दुष्ट है, स्थापनासत्य भाषा प्रवृत्त नहीं होती है।२७।

❋ रूपसत्य भाषा - ५ ❋

विवरणार्थ :- नामसत्य भाषा और रूपसत्य भाषा के लक्षण में विशेषभेद नहीं है। सिर्फ नामशब्द के स्थान में रूपशब्द का प्रयोग होता है तब नामसत्य भाषा का लक्षण ही रूपसत्य भाषा का लक्षण हो जाता है। इस कथन से रूपसत्यभाषा का लक्षण क्या प्राप्त होता है? इसका समाधान स्वयं विवरणकार ही दे रहे हैं कि - जिस अर्थ में जिस शब्द के योगार्थ के अभाव का ज्ञान होने पर, उसमें भावार्थ से युक्त वस्तु के सदृश रूप=लिंग=चिह्न देख कर उपचार से उस भावार्थशून्य वस्तु में उस शब्द से घटित जिस भाषा की प्रवृत्ति होती है, वह भाषा रूपसत्य भाषा कहलाती है। यह द्रष्टांत से स्पष्ट हो जायेगा। जैसे कि प्रकट ही शासनहीलना से निरपेक्ष हो कर जो साधुवेशधारी अनाचार का सेवन करता है, उसमें यतिशब्द का प्रयोग - 'यह यति है' - इस तरह होता है वह रूपसत्यभाषा है। आशय यह है कि यतिशब्द का भावार्थ है इन्द्रियों का नियमन-दमन करनेवाला। प्रत्यक्ष में ही अनाचारसेवी साधुवेशधारी में यतिशब्द का योगार्थ नहीं है - यह ज्ञान होने पर साधुवेश के योग से उसमें यतिशब्द का उपचार कर के 'यह साधु है' ऐसा बोलना वह रूपसत्य भाषा है। जैसे नामसत्य भाषा सिर्फ नाम की अपेक्षा से ही सत्य है, वैसे रूपसत्य भाषा भी सिर्फ रूप=वेश की अपेक्षा से ही व्यवहारनय की दृष्टि से सत्य है। व्यवहारनय लोकव्यवहार पर अवलंबित होता है। अतः उसकी दृष्टि से यतिगुणशून्य वेशधारि में 'यह साधु है' इत्यादि भाषा रूपसत्य भाषा है।

---

१ एवमेव रूपसत्या नवरं नाम्नि रूपाभिलापः। स्थापना पुनर्न प्रवर्तते तज्जातीये सदोषे च।।२७।।

यतिशब्दस्य तद्रूपवत्युपचारः। श्रामण्यव्याप्यसदालयविहारादिप्रतिसन्धानबलान्मुख्यार्थाऽबाधदशायां तादृशे तत्पदप्रयोगे तु परमार्थतोऽसत्यभाषाप्रवृत्तावप्यसङ्क्लेशपरिणामेन न कर्मबन्धः, प्रत्युत विधिविशुद्धपरिणामान्महानिर्जरैवेति ध्येयम्।

नन्वत्र स्थापनासत्यमेवास्तु भावयतित्वबाधे स्थापनायतित्वाश्रयणस्यैव युक्तत्वादित्यत आह-**स्थापना पुनर्न प्रवर्तते तज्जातीये**

आवश्यकनिर्युक्तौ' आलएणं विहारेणं ठाणा चंकमणेण य। सक्को सुविहिओ नाउं भासावेणइयेण यत्ति।। (आ.नि. ११४८) **तथापि** मातृस्थानादितो द्रव्यलिङ्गिनि स्त्री-पशु-पण्डकवर्जितसुप्रमार्जितादिलक्षणसदालयादिसत्त्वे तत्र यति-पदप्रयोगः सत्यो न वा? कर्मबन्धकारको न वेत्याशङ्कां निराकर्तुमाह' **श्रामण्ये**'ति। **मुख्यार्थाऽबाधदशायां** = मूलगुणादिप्रतिसेवाविरहकाले, **तादृशे** = द्रव्यलिङ्गिनि, **तत्पदप्रयोगे** = यतिपदप्रयोगे। अत्र हेतुः 'श्रामण्यव्याप्य-सदालयविहारादिप्रतिसन्धानबलादित्युक्त एव। **परमार्थतः** = निश्चयनयमाश्रित्य। **असत्यभाषाप्रवृत्तावपि** = मृषाभाषणेऽपि। **विधिविशुद्धपरिणामादिति** विपर्ययनिरासानुकूलशास्त्रोक्तसदालयविहारादिप्रतिसन्धानरूपयतनापरिणामादि-त्यर्थः। अयं भावः विशेषादर्शनदशायां यद्वा पुनः पुनर्दर्शनादिना परीक्षायां क्रियमाणायां सत्यामपि विपर्यये सुप्रयुक्त-दम्भापरिज्ञानेन सदालयविहारादिमत्त्वेन यतित्वमनुमाय द्रव्यलिङ्गिनि यतिपदप्रयोगो महानिर्जराहेतुः अशठभावात्।

'प्रकटप्रतिषेविणि यतिपदभावार्थबाधप्रतिसन्धानात् तदाकारवत्त्वाच्च स्थापनायतित्वसम्भवेन तत्र यतिपदस्य स्थापनासत्यत्वमेव, स्थापनासत्यालक्षणायातं परिहृत्य रूपसत्यत्वं वक्तुं न युज्यते, क्लृप्तस्य कल्प्याद्बलाधिकत्वात्' इत्याशयेन पूर्वपक्षयति **नन्विति**। उत्तरपक्षयति **स्थापनेति**। अयमाशयः प्रतिमायामर्हद्बुद्धिः स्थापना-भावनिक्षेपा-

---

✱ सदालयादि लिंग से द्रव्यलिंगी में यतिशब्दप्रयोग निर्जराजनक है ✱

श्रामण्य. इति। यहाँ यह ख्याल रखना आवश्यक है कि साधुपना तो आत्मपरिणामरूप होने से हमें उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है फिर भी सदालय-विहार आदि लिंग से साधुत्व का अनुमान हो सकता है। सदालय का अर्थ है स्त्री-पशु-नपुंसक आदि से रहित वसति=स्थान। मासकल्पादि विहार आदि जिनोक्त लिंग = चिह्न से साधुत्व का अनुमान हो सकता है, क्योंकि जो भाव से साधु नहीं होता है उसमें स्त्री आदि से रहित स्थान में रहना, मासकल्प आदि शास्त्रोक्त विधि से विहार करना आदि लिंग नहीं पाये जाते हैं। अतः श्रामण्य = भावसाधुता के अविनाभावी सदालय-विहार आदि चिह्न से उस व्यक्ति में साधुत्व की अनुमिति कर के 'यह साधु है' इत्यादि निर्दोष=सत्य वचनप्रयोग हो सकता है। मगर माया-कीर्तिकामना आदि से जब द्रव्यलिंगी = भावसाधुताशून्य साधुवेशधारी सदालय विहारादि में उद्यमशील रहता है तब सावद्य क्रिया आदि के अभावकाल में उसमें महाव्रत आदि की खंडितता आदि का ज्ञान न होने से सदालय आदि लिंग के ज्ञान से उस वेशधारी में 'यह साधु है' ऐसा प्रयोग किया जाय तब वह वचन परमार्थ से तो मृषा है फिर भी वक्ता को तादृश मृषावचन प्रयोग निमित्तक कोई कर्मबंध नहीं होता है, क्योंकि कर्मबंध के निमित्तभूत संक्लिष्ट परिणाम का उसमें अभाव है। बाह्य विशुद्ध आचार आदि को देख कर वेशधारी में कोई वक्ता साधुशब्द का प्रयोग करे तब उस वक्ता को संक्लिष्ट परिणाम होने का अवकाश ही कहाँ है? हाँ, यह संक्लिष्ट अध्यवसाय तब हो सकता है, जब वक्ता को यह ज्ञात हो कि - शासन हिलना से निरपेक्ष हो कर यह अनाचार का सेवन करता है फिर भी वह 'यह साधु है' ऐसा वाक्यप्रयोग करे। मगर प्रस्तुत में ऐसा नहीं है, क्योंकि वक्ता को 'यह वास्तव में साधु नहीं है' - ऐसा ज्ञान नहीं है। इतना ही नहीं उस वक्ता को द्रव्यलिंगी में शास्त्रकथित सदालय-विहार आदि साधुआचार का, जो कि साधुता के बिना कहीं पर भी नहीं रहते हैं, ज्ञान होने से विशुद्धपरिणाम से साधुपद का प्रयोग करने से वक्ता को तो महाकर्मनिर्जरा ही होती है, अल्प भी कर्मबन्ध नहीं होता है। भावसाधुत्व के ज्ञापक सम्यक् आचार के अन्वेषण में तत्परतारूप विशुद्ध परिणाम होने पर तो निर्जरा होना ही संगत है, क्योंकि कर्म का बंध या निर्जरा प्रधानतया अध्यवसाय पर अवलंबित है।

पूर्वपक्ष :- ***'ननु' इति***। रूपसत्य भाषा को स्थापनासत्य भाषा कहना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि जैसे प्रतिमा में भावजिनत्व का बाध होने पर भावजिनतुल्य आकार होने से प्रतिमा में भावजिनेश्वर की स्थापना मान्य होती है। अतएव प्रतिमा में जिनेश्वर आदि शब्द स्थापनासत्य भाषास्वरूप है। वैसे ही द्रव्यलिंगी = सिर्फ साधुवेशधारी में भावसाधुत्व का बाध होने से भावसाधुतुल्य आकार=रजोहरण आदि वेश के बल से भावयति की स्थापना अर्थात् स्थापनायति मानना ही संगत है।

सदोषे च। स्थापना हि तज्जातीयभिन्ने दोषरहिते च प्रवर्त्तते न त्वन्यत्र, तत्र तथाविधाभिप्रायाभावात्। तदिदमुक्तं-'उभयमवि अत्थि लिंगे ण य पडिमासूभयं अत्थित्ति। (आ.नि. ११३५) यथा चैतत्तत्त्वं तथा **प्रपञ्चितमध्यात्ममतपरीक्षायाम्**।

भेदाध्यवसायपर्यवसायिनो प्रतिष्ठादिरूपां योग्यतामपेक्षते। सा च योग्यता तज्जातीये=भावार्हत्सजातीये भावार्हदन्तरे नास्ति प्रयोजनविरहात् नाऽपि **सदोषे** तादृशी योग्यताऽस्ति, विपर्यासरूपत्वात्। ततः तत्सजातीय-सदोषविषयक-यतिशब्दे अन्यत्र क्लृप्तस्थापनासत्यत्वं घटां नाञ्चतीति तत्र रूपसत्यत्वमेव युज्यते। न च गौरवं, प्रामाणिकत्वात्। **एतेनाऽऽधिक्यदोषोऽपि प्रत्युक्तः** सत्यभाषाविभाज्यतावच्छेदकानां परस्परसामानाधिकरण्यविरहात्।

तत्र = सदोषे **तथाविधाभिप्रायाऽभावादिति**। प्रवचनहीलनासावद्यक्रियादिरूपदोषप्रतिसन्धानदशायां भावनिक्षेप-रूपयोग्याऽभेदाध्यारोपाविषयत्वेन स्थापनास्थाप्याऽभेदाध्यवसायफलकाभिप्रायविरहान्न स्थापनाप्रवृत्तिरिति भावः। अत्र ***भद्रबाहुस्वामि***वचनसंवादमाह-**उभयमवित्ति**। सावद्यकर्म निरवद्यकर्म चेत्यर्थः। **लिंगेत्ति**। तद्वति तदुपचारात् लिङ्गिनीत्यर्थः। **ण य पडिमासूभयं अत्थित्ति**। प्रतिमायां निरवद्यकर्मादिरूपगुणाभावेन तज्जातीयत्वाभावः सावद्य-कर्माभावेन च सदोषत्वाभावः प्रदर्शितः। अत्र च प्रयोगा एवम् - प्रतिमायां जिनादिपदं स्थापनासत्यं सावद्यकर्मशून्य-प्रतिष्ठादिगुणान्वितवस्तुविषयकत्वात्। प्रकटप्रतिषेविणि यतिपदं न स्थापनासत्यं यतिजातीयसावद्यकर्मयुक्तवस्तु-विषयकत्वात्। **प्रपञ्चितमिति**। 'सिद्धि णिच्छयओ च्चिय' इत्यादिगाथया ***अध्यात्ममतपरीक्षायां*** विवेचितम्। सुस्पष्टं चैतत्तत्त्वं ***गुरुतत्त्वविनिश्चये*** 'ण य ठवणा वि पवट्टइ तज्जातीए तहा सदोसे य' (गु.वि. ३/१८२) इत्यस्य वृत्तौ प्रकृतप्रकरणकारेणोपपादितं ततोऽवगन्तव्यम्।

अतएव पासत्था आदि द्रव्यसाधु में साधु आदि शब्द स्थापनासत्य भाषा स्वरूप ही है, न की रूपसत्य भाषा स्वरूप। अतः स्थापनासत्य भाषा से अतिरिक्त रूपसत्य भाषा की कल्पना अप्रामाणिक है।

✻ स्थापनासत्य भाषा से रूपसत्य भाषा भिन्न है ✻

उत्तरपक्ष :- ***स्थापना. इति***। ओ! मिस्टर! तुम्हारी जबान पर लगाम नहीं है। जरा सोचो तो सही, रूपसत्य और स्थापनासत्य में आकाश-पाताल का अंतर है। रूपसत्य भाषा का विषय है तज्जातीय और सदोष वस्तु जब कि स्थापनासत्य भाषा का विषय है तज्जातीयभिन्न और निर्दोष वस्तु। स्थापना कभी भी तज्जातीय और सदोष विषय में प्रवृत्त नहीं होती है। आशय यह है कि भावनिक्षेप से विजातीय और निर्दोष वस्तु में ही स्थापना होती है। जो वस्तु भावनिक्षेपसजातीय होती है वहाँ तो स्थापना होती ही नहीं है, क्योंकि वहाँ स्थापना का कोई प्रयोजन ही नहीं है। जहाँ पर वस्तु स्वयं ही भावनिक्षेप सजातीय हो वहाँ भावनिक्षेप की स्थापना का क्या प्रयोजन है? लोग अपने पिताजी की तस्वीर में पिताजी की स्थापना करते हैं। अपने जीवंत पिता में कोई अपने पिताजी की स्थापना करता हुआ कहीं पर भी देखा या सूना नहीं है। वैसे स्थापना सदोष वस्तु में प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि सदोष वस्तु में दोषज्ञान से भावनिक्षेप का अध्यारोप न होने से भावनिक्षेप के अभेद = तादात्म्य के अध्यवसाय का जनक अभिप्राय कथमपि संभव नहीं है। सजातीय-सदोष विषय में स्थापना ही असंभव है तब सजातीय-सदोष विषय में प्रवृत्त भाषा स्थापनासत्य भी कैसे हो सकती है? अतः मानना होगा कि सजातीय-सदोष विषय में जो भाषा प्रवृत्त होती है वह स्थापनासत्य भाषा से अतिरिक्त रूपसत्य भाषा ही है।

शंका :- स्थापना भावनिक्षेपसजातीय और सदोष वस्तु में नहीं होती है - ऐसा कहना कैसे संभव है? हम तो कहते हैं कि - विजातीय और निर्दोष वस्तु की तरह सजातीय और सदोष वस्तु में भी स्थापना प्रवृत्त हो सकती है - तब आपके पास इसका क्या जवाब है?

✻ विजातीय और निर्दोष चीज में ही स्थापना होती है ✻

समाधान :- ***तदिदमुक्तम्. इति***। हम जो कहते हैं उसे तुम पत्थर की लकीर समझो, क्योंकि हम शास्त्रपाठ के बिना किसी बात का निर्णय या प्ररूपण अपने मन की कल्पना से नहीं करते हैं। सजातीय और सदोष विषय में स्थापना प्रवृत्त नहीं होती है

१ उभयमप्यस्ति लिङ्गे नच प्रतिमासूभयमस्ति।। २ अस्याः पूर्वार्द्धं एवं - जइ वि अ पडिमाउ जहा मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंग।।

एवञ्च 'अतद्द्रव्ये तदाकारः स्थापना' 'कूटद्रव्यं च रूपमि'ति प्रतिविशेषो ज्ञेयः।।२७।। उक्ता रूपसत्या।। अथ प्रतीत्यसत्यामाह-

[1]अविरोहेण विलक्खणपडुच्चभावाण दंसिणी[2] भासा। भन्नइ पडुच्चसच्चा, जह एगं अणु महंतं च।।२८।।

अविरोधेन = निमित्तभेदोपदर्शनाद्विरोधपरिहारेण, **विलक्षणानां** = निमित्तभेदमन्तरेणैकप्रतिसन्धानाऽगोचराणां, **प्रतीत्यभावानां** =

अतद्द्रव्ये तदाकार इति। भावार्थविशिष्टभिन्नद्रव्ये भावार्थविशिष्टतुल्याकारः स्थापनेति भावः। एतच्च सद्भूतस्थापनाऽपेक्षयैव द्रष्टव्यम्। **कूटद्रव्यमिति** अशुद्धद्रव्यं, दुष्टद्रव्यमिति यावत्। एवं च प्रतिमायां 'जिन' इत्यादिवचनं प्रतिष्ठादियोग्यताबलात् भावजिनविषयतया स्थापनास्थाप्याभेदविषयतया वा पर्यवस्यत् स्थापनासत्यं, द्रव्यलिङ्गिनि यतिरित्यादिवचनं भावयतित्वबाधेनाऽपकृष्टसाधुविषयतयाऽसाधुविषयतया वा पर्यवस्यद् रूपसत्यमिति फलितमिति दिक्।।२७।।

निमित्तभेदोपदर्शनात्=विलक्षणप्रतीत्यभावीयप्रतियोग्यादिरूपविलक्षणनिमित्तप्रदर्शनात्। **विरोधपरिहारेणेति** सहानवस्थानादिविरोधापहारेणेत्यर्थः। तादृशभावानां विरोधविघटकतया प्रमाजनकत्वात्प्रतीत्यसत्यत्वं ज्ञेयम्।

- इस विषय में श्रीभद्रबाहुस्वामीजी का वचन साक्षी है। देखिये, यकिन हो जायेगा। उन्होंने श्रीआवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि - "लिंग में यानी लिंगी में तो दोनों सावद्य कर्म और निरवद्य कर्म रहते हैं जब कि प्रतिमा में तो दोनों यानी सावद्य क्रिया और निरवद्य क्रिया नहीं हैं"। चरम श्रुतकेवली के वचन से यह साफ साफ सिद्ध हो जाता है कि सजातीय में स्थापना प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि स्थापना के विषयभूत जिन प्रतिमा में तीर्थकर्तृत्वादि की अपेक्षा भावजिन के साजात्य के अभाव का प्रतिपादन किया गया है। वैसे ही स्थापना सदोष विषय में प्रवृत्त नहीं होती है, क्योंकि स्थापना के विषयभूत प्रतिमा में निरवद्य क्रिया के अभाव का भी प्रतिपादन किया गया है। इस विषय की विस्तार से चर्चा स्वयं प्रकरणकार ने ही अध्यात्ममतपरीक्षा नाम के ग्रंथ में की है। जिज्ञासु को स्वरचित अध्यात्ममतपरीक्षा ग्रंथ को देखने की विवरणकार सूचना देते हैं। देखिये, उस ग्रंथ की ५८वीं गाथा की व्याख्या।

✱ स्थापना और रूप भिन्न भिन्न है ✱

एवं इति। उपर्युक्त कथन के निष्कर्ष रूप में विवरणकार स्थापना और रूप के वैजात्य को बताते हुए कहते हैं कि - 'अतद्द्रव्य में तदाकार स्थापना है और कूटद्रव्य रूप है।' आशय यह प्रतीत होता है कि तद्द्रव्य का अर्थ है भावनिक्षेप। अतद्द्रव्य का अर्थ है भावनिक्षेप से भिन्नद्रव्य। तदाकार का अर्थ है भावनिक्षेपसदृश आकार। अतः स्थापना का अर्थ होगा भावनिक्षेप से भिन्नद्रव्य में भावनिक्षेपतुल्य जो आकार है वह स्थापना है। यह अर्थ स्थापना अरिहंत आदि स्थल में ठीक तरह संगत होता है, क्योंकि जिनप्रतिमा भावअरिहंत से भिन्न है और भावअरिहंत के तुल्य आकारवाली होती है। कूटद्रव्य का अर्थ है नकली द्रव्य। जैसे कि खोटा रूपैया। नकली सोनैये में छाप होने से वह खोटा सिक्का कहा जाता है। वही यहाँ रूपशब्द से अभिप्रेत है। इसी तरह भावयतित्व से शून्य साधुवेशधारी भी नकली साधु है। उसमें साधुता न होने पर भी साधुवेश होने से वह नकली साधु कहा जाता है। वही यहाँ रूपशब्द से अभिप्रेत है। इस तरह स्थापना ओर रूप भिन्न होने से स्थापनासत्य भाषा से रूपसत्यभाषा भी भिन्न सिद्ध होती है।।२७।।

इस तरह लक्षण-दृष्टांत आदि से रूपसत्य भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब ग्रंथकार श्रीमद् क्रमप्राप्त प्रतीत्यसत्य भाषा को, जो कि व्यवहारनय अभिमत सत्यभाषा का छट्ठाँ भेद है, २८वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- विलक्षण प्रतीत्यभावों को बिना विरोध के बतानेवाली भाषा प्रतीत्यसत्य भाषा कही जाती है। जैसे कि एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से अणु और महान कहनेवाली भाषा।२८।

✱ प्रतीत्यसत्य भाषा - ६ ✱

विवरणार्थ :- भिन्न भिन्न निमित्तों के बिना जो एक ज्ञान का विषय ही न बने ऐसे भावों को विलक्षण भाव कहते हैं तथा जो पदार्थ सापेक्ष होते हैं वे प्रतीत्यभाव कहे जाते हैं। भिन्न भिन्न सम्यक् निमित्तों को बताकर विरोध का परिहार कर के जो भाषा

१ अविरोधेन विलक्षणप्रतीत्यभावानां दर्शिनी भाषा। भण्यते प्रतीत्यसत्या यथैकमणु महच्च।।२८।। २ कप्रतौ च "देसिणी" इति पाठः।

सप्रतियोगिकपदार्थानां **दर्शिनी भाषा यथा एकं फलादि फलान्तरापेक्षयाऽणु महच्चेति**। एवमनामिका कनिष्ठापेक्षया दीर्घा

एतेन तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभाव-तदभावव्याप्यवत्ताबुद्धेः प्रतिबन्धकत्वमिति नैयायिकनियमः **प्रत्युक्तः** तद्वत्ताबुद्धित्व-स्याऽतिरिक्तवृत्तितया प्रतिबध्यतानवच्छेदकत्वात् तदभाववत्ताबुद्धौ सत्यामपि सप्रतियोगिकतद्वत्ताबुद्धेरुत्पादेन व्यभिचाराच्च। **न च** यदवच्छेदेन तदभावतदभावव्याप्यवत्ताबुद्धिस्तदवच्छेदेन तद्वत्ताबुद्धेः प्रतिबध्यत्वाभ्युपगमान्न दोष इति **वाच्यम्** सप्रतियोगिकव्याप्यवृत्तिसत्त्वाऽसत्त्वादिधर्मस्थले व्यभिचारात्। अतो निष्प्रतियोगिकतद्वत्ताबुद्धित्वस्यैव प्रतिबध्यतावच्छेदकत्वाभ्युपगमस्य न्याय्यत्वात्। **न च** गौरवं, प्रमाणप्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिपराहतत्वेन फलमुखगौरवस्याऽदोषत्वात्, प्रमाणवतः तस्य न्याय्यत्वादिति **दिक्**।

एकप्रतिसन्धानाऽगोचराणामिति एकनिराकाङ्क्षज्ञानाविषयाणामिति। तेनैकसाकाङ्क्षज्ञानविषयत्वेऽपि न क्षतिः। **सप्रतियोगिकपदार्थानामिति** सापेक्षपदार्थानामित्यर्थः। **भाषेति** अस्यानन्तरं भण्यते प्रतीत्यभाषेति गम्यम्। ***श्रीमलयगिरिचरणैस्तु*** 'प्रतीत्य=आश्रित्य वस्त्वन्तरं सत्या प्रतीत्यसत्या' (प्र.भा.प.सू. १६५ मलयवृत्तौ) इति व्याख्यातम्। **चूर्णौ** तु- समयपतिट्ठितरूवं परापेक्खं जधा अणामिगाए काणंगुलिं मज्झिमंगुलिं च प्रति दिग्घता ह्रस्सता य एवमादि पडुच्चसच्चं' (द.वै.अ. ७. नि. श्लो. १७५ अग. चू.) इत्युक्तम्। अतोऽपेक्षात्मकशाब्दबोधजनकशब्दत्वमस्या लक्षणमित्युन्नीयते।

फलादि=आम्रफलादि, **फलान्तरापेक्षयाऽणु**=बीजपूरकादिफलान्तरापेक्षयाऽणु, **महच्च** आमलकादिफलान्तरापेक्षयेति भावः। **'इत्यादि'** इति। आदिपदात् - भाषायां पदाऽपेक्षयाऽनन्विताभिधानं, वाक्यापेक्षयाऽन्विताभिधानं, सङ्ग्रहनयापेक्षया केवलज्ञानदर्शनयोरनन्यत्वं व्यवहारापेक्षया चान्यत्वं, व्यवहारतो यत्र मिश्रत्वं तत्रैव निश्चयतोऽसत्यत्वं, कलत्रपदवाच्ये वेदोदयापेक्षया स्त्रीत्वं शाब्दव्यवहारापेक्षया च नपुंसकत्वं, जिनपूजायां स्वरूपतो हिंसात्वमनुबन्धतश्चाऽहिंसात्वं, द्रव्यार्थादेशेन घटादेरभिव्यक्तिः पर्यायार्थादेशेन चोत्पत्तिः, पार्श्वस्थादावुत्सर्गतोऽवंद्यत्वमपवादतश्च वंद्यत्वं, गुरुपदवाच्ये धर्म्यपेक्षयैकत्वं ज्ञानादिधर्मविवक्षायां बहुत्वं, भ्रमे धर्म्यंशे प्रमात्वं धर्मांशे चाऽप्रमात्वं, दण्डादौ द्रव्यत्वेनाऽन्यथासिद्धत्वं दण्डत्वादिना चाऽनन्यथासिद्धत्वमित्याद्युदाहरणानां ग्रहणम्। सुनय-निक्षेप-सप्तभङ्ग्यादिवचनानां व्यवहारनयमतेन प्रतीत्यसत्यत्वबोधनार्थं **'ऊह्यमि'**तिपदप्रयोगः। यथा चैतत्तत्त्वं तथा वक्ष्याम्यग्रे मा त्वरिष्ठाः।

विलक्षण प्रतीत्यभावों को बताती है वह भाषा प्रतीत्यसत्य भाषा कही जाती है। यह बात द्रष्टांत से स्पष्ट हो जायेगी। देखिये, **फलादि कोई चीज एक वस्तु की अपेक्षा छोटी होती है और अन्य वस्तु की अपेक्षा बडी होती है।** जैसे की आम्रफल की अपेक्षा आँवला छोटा है फिर भी वह बेर-घुँघची आदि फल की अपेक्षा तो बडा ही होता है। यदि सिर्फ इतना ही कहा जाय कि - "आँवला छोटा और बडा है" तब इस वाक्य से किसी श्रोता को निराकांक्ष शाब्दबोध होगा ही नहीं, क्योंकि छोटापन और बडापन परस्पर विरोधी धर्म हैं, जो निमित्तविशेष के प्रदर्शन के बिना एक धर्मिविशेष्यक एक ज्ञान के विषय नहीं होते हैं। छोटापन और बडापन रूप विलक्षण प्रतीत्यभाव के निमित्तान्तर का प्रदर्शन किये बिना एक ही विषय=वस्तु में निराकांक्ष ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है। मगर जब वक्ता उक्त विलक्षण प्रतीत्यभावों के निमित्त=अपेक्षा का प्रदर्शन कराता है कि 'आँवला आम्रफल की अपेक्षा से छोटा है और बेर-घुँघची आदि फल की अपेक्षा से बडा है' तब आँवले में छोटापन और बडापन का विरोध दूर हो जाता है। तुरंत ही श्रोता को आँवले में भिन्न निमित्त सापेक्ष छोटापन और बडापन का निराकांक्ष शाब्दबोध हो जाता है। अतः निमित्तभेद का प्रदर्शन कर के विलक्षण प्रतीत्यभावों के विरोध का परिहार कर के उन विलक्षण प्रतीत्यभावों को बतानेवाली भाषा प्रतीत्यसत्य भाषा कही जाती है। सापेक्ष भावविषयक होने से वह भाषा प्रतीत्यसत्य भाषा कही जाती है।

एवं. इति। विवरणकार प्रतीत्यसत्य भाषा के स्वरूप को और स्पष्ट करने के लिए दूसरा दृष्टांत बताते हैं। सुनिये "अनामिका अंगुली (जिससे पूजा की जाती है) मध्यमा अंगुली से छोटी है और कनिष्ठा अंगुली (पाँचवीं अंगुली) से बडी है" यह भाषा भी प्रतीत्यभाषा है, क्योंकि अनामिका अंगुली में छोटेपन और बडेपन की निमित्तभूत मध्यमा और कनिष्ठा अंगुली का प्रदर्शन कर के

मध्यमापेक्षया ह्रस्वा चेत्याद्यप्यूह्यम्। निमित्तान्तरोपदर्शने तु मृषैवेयम्।।२८।।

नन्वेकस्यैव कथमणुत्व-महत्त्वादिनानापरिणामसमावेशः, विरोधात्। न चैकज्ञानज्ञेयत्वान्न विरोधः तज्ज्ञानाऽप्रमात्वस्यैवाऽऽपाद्य-

---

निमित्तान्तरोपदर्शन इति। सत्त्वाऽसत्त्व-वाच्यत्वाऽवाच्यत्व-नित्यत्वाऽनित्यत्वादिधर्माणां यन्निमित्तं ततो विलक्षण-निमित्तप्रदर्शने=विपरीतनिमित्तप्रदर्शन इति। **मृषैवेयमिति**। एवकारेण प्रतीत्यसत्यत्वव्यवच्छेदः कृतः। व्यवहारनयाभि-प्रायेण चैतद् द्रष्टव्यम्। वादादौ प्रवचनहीलनानिवारणाद्यभिप्रायेण परवादिक्षोभार्थं वा प्रतिवादिनो निमित्तान्तरोप-दर्शनेऽपि निश्चयनयाभिप्रायेण सत्यत्वमपि न विरुध्यत इत्याभाति।।२८।।

तज्ज्ञानाऽप्रमात्वस्यैवापाद्यत्वादिति अणुत्व-महत्त्वादिनानापरिणामावगाह्येकज्ञानाऽप्रमात्वस्यैवापाद्यत्वादित्यर्थः। आपाद्यत्वं नाम आपादकाभावव्यापकाभावप्रतियोगित्वम्। अत्राऽऽपाद्यापादकभावश्चैवं यदि एकविषयकं ज्ञानं मिथोवि-रोध्यणुत्व-महत्त्वादिनानापरिणामावगाहि स्यात् तदा तज्ज्ञानमप्रमा स्यात्। प्रतीत्यसत्यभाषाजन्यशाब्दबोधेऽणुत्व-महत्त्वादिनानापरिणामावगाहित्वेनाऽप्रमात्वमापाद्यते। अप्रमाज्ञानजनकत्वेन प्रतीत्यभाषा मृषेत्याशङ्काकर्तुराशयः। तन्निराकरोति **'भिन्न'** इत्यादिना। इयं गाथा प्रकरणकारेण ***स्याद्वादकल्पलतायां*** सप्तमस्तबके उद्धृता वर्तते।

सापेक्ष छोटेपन-बडेपन का विरोध हटा कर एक ही अनामिका अंगुली में छोटेपन-बडेपन रूप विलक्षण प्रतीत्यभावों का वह निराकांक्ष शाब्दबोध कराती है। इस तरह अन्य उदाहरण को स्वयं सोचने की सूचना ग्रंथकार ने 'ऊह्यम्' शब्द के प्रयोग से दी है।

✱ गलत निमित्त बताने पर भाषा मृषा ही होती है ✱

निमित्तान्तर. इति। अंत में विवरणकार एक मार्मिक सूचना देते हैं कि जो प्रतीत्यभाव जिस निमित्त की अपेक्षा रखता है, उस निमित्त की अपेक्षा से ही प्रतीत्यभाव की बोधक भाषा प्रतीत्यसत्य कहलाती है। अन्य निमित्त से विलक्षण प्रतीत्यभाव का बोध करानेवाली भाषा सत्य नहीं है, किन्तु मृषा ही है। जैसे कि - 'अनामिका मध्यमा की अपेक्षा से दीर्घ है और कनिष्ठा की अपेक्षा से ह्रस्व=छोटी है' यह भाषा दीर्घत्व-ह्रस्वत्वरूप प्रतीत्यभावों के विपरीत निमित्त बताने से मृषा ही है, सत्य नहीं, क्योंकि वास्तव में अनामिका मध्यमा की अपेक्षा छोटी है और कनिष्ठा की अपेक्षा बडी है=लंबी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि समीचीन निमित्त से प्रतीत्यभाव को बतानेवाली भाषा सत्य है और विपरीत निमित्त से प्रतीत्यभाव को बतानेवाली भाषा मृषा है।।२८।।

प्रतीत्यसत्य भाषा के लक्षण और उदाहरण बता कर अब २९वीं गाथा की अवतरणिका करने के लिए विवरणकार शंका बताते हैं।

शंका :- ***नन्वेक. इति***। प्रतीत्यसत्य भाषा एक ही धर्मी में अणुत्व-महत्त्व आदि अनेक धर्म का बोध कराती है - ऐसा आपका कथन संगत नहीं है, क्योंकि एक ही धर्मी में अणुत्व-महत्त्व आदि अनेक परिणाम का समावेश होने में विरोध है। अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म परस्पर विरुद्ध होने से एक धर्मी में वे रह ही नहीं सकते हैं जैसे कि उष्णता और शैत्य में परस्पर विरोध होने से एक ही अग्नि में शैत्य और उष्णता का समावेश नहीं होता है। जैसे अग्नि में उष्णता रहने से शैत्य नहीं रहता है। वैसे ही एक धर्मी में या तो अणुत्व रहेगा या तो महत्त्व रहेगा, दोनों नहीं।

'न चैकज्ञान.' इति। यहाँ यह शंका करना कि - "एक ही अंगुली में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व का एक ही ज्ञान में भान हो रहा है तब एक अंगुली में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व का विरोध कैसे होगा?"-ठीक नहीं है, क्योंकि हमारा यहाँ आशय यही है कि - एक ही धर्मी में अणुत्व-महत्त्व आदि अनेक धर्मो का अवगाहन करनेवाला ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता है। हमारा आशय यह नहीं है कि - 'एक वस्तु में अणुत्व-महत्त्व आदि विरुद्ध धर्मों का ज्ञान ही नहीं हो सकता है'। एक ही वस्तु में परस्परविरुद्ध धर्म का भ्रमात्मक ज्ञान हो सकता है, किन्तु प्रमात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं, हम तो आगे बढ कर यह कहते हैं कि - एक ही धर्मी में अणुत्व-महत्त्व आदि परस्परविरुद्ध धर्मों का भ्रमात्मकज्ञान उत्पन्न करने से प्रतीत्यभाषा सत्य नहीं है, किन्तु मृषा है। अतः सत्यभाषा के विभाग में प्रतीत्यभाषा का समावेश करना संगत नहीं है। प्रतीत्यभाषा का मृषाभाषा में ही समावेश करना ठीक प्रतीत होता है।

त्वादित्याशङ्कायामाह।

भिन्ननिमित्ततणओ, ण य तेसि हंदि भण्णइ विरोहो। वंजयघडयाईयं होइ णिमित्तं पि इह चित्तं।।२९।।

न च तेषां = विलक्षणप्रतीत्यभावानां, **हन्दीति** उपदर्शने **भण्यते विरोधः**, कुतः? भिन्ननिमित्तकत्त्वात्। एवं चाऽणुत्वमहत्त्वादयो न विरुद्धाः **भिन्ननिमित्तकत्वात्** सत्त्वासत्त्ववदिति प्रयोगो द्रष्टव्यः।

भिन्ननिमित्तकत्वादिति। भिन्ननिमित्तकत्वे सापेक्षधर्माणामेकत्राऽपि समावेशान्न विरोधः, अभिन्ननिमित्तकत्वे एव विरोधः सम्भवति। तच्च नास्ति, अतो न विरोधः। अयं भावः, यदि कनिष्ठां मध्यमां वेकामङ्गुलीमपेक्ष्य ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च प्रतिपाद्येत, ततो विरोधः सम्भवेत् एकत्र एकनिमित्तकपरस्परविरुद्धसप्रतियोगिकधर्मासम्भवात्। यदा त्वेकां मध्यमा-मङ्गुलिमधिकृत्यानामिकायां ह्रस्वत्वमपरां कनिष्ठाङ्गुलिमपेक्ष्य च दीर्घत्वं तदा न विरोधलेशगन्धोऽपि। **एतेन** 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' (ब्र.सू. २/२/३३) इति ***बादरायणवचनमपास्तम्*** निमित्तभेदेनैकत्र प्रतीयमानयोः सप्रतियोगिक-भावयोरपह्नवस्य निर्युक्तिकत्वात्। **एतेन** 'यदि भावानामुभयात्मकत्वं स्यात्तदा स्वरूपेणैव घटश्चाऽघटश्च स्यादिति ***भासर्वज्ञवचनं* प्रत्युक्तम्** निमित्तभेदाऽभ्युपगमे दोषानवतारात्। एतत्तत्त्वमग्रे[2] स्फुटीभविष्यति।

सप्रतियोगिकभावाविरोधभिन्ननिमित्तकत्वयोर्व्याप्तिप्रतिपादनार्थं दृष्टान्तः प्रदर्शयितुमर्हति, तस्य व्याप्तिदर्शनाश्रय-त्वात्। तदुक्तं ***प्रमाणमीमांसायां*** 'स व्याप्तिदर्शनभूमिः' (प्र.मी. १/२/२०) इति। अतः तमाह- **सत्त्वासत्त्ववदिति**। एकस्मिन्नेव सत्त्वासत्त्वयोर्यथा निमित्तभेदेन न विरोधस्तथैवैकस्मिन्नेव धर्मिण्यणुत्व-महत्त्वयोरपि निमित्तभेदेन समावेशे न विरोध इति भावः। 'अयमितोऽणुः इतश्च महान्' इति सार्वजनीनप्रतीतिं प्रतीत्यैकत्रैव भिन्नापेक्षयोरणुत्व-महत्त्वयोः सिद्धेः। **एतेन** तज्ज्ञानाऽप्रमात्वस्यैवापाद्यत्वादिति **निरस्तम्** अस्खलद्वृत्तित्वात् बाधकप्रमाणाभावाच्च।

इस आशंका का ग्रंथकार २९वीं गाथा से परिहार करते हैं।

गाथार्थ :- भिन्न निमित्त होने से अणुत्व-महत्त्व आदि धर्मों का एक धर्म में रहने में कोई विरोध नहीं है। निमित्त के भी व्यंजक-घटक आदि अनेक प्रकार होते हैं।२९।

*** निमित्त के भेद से विरोध का परिहार ***

विवरणार्थ :- पूर्वोक्त शंका का समाधान यह है कि विलक्षण प्रतीत्यभावों में परस्पर विरोध ही नहीं है, क्योंकि उनके निमित्त भिन्न भिन्न होते हैं। अणुत्व-महत्त्व का एक धर्मी में समावेश करने पर विरोध तब उपस्थित होता जब अणुत्व-महत्त्व का निमित्त एक ही होता, भिन्न न होता, क्योंकि बिना निमित्तभेद के सापेक्षधर्मों का भी एक धर्मी में समावेश होना असंभव है। मगर स्याद्वादी निमित्तभेद से सापेक्ष धर्मों का एक धर्मी में समावेश करते हैं। यहाँ विवरणकार अनुमानप्रयोग बताते हैं कि - 'अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म परस्पर विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उनका निमित्त भिन्न हैं जैसे कि सत्त्व और असत्त्व। जहाँ जहाँ भिन्ननिमित्तकत्व रहता है वहाँ विरोध नहीं रहता है - यह नियम तो लोकव्यवहार से भी सिद्ध है। जैसे कि रामचंद्रजी दशरथ के पुत्र हैं और लवण-अंकुश के पिताजी हैं - इस वाक्य से रामचंद्रजी में दशरथ की अपेक्षा पुत्रत्व और लवण-अंकुश की अपेक्षा पितृत्व की सब लोगों को अबाधित प्रतीति होती है। जो बात प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध हो उसमें विरोध कैसे? हाथ कंगन को आरसी क्या? प्रस्तुत में विवरणकार ने सत्त्व और असत्त्व का उदाहरण दिया है कि जैसे स्वरूप की अपेक्षा वस्तु सत् होती है और पररूप की अपेक्षा से असत् होती है - इस प्रतीति से स्वरूप और पररूप की, जो भिन्न निमित्त हैं, अपेक्षा वस्तु में सत्त्व और असत्त्व का अविरोध सिद्ध होता है ठीक वैसे ही 'आँवला आम के फल की अपेक्षा छोटा है और बेर के तुच्छ फल की अपेक्षा बडा है' इस प्रतीति से निमित्तभेद से छोटापन और बडापन एक ही आँवले में सिद्ध होता है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

*** द्रष्टांत और दार्ष्टान्तिक में वैषम्यता की शंका ***

शंका :- ***ननु. इति***। आपने अणुत्व-महत्त्व आदि प्रतीत्यभावों में सत्त्वासत्त्व धर्म की तरह भिन्ननिमित्तकत्व का जो प्रतिपादन

---

१ भिन्ननिमित्तत्वतो न च तेषां हंदि भण्यते विरोधः। व्यञ्जकघटकादिकं भवति निमित्तमपीह चित्रम्।।२९।। २ दृश्यतां १२९ तमे पुटे।

ननु सत्त्वासत्त्वयोरिव चाणुत्वमहत्त्वयोर्नैकरूपं भिन्ननिमित्तकत्वं "अयमस्मादणुः" इतिवद् "अयमस्मात्सन्" इत्यव्यपदेशादिति वैषम्यमित्यत आह-**इह**=प्रकृते, **निमित्तमपि व्यञ्जक-घटकादिकं चित्रं**=अनेकप्रकारं भवति। तथाहि - अणुत्वमहत्त्वादीनां व्यञ्जक-प्रतियोग्यादिरूपनिमित्तभेदः सत्त्वासत्त्वादीनां च द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूपघटकस्वभावनिमित्तभेदः, द्रव्यादीनां सत्त्वासत्त्वघटकत्वं च

दृष्टांत-दार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं शङ्कते **नन्विति**। साधर्म्योदाहरणे हि निश्चितहेतुसाध्यवत्त्वे सत्येव परस्मै व्याप्तिः प्रदर्शयितुं शक्यते नान्यथा उदाहरणाभासत्वात्। प्रकृते च विवादाध्यासिताणुत्व-महत्त्वादिषु यादृशं भिन्ननिमित्तकत्वं न तादृशं सत्त्वासत्त्वयोरिति निश्चितहेतुकपक्षादपि द्रष्टान्तस्य निःकृष्टत्वान्न तद्बलेन पक्षे साध्यसिद्धिरिति ननुपक्षस्याभिप्रायः।

हेतुत्वावच्छेदकरूपेणैव हेतोः स्वसाध्यगमकत्वं न त्वन्येन रूपेण, अन्यथा महानसीयधूमत्वाभावेन पर्वतीयधूमस्यापि गमकत्वं न स्यात्। प्रकृते च भिन्ननिमित्तकत्वत्वेन रूपेण हेतोर्गमकत्वं न तु प्रतियोग्यादिरूपव्यञ्जकात्मकभिन्ननिमित्तकत्वत्वेन रूपेण। अतः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतियोग्यादिरूपव्यञ्जकात्मकभिन्ननिमित्तकत्वस्याऽसत्त्वेऽपि भिन्ननिमित्तकत्वस्याऽक्षतत्वान्न क्षतिः। न हि प्रतियोग्यादिरूपं व्यञ्जकमेव निमित्तपदवाच्यं न त्वन्यादृशमित्याशयेन सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्ननिमित्तकत्वसिद्ध्यर्थं निमित्तपदवाच्यस्य भेदान् प्रदर्शयति- **निमित्तमपीति**। निमित्तपदप्रतिपाद्यमपीत्यर्थः।

व्यञ्जकेति। तटस्थतयैव प्रतीत्यभावान् व्यञ्जयतीति व्यञ्जकः पूर्वसिद्धवस्त्ववभासक इति यावत्। व्यञ्जकत्वं च जातिविशेषरूपमध्यवसायविशेषग्राह्यं शक्तिविशेषरूपं वेत्यन्यदेतत्। **न चा**णुत्वमहत्त्वादीनां भिन्नव्यञ्जकनिमित्तकत्वमसिद्धमिति **वाच्यम्**, तदुक्तं ***श्रीहरिभद्रसूरिणा*** - अनन्तपरिणामस्य द्रव्यस्य तत्तत्सहकारिकारणसन्निधानेन तत्तद्रूपमभिव्यज्यत इति। (द. वै. अ. ७. नि. गा. २७३ हा. वृ.) अनामिकावृत्तिह्रस्वत्वे च मध्यमापेक्षत्वरूपं सप्रतियोगिकत्वं, अतः तन्मध्यमापेक्षया व्यज्यते। अनामिकानिष्ठदीर्घत्वे च कनिष्ठापेक्षत्वरूपं सप्रतियोगिकत्वं, अतः तद्दीर्घत्वं कनिष्ठापेक्षया व्यज्यते। **न चा**न्योन्यापेक्षत्वेन न स्यादेकस्याप्यभिव्यक्तिरिति **वाच्यम्** उभयोर्युगपद्भावात् तद्भावात्, केवलं गौणमुख्यभावेन तत्तद्व्यवहारात्।

सत्त्वासत्त्वादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपघटकस्वभावनिमित्तभेद इति। द्रव्यादौ घटकत्वं च न तद्विषयित्वव्यापकविषयिताकत्वरूपं, व्यञ्जकनिमित्तेऽपि गतत्वात् किन्तु तत्संवलनत्वरूपम्। सत्त्वं स्वद्रव्यादिचतुष्टयरूपघटकस्वभावनिमित्तकत्वं असत्त्वं च परद्रव्यादिचतुष्टयघटकस्वभावनिमित्तकत्वम्। सत्त्वासत्त्वे च सर्वैः सापेक्षे एव प्रतीयेते,

---

किया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि अणुत्व-महत्त्व में जैसा भिन्ननिमित्तकत्व है वैसा भिन्ननिमित्तकत्व सत्त्व और असत्त्व में नहीं है। देखिये 'यह इससे छोटा है और अन्यसे बडा है' यह प्रतीति जैसे होती है वैसे 'यह इससे सत् है और इससे असत् है' ऐसी प्रतीति नहीं होती है और ऐसा व्यवहार भी नहीं होता है। अतः अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म में जैसा भिन्ननिमित्तकत्व है वैसा भिन्ननिमित्तकत्व सत्त्व और असत्त्व धर्म में, जो कि यहाँ द्रष्टांतरूप से बताये गये हैं, नहीं है। तब सत्त्व-असत्त्वरूप प्रतीत्यभाव के बल से अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म में परस्पर अविरोध कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि जैसे द्रष्टांत में हेतु रहता है वैसे पक्ष में रहे तब उस हेतु के बल से साध्य की सिद्धि हो सकती है। अतः सत्त्व-असत्त्व का उदाहरण जो बताया गया है वह ठीक नहीं है।

❋ निमित्त के अनेक भेद हैं - समाधान ❋

समाधान :- ***इह. इति***। आपकी इस बात से हम डरनेवाले नहीं हैं। चाहे लाख कोशिशें कीजिए, किन्तु हम हमारे प्रामाणिक पथ से डिगनेवाले नहीं हैं। आपके कथन से यह ज्ञात होता है - आप यह समझ बैठे हैं कि निमित्त का एक ही प्रकार होता है। मगर आपकी यह भ्रमणा है। स्याद्वादी कभी एक लकडी से काम नहीं करते हैं। निमित्त के भी अनेक प्रकार होते हैं। कुछ स्थल में निमित्त व्यंजकरूप होता है तो कुछ स्थान में घटकस्वरूप होता है। प्रस्तुत में अणुत्व-महत्त्व आदि विलक्षण प्रतीत्यभाव में

तदव्यतिरेकादतिरिक्तसत्त्वनिषेधादित्यन्यत्र विस्तरः।

'घटो मार्तत्व-पूर्वत्व-वर्तमानकालीनत्व-नवत्व-देवदत्तस्वामिकत्व-यज्ञदत्तकृतत्व-चैत्रलब्धत्व-मैत्रहृतत्व-घटपदवाच्यत्व-स्वीकृतप्रतिनियतसंस्थानत्व-लोचनजप्रतिपत्तिविषयत्वादिना सन् तन्तुजनितत्वापरत्वातीतकालीनत्व-पुराणत्वयज्ञदत्तस्वामिकत्वदेवदत्तकृतत्व-मैत्रलब्धत्व-चैत्रहृतत्व-पटादिपदवाच्यत्वास्वीकृतसंस्थानत्व-घ्राणजप्रतिपत्तिविषयत्वादिना त्वसन्' इत्याद्यनुभवात्।

एतेन 'पररूपेण न भावः नाप्यभावः अपि तु स्वेन रूपेण भाव एकात्मकः। एकं हीदं वस्तूपलभ्यते तच्चेदभावः किमिदानो भावो भविष्यति? तद्यदि पररूपतयाऽभावः तदा घटस्य पररूपता प्राप्नोति यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेशः तथाऽभावत्वेऽपि अङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात् (तत्त्वो. पृ. ७६) इति ***तत्त्वोपप्लवसिंहे जयराशिभट्टेनोक्तं* तन्निरस्तम्** पटाद्यपेक्षयाऽकारणत्वेऽङ्गीक्रियमाणे दण्डादौ पटादिस्वरूपाननुप्रवेश इव पटाद्यपेक्षयाऽभावत्वे स्वीक्रियमाणे घटे पटादिस्वरूपाननुप्रवेश्य न्याय्यत्वात् अभावत्वेन रूपेण पटादिस्वरूपानुप्रवेशे चेष्टापत्तेश्च। तदुक्तं ***सप्तभंगीतरंगिण्यां***- 'भावधर्मयोगाद् भावात्मकत्ववदभावधर्मयोगादभावात्मकत्वस्यापि स्वीकरणीयत्वात्' (स.त.पृ. ८३)। स्वपरपर्यायात्मकत्वेन सर्वस्य सर्वात्मकत्वाभ्युगमात्, अन्यथा वस्तुस्वरूपस्यैवाऽघटमानत्वादिति ***षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ता***वुक्तं, अधिकं ततो ज्ञेयम्।

सत्त्वासत्त्वयोर्व्यञ्जकत्वं विहाय घटकत्वानुधावनं किमर्थम्? इत्यत आह **सत्त्वासत्त्वघटकत्वं च तदव्यतिरेकात्**=द्रव्यादिचतुष्टयाभिन्नत्वात्। तदपि कुतः? इत्याह **अतिरिक्तसत्त्वनिषेधादि**ति। अत्र सत्त्वपदमसत्त्वस्योपलक्षणं तेन द्रव्यादिचतुष्टयातिरिक्तिसत्त्वाऽसत्त्वनिषेधादित्यर्थः स्वपरद्रव्यादिभ्यो व्यतिरिक्तयोः सत्त्वासत्त्वयोरनुपलब्धेरिति शेषः।

अत्रैकान्तवादिनः किञ्चित् समीक्षामहे। **यत्तु न्यायभूषणे**- 'स्याद्वादे हि जीवोऽप्यजीवः स्यादजीवोऽपि जीवः स्यादिति कुतस्तयोर्व्यवस्था?' इत्युक्तं **तन्मन्दम्** जीवोऽजीवापेक्षया न जीव इत्यजीव इत्येवमनभ्युपगमात्, अभावपरिणतेः परापेक्षत्वेऽपि भावपरिणतेः स्वद्रव्याद्यपेक्षत्वात्, वस्तुनः तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकरम्बितत्वात्तथाप्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारप्रयोगान्नातिप्रसंगः 'उदिते होतव्यं' 'अनुदिते होतव्यं' इत्यादिविरुद्धवेदवाक्यानां प्रामाण्यमपेक्षाभेदं विना कथमुपपादनीयम्?

यत्तु समुदायापेक्षया हि पङ्कजशब्दस्य पदत्वमवयवापेक्षया तु वाक्यत्वमेवं (न्या.सि.दि.पृ. ५९) इति ***शशधरशर्मणो***क्तं **तदपि** स्याद्वाद एव शोभते। ***ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये*** - जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्व-

प्रतियोगी आदिरूप व्यंजकनिमित्त रहता है जैसे कि - आँवले की अपेक्षा अंगुर छोटी है - इस प्रतीति में आँवला अंगुर में रहनेवाले छोटेपन का प्रतियोगी है। अर्थात् आँवला तटस्थ रह कर अपनी अपेक्षा से अंगुर में रहे हुए छोटेपन को बताता है। जब कि सत्त्व-असत्त्व स्थल में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप घटकात्मक निमित्त के भेद से एक स्थल में सत्त्व-असत्त्व रहता है। आशय यह है कि एक वस्तु में अणुत्व-महत्त्व की प्रतीति के समावेश के निमित्त क्रम से सन्निहित महान् और अणु द्रव्यान्तर, ये व्यंजक निमित्त होते हैं और एक वस्तु में सत्त्व और असत्त्व की प्रतीति के समावेश के निमित्त क्रमशः स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होते हैं जो कि सत्त्व और असत्त्व के घटक निमित्त होते हैं। स्वद्रव्यादि चतुष्क सत्त्व का और परद्रव्यादि चतुष्क असत्त्व का तटस्थ व्यंजक नहीं होता, किन्तु उसका घटक होता है, क्योंकि उसके बिना वस्तु का सत्त्व और असत्त्व उपपन्न नहीं हो सकता। वस्तु की सत्ता अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को छोड कर अतिरिक्त नहीं होती है, वैसे ही वस्तु की असत्ता पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को छोड कर अतिरिक्त नहीं होती है, क्योंकि स्वद्रव्यादि से अतिरिक्त सत्ता और पर द्रव्यादि से अतिरिक्त असत्ता का निषेध है। स्वद्रव्यादि से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता का ज्ञान नहीं होता है और पर द्रव्यादि चतुष्क को छोड कर वस्तु की असत्ता का भान नहीं होता है। मिट्टीद्रव्य, स्वावगाहनाक्षेत्र, स्वकाल और रक्तत्वादि स्वभाव को छोड कर घट का उपलंभ कभी भी नहीं होता है। अतः

योर्विरुद्धयोरसम्भवात् सत्त्वे चैकस्मिन् धर्मेऽसत्त्वस्य धर्मान्तरस्याऽसम्भवात्, असत्त्वे चैवं सत्त्वस्याऽसम्भवात्, असङ्गतमिदमार्हतं मतं। (शा.भा. २/२/६-३३) इत्युक्तं **तदविचारितरमणीयम्**, विरोधस्याऽसिद्धत्वात्। स्वद्रव्यादि-चतुष्टयेन वस्तुनः सत्त्वस्येव परद्रव्यादिचतुष्टयेनाऽसत्त्वस्योपलम्भात्। तदुक्तं **सप्तभंगीतरंगिण्यां** 'न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपं स्वरूपेणेव पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात्। नाऽपि अभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणाप्य-भावप्रसङ्गात्।' (स.त.पृ. ८३)।

एतेन जैना वस्तुमात्रं अस्तित्व-नास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वयं योजयन्ति, तन्नोपपद्यते एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वा-सत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपदसम्भवात् इति **निबार्कभाष्यवचनं निरस्तम्**, छायातपयोरेकत्रैवाऽवच्छेदक-भेदेन वर्तमानत्वात्, तदुक्तं ***सप्तभंगीतरंगिण्यां***-यथैकत्र चलाचलात्मनोर्वृक्षादौ रक्तारक्तात्मनोर्घटादौ आवृताना-वृतात्मनोः शरीरादौ चोपलम्भादविरोधः तथा सत्त्वासत्त्वयोरपि। किञ्च ***निबार्कभाष्यटीकायां*** - जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिश्रुतसाधितौ भवतः, कोऽत्र विरोधः? इति वदन् ***श्रीनिवासाचार्यः*** प्रत्यक्षानुमानागमतर्कादि-प्रमाणसिद्धं वस्तुनः सत्त्वासत्त्वात्मकत्वं कथं प्रतिक्षिपेत्?

एतेन यदपि **वेदान्तदीपे *रामानुजाचार्येण***-'एकस्य पृथिवीद्रव्यस्य घटत्वाश्रयत्वं शरावत्वाश्रयत्वं च प्रदेशभेदेन न तु एकेन प्रदेशेनोभयाश्रयत्वं यथैकस्य देवदत्तस्योत्पत्तिविनाशयोग्यत्वं कालभेदेन। न ह्येतावता द्वयात्मकत्वम् अपि तु परिणामशक्तियोगमात्रं इत्युक्तं **तत्प्रत्युक्तम्** एकस्मिन्नेव देवदत्तेऽपेक्षाभेदेन पितृपुत्रोभयात्मकत्वमिवैकस्मिन्नेव घटादाव-पेक्षाभेदेन युगपदेव सत्त्वासत्त्वसमावेशेन सत्त्वासत्त्वोभयात्मकत्वस्य न्याय्यत्वात्। **अनेनै**वाभिप्रायेण ***सोमिल***वक्तव्य-ताधिकारे-दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं (भ.सू.श. १८/उ. १०/सू. ६४८) इति सोमिलं प्रत्युवाच परमेश्वरः।

एतेन *भास्कर*भाष्ये-सर्वमनेकान्तमिति निश्चीयते न वा? यदि निश्चीयते तर्हि एकान्तप्रसक्तिः। यदि न निश्चीयते तर्हि निश्चयस्यापि अनिश्चयरूपत्वेन निश्चयरूपत्वं न सम्भवेत्। अत एतादृशः शास्त्रप्रणेता तीर्थंकर उन्मत्ततुल्य इति वदन्नुन्मत्ततुल्यो ***भास्कराचार्यो* निराकृतः** अनेकान्तस्य सम्यगेकान्ताऽविनाभावित्वात्, अन्यथाऽनेकान्तस्यैवाऽघटनात्। तदुक्तं **स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रार्येण** अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पिता-न्नयात्।। **(बृ.स्व.स्तो.श्लो. १०३)**

अत एव - 'त्वत्तीर्थकरवचनं किं सत्यम्? आहोस्विदसत्यमिति? सत्यमेवेति न युक्तं एकान्तवादप्रसङ्गाद्' इत्यादि ***न्यायभूषणकारवचनं* परास्तम्** तीर्थकरवचनस्यापि स्वविषये प्रमाणत्वात् परविषयेऽप्रमाणत्वात्, तदुक्तं **वादमहार्णवे** - प्रमाणपि स्वविषये प्रमाणं परविषये चाऽप्रमाणमिति स्याद्वादिभिर्मन्यत एव ( )।

भामत्यां 'सत्यं यदस्ति वस्तुतः तत्सर्वथा सर्वदा सर्वात्मना निर्वचनीयेन रूपेणाऽस्त्येव, न नास्ति, यथा प्रत्यगात्मा' (ब्र.सू. २/२/३३ भा.) इति वदन्***वाचस्पतिमिश्र***स्तु शतं शिरच्छेदेऽपि न ददाति, विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छतीति किमत्र ब्रूमः? सर्वथेति प्रथममुक्त्वा पश्चान्निर्वचनीयेन रूपेणेति वदन् कोट्यन्तरनिषेधं कुर्वन् प्रतिनियतरूपेण वस्तुनोऽस्तित्वं प्रतिपादयन् सोऽपि स्याद्वादे निपतति। **यदपि *श्रीकण्ठभाष्ये***-'एकस्मिन् वस्तुनि

घटसत्ता घट के द्रव्यादि चतुष्क से अतिरिक्त नहीं है। घट के द्रव्यादि चतुष्क को छोड देने पर घट की सत्ता ही न रहेगी। अतः घट के द्रव्यादिचतुष्क घटसत्ता के घटक हैं, व्यंजक नहीं। इसी तरह तंतु आदि परद्रव्य, पटअवगाहनाक्षेत्र, पटकाल और आतान-वितानादि परभाव को छोड कर घट की असत्ता ही नहीं है। अतः घट की असत्ता परद्रव्यादि चतुष्क को छोड कर अतिरिक्त नहीं है। परद्रव्यादि को छोड देने पर घट की असत्ता ही न रहेगी। अतः यह सिद्ध होता है कि - परद्रव्य आदि चतुष्क घट की असत्ता के घटक हैं, व्यंजक नहीं। अतः घट की सत्ता और असत्ता भी स्व-पर-द्रव्यादिचतुष्करूप भिन्न निमित्त से सापेक्ष

सत्त्वाऽसत्त्व-नित्यत्वानित्यत्वभेदादीनामसम्भवात्। पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्याऽस्तित्व-नास्तित्वादिशब्दबुद्धिविषयाः परस्परविरुद्धाः। पिण्डत्व-घटत्व-कपालत्वाद्यवस्थावत् युगपन्न सम्भवन्ति। अतो विरुद्ध एव जैनवाद' **इत्युक्तं तदपि कफोणिगुडायितम्**, क्रमभाविनां पर्यायाणामेकदैकत्राऽसत्त्वेऽपि सहभाविनां सत्त्व-द्रव्यत्व-पृथिवीत्वादीना पर्यायाणामेकत्रैकदा सत्त्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, सत्त्वाऽसत्त्व-नित्यत्वानित्यत्वादीनां सहभाविनां पर्यायाणामपेक्षाभेदेन विरोधपरिहारादेकत्रैकदा वर्त्तमानत्वस्याप्रत्यूहाच्च। तदुक्तं ***'राजमार्तंडे भोजदेवेन'*** यथा सुवर्णं रूचकरूप-धर्मपरित्यागेन स्वस्तिकरूप-धर्मान्तरपरिग्रहे सुवर्णतयाऽनुवर्तमानं तेषु धर्मेषु कथंचिदभिन्नेषु धर्मिरूपतया सामान्यात्मना धर्मरूपतया विशेषात्मना स्थितमन्वयित्वेनाऽवभासते (पा.यो.सू. समाधिपाद-सू. १४) यदपि ***हेतुबिन्दुटीकायां अर्चटेन*** 'भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा। प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथं न ते।।' (हे.बि.टी.पृ. १०५) इत्युक्तं तत्र 'भेदाभेदोक्त-दोषाश्च तयोरिष्टौ भवेयुः किम्। प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते जात्यन्तरात्मके न ते।।' इत्येवं मया प्रतिविधीयते। तदुक्तं प्रकृतप्रकरणकारेणा**ऽष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण**-'जात्यन्तरत्वं च नृसिंहन्यायेन गुडशूण्ठिन्यायेन वोभयात्मकतया उभय-दोषापहारितया वा भावनीयम्। (अ.स.वि.पृ. १२६)

यदपि **प्रमाणवार्तिके कीर्तिनोक्तं - 'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधा-वति।।' (प्र.वा. १८२)**

तत्र मया '**सर्वस्योभयरूपत्वेऽपि विशेषाऽनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति नैवोष्ट्रमभिधावति**।।' इत्येवं प्रत्युच्यते।

यतो दध्नः स्वरूपापेक्षया दधिरूपता, नोष्ट्ररूपापेक्षया, उष्ट्रस्य स्वरूपापेक्षया चोष्ट्ररूपता, न दधिरूपापेक्षया। ततो न दध्यर्थिनामुष्ट्रादौ प्रवृत्तिः, स्वद्रव्याद्यपेक्षया वस्तुनः स्वरूपस्य प्रवृत्त्यादिप्रयोजकत्वेनाऽनतिप्रसङ्गात्। एकान्तवादे च ***माध्यमिककारिकाकृतो नागार्जुनस्य***- 'आत्मेत्यपि प्रज्ञापितमनात्मेत्यपि देशितम्। बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्'। (मा.का.) इति वचनं कथमुपपादयितुं शक्यम्?

यदपि भामत्यां 'मृदात्मना एकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वमिति वदतः कार्यकारणयोः परस्परं किमभेदोऽभिमत आहो स्वित् भेदः उत भेदाभेदौ इति? तत्राभेद ऐकान्तिके मृदात्मनेति च शरावाद्यात्मनेति चोल्लेखद्वयं नियमश्च नोपपद्यते। भेदे चोल्लेखद्वयनियमादुपपन्नौ आत्मनेति तु असमञ्जसम्। न हि अन्यस्यान्य आत्मा भवति। न चाने-कान्तवादः। भेदाभेदकल्पे तूल्लेखद्वयं भवेदपि नियमस्त्वयुक्तः। न हि धर्मिणोः कार्यकारणयोः संकरे धर्मावेकत्वना-नात्वे न सङ्कीर्येते इति सम्भवति। ततश्च मृदात्मनैकत्वं यावद् भवति तावन्मृदात्मना नानात्वं भवेत्। सोऽयं नियमः कार्यकारणयोरैकान्तिकं भेदमुपकल्पयति अनिर्वचनीयतां वा कार्यस्य' (ब्र.सू. २/१/१४ - भा.) इति **वाचस्पतिमिश्रे-णोक्तं तदपि विद्युद्विकल्पप्रायम्**। तथाहि एकदा यामिन्यामेक उत्थितो गगनं गरलगवलश्यामजलदान्तर्द्योतमान-विद्युत्पुञ्जं दृष्ट्वा शेषौ द्वावपि सतीर्थ्यावाहूयादीदृशत्- यथा 'भो! पश्यत स्वर्गे प्रदिपनं लग्नम्। तत एव ज्वालाधूम-योगः'। द्वितीयेनोक्तम्- 'सूर्योऽत्राऽऽस्ते। स च शीतभीतः श्यामवस्त्रकन्थाभिरन्तरितः कारं कारं पश्यति- अद्यापि विभातं किं वा न विभातम्। तृतीयस्त्वाह-'अहमेवं मन्ये दैत्योत्पातविधुरे देवलोके महेन्द्रोऽग्निकर्मप्रधानं सान्तिकं कार-यन् वर्तते'। किमेभिः मुग्धविकल्पैः विद्युन्मालाशाली बलाहको विलीयते? नैव। तद्वत् प्रमाणसिद्धोऽनेकान्तवादोऽपि नैव

है, यह सिद्ध होता है। जैसे घटादि द्रव्य में भिन्न भिन्न घटक निमित्त की अपेक्षा से सत्ता और असत्ता का समावेश होता है वैसे ही भिन्न भिन्न व्यंजकनिमित्त की अपेक्षा अणुत्व-महत्त्व आदि विलक्षण प्रतीत्यभावों का एक द्रव्य में समावेश हो सकता है। इसमें कोई विरोध आदि दोष नहीं है। निमित्त चाहे घटक हो या व्यंजक हो, मगर एक द्रव्य में भिन्ननिमित्त की अपेक्षा से विलक्षण प्रतीत्यधर्मों का समावेश अविरुद्ध है - यह सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार अन्य ग्रन्थ से ज्ञातव्य है ऐसी सूचना यहाँ

पराक्रियते। यत्तु भेदाभेदकल्पे मिश्रेण नियमायुक्तत्वप्रदर्शनं कृतं **तदसत्** प्रमाणबाधितत्वात्। तथाहि दशरथपुत्र-लवणाङ्कुशपित्रोः रामे सङ्करेऽपि दशरथनिरूपितपुत्रत्व-लवणाङ्कुशनिरूपितपितृत्वे परस्परं न सङ्कीर्येते, अन्यथा दशरथनिरूपितपितृत्वादिकमपि रामे स्यात्। न हि रामे दशरथजन्यत्वापेक्षया पुत्रत्वं यावद् भवति तावद् लवणाङ्कुशजनकत्वापेक्षया पुत्रत्वं भवति। तदुक्तं **शास्त्रदीपिकायां पार्थसारमिश्रेण** 'सर्वेष्वपि वस्तुषु 'इयमपि गौरियमपि गौः' अयमपि वृक्षोऽयमपि' इति व्यावृत्तानुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव कृतर्काभासं विजित्य द्वयाकारं वस्तु व्यवस्थापयत् केनाऽन्येन शक्यते बाधितुम्? न हि ततोऽन्यद् बलवत्तरमस्ति प्रमाणं तन्मूलत्वात् सर्वप्रमाणानाम्' (शा.दी.पृ. ३८७) इति।

एतेन - 'सत्स्वभावं चेद् विकारजातं कथं कदाचिदसत्? असत्स्वभावं चेत्? कथं कदाचित् सत्? सदसतोरेकत्वविरोधात्। न हि रूपं कदाचित् कथञ्चित् वा गन्धो भवति। **अथ** तस्य सदसत्त्वे धर्मौ ते च स्वकारणाधीनजन्मतया कदाचिदेव भवतः तत्तर्हि विकारजातं दण्डायमानं सदातनमिति न विकारः कस्यचित्। **अथा**ऽसत्त्वसमये तन्नास्ति। कस्य तर्हि धर्मोऽसत्त्वम्? न हि धर्मिण्यप्रत्युत्पन्ने तद्धर्मोऽसत्त्वं प्रत्युत्पन्नमुपपद्यते। **अथा**ऽस्य न धर्मः किन्तु अर्थान्तरमसत्त्वम्। किमायातं भावस्य? न हि घटे जाते पटस्य किञ्चिद् भवति। असत्त्वं भावविरोधीति चेत्? न, अकिञ्चित्करस्य तत्त्वानुपपत्तेः। किञ्चित्करत्वे वा तत्राऽपि असत्त्वे तदनुयोगसम्भवात्। **अथा**ऽस्याऽसत्त्वं नाम न किञ्चिन्न जायते किन्तु स एव न भवति। यथाहुः 'न तस्य किञ्चिद् भवति न भवत्येव केवलम्'। इति। **अथैष** प्रसज्यप्रतिषेधो निरुच्यतां, किं तत्स्वभावोऽभाव उत भावस्वभावः स इति? तत्र पूर्वस्मिन् कल्पे भावानां तत्स्वभावतया तुच्छतया जगच्छून्यं प्रसज्येत। तथा च भावानुभावाभावः। उत्तरस्मिंस्तु सर्वभावनित्यतया नाभावव्यवहारः स्यात्। कल्पनामात्रनिमित्तत्वेऽपि निषेधस्य भावनित्यताऽऽपत्तिस्तदवस्थैव। तस्माद् भिन्नमस्ति कारणाद् विकारजातं न वस्तुसत्। अतो विकारजातमनिर्वचनीयमनृतम्'। (ब्र.सू. २/१/१४ भा.) इत्यपि **भामतीकारवचनं प्रत्युक्तम्**, यतः स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययं अर्थः जनयति परद्रव्यादिकं चाभावप्रत्ययम् इति एकत्व-द्वित्वादिसङ्ख्यावत् एकत्रवस्तुनि भावाभावयोः भेदः। न हि एकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसङ्ख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्ष्यैकत्वसङ्ख्यातः अन्या न प्रतीयते। नाऽपि एकत्व-द्वित्वादिरूपोभयसङ्ख्या तद्वतो भिन्नैव द्रव्यस्य असङ्ख्येयत्वप्रसङ्गात्। तस्मात् सिद्धः अपेक्षणीयभेदात् सङ्ख्यावत् सत्त्वासत्त्वयोर्भेदः। भिन्नयोश्च तयोरेकवस्तुनि प्रतीयमानत्वात् को नाम विरोधः? तदुक्तं तेनैव **तत्त्ववैशारद्यां** 'अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति। न ह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मिरूपवद् धर्मादित्वम्। नाऽप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्वम्। स चाऽनुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनाऽऽयधर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतो व्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयते इति। तदनुसारिणो वयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया व्यवस्थापयितुमीश्महे (   ) इति। केन हि शक्यतेऽनेकान्तवादप्रतिक्षेपः कर्तुम्?

अत एव - 'सत्त्वासत्त्वे भावधर्मावित्यभ्युपगमे विकारनित्यत्वापातः इति यो दोष उक्तः सत्त्वमेकमेव भावधर्मो न कदापि भावस्थाऽसत्त्वमित्यभ्युपगमेऽपि तुल्यः। असत्त्वमर्थान्तरम् न चासत्त्वान्तरकरमित्यभ्युपगमे त्वसन् घटः इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः। न हि सत्त्वासत्त्व-गोत्वाश्वत्वादीनां स्वभावादेव परस्परविरोधसद्भावेऽपि सदसद्गौरश्व इत्यादि सामानाधिकरण्यमस्ति। **न** चासन् घट इति सामानाधिकरण्यं अभावप्रतियोगी घट इत्यर्थकमिति **वाच्यम्** तथा सति प्रतियोगित्वधर्माश्रयतया विकारसत्त्वापातात् (ब्र.सू. २/१/१४ - क.प.पृ. ४५६) इति ***अप्पयदीक्षितस्य कल्पतरुकारस्य*** वचनं **प्रत्युक्तम्** यथैकस्यैव पुरुषस्यापेक्षावशात् पितृत्व-पुत्रत्व-गुरुत्व-शिष्यत्वादीनि परस्परविरुद्धान्यपि युगपदविरुद्धानि तथा सत्त्वासत्त्वादीनि अपि। न चैवं सामानाधिकरण्यविरोध इति वाच्यम् जनकस्य पुत्रो रामो लवणांकुशयोः पितेत्यादाविव पटत्वादिनाऽसन् घटः घटत्वाद्यपेक्षया सन्नित्यत्राऽपि सामानाधिकरण्योपपत्तेः अपेक्षा-

भेदेन विरोधाभावात् स्वरूपेणाऽस्तित्वकालेऽपि पररूपादिना नास्तित्वस्य प्रतीतिसिद्धत्वात्, अन्यथा पररूपादिनाप्यस्तित्वं घटादेः स्यात्।

यत्तु *अनेकान्तवादनिरासे* 'यदि चान्येन स्वभावेन भेदोऽन्येन च स्वभावेनाभेद इत्यभ्युपगम्यते तदाऽन्यद्रव्यपर्यायाख्यमेकं वस्तु तयोरन्ये एव चान्योन्यभिन्ना द्रव्यपर्याया इति नैकमनेकात्मकं वस्तु वस्तुतः समर्थितं स्यात्। स्वभावेन चाभेदे देशकालाभेदादभेद इति किमनयाऽयुक्तघोषणया? ययोर्हि स्वभावेन भेदो न तयोर्देशकालाभेदादप्यभेदो यथा रूपरसयोः। यदि च द्रव्याणां द्रव्यस्वभावेनाऽभेदस्तदा पर्यायाणां द्रव्यात्मन्यनुप्रवेशात् द्रव्यमेव केवलमवशिष्यते इति सङ्ख्येयभेदाभावात् सङ्ख्याबाहुल्यं नास्तीति पर्याया इति बहुवचनं न प्राप्नोति। सञ्ज्ञाभेदाभावाच्च न तदाश्रयः सञ्ज्ञाभेदः' इति **जितारिणोक्तं, तत्तु** अतिसंस्कृततुल्यमाभाति। तथाहि लेखशालिकामात्रपरिचयी क्वापि पुरे पण्डितपाशः देवपूजार्थं वाटी पुष्पपत्र्यर्थी गच्छंस्तलारक्षेण बभाषे- क्व भोः! यासि? स आह- 'परस्त्रीग्रहणाय यामि'। तेन हि पत्रीशब्दोऽत्र रूढ इति किं विशेषशब्दं प्रयुञ्जे' इत्याशयादूचे। रुष्टेन तलारक्षेण छिन्ना नाशा। ततो लोके रूढम् - अतिसंस्कृतेन विनष्टम्। तद्वत् दार्शनिकक्षेत्ररूढविकल्पशस्त्राश्रितोऽपि स्याद्वादविद्यया स प्रत्यक्षादिप्रमाणसाहाय्यया छिद्यते। सामान्यतः परस्परविरुद्धयोरपि सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र समावेशः प्रसिद्ध एव। यदि चाऽन्वयव्यतिरेकिधूमादिहेतौ सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्वं न स्यात् तदा कथं तवानुमानप्रवृत्तिरपि? हेतौ त्रिरूपासिद्धेः। एवञ्चापेक्षाभेदेन भेदाभेदावपि न परस्परविरुद्धौ। समानपरिणामश्चाऽसमानपरिणामाविनाभावी, अन्यथैकत्वापत्तितः समानत्वायोगात्। ततो यदा समानपरिणामोऽसमानपरिणामसंलुलितः प्राधान्येन विवक्ष्यते तदाऽसमानपरिणामस्य प्रतिव्यक्ति भिन्नत्वात् तदभिधाने बहुवचनं यथा घटा इति। यदा तु स एव एकः समानपरिणामः प्राधान्येन विवक्ष्यते इतरस्त्वसमानपरिणाम उपसर्जनीभूतस्तदा सर्वत्राऽपि समानपरिणामस्य एकत्वात् तदभिधाने एकवचनं यथा सर्वोऽपि घटः पृथुबुध्नोदराद्याकार इति। अनेकान्तवादाऽनुपगमे तु ***माध्यमिककारिकाकृतो नागार्जुनस्य*** 'अनिरोधनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्। यं प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवं देशयामास संबुद्धस्तं वंदे द्विपदांवरम्।। (मा.का. १) इति वचनं कथमुपपत्स्यते?

यत्तु सप्तभंगीप्रथमाङ्गनिरसने-'अस्तीति वर्तमानत्वं बोध्यते स्यादिति कालत्रयानवमर्शिविधेयत्वम्। तयोः परस्परविरुद्धयोः कथमेकस्मिन्नर्थे पर्यवसानं? युगपद् बोध्यत्वमिति' - (ब्र.सू. २/२/३३ क.प.पृ. ५६१) ***कल्पतरुपरिमलकारेणोक्तं तदनुक्तोपालम्भमात्रम्***, स्याच्छब्दस्य निश्चितापेक्षाबोधकत्वाभ्युगमात्। तदुक्तं ***समन्तभद्रेणाऽऽप्तमीमांसायां*** 'वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्। स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तव केवलिनामपि'।। (आ.मी.श्लो. १०३)।

अत एव 'सर्वत्रैव स्याच्छब्दो भवतीत्यादिर्थ (ब.सू. २/२/३२- वि. भा.) इति **विज्ञानामृतभाष्यकृद्वचनं प्रत्युक्तम्** तदुक्तं **भामत्यां'** स्याच्छब्दः खल्वयं निपातस्तिङ्गन्तप्रतिरूपकोऽनेकान्तद्योती' (ब्र.सू. २/२/३३- भा.) इति। **एतेन** आधुनिकानां **'बलदेव-राधाकृष्ण-दामोदर-हिरियन्नादीनां**- 'स्याच्छब्दः अस्धातुविधिलिङ्रूपः सम्भावनार्थवाचकः। ततोऽनेकान्ते प्रतिनियतवस्तुस्वरूपं न निश्चीयते' इति प्रलापः **परास्तः**, 'सर्वथात्वनिषेधकः अनेकान्तिको द्योतकः कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः (पं.का.गा. १४ अमृ.वृत्ति) इति ***पञ्चास्तिकायवृत्ति***वचनात्। उक्तञ्च प्रकृतप्रकरणकारेणापि ***स्याद्वादकल्पलतायां*** -'तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकरम्बितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकांक्षमेव सर्वं वाक्यं प्रसज्येत'। (शा.वा.स.स्त. ७ श्लो.२१ स्या.क.वृ.) अभिप्रायान्तरनिषेधे छलमात्रत्वपर्यवसानात्। तदुक्तं ***न्यायभाष्यकारेणाऽपि***- 'यथा वक्तुरभिप्रायः तथा शब्दार्थौ अनुज्ञेयौ प्रतिषेध्यौ वा नच्छन्दतः (न्या.भा.पृ. ८१) इति। न हि पररूपेण नास्तित्वे सत्यपि स्वरूपेण

यदस्तित्वं तद् विलीयते येन तत्तपेक्षागर्भो वस्तुत्वरूपनिश्चयो न स्यात्। अतोऽनुक्तोपालम्भः केवलं स्याद्वादद्वेषं एकान्तवाददृष्टिरागं च द्योतयति।

अत एव *श्रीकण्ठभाष्यटीकायां* - 'सर्वथोपाधिभेदं प्रत्याचक्षाणस्य च 'अयं अस्याः पुत्रः अस्याः पतिः अस्याः पिता अस्याः श्वसुरः' इत्यादिव्यवस्थापि न सिध्येदिति कथं तत्र तत्र स्याद्वादी मातृत्वाद्युचितव्यवहारान् व्यवस्थयाऽनुतिष्ठेत्। तस्मात् सर्वबहिष्कार्योऽयं अनेकान्तवादः' (श्री. कं. टी. पृ. १०३) इति **प्रलपन्नप्पयदीक्षितः सर्वैर्बहिष्कार्यः** अनुक्तोपालम्भदानात्। न हि वयमुपाधिभेदं प्रत्याचक्ष्महे। स्वाऽपृथग्भूतोपाधिविशेषं पुरस्कृत्य वस्तुस्वरूपं प्रतिपादयन्तो वयं किमित्युपालभ्यामहे? तदुक्तं ***अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकायाम्*** 'उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च। इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति।। **(अन्ययो. द्वा. श्लो. २४)**

यत्तु *विज्ञानमृतभाष्ये* "नैकस्मिन्यथोक्तभावाभावादिरूपत्वमपि। कुतः? असम्भवात्। प्रकारभेदं विना विरुद्धयोरेकदा सहावस्थानसंस्थानाभावात्। प्रकारभेदाभ्युपगमे वाऽस्मन्मतप्रवेशेन सर्वैव व्यवस्थाऽस्ति। कथमव्यवस्थितं जगदभ्युपगम्यते भवद्भिः?" **इत्युक्तं, तदेतत्**परिवर्त्त्य क्षौमपरिधानमित्युच्यते, अस्मन्मते प्रकारभेदद्योतकस्यात्कारलाञ्छितप्रयोगेन सिद्धसाधनात्, अनेकान्तानुविद्धैकान्तगर्भत्वेनानेकान्तादेव व्यवस्थोपपत्तेश्च। तदुक्तं ***कार्तिकेयानुप्रेक्षायाम्*** "जं वत्थु अणेयन्तं एयंतं तं पि होदि सविवेक्खं। सुयणाणेण णएहि य निरवेक्खं दीसदे णेव।। (का.अनु.श्लो. २६१)

एतेन "स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानवत् सप्तत्व-पञ्चत्वनिर्धारणस्य फलस्य निर्धारयितुश्च प्रमातुस्तत्करणस्य प्रमाणस्य च तत्प्रमेयस्य च सप्तत्व-पञ्चत्वस्य सदसत्त्वसंशये साधु समर्थितं तीर्थकरत्वमृषभेणात्मनः निर्धारणस्य चैकान्तसत्त्वे सर्वत्र नानेकान्तवाद इति ***भामतीकारवचनं* प्रत्युक्तम्**, जीवादिपदार्थेषु सप्तत्वस्यास्तिकायेषु च पञ्चत्वस्य निर्धारणे स्वविषयापेक्षया सत्त्वस्याऽभ्युपगमेन अनेकान्तवादभङ्गाभावात्। तदुक्तं **वादमहार्णवे** - "अनेकान्तस्याऽपि स्यात्कारलाञ्छनैकान्तगर्भस्यानेकान्तस्वभावत्वात्। न चानवस्था, अन्यनिरपेक्षस्वस्वरूपत एव तथात्वोपपत्तेः। यद्वा स्वरूपत एवानेकान्तस्यैकान्तप्रतिषेधेनाऽनेकान्तरूपत्वात् स्यादेकान्तः स्यादनेकान्तः इति कथं नानेकान्तेऽप्यनेकान्तोऽपि?" (सम्म.त.का. ३/श्लो. २७ वृत्ति)

किञ्च "नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं" (मां.उप.१/पृ.५६) इति **मांडूक्योपनिषद्वचनस्य** 'विमुक्तश्च विमुच्यते' (कठोप. २/२/१) इति ***कठोपनिषद्वचनस्य***, 'तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (तै.उप.अ.६) इति ***तैत्तिरीयोपनिषद्वचनस्य***, "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (श्वे.उप.३/२०) इति ***श्वेताश्वतरोपनिषद्वचनस्य***, "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं यच्च-सच्च-त्यच्च" (बृह.उप.२/३/१) इति ***बृहदारण्यकोपनिषद्वचनस्य*** "नासदासीत् नो सद् आसीत् तदानी" (ऋ.सं.१० सूक्त १२९/१ इति) ***ऋग्सूत्रसंग्रहवचनस्य***, "नैव चिन्त्यं नचाऽचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च" (ब्र.उप.६) इति ***ब्रह्मबिन्दूपनिषद्वचनस्य***, "भावाऽभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्यहम्" (मै.उप.३/५) इति ***मैत्रेय्युपनिषद्वचनस्य***, "दिवा न पूजयेद् विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्। सततं पूजयेद् विष्णुं दिवारात्रं प्रपूजयेद्"।। (शां.उप.१/३८) इति ***शाण्डिल्योपनिषद्वचनस्य***, "न सर्वं सर्वमेव च" (महोप. ५/४६) इति ***महोपनिषद्वचनस्य***, "विद्धः सन् अविद्धो भवति उपतापी सन् अनुपतापी भवति" (छा.उप.८/४/१) इति ***छान्दोग्योपनिषद्वचनस्य***, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ.वे.१/१६४/४६) इति ***ऋग्वेदवचनस्य***,

१ देखिये भारतीयदर्शन (ब. उपा.) पृ. ११७, भारतीयदर्शन (राधा.) पृ. २७७ भारतीयचिंतनपरंपरा (दामो.) पृ. १३५ भारतीयदर्शन रूपरेखा (हिरि.) पृ. १६४।

एकत्रैव महीरुहे मूलशाखाद्यवच्छिन्नसंयोग-तदभावादीनामवच्छेदकरूपनिमित्तभेद इत्याद्यूहनीयम्।

'सदसद्वरेण्यम्' (मु.उप.२/१) इति ***मुण्डकोपनिषद्वचनस्य*** च प्रामाण्योपपादनमपेक्षाभेदं विना परैः कथमपि कर्तुं नैव शक्यते इत्यनेकान्तवाद एव विजयतेतरामिति **दिग्**।

वस्तुरूपं ह्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधितम्। अज्ञात्वा दूषणं तस्य, निजबुद्धिविडम्बनम्।।

पूर्वं "व्यञ्जकप्रतियोग्यादिरूपनिमित्तभेद" इत्यत्राऽऽदिपदनिवेशः कृतः तत्साफल्यं प्रदर्शयति- **'एकत्रैवेति** वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगो मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव इति प्रतीतिबलादवच्छेदकभेदेनैकत्रैव विरुद्धधर्मसमावेशस्य न्याय्यत्वात्। **अत एव** "आपेक्षिकधर्माणामेकत्र स्थितो विरोधो न्यायदर्शनमते न स्वीक्रियते।" (न्या.मु.प्र.पृ.३९) इति वदन् ***न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रभाकृदपि*** स्याद्वादमनुपतति।

एतेन "न चाऽन्योन्याभावस्याऽव्याप्यवृत्तित्वं अभेदस्याऽबाधितप्रत्यभिज्ञानादिति" ***गङ्गेशेन तत्त्वचिन्तामणौ विशेषव्याप्तिप्रकरण*** उक्तं **तत्प्रत्युक्तं**, "वृक्षोऽग्रावच्छेदेन कपिसंयोगी न मूलावच्छेदेने'ति किञ्चिदवच्छिन्नभेदगोचर-प्रतीतिमहिम्ना भेदस्याऽव्याप्य-वृत्तित्वस्य सिद्धेः, वृक्षवृत्तितयैव भेदस्य ग्रहात्। **न च** कपिसंयोगिभिन्नभेदज्ञानं बाधकं, कपिसंयोगिभेदवत्तद्वद्भेदस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वेनाविरोधात्। **नापि** मूलावच्छेदेन तज्ज्ञानं बाधकम्, असिद्धेः, तद्धर्म-वद्भिन्नभेदस्य तद्धर्ममात्रपर्यवसिततया कपिसंयोगिभिन्नभेदात्मनः कपिसंयोगस्य मूलवृत्तित्वे विरोधाच्च। न हि घटभिन्नभेदो घटत्वादतिरिच्यते, क्लृप्तघटत्वेनैवोपपत्तौ अतिरिक्तकल्पनायां मानाभावात्। यथा घटवत्ताग्रहे घटाभावा-ग्रहात् घटाभावाभावव्यवहाराच्च घटाभावाभावो घटस्वरूपस्तथा कपिसंयोगिभिन्नभेदवत्ताग्रहे कपिसंयोगाभावाग्रहात् कपिसंयोगव्यवहाराच्च कपि-संयोगः कपिसंयोगिभिन्नभेदस्वरूप एवेति **दिक्**।

अवच्छेदकरूपनिमित्तभेद इति। अवच्छेदकत्वं च ***पक्षधरमिश्रमते*** स्वरूपसम्बन्धविशेषः **दीधितिकारमते** चानति-

विवरणकार ने दी है।

✱ एक ही धर्मी में अवच्छेदकरूप निमित्तभेद से विलक्षण प्रतीत्यधर्मों का समावेश ✱

एकत्रैव. इति। अब विवरणकार अवच्छेदकरूप निमित्तभेद से एक ही धर्मी में विलक्षण प्रतीत्यभावों का समावेश बताते हैं। एक ही वृक्ष में शाखा भाग में जब बंदर होता है और मूल भाग में बंदर नहीं होता है तब लोगों को यह प्रतीति होती है कि 'वृक्षः शाखावच्छेदेन कपिसंयोगी मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववान्' अर्थात् वृक्ष अपनी शाखा की अपेक्षा कपिसंयोगवाला है और अपने मूलरूप भाग की अपेक्षा कपिसंयोग के अभाववाला है। यद्यपि आपाततः कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव का परस्पर विरोध प्रतीत होता है फिर भी अवच्छेदकभेद का अवलंबन करने पर यह विरोध भी समाप्त होता है। दोनों ही अवच्छेदकभेद से एक ही द्रव्य में रहते हैं। इस तरह इस विषय में सूक्ष्मता से अधिक विचार भी किया जा सकता है - इसकी सूचना देने के लिए विवरणकार ने 'इत्यादि ऊहनीयम्' ऐसा शब्दप्रयोग किया है।

शंका :- **'अणुत्व.'** इति। अणुत्व-महत्त्वादि धर्म निमित्तभेद से एक धर्मी में रहते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है - यह प्रतिपादन करना उचित नहीं है, क्योंकि एक ही धर्मी में अणुत्व-महत्त्वादि धर्मों का परस्पर विरोध हम मानते ही नहीं हैं। अणुत्व-महत्त्व आदि में विरोध हो तब अवच्छेदकभेद - निमित्तभेद आदि का आश्रय करना संगत होता। मगर वैसा है ही कहाँ? "जैसे एक धर्मी में रूप-रस आदि धर्म एक साथ बिना किसी निमित्तभेद के रहते हैं, ठीक वैसे ही एक धर्मी में अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म रह सकते हैं। अतः निमित्तभेद को बताकर एकत्र अणुत्व-महत्त्वादि धर्म का समावेश करना ठीक नहीं है।

✱ प्रतीत्यभाव सर्वथा अविरोधी नही है ✱

समाधान :- ***हन्त तर्हि. इति***। जनाब ऐसा कहने से भी आपका सितारा न चमकेगा, क्योंकि यदि आप अणुत्व-महत्त्वादि प्रतीत्यभावों में सर्वथा अविरोध मानेंगे तब आपत्ति यह आयेगी कि अनामिका कनिष्ठा की अपेक्षा से भी छोटी हो जायेगी। आशय यह प्रतीत होता है कि - यदि वस्तु में किसी अपेक्षा से या निमित्तभेद से प्रतीत्यभाव का समावेश न किया जाय किन्तु सर्वथा यानी

अणुत्व-महत्त्वादीनां विरोध एव न कल्प्यत इति किममुना प्रयासेनेति **चेत्? हन्त!** तर्हि कनिष्ठापेक्षयाऽपि ह्रस्वत्वमनामिकायां किं न स्यादिति **दिग्**।।२९।।

रिक्तवृत्तित्वम्। स्वमते चावच्छेदकत्वं न स्वरूपसम्बन्धविशेषादि किन्त्वतिरिक्तमेव। यदि चावच्छेदकत्वमवच्छिन्नस्वरूपं स्यात् तदा घटत्वं प्रतियोगितावच्छेदकमित्यस्य घटत्वं प्रतियोगितावदित्यर्थः स्यात् प्रतियोगिताया घटत्वावच्छिन्नत्वात्। यदि चावच्छेदकत्वमवच्छेदकरूपं स्यात्तदा 'घटत्वं घटत्ववदि'त्यादिः स्यात्। तथा चापसिद्धान्तः। अतोऽवच्छेदकत्वमतिरिक्तमेवाभ्युपेयम्, न तु स्वरूपसम्बन्धविशेषादिरूपम्। तच्च द्विविधं सावच्छिन्नं निरवच्छिन्नं च। अवच्छेदकतावच्छेदकं त्ववच्छेदकांशे विशेषणतापन्नमेवेत्यधिकं **विषयतावादे**।

इदं देशरूपावच्छेदकात्मकनिमित्तभेदस्योदाहरणम्। एवं कालपर्यायादिरूपावच्छेदकात्मकनिमित्तभेदमादाय- 'घटः प्राक् श्यामो नेदानीं, संयमपर्यायविशेषावच्छेदेनात्मनि मनःपर्यवज्ञानम् अविरतिपर्यायावच्छेदेन च तदभाव' इत्यादि स्वयमूह्यम्। इदं चोपलक्षणमवध्यादिरूपनिमित्तभेदस्य, **तदुक्तं *उपदेशरहस्य*** - सावधिकभावानामवधिज्ञानव्यङ्ग्यत्वात्" (श्लो. १३६) तच्च "घटः पटात्पृथक्, न स्वस्मादि'त्यादिज्ञाने सम्भवति।

इदं च परसमयापेक्षया द्रष्टव्यम्। स्वसमये तु पृथक्त्वस्याऽन्योन्याभावरूपस्य ***स्याद्वादरहस्य-कल्पलतादौ*** प्रकृतप्रकरणकारेणैव साधितत्वात्। स्वसमये त्ववधिनिमित्तभेदापेक्षवचनं 'पाटलीपुत्रात्प्रतीच्यां वाराणसी न प्रयागादि'त्यादि बोध्यमित्येतत्सूचनार्थं **'इत्याद्यूहनीय'**मित्युक्तम्।

सर्वं सर्वथा सर्वात्मकमिति वादी शङ्कते - **अणुत्वेति**। सर्वधर्माणां सर्वथा सर्वत्र विद्यमानत्वेनाऽविरोधान्निमित्तभेदप्रतिपादनेन निरर्थकनिग्रहस्थानप्राप्तिरिति शङ्काकाराशयः। तन्निराकरोति- **हन्त!** इत्यादिना। सर्वथा विरोधाभावकल्पने यथाऽनामिकायां मध्यमापेक्षया ह्रस्वत्वं तथैव कनिष्ठापेक्षयाऽपि तत्स्यात्। इदमुपलक्षणम् अनामिकायां कनिष्ठापेक्षया दीर्घत्वमिव मध्यमापेक्षयाऽपि तत्स्यादित्यस्येति। तथा च मिथो द्वयोरपि दीर्घत्वह्रस्वत्वादिव्यवहारोऽपि स्यात्। एवमेव घटादेः स्वद्रव्याद्यपेक्षयेव परद्रव्याद्यपेक्षयापि सत्त्वं स्यात्। ततश्च घटस्याऽपि स्वरूपतः पटत्वादिस्वरूपमापद्येत प्रतिनियतव्यवहारादिलोपश्च। तथा सति- "चोदितो दधि खादेति **किमुष्ट्रं** नाभिधावति।। (प्र.वा.१८२) इत्यादिपरवादिप्रहारा दुष्प्रतिकारा इति सूचनार्थं दिक्पदनिवेशः कृतः।।२९।।

परः शङ्कते-**नन्विति। न भावा** इति। न परमार्थसत्याः **तुच्छा** इति यावत्। अत्र- सत्यभाषाविभागे प्रतीत्यभाषासमावेशो न युक्तः, सत्यभाषाविभाजकोपाधिशून्यत्वात्, तस्या असत्यत्वात्। तदपि कथमिति **चेत्**? उच्यते 'प्रतीत्यभाषा असत्या तुच्छविषयत्वात् वन्ध्यापुत्रविकल्पवत्' इति नन्वाशयः। प्रतीत्यभाषायां तुच्छविषयत्वसाधनार्थं- प्रतीत्यभाषाविषयीभूता अणुत्व-महत्त्वादयः तुच्छा परापेक्षप्रतिभासविषयत्वात् घटाभाववदिति प्रयोगः। तुच्छत्व-परापेक्षप्रतिभासविषयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिं दर्शयति- **ये य** इति। एतच्च **भौतविकल्पतुल्यम् तथाहि** केनचिद् भौतेन राजद्वारि द्विरदमालोक्य विकल्पितं किमयमन्धकारो मूलकमस्ति आहोस्विज्जलवाहो बलाकान् वर्षति गर्जति च यद्वा बान्धवोऽयं, 'राजद्वारे स्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव' इति परमाचार्यवचनात् अथवा योऽयं भूमौ दृश्यते तस्य च्छायेति?

सब प्रकार से प्रतीत्यभाव का एक वस्तु में समावेश किया जाए तब तो सब प्रतीत्यभाव सब प्रकार से-सभी अपेक्षा से - सब निमित्तों से प्रत्येक वस्तु में रहने लगेगे। अतः जैसे अनामिका में मध्यमा की अपेक्षा ह्रस्वत्व=छोटापन रहता है वैसे ही कनिष्ठा की अपेक्षा भी छोटापन रह जायेगा। लेकिन इसे स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि तब लोकव्यवहारविरोध, प्रतीतिविरोध आदि अनेक दोष आते हैं। सब लोग का अनुभव ऐसा ही है कि - 'अनामिका मध्यमा की अपेक्षा छोटी है, कनिष्ठा की अपेक्षा नहीं'। अतः मानना होगा कि - बिना निमित्तभेद के अणुत्व-महत्त्वादि प्रतीत्यभावों में विरोध रहता ही है। इस विषय में अधिक विचार भी हो सकता है। विवरणकार ने जो बताया है वह तो एक दिशासूचन मात्र है - ऐसा सूचन करने के लिए विवरणकार ने दिग् शब्दप्रयोग किया है।।२९।।

ननु अणुत्व-महत्त्वादयो न भावाः परापेक्षप्रतिभासविषयत्वात्, ये ये भावास्ते न परापेक्षप्रतिभासविषया यथा रूपादयः, तथा च प्रतीत्यभाषाऽप्यसत्यैव तुच्छविषयत्वादिति **चेत्**? उच्यते-

[1]ते होंति परावेक्खा वंजयमुहदंसिणोत्ति ण य तुच्छा। दिट्ठमिणं वेचित्तं सरावकप्पूरगंधाणं।।३०।।

दूषितञ्च, तत्र नाऽऽद्यः, अन्धकारस्य शूर्पयुगलप्रस्फोटनाऽभावात्। न द्वितीयः, जलवाहस्य स्तम्भचतुष्टयाऽभावात्। न तृतीयः, बान्धवस्य लगुडभ्रामणाभावात्। न चतुर्थः, तस्या नरशिरःशतोद्गिरणाभावात्। ततो न किञ्चिदस्ति। किमेतावता द्विरदरूपं निवर्तताम्? नेति चेत्? तर्हि प्रमाणतः प्रतीयमाना अणुत्व-महत्वादयः कथं निवर्तन्ताम्?

यद्यणुत्व-महत्त्वादयः परापेक्षप्रतिभासविषयाः स्युस्तर्हि भावा न स्युरिति व्याप्तिरेव नास्तीति प्रसङ्गे मूलशैथिल्यं विपर्यये च बाधं प्रदर्शयति- **'ते होंति'** इत्यादिना। ***अनेकान्तव्यवस्था-द्रव्यगुणपर्यायरास-स्याद्वादकल्पलताऽष्टसहस्त्रीतात्पर्यविवरणादा***वियं गाथा प्रकृतप्रकरणकारेणोद्धृता वर्तते।

❋ प्रतीत्यभाव काल्पनिक है - शंका ❋

शंका :- ***ननु. इति***। ज्ञान का विषय जब असत् काल्पनिक होता है, तब जैसे ज्ञान अप्रमाण कहलाता है ठीक वैसे ही जिस भाषा का विषय असत्-तुच्छ होता है वह भाषा भी असत्य कहलाती है, सत्य नहीं। यह सर्वजनविदित है। अतः प्रतीत्यभाषा भी सत्य नहीं है किन्तु मृषा ही है, क्योंकि प्रतीत्यभाषा का विषय तुच्छ-काल्पनिक होता है। यहाँ यह शंका करना उचित नहीं है कि - 'प्रतीत्यभाषा का विषय तुच्छ कैसे होगा?' - क्योंकि प्रतीत्यभाषा के विषय परसापेक्ष प्रतीति के विषय हैं। यह एक नियम है कि - जो पारमार्थिक सत्यभाव होते हैं वे सापेक्ष प्रतिभास के विषय नहीं होते हैं, जैसे रूप आदि पारमार्थिक भाव। घट आदि के रूप आदि धर्म का ज्ञान तो अन्य किसीकी अपेक्षा के बिना ही रूप आदि का बोध कराता है। जो सत्य है वह अन्य किसीकी अपेक्षा क्यों करे? तथा जो अपना ज्ञान कराने में अन्य किसीकी अपेक्षा रखे वह सत्य कैसे होगा? उसे काल्पनिक कहना ही ठीक रहेगा। देखिये, अनामिका अंगुलि का ज्ञान होने पर वह ज्ञान तुरंत ही अनामिका में अंगुलित्व आदि धर्म का निश्चय कराता है। अतः अनामिका में अंगुलित्व आदि धर्म पारमार्थिक सत्य हैं, मगर अनामिका का ज्ञान उत्पन्न होने पर भी उसमें ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि प्रतीत्यभावों का ज्ञान तब तक नहीं होता है जब तक उनके व्यंजकनिमित्तभूत मध्यमा और कनिष्ठा का ज्ञान उत्पन्न न हो। अनामिका में ह्रस्वत्व या दीर्घत्व का ज्ञान कराने के लिए अनामिकाविषयक ज्ञान मध्यमाविषयक और कनिष्ठाविषयक ज्ञान की अपेक्षा रखता है। अतः ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि धर्म परसापेक्ष ज्ञान के विषय होने से मिथ्या हैं, तात्त्विक नहीं। इसी तरह अणुत्व-महत्त्वादि सापेक्षभाव भी तुच्छ सिद्ध होते हैं। अतः काल्पनिक प्रतीत्यभाव विषयक प्रतीत्यभाषा भी असत्य ही सिद्ध होती है, सत्य नहीं। अतः प्रतीत्यभाषा का सत्यभाषा के अवान्तर भेद में परिगणन करना ठीक नहीं है। अतः सत्यभाषा का प्रदर्शित विभाग भी समीचीन नहीं है"।

इस शंका का समाधान श्रीमद्जी ३०वीं गाथा से बता रहे हैं। शंका होने पर उसका समाधान इस दुनिया में अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस जगत में शेर को सवाशेर मिलना मुश्किल नहीं है।

❋ प्रतीत्यभाव सापेक्ष होने पर भी वास्तविक है - समाधान ❋

गाथार्थ :- प्रतीत्यभाव व्यंजक मुखदर्शी होने से परापेक्ष हैं, मगर वे तुच्छ नहीं हैं, क्योंकि शराव और कर्पूर की गंध में यह विचित्रता देखी जाती है कि मिट्टि के शराव की गंध अपने व्यंजक से व्यक्त होती है जब कि कर्पूर की गंध अपने आप ही प्रकट होती है, फिर भी दोनों ही गंध वास्तविक हैं। शराव की गंध परसापेक्ष होने पर भी तुच्छ नहीं है।३०।

विवरणार्थ :- अणुत्व-महत्त्व आदि प्रतीत्यभाव प्रतिनियतव्यंजक से व्यंग्य होने से अपना बोध कराने में परसापेक्ष होते हुए भी तुच्छ नहीं हैं किन्तु पारमार्थिक ही हैं।

१ ते भवन्ति परापेक्षा व्यञ्जकमुखदर्शिन इति न च तुच्छाः। दृष्टमिदं वैचित्र्यं शरावकर्पूरगन्धयोः।।३०।।

ते=प्रतीत्यभावाः, **व्यञ्जकमुखदर्शिनः** = प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः सन्तः **परापेक्षा इति न च** = नैव **तुच्छाः**। प्रतियोग्यनुस्मरणमत्र सप्रतियोगिकज्ञानसामग्रीसम्पादनार्थं न तु विकल्पशिल्पकदर्थनार्थमिति भावः।

अथ धर्मिज्ञानसामग्र्या एव धर्मज्ञानसामग्रीत्वात्कथमणुत्व-महत्त्वादिधर्मिज्ञाने तज्ज्ञानहेतुविलम्ब इत्यत आह- **दृष्ट** =

सप्रतियोगिकेति। अणुत्व-महत्त्वादिसप्रतियोगिकभावविषयकं ज्ञानं स्वोत्पत्तौ प्रतियोगिस्मरणादिघटितां स्वसामग्रीमपेक्षते। न चैतावताऽणुत्व-महत्त्वादिसापेक्षभावेषु तुच्छत्वम्, अन्यथा रूपादेरपि तुच्छत्वं स्यात्, रूपादिविषयकज्ञानस्य चक्षुरादिघटितसामग्र्यपेक्षणात्। **यत्तु *बर्कली*** नाम्नाऽऽधुनिकतत्त्वचिन्तकेन 'रूपादीनामस्तित्वं बुद्धिसापेक्षमेव न तु स्वतन्त्रं ज्ञेयत्वेन तेषां ज्ञाने एव विलयादिति' प्रतिपादितं **तन्न** चारु ज्ञेयस्य ज्ञानानतिरिक्तत्वनियमाभावात्, अर्थक्रिया-कारित्वेन तेषां पारमार्थिकत्वात् साकारवादस्याऽन्यत्र बहुशो निराकृतत्वादिति दिक्। किञ्च घटात्यन्ताभावस्याऽपि प्रतियोगिज्ञानसापेक्षज्ञान- विषयत्वेऽपि न तुच्छत्वम् तस्य घटशून्याधि-करणरूपत्वात्। तदुक्तं ***लतायां*** चतुर्थस्तबके - "प्रतियोगिमद्भिन्नाधिकरणस्यैवाभावस्वरूपत्वे लाघवा-दिति" (शा.समु.स्त.४.पृ.८४)

शङ्कते-अथेति। धर्मिज्ञानेति। आमलकादिरूपधर्मिज्ञानसामग्र्या एव तद्गतरूपादिधर्मविषयकज्ञानसामग्रीत्वाद्यथा युगपत्फलतद्गतरूपादिप्रतिभासो भवति तथैव तद्गताणुत्व-महत्त्वादिप्रतिभासेन भवितव्यम्, एकसामग्रीकत्वादिति अथाशयः।

शंका :- अपना बोध कराने में जो पर की अपेक्षा रखता है वह तुच्छ होता है - यह तो हमने पहले ही बता दिया है। अतः प्रतिनियतव्यंजक से व्यक्त होने से अणुत्व-महत्त्व आदि भाव भी विकल्परूप शिल्पी से निर्मित सिर्फ कल्पनामात्र है, न कि तात्त्विक। जो तात्त्विक है वह अपना ज्ञान कराने में अन्य की अपेक्षा क्यों करे? यह भी हमने पहले बता दिया है। क्या आप भूल गये हैं?

* प्रतीत्यभाव पारमार्थिक है *

समाधान :- ***प्रतियोग्यु. इति***। नहीं, हम भूल नहीं गये हैं। मगर आपका वह वक्तव्य ठीक नहीं है। अणुत्व-महत्त्व आदि प्रतीत्यभावों का ज्ञान उत्पन्न होने में अपनी सामग्री की अपेक्षा रखता है क्योंकि कोई भी कार्य अपनी सामग्री के बिना पैदा नहीं होता है। अणुत्व-महत्त्व आदि सप्रतियोगिक भाव विषयक ज्ञान की सामग्री प्रतियोगी के स्मरण से घटित है, प्रतीयोगी का स्मरण अणुत्व-महत्त्व आदि के ज्ञान की सामग्री का घटक है। अतः अणुत्व-महत्त्व आदि सापेक्षभावों के ज्ञान में ज्ञानसामग्रीघटकीभूत प्रतियोगिस्मरण की अपेक्षा आवश्यक होने से प्रतियोगिस्मरण भूषण है, दूषण नहीं। यदि विषय अपना ज्ञान कराने में स्वविषयकज्ञानसामग्री के घटक की अपेक्षा करे इतने से हि वह काल्पनिक माना जाय तब आपके अभिमत रूप आदि भी काल्पनिक ही हो जायेंगे क्योंकि वे भी अपना ज्ञान कराने में चक्षु आदि की अपेक्षा रखते ही हैं। अतः प्रतियोगिस्मरण की अपेक्षा होने से प्रतीत्यभावों को तुच्छ कहने का दुःसाहस ठीक नहीं है।

शंका :- ***अथ. इति***। हमारा तात्पर्य यह है कि - फल आदि धर्मी का ज्ञान होने पर ही तद्गत अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म का ज्ञान भी फलादिगत रूपादि विषयक ज्ञान की तरह उत्पन्न होना चाहिए, यदि रूपादि की तरह अणुत्व-महत्त्व आदि भी पारमार्थिक हो तो। यह एक नियम है कि धर्मिविषयक ज्ञान की सामग्री ही धर्मिगतधर्मविषयक ज्ञान की सामग्री है। जैसे, आँख आदि से आँवले का ज्ञान होने के समय पर ही आँवला के रूप का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है। आँवले के रूप के ज्ञान को उत्पन्न होने में अन्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती है। अतः हमारा प्रश्न यह है कि अणुत्व-महत्त्व आदि धर्म का ज्ञान धर्मिज्ञान के साथ साथ ही क्यों उत्पन्न नहीं होता है? पहले धर्मी का ज्ञान और बाद में अणुत्व आदि धर्म का ज्ञान ऐसा क्यों होता है?

* पारमार्थिक भाव सापेक्ष और निरपेक्षरूप से द्विविध *

समाधान :- **दृष्टं** इति। व्यवहार में यह विचित्रता देखी जाती है कि कुछ भाव इंद्रियादि के अतिरिक्त सहकारी कारण से व्यक्त होते हैं और कुछ पदार्थ सहकारी कारण के बिना अपने आप ही व्यक्त होते हैं। ह्रस्वत्व आदि धर्म प्रतियोगिज्ञानरूप व्यंजक से व्यक्त

साक्षात्कृतम्, **इदं वैचित्र्यं**=केचिद्भावाः सहकारिव्यङ्ग्यरूपाः केचिच्च न तथेति वैलक्षण्यम् **शरावकर्पूरगन्धयोः** कर्पूरगन्धो हि स्वरसत एव भासते शरावगन्धस्तु जलसम्पर्कादिति।

न च जलसम्पर्काच्छरावेऽभिनवगन्ध एवोत्पद्यते न तु प्रागुत्पन्न एव गन्धोऽभिव्यज्यत **इति,** पृथ्वीत्वेन पूर्वमपि तत्र

यद्यपि अत्र **वादिदेवसूरिमते-** "क्षयोपशमविशेषात् प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्ष एव युगपद्धर्मितद्गताणुत्व-महत्त्वादि-धर्मविषयः प्रतिभासो भवत्येव अणुत्व-महत्त्वादिव्यवहारस्यैव परापेक्षत्वात् न पुनः तज्ज्ञानस्ये"त्येवं समाधानप्रकारः सम्भवति। तदुक्तं **रत्नाकरे-** "भेदव्यवहार एव परापेक्षः न पुनः भेदस्वरूपप्रतिभासो यतः स हि तथाविधक्षयोपशम-विशेषात् प्रतियोगिग्रहणनिरपेक्ष एव प्रादुर्भवति इति सिद्धो युगपद्भेदप्रतिभासः" (स्या.रत्ना.१/१६) **तथापि** तत्र यदि परस्याऽस्वरसः स्यात्तदा उपायस्योपायान्तराऽदूषकत्वादितिन्यायेन प्रकारान्तरप्रदर्शनस्य युक्तत्वात्प्रकारान्तरेण समाधत्ते- **दृष्टमिति**। सुगमम्। अयं भावः व्यवहारतः केचिदर्था निरपेक्षाः केचिच्च सापेक्षा अनुभवबलेनैव श्रद्धेयाः तथैव पदार्थवैचित्र्यस्य व्यवस्थितत्वात्। तत्त्वतस्तु सामान्यदृष्ट्या सर्वे निरपेक्षा विशेषदृष्ट्या च सर्वे सापेक्षाः व्यञ्जनपर्यायैः सदृशानामप्यर्थपर्यायैर्वैसादृश्यस्य शास्त्रसिद्धत्वादित्य***ष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे*** प्रपञ्चितम्।

न च सर्वे भावाः सापेक्षा एव निरपेक्षा एव वा स्युः न द्विविधाः, गौरवादिति**वाच्यम्** स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। तदुक्तं **जैनतर्के-** केचिद्भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः केचिन्नेत्यत्र स्वभावविशेष एव शरणम्। (अने.व्य.पृ.३)

वस्तुतस्तु अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रत्यक्षगोचरत्वेन तद्ग्रहणे सामान्यतः तद्गतसप्रतियोगिकनिष्प्र-तियोगिकधर्मा गृहीता एव, 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ।' (आ.श्रु.१.अ.३/३४) इति वचनात्। ततः सप्रतियोगिकधमषु नास्ति तुच्छत्वम्, हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्, अन्यप्रतिभासानधीनप्रतिभासविषयत्वात्। सापेक्ष-धर्माणां सुस्पष्टबोधाथ तु प्रतियोगिस्मरणमपि युज्यते तत्सम्पाद्यत्वात्तस्येति विभावयामि।

किञ्च परापेक्षप्रतिभासविषयत्वादिति विरुद्धं हेतुं प्रतिपादयन् प्रतिवादी कथं विदुषां हास्यतां न व्रजेत्? परा-पेक्षप्रतिभासविषयत्वस्य भावत्वव्याप्यत्वात्। तदुक्तं **प्रमेयरत्नमालायाम्-** "न चापेक्षिकत्वादस्याऽवस्तुत्वम्, अव-स्तुन्यपेक्षिकत्वाऽयोगात्, अपेक्षाया वस्तुनिष्ठत्वादि'ति। (प्र.र.मा.पृ.१५) **एतेन** 'यत्सापेक्षमिहेक्षितं भवति तन्मायामयं स्वप्नवत्' (सं.शा.३/१९३) इति ***संक्षेपशारीरककृतो*** वचनं **प्रत्युक्त**मिति **दिक्**।

पृथ्वीत्वेन=पृथ्वीत्वहेतुना **पूर्वमपि**=जलसम्पर्कात्पूर्वमपि **तत्र**=शरावे **गन्धावश्यकत्वात्**=गन्धस्याऽवश्यं स्वीकर्तव्य-

---

होता है और रूप आदि धर्म प्रतियोगिज्ञानरूप सहकारी के बिना ही व्यक्त होता है - यह बात ठीक उस तरह ज्ञातव्य है जैसे की शराव की गंध और कर्पूर की गंध। शराव = मिट्टी के पक्के नये बर्तन की गंध जलसम्पर्क का सन्निधान होने पर अभिव्यक्त होती है। मिट्टी के नये बर्तन की सुवास अपने आप व्यक्त नहीं होती है, किन्तु पानी के छिंटकने पर व्यक्त होती है। जब कि कर्पूर की सुगंध किसी व्यंजक की अपेक्षा किये बिना ही अभिव्यक्त होती है। लेकिन कोई ऐसा नहीं कहता है कि 'कर्पूर की खुशबु ही सत्य है, शराव की नहीं'। इस तरह व्यंजक की अपेक्षा रखते हुए भी अणुत्व-महत्त्वादि धर्म सत् होते हैं, तुच्छ नहीं।

शंका :- ***जलसंपर्काच्छरावे. इति***। मिट्टी के नये पक्व बर्तन में जलसंचार होने के पूर्व में गंध की विद्यमानता और उसकी जलसंचार से अभिव्यक्ति होती है - यह बात हमें मान्य नहीं है। हम यह मानते हैं कि पानी डालने से पूर्व में गन्ध नहीं होती है, किन्तु जलसंचार के बाद नयी गंध पैदा होती है। अतः जलसंचार को गंधव्यंजक कहना ठीक नहीं है, किन्तु गन्धजनक कहना ही ठीक है। इसी तरह गंध जलसिंचन से व्यंग्य नहीं है, किन्तु जन्य है। अतः आपकी शरावगंध के द्रष्टांत से अणुत्व-महत्त्व आदि के व्यंग्यत्व की सिद्धि की कामना धराशय हो जाती है।

✱ जलसंचार के पूर्व भी शराव में गन्ध की सिद्धि ✱

समाधान :- ***पृथिवीत्वेन. इति***। आपकी तथ्यहीन बात से कुछ सिद्ध होनेवाला नहीं है। जलसंचार के पूर्व में भी शराव में गन्ध

गन्धावश्यकत्वात् तन्नाशादिकल्पनायां मानाभावाद्, विलक्षणाग्निसंयोगादीनामेव पृथिवीगन्धनाशकत्वाच्चेति दिग्।

त्वात्। अयं भावः गन्धवत्त्वस्य पृथिवीलक्षणत्वेन जलसम्पर्कात्पूर्वमपि शरावे गन्धवत्तायाः स्वीकर्तव्यत्वात्, अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते। **न च** गन्धसमवायिकारणत्वस्यैव पृथिवीलक्षणत्वमभ्युपगम्यत इति **वाच्यम्** सम्भवति लघौ, गुरुधर्मे तत्स्वीकारस्यानौचित्यात्। अस्तु वा तथा तथापि तत्र गन्धः सिध्यति। कथमन्यथा तद्भस्मनि गन्ध उपलभ्यते? भस्मनो हि शरावध्वंसजन्यत्वेन शरावोपादेयत्वं सिध्यति। **एतेन** यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमिति व्याप्तेरिति ***न्यायसिद्धान्तमुक्तावलिकार***वचनं **निरस्तम्** यद्द्रव्यं यद्द्रव्यध्वंसजन्यं तत्तदुपादानोपादेयमित्यपेक्षया तत्तदुपादेयमिति व्याप्तेरेव लाघवेन स्वीकर्तव्यत्वात्, एतच्चा***ष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे*** सुस्पष्टम्।

ननु पाकेन शरावस्य आपरमाण्वन्तभङ्गात् तद्गतगन्धादयोऽपि विनश्यन्ति प्रतियोगितासम्बन्धेन समवायिकारणनाशस्य समवेतकार्यध्वंसकारणत्वादित्याशङ्कायामाह- **तन्नाशादिकल्पनायां मानाभावात्** = शरावनाशगन्धनाशादिकल्पनायां प्रमाणाभावात्।

एतेन 'घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभागाविभागेभ्यः संयोगविनाशाः संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाश (प्र.पा.भा.पृ.२५७) इत्यादि ***प्रशस्तपादभाष्यकारवचनमपास्तम्***, तद्देशत्व-तत्संख्या-तत्परिमाणोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपातादिप्रत्यक्षोपलम्भात्, अबाधितप्रत्यभिज्ञानाच्च परमाणुपर्यन्तनाशानभ्युपगमादित्यधिकं ***कल्पलतायामनु***सन्धेयम्।

गन्धाद्यनाशे हेत्वन्तरमाह-**विलक्षणाग्निसंयोगादीनामेवेति**। एवकारेण पाकप्रयोजकाग्निसंयोगस्य व्यवच्छेदः

होती ही है, क्योंकि शराव में पृथिवीत्व रहता है। पृथिवी का लक्षण गन्धवत्त्व है। अतः जहाँ पृथ्वीत्व रहेगा वहाँ गन्ध रहेगी ही। यदि शराव में गन्ध न होगी तब शराव में पृथ्वीत्व भी नहीं रहेगा, क्योंकि व्यापक के अभाव से व्याप्य के अभाव की सिद्धि होती है। यहाँ अनुमान प्रयोग ऐसा हो सकता है कि - शरावः गन्धवान् पृथ्वीत्ववत्त्वात् कस्तूरीवत्। पृथ्वीत्व और गन्ध के बीच व्याप्य-व्यापक भाव होने से पृथ्वीत्वरूप हेतु से शराव में गंधरूप साध्य की सिद्धि निराबाध है।

* पिलुपाकवादी की शंका *

शंका :- शराव में पृथ्वीत्व है यह हमें भी मान्य है, मगर जब कुम्हार मिट्टी के कच्चे शराव को पकाने के लिए अग्नि में डालता है तब अग्निसंयोग से शराव ही नष्ट हो जाता है तब शरावगन्ध बेचारी निराधार कहाँ रहेगी? अतः शरावनाश के बाद शरावगन्ध का भी नाश हो जाता है और अन्य जीवों के अदृष्ट से नये शराव की उत्पत्ति होती है। यह हमारी मान्यता है।

* गंधनाशकल्पना अयुक्त-स्याद्वादी *

समाधान :- **तन्नाशा.** इती। शराव को अग्नि की भट्ठी में डालने से शरावनाश, शरावगंध आदि का नाश, नवीन शराव की उत्पत्ति आदि की कल्पना में कोई प्रमाण न होने से आपकी उपदर्शित मान्यता मनीषियों को मान्य नहीं हो सकती है। प्रमेयसिद्धि प्रमाण के अधीन होती है। आपकी बात में कोई भी प्रमाण नहीं है तब इसका कैसे स्वीकार होगा? अन्यथा अन्य अप्रामाणिक वक्तव्य का भी स्वीकार करना होगा।

दूसरी बात यह है कि अग्निसंयोगसामान्य यानी सभी प्रकार का अग्निसंयोग गन्धनाशक नहीं होता है, मगर विलक्षण अग्निसंयोग ही पृथ्वी की गंध का नाशक होता है। शराव को पक्व बनानेवाला अग्निसंयोग वैसा विलक्षण नहीं है। गन्धनाशक अग्निसंयोग में जो वैजात्य रहता है वह वैजात्य पाकसंपादक अग्निसंयोग में नहीं होता है। पाक का मतलब है पृथ्वी के वर्ण-गंध आदि की परावृत्ति। पाकानुकूल अग्निसंयोग में गंधनाशकतावच्छेदक जातिविशेष न होने से उससे शरावगंध का नाश नहीं होता है।

एवं द्वित्वादिकमप्यपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यमेव न तु तज्जन्यं चैत्रीयापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य मैत्रस्याऽपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्।

कृतः। तथा चाऽऽमशरावपाकप्रयोजकाग्निसंयोगान्न पृथिवीत्वहेतुसिद्धगन्धस्य नाशः पृथ्वीगन्धनाशकतावच्छेदक-जातिविशेषशून्यत्वात् इति स्थितम्। एवञ्च जलसम्पर्कः पूर्वोत्पन्नस्य शरावस्थस्य गन्धस्याभिव्यञ्जको न त्वपूर्वगन्धोत्पादक इति सिद्धम्।

नैयायिका द्वित्वादिकमपेक्षाबुद्धिजन्यमेव मन्यन्ते। तेषामियं प्रक्रिया-प्रथमं 'अयमेकोऽयमेक' इत्याकारिकाऽपेक्षा-बुद्धिर्जायते। ततो द्वित्वोत्पत्तिः ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकं, ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धि-नाशश्च ततो द्वित्वनाश इति। द्वित्वं प्रति आश्रयगतैकत्वं असमवायिकारणम् अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम् आश्रयीभूतं द्रव्यं च समवायिकारणम्। तेषामिदमाकूतम्-द्वित्वस्य व्यंग्यत्वनयेऽपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षत्वं कार्यता-वच्छेदकं वाच्यं जन्यत्वनये तु द्वित्वत्वमेवेति लाघवम्।

तन्निराकरोति- **एवमिति**। यथा अणुत्व-महत्त्वादयः सप्रतियोगिकभावा निष्प्रतियोगिकरूपादिभावानामिव पदार्थैः सहैवोत्पद्यन्ते प्रतियोगिप्रतिसन्धानवशात्पश्चान्नोत्पद्यन्ते किन्तु व्यज्यन्ते, 'परत्वापरत्वे रूपादि च पदार्थैः सहैवोत्पद्यन्ते न त्वपेक्षाबुद्धिवशात्पश्चात्' (स्या. रत्ना. ५/८) इति ***वादिदेवसूरिवचनात्*** तथैव द्वित्वादिकमपि अपेक्षाबुद्ध्या व्यज्यते न जन्यते। अत्र विपक्षबाधकमाह **चैत्रीयापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य मैत्रस्यापि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादिति**। अयं भावः यथा कुलालजनितघटस्य चक्षुरादिसामग्रीवशात्कुलालस्य कुलालेतरस्य च प्रत्यक्षं जायते विषयनिष्ठप्रमातृ-जन्यत्वस्य प्रमातृनिष्ठविषयजनकत्वस्य वा प्रत्यक्षसामग्र्यघटकत्वात् तथैवाऽनेकैकत्वविषयिण्या बुद्ध्याऽपेक्षाबुद्ध्य-

✱ द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि से जन्य है - नैयायिक ✱

नैयायिक :- जलसंपर्क से शराव के गन्ध की अभिव्यक्ति होती है - इसका स्वीकार हम करते हैं, मगर अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व आदि संख्या उत्पन्न होती है, व्यक्त नहीं - इसका स्वीकार तो आपको भी करना ही होगा। इस सम्बन्ध में हमारी प्रक्रिया संक्षेप से इस तरह है - प्रारंभ में पुरुष को दो चीज देख कर - 'अयमेकः अयमेकः' इत्याकारक अपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है। अनन्तर समय में अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है। उसके बाद द्वित्वत्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है। बाद में द्वित्व का विशिष्टप्रत्यक्ष होता है और साथ साथ अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है। उसके बाद द्वित्वसंख्या का नाश होता है। द्वित्व की उत्पत्ति मानने में द्वित्वत्व अपेक्षाबुद्धि का कार्यतावच्छेदक धर्म होता है। द्वित्व के अभिव्यक्ति पक्ष में द्वित्वप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षत्व कार्यतावच्छेदक होता है। स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति - पक्ष में कार्यतावच्छेदक में गौरव होता है। अतः द्वित्व की उत्पत्ति मानना ही श्रेयस्कर है।

✱ द्वित्वादि अपेक्षाबुद्धि से व्यंग्य है - स्याद्वादी ✱

स्याद्वादि :- ***एवं. इति***। ओ नैयायिक के शागिर्द! साँप निकल गया अब लकीर पीटने से क्या? शरावगंध की जल से अभिव्यक्ति सिद्ध हो गई इसीसे द्वित्व की भी अपेक्षाबुद्धि से अभिव्यक्ति सिद्ध हो जाती है। आपकी बनाई हुई द्वित्व की उत्पत्ति की प्रक्रिया में कोई प्रमाण नहीं है। अतः आपकी मान्यता श्रद्धेय नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि द्वित्व की उत्पत्ति मानने के पक्ष में तो चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से जनित द्वित्व का मैत्र को भी, जो कि अपेक्षाबुद्धि से रहित है, प्रत्यक्ष होने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व तो सब के लिए समान ही है। प्रत्यक्षस्थल में यह कभी देखा नहीं गया है कि जो प्रमाता विषय का जनक हो उसके लिए ही वह विषय प्रत्यक्ष हो, अन्य के लिए नहीं। अन्यथा कुम्हार आदि की आजीविका ही उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि कुम्हार से जन्य घट का कुम्हार से भिन्न पुरुष को प्रत्यक्ष न होने पर वे लोग घट आदि को कैसे खरीदेंगे? मगर ऐसा नहीं होता है। अतः द्वित्व की अभिव्यक्ति मानना ही युक्त है।

नैयायिक :- आपने जो यह आपत्ति बताई है कि - द्वित्वोत्पत्ति के पक्ष में चैत्रीय अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व का मैत्र को भी प्रत्यक्ष हो जायेगा - यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्वित्व के प्रत्यक्ष का कार्यकारणभाव इस तरह है कि - चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से चैत्रीय द्वित्वसंख्या उत्पन्न होती है और मैत्र की अपेक्षाबुद्धि से मैत्रीय द्वित्वसंख्या उत्पन्न होती है। दूसरा यह भी एक नियम है कि - चैत्र

द्वित्वे च न चैत्रीयत्वमस्ति येन चैत्रीयद्वित्वे चैत्रीयापेक्षाबुद्धेश्चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षे चैत्रीयद्वित्वस्य च हेतुत्वं स्यादित्यन्यत्र विस्तर

पराभिधानया चैत्रनिष्ठया जनितस्य द्वित्वस्य चैत्रस्येव मैत्रस्याऽप्यपेक्षाबुद्धिशून्यस्य प्रत्यक्षत्वं स्यात् चक्षुरादिसामग्रीसद्भावात्। न चैतदिष्टम्, द्रष्टविरोधात्। अतो द्वित्वादिकमपेक्षा- बुद्धिव्यङ्ग्यमेवेति सिद्धमिति भावः।

ननु मया पुरुषान्तरापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाय चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षं प्रति चैत्रापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वत्वेन रूपेण चैत्रापेक्षाबुद्धिजनितद्वित्वस्य हेतुत्वं कल्प्यते। कार्यतावच्छेदकसम्बन्धो द्वित्वनिष्ठविषयता कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च तादात्म्यं तथा समवायेन चैत्रीयद्वित्वे विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धेन चैत्रापेक्षाबुद्धेः हेतुत्वं कल्प्यते। तथा च चैत्रीयद्वित्वस्य मैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्षेऽहेतुत्वादेव मैत्रस्य न तत्प्रत्यक्षत्वाऽऽपत्तिरिति मत्पक्षे न दोषलेशगन्धोऽपीति नैयायिकाशयं निरस्यति- **द्वित्वे चे**ति।

यद्यपि जन्यत्वपक्षे अपरिमितद्वित्वादिध्वंस-प्रागभावादिकल्पनायां गौरवम्, नानापुरुषीयक्रमिकापेक्षाबुद्धिसमसङ्ख्यतुल्यव्यक्तिकनानाद्वित्वादिकल्पनायां महागौरवम्, मानसत्वादिव्याप्यजातिविशेषेणापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वादिहेतुत्वे तदभिमतेश्वरापेक्षाबुद्ध्या परमाणुद्वित्वाद्यजननापत्तिः तथा च सति- 'कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात्सङ्ख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।। (न्या.कु.५/१) **इत्युदयनवचनविरोधः**। ईश्वरज्ञानसाधारणद्वित्वादिजनकतावच्छेदकजातिस्वीकारे च जन्यसाक्षात्कारत्वादिना साङ्कर्यं त्रित्वाद्युत्पत्तिकाले द्वित्वाद्युत्पत्त्यापत्तिश्च दुर्निवारा इति बहवो दोषा**स्तथापि** स्फुटत्वात्तानुपेक्ष्य मूलशैथिल्यप्रदर्शनार्थं-**द्वित्वे च न चैत्रीयत्वमस्तीत्युक्तम्**। अयं भावः परैः द्वित्वादिकं प्रति अपेक्षाबुद्धेर्निमित्तकारणत्वमभ्युपगम्यते न तु समवायिकारणत्वम् ततश्च द्वित्वे चैत्रीयत्वादिस्वरूपोऽपेक्षाबुद्धिकृतविशेषो भवितुं नार्हति अन्यथा सुवर्णदण्डजन्यघटेऽपि काष्ठदण्डजन्यघटापेक्षया वैजात्यं स्यात् तथा च काष्ठसुवर्णदण्डद्वयजनितैकघटे तयोः साङ्कर्यं दुर्निवारम् दण्डद्वयजन्यघटे जात्यन्तरस्वीकारे च गौरवात् मानाभावाच्चेत्यादि सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

किञ्च द्वित्वादिजन्यनये समश्रेण्यवस्थिते घटद्वये 'अयमेकः' इतिज्ञानं प्रमाणं स्यात् तद्वति तत्प्रकारकज्ञानरूपत्वात् द्रष्टुरपेक्षाबुद्ध्यनुत्पादेन द्वित्वस्यानुत्पन्नत्वात्। न चेष्टापत्तिर्वक्तुं युज्यते मृषाभाषित्वेन तन्निग्रहस्यानुपपत्तेरिति **दिक्। यद्यपि *स्याद्वादकल्पलतायां*** प्रकरणकारेणाऽपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारनिमित्तत्वं 'ममाप्यपेक्षाबुद्धेरेव

को द्वित्व का प्रत्यक्ष होने में चैत्रीय द्वित्व हेतु होता है, मैत्रीय द्वित्व नहीं तथा मैत्र को द्वित्वप्रत्यक्ष होने में मैत्रीयद्वित्व हेतु होता है, चैत्रीय द्वित्व नहीं। उपर्युक्त दो नियमों के अनुसार अब चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व संख्या का मैत्र को प्रत्यक्ष होने की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि चैत्रीय अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व चैत्रीयद्वित्व होता है, जो कि चैत्र के हि द्वित्वप्रत्यक्ष में हेतु होता है। यदि मैत्र को द्वित्व का प्रत्यक्ष करना हो तब मैत्रीय द्वित्व की आवश्यकता है जो कि मैत्र की अपेक्षाबुद्धि से जन्य है न कि चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से। जहाँ मैत्र को 'अयमेकोऽमेकः' इत्याकारक अनेक एकत्व अवगाहिनी अपेक्षाबुद्धि ही उत्पन्न नहीं हुई है वहाँ मैत्रीय द्वित्व ही उत्पन्न नहीं हुआ है, जो कि मैत्र के द्वित्वप्रत्यक्ष में हेतु है, तब मैत्र को द्वित्वप्रत्यक्ष होने की संभावना ही कैसे होगी? विषय भी स्वविषयक लौकिक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने में प्रयोजक होता है। बिना हेतु तो किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है - यह तो प्रायः सब लोगों को मान्य है। अतः आपने जो समस्या बताई थी कि - चैत्रीय अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व का मैत्र को भी प्रत्यक्ष होने लगेगा - वह अब हल हो गई है और हमारा यह सिद्धांत कि 'अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि संख्या उत्पन्न होती है' भी अखंडित रहा है। साँप मरा नहीं और लाठी भी टूटी नहीं। अतः द्वित्व को अपेक्षाबुद्धि से व्यंग्य मानना निर्युक्तिक है।

* द्वित्व में चैत्रीयत्व न होने से नैयायिकमत अस्वीकार्य *

स्याद्वादी :- *द्वित्वे च. इति*। उस्ताद! आप चाहे कितना भी प्रयास कीजिए, मगर सो सुनार की एक लुहार की। आपका कार्यकारणभाव चैत्रीय द्वित्व के पर ही अवलंबित है। मगर वास्तव में चैत्रीय द्वित्व जैसी कोई चीज ही सारे जहाँ में नहीं है तब आपसे बताया गया चैत्रीयद्वित्व और चैत्रीयद्वित्वप्रत्यक्ष के बीच कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होगा? आशय यह ज्ञात होता है कि

इति किमतिप्रसङ्गेन!।।३०।।

तथाव्यवहारनिमित्त्वात्, तज्जन्याऽतिरिक्तसङ्ख्याऽसिद्धे' (स्या.क.स्त.३/श्लो.९) रिति वदता प्रतिपादितं, अत्र चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वादिज्ञाननिमित्तत्वं 'अपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वमि'ति वदता प्रतिपादितमित्यनयोरापाततो विरोधः प्रतिभाति **तथापि** तत्त्वदृष्ट्या नास्ति विरोधः। तथाहि परमार्थतस्त्वपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वादिज्ञाननिमित्तत्वमेव, परं व्यवहारस्य व्यवहर्तव्यज्ञानाधीनत्वाद् द्वित्वादिव्यवहर्तव्यविषयकज्ञानजनिकायामपेक्षाबुद्धौ द्वित्वादिव्यवहारजनकत्व-प्रतिपादनमपि 'दासेन मे खरः क्रीतो दासोऽपि मे खरोऽपि मे' इति व्यवहारनयाभिमतन्यायेन सङ्गच्छते इति मे मतिः।

द्वित्वादौ व्यङ्ग्यत्वं न स्वमनीषिकाकल्पितं, तदुक्तं ***स्याद्वादरत्नाकरे*** - 'द्वित्वादिकं बाह्यार्थधर्मः अपेक्षाबुद्ध्यभि-व्यङ्ग्यं न त्वपेक्षाबुद्धिजन्यम्। द्वित्वादिकं बुद्धिजं न भवति संख्यात्वात् एकत्ववत्।' (स्या.रत्ना.५/८)

एतेन 'यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति तत्संयुक्तसमवेतसमवेतैकत्व-सामान्यज्ञानोत्पत्तावेकत्वसामान्यतत्सम्बन्धज्ञानेभ्य एकगुणयोरनेकविषयिण्येका बुद्धिरुत्पद्यते तदा तामपेक्ष्यैकत्वाभ्यां स्वाश्रययोर्द्वित्वमारभ्यते।' (प्र.श.भा.पृ.२७२) इति ***प्रशस्तपादभाष्यकारवचनमपहस्तितम्***, घटद्वये कालभेदेनाऽपेक्षा-बुद्धिभेदेनाऽपरिमितद्वित्वोत्पत्त्यप्रामाणिककल्पनापत्तेः। तदुक्तम् ***मीमांसाकुतूहले*** 'अपेक्षाबुद्धेरभिव्यञ्जकत्वेन द्वित्वाऽहेतुत्वात् घटद्वये सहस्रपुंसां कालभेदेनाऽपेक्षाबुद्धिभेदेन सहस्रद्वित्वाऽऽपत्तेः। क्लृप्ते प्रत्यक्षसहस्रे द्वित्वस्य हेतुत्वे लाघवात्। समवायस्य समवायिनिमित्तकल्पनेऽपेक्षाबुद्धिनाशस्य तन्नाशं प्रति हेतुत्वेऽतिगौरवाच्च अन्यथा ह्रस्वत्व-दीर्घत्व-स्थूलत्व-सूक्ष्मत्वादिकमप्यपेक्षाबुद्धिजन्यं स्यात्। द्वित्वादिकं नापेक्षाधीजन्यं सङ्ख्यात्वादेकत्व-वदित्यनुमानादिति' (मी.कु.पृ.३४)

ननु व्यङ्ग्यत्वपक्षे कार्यतावच्छेदकगौरवदोषं किं विस्मरसि? न, बाढं स्मरामि, श्रृणु-मन्मतेऽपि स्वाश्रयविषयतया द्वित्वत्वस्यैव कार्यतावच्छेदकतया न गौरवदोषः। **न च** विषयताया विषयभेदेन भिन्नत्वात् व्यङ्ग्यत्वनये सम्बन्धाननुगमो दोष इति **वाच्यम्** सम्बन्धाननुगमस्याऽदोषत्वात्, अन्यथा चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुष्ट्वेनाऽपि कारणता न स्यात् संयोगादिप्रत्यासत्तीनामननुगमात्। अस्तु वा विषयतानामनुगमकं विषयतात्वमप्यतिरिक्तम् अन्यथा विषयभेदेन विषयताया भेदात् 'घटो ज्ञानविषयो, घटो ज्ञानविषय' इत्याकारिकाया अनुगतप्रतीतेरनुपपत्तेरिति **दिक्**।

नैयायिकमत में अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदि संख्या का निमित्त कारण है समवायिकारण नहीं। निमित्त कारण में भेद होने पर उसके कार्य में कोई वैजात्य नहीं होता है। कुम्हार चाहे काष्ठ दंड से घट बनाये चाहे सुवर्ण दंड से घट बनाये, मगर तज्जन्य घट में कोई वैजात्य नहीं होता है। ठीक वैसे ही अपक्षाबुद्धि भी द्वित्यादि का निमित्त कारण है - ऐसा मानने पर अपेक्षाबुद्धि चाहे चैत्र की हो चाहे मैत्र की हो मगर तज्जन्य द्वित्व संख्या में कोई चैत्रीयत्व या मैत्रीयत्व नाम का विलक्षण धर्म नहीं होता है, जिससे भिन्नभिन्न चैत्रीय, मैत्रीय द्वित्व की सिद्धि हो सके। जब चैत्रीय द्वित्व या मैत्रीय द्वित्व जैसी कोई चीज ही नहीं है तब 'चैत्र के द्वित्वप्रत्यक्ष में चैत्रीय द्वित्व हेतु है' यह कहना कैसे संगत होगा? अब तो हमने पूर्व में जो आपत्ति उठाई थी कि-चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से जन्य द्वित्व का मैत्र को भी प्रत्यक्ष होगा - वह वज्रलेप बन जायेगी। मान न मान मैं तेरा मेहमान! दूसरी बात यह है कि व्यंग्यपक्ष में भी स्वाश्रयविषयता सम्बन्ध से द्वित्वत्व को ही कार्यतावच्छेदक माना जा सकता है। इसलिए जन्यत्वपक्ष की अपेक्षा व्यंग्यत्वपक्ष में कोई गौरवदोष नहीं है बल्कि अपरिमित द्वित्व के प्रागभाव, उत्पाद, ध्वंस आदि कल्पना की आवश्यकता न होने से जन्यत्वपक्ष की अपेक्षा व्यंग्यत्वपक्ष में लाघव भी है। अतः द्वित्व आदि संख्या को व्यंग्य मानना ही युक्तियुक्त है - यह सिद्ध हुआ। इस विषय का विस्तार अन्यत्र=नयोपदेश आदि ग्रंथ में प्राप्य है।

इस तरह इस गाथा के विवरण से यह सिद्ध हुआ कि प्रतीत्यभाव परापेक्षी होने पर भी तुच्छ नहीं हैं मगर निष्प्रतियोगिक भाव की तरह पारमार्थिक ही हैं।३०। प्रतीत्यसत्यभाषा का निरूपण समाप्त हुआ। अब श्रीमद्जी ३१वीं गाथा से क्रमप्राप्त व्यवहारसत्यभाषा का निरूपण करते हैं।

उक्ता प्रतीत्यसत्या। अथ व्यवहारसत्यामाह-

[1]ववहारो हु विवक्खा लोगाणं जा पउज्जए तीए। पिज्जइ नई य डज्झइ गिरित्ति ववहारसच्चा सा।।३१।।

व्यवहारो हि लोकानां विवक्षा। वक्तुमिच्छा विवक्षा सा चाऽत्र नद्यादिपदं नदीगतनीरादिकं बोधयत्विति प्रयोक्त्रिच्छा। ततो

ननु व्यङ्ग्यत्वनये चैत्रीयापेक्षाबुद्धिव्यक्तद्वित्वे मैत्रस्य प्रत्यक्षत्वं कथं न स्यात्? न हि शरावगन्धः किञ्चित् प्रति व्यक्तोऽन्यं प्रत्यनभिव्यक्त इति **चेत्? उच्यते**, द्विविधा हि व्यङ्ग्यभावाः सप्रतियोगिकव्यङ्ग्या निष्प्रतियोगिकव्यङ्ग्याश्च। तत्र ये सप्रतियोगिकव्यङ्ग्यास्ते केवलं स्वव्यञ्जकाश्रये स्वविषयकज्ञानं जनयन्ति, यथा पितृविषयकज्ञानरूपसप्रतियोगिकव्यञ्जकव्यङ्ग्यं पुत्रत्वम्। ये च भावा निष्प्रतियोगिकव्यञ्जकव्यङ्ग्यास्ते स्वव्यञ्जकानाश्रये स्वव्यञ्जकाश्रये च स्वविषयकज्ञानं जनयन्ति यथा प्रकाशाभिव्यक्तघटादयः कूपखननाभिव्यक्तजलप्रभृतयश्च। द्वित्वादिकं चापेक्षाबुद्धिरूपसप्रतियोगिकव्यञ्जकव्यङ्ग्यमतो नाऽपेक्षाबुद्ध्यनाश्रये मैत्रे तज्ज्ञानाऽऽपत्तिरिति मदेकपरिशीलितः पन्था विभाव्यताम्।

एवञ्च स्वसामग्रीसञ्जातद्वित्वाद्यनन्तपर्यायोपेतद्रव्य एवापेक्षाबुद्धिहेतोर्द्वित्वादिसप्रतियोगिकभावे यथाक्षयोपशमं द्वित्वादिप्रकारकं ज्ञानं जायत इत्यपेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वमेव द्वित्वादेर्युक्तमिति सिद्धम्। ***अन्यत्र=नयोपदेशादौ*** ।। ३०।।

व्यवहारः=व्यवहारपदप्रतिपाद्यः। **सा**=लोकविवक्षा। **अत्र**= 'नदी पीयत' इत्यादिव्यवहारसत्यभाषास्थले। **नद्यादिपदान्नदीगलनीरादिप्रतिपत्तेरिति**। अत्र चाऽयं प्रघट्टकार्थः 'नदी पीयत' इत्यदौ नदीपदस्य शक्यार्थेऽष्टसहस्रधनुरन्यूनव्याप्त-कुलद्वयगतनीरप्रवाहे धात्वर्थस्य गलबिलाधःसंयोगस्याऽन्वयस्यानुपपत्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेर्वा प्रतिसंन्धानान्नदीपदाल्लक्षणया नदीगतनीरप्रतिपत्तिर्जायते। अत्र सङ्क्षेपतः शाब्दबोधाकारस्तु 'पराश्रितवर्त्तमानकालिककृतिजन्यव्यापारजन्यगलबिलाधःसंयोगात्मकफलशालि नदीगतनीरमि'त्येवं द्रष्टव्यः। शाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानस्य कारणत्वात् तादृशशाब्दबोधान्यथानुपपत्त्या "नद्यादिपदं नदीगतनीरादिपरं" इत्याकारकतात्पर्यज्ञानमनुमीयते। तथा च तादृशशाब्दबोधस्य जनकताया विषयविधयाऽवच्छेदिका 'नद्यादिपदं नदीगतनीरादिकं बोधयतु' इत्याकारिका विवक्षा सिध्यतीति भावः। अत्र पावनत्वादिज्ञानं लक्षणाप्रयोजनम्। ततः पावनत्व-प्रसन्नत्व-निर्मलत्वादिकं नीरे प्रतीयते, अन्यथा 'नदी पीयत' इतिप्रयोगस्य 'नदीगतनीरं पीयत' इति प्रयोगादविशेषापत्तेरिति **विभावनीयम्।**

गाथार्थ :- लोगों की विवक्षा ही व्यवहार है। उस विवक्षा से जिस भाषा का प्रयोग होता है वह भाषा व्यवहारसत्य है। जैसे कि नदी पी जाती है, पर्वत जलता है।३१।

* व्यवहारसत्य भाषा - ७ *

विवरणार्थ :- व्यवहारसत्य भाषा का अर्थ है व्यवहार से सत्य भाषा। व्यवहारशब्द का अर्थ है लोगों की विवक्षा। विवक्षा का अर्थ है बोलने की इच्छा। लोगों की विवक्षा से जो शब्दप्रयोग होता है उसे व्यवहारसत्यभाषा कहते हैं। जैसे कि लोग 'नदी पीयते' = 'नदी पी जाती है' ऐसा शब्द प्रयोग करते हैं। यहाँ वक्ता की इच्छा यह होती है कि - "नदीपद से श्रोता को नदीगत जल का बोध हो"। यहाँ यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है - 'लोगों की विवक्षा आपने बताई वैसी ही है, अन्य नहीं, इस का नियामक कौन होगा?' - क्योंकि वक्ता की इच्छा क्या है? उसका निर्णय हम वक्ता के वचन से लोगों को होनेवाले शाब्दबोध के अनुसार कर सकते हैं। शाब्दबोध का कारण तात्पर्यज्ञान है। शाब्दबोध जैसा होता है उस के अनुसार तात्पर्य का आकार निर्णीत होता है। देखिये 'नदी पी जाती है' उस वाक्य को सुन कर लोगों को यह बोध स्वाभाविक रूप से होता है कि - नदी का पानी पिया जाता है। मतलब नदीपद से नदीगत पानी का बोध होता है। इससे निश्चित होता है कि वक्ता की इच्छा ऐसी ही है कि - 'नदीपद लोगों को नदीगत पानी का बोध कराओ'। इस विवक्षा से प्रयुक्त यह भाषा व्यवहारसत्य कही जाती हैं।

---

१ व्यवहारो हि विवक्षा लोकानां या प्रयुज्यते तया। पीयते नदी च दह्यते गिरिरिति व्यवहारसत्या सा।।३१।।

नद्यादिपदान्नदीगतनीरादिप्रतिपत्तेः।

नदीतन्नीरादीनामभेदप्रतिपत्तिरित्**येके**। नद्यादिपदं नद्यभिन्नत्वेन नदीगतनीरादिकं बोधयत्वित्याकारैव विवक्षा **इत्यपरे**।

तया=विवक्षया, **या** = भाषा **प्रयुज्यते सा** "पीयते नदी दह्यते गिरि'रिति तत्र **व्यवहारसत्या**। अत्र **पीयते नदी**त्यस्य 'नदीगतं नीरं पीयते' इति 'दह्यते गिरि'रित्यस्य च गिरिगतं तृणादिकं दह्यत इत्यर्थः।

इदमुपलक्षणम्, 'गलति भाजनम्' 'अनुदरा कन्या' अलोमा एडकेत्यादीनां भाजनगतं जलं गलति सम्भोगजबीजप्रभवोदराभाव-

---

स्वमते नदीवृत्तित्त्वप्रकारक-नीरविशेष्यकशाब्दबोधं नदीपदस्य च नदीवृत्तिनीरपरत्वं प्रदर्श्य साम्प्रतं ***श्रीमलयगिरिसूरिप्रभृतिमतं*** प्रदर्शयति- **नदीतन्नीरादीनामभेदप्रतिपत्तिरित्येक** इति। **एके=श्रीमलयगिरिचरणादयः** तदुक्तं ***प्रज्ञापनावृत्तौ*** "लोका हि गिरिगततृणदाहे तृणादिना सह गिरेरभेद विवक्षया 'गिरिर्दह्यत' इति ब्रुवन्ति"। ***श्रीसिद्धसेनसूरेः प्रवचनसारोद्धारवृत्तिकारस्या***ऽप्ययमेवाभिप्रायो वर्त्तते। ततः तन्मते 'नदी पीयत' इत्यत्र नदीपदं नीरप्रतियोगिक-नद्यनुयोगिकाभेदपरं शाब्दबोधश्च नीराभेदप्रकारकनदीविशेष्यको भवति।

अपरेषां मतमाह **नद्यादिपदमिति**। अत्र नद्यभेदप्रकारक-नदीगतनीरविशेष्यकः शाब्दबोधो भवति, नदीपदञ्च नद्यभिन्नत्वेन नदीगतनीरविषयकबोधेच्छयोच्चरितमित्यर्थः। भगवदनुमतविचित्रनयभेदेनाऽनुधाविताः त्रयोऽप्येते सदादेशा इति ध्येयम्।

दह्यते गिरिरिति। अत्र गिरिपदशक्यार्थस्य चिरकालीनाऽकृत्रिमाश्मसमुदायरूपस्य पर्वतस्य दहनप्रतिकूलतयाऽदह्यमानत्वेन दहनक्रियान्वयानुपपत्तेर्यद्वा पर्वतस्य दाहेऽन्वयसम्भवेऽपि तृणदाहतात्पर्यस्याऽनुपपत्तेः लक्षणाबीजस्य सत्त्वात् गिरिपदेन लक्षणया गिरिगततृणादिप्रतीतिर्जायते। लक्षणाप्रयोजनं तु भूयो दग्धत्वप्रतीतिः। पराश्रितक्रिया-जन्यदाहाश्रयं गिरिगततृणादिकं इति शाब्दबोधः।

इदमिति पीयते नदी, दह्यते गिरिरिति द्रष्टान्तद्वयप्रतिपादनमिति। **उपलक्षणमिति**। स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वमुपलक्षणत्वमिति **केचित्, तन्न** सर्वेषां शब्दानामुपलक्षणत्वप्रसङ्गात्, तेषां स्वबोधकत्वे सति वाच्यार्थरूपस्वेतरबोधकत्वात् किन्तु स्वार्थबोधकत्वे सति स्वेतरार्थबोधकत्वमुपलक्षणत्वं प्रागुक्तं ग्राह्यम्। **गलति भाजनमिति**। भाजनपदशक्यार्थस्याऽद्रवत्वेन तत्र गल्धात्वर्थस्य स्रवणस्याऽन्वयस्य तात्पर्यस्य वाऽनुपपत्तेर्लक्षणया भाजनपदाद् भाजनगतं जलं प्रतीयते। लक्षणाप्रयोजनं त्वनिबिडत्वप्रतीतिः। वर्तमानकालिकस्रवणानुकूलव्यापाराश्रयं भाजनगत-जलमिति शाब्दबोधाकारः।

अनुदरा कन्येति। अपरिणतबालिकावाचककन्यापदस्याऽत्र परिणीतस्त्रियां लक्षणा। परिणयनसम्भोगाद्यनन्तरमपि

नदीतन्नी. इति। अपना अभिप्राय बता कर विवरणकार श्रीमद् इस विषय में श्रीमलयगिरिजी महाराजा के अभिप्राय को बताते हुए कहते हैं कि - 'नदी पीयते' इत्यादि स्थल में लोगों को नदी और पानी के अभेद की प्रतीति होती है। इस शाब्दबोध के बल से यह सिद्ध होता है कि वक्ता का तात्पर्य - 'नदीपद जलप्रवाह और जल में अभेद का बोध कराओ' - ऐसा होता है। यहाँ 'एके' शब्द से श्रीमलयगिरिमहाराज अभीष्ट है - यह प्रज्ञापनासूत्र की मलयगिरिवृत्ति को देखने से ज्ञात होता है।

नद्यादिपद. इति। अब विवरणकार इस सम्बन्ध में अपर मनीषियों के अभिप्राय को बताते हुए कहते हैं कि 'नदी आदि पद नदीअभिन्नरूप से नदीगत पानी आदि को बोध कराओ' - ऐसी ही लोगों की विवक्षा 'नदी पी जाती है' इत्यादि स्थल में होती है। अतः यहाँ शाब्दबोध ऐसा होगा कि-नदी से अभिन्न ऐसा नदीगत पानी पिया जाता है। लौकिक विवक्षा से प्रयुक्त होने के सबब यह भाषा व्यवहारसत्य कही जाती है।

✱ व्यवहारसत्य भाषा के द्रष्टांत ✱

अत्र. इति। प्रकरणकार ने मूल गाथा में जो दो उदाहरण बताये हैं इनको स्पष्ट करते हुए विवरणकाररूप से प्रकरणकार

वती कन्या, लवनयोग्यलोमाभाववत्येडकेत्याद्यर्थानामुदाहरणानाम्।

गर्भधारणशून्यायामयं प्रयोगः क्रियते। तत्र चोदराभावस्याऽन्वयस्य तात्पर्यस्य वाऽनुपपत्तेर्लक्षणयाऽनुदरापदात् सम्भोगजबीजप्रभवोदराभाववत्युपस्थाप्यते। तस्याश्च तादात्म्येन कन्यापदार्थेऽन्वयः निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनाऽन्वयबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वात्।

अलोमा एडकेति। एडका पशुविशेषः, पशुत्वं न जातिः उच्चैःश्रवोनिष्ठतया तेजस्त्वेन साङ्कर्यात्। तदुक्तं ***सामान्यलक्षणाकाशिकानंदीकृता*** "तेजस्त्वाभाववति गवि पशुत्वस्य पशुत्वाभाववति वह्नौ तेजस्त्वस्य सत्त्वादुभयोरुच्चैःश्रवसि सांकर्यात्" (सा.ल.का.पृ.१२१) उच्चैःश्रवो नाम तैजसोऽश्वः। अतो लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वं पशुत्वम्। तथा च लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वस्य पशुत्वेन तद्वति तादात्म्येन लोमाभाववदन्वयस्य तात्पर्यस्य च बाधाल्लक्षणयाऽलोमापदेन लवनयोग्यलोमाभाववती प्रतिसन्धीयते। तस्याश्च तादात्म्येनैडकायामन्वयो भवति।

दशवैकालिकचूर्णौ च- 'ववहारसच्चं नाम जहा अम्ह गामो, पिट्ठस्स वा सच्चमिति कहणं, छत्तएण आगमणं, डज्झति गिरि, गलइ भायणं लोगप्पसिद्धाणि। तहा गावी पिज्जइ, गावीए खीरं पिज्जइ, ण गावी सव्वा पिज्जइत्ति एवमादि।' **इत्याद्यर्थानामिति**। आदिपदात् 'पन्था गच्छती'त्यादीनां ग्रहणम्। पथिपदार्थस्य स्थिरस्य गम्धात्वर्थेऽन्वयस्य तात्पर्यस्य चानुपपत्तेः प्रतिसन्धानात् पथिशब्दस्य पथि गच्छति पुरुषसमुदाये लक्षणा। तत्प्रयोजनं च नैरन्तर्यप्रतीतिरिति **दिक्।**

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजा कहते हैं कि - 'नदी पीयते' इस स्थल में 'नदी में रहा हुआ पानी पिया जाता है' उस प्रकार का बोध होता है 'दह्यते गिरिः' अर्थात् 'पर्वत जलता है' इस वाक्य से लोगों को 'पर्वत पर विद्यमान घांस, लकडी आदि जलती हैं' - ऐसा शाब्दबोध होता है। इन दो द्रष्टांत का निरूपण किया है वह उपलक्षण है। अर्थात् सिर्फ ये दो वाक्य ही व्यवहारसत्य भाषा स्वरूप नहीं है मगर इससे अतिरिक्त अन्य भी अनेक वाक्य व्यवहारसत्य भाषास्वरूप है, जो लौकिक विवक्षा से प्रयुक्त होते हैं। जैसे-भाजन टपकता है, कन्या अनुदरा है, यह भेड़ लोमशून्य है - इत्यादि वाक्य। 'भाजन टपकता है' वाक्य को सुन कर लोगों को 'भाजन का पानी टपकता है' यह अर्थबोध होता है। हमारा अनुभव भी ऐसा ही है कि - 'यह मटका टपकता है' इस वाक्य को सुनकर हमें 'इस मटके में रहा हुआ पानी टपकता है' ऐसा शाब्दबोध होता है। इसी तरह 'यह कन्या उदरशून्य है' इस वाक्य को सुनकर - 'इस कन्या का पेट संभोग से गर्भाधान होने के पश्चात् जैसे बढता है वेसा नहीं है' - ऐसा बोध श्रोता को होता है। यहाँ कन्यापद परिणीत स्त्री का बोधक है। इसी तरह 'यह भेड़ बालवाली नहीं है' इस वाक्य से लोगों को ऐसा बोध होता है कि 'इस भेड़ के बाल काटने योग्य नहीं है', क्योंकि भेड़ में सर्वथा बाल का अभाव तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है। अतः वक्ता का - 'अलोमा' पद से अर्थात् 'बालशून्य है' इस पद से 'काटने योग्य बाल से शून्य है' ऐसा बोध हो - यह तात्पर्य सिद्ध होता है। मतलब कि लोक में जैसी विवक्षा होती है उसके अनुसार जो वाक्यप्रयोग होता है वह व्यवहारसत्यभाषा है - यह सिद्ध होता है।

शंका :- दरअसल पर्वत नहीं जलता है, किन्तु पर्वत पर विद्यमान तृण-काष्ठ आदि जलता है तब वहाँ 'पर्वत जलता है' यह वाक्य तो झूठ ही सिद्ध होगा, क्योंकि पर्वत और पर्वत में रहे हुए तृण-काष्ठ आदि में परस्पर भेद होने पर भी अभेद का प्रतिपादन उस वाक्य से होता है। अतः व्यवहारभाषा मृषा होने की आपत्ति आयेगी।

* व्यावहारिक अभेद की अपेक्षा 'दह्यते गिरिः' इत्यादि भाषा सत्य *

समाधान :- ***व्यावहारिका. इति***। आपकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि 'पर्वत जलता है' इत्यादि भाषा तब मृषा होती यदि वास्तव में पर्वत और तृण काष्ठ आदि में अभेद का बोध कराना यहाँ इष्ट होता। मगर यहाँ पर्वत और तृणकाष्ठ आदि में तात्त्विक=नैश्चयिक अभेद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु व्यावहारिक अभेद का आश्रयण इष्ट है। व्यावहारिक अभेद का मतलब यह है कि व्यवहारसंमत अभेद का उपचार करते हैं। लोक आधार और आधेय आदि में अभेद का उपचार करते हैं। यहाँ पर्वतरूप आधार और तृण-काष्ठ आदि आधेय में अभेद का उपचार लोक में होता है। अतः लोकविवक्षा का आश्रयण=अवलंबन करने से यह

न च गिरितृणादीनामभेदाभिधानान्मृषावादित्वप्रसङ्गः, व्यावहारिकाभेदाश्रयणेनाऽदोषत्वात् लोकविवक्षाग्रहणाच्च न रूपसत्याद्यतिव्याप्तिः। एवमामलक्यादौ एकेन्द्रियत्वेन नपुंसकत्वेऽपि स्त्र्याद्यभेदविवक्षया स्त्रीत्वादिप्रतिपादनमपि व्यवहारसत्यमेवेति द्रष्टव्य-

मृषावादित्वप्रसङ्ग इति। अतस्मिंस्तज्ज्ञानजनकत्वेन 'गिरिर्दह्यत' इत्यादिव्यवहारभाषायां मृषात्वमापाद्यते शङ्काकारेण। तन्निरासे हेतुमाह-**व्यवहारिकेति**। अभिवादन-प्रत्यय-लक्षण-हेतुप्रभृतिभेदेन निश्चयतः तृणादेर्गिरिभिन्नत्वेऽपि व्यवहारत आधाराधेयादीनामभेदात् व्यवहारनयसम्मततादृशाभेदविवक्षणान्न व्यवहारभाषाया मृषात्वम्। अयं भावः 'गिरिर्दह्यत' इत्यादौ यदि निश्चयनयाभिमताऽभेदविवक्षा स्यात् तदा मृषात्वं स्यात् किन्तु व्यवहारनयाभिमताभेदविवक्षणे न मृषात्वम्। अत एवेयं निश्चयसत्यभाषा न भण्यते परं व्यवहारसत्येति। व्यवहारतः सत्यत्वं व्यवहारमाश्रित्य सत्यत्वमिति यावत्। भूयो दग्धत्वादिप्रतीतेः प्रयोजनत्वान्न निरर्थकत्वम्। तत्स्थत्व-तत्सामीप्य-तादर्थ्यादिभ्यः तद्व्यपदेशस्य लोकव्यवहाररूढत्वं तु सुप्रसिद्धमेव। **एतेन** साधोर्मृषावादित्वप्रसङ्गोऽ**पास्तः**, लोकव्यवहारमपेक्ष्य साधोरपि तथा ब्रुवतो भाषाया व्यवहारसत्यत्वस्याऽनपायात् तात्पर्याबाधादिति **दिक्**।

ननु व्यवहारिकाभेदस्यौपचारिकत्वात् रूपसत्याऽतिव्याप्तिः, तस्याः तद्रूपवत्युपचारेण प्रवर्तमानत्वादित्याशङ्कायामाह **लोकविवक्षाग्रहणाच्चेति**। अयं भावः भावार्थबाधप्रतिसन्धानसध्रीचीनलोकविवक्षामात्रगृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वं व्यवहारसत्याया लक्षणमभिप्रेतम्। रूपसत्याया भावार्थबाधदशायां तद्रूपवद्गृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वेन लोकविवक्षामात्रगृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वस्याभावात् तत्र नातिव्याप्तिः। मात्रपदग्रहणान्न नामसत्याद्यतिव्याप्तिरित्याद्यू**हनीयम्**।

नन्वामलक्यादौ नपुंसकत्वव्याप्यैकेन्द्रियत्ववत्त्वप्रतिसन्धानाद् 'इयं आमलकी'त्यादिरूपेण स्त्रीत्वादिप्रतिपादकभाषाया मृषात्वं स्यात् तदभाववति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकत्वादित्याशङ्कायामाह-**एवमिति**। लोकव्यवहाराश्रयणादित्यर्थः। निश्चयत आमलक्यादावेकेन्द्रियत्वव्यापकनपुंसकत्ववत्त्वनिश्चयेन यदि वेदोदयविवक्षामाश्रित्य तत्र स्त्रीत्वादिप्रतिपादनं स्यात्तदा मृषात्वं स्यादेव किन्तु लौकिकशाब्दव्यवहाराश्रयणेन तत्र स्त्र्याद्यभेदविवक्षया स्त्रीत्वादिप्रतिपादकवचने न मृषात्वं व्यवहारसत्यत्वस्याव्याहतत्वादिति।

अनेनैवाभिप्रायेण- "अहं भंते! पुढवीत्ति इत्थिवऊ, आऊत्ति पुमवऊ, धण्णित्ति नपुंसगवऊ पण्णवणी णं एसा भासा?

भाषा निर्दोष है-सत्य है। अतएव यह भाषा व्यवहारसत्य कही जाती है। व्यवहार=लोकविवक्षा की अपेक्षा से ही इस भाषा में सत्यत्व इष्ट है।

लोकविवक्षाग्रह. इति। यहाँ यह शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि - "तात्त्विक अभेद न होने पर भी यदि औपचारिक अभेद की लौकिक विवक्षा का आश्रयण होने से यह व्यवहारसत्य भाषा कही जाती है, तब तो रूपसत्य आदि भाषा भी व्यवहारसत्य भाषा हो जायेगी, क्योंकि द्रव्यलिङ्गी में भावलिङ्गी के औपचारिक अभेद की विवक्षा से ही रूपसत्य आदि भाषा का प्रयोग होता है।" - इसका कारण यह है कि रूपसत्य भाषा रूप की विवक्षा से प्रवृत्त होती है जब कि व्यवहारसत्य भाषा लौकिकविवक्षा से प्रवृत्त होती है। जिस जिस स्थल में लोगों की जैसी विवक्षा होती है उसके अनुसार ही जो वाक्यप्रयोग हो वह व्यवहारसत्य भाषा रूप से यहाँ इष्ट है। रूपसत्य आदि भाषा सिर्फ लोकविवक्षा से प्रवृत्त नहीं होती है किन्तु रूप = वेश से प्रवृत्त होती है। अतः रूपसत्य आदि भाषा व्यवहारसत्य भाषा नहीं बनेगी।

✱ एकेन्द्रिय में स्त्रीत्वादि प्रतिपादन व्यवहारसत्य है ✱

एवम्. इति। उपर्युक्त कथन के खिलाफ यह शंका कि - "आमलकी आदि वृक्ष एकेन्द्रिय होने से नपुंसक ही हैं, क्योंकि एकेन्द्रियमात्र को नपुंसक वेद का उदय होता है। फिर भी आमलकी के वृक्ष में आमलकी शब्द का, जो कि स्त्रीलिंग का प्रतिपादक है, प्रयोग होता है। यह मृषावाद ही होगा।" - भी निराधार सिद्ध हो जाती है, क्योंकि आमलकी आदि पद आमलकी वृक्ष आदि में स्त्री आदि के अभेद की विवक्षा से आमलकी आदि में स्त्रीलिंग का प्रतिपादक है। आशय यह है कि शाब्दव्यवहार की अपेक्षा

मिति **दिग्**।।३१।।

उक्ता व्यवहारसत्या।७। अथ भावसत्यामाह-

[1]सा होइ भावसच्चा जा सदभिप्पायपुव्वमेवुत्ता। जह परमत्थो कुंभो सिया बलाया य एसत्ति।।३२।।

सा भवति भावसत्या या सदभिप्रायपूर्वमेवोक्ता। अभिप्रायस्य सत्त्वं च पारमार्थिकभावविषयत्वेन शास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रितत्वेन च। अत एवोदाहरणद्वैविध्यमाह, **यथा परमार्थः कुम्भः, सिता बलाका चैषेति**।

अत्र प्रथममुदाहरणं पारमार्थिककुम्भबोधनाभिप्रायेण कुम्भपदप्रयोगात्सत्यत्वोपदर्शनार्थम् द्वितीयं च सत्यपि बलाकायां

ण एसा भासा मोसा? हंता गोयमा! पुढवी त्ति इत्थिवऊ, आऊत्ति पुमवऊ, धण्णित्ति नपुंसगवऊ पण्णवणी णं एसा भासा ण एसा भासा मोसत्ति (प्र.भा.प.सू.१६४) इति प्रज्ञापनावचनमपि सङ्गच्छत इत्यादि प्रदर्शनार्थं **दिक्**शब्दप्रयोग इति ध्येयम्।। ३१।।

भावसत्येति। भावतः सत्या भावमाश्रित्य सत्येति यावत्! लक्ष्यनिर्देशोऽयम्। चतुर्विधसत्यनिरुपणप्रस्तावे 'भावसत्यं तु यत्स्वपरानुपरोधेनोपयुक्तस्ये'ति (स्था.४/२/३०८) ***अभयदेवसूरिभिरा***त्मलक्षितनिश्चयनयोपगृहीतव्यवहारनयानुरोधादुक्तम्। तच्चाऽत्र नाधिकृतमित्यतो वस्तुलक्षितनिश्चयनयतदुपगृहीतव्यवहारनयानुरोधेन तल्लक्षणं प्रदर्शयति- **सदभिप्रायपूर्वमेवोक्तेति**। एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः। ततः सदभिप्रायमात्रप्रयुक्ता भाषेत्यर्थः। 'सदभिप्राये'त्यत्राभिप्राये सत्त्वं केन रूपेण ग्राह्यं तत्प्रदर्शयति**अभिप्रायस्य सत्त्वं चे**ति। **पारमार्थिकभावविषयत्वेनेति**। अनेन काल्पनिकभावविषयकत्वनिषेधः कृतः। **शास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रितत्वेन चेति**। चकारो वाकारार्थे तथा च पारमार्थिकभावशास्त्रीयव्यवहारविषयाऽन्यतरविषयकबोधजननाभिप्रायमात्रप्रयुक्तपदघटितभाषात्वं भावभाषात्वमिति लक्षणं फलितम्। **अत एवेति**। भावभाषाप्रयोजकाभिप्रायनिष्ठसत्त्वद्वैविध्यादेवेति।

द्वितीयं चेति। सिता बलाकेत्युदाहरणमिति। **ननु** परमार्थतोऽनन्ताणुकस्कन्धानां पञ्चवर्णात्मकत्वाद् बलाकायाः पञ्चवर्णात्मकत्वेन तत्र शुक्लवर्णावधारणवचनस्य मृषात्वं शुक्लेतरवर्णव्यवच्छेदबाधादित्याशङ्कायामाह-**शुक्लवर्णाव-**

से आमलकी (संस्कृतभाषा का शब्द) आमलकी वृक्ष में स्त्रीलिंग का प्रतिपादक है, वेदोदय की अपेक्षा से नहीं। अतः वह भाषा व्यवहारसत्य भाषा ही है। इस विषय में यह कथन एक दिग्दर्शन है। इसके आगे और विचार किया जा सकता है-इस बात की सूचना देने के लिए 'दिक्' शब्द का प्रयोग किया गया है।।३१।।

व्यवहारसत्य भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त भावसत्य भाषा को, जो कि व्यवहारनयसंमत सत्यभाषा का ८वाँ भेद है, प्रकरणकार ३२वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- सदभिप्रायपूर्वक ही बोली गई भाषा भावसत्य होती है, जैसे कि 'पारमार्थिक कुंभ' और 'सफेद बगुला' ये वचन।३२।

*** भावसत्यभाषा - ८ ***

विवरणार्थ :- प्रेक्षावान् वक्ता विवक्षापूर्वक शब्दप्रयोग करता है। विवक्षा का अर्थ है वक्ता की इच्छा यानी अभिप्राय। जब वक्ता का अभिप्राय सत् होता है तब उस अभिप्राय से बोली गई भाषा भावसत्य कही जाती है। जब वक्ता का अभिप्राय पारमार्थिकभावविषयक बोध उत्पन्न कराने का होता है तब वह सदभिप्राय कहा जाता है वैसे ही जब वक्ता का अभिप्राय शास्त्रीय व्यवहार से नियन्त्रित होता है, तब भी वह सदभिप्राय कहा जाता है। इस तरह सदभिप्राय के दो भेद होते हैं। अतएव भावसत्य भाषा के दो द्रष्टांत मूलगाथा में बताये गये हैं। प्रथम उदाहरण है - 'पारमार्थिकः कुंभः' अर्थात् जब कुंभ उपस्थित हो तब 'यह कुंभ (परमार्थसत्) है' यह वचन। द्वितीय उदाहरण है - 'बगुला सफेद है'। द्वितीय उदाहरण शास्त्रीय व्यवहार से नियन्त्रित अभिप्राय से प्रयुक्त है, क्योंकि बगुले में पाँच वर्ण संभवित होने पर भी - 'बगुला सफेद है' इस वाक्य से श्रोता को बगुले में श्वेतवर्ण

---

१ सा भवति भावसत्या या सदभिप्रायपूर्वमेवोक्ता। यथा परमार्थः कुम्भः सिता बलाका चैषेति।।३२।।

पञ्चवर्णसंभवे शुक्लवर्णाऽवधारणस्योत्कटशुक्लपरतया तदुपदर्शनार्थम्। **न चैवं** द्वितीयं व्यवहारसत्य एवान्तर्भाव्यतामिति **वाच्यम्**, तस्य लोकविवक्षाघटितत्वात्।

धारणस्योत्कटशुक्लपरतयेति। शुक्लवर्णावधारणस्य न शुक्लेतरवर्णव्यच्छेदकत्वं किन्तूत्कटशुक्लवर्णबोधेच्छयोच्चरितत्वम्। अयं भावः यद्यपि वस्तुनः पञ्चवर्णात्मकत्वं सिद्धमेव तथाप्येष शास्त्रीयव्यवहारो यदुत-वस्तुनि यद्रूपमुत्कटं तत्प्रधानीकृत्य तेन विशिष्टं न्यग्भूतशेषरूपं वस्तु प्रतिपादयति। तादृशव्यवहारस्यैव प्रवृत्तिनिवृत्त्याद्यौपयिकत्वात् न ह्युद्भूतरूपं परित्यज्यान्यरूपाणीक्ष्यन्ते लोकैः। ततो बलाकायां बहुतरत्वादुद्भुतत्वाद्वोत्कटशुक्लवर्णावधारणस्य प्रमात्वमेव। शास्त्रीयव्यवहारानुसरणात् प्रमाजनकत्वाच्च तादृशवचनस्य भावसत्यत्वं निराबाधम्। **एतेन** "शुक्ला बलाका" इत्यत्र विद्यमानेतरवर्णप्रतिषेधाद्भ्रान्तत्वमिति **प्रत्युक्तम्**, अनुद्भूतत्वेनेतराऽविवक्षणात् तद्व्युदासेऽतात्पर्यात्, उद्भूतवर्णविवक्षाया एवाऽभिलापादिव्यवहारहेतुत्वात्। अतात्पर्यज्ञं प्रति तस्याऽबोधकत्वेनाऽप्रामाण्येऽपि तात्पर्यज्ञं प्रति प्रामाण्यात् तथाविधशास्त्रीयव्यवहारानुकूलविवक्षाप्रयुक्तत्वेन च भावसत्यत्वाऽविरोधात्। अत एव पीता बलाका इति न व्यवहारतो भावसत्यम् शास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रितविवक्षाननुकूलत्वात्। नाऽपि निश्चयतः, पञ्चवर्णपर्याप्तिमत्यां बलाकायां पञ्चवर्णप्रकारकत्वाऽनवगाहेनाऽवधारणाऽक्षमत्वात्। 'शुक्ला बलाके'त्यत्र तु नैवम्, अन्यथास्थिते हि वस्तुन्यन्यथा भाषणे दोषः यदा तु यद्वस्तु यथावस्थितं तत्तथाभाषणे को नाम दोषः? इत्याशयः। **तदुपदर्शनार्थम्** = सत्यत्वोपदर्शनार्थम्।

एवमिति। भाषाप्रयोजकविवक्षायास्तादृशव्यवहारनियन्त्रितत्वेनेति। **द्वितीयमिति** 'सिता बलाके'त्युदाहरणमिति। शङ्काकारस्यायं भावः शास्त्रीयव्यवहारो व्यवहारविशेष एवातश्च शास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रिताभिप्रायप्रयुक्तपदघटितभाषात्वेन व्यवहारनियन्त्रितविवक्षाघटितत्वस्याक्षतत्वात् 'सिता बलाके'ति वचनस्य व्यवहारसत्यत्वं निराबाधमेव।

शङ्कां दूरीकरोति- **तस्य**=व्यवहारसत्यवचनस्य, **लोकविवक्षाघटितत्वादि**ति। अयं भावः, व्यवहारसत्यवचने लौकिकव्यवहारनियन्त्रितविवक्षामाश्रित्य सत्यत्वं न तु शास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रितविवक्षामाश्रित्य, लोके बलाकायाः पञ्चवर्णात्मकत्वस्याज्ञानात्। लोको हि परमार्थमजानान उत्कटत्वविवक्षां विनैव 'सिता बलाके'ति प्रयुङ्क्ते। इदं च लोकानुपातिव्यवहारनयेन सत्यं न तु शास्त्रीयव्यवहारनयेन, निश्चयनयाभिप्रायेण बलाकायाः पञ्चवर्णात्मकत्वात्। निश्चयनयोपगृहीतव्यवहारनयरूपशास्त्रीयव्यवहारनियन्त्रितया उत्कटत्वविवक्षया प्रयुक्तस्य तथावचनस्य तु भावसत्यत्वमेव न व्यवहारसत्यत्वमिति **ध्येयम्**।

का अवधारण=निश्चय हो - यह अभिप्राय 'बगुले में श्वेतवर्ण की उत्त्कटता है' इसका बोध कराने के तात्पर्य से है। आशय यह है कि बगुले में पाँचो वर्ण शास्त्रसिद्ध होते हुए भी उत्कट वर्ण तो श्वेत ही है - इस अभिप्राय से प्रयुक्त होने से 'बगुला सफेद है' यह वचन भावसत्य है।

शंका :- 'शुक्ला बलाका' यह उदाहरण तो व्यवहारसत्य भाषा में ही समाविष्ट होना चाहिए न कि भावसत्य भाषा में, क्योंकि यह वाक्य शास्त्रीयव्यवहार से नियन्त्रित विवक्षा से प्रयुक्त है। शास्त्रीयव्यवहार भी व्यवहार तो है ही। अतः द्वितीय उदाहरण का व्यवहारसत्य भाषा में अंतर्भाव करना उचित है।

* व्यवहार के दो भेद *

समाधान :- लानत है आपकी बुद्धि को। आपको यह भी मालुम नहीं है कि व्यवहारसत्य भाषा शास्त्रीय व्यवहार से नियन्त्रित विवक्षा से घटित नहीं है, किन्तु लौकिक व्यवहार से नियन्त्रित विवक्षा से घटित है। शास्त्रीयव्यवहार से नियंन्त्रित विवक्षा व्यवहारसत्य भाषा की घटक नहीं हैं। अतः उससे घटित भाषा का व्यवहारसत्यभाषा में अंतर्भाव करना कैसे उचित होगा? अतः 'बगुला सफेद है' इस द्वितीय उदाहरण का भावसत्य भाषा में ही समावेश करना उचित है।

शंका :- **'अथ'** इति। आपने भावसत्यभाषा के दो उदाहरण बताये हैं मगर यह आपकी प्ररूपणा मनमानी प्रतीत होती है,

अथ द्वितीयमेवोदाहरणमन्यत्र प्रकृते प्रदर्शितमिति प्रथमोदाहरणप्रदर्शनं स्वच्छन्दमतिविकल्पितमिति **चेत्? न,** "[१]भावसच्चं णाम जमहिप्पायतो, जहा घडामाणेहित्ति अभिप्पायतो घडमाणेहित्ति भाणियं गावी अभिप्पायेण गावी, अस्सो वा अस्सो भणिओ एवमादि त्ति।" (दश. अ. ७ जि. चू. पृ. २३६) **चूर्णिकार**वचनात्।

अन्यत्रेति। प्रज्ञापना-दशवैकालिक-स्थानांगादिवृत्तौ। प्रकृते=भावसत्यास्थले, **चूर्णिकारवचनात्**=दशवैकालिक-चूर्णिकारजिनदासगणिमहत्तरवचनमाश्रित्य। वक्तुर्मनसि यदभिप्रायस्तदनुसारितया भाषणे भावसत्यत्वम् अभिप्राया-न्तरसत्त्वेऽभिप्रायान्तरेण भाषणे न भावसत्यत्वं यथा घटाभिप्रायेण पटपदप्रयोगे, भावस्य=अभिप्रायस्य भेदेनाऽभिप्राया-नुसारित्वाभावादिति चूर्णिकृद्वचनपर्यालोचनया ज्ञायते। ततश्च पारमार्थिककुम्भबोधनाभिप्रायेण कुम्भपदभाषणस्य भावसत्यत्वं सिद्धम्। अत्र 'पारमार्थिकः कुम्भ' इति प्रथमोदाहरणे पारमार्थिकपदं कुंभसत्ताबोधनार्थं न तूदाहरणेऽपि तत्प्रयोग इष्टः। ततश्च भूतलादौ कुम्भसत्त्वदशायां कुम्भस्य पारमार्थिकत्वेन तदा तद्बोधनाभिप्रायेण-'घटोऽयमि'ति वचनं भावसत्यं तथैव शब्दप्रयोगादिति मे आभाति। ***अगस्त्यसिंहसूरि***कृतचूर्णौ तु - "जधाभिप्पायवदणंतरालावो घटविवक्खया पडाभिधानं भावो तहावत्थित इति भावसच्चं" (दश.वै.अ.चू.पृ.१६०) इत्युक्तम्। अत्र यथाभिप्राय-वचनान्तरालाप इति अभिप्रायानुसारि यद् वचनं तद् यथाभिप्रायवचनम् ततोऽन्यद्वचनं "पट" इति। सत्यत्वे हेतुस्तत्र-भावो तहावत्थित इति। अयं भावः घटबोधजननाभिप्राये सत्यपि करणाऽपटुताऽनाभोगादिना पटपदप्रयोगे जाते शाब्दव्यवहारापेक्षयाऽसत्यत्वेऽपि वक्तुरभिप्रायस्य यथावस्थितार्थप्रतिपादनपरत्वाद् भावतः सत्यत्वस्याऽक्षतत्वाद् भावसत्यमेव तादृशवचनमिति अगस्त्यसिंहसूरिवचनपर्यालोचनया ज्ञायते।

ननु तर्हि (ग्रन्थाग्रं-३०००श्लोका) जिनदासगणिवचनविरोधो **मैवम्**, तद्वचनस्याऽभिप्रायान्तरसत्त्वे मायादिनाऽन्य-शब्दभाषणे भावसत्यत्वातिव्याप्तिवारणार्थं तात्पर्य-शाब्दव्यवहारोभयनिवेशपरत्वेन समाधातुं शक्यत्वात्। अगस्त्यसिंह-सूरिमते तु तदा तात्पर्यस्य यथावस्थितार्थप्रतिपादनपरत्वादेव नातिव्याप्तिरिति सर्वं सुस्थमिति मदभिप्रायः। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति।

क्योंकि दशवैकालिक की टीका, प्रज्ञापना की टीका, स्थानांग की टीका आदि में तो भावसत्यभाषा के निरूपण में सिर्फ द्वितीय उदाहरण यानी 'बगुला श्वेत है' यह वाक्य ही बताया है। आपने जो प्रथम उदाहरण बताया है वह तो आगम आदि में दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः आपने जो प्रथम उदाहरण बताया है वह आप की स्वच्छन्दमति का प्रदर्शन कराता है। आपने यह उदाहरण शास्त्रनिरपेक्ष अपनी बुद्धि से कल्पना कर के बताया है, वह ठीक नहीं है।

*** व्यवहारसत्य भाषा लौकिकविवक्षाघटित है, शास्त्रीयविवक्षाघटित नहीं है ***

समाधान :- 'न' इति। आप की कूप-मंडूक जैसी बुद्धि को देखकर हमें अफसोस होता है। आपने सिर्फ एक-या दो आगम या उनकी टीकाएँ पढ ली और इसीसे आपने यह निर्णय दे दिया कि प्रथम उदाहरण का प्रदर्शन स्वमति कल्पित है - मगर यह ठीक नहीं है। देखिये यह रहा वह दशवैकालिकचूर्णि का पाठ। उसका अर्थ यह है कि - "भावसत्य का मतलब है अभिप्राय का आश्रयण कर के सत्य। जैसें कि - 'तुम घट ले आओ' इस अभिप्राय से जब वक्ता - 'तुम घट ले आओ' ऐसा बोलता है वह भावसत्य है। इसी तरह गाय के अभिप्राय से गाय शब्द का उच्चारण और अश्व को अश्व कहना ये सब भावसत्य भाषा के द्रष्टांत हैं।" - चूर्णिकार के उपर्युक्त वचन से यह ज्ञात होता है कि सत्य-पारमार्थिक वस्तु का बोध कराने के अभिप्राय से जब वक्ता वैसा शब्द-प्रयोग करता है तब वह शब्दोच्चारण भावसत्य भाषा है। इसी सबब पारमार्थिक कुंभ का बोध कराने के अभिप्राय से यानी जब घट उपस्थित हो तब उस का बोध कराने के अभिप्राय से घट शब्दोच्चारण किया जाता है वह भावसत्य भाषा है। अतः प्रथम उदाहरण को प्रस्तुत करना हमारी मनमानी कल्पना नहीं है, मगर शास्त्रसापेक्ष बुद्धि की एक विशद प्रतिभा है। अतः द्वितीय उदाहरण की तरह प्रथम उदाहरण भी भावसत्याभाषा में ही अंतर्भूत होता है - यह सिद्ध हुआ।

---

१ भावसत्यं नाम यदभिप्रायतो यथा घटमानयेत्यभिप्रायतो 'घटमानय' इति भणितं गौरित्यभिप्रायेण गौः, अश्वो वाऽश्वो भणित एवमादीति।

अथ बलाकायाः पञ्चवर्णत्वं न युक्तिमत् शुक्लेतररूपस्य शुक्लरूपप्रतिबन्धकत्वात् अन्यथा चित्ररूपोच्छेदात्, शुक्लादौ नीलादिसत्त्वे तत्प्रत्यक्षप्रसङ्गाच्चेति **चेत्? न,** शुक्लघटारम्भकपरमाणूनामेव कालान्तरे नीलघटाद्यारम्भकत्वेन (ग्रन्थाग्रं-४००

लब्धावसरो **नैयायिकः** प्रत्यवतिष्ठते-**अथेति**। **शुक्लरूपप्रतिबन्धकत्वादिति**। तन्मते समवायेन शुक्लं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन शुक्लेतररूपत्वेन पीतरूपं प्रति पीतेतररूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वमिति रीत्या प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावः। विपक्षे बाधमाह-**अन्यथेति**। तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽस्वीकारे, **चित्ररूपोच्छेदात्**=नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि नानारूपोत्पादेनाऽतिरिक्तचित्ररूपोच्छेदप्रसङ्गात्। **न** चेष्टापत्तिरिति **वाच्यम्** तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाऽस्वीकारे शुक्लादीनां व्याप्यवृत्तित्वेन नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि शुक्लावयवावच्छेदेन नीलाद्युत्पादस्य दुर्वारत्वात्। यदि च परस्तमप्यभ्युपगच्छेत्तदाऽऽह **शुक्लादाविति**। शुक्लावयवावच्छेदेन नीलरूपसत्त्वे तदवच्छेदेन नीलरूपस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् चाक्षुषसामग्रीसत्त्वात्। एवं नीलावयवावच्छेदेन शुक्लरूपसत्त्वे तद-

*** एक धर्मी में अनेक रूप नहीं हो सकते हैं - नैयायिक ***

नैयायिक :- प्रथम उदाहरण तो ठीक है कि वह भावसत्य वचन है मगर आपने जो द्वितीय उदाहरण में बताया कि - "बगुले में पाँचों वर्ण होते हुए भी शुक्लरूप की उत्कटता की विवक्षा से 'बगुला सफेद है" यह प्रयोग भावसत्य है।" वह ठीक नहीं है, क्योंकि बगुले में पाँच वर्ण होते ही नहीं हैं। बगुले में सिर्फ एक ही रूप होता है। इसका कारण यह है कि अवयव में यदि शुक्लरूप से इतर रूप हो तब अवयवी=कार्य में शुक्लरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि शुक्लेतररूप शुक्लरूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है। जब प्रतिबन्धक विद्यमान हो तब कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः यदि आप बगुले के अवयव में शुक्लरूप से भिन्न रूप मानेंगे तब तो बगुलेरूप अवयवी में शुक्लरूप की उत्पत्ति ही हो न सकेगी। मगर प्रत्यक्ष प्रमाण से तो यह ज्ञात होता ही है कि बगुले में श्वेतवर्ण होता है। अतः बगुले के अवयव में पाँच वर्ण नहीं होते हैं यह सिद्ध होता है। जब अवयव में ही पाँच रूप नहीं है तब अवयवी में पाँच रूप की सिद्धि कैसे होगी? अतः बगुले में पाँच वर्ण की कल्पना समीचीन नहीं है।

शंका :- आपने जो प्रतिबध्य-प्रतिबंधकभाव बताया कि अवयवगत शुक्लेतररूप अवयवी में शुक्लरूप की उत्पत्ति का प्रतिबंधक है और शुक्लरूप प्रतिबध्य है - इसका यदि स्वीकार न किया जाए तो क्या दोष है? मतलब कि अवयव में शुक्लेतर रूप भी हो और अवयवी में शुक्लरूप की उत्पत्ति भी हो - ऐसा मानने में क्या दोष है? जिसके बल पर बगुले में पाँच वर्णों की सिद्धि न हो।

*** शुक्लेतररूप को शुक्लरूप का प्रतिबन्धक न मानने पर आपत्ति ***

समाधान :- **अन्यथा.** इति। यदि उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव का स्वीकार न किया जाए तब चित्ररूप का उच्छेद हो जायेगा - यही सब से बडा दोष है। आशय यह है कि यदि अवयव में अनेक रूप होने पर अवयवी में अनेकरूप की उत्पत्ति की कल्पना की जाए तब नील-शुक्ल-पीत आदि रूप से अतिरिक्त चित्रनामक रूप की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि नीलादिरूप के होते हुए अतिरिक्त चित्ररूप उत्पन्न नहीं हो सकता है। मगर 'इदं चित्रं' यह प्रतीति तो सब लोग को होती है। अतः चित्रनामक एक अतिरिक्तरूप यानी शुक्लादि पाँच रूप से भिन्न चित्ररूप की सिद्धि होती है। मगर अवयवगत शुक्लेतर रूप को अवयवी में शुक्लरूप का प्रतिबन्धक न माना जाए तब तो अवयवी में चित्ररूप की उत्पत्ति ही न हो सकेगी। अतः उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानना आवश्यक है। यदि तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का अंगीकार किया जाए तब चित्ररूप की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि अमुक अवयव में शुक्लरूप, अमुक अवयव में नीलरूप, अमुक अवयव में पीतरूप आदि होने पर अवयवी में नीलादिरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अमुक अवयव में शुक्लरूप होने से अवयवी में नीलादिरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा अवयव में नील रूप होने से अवयवी में शुक्लादिरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मगर अवयवी पृथ्वी आदि कार्यद्रव्य रूपशून्य तो नहीं होते हैं। अतः पारिशेषन्याय से एक अतिरिक्त-नीलादिरूप से विलक्षण चित्ररूप की उत्पत्ति अवयवी कार्यद्रव्य में होती है - यह सिद्ध होता है। इस तरह अनुभवसिद्ध चित्ररूप की उत्पत्ति को संगत करने के लिए तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करना आवश्यक है।

*** चित्ररूप के अस्वीकार में नीलावच्छेदेन पीतरूपप्रत्यक्षता की आपत्ति ***

शुक्लादौ. इति। इसके अतिरिक्त दोष यह है कि यदि तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार न किया जाय तब तो नील-

श्लोक) नियमत एकत्र पञ्चवर्णत्वव्यवस्थितेः। **न च** शुक्लारम्भका न तदितरारम्भका इति **वाच्यम्** नियतारम्भमतनिरासात्,

वच्छेदेन शुक्लरूपस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्ग इत्यादिप्रदर्शनार्थं शुक्लादावित्यत्राऽऽदिपदमुपात्तम्। तथा च चित्ररूपोच्छेद-प्रसङ्गात् शुक्लावयवावच्छेदेन नीलादिप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गाच्च बलाकायाः पञ्चवर्णात्मकत्वं नास्तीति सिद्धम्। युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे।

समाधत्ते **नेति**। **कालान्तरे**=पाकादिकाले। प्रयोगस्त्वेवं शुक्लघटाराम्भकपरमाणवः पञ्चवर्णात्मका नीलघटाद्या-रम्भकत्वात्। वैशेषिक आशङ्कते **शुक्लारम्भका** इति। प्रयोगस्त्वेवम् शुक्लारम्भकपरमाणवो न शुक्लेतरगुणारम्भकाः, तेषां स्ववृत्तिगुणसमानजातीयगुणारम्भकत्वादिति।

शङ्कां निराकरोति **नियतारम्भमतनिरासादिति** परमाणूनां स्ववृत्तिगुणसमानजातीयगुणारम्भकत्वस्य प्रमाणबाधि-

पीतादि रूप व्याप्यवृत्ति होने से यानी संपूर्ण अवयवी में रहने से शुक्लभाग में भी नीलादिरूप का प्रत्यक्ष होने लगेगा। आशय यह है कि रूप अपने संपूर्ण आश्रय में रहनेवाला होता है न कि आश्रय के एक देश में। अतः शुक्लेतररूप होने से संपूर्ण अवयवी द्रव्य में शुक्लरूप की उत्पत्ति होगी, क्योंकि अवयवरूप अवयवीरूप का असमवायिकारण होता है। इसी तरह अमुक अवयव में नीलादिरूप होने से संपूर्ण अवयवी कार्य द्रव्य में नीलादिरूप की उत्पत्ति होगी। मगर यह मानने में बाध यह है कि अवयवद्रव्य में जिस भाग में शुक्लरूप रहा हुआ है वहाँ भी नीलादिरूप प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि शुक्लरूप की तरह नीलादिरूप भी संपूर्ण अवयवी में व्याप्त हो कर रहा हुआ है। मगर ऐसा नहीं होता है कि शुक्लभाग में भी नीलादिरूप का प्रत्यक्ष हो। अतः इस आपत्ति का भी निवारण करने के लिए मानना होगा कि अवयवगत शुक्लेतर रूप अवयवी में शुक्लरूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है। जब तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव का स्वीकार किया जाए तब अवयवी के शुक्लरूपवाले भाग में नीलादिरूप का प्रत्यक्ष होने का दोष नहीं आयेगा, क्योंकि अनेकरूपवाले अवयवों से आरब्ध अवयवी में न तो शुक्लरूप उत्पन्न होता है और न तो नीलादिरूप पैदा होता है किन्तु सिर्फ एक चित्ररूप ही उत्पन्न होता है जिसकी प्रतीति सब लोगों को निराबाधरूप से होती है। अतः इन दो दोषों के कारण तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव का स्वीकार करना आवश्यक होगा। जब यह स्वीकार करना ही पडा तब तो बगुले के अवयव में शुक्लेतररूपादि को मानने पर बगुले में भी पाँचवर्ण की सिद्धि न होगी किन्तु चित्ररूप की ही सिद्धि होगी। अतः आपने जो कहा है कि-बलाका में पाँचरूप होते हैं-वह निर्युक्तिक और प्रमाणबाधित सिद्ध होता है।

* एक धर्मी में अनेक रूप प्रमाणसिद्ध है - स्याद्वादी *

स्याद्वादी :- ओ! नैयायिक! बादल फटे तो कहाँ तक थिगली? जब हम सोचते हैं तब आपके कथन में नितांत अयुक्तता प्रतीत होती है फिर हम कैसे आप के वचन का स्वीकार करें? आप की बातों में कितने दोष बताएँ? फिर भी संक्षेप से आपके वक्तव्य की समालोचना करते हैं और एक ही धर्मी में पाँचरूप की सिद्धि करते हैं। हमारा कथन है कि एक ही धर्मी में पाँच वर्ण लोकप्रतीत है। देखिये जो परमाणु शुक्लघट का आरंभक होते हैं वे ही पाककाल में अग्नि की भट्ठी में डालने के बाद नीलादि घट के आरंभक होते हैं। सर्वथा असत् चीज की उत्पत्ति न होने के सबब पूर्व में भी शुक्लघट के आरंभक परमाणु में नीलादिरूप की सिद्धि होती है। लोक में भी देखा जाता है कि कपास-रूई स्वरूपतः सफेद है फिर भी उस को जलाने के बाद उसकी काली मसी हो जाती है तथा कोयला श्याम दिखता है फिर भी उस को जलाने पर उसकी भस्म श्वेत होती है। यदि कोयले में श्वेतवर्ण पूर्व में न होता तब उसकी भस्म में श्वेतवर्ण कहाँ से आता? कारण में जो धर्म न हो वह गुणधर्म कार्य में कैसे संभव है? अतः मानना होगा कि कोयले में जब श्यामरूप था उस काल में ही श्वेत रूप भी अवश्य था। श्वेतवर्ण और श्यामवर्ण भी एक ही धर्मी में इस तरह सिद्ध होते हैं तब एक ही बगुले में पाँच रूप की सिद्धि निराबाध ही है। अतः एक धर्मी में पाँचरूप का कोई विरोध नहीं है- यह सिद्ध होता है।

शंका :- **न च शुक्लारम्भका.** इति। आप जिन्हें शुक्लरूप का जनक मानते हैं, वे शुक्लेतर रूप के जनक नहीं हो सकते हैं और जो श्यामरूप के जनक होते हैं, वे श्यामेतर रूप का आरंभक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कार्य और कारण के गुणो में नैयत्य होता है। कभी भी श्वेत तंतु से पीला पट बना हुआ देखा या सुना नहीं है। यदि कार्य और कारण के गुण में नैयत्य का स्वीकार न किया जाए तब तो कार्यविशेष की सिद्धि के लिए कारणविशेष में मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। नियत कार्य की उत्पत्ति

अवयवगतशुक्लेतरस्य च न शुक्लप्रतिबन्धकत्वम् मानाभावात्। **न च** चित्ररूपान्यथानुपपत्तिर्**मानम्**, नीलपीतादिरूपसमुदायेनैव चित्रव्यवहारोपपत्तावतिरिक्तचित्रे मानाभावादित्यधिकं मत्कृत**वादमालायाम्**।

तत्वेन निषिद्धत्वादित्यर्थः। किञ्च नियतारम्भाभ्युपगमे नानाजातीयरूपवदवयवारब्धेऽवयविनि चित्ररूपोत्पत्तिः कथं भवेत्? तस्य कारणगुणाऽसमानजातीयत्वादिति स्ववधाय कृत्योत्थापनमेतदिति न किञ्चिदेतत्। पूर्वोक्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावकल्पकस्याऽतिरिक्तचित्ररूपस्याऽप्रामाणिकत्वेन स्वीकर्तुमनर्हत्वात् चित्रव्यवहारस्य नीलपीतादिरूप-समुदायेनैवोपपत्तेः। **एतेन** यदुक्तं युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे **तन्निरस्तम्** नानारूपसमुदायेन चित्रव्यवहारस्य प्रत्यक्षादिभिः सिद्धत्वात्। स्वानुभूत्यनाश्वासे सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गात्। तदुक्तं **पञ्चदश्याम्**-'स्वानु-भूतावविश्वासे तर्कस्याऽप्यनवस्थितेः। कथं वा तार्किकंमन्यः तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात्।।' (प.द.३/२९) इति। न चानेकेषु 'चित्रमि'ति प्रतीतिविषयतायाः कल्पनागौरवं दोषावहम्, अतिरिक्तधर्मिकल्पनाऽपेक्षया क्लृप्तेषु विषयत्वरूपधर्म-कल्पनागौरवस्य न्याय्यत्वात्। **एतेन मुक्तावलीदिनकरीये** "चित्रमिति प्रतीतिविषयताया अनेकत्र कल्पने गौरवमेकत्र कल्पने लाघवमिति लाघवानुरोधेनातिरिक्तचित्ररूपसिद्धौ पूर्वोक्तप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनागौरवस्य न दोषत्वं फलमुखत्वादि"त्युक्तं **तन्निरस्तम्** अस्यां कल्पनायां चित्ररूपप्रागभाव-ध्वंसादिगुरुतरं कल्पनीयमिति प्रागेवोपस्थितौ तद्दोषताया बाहुलेयत्वात् फलमुखकल्पनागौरवस्याऽदोषत्वे गौरवस्य प्रागनुपस्थितेरेव बीजत्वात्। अपि चैवं सति **दिनकरभट्टा**नभिमतस्य चित्ररसस्यापि सिद्धिः प्रसज्येत।

के लिए नियत कारण का उपादान होता है। इसीसे सिद्ध होता है कि कार्य-कारण में नैयत्य होता है। इसी सबब शुक्ल रूप के आरंभक परमाणु शुक्लेतर रूप के आरंभक नहीं होते हैं-यह सिद्ध हुआ। अतः आपने जो बताया था कि शुक्लघट के आरंभक परमाणु ही कालान्तर में नीलादिघट के आरंभक होते हैं-वह बाधित होता है।

❋ नियतारंभवाद अप्रामाणिक ❋

समाधान :- नियता. इति। आपके इस वक्तव्य का आधारस्तंभ नियतारम्भवाद है, मगर नियत आरम्भवाद ही अप्रामाणिक है। नियत आरम्भवाद का अन्यत्र विस्तार से निरास किया हुआ है। अतः विवरणकार उसका यहाँ निरूपण नहीं करते हैं। व्यवहार में भी देखा जाता है कि कारण से सजातीय कार्य की ही उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु विजातीय कार्य की भी उत्पत्ति होती है। जैसे कि एक ही गोबर में से भ्रमर, बिच्छू, कीडे आदि अनेक जीवों की उत्पत्ति होती है। एक ही बादाम के पेड पर कुछ बादाम मीठे पैदा होते हैं और कुछ बादाम कटु भी। अतः नियत आरंभवाद अप्रामाणिक है। अतः शुक्ल रूप के आरम्भक ही कालान्तर में शुक्लेतर रूप के आरंभक हो सकते हैं। इसमें कोई बाधक नहीं है। अतः पूर्व में जो हमने कहा है कि - 'शुक्लघट के आरंभक परमाणु ही अन्य काल में नील रूपवाले घट के आरंभक होने से अवश्य एक ही धर्मी में पाँच रूप की सिद्धि होती है' - वह निर्दोष है। दूसरी बात यह है कि आपने पूर्व में जो बताया था कि अवयवगत शुक्लेतररूप अवयवी में शुक्ल रूप की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है- वह भी अप्रामाणिक होने से हमें मान्य नहीं है।

शंका :- चित्ररूप. इति। जनाब, कमाल है! हमने पूर्व में ही बता दिया था कि- चित्ररूप की अन्यथा अनुपपत्ति ही तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव में प्रमाण हैं, क्योंकि तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धभाव के अस्वीकार में अवयवी में अनेक रूप की उत्पति होने से एक अतिरिक्त चित्ररूप की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। लगता है कि आपको स्मरणशक्ति के लिए ब्राह्मी तैल की आवश्यकता है।

❋ अतिरिक्त चित्ररूप अप्रामाणिक - स्याद्वादी ❋

समाधान :- आपने जो पहले बताया था वह हमें ठीक तरह याद हैं, मगर आपका वह कथन भी अप्रामाणिक होने से मान्य नहीं है, क्योंकि आपका मनोवांछित पाँच रूप से अतिरिक्त चित्ररूप विद्यमान नहीं है। यहाँ यह शंका कि-"यदि चित्ररूप नहीं है तो फिर चित्ररूप का व्यवहार क्यों होता है? चित्ररूप का व्यवहार होता है इसीसे चित्ररूप की सिद्धि होती है" - करना ठीक नहीं है, क्योंकि चित्ररूप का व्यवहार तो नील-पीत आदि रूपों के समुदाय से ही उपपन्न हो सकता है। चित्ररूप के व्यवहार के लिए स्वतंत्र चित्ररूप की आवश्यकता नहीं है। अतः चित्ररूप के व्यवहार से चित्ररूप की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस विषय का

शुक्लघटे रूपान्तराप्रत्यक्षत्वं चोत्कटरूपत्वेन योग्यत्वात् परेणाऽप्युद्भूतरूपस्यैव तथात्वोपगमात्। **न चावयवगताऽनुत्कटरूप-**

एतेन आत्मतत्त्वविवेके "नीलत्वादिवच्चित्रत्वमपि जातिविशेष एव स चावयववृत्तिविजातीयरूपसमाहाराभिव्यङ्ग्यत्वान्नैकरूपावयवसहितस्यावयविन उपलम्भेऽप्युपलभ्यते" (आ.त.वि.पृ.२७४) इति **वदन्नुदयनोऽपि निरस्तः** अतिरिक्तचित्ररूपवृत्तिरूपत्वव्याप्यचित्रत्वजातिकल्पनाया अन्याय्यत्वात् 'तद्धेतोरेवास्तु किं तेने'ति न्यायेनावयववृत्तिविजातीयरूपसमाहारेण चित्रत्वग्रहः ततः चित्रव्यवहार इति कल्पनापेक्षया तादृशरूपसमाहारेणैव चित्रव्यवहारस्य न्याय्यत्वात्, अन्यथा 'चित्ररसा हरितकी, चित्रगन्धः कर्दमः, चित्रस्पर्शः पट' इत्यादिप्रतीतेः चित्ररसादयोऽपि सिध्येयुः। न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम् अपसिद्धान्तनिग्रहस्थानप्राप्तेः।

अत एव पाकजापाकजस्पर्शवदवयवारब्धघटेऽन्यतरस्पर्शनियामकाभावाच्चित्रस्पर्शोऽस्तीति **पन्नगाचार्य**वचनमपि **प्रत्युक्तम्** अतिरिक्तस्पर्शस्वीकारे 'इह देशे मृदुस्पर्शः कर्कशस्पर्शोऽन्यदेश' इति प्रतीत्यपलापप्रसङ्गात्। **न चै**कत्र कथं व्याप्यवृत्तित्वम् तदभावश्च विरोधादिति **वाच्यम्** व्यक्तिभेदात्। न हि यदेव व्याप्यवृत्ति तदेवाऽव्याप्यवृत्ति किन्तु तज्जातीयम्। **न च** व्याप्यवृत्तिनिष्ठधर्मस्य कथमव्याप्यवृत्तिवृत्तित्वमिति **वाच्यम्** अभावत्वस्य व्याप्यवृत्तिघटात्यन्ताभाववृत्तित्वेऽप्यव्याप्यवृत्तिसंयोगाभाववृत्तित्वात्। **न च** व्याप्यवृत्तिनिष्ठजातौ नियमः अभावत्वं तु न जातिरिति **वाच्यम्,** गुणत्वस्य व्याप्यवृत्तिसंख्यादिवृत्तित्वेऽपि अव्याप्यवृत्तिसंयोग-शब्दादिवृत्तित्ववत् रूपवृत्तिरूपत्वस्याऽप्यव्याप्यवृत्तिनिष्ठतयाऽङ्गीकारे बाधकाभावात् अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गात् इति विभाव्यतां प्रतिभोन्नीतोऽयं पन्थाः।

यत्तु शङ्कराचार्येण- "न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत्" (ब. सू. शा. भा. २/२/३३-पृ.७४७) **इत्युक्तं, तन्न** द्रष्टान्तस्यासिद्धत्वात् अग्नौ शीतोष्णस्पर्शयोः प्रमाणसिद्धत्वात्। **न चाग्नौ** शीतस्पर्शस्य बाध इति **वाच्यम्** प्रमाणेन साधनात् तथाहि शीतो वह्निर्दाहकत्वाद् हिमवत्; निर्दोषाणां कुशीचाटनफालग्रहणादिदिव्यं कुर्वतामनुस्मृतमन्त्राणां च हुताशने शीतत्वप्रतीतिः समस्त्येव यद् दोषवतां स्फोटकादिकमुपलभ्यते तदपुण्यानुभावेन सञ्जायते न पुनर्वह्नेरौष्ण्यात्। **न चो**ष्णत्वं स्फोटकोत्पत्तिकारणम् भिल्लातकराजिकादिसम्पर्केऽपि स्फोटकोत्पत्त्युपलम्भेन व्यभिचारात्। न च तेषामुष्णत्वमस्ति तन्न स्फोटकोत्पादकत्वेन वह्नेरुष्णत्वं कल्पनीयम्। **एतेन** वह्निरुष्णो दाहकत्वाद् भास्करबिम्बवदित्य**पास्तम्** हेतोर्विरुद्धत्वात् द्रष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च। कथम्? भास्करबिम्बं शीतमातपनामकर्मोदयवत्त्वादित्यनेन गृहाण। न च वह्नेः **शीतत्वोपगमेऽपसिद्धान्तः** बादरस्कन्धानामष्टस्पर्शवत्त्वस्य **व्याख्याप्रज्ञप्त्यादौ** प्रतिपादितत्वादित्यधिकं **त्वग्निशीतत्वस्थापनवादे**ऽनुसन्धेयम्। **मत्कृतवादमालाया-मिति**। एतत्प्रकरणकारविरचितवादमालायां चित्ररूपवादे। एतदुपलक्षणं **नयोपदेश-स्याद्वादरहस्य-कल्पलतादीना-मिति** ध्येयम्।

ननु शुक्लघटारम्भकपरमाणूनामेव नीलघटाद्यारम्भकत्वेनैकत्रैव शुक्लघटे पञ्च रूपाणि स्वीक्रियन्ते तदा शुक्लघटे शुक्लरूपमिव नीलादिरूपाणि कथं न दृश्यन्ते? चाक्षुषसामग्र्यविशेषादित्याशङ्कायामाह- **शुक्लघट** इति। **उत्कटरूपत्वेन योग्यत्वादिति।** अयं भावः नास्माभी रूपमात्रं प्रत्यक्षगोचरमित्यभ्युपगम्यते किन्तु योग्यरूपम्। रूपे

विस्तार ग्रंथकार ने वादमाला में किया है। जिज्ञासुवर्ग उस ग्रंथ से अधिक जानकारी पा सकते हैं।

शंका :- यदि आपके सिद्धांत के अनुसार शुक्ल घट में शुक्लेतर रूप भी अवश्य है तब शुक्लरूप की तरह शुक्लेतर रूप का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है? चक्षु आदि प्रत्यक्ष की सामग्री तो विद्यमान ही है।

*** योग्यरूप का ही प्रत्यक्ष होता है ***

स्याद्वादी :- **शुक्लघटे. इति**। 'शुक्लघट में शुक्लेतर रूप न होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है' ऐसा नहीं है, मगर शुक्लेतर

स्याऽवयविन्युत्कटरूपप्रतिबन्धकत्वादुक्तानुपपत्तिः अन्यथा पिशाचेऽप्युत्कटरूपप्रसङ्गादिति **वाच्यम्** उत्कटत्वस्य परिणामविशेष-

योग्यत्वं चोत्कटरूपत्वेन। तच्चोत्कटशुक्लरूपे घटे वर्तमानेषु नीलादिरूपान्तरेषु नास्ति तेषामनुत्कटत्वात्। अतो न शुक्लघटे नीलादिरूपान्तरप्रत्यक्षत्वापत्तिः। न केवलमस्माकमुत्कटरूपत्वेन प्रत्यक्षयोग्यत्वमपि तु नैयायिकानामपि तत्सम्मतमित्याह **परेणे**ति नैयायिकेनेति। **उद्भूतरूपस्यैव तथात्वोपगमादिति** प्रत्यक्षयोग्यत्वोपगमात्, एवकारेणा-नुद्भूतरूपस्य व्यवच्छेदः कृतः। नैयायिकः पुनः प्रत्यवतिष्ठते **अवयवगतानुत्कटरूपस्याऽवयविन्युत्कटरूपप्रति-बन्धकत्वादिति**। समवायेनोत्कटरूपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनानुत्कटरूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वमिति फलितम्। ततश्च यदि घटावयवेष्वनुत्कटनीलादिरूपं स्यात् तर्हि घटेऽवयविन्युत्कटरूपं न स्यात्, तस्य प्रतिबध्यत्वात्। अतो घटे शुक्लरूपमपि नीलादिकमिवानुत्कटं स्यात्। तथा च सति घटाप्रत्यक्षत्वापत्तिरिति वृद्धिमिच्छतो मूलक्षति-रायातेत्याशयेन नैयायिक आह-**उक्तानुपपत्तिः**। शुक्लघटेऽवयवगतानुत्कटनीलादिरूपजन्यानुत्कटनीलादिरूपमित्य-स्यानुपपत्तिः। विपक्षे बाधमाह-**अन्यथेति** तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावानभ्युपगमे। पिशाचावयवेष्वनुत्कटरूपसत्त्वेऽपि **पिशाचे** उत्कटरूपोत्पत्तिस्स्यात्, अनुत्कटरूपापेक्षयोत्कटरूपोत्पादाभ्युपगमे कार्यतावच्छेदकलाघवात्। तथा च पिशाचप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। तस्मादुक्तप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावः स्याद्वादिनाऽभ्युपगन्तव्य एव। तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्ध-कभावस्वीकारे च पिशाचावयवेष्वनुत्कटरूपसत्त्वान्न पिशाच उत्कटरूपम्, तस्य प्रतिबध्यत्वात्। तथा च शुक्लघटे शुक्लरूपस्य प्रत्यक्षत्वेन शुक्लघटावयेवष्वनुत्कटनीलाद्यभावोऽनुमीयते। ततश्चोत्कटशुक्लरूपे घटे नानुत्कटनीला-देस्सत्त्वम्। अतः स्याद्वादिन एकत्र पञ्चवर्णात्मकत्वाभ्युपगमो न युक्त इति नैयायिकाशयः।

यद्यपि परमतानुसारेणानुत्कटत्वस्य जातित्वात्तदभावात्मकस्योत्कटत्वस्य गुरुत्वेन नोत्कटरूपोत्पाद इति शक्यते समाधातुं तथापि स्फुटत्वात्तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण तन्निराकरोति **उत्कटत्वस्येति**। अयं भावः परिणामविशेषेणैवोत्क-

---

रूप अनुत्कट होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। वही रूप प्रत्यक्ष का विषय होता है जो उत्कट होता है, क्योंकि उत्कटत्वरूप से ही रूप=वर्ण प्रत्यक्षयोग्य होता है। उत्कटत्व न होने से वे शुक्लेतर रूप प्रत्यक्ष के अयोग्य होते हैं। प्रत्यक्ष में योग्य विषय कारण होने से शुक्ल घट के अनुत्कट शुक्लेतर रूप, जो कि प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। प्रत्यक्ष की सामग्री न होने पर प्रत्यक्ष कैसे होगा? जो रूप उत्कट होता है वही प्रत्यक्षयोग्य होता है-यह सिर्फ हमारा ही सिद्धांत नहीं है मगर नैयायिक को भी यह मान्य है अन्यथा नैयायिक के सिर पर पिशाच के प्रत्यक्ष की आपत्ति आयेगी।

✱ अवयवगत अनुत्कट रूप अवयवी में उत्कट रूप का प्रतिबंधक है - नैयायिक ✱

नैयायिक :- न चावयवगत. इति। आप यदि हमारे सिद्धांत से बातचीत कर रहे हैं तब हमारे दूसरे सिद्धांत को भी कान खोल कर सुनिये। हमारा सिद्धांत यह है कि- अवयवगत अनुत्कट रूप अवयवी में उत्कट रूप का प्रतिबन्धक होता है। अतः शुक्ल घट के अवयव में आप अनुत्कट शुक्लेतर रूप को मानते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ल घट के अवयव में अनुत्कट शुक्लेतर रूप रहने पर घटात्मक अवयवी में उत्कटरूप की उत्पत्ति ही न हो सकेगी क्योंकि अवयवगत अनुत्कटरूप अवयवी में उत्कटरूप का प्रतिबन्धक है। जब घट में उद्भूतरूप की ही उत्पत्ति न होगी तब उत्कट शुक्ल रूप की कल्पना तो कैसे हो सकती है? फलतः घट में उद्भूत रूप की उत्पत्ति न होने से हम दोनों के सिद्धान्त के अनुसार घट का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा। तब तो कुम्हार बेकार हो जायेगा, क्योंकि ग्राहक को अनुद्भूत रूपवाले घट का प्रत्यक्ष न होने से वह उसे खरीदेगा कैसे?

अन्यथा. इति। यहाँ यह शंका कि- 'आपने जो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव बताया है उसमें प्रमाण क्या है? उसके अस्वीकार में बाधक क्या है? जिसकी वजह उसका स्वीकार किया जाए?'- इसलिए निराधार हो जाती है कि उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के अस्वीकार में पिशाच के अवयव में अनुत्कट रूप होते हुए भी पिशाच में उद्भूत रूप की उत्पत्ति होने लगेगी, क्योंकि आप अवयवगत अनुत्कट रूप को अवयवी में उत्कट रूप का प्रतिबन्धक नहीं मानते हैं। अनुत्कट रूप की उत्पत्ति की अपेक्षा से उत्कट रूप की उत्पत्ति की कल्पना में कार्यतावच्छेदकधर्म उत्कटत्व होता है जो अनुत्कटत्व की अपेक्षा से लघु है। फलतः पिशाच के प्रत्यक्ष की आपत्ति होने लगेगी। तब तो इस दुनिया में रहना ही मुश्किल हो जायेगा।

प्रयोज्यत्वेन तथाप्रतिबन्धकत्वाकल्पनात् अन्यथा भर्जनकपालस्थानुद्भूतरूपवह्नेस्तप्ततैलसंसर्गादुद्भूतरूपानुपपत्तिप्रसङ्गादिति **दिग्**।

टत्वोपपत्तौ तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनायां मानाभावात्। तथाप्रतिबन्धकत्वकल्पने च समवायेनोत्कटरूपं प्रत्यवयवगतानुत्कटरूपात्मकप्रतिबन्धकस्याऽभावे कारणताकल्पनाऽऽवश्यक्येव प्रतिबध्यतावच्छेदकस्य प्रतिबन्धकाभावकार्यतावच्छेदकत्वात्। एवं सति गुरुतरकार्यकारणभावः मत्पक्षे तु परिणामविशेष एवोत्कटत्वप्रयोजकत्वमिति लाघवम्। **एतेन** तथाप्रतिबन्धकत्वाऽकल्पने पिशाचेऽप्युद्भूतरूपप्रसङ्गादित्य**पास्तम्**, रूपनिष्ठोत्कटत्वप्रयोजकपरिणामविशेषाभावादेव पिशाच उत्कटरूपानापत्तेः पिशाचप्रत्यक्षत्वाप्रसङ्गात्। **एतेन** 'अवयवोद्भूतरूपादिकमेवावयव्युद्भूतरूपादौ तन्त्रमिति कल्पना **निरस्ता**, शुक्लघटे नीलाद्युत्कटत्वप्रयोजकपरिणामविशेषाभावादेव न तत्रोत्कटनीलादि। अतो न शुक्लघटे शुक्लेतररूपप्रत्यक्षत्वापत्तिः, प्रत्यक्षायोग्यत्वादित्याशयः। परिणामविशेष उत्कटत्व-प्रयोजकत्वमुपेक्ष्य तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने न केवलं कार्यकारणभावगौरवमपि तु व्यतिरेकव्यभिचारोऽपि। तन्निरूपयितुमाह **अन्यथे**ति। तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्वीकार इति, अवयविन्युत्कटरूपं प्रति अवयवगतानुत्कटरूपाभावस्य कारणत्वाऽङ्गीकार इति यावत्। **भर्जनकपालस्थानुद्भूतरूपवह्नेरिति**। भ्राष्टतप्तवालुकाभितप्तकलपालनिष्ठानुत्कटरूपवह्न्यवयवेभ्य इति। **उद्भूतरूपानुपपत्तिप्रसङ्गात्** = उत्कटरूपानलोत्पादाघटनात्, दहने उत्कटरूपानुत्पत्तिप्रसङ्गादित्यत्र तात्पर्यम्। अनेन प्रतिबन्धकाभावरूपकारणे व्यतिरेकव्यभिचारः प्रदर्शितः, स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेनानुत्कटरूपात्मकप्रतिबन्धकसत्त्वेऽपि समवायेनोत्कटरूपोत्पत्तिदर्शनात्। तन्निर्वाहार्थं तप्ततैलसंसर्गाहित उत्कटत्वप्रयोजकः परिणामविशेषो भर्जनकपालस्थानलावयवेष्वकामेनाऽपि स्वीकर्तव्यः, उद्भूतरूपोत्पादान्यथानुपपत्तेः। तदुक्तं **खण्डनखण्डखाद्ये हर्षेण**- "अन्यथाऽनुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका। पिनष्ट्यदृष्टवैमत्यं, सैव सर्वबलाधिका।।२।। **एतेन** - "अतितप्ततैलादौ कदाचिदुद्भूतरूपावयवप्रवेशाद्वह्न्यारम्भोऽपि" (तत्त्व. प्र. खं. पृ. ७२७) इति **प्रत्यक्षकारणवादे गङ्गेशेनोक्तं तन्निरस्तम्**, अन्योन्याश्रयात्, तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावसिद्धौ सत्या-

* उत्कटत्व परिणामविशेषप्रयोज्य है-स्याद्वादी *

स्याद्वादी :- उत्कटत्व. इति। उस्ताद! आपना गली में कुत्ता भी शेर बन जाता है वैसे आप अपने न्यायदर्शन में बैठ कर जोरशोर से नारा लगाते हैं मगर आपकी ताकात नहीं है कि जैनदर्शन में आप अपने पाँव को भी रख सके! इसका कारण यह है कि वास्तव में कार्यतावच्छेदक धर्म में सिर्फ लाघव होने से उत्कटरूप की उत्पत्ति नहीं होती है, मगर उत्कट रूप के कारण का समवधान होने से ही उसकी उत्पत्ति होती है। रूप में उत्कटता का प्रयोजक परिणाम विशेष यानी विशेष शक्ति है, जो कि पिशाच के अवयव में नहीं होती है। अतः पिशाच में उत्कटरूप की उत्पत्ति होने के भय से तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कथित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव के बिना भी परिणामविशेष को रूपगत उत्कटता का प्रयोजक मानने से ही पिशाच में उत्कटरूप की आपत्ति का परिहार हो जाता है। अतः तादृश प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव अप्रामाणिक होने से मान्य हो नहीं सकता है।

नैयायिक :- अवयवगत अनुत्कटरूप को अवयवी में उत्कटरूप का प्रतिबन्धक मानने में जैसे कोई प्रमाण नहीं है, तो फिर परिणामविशेष को उत्कटता का प्रयोजक मानने में क्या प्रमाण है, जिसके बल पर आप पिशाच में उत्कटरूप की आपत्ति का परिहार कर रहे हैं?

स्याद्वादी :- अन्यथा. इति। आप यदि मित्रभाव से अपनी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए प्रश्न करते हैं तब हम अवश्य इसका समाधान देंगे। सुनिये, अग्नि की भट्ठी में या ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न काल की अत्यंत तप्त बनी हुई रेती=वालु से गर्म किये गये मिट्टी के बर्तन में अनुत्कट रूपवाला वह्नि होता है, यह तो आपको मान्य है न?

नैयायिक :- जी हाँ, हम अवश्य तपे हुए मिट्टी के बर्तन में अनुत्कटरूपवाले वह्नि को मानते हैं, क्योंकि उस मिट्टी के बर्तन में गर्मी का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, जो अग्नि का धर्म है। अतः वहाँ वह्नि रहता ही है। फिर भी वह वह्नि आँख से प्रत्यक्षरूप

उत्कटत्वं तादृशबह्ववयवकत्वं न तु जातिरित्**यन्ये**। तत्त्वमत्रत्यं मत्कृत**वादरहस्याद**वसेयम्।।३२।। उक्ता भावसत्या।८।

मुद्भूतरूपावयवप्रवेशसिद्धिः तत्सिद्धौ च तादृशप्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावसिद्धिरिति। **अत एवावयविसिद्धिप्रकरणे मुक्तावल्यां** -"तत्र तदन्तःपातिभिर्दृश्यैरेव दहनावयवैः स्थूलदहनोत्पत्तेरुपगमादि'ति यदुक्तं **तदपि निरस्तम्** अतितप्ततैलादौ दृश्यदहनावयवकल्पनायां मानाभावात्, नियतारम्भनिरासेन तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावे मानाभावाच्च। तदुक्तं **प्रवचनसारवृत्तावमृतचन्द्रेण** "व्यक्तस्पर्शादिचतुष्काणां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्त-गन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामब्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात्।" (प्र.सा.र.गा.४०वृत्तौ) ततः तादृशप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्योद्भूतरूपदहनावयवप्रवेशस्य च कल्पनामपेक्ष्योद्भूतरूपादौ शक्तिविशेषस्य परिणामविशेषापराभिधानस्यैव हेतुत्वौचित्यादिति **दिक्**शब्दार्थः।

ननूत्कटत्वं किमिति जिज्ञासायामाह- **उत्कटत्वं तादृशबह्ववयवकत्वमिति**। प्रकटीभूतरूपाश्रयबह्ववयवकत्व-मित्यर्थः। **न तु जाति**रित्यनन्तरं साङ्कर्यादिति गम्यम्। तदुक्तं ***सामान्यलक्षणाकाशिकानन्दीकारेण*** "नीलत्वशुक्ल-त्वादिना परमाणुनीलशुक्लादिवर्तिना साङ्कर्येणोद्भूतत्वस्य जातित्वाऽयोगः" (सा. ल. का. पृ. १८३) यद्वा साङ्कर्य-

---

में नहीं देखा जाता है। अतः हम यह मानने को भी तैयार हैं कि उस वह्नि में अनुत्कट रूप है, जिसके कारण उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है।

✱ अनुत्कटरूप उत्कटरूप का प्रतिबन्धक नहीं है ✱

स्याद्वादी :- आपकी बात बिल्कुल सही है। अब आगे चलिये, जब कोई मनुष्य तपे हुए तैल को जोर से तपे हुए किसी मिट्टी के बर्तन पर छिंटकता है तब उस तप्त तैल के संसर्ग से उद्भूत रूपवाला वह्नि पैदा होता है यह तो प्रायः सब जन मानते हैं। अतः आपको भी यह तो मानना ही होगा, क्योंकि जिसका चाक्षुषप्रत्यक्ष हो रहा है उसमें उद्भूत रूप होता है यह तो आपका भी सिद्धांत ही है। अब सोचिये, यदि अवयवगत अनुद्भूत रूप को अवयवी में उत्कटरूप का प्रतिबन्धक मानेंगे तब इसकी उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि आपके अभिप्राय के अनुसार तो वह्नि के अवयव में अनुत्कट रूप होने से वह्निरूप अवयवी में उत्कट रूप तो प्रतिबद्ध ही होना चाहिए। उसकी उत्पत्ति न होनी चाहिए। मगर सब लोग को जो प्रत्यक्ष होता है, उसका अपलाप करना तो इंद्र के लिए भी नामुमकिन है, फिर आपकी तो बात क्या? अतः उक्त प्रमाणसिद्ध घटना का समर्थन करने के लिए आपको यह मानना होगा की उत्कटता परिणामविशेष से ही प्रयोज्य है। ऐसा मानने पर हमारे पक्ष में ही आपका प्रवेश हो जायेगा। अतः पूर्व में हमने जो बताया था कि शुक्ल बगुले और घट में शुक्लेतररूप अनुत्कट होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है - वह नितांत सत्य है।

यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि तप्त कपाल में रहे हुए अनुत्कटरूपवाले वह्नि को तप्ततैल का संसर्ग होने पर उसमें विशेषपरिणाम की उत्पत्ति होती है जो कि वह्नि के रूप की उत्कटता का प्रयोजक होता है। अतः तप्त कपाल में विद्यमान वह्नि अवयवों में पूर्व में अनुत्कट रूप रहने पर भी तप्ततैल के संसर्ग से संपादित परिणामविशेष के निमित्त से वह्नि के रूप में उत्कटता आती है। अतः नैयायिकप्रदर्शित प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव उक्त स्थल में व्यभिचारी होने से ग्राह्य नहीं हो सकता है-यह फलित हुआ। अतएव शुक्ल घट और बगुले में उत्कट शुक्ल वर्ण की भाँति शुक्ल रूप से भिन्न अनुत्कट रूप की सिद्धि निराबाध होती है। अतः निश्चय से बगुला पाँचरूपवाला होता है फिर भी शास्त्रीय व्यवहार के अनुसार 'शुक्ला बलाका' यह प्रयोग भावसत्य है - यह निश्चित हुआ।

✱ उत्कटत्व जातिस्वरूप नहीं है - अन्यमत ✱

उत्कटत्वं इति। यहाँ प्रसंग से प्रकरणकार उत्कटत्व के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों के अभिप्राय को बताते हैं। उन विद्वानों का यह कहना है कि रूप में उत्कटत्व तादृशबहुअवयवकत्वरूप है। अर्थात् जिन अवयवों में जिस रूप=वर्ण की मात्रा अधिक होगी वैसे अवयवों की प्रचुरता होने पर वह उत्कट कहलाता है। अधिक मात्रा में प्रतिनियत शुक्लादि रूपवाले प्रचुर अवयवों में रहे हुए रूप में रहा हुआ धर्म ही उत्कटता है, जो कि उपाधिरूप है न कि जातिरूप।

मेवमपि घटते। तथाहि शुक्लत्वाभाववति अञ्जनस्थश्यामरूपे उत्कटत्वस्योत्कटत्वाभाववति भर्जनकपालस्थवह्निरूपे शुक्लत्वस्य सत्त्वादुभयोश्च पटवृत्तिशुक्लरूपे सत्त्वात्, **यद्वा** शुक्लत्वाभाववत्युद्भूतगन्धे उद्भूतत्वस्य तच्छून्ये परमाणुरूपे शुक्लत्वस्य सत्त्वादुभयोश्च पटरूपे सत्त्वात्, परस्परासमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशस्य साङ्कर्य-रूपत्वात्। तदुक्तं ***किरणावलीरहस्ये मथुरानाथेन*** "सङ्करः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सत्येकाधिकरण-वृत्तित्वम्। तत्तज्जातिपरस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सति तत्तज्जातिमन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्व-मिति यावत् (कि. र. पृ. १०२)

अन्ये इत्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः। तद्बीजं चेदम्- उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वादिति। **न च** स्वसामानाधिकरण्य-स्वाऽभावसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन यज्जातिविशिष्टजातित्वं यत्र वर्तते तत्र तज्जाति-व्यापकत्वनियमः। यथा पृथ्वीत्वविशिष्टे द्रव्यत्वे पृथ्वीत्वव्यापकत्वम्। तादृशोभयसम्बन्धेन जातिविशिष्ट-जातित्वावच्छेदेन स्वसामानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभाव इति नियमस्य भङ्ग एव सङ्करस्थले बाध इति **वाच्यम्**, तादृशनियमग्राहकानुकूलतर्काभावात्। किञ्च सङ्कीर्णयोरजातित्वे घटत्वमपि जातिर्न स्यात्, पृथ्वीत्वेन परापरभावानुपपत्तेः। **न च** पृथ्वीत्वादिव्याप्यं नानैव घटत्वमिति **वाच्यम्** दण्डत्वस्याऽपि तद्वदेव नानात्वेन घट-दण्डकार्यकारणभावे व्यभिचारात्, यावद्दण्डभिन्नाऽवृत्तिजातित्वेनानुगतीकृत्य तन्निवेशे गौरवात्।

एतेन "उद्भूतत्वं तु न जातिः शुक्लत्वादिना साङ्कर्यात्। **न च** शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवोद्भूतत्वमिति **वाच्यम्**, उद्भूतरूपत्वादिना चाक्षुषादौ जनकत्वानुपपत्तेः किन्तु शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वं तदभावकूटश्चोद्भूतत्व" (मुक्ता. पृ. ४३६) मिति ***मुक्तावलीकारवचनं*** समालोचयतो ***मुक्तावलीप्रभाकारस्य*** **नृसिंह-शास्त्रिणः** - उद्भूतत्वजातीनां नानात्वेऽपि उद्भूतत्वसप्तकान्यतमत्वस्य सर्वोद्भूतत्वजातिषु अनुगतस्य सम्भवेन तेन रूपेण तासां कारणतावच्छेदकत्वे तादृशान्यतमत्वावच्छिन्नवत्त्वेन रूपस्य कारणत्वे बाधकाभावात् - इति वचनं **प्रत्युक्तम्** शुक्लत्वादिनिष्ठव्यापकतानिरूपितव्याप्यताश्रयनानोद्भूतत्वकल्पनापेक्षयाऽनुगतैकोद्भूतत्वजातिकल्पनायां लाघवात्, तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वे सति तद्भिन्नभिन्नत्वरूपे अनेकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वरूपे वा तादृशान्यतमत्वे कारणतावच्छेदकत्वकल्पनायामतिगौरवाच्च।

यत्तु 'शुक्लत्वादिव्याप्यं नानैवानुद्भूतत्वम् तदभावकूटश्चोद्भूतत्व' (मुक्ता. पृ. ४३६) मिति ***मुक्तावली-कारेणोक्तं*** **तन्मन्दम्** उद्भूतत्वस्य भावत्वेन प्रमीयमाणत्वात्, नानानुद्भूतत्वाज्ञानेऽपि उद्भूतत्वज्ञानात्, गौरवाच्च। इदं च **श्वश्रूनिर्गच्छोक्तिन्यायेन** द्रष्टव्यम्। तथाहि भिक्षामटते माणवकाय भिक्षां प्रत्याचक्षाणां स्नुषां भर्त्सयित्वा श्वश्रूः पुनस्तमाहूय समागते तस्मिन् 'नास्ति भिक्षा निर्गच्छे'ति तथैव प्रत्याचष्टे। तद्वदेव प्रकृते भावनीयम्।

एतेन- शुक्लत्वादिना कारणरूपाग्निसंयोगप्रयोज्याभ्यां जातिभ्यां परापरभावानुपपत्त्या रूपवृत्त्युद्भवत्व-मनेकं वाच्यं तथा चोद्भूतत्वेन कारणत्वेऽननुगमः। तस्मादनुद्भवत्वं शुक्लत्वादिव्याप्यं नानाजातिस्तदभाव-कूटस्तु प्रत्यक्षत्वे प्रयोजकः (त. चि. प्र. ख. पृ. ७२५) इति प्रत्यक्षकारणवादे **तत्त्वचिन्तामणिकारेण** यदुक्तं **तन्निरस्तम्** प्रतिबन्धकत्वेनानुद्भवत्वं कल्पयित्वा अनुद्भवत्वाभावकूटहेतुत्वकल्पनापेक्षया उद्भूतत्वजातिहेतुत्वे लाघवात्, जातौ परापरनियमे मानाभावात्।

वास्तव में उत्कटत्व जातिरूप है या उपाधिरूप है? या अन्य कुछ ही है? इस विषय का तात्त्विक निरूपण इस प्रकरणकार से रचित **वादरहस्य** ग्रंथ से ज्ञातव्य है- इस बात की सूचना कर के विवरणकार भावसत्यभाषा के निरूपण को समाप्त करते हैं।।३२।।

भावसत्य भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब अवसरप्राप्त योगसत्य भाषा का, जो कि सत्यभाषा का ९वाँ भेद है, ३३वीं गाथा

अथ योगसत्यामाह-

[1]सा होइ जोगसच्चा उवयारो जत्थ वत्थुजोगम्मि। छत्ताइअभावे वि हु जह छत्ती कुंडली दंडी।।३३।।

सा भवति योगसत्या यत्र = यस्यां, **वस्तुयोगे उपचारः**, "अतीतसम्बन्धवल्लाक्षणिकपदघटिता योगसत्येत्यर्थः अन्यथा

यत्तु 'उद्भवत्वं जातिरेव नास्तीति केनचिदुक्तं **तदसत्** एकत्र कोटावनुद्भूतत्वे तद्विरहिणि तद्विरुद्धजातिनियमात्। **एतेन** यदपि मणिकारेण तत्रैव- "अथवोद्भूतत्वमनुद्भूतत्वं वा न जातिः किन्तु रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वमेवोद्भूतत्वं तदभावोऽनुद्भवत्वं प्रत्यक्षे रूपे शुक्लतरतमत्वादिजातिमत्त्वात्" (तत्त्व. प्रत्य. ख. पृ. ७२५) इतिकल्पान्तरः प्रदर्शितः सोऽपि **निरस्तः** नानापदार्थघटितसखण्डोपाधित्वकल्पनापेक्षया कारणतावच्छेदकतया लाघवेन जातित्वकल्पनाया एव न्याय्यत्वात्, अन्यथा गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया पृथ्वीत्वजातिसिद्धिरपि दुर्घटा स्यात्।

केचित्तु प्रत्यक्षत्वप्रयोजको धर्म उद्भूतत्वमित्याहुः। **अपरे** तु 'रूपादिविशेषगुणगतो धर्म उद्भूतत्वमि'ति व्याचक्षते। प्रकटीभूतत्वमुद्भूतत्व**मित्यन्ये**। मदीयो निर्भर 'उद्भूतत्वं जाति'रित्यत्र, जातिसाङ्कर्यस्याऽदोषत्वात्। एतत्प्रकरण-कृतोऽप्यभिप्रायेणाऽत्रैव भवितव्यम्। तदुक्तं ***स्याद्वादरहस्ये*** - "उपाधिसाङ्कर्यस्येव जातिसाङ्कर्यस्याऽप्यदोषत्वात्।" (म.स्या.र.श्लो.७/वृत्ति) **मत्कृतवादरहस्यादिति**। एतत्प्रकरणकारकृतो वादरहस्याऽऽख्यो ग्रन्थः साम्प्रतं नोप-लभ्यते।।३२।।

व्यवहारनयाभिमतसत्याया नवमभेदं निरूपयितुमुपक्रमते-**अथ योगसत्यामिति**। उद्देशक्रमप्राप्तां व्यवहारनय-सम्मतसत्यभाषाया नवमभेदरूपामित्यर्थः। **सा होइत्ति**। इयं गाथा प्रकरणकारेण ***विशेषणोपलक्षणप्रकरणे प्रमेयमाला***-स्थसप्तमप्रकरणात्मके उद्धृता वर्तते। **अतीतसम्बन्धवल्लाक्षणिकपदघटितेति**। अतीतसम्बन्धवति वर्तमानं यल्लाक्ष-णिकं पदं तेन घटितेत्यर्थः। लक्षणयाऽर्थबोधकं पदं लाक्षणिकमुच्यते। अत्र शुभाशुभसूचकलक्षणप्रतिपादकं लाक्षणिक-शब्देन न ग्राह्यम्, अनुपयोगात्। अतीतपदेन वर्तमानादिव्यवच्छेदः कृतः। **अन्यथा** = प्रदर्शितलक्षणानभ्युपगमे, वर्तमानादिकालीनसंसर्गवल्लाक्षणिकपदघटितभाषात्वस्य योगसत्यालक्षणतयाऽङ्गीकारे इति यावत्।

से निरूपण हो रहा है।

गाथार्थ :- वह भाषा योगसत्य कही जाती है जिस भाषा में वस्तु का योग होने पर उपचार होता है जैसे कि छत्र आदि के अभाव में भी यह छत्री है, यह कुंडली है, यह दंडी है- इत्यादि भाषा।३३।

❋ योगसत्य भाषा-९ ❋

विवरणार्थ :- किसी व्यक्ति में किसी चीज का योग होने पर जो शब्द उस व्यक्ति में उपचार से प्रवर्तमान होता है उस पद से घटित भाषा योगसत्य भाषा कही जाती है। यह उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। जैसे कि चैत्र में दंड का योग होने पर चैत्र दंडी कहा जाता है। चैत्र में दंड का योग होने से उस शब्द=पद का उपचार दंडसंसर्ग के आश्रयभूत चैत्र में किया जाता है। इस तरह योग=सम्बन्ध की अपेक्षा से इस भाषा में सत्यता है - यह सिद्ध हुआ।

अती. इति। विवरणकार स्पष्टरूप से योगसत्य भाषा के लक्षण को बताते हुए कहते हैं कि - जिस वस्तु में अतीत काल में अन्य किसी वस्तु का सम्बन्ध हुआ है, उसमें जो पद लक्षणा से प्रवृत्त होता है उस पद से घटित भाषा योगसत्य भाषा है। यदि यहाँ अतीतकालीन संसर्ग ऐसा न कहा जाए और वर्तमानकालीन सम्बन्ध का निवेश किया जाय तब तो वर्तमानकाल में छत्रादि न होने पर उस चैत्रादि व्यक्ति में 'यह दंडी है' इत्यादि उपचार भी असंभव हो जायेगा, क्योंकि सम्बन्ध तो उभयात्मक है। आशय यह है कि चैत्रादि और छत्रादि का सम्बन्ध उन दोनों से सर्वथा अतिरिक्त न हो कर चैत्रादि और छत्रादि स्वरूप ही होता है। यदि छत्रादि=विशेषण न होगा या चैत्रादि=विशेष्य न होगा या दोनों न होंगे तब उभयात्मक सम्बन्ध भी नहीं रहेगा। छत्रादि के अभाव काल में उपचार का निमित्तभूत उभयात्मक सम्बन्ध ही नहीं है, तब चैत्रादि में उपचार कैसे होगा? अर्थात् कथमपि न होगा। मगर

१ सा भवति योगसत्योपचारो यत्र वस्तुयोगे। छत्राद्यभावेऽपि यथा छत्री कुंडली दंडी।।३३।।

वस्तुद्वयात्मकसम्बन्धस्यैकतराऽभावेऽभावात् कुत्रोपचारः?[१]

यदि च विशेषणविरहेऽप्यर्थान्तररूपः सम्बन्धोऽस्तीत्युपेयते तदा "इदानीं छत्री'ति व्यवहारः स्यात्, "इदानीं न छत्री'ति च न

वस्तुद्वयात्मकसम्बन्धस्य = प्रतियोग्यनुयोग्युभयात्मकसंसर्गस्य, **एतेन** सम्बन्धिभिन्नत्वे सति सम्बन्ध्याश्रितत्वे सत्येकः सम्बन्ध **इत्यपास्तम्**, स्वरूप-तादात्म्य-संयोगादावव्याप्तेः। **यदपि** "तद्बुद्धिनिरूपितप्रकारत्वविशेष्यत्व-सामान्यभिन्नतद्बुद्धिनिरूपितविषयतावत्त्वे सति तद्बुद्धिनिरूपितप्रकारत्व-विशेष्यत्वान्यतरवद्भिन्नत्वं संसर्गत्वमिति" (मुक्ता. प्र. पृ. १३२) **मुक्तावलीप्रभाकारेण नृसिंहशास्त्रिणोक्तं तन्मन्दम्**, तादृशाऽनित्यबुद्ध्यभावे सत्यव्याप्तिवारणार्थं नित्यज्ञानव्यक्तित्वावच्छिन्ननिरूपितप्रकारत्वादिघटितलक्षणपर्यन्तानुधावनस्याऽप्रामाणिकगौरवेणाऽन्याय्यत्वात् व्यवहारानुपयोगित्वाच्चेति **दिग्**।

एकतराभावेऽभावात् = प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतराभावेऽप्युभयात्मकसंसर्गस्याऽसत्त्वादित्यर्थः। **कुत्रोपचारः**? न क्वापीत्यर्थः। अयं भावः छत्र-पुरुषान्यतराभावे उभयाभावे वा सम्बन्धस्योभयात्मकत्वेन वर्तमानकालीनछत्रसम्बन्ध एव नास्ति तदा कुत्र चैत्रादौ 'छत्री'त्यादिपदोपचारः सङ्गच्छेत? निमित्ते सति ह्युपचारः प्रवर्तते, न त्वेवमेव। अस्मन्मते चातीतकालीनछत्रसंसर्गश्चैत्रादौ छत्राभावदशायामपि वर्तते अतीतकालावच्छेदेन चैत्र एव छत्रसंसर्गस्य सत्त्वात् काले देशस्येव देशे कालस्याऽप्यवच्छेदकत्वात्। **न चै**वमुपचारो न स्यात् मुख्यार्थेनैव तादृक्प्रयोगनिर्वाहादिति **वाच्यम्**, अतीतकालावच्छेदेन चैत्रे तत्सत्त्वेऽपि वर्त्तमानकालावच्छेदेन तदभावस्य सत्त्वेनोपचारस्य न्याय्यत्वात्। **न चैवं** प्रति-योगिमतोरपि कालदेशयोर्देशकालभेदावच्छेदेन तदभाववत्त्वात् साम्प्रतं सत्यपि छत्रे चैत्रे तदुपचारप्रसङ्ग इति **वाच्यम्** वर्तमानकालावच्छिन्नात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिप्रतियोगिकोपचारस्यानुभवविरोधित्वेनानभ्युपगमात्। ततो छत्राभावदशाया-मपि चैत्रादावुपचारेण 'चैत्रः छत्री'त्यादिः व्यवहारः सुष्ठु घटामञ्चति। तदुक्तं ***श्रीमलयगिरिचरणैः*** "योगः=सम्बन्धः, तस्मात् सत्या योगसत्या। तत्र छत्रयोगात् विवक्षितशब्दप्रयोगकाले छत्राभावेऽपि छत्रयोगस्य सम्भवात् छत्री" (प्र. भा. प. सू. १६५ मल. वृ.) इति ***प्रज्ञापनावृत्तौ***। **एतेन** दण्डाभावदशायां 'दण्डी'ति प्रयोगोऽसत्य एव तदभाववति तत्प्रकारक-बोधजनकत्वादिति **निरस्तम्**, व्यवहारनयस्य प्रकान्तत्वात्, तथैव लोकव्यवहारात्। किञ्च शब्दस्य तात्पर्ये प्रमाणत्वम्, अन्यथा लक्षणोच्छेदप्रसङ्गात्, लोकव्यवहारस्यैव तादृशप्रयोगनियामकत्वेनाऽनतिप्रसङ्गाच्चेति विभावनीयम्।

नैयायिकमतं प्रतिक्षिपन् विपक्षे बाधमाह - **यदि चे**ति। **विशेषणविरहेऽपीति**। अपिना विशेष्यविरहोभयविरह-योरनुक्तयोः समुच्चयः। **अस्तीत्युपेयत** इति विशेषणविरहविशिष्टकालावच्छेदेनाऽस्तीत्यभ्युपगम्यत इत्यर्थः। **"इदानीं छत्रीति व्यवहारः स्यात्"**। अत्र मुद्रितप्रतौ- 'इदानीं न छत्रीति च तत्र स्यादि'त्यतीवाऽशुद्धः पाठो वर्त्तते। एतत्प्र-करणकृद्धस्तलिखितप्रतौ च 'इदानीं छत्रीति व्यवहारः स्यात्, इदानीं न छत्रीति च न स्यादि'ति सम्यक् पाठः।

वस्तुस्थिति यह है कि वर्तमान में छत्रादि न होने पर भी भूतकालीन छत्रादिसम्बन्ध के निमित्त से 'चैत्रः छत्री' इत्यादि शब्दप्रयोग होता है। अतः भूतकालीन सम्बन्ध को ही उपचार=लक्षणा का बीज मानना और जिसमें भूतकालीन दंडादि सम्बन्ध हो उसमें लक्षणा से प्रवर्त्तमान पद से घटित भाषा को ही योगसत्य भाषा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

* विशेषण के अभाव में वर्तमान सम्बन्ध के स्वीकार में दोष *

यदि च. इति। विवरणकार ने पूर्व में बताया कि सम्बन्ध विशेषण-विशेष्य उभयस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है। फिर भी यदि कोई सम्बन्ध को विशेषण-विशेष्य से अतिरिक्त माने तो उसको शिक्षा देते हुए कहते हैं कि- "यदि विशेष्य में विशेषण का अभाव होने पर भी धर्म और धर्मी से भिन्न सम्बन्ध रहता है,-यह माना जाए तब तो 'चैत्र इदानीं छत्री' अर्थात् 'चैत्रादि वर्तमान में

---

१ 'कुत्रोपचारः? न' इत्येवं मुद्रितप्रतावशुद्धः पाठो वर्त्तते।

स्यादिति ध्येयम्। उदाहरणमाह-**छत्राद्यभावेऽपि यथा छत्री कुण्डली दण्डी**ति।।३३।।

इन्प्रत्ययस्य संसर्गवाचकत्वेन छत्राभावेऽप्यर्थान्तररूपसम्बन्धसत्त्वाभ्युपगमे च छत्राभावदशायामपि 'इदानीं छत्री'ति शब्दप्रयोगात्मको व्यवहारः स्यात्। न च यस्मिन्पूर्वमनेकशः छत्रयोगे जाते छत्राभावदशायां 'अयमिदानीं छत्री'ति व्यवहारो जायते, किन्तु 'अयं छत्री'त्येव। तथा प्रतियोगिसम्बन्धसत्त्वाभ्युपगमे तदभावप्रतिपादक 'इदानीं न छत्री'ति व्यवहारो न स्यात्। यदि स्यात्तदाऽपि मृषा स्यात्, अतिरिक्तसम्बन्धसत्त्वदशायामपि तदभाववत्तावगाहि-शाब्दबोधजनकत्वात्। **एतेन**-'रूपसमवायसत्त्वेऽपि वायौ स्वभावतो रूपाभावादेव नीरूपत्वमि'ति **गङ्गेशेन** यदुक्तं **तन्निरस्तम्** प्रतियोगिसम्बन्धसत्त्वे तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावायोगात्, अन्यथा घटसंयोगवति भूतले संयोगसम्बन्धा-वच्छिन्नघटाभावापत्तेः। किञ्च वाय्वादेर्नीरूपत्वस्य रूपीयतद्धर्मताख्यसम्बन्धाभावादेव **पक्षधरमिश्रै**रुपपादितत्वात्, तद्धर्मतायाश्च तद्रूपाद्यनतिरिक्तत्वात्। न तत्र रूपसमवायस्य प्रामाणिकत्वम्, तदुक्तं ***चिन्तामण्यालोके मिश्रैः*** "अविद्यमानसंसर्गावच्छिन्न एव संसर्गाभाव इति रूपाभावोऽप्येवम्, न तु समवायसम्बन्धावच्छिन्नः किन्तु तद्धर्मतालक्षणस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न" इति। अधिकं तु ***न्यायलोके***ऽनुसन्धेयम्।

एतेन यदपि ***शिरोमणिना*** "यद्यपि समवायो नित्यस्तथापि पिण्डानुत्पत्तिकाले पिण्डासत्त्वप्रयुक्तमेव तदसम्बद्ध-त्वमि"ति **आत्मतत्त्वविवेकदीधितावुक्तं तत्प्रत्युक्तम्**, सम्बद्धत्वाऽसम्बद्धत्वाभ्यां समवायस्य नित्यत्वहानिप्रसङ्गा-च्चेत्यादिसूचनार्थं **ध्येय**मित्युक्तम्।

छत्राद्यभावेऽपि यथा छत्रीति। छत्रञ्चाऽत्रोपलक्षणम्, अतीतविषयस्य ज्ञाने उपलक्षणत्वेनैव व्यवहारात्। अत्र भूयशोऽतीतकालीनच्छत्रसंसर्गवति तादृशोपचरितसम्बन्धेन छत्रमन्वीयते, उपलक्ष्यद्वारोपचरितसम्बन्धेनोपलक्षणस्य ज्ञानविषयत्वानुभवात्। इत्थमेवोपलक्षणवचनस्य योगसत्यत्वमुपपादितं **विशेषणोपलक्षणप्रकरणे**। प्रतियोगिसम्बन्ध-मात्रविवक्षणात् इन्प्रत्ययोपादानम्, वतोः प्रशंसावाचित्वात्। अत एव 'रूपवान् = प्रशस्तरूपोपेत' इति ***धर्मरत्नप्रकरण-वृत्तिकार***वचनमपि सङ्गच्छते। **स्थानाङ्गवृत्तौ** तु "योगतः = सम्बन्धतः सत्यं योगसत्यं यथा दण्डयोगाद् दण्डः, छत्रयोगाच्छत्र एवोच्यते" (स्था.) इति ***अभयदेवसूरिणा*** व्याख्यातमिति ध्येयम्।

चैत्रादौ छत्रादिसत्त्वदशायां तु 'अयं छत्री'त्यादिकं वचनं तु भावसत्यायामन्तर्भवति पारमार्थिकच्छत्रादिसम्बन्ध-

---

छत्री=छत्रसम्बन्धवाला है'- इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा, क्योंकि 'छत्र न होने पर भी छत्र का सम्बन्ध तो रहता है'- यह आपका मन्तव्य है। मगर वास्तव में 'अयं इदानीं छत्री' ऐसा प्रयोग नहीं होता है, किन्तु 'छत्री चैत्रः' ऐसा ही प्रयोग होता है।

दूसरी बात यह है कि- यदि विशेषण के अभाव में भी अतिरिक्त सम्बन्ध का स्वीकार किया जाय तब तो 'इदानीं न छत्री' अर्थात् 'यह अभी=वर्तमान काल में छत्री=छत्रसम्बन्धवाला नहीं है' इस प्रकार का शाब्द व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि जब तादृश सम्बन्ध विद्यमान हो तब तादृश सम्बन्ध के अभाव के बोधक वाक्य का प्रयोग समीचीन नहीं हो सकता मगर वस्तुस्थिति को लक्ष्य में ली जाय तब तो छत्रादि विशेषण के अभाव काल में 'यह वर्तमानकाल में छत्र सम्बन्धवाला नहीं है'- ऐसा शाब्द व्यवहार लोक में दिखाई देता है, जिसका समर्थन आपके अभिप्राय के अनुसार कथमपि संभव नहीं है। अतः सम्बन्ध धर्म-धर्मी से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु धर्म-धर्मी उभयस्वरूप ही है-यही मानना उचित है। इस विषय में आगे भी विचार किया जा सकता है-यह बताने के लिए 'ध्येयं' पद का प्रयोग हुआ है।

उदाहरण. इति। अब विवरणकार योगसत्य भाषा के लक्षण के अनुसार तीन उदाहरण बताते हैं कि छत्रादि विशेषण के अभाव में भी छत्री, कुंडली, दंडी इत्यादि शब्दप्रयोग योगसत्य भाषा के द्रष्टांत हैं। आशय यह है कि सांप्रतकाल में छत्रादि न होने पर भी अतीतकालीन छत्रादिसम्बन्ध के निमित्त से चैत्रादि में छत्री इत्यादि पद की लक्षणा होती है। उन पदों से घटित भाषा जैसे कि- 'अयं छत्री गच्छति' इत्यादि भाषा योगसत्य भाषा है।।३३।।

उक्ता योगसत्या। अथौपम्यसत्यामाह तत्रौपम्यमुपमानापेक्षम्, उपमानं ज्ञातमुदाहरणं निदर्शनं द्रष्टांतो [1]वेति तु पर्यायाः। तथा चाऽऽह भगवान् **भद्रबाहुः** [2]'नायं आहरणं ति य दिट्ठंतोवमनिदरिसणं तह य एगट्ठत्ति'।। (द.वै.नि.श्लो. २४) तच्चोपमानं सामान्यतो द्विविधमित्याह

बोधनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वाद्वचनस्य। छत्रादिकञ्च तदा विशेषणमेव न तूपलक्षणम्, अवधारणाख्यविषयतायाः सत्त्वात्। तदा छत्रादाववधारणाख्यविषयताऽन्यविषयत्वाभावेनोपलक्षणत्वाभावान्न 'छत्री'त्यादिपदे लाक्षणिकत्वम्। तेन तदा तादृशपदघटितभाषायाः 'चैत्रः छत्री'त्यादिरूपाया योगसत्यत्वम्, तल्लक्षणायोगात्। अत एव न भावसत्यायामति-व्याप्तिः उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यादिति निपुणतरं निभालनीयम्।।३३।।

योगसत्यां परिसमाप्यौपम्यसत्यां वक्तुमवसरसङ्गतिमुपदर्शयति **उक्ता योगसत्या, अथौपम्यसत्यामाहे**ति। उक्तेत्यनेन प्रतिबन्धकीभूतश्रोतृजिज्ञासापगमः, 'अथौपम्यसत्यामाहे'त्यनेन चावश्यवक्तव्यत्वं प्रकाशत इति जातं विषयसिद्ध्या प्रतिबन्धकीभूतश्रोतृजिज्ञासानिवृत्तावनन्तरमवश्यवक्तव्यत्वलक्षणाऽवसरसङ्गतिशरीरम्। प्रकृते **स्थानाङ्गवृत्तौ** तु "उप-मैवौपम्यं तेन सत्यमौपम्यसत्यं यथा समुद्रवत्तडागः, देवोऽयं, सिंहस्त्वमिति" (स्था.) इत्येवं सङ्क्षेपत उक्तम्। अयं प्रकरणकारस्तु श्रीदशवैकालिकसूत्रप्रथमाध्ययननिर्युक्त्याद्यनुसारेण विस्तरतः प्रतिपादयितु-काम **आह-तत्रौपम्यमिति**। औपम्यसत्यघटकीभूतमौपम्यमित्यर्थः। औपम्यमुपमा सादृश्यमित्यनर्थान्तरम्। उपमा द्विविधा शब्दोपमा अर्थोपमा च। तत्र शब्दोपमाया लक्षणम्-कस्मिंश्चिदेवार्थे यः प्रसिद्धो गुणस्तदन्यस्मिन्नप्रसिद्ध-स्तद्गुणेऽर्थे शब्दमात्रेण तद्रूपं संयोज्य तद्गुणप्रकाशनमिति वदन्ति। अर्थोपमाया लक्षणम्- वैधर्म्याविषयैक-वाक्यविषयकत्वे सतीवादिवाच्यमुभयसम्बन्धि-साधर्म्यमिति **परे** वदन्ति। **अपरे** तु उपमानोपमेयभावासाधारण-कारणमिति प्राहुः। ***काव्यप्रकाशबालबोधिनीकार***स्तु - "उप = समीपे, मीयते = परिच्छिद्यतेऽनयेत्युपमेत्याह। **अन्ये** तु एकाकार-प्रतीतिजनकधर्मवत्त्वमिति व्याचक्षते। ***मुक्तावलीकारा***दयस्तु - तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमित्याहुः। प्रकरणकारस्तु ***मध्यमस्याद्वादरहस्ये*** - "सादृश्यं न तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं किन्तु तद्वृत्तिधर्मैक-धर्मत्वमि"ति स्वाशयं प्रकटीतवान्। **उपमानापेक्षमिति**। औपम्यस्योपमानघटितत्वेनोपमाननिरूपणाधीननिरूपण-त्वात्प्रथममुपमानं निरूपयति-**उपमानमिति**।

ननूपमा न केवलं प्रतियोगिविधयोपमानापेक्षा किन्त्वनुयोगिविधयोपमेयाऽपेक्षाऽपि यतो यथोपमाप्रतियोगित्वमुप-

इस तरह योगसत्यभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार श्रीमद् व्यवहारनयसंमत सत्याभाषा के चरम भेद औपम्यसत्य भाषा को बता रहे हैं।

✱ औपम्यसत्य भाषा-१० ✱

तत्र. इति। औपम्यसत्य भाषा के घटक औपम्य का अर्थ है उपमा, जो कि उपमान से सापेक्ष होती है। जैसे कि 'चाँद सा मुँह' यहाँ चाँद उपमान है और जिसको उपमा दी जा रही है वह मुँह उपमेय है। मुँह में चाँद की समानता का भान चाँद के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता है। अतः उपमा उपमान से सापेक्ष कही जाती है। मतलब यह है कि उपमेय में उपमा का ज्ञान करने के लिए उपमान का ज्ञान आवश्यक है। अतः उपमा = औपम्य का निरूपण करने के पहले उपमान का निरूपण आवश्यक है। अतः प्रकरणकार पहले उपमान का निरूपण करते हैं। ज्ञात उदाहरण, निदर्शन, द्रष्टांत ये सब शब्द उपमान के पर्यायवाचक शब्द हैं। मतलब यह है कि जो उपमान पद का अर्थ है वही ज्ञात, उदाहरण, निदर्शन और द्रष्टांत पद का अर्थ है। विवरणकार यहाँ भगवान् भद्रबाहुस्वामीजी का संवाद बता रहे हैं। उन्होंने श्रीदशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति में साफ-साफ बताया हैं कि- 'ज्ञात, उदाहरण, निदर्शन, द्रष्टांत और उपमान-ये सब एकार्थक शब्द है"। प्रदर्शित उपमान के दो भेद हैं जिन्हें प्रकरणकार ३४वीं गाथा से बता रहे हैं।

१ कप्रतौ तो चेति अशुद्धः पाठः। २ ज्ञातमाहरणमिति च द्रष्टान्त उपमा निदर्शनं तथा चैकार्था इति।

३ तं दुविहं चउव्विहं चेव नायव्वं।। इति शेषनिर्युक्तिवचनम्।

[४]चरियं च कप्पियं तह, उवमाणं दुविहमेत्थ णिद्दिट्ठं। कप्पियमवि रूवयमिव भावाबाहेण ण णिरत्थं।।३४।।

चरितं च = पारमार्थिकं च, यथा महारम्भो ब्रह्मदत्तादिवद्दुःखं भजत इति। **तथा कल्पितं** = स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मितं यथाऽनित्यतायां **पिप्पलपत्रोपमानम्**। उक्तं च '[१]जह तुब्भे तह अम्हे तुब्भे वि य होहिधा जधा अम्हे।

मानत्वं तथोपमानुयोगित्वमुपमेयत्वम्। अत उपमेयनिरूपणमप्यावश्यकं यद्वोपमाननिरूपणमपि न कर्तव्यम्, अविशेषादिति **चेत्? न**, उपमेयस्य प्रत्यक्षत्वेन प्राप्तत्वात्, शास्त्रस्य चाप्राप्तप्रतिपादकत्वेनोपमानप्रतिपादनस्याऽऽवश्यकत्वादिति **दिग्**। **पर्याया** इति। **केचित्** - समानार्थबोधकशब्दत्वं पर्यायत्वमि**त्याहुः**। नानाशब्दैकार्थबोधकत्वमि**त्यपरे**। तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनमि**त्यन्ये**। ***आत्मतत्त्वविवेकवृत्तिकृतस्तु*** 'भिन्नयोरभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं पर्यायत्वमि'ति **प्राहुः। भगवानिति** ज्ञानैश्वर्यादिगुणसम्पन्न इत्यर्थः। उपमानज्ञातादीनां पर्यायत्वे श्रीदशवैकालिकनिर्युक्तिकृत्सम्मतिं प्रदर्शयति-**नायं आहरणं** इति। ***अत्रागस्त्यसिंहसूरीकृतचूर्णौ*** - "णज्जंति अणेण अत्था णातं १, आहरति तमत्थे विण्णाणमिति आहरणं २, दिट्ठोऽस्स अंतो दिट्ठंतो ३, उवेच्च माणं उवमा तब्भावो ओवम्मं ४, अहिकं दरिसणं निदरिसणं ५ एगट्ठिता" (दश. वै. नि. श्लो. २४ अ. चू.) इत्येवं व्याख्यातम्।

हारिभद्रवृत्तौ तु- "ज्ञायतेऽस्मिन् सति दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातम्, अधिकरणे निष्ठाप्रत्ययः तथोदाह्रियते = प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युदाहरणम्, दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्तः, अतीन्द्रियप्रमाणाद्दृष्टं संवेदननिष्ठां नयतीत्यर्थः। उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम्। तथा निदर्शनं निश्चयेन दर्श्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिक एवार्थ इति निदर्शनम् 'एगट्ठं' ति इदमेकार्थम् = एकार्थिकजातम् (दश. नि. श्लो. ५२ हा. वृ.) इत्येवं व्याख्यातम्। **ब्रह्मदत्तादिवदिति**। ब्रह्मदत्तकथानकं विस्तरतः ***त्रिषष्टिशलाकापुरुषोत्तराध्ययनसूत्रा***दितो ज्ञेयम्। अत्र महारम्भे दुःखजनकत्वप्रतिपादनमभीप्सितम्। ***हारिभद्रवृत्तौ*** तु निदाने दुःखजनकत्वप्रतिपादनमत्रैवोदाहरणे, तदुक्तं तत्र - "दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य।" (दश. हा. वृ. पृ. २३) '**अप्पाहेति**' = शिक्षयतीत्यर्थः शेषमतिरोहितार्थम्। विस्तरतस्***तूत्तराध्ययननिर्युक्तिबृहद्वृत्तितो***ऽवसेयम्।

गाथार्थ :- यहाँ चरित और कल्पित इस तरह उपमान के दो भेद बताये गये हैं। कल्पित उपमान भी भाव अबाधित होने से रूपक अलंकार की तरह निरर्थक नहीं है।३४।

❋ उपमान के दो भेद ❋

विवरणार्थ :- चरित उदाहरण का अर्थ है पारमार्थिक उदाहरण। जैसे कि जो महारंभ-समारंभ करता है वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि की तरह दुःख को पाता है। महारंभ में आसक्त ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, जिसने पूर्वभव में संयम के फलस्वरूप में चक्रवर्ती बनने का निदान किया था, उसी भाव में अंधा हुआ था और चक्रवर्तीपने का आरंभ तो आखिर तक नहीं ही छोडा था। अधिक में समस्त ब्राह्मणवर्ग की आँखे खींचवाने का सक्रिय यत्न किया था। आरंभ-समारंभ की बहुत खुशी भी मनाई थी। बाद में सातवीं नरक में गया था। यह घटना घटी हुई है। अतः यह उदाहरण चरित=पारमार्थिक कहा जाता है।

कल्पित. इति। उदाहरण=उपमान का दूसरा भेद है कल्पित उपमान यानी वह उदाहरण जो वास्तविक न हो मगर अपनी बुद्धि की कल्पनारूप शिल्पी से निर्मित हो जैसे कि अनित्यता के द्रष्टांत में पीपल के पत्तों का उदाहरण। वह उदाहरण उत्तराध्ययननिर्युक्ति में इस प्रकार बताया गया है कि- 'पीपल के पौधे से जीर्ण-शीर्ण पत्ते गिरते हैं उनको देख कर छोटे छोटे कोमल पत्ते हंसते हैं तब जीर्ण-शीर्ण पत्ते उनसे कहते हैं कि 'आज तुम्हारी जैसी अभ्युदयवाली उन्नत स्थिति है वैसी ही हमारी स्थिति पूर्व में थी और आज हमारी जो स्थिति है वैसी ही विनाश-अधोगति की स्थिति तुम्हारी भी आयेगी'। यहाँ गुर्जरभाषा की लोकपंक्ति याद आये बिना नहीं रहती है। वह यह है कि- 'पिप्पल पान खरतां हसती कुंपलीयां, मुज विती तुज वितसे धीरी बापुलीयां'। इस तरह अनित्यता के सम्बन्ध में यह काल्पनिक उदाहरण है।

४ चरितं च कल्पितं तथोपमानं द्विविधमत्र निर्दिष्टम्। कल्पितमपि रूपकमिव भावाबाधेन न निरर्थम्।।३४।।

१ यथा यूयं तथा वयं यूयमपि भविष्यथ यथा वयम्। शिक्षयति पतत्पाण्डुपत्रं किशलयेभ्यः।।

(उपमान - भेद-प्रभेदादि का नकशा)

- **उपमान**
  - **ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती — चरितोपमान**
    - **आहरण**
      - अपाय
        - द्रव्य अपाय — दोभाई
        - क्षेत्र अपाय — दशारवर्ग
        - काल अपाय — द्वैपायन
        - भावापाय — कूरगडुमुनिजीव
      - उपाय
        - द्रव्य उपाय: लौ. (धातुवाद), लो.
        - क्षेत्र उपाय: लौ. (हलादि), लो.
        - काल उपाय: लौ. (घडी आदि), लो.
        - भावोपाय: लौ. (अभयकुमार), च., लो., द्र.
      - स्थापना
        - लो. — हिंगुशिव
        - लो.च. — श्रेणिकसंबंधी साधु
        - द्र.
      - प्रत्युत्पन्न विन्यास
        - लो. — वणिक
        - लो.
        - द्र — नास्तिक बौद्ध
    - **तद्देश**
      - अनुशास्ति: च. — सुभद्रा; द्र. — सांख्य
      - उपालंभ: च. — मृगावती; द्र.
      - पृच्छा: च. — कूणिक; द्र. — नास्तिक चार्वाक
      - निश्रा वचन: च. — गौतम स्वामी; द्र.
    - **तद्दोष**
      - अधर्मयुक्त: च. — नलदाम; द्र. — रोहगुप्त
      - प्रतिलोम: च. — अभय; द्र.
      - आत्मोपन्यास: च. — पिंगल; द्र.
      - दुरुपनीत: च. — भिक्षुकथा; द्र.
    - **पुनरुपन्यास**
      - तद्वस्तूपन्यास: लौ. — कार्पटिक; च. — 'न मांस'; द्र
      - तदन्यवस्तु उपन्यास: लौ. — संन्यासी; च. — 'मा हिंस्यात्'; द्र.
      - प्रतिनिभोपन्यास: लौ. — परिव्राजक; च. — लुम्पक; द्र. — 'अस्ति जीवः'
      - हेतूपन्यास: लौ. — यवक्रय; च.; द्र.
  - **कल्पितोपमान — चरितोपमान की तरह भेद-प्रभेद ज्ञातव्य है।**
    - पिप्पलपत्र

શ્રી વિજય નેમિસૂરિ-જ્ઞાન શાળા
શાસન સમ્રાટ ભવન
ક્રમાંક:
સ્થાન:
શેઠ હઠીસિંહની વાડી, અમદાવાદ.

❖ संज्ञा ❖

लौ. = लौकिक
लो. = लोकोत्तर
च. = चरणकरणानुयोग
द्र. = द्रव्यानुयोग

लेखक द्वारा रचित-संपादित अनुवादित साहित्य सूचि

पुस्तक का नाम	भाषा	मूल्य (रू.)
न्यायालोक	(संस्कृत + गुजराती)	१७०-००
भाषा रहस्य	(संस्कृत + हिन्दी)	१६०-००
स्याद्वाद रहस्य (भाग : १ थी ३)	(संस्कृत + हिन्दी)	४३५-००
वादमाला	(संस्कृत + हिन्दी)	१२०-००
षोडशक (भाग : १-२)	(संस्कृत + हिन्दी)	२००-००
अध्यात्मउपनिषत् (भाग : १-२)	(संस्कृत + गुजराती)	१९०-००
Fragrance of Sensation		
द्विवर्ण रत्नमालिका	(संस्कृत + गुजराती)	अमूल्य
वासना हारे, उपासना जीते	(गुजराती)	अमूल्य
बुद्धि हारे, श्रद्धा जीते	(गुजराती)	अमूल्य
साधना चढे के उपासना ?	(गुजराती)	अमूल्य
संवेदननी सुवास	(प्रभु भक्ति गुजराती)	अमूल्य
संवेदननी झलक	(प्रभु भक्ति गुजराती)	अमूल्य
संवेदननी मस्ती	(प्रभु भक्ति गुजराती)	अमूल्य
संवेदननी सरगम	(प्रभु भक्ति गुजराती)	अमूल्य
संयमीना कानमां	(साधु-साध्वीजी भगवंतो माटे)	अमूल्य
संयमीना दिलमां	(साधु-साध्वीजी भगवंतो माटे)	अमूल्य
संयमीना रोमरोममां	(साधु-साध्वीजी भगवंतो माटे)	अमूल्य
संयमीना सपनामां	(साधु-साध्वीजी भगवंतो माटे)	अमूल्य
यशोविजय छत्रीशी	(प्रभु स्तुति)	अमूल्य
विद्युत् : सजीव या निर्जीव ?	(हिन्दी)	१०-००
प्रभु वीर का अंतिम संदेश	(For CD Purpose)	अमूल्य
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका (भाग : १ से ८)	(संस्कृत + गुजराती)	मुद्रणालयस्थ

नोंध : अध्ययनशील पू. साधु-साध्वीजी भगवंतों को तथा ज्ञानभंडारों को भेट रूप में मिल सकेगी.

❖ प्राप्ति स्थान ❖

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

३९, कलिकुंड सोसायटी, धोळका, जि. अमदावाद. पीन ३८७ ८१०

[1]अप्पाहेति पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं।। (उत्त.नि.श्लो. ३०८)

ननु कल्पितं न प्रयोज्यं बाधितार्थत्वादित्यत आह-**कल्पितमपि रूपकमिव भावाबाधेन न निरर्थमिति**। अयं भावः यथा संसारः समुद्र इति रूपकप्रयोगोऽभेदबाधेऽप्यनाहार्यज्ञान एव बाधधियः प्रतिबन्धकत्वादाहार्यशाब्दबोधद्वारा संसारस्य दुस्तरत्वव्यञ्जकतायां

तदभाववत्ताबुद्धेस्तद्वत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वेन बाधितार्थकप्रयोगाच्छाब्दबोधानुत्पादेन निरर्थकत्वापत्त्या तदप्रयोगार्हमिति शङ्कते-**नन्विति**। बाधितार्थकत्वे वाक्प्रयोगानर्हत्वव्याप्तिं निरस्यति-**कल्पितमपि**, किं पुनः चरितोपमानमित्यपिशब्दार्थः। **भावाबाधेन** = तात्पर्याबाधेन, अत एव 'जलाहरणाय घटमानय' इत्यत्र तात्पर्यबलेन निश्छिद्रघटानयनं भवति। न चैवं घटतात्पर्येण पटपदप्रयोगेऽपि सत्यत्वं स्यादिति **वाच्यम्**, सामान्यतः तथाव्यवहारस्याऽप्रसिद्धत्वेन तदनापत्तेः, सङ्केतितं श्रोतारं प्रति तु तत्सत्यत्वस्यानपायात्। इत्थमेव सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः सति तात्पर्ये इति प्रवादस्योपपत्तेरिति। अत एव च ***कल्पलतायां*** 'पाण्डुरपत्रकिशलयादिवृत्तान्तार्थानामुपमावचनानां स्वार्थबाधेऽपि तात्पर्ये प्रामाण्यान्न तथात्वमि'ति (स्या.क.स्त. ११/श्लो. १८ वृत्ति) उक्तम्। तथात्वं = असत्यत्वम्। **न निरर्थमिति** = न निष्प्रयोजनमित्यर्थः। **रूपकप्रयोग** इति। उपमानोपमेययोरभेदे साम्यप्रतीतिर्नाम रूपकम्। तदुक्तं **रसगङ्गाधरे** - उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारेणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमानतादात्म्यं रूपकम्। (र.गं.पृ. २९७) ***सरस्वतीकण्ठाभरणे*** तु 'यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्। उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः।। (स.कं. ३/२०) इति ***भोजनो***क्तम्। ***काव्यादर्शे*** तु "उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।। (काव्या. २/३६) इत्युक्तम्। **प्रतिबन्धकत्वादिति**। तदभाववत्ताबुद्धेरनाहार्यतद्वत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वं, न तु सामान्यतः तद्वत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वम्। तथा च 'समुद्रप्रतियोगिकभेदवान् संसार' इत्याकारकबुद्ध्या संसारसमुद्रपदार्थाभेदस्य बाधेऽप्याहार्यतादात्म्यबुद्धेः प्रतिबध्यत्वकोट्यनाक्रान्तत्वेन संसारसमुद्राभेदविषयिण्याहार्यशाब्दप्रतीतिर्भवितुमर्हति। आहार्यज्ञानं नाम बाधसमानकालीनेच्छाजन्यज्ञानम्। प्रयोजनं

* कल्पित उपमान भी प्रयोगार्ह *

शंका :- कल्पित उदाहरण का प्रयोग करना उचित नहीं है, क्योंकि कल्पित उदाहरण का अर्थ बाधित होता है। जिस वाक्य का शक्यार्थ बाधित हो उस वाक्य से शाब्दबोध ही नहीं हो सकता है तब तो वैसा वाक्य उन्मत्तप्रलाप जैसा ही हो जायेगा। अतः कल्पित उदाहरण का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पौधे के पत्ते आपसमें बात करते है - वह ज्ञान असंभव है।

समाधान :- कल्पितमपि. इति। शास्त्र में जो बात कही गइ है उसको भी मानने के लिए आप तैयार नहीं है। ठीक कहा है कि कहे से धोबी गधे पर नहीं चढता। मगर सुनिये, जैसे रूपक अलंकार का विषय बाधित होने पर भी रूपक अलंकार का तात्पर्य अबाधित होने से रूपक अलंकार निरर्थक=निष्प्रयोजन नहीं है, ठीक वैसे ही कल्पित उदाहरण का विषय बाधित होते हुए भी काल्पनिक उपमान का तात्पर्य अबाधित होने से कल्पित उदाहरण भी निष्प्रयोजन नहीं है। आशय यह है कि- 'यह संसार समुद्र है' यह रूपक अलंकार संसार और समुद्र में अभेद का बोध कराता है। यहाँ यह शंका कि- 'संसार और समुद्र में अभेद बाधित है, क्योंकि संसार चतुर्गतिमय है तथा समुद्र पानी का अक्षय भंडार और नदी का स्वामी है। अतः संसार और समुद्र में तादात्म्यज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि बाधबुद्धि=तदभाववत्ता की बुद्धि तद्वत्ता की बुद्धि में प्रतिबन्धक है' - इसलिए निराधार हो जाती है कि बाधबुद्धि तो अनाहार्य बुद्धि में अर्थात् इच्छाजन्यभिन्न ज्ञान में ही प्रतिबन्धक होती है, आहार्य बुद्धि में नहीं। आहार्य बुद्धि का अर्थ है बाधकालीन इच्छाजन्य ज्ञान। शब्दार्थ के बाध का ज्ञान होने पर इच्छा से अजन्य ज्ञान नहीं हो सकता है मगर इच्छाजन्य ज्ञान हो सकता है। रंक भी अपनी कल्पना = इच्छा से 'मैं राजा हूँ' ऐसा मानता है न? यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि बाधकाल में इच्छा से अजन्य ज्ञान की तरह इच्छा से जन्य ज्ञान भी उत्पन्न न हो। अतः संसार में समुद्र के तादात्म्य का अभाव ज्ञात होने पर भी 'संसारः समुद्र' इस वाक्य से श्रोता को संसार में समुद्रतादात्म्य की आहार्य शाब्दी प्रतीति होती है, जिससे श्रोता को फलतः समुद्र की तरह संसार में दुस्तरता की प्रतीति होती है। श्रोता को संसार में समुद्र की तरह दुस्तरता की प्रतीति कराने से हि 'संसारः समुद्रः' यह रूपक अलंकार प्रयोग सफल होता है, क्योंकि संसार तैरना बहुत मुश्किल है- ऐसी श्रोता को प्रतीति कराना ही उस

१ कप्रतौ मुद्रितप्रतौ च 'अप्पाहेंति' इत्यशुद्धः पाठः।

पर्यवस्यन्न निष्प्रयोजनस्तथोक्तकल्पितो ('चरितो?) पमानप्रयोगोऽपि मुख्यार्थबाधेऽप्याहार्यशाब्दबोधद्वाराऽनित्यताप्रतिपत्तिपर्यवसायितया नाऽनर्थ इति। अत एवोक्तम्- "णवि अत्थि णवि अ होही, उल्लावो किसलयपंडुपत्ताणं उवमा खलु एस कया, भवियजणविबोह-

चाऽत्र दुस्तरत्वप्रतीतिः। **एतेन** बाधितार्थकशब्दप्रयोगाच्छाब्दबोधानुत्पादेन निरर्थकत्वापत्त्या सोऽप्रयोगार्ह **इत्यपास्तम्**।

द्रष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकाथ योजयति **तथेति**। **अनित्यताप्रतिपत्तिपर्यवसायितयेति**। अनित्यताप्रतीतेः प्रयोजनत्वात् तात्पर्यवृत्त्याऽनित्यताप्रतीतिफलकतयेत्यर्थः। **नानर्थः** = न निष्प्रयोजनत्वम्। सर्वत्र रूपकालङ्कारे आहार्याभेदबोधनद्वारोपमेय उपमानगतोत्कर्षवत्त्वप्रतीतेः प्रयोजनत्वम्। अत एव "रूपकालङ्कारादिगर्भतत्तद्वृत्तघटित-स्तुतिस्तोत्रादिप्रणयनोद्भूतप्रभूतभक्तिप्राग्भाराद्विपुलनिर्जरालाभो भगवतः स्तुतिकृतामिति" (अध्या.प.श्लो. ५८ वृत्ति) ***अध्यात्ममतपरीक्षायामु***क्तमिति।

एतेन शाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति योग्यताज्ञानत्वेन कारणता इति **प्राचीनमतं** शाब्दमात्रेऽयोग्यताज्ञानाभावस्य कारणतेति **नव्यमतं चाऽपास्ते बोद्धव्ये**, 'मुखं चन्द्रः' संसारःसमुद्र' इत्यादिरूपकस्थले बाधज्ञाने सति आहार्ययोग्यताज्ञानस्य हेतुत्वानुरोधात्। **न चैवं** क्वचिदपि तस्य कारणता न स्यादिति **शङ्कनीयम्**, अनाहार्यशाब्दं प्रति तद्धेतुत्वौचित्यात् न तु शाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति। अत एव आहार्यारापो रूपकमिति प्राचामुक्तिः सङ्गच्छते। इत्थमेव "प्रतिमायां भगवदभेदारोपं विना न तावद्वन्दनपूजनादिफलं हेतुसहस्रेणाऽपि सम्पद्यते। स च काष्ठपाषाणत्वादिना भेदप्रत्यक्षे सति स्वरसतो नोदयतीत्याहार्य एव सम्पादनीयः" (नयो.श्लो. १०३वृ.) इति ***नयामृततरङ्गिणी***वचनमप्युपपद्यते। **एतेन** "मुखं चन्द्रः" इत्यादिरूपकस्थले चन्द्रादिपदस्य चन्द्रादिसदृशे लक्षणया चन्दादिसदृशाऽभेदान्वयबोध एव" (व्युत्पत्तिवाद प्र.का.पृ.७०) इति ***गदाधर***वचनमपि **प्रत्याख्यातम्**, तथाऽनुभवानुपारुढत्वात् लक्षणाश्रयणस्याऽतिजघन्यत्वात्, उपमारूपकालङ्कारजन्यशाब्दबोधयोरविशेषप्रसङ्गाच्च।

तादृशभाषायाश्च द्रव्यतोऽसत्यत्वेऽपि भावतः सत्यत्वात्, उपमावदस्याऽलङ्कारान्तरोपलक्षकत्वादुपमासत्यायां परिगणनम्। **न च** व्यवहारनयेन दशविधसत्याविभागस्य प्रक्रान्तत्वे कथं भावतः सत्यत्वमित्युच्यमानं चारुतामञ्चेतेति **साम्प्रतम्**, आर्षपुरुषेच्छाणां बलवत्त्वात्, परममुनीनां पर्यनुयोगाऽनर्हत्वात्, अन्यथा भावसत्याया अपि कथं व्यवहारनयीयभाषाविभागे परिगणनमिति तव कुशङ्का न कुतोऽपि विलीयेत। **न चैव**मप्युपमाभाषायां मिश्रभाषात्वापत्तिर्दुर्निवारेति **आरेकणीयम्**, द्रव्याऽपेक्षयैव तन्मिश्रत्वस्य तन्नियामकत्वात्, न तु द्रव्यभावापेक्षयेति वक्ष्यतेऽग्रे मा

वाक्य का प्रयोजन है जो अबाधित है- वास्तविक है।

❋ कल्पितोपमान के प्रयोजन-अनित्यता आदि का प्रतिपादन ❋

तथोक्त. इति। रूपक अलंकार की तरह कल्पित उपमान का प्रयोग भी सार्थक है। यद्यपि पीपल के पत्ते एकेन्द्रिय होने से आपस में बात नहीं कर सकते है, क्योंकि उनको जीभ नहीं होती है। अतः पीपल के पत्ते बोलते हैं- ऐसा अनाहार्य ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि पीपल के पत्ते में भाषणाभाव का ज्ञान है, फिर भी वैसा आहार्य शाब्दबोध तो निर्बाध रूप से हो सकता है, क्योंकि आहार्यज्ञान इच्छाजन्य होने से बाधबुद्धि से प्रतिबध्य नहीं है। तादृश आहार्य ज्ञान होने से श्रोता को पीपल के पत्ते की तरह फलतः संसार में सर्वत्र अनित्यता की प्रतीति होती है। अतएव कल्पित उपमान का प्रयोग भी सार्थक है, क्योंकि अनित्यता की प्रतीति कराना ही उस कल्पित उपमान का प्रयोजन=तात्पर्य है, जो अबाधित है-पारमार्थिक है। शब्द अपने तात्पर्य में ही प्रमाण होता है। जिस शब्द का तात्पर्य अबाधित हो उसको असत्य या निष्प्रयोजन कहना यह एक दुःसाहस ही है- अविवेक का प्रदर्शन ही है। यहाँ यह शंका कि- "इस कल्पित उदाहरण का प्रयोजन अनित्यता की प्रतीति कराने का है, यह आपको कैसे ज्ञान हुआ? क्योंकि उस कल्पित उदाहरण में तो यह बताया हुआ नहीं है" - भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह हमारी मनमानी कल्पना नहीं है मगर

१ अत्र मुद्रितप्रतौ कप्रतौ च 'चरितोप' इत्यशुद्धः पाठः।

णट्ठाए।। (उत्तरा. नि. श्लो. ३०९)।

एवं च कल्पितोपमानं स्वतो नादरणीयं किन्त्विष्टार्थसाधकतया। अत एवोक्तम् "[1]अत्थस्स साहणट्ठा इंधणमिव ओदणट्ठाए।। त्ति ( ) चरितोपमानं तु स्वतोऽप्यादरणीयमिति ध्येयम्। अनयैव दिशा प्रयोगेऽपि खरविषाणादिदृष्टान्तसप्रयोजनता यथाकथञ्चित्परि-

त्वरिष्ठाः। **न चैवं** मृषाभाषान्तरस्याऽपि क्वचिद्भावतः सत्यत्वात् द्रव्यभावभाषायां सत्याभेदत्वप्रसक्तिरिति **वाच्यम्**, क्वाचित्कत्व-सार्वत्रिकत्वाभ्यामेव विशेषात्, भावविशेषजन्यजनकतानवच्छेदकतया जातिभेदस्वीकाराच्च। गालिप्रदानादितोऽपि शाब्दबोधश्चेत्? आहार्य एव, नो चेत्, दुष्टवक्त्रभिप्रायसूचकत्वेनैव तस्य क्रोधजनकत्वम् दुष्टाभिप्रायप्रयुक्तत्वादेव तस्य क्रोधाद्यसत्यभाषायां समावेशात्। सत्यादित्वं वाचां जनपदसत्याद्यन्यतरत्वेनैव ज्ञेयं द्रव्यभावभाषात्वं च तासां चतुर्विधद्रव्यपरिणतिमाश्रित्य। श्रुतभावभाषात्वञ्च तिसृणां फलीभूतश्रुतोपयोगाऽपेक्षया मिश्रोपयोगाभावेन तृतीयस्या अत्राऽनधिकारात्। चारित्रभावभाषात्वञ्च प्रथमान्तिमयोरेव यत्याचारविहितत्वेन चारित्रोत्कर्षकत्वादिति विभाजकोपाधयः सम्यग्विचारणीया मनीषिभिः। क्वचित् 'खरशृङ्गं नास्ती'त्यादौ खरीयत्वेन श्रृङ्गाभावशाब्दबोधे पदार्थयोः संसर्गाभावनिश्चयोऽनुगुण एव, अन्यथा विशिष्टनिषेधप्रतीतावंशतो भ्रमत्वापत्तेरित्यनुपदमेव स्पष्टीभविष्यति।

एवमिति। कल्पितोपमानस्य मुख्यार्थबाधितत्वेनेति। **स्वतो नादरणीयमिति**। स्वतो नोच्चारणीयमित्यर्थः। स्वत उच्चारणायोग्यमिति यावत्। स्वत उच्चारणं नाम अन्यदीयस्वार्थतात्पर्यकोच्चारणानधीनोच्चारणम्, तदयोग्यमिति प्रकृते फलितम्। '**ओदणट्ठाए**त्ति। यथेन्धनं न स्वत उपादेयं किन्त्वोदननिष्पत्तये तथा कल्पितोपमानं न स्वत उच्चरणीयं किन्त्वभिप्रेतार्थसाधनायेति भावः।

स्वतोऽप्यादरणीयमिति। मुख्यार्थाबाधितत्वादिति गम्यम्। कल्पितोपमाने केवलं तात्पर्याबाधितत्वं भावसत्यत्वनियामकं चरितोपमाने तु मुख्यार्थाबाधितत्वमपीति विवेकप्रदर्शनार्थं **ध्येय**मित्युक्तम्।

अनयैव दिशेति। मुख्यार्थबाधितस्यापीष्टार्थसाधकतयोपादानस्य तात्पर्याबाधेन युक्तत्वमिति रीत्येत्यर्थः। **खरविषाणादिदृष्टान्तसप्रयोजनता**=मुख्यार्थबाधितस्य खरविषाणादिदृष्टान्तस्य सप्रयोजनता, **यथाकथञ्चिदि**ति अर्थक्रिया-

श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने ही **श्रीउत्तराध्ययनसूत्र** की निर्युक्ति में बताया है कि- पीपल के नये पत्ते और जीर्ण-शीर्ण पत्ते के बीच बातचीत वास्तव में नहीं होती है और भविष्य में कभी होनेवाली भी नहीं है। फिर भी भव्यजीवों के बोध के लिये यह केवल उपमा की गई है। यहाँ 'बोध के लिए' ऐसा जो कहा है उसीसे पता चलता है कि भव्यजीवों को संसार, आयुष्य, धन-दौलत आदि की अनित्यता का बोध कराना ही उस कल्पित उदाहरण का तात्पर्य है, अन्यथा भव्यजीवों को उस काल्पनिक उदाहरण से प्रतिबोध कैसे होगा?

एवं च. इति। इस तरह यहाँ तक के ग्रन्थ से यह सिद्ध हुआ कि- कल्पितोपमान का अर्थ बाधित होने से वह उदाहरण स्वतः आदरणीय नहीं है, किन्तु वक्ता के इष्ट=अभिप्रेत अर्थ का साधक होने से वह आदरणीय है। कहा गया है कि जैसे इन्धन का यानी लकडी आदि का ग्रहण चावल पकाने आदि के प्रयोजन से होता है, स्वतः नहीं यानी बिना किसी प्रयोजन के नहीं, ठीक वैसे ही अपने अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि के लिए इसका (=कल्पितोपमान का) ग्रहण किया जाता है। मगर चरितोपमान की बात अलग है। वह स्वतः भी यानी बिना प्रयोजन के भी आदरणीय होता है, क्योंकि वह अबाधित अर्थवाला होता है। इस सम्बन्ध में अधिक विचार भी ध्यातव्य है।

* खरविषाण आदि शब्द प्रयोजनवश उपादेय *

अनया. इति। जैसे कल्पितोपमान बाधितार्थवाला होता हुआ भी अनित्यता के उपदेश आदि अभिप्रेत अर्थ का साधक होने से आदरणीय है वैसे ही खरविषाण=गधे के सिंग आदि शब्द भी स्वतः आदरणीय नहीं हैं, क्योंकि उनका अर्थ = वाच्यार्थ बाधित हैं।

१ अर्थस्य साधनार्थायेन्धनमिवोदनार्थाय इति।

भावनीया बहुश्रुतैरिति दिग्।।३४।।

तदप्येकैकं चतुर्विधमित्याह-

[१]आहरणे तद्देसे तद्दोसे तह पुणो उवन्नासे। एक्केक्कं तं चउहा णेयं सुत्ताउ बहुभेयं।।३५।।

उक्तयोः चरितकल्पितयोरुपमानयोर्मध्ये **एकैकं चतुर्विधं**, क्व विषय इत्याह- **उदाहरणे तद्देशे तद्दोषे तथा पुनरुपन्यासे ज्ञेयं** = ज्ञातव्यं, किंदृशं? **बहुभेदं** = बहवो भेदा अवान्तरप्रकारा यस्य तत्। तथाहि आहरणं = सम्पूर्णं प्रकृतोपयोगी दृष्टान्तः। स च चतुर्द्धा

कारित्व-सत्त्वाद्यभावप्रतिपादनाभिप्रायेणेत्यर्थः। **एतेना**ऽसत्याभाषावर्गणाप्रसूतवाक्यस्थानां खरविषाणादिपदानां मृषात्वमेव स्यादि**त्यपास्तम्** वादादौ तत्प्रयोगेऽपि सद्भावानभिप्रायात् सद्भावतात्पर्ये त्वसद्भूतोद्भावनरूपमृषात्वस्येष्टत्वाच्चेतिसूचनार्थं **'परिभावनीये'**त्युक्तम्। परसमयाभिधानपराणां निषेधपराणां चासत्यभाषावर्गणाप्रसूतवाक्यस्थानां प्रकृत्यादिपदानां सद्भावानभिप्रायान्न मृषात्वमिति ज्ञायते। **एतेना**ऽसतोऽभावाश्रयत्वमभावप्रतियोगित्वञ्च भावधर्मरूपं न सम्भवतीति न तन्निषेधो युक्तः। 'शशशृङ्गमस्ति न वे'ति पृच्छतो धर्मिवचनव्याघातेनैव निग्रहात्तत्राऽन्यतराभिधानेनोभयनिषेधेन तूष्णीम्भावेन वा पराजयाभावादिति **निरस्तम्** यथा परेषां विशिष्टस्याऽतिरिक्तस्याऽसत्त्वेऽपि तत्राभावाश्रयत्वस्याऽभावप्रतियोगित्वस्य वा व्यवहारस्तथाऽस्माकमपि सदुपरागेणाऽसत्यपि विशिष्टे वैज्ञानिकसम्बन्धविशेषरूपतद्व्यवहारोपपत्तेः। 'शशशृङ्गमस्ति न वा?' इति जिज्ञासुप्रश्ने 'शशशृङ्गं नास्ती'त्येवाऽभिधातुं युक्तत्वात्, आनुपूर्वीभेदादुद्देश्यसिद्धेः। इत्थमेव 'पीतः शङ्खो नास्ती'त्यादेरपि प्रामाण्योपपत्तेः। काल्पनिकस्याऽप्यर्थस्य परप्रतिबोधार्थतया कल्पिताहरणादिवद् व्यवहारतः प्रामाण्यात्। इत्थमेव नयार्थरुचिविशेषापादनाय तत्र तत्र नयस्थले दर्शनान्तरीयपक्षग्रहस्य तान्त्रिकैरिष्टत्वादित्यादिसूचनार्थं दिक्पदनिवेशः कृतः।।३४।।

द्रव्यापाय इति। अत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ***- 'द्रव्यात् द्रव्ये वाऽपायो द्रव्यमेव वा तत्कारणत्वादपायो द्रव्यापायः। एतद्धेयतासाधकं एतत्साधकं वाहरणमपि तथोच्यते। (स्था. अ. ४/उ.३/सू.३३८ वृत्ति) इत्येवमुक्तम्।

सारे जहाँ में गधे के सिंग त्रिकाल में अनुपलब्ध हैं। फिर भी वक्ता के तर्क-आपादन आदि अभिप्रेत अर्थ का साधक होने पर वे इष्टार्थसाधक होने से प्रयोजनवाले बनते हैं। अतएव आदरणीय भी होते हैं। आशय यह है कि तुच्छता आदि का बोध कराने का प्रयोजन होने पर बाधितार्थवाले खरविषाणादि शब्द भी आदरणीय होते हैं। बहुश्रुत पुरुषों को इस सम्बन्ध में अधिक विचार करने की विज्ञप्ति कर के इस सम्बन्ध में विवरणकार ने यहाँ पर्दा डाल दिया है। इस विषय में बहुत कुछ विचार हो सकते हैं - इसकी सूचना देने के लिए दिग् शब्द का निर्देश कर के विवरणकार ने इस गाथा के विवरण को समाप्त कर दिया है।।३४।।

३४वीं गाथा में प्रदर्शित चरितोपमान और कल्पितोपमान के चार-चार भेद होते हैं। इन भेदों को ३५वीं गाथा से ग्रन्थकार बता रहे हैं।

गाथार्थ :- एक-एक के चार भेद हैं- (१) आहरण (२) तद्देश (३) तद्दोष तथा (४) पुनरुपन्यास। आगम से इनके अनेक भेद ज्ञातव्य हैं।३५।

❋ प्रत्येक उपमान के चार भेद ❋

विवरणार्थ :- प्रदर्शित चरितोपमान और कल्पितोपमान इन दोनों के चार-चार भेद होते हैं। 'उपमान के चार भेद किस विषय में होते हैं?' इस शंका का समाधान यह है कि उदाहरण विषय में, तद्देश सम्बन्ध में, तद्दोष सम्बन्ध में और पुनरुपन्यास के विषय में दोनों उपमान के चार-चार भेद होते हैं, और उनके उनके अवान्तर प्रकार=प्रभेद हैं। यह सिद्धान्त = आगम से ज्ञातव्य है। आशय यह है कि उपमान के मुख्य दो भेद हैं और उन दोनों के चार-चार भेद हैं वैसे उन चार भेदों में से प्रत्येक के भी अनेक प्रभेद हैं और उन प्रभेदों के भी अनेक प्रकार होते हैं। यह बात यहाँ बताये गये चित्र से ज्ञात हो जायेगी। देखिये यह रहा वह चित्र -

१ आहरणे तद्देसे तद्दोसे तथा पुनरुपस्यासे। एकैकं तच्चतुर्धा ज्ञेयं सूत्राद् बहुभेदम्।।३५।।

अपायोपाय-स्थापना-प्रत्युत्पन्नविन्यासभेदात्। तत्राऽपायः = अनिष्टप्राप्तिः, तद्विषयमुदाहरणं = अपायोदाहरणम्। स च चतुर्द्धा, द्रव्यापायः क्षेत्रापायः कालापायो भावापायश्चेति।

तत्र द्रव्यापाये धननिमित्तं परस्परवधपरिणतौ द्वौ **भ्रातरावुदाहरणम्**। क्षेत्रापाये **दशारवर्गः**। कालापाये **द्वैपायनः**। भावापाये च

द्वौ भ्रातरौ इति। अत्रोदाहरणादिकं ***स्थानाङ्गवृत्ति-दशवैकालिकचूर्णि-वृत्त्या***द्यनुसारेणाऽस्माभिः प्रदर्श्यते। द्रव्यापायो देशान्तरगमनेनोपार्जितद्रविणयोस्तल्लोभात् परस्परमारणपरिणतयोः स्वग्रामाद्बहिःप्राप्तावनुतापात् ह्रदत्यक्तमत्स्यगिलिततद्वित्तयोर्मत्स्यबन्धकपार्श्वात् गृहितस्य तस्य मत्स्यस्य विदारणेऽवाप्ततद्द्रव्यलुब्धभगिन्या मत्स्यच्छेदकशस्त्राभिघातेन तदुद्दालनप्रवृत्तमारितमातृकायास्तथाविधव्यतिकरदर्शनोत्पन्नसंवेगात्प्रतिपन्नप्रव्रज्ययोर्भ्रातृवणिजयोरिव, तत्परिहारश्च प्रव्रज्यया तत्त्यागादिति। आहरणता चाऽस्य देशेनोपनयस्याऽविवक्षणादिति। **क्षेत्रापाय** इति। क्षेत्रात्क्षेत्रे क्षेत्रमेव वाऽपायः। एवमुत्तरत्राऽपि भावना कार्या। द्रव्यापायाहरणं लौकिकं क्षेत्राद्यपायाहरणानि च लोकोत्तराणीति भाति।

दशारवर्गः। अत्र महती कथा, औपयोगिकमेव भण्यते-कंसे विनिपातिते सापायं क्षेत्रमेतदिति कृत्वा जरासङ्घभयेन दशारवर्गो मथुरातोऽपक्रम्य द्वारवतीं गत इति। एवं साधुनाऽपि अशिवादिनिस्तरणार्थं क्षेत्रापायः कार्य इत्युपनयोऽत्र। **द्वैपायनः**, तद्यथा ***कृष्ण***पृष्टेन भगवताऽ***रिष्टनेमिना*** व्याकृतम् - 'द्वादशभिः संवत्सरैर्द्वैपायनाद् द्वारवतीनगरीविनाशः। उद्योततरायां नगर्यां परम्परकेण श्रुत्वा द्वैपायनपरिव्राजको 'मा नगरी विनाशयिष्यामी'ति कालावधिमन्यत्र गमयामी'ति उत्तरापथं गतः। सम्यक्कालमानमज्ञात्वा द्वादशे चैव संवत्सरे आगतः, कुमारैरुपसर्गितः कृतनिदानो देव उत्पन्नः ततश्च नगर्यामपायो जात इति। उपनयश्चाऽत्र द्वैपायनवत् सापायकालवर्जने यतितव्यम्।

*** आहरण के चार भेद ***

आहरण का अर्थ है प्रस्तुत में उपयोगी संपूर्ण दृष्टान्त। इस आहरण के चार भेद हैं (१) अपाय आहरण, (२) उपाय आहरण, (३) स्थापना आहरण, (४) प्रत्युत्पन्नविन्यास आहरण। अब लीजिये प्रारंभ में अपाय आहरण को। अपाय का मतलब है - अनिष्ट की प्राप्ति। अनिष्टप्राप्तिरूप अपायविषयक जो उदाहरण होता है वह अपायाहरण कहा जाता है। अपायआहरण के भी चार भेद हैं (१) द्रव्यअपायविषयक आहरण, (२) क्षेत्रअपायविषयक आहरण, (३) कालअपायविषयक आहरण, (४) भावअपायविषयक आहरण। द्रव्य के निमित्त से जिस अनिष्ट की प्राप्ति होती है उसका प्रतिपादक आहरण द्रव्यअपायविषयक आहरण कहा जाता है। द्रव्यअपायविषयक आहरण में दो भाइयों का उदाहरण प्रसिद्ध है। धनरूपी द्रव्य के निमित्त से दो भाई एक-दूसरे को मारने को तैयार हो गये थे।

*** अपाय आहरण १/१ ***

क्षेत्र अपाय में दशारवर्ग का उदाहरण संक्षेप में इस तरह है कि, कंस का वध होने पर जरासंघ प्रतिवासुदेव के भय से दशारवर्ग मथुरा को सापाय क्षेत्र जान कर द्वारिका की और चला था। कालापाय में द्वैपायन का उदाहरण संक्षेप में इस तरह है कि श्रीनेमिनाथ भगवंत ने कहा कि-१२ साल बाद द्वैपायन से द्वारिका नगरी का नाश होगा। यह परंपरा से सुन कर द्वैपायन अपायवाले द्वारिका क्षेत्र को १२ साल तक छोडने का निश्चय कर के चला गया। इस तरह अपायवाले काल को जान कर छोडना चाहिए - यह तात्पर्य है। भाव अपाय में मंडूकिकाक्षपक का उदाहरण है। वह मंडूकिकाक्षपक कूरगडुमुनि का जीव था। क्रोधस्वरूप भाव अपाय से क्या नुकशान होता है? यह इस उदाहरण से ज्ञात होता है। अतः क्रोधादि भाव अपाय को छोडना चाहिए - यह द्रष्टांत का तात्पर्य है। यह दृष्टांत मोक्षरत्ना में चूर्णि के अनुसार विस्तार से बताया गया है[१]। ये कथानक श्रोताओं को संवेग की प्राप्ति हो और सम्यग्दर्शन, देशविरति, सर्वविरति आदि में स्थिरता प्राप्त हो- इस आशय से बताये जाते हैं। ये द्रव्यादि अपाय के

---

१ विवरण में ये उदाहरण या तो संक्षेप में बताये गये हैं या तो सिर्फ नामनिर्देश से बताये गये हैं। इन दृष्टांतों का विस्तार से निरूपण दशवैकालिकचूर्णि-दशवैकालिकहारिभद्रवृत्ति आदि में प्राप्य है। जिज्ञासु वर्ग वहाँ देख सकते हैं। यहाँ मोक्षरत्ना टीका में प्रायः सब दृष्टांत चूर्णि आदि के अनुसार बताये गये हैं।

मण्डूकिकाक्षपकः **कूरगडुकजीव** इति ध्येयम्। एतत्कथानकोपदर्शनं च श्रोतृणां संवेगस्थैर्यार्थम्। इदं च चरणकरणानुयोग-

---

कूरगडुकजीव इति। अत्र चूर्णिच्छाया प्राय एवम्-एक क्षपकः शिष्येण समं भिक्षाचर्यां गतः 'तेन तत्र मण्डूकिका मारिता, शिष्येण भणितम्- मण्डूकिका त्वया मारिता। क्षपको भणति- रे दुष्टशैक्ष! चिरमृतैवैषा। तौ गतौ। पश्चाद्रात्रावावश्यके आलोचयतां क्षपकेण सा मण्डूकिका नालोचिता तदा शिष्येन भणितं-'क्षपक! तां मण्डूकिकामालोचय क्षपको रुष्टस्तस्मै शिष्याय, श्लेष्ममल्लकं गृहीत्वोद्धावितः अंस्त्र्यालये स्तम्भे आपतितो वेगेनाऽऽयान् मृतश्च ज्योतिष्केषूत्पन्नः ततश्च्युत्वा दृष्टिविषाणां कुले दृष्टिविषः सर्पो जातः। तत्र चैकेन परिहिण्डमानेन नगरे राजपुत्रः दष्टः। आहितुण्डकेन विद्यया सर्वे सर्पा आहूताः, मण्डले प्रवेशिता भणिताः - अन्ये सर्वे गच्छन्तु, येन पुना राजपुत्रो दष्टः स तिष्ठतु। सर्वे गता एकः स्थितः। स भणितः- 'विषमापिब अथवाऽत्राग्नौ निपत। स चागन्धनः। सर्पाणां किल द्वे जाती- गन्धनाऽगन्धना च। तेऽगन्धना मानिनः। तदा सोऽग्नौ प्रविष्टः। न च तेन तद्वान्तं प्रत्यापीतं राजपुत्रोऽपि मृतः। पश्चाद्राज्ञा रुष्टेन घोषितं राज्ये- 'यो मम सर्पशीर्षमानयेत् तस्मायहं दीनारं ददामि'। पश्चाल्लोको दीनारलोभेन सर्पान् मारयितुमादृतः। तच्च कुलं यत्र स क्षपक उत्पन्नस्तज्जातिस्मरं रात्रौ हिण्डते, दिवसे न हिण्डते- मा जीवान् ध्राक्षमिति कृत्वा। अन्यदाऽहितुण्डकैः सर्पान् मार्गयद्भी रात्रिंचरेण परिमलेन तस्य क्षपकसर्पस्य बिलं दृष्टमिति द्वारे तस्य स्थितः। औषधित आह्वयति। चिन्तयति- 'दृष्टो मया कोपस्य विपाकः ततोऽहमभिमुखो निगच्छामि तदा धक्ष्यामि'। ततः पुच्छेनादृतो निःस्फेटितुं यावन्निस्फिटति तावदेवाहितुण्डिकश्छिन्नत्ति, यावच्छीर्षं छिन्नं मृतश्च। स सर्पो देवतापरिगृहीतः, देवतया राज्ञे स्वप्नं दत्तं- 'मा सर्पान् मारय, पुत्रस्ते नागकुलादुद्वर्त्य भविष्यति तस्य दारकस्य नागदत्तनाम कुर्याः'। स च क्षपकसर्पो मृत्वा तेन प्राणपरित्यागेन तस्यैव राज्ञः पुत्रो जातः, दारके जाते नाम कृतं नागदत्तः। क्षुल्लकः स प्रव्रजितः। स च किल तेन तिर्यगनुभावेनातीव क्षुधालुः, प्रभातवेलायामेवाद्रियते भोक्तुं यावत्सूर्यास्तमयनवेला उपशान्तो धर्मश्रद्धिकश्च। तस्मिन् गच्छे चत्वारः क्षपकास्तद्यथा - चातुर्मासिकस्त्रैमासिको द्वैमासिक एकमासिक इति। रात्रौ देवता वन्दितुमागता। चातुर्मासिकः प्रथमः स्थितः, तस्य पुरतः त्रैमासिकः, तस्य पुरतो द्वैमासिकः, तस्य पुरत एकमासिकः, तेषां च पुरतः क्षुल्लकः। सर्वान् क्षपकानतिक्रम्य तया देवतया क्षुल्लको वन्दितः। पश्चात्ते क्षपका रुष्टाः, निर्गच्छन्ती च गृहीता चातुर्मासिकेन प्रान्ते भणिता चाऽनेन-कटपूतने! अस्माँस्तपस्विनो न वन्दसे, एनं कूरभाजनं वन्दसे। सा देवता भणति- 'अहं भावक्षपकं वन्दे, न पूजासत्कारपरान् मानिनश्च वन्दे। पश्चात्ते क्षुल्लकाय तेनाऽमर्षं वहन्ति। देवता चिन्तयति- 'मैते क्षुल्लकं निर्भर्त्सयिष्यन्ति ततः सन्निहितैव तिष्ठामि, तदाऽहं प्रतिबोधयिष्यामि'। द्वितीयदिवसे च क्षुल्लकः सन्दिश्य गतः पर्युषिताय प्रत्यागत आलोच्य चार्तुमासिकक्षपकं निमन्त्रयति। तेन पतद्ग्रहे तस्य श्लेष्म निष्ठ्यूतम्। क्षुल्लको भणति- 'मिथ्या मे दुष्कृतं यत्तुभ्यं मया श्लेष्ममल्लको न दत्तः'। तत्तेनोपरित्त एव स्फेटयित्वा श्लेष्ममल्लके क्षिप्तम्। एवं यावत्त्रिमासिकेन यावदेकमासिकेन निक्षिप्तं, तत्तेन तथैव स्फेटितम्। बलात्कारं कृत्वा लम्बनान् गृह्णामीति कृत्वा तेन क्षपकेन क्षुल्लको बाहौ गृहीतः, तदा तेन तस्य क्षुल्लकस्याऽदीनमनसो विशुध्यमानपरिणामस्य लेश्याभिर्विशुध्यमानाभिस्तदावरणीयानां कर्मणां क्षयेण केवलज्ञानं समुत्पन्नं तदा सा देवता भणति-कथं यूयं वन्दितव्या येनेत्थं क्रोधाभिभूतास्तिष्ठथ? तदा ते क्षपकाः संवेगमापन्नाः, "मिथ्या मे दुष्कृतमिति अहो बाल उपशान्तचित्तोऽस्माभिः पापकर्मभिराशातितः।" एवं तेषामपि शुभाध्यवसायेन केवलज्ञानं समुत्पन्नम्। उपनयोऽत्र क्रोधादेरप्रशस्तभावाद् दुर्गतेरपाय इति।

संवेगस्थैर्यार्थमिति। तदुक्तं ***निर्युक्तौ*** - सिक्खगअसिक्खगाणं संवेगथिरट्ठयाइ दोण्हंपि। दव्वाईया एवं दंसिज्जंते अवायाउ।। (द.वै.नि. ५७) अत्र ***हारिभद्रवृत्तौ*** 'संवेग मोक्षसुखाभिलाषः स्थैर्यं पुनः अभ्युपगतापरित्यागः। ततश्च कथं नु नाम दुःखनिबन्धनद्रव्याद्यवगमात्तयोः संवेगस्थैर्ये स्याताम्? द्रव्यादिषु चाप्रतिबन्ध' इति व्याख्यातम्। अगस्त्यसिंह-

मधिकृत्योक्तम्। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु द्रव्याद्यपेक्षयाऽऽत्मादेरेकान्तनित्यतावादिनां सुख-दुःखाभावप्रसङ्गादिनिदर्शनं द्रष्टव्यम्।१।

उपायः = अभिलषितवस्त्ववाप्त्यर्थो व्यापारः। तद्विषयमुदाहरणं = उपायोदाहरणम्। सोऽपि च द्रव्यादिभेदादपायवच्चतुर्विधः। तत्र

सूर्यभिप्रायेण तु स्थैर्यमिति सम्यक्त्वस्थिरीकरणम्। तदीयचूर्णौ - 'अवालो दरिसिज्जति संवेगत्थं सम्मत्तथिरीकरणत्थं चेति। (दश. अग. चू. पृ. २२) उक्तम्। **चरणकरणानुयोगमधिकृत्येति**। यद्यप्यत्र प्रदर्शितचरणकरणानुयोगाधिकृतोदाहरणानां क्वचिद् द्रव्यानुयोगाधिकृतोदाहरणानां च ***समरादित्यकथा***ग्रन्थप्रदर्शितसङ्कीर्णकथालक्षणाक्रान्तत्वं धर्मकथानुयोगाधिकृतत्वं वा न तु शुद्धं चरणकरणानुयोगत्वं द्रव्यानुयोगत्वं वा तथापि तथैव व्यवहारात् तत्तदंशप्राधान्यार्पणे तदन्यतरस्यैव पर्यवसानात्तथाभिधानं न दुष्टमिति पर्यालोचयामि। तत्त्वं पुनः बहुश्रुता विदन्ति।

सुख-दुःखाभावप्रसङ्गादिति। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरविचलितस्वभावस्याऽऽत्मनोऽभ्युपगमे दुःखितावस्थाया अपरित्यागेन सुखितत्वेनाभवनात्सुखं दुःखाभावश्च कथं युज्येते? अन्यथा अन्यथात्वपरिणतेरात्मनोऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावरूपं नित्यत्वं नैयायिकाद्यभ्युपगतं विशीर्येत। आदिशब्दात् बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गादेर्ग्रहः। एवमेकान्तक्षणिकत्वपक्षेऽपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तं ***निर्युक्तौ*** सुह-दुक्खसंपओगो न विज्जई निच्चवायपक्खंमि। एगंतुच्छेअंमि अ सुह-दुक्खविगप्पणमजुत्तं।। (दश.नि.श्लो. ६०)

इदं द्रव्यानुयोगमधिकृत्य द्रव्यापायाहरणं क्षेत्राद्यपायाहरणानामुपलक्षणम्। तद्यथा-द्रव्यानुयोगमधिकृत्य क्षेत्रापाये आवरणाभावात्मकत्वाभ्युपगमेनाकाशात्मकक्षेत्रस्यैकान्ततुच्छतावादिनां सौगतानामवगाहनाद्यभावप्रसङ्गनिदर्शनम्, कालापाये कालस्यैकान्ततुच्छतावादिनां शौद्धोदनीमेकान्तनित्यतावादिनां च नैयायिकादीनां परत्वापरत्वप्रतिनियतर्तुमासादिविभाग-प्रसवनैयत्याद्यभावप्रसङ्गनिदर्शनम्। **एतेन** "यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स जयेष्ठः, यस्य न्यूनः स कनिष्ठ" (का. १२३ मुक्ता. वृ.) इति ***विश्वनाथपञ्चाननभट्ट***वचनं **निरस्तम्** एवं सति कालोच्छेदप्रसङ्गात्। एवं भावापाये वर्ण-गन्धादीनां द्रव्यत एकान्तभिन्नतावादिनां तुच्छतावादिनां च 'नीलरूपतया घटः परिणत' इत्यादिप्रत्ययाभावप्रसङ्गादिनिदर्शनं द्रष्टव्यमिति **दिग्**।

उपाय इति। अत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "उपायः = उपेयं प्रति पुरुषव्यापारादिका साधनसामग्री, स यत्र द्रव्यादावु-

दृष्टांत चरणकरणानुयोग का आश्रय कर के बताये गये हैं।

❋ द्रव्यानुयोग में अपाय आहरण ❋

द्रव्यानु. इति। द्रव्यानुयोग का आश्रय कर के द्रव्यादि अपाय के दृष्टांतों को इस तरह जानना चाहिए। जैसे कि- जो नैयायिकादि आत्मा को द्रव्यादि की अपेक्षा से एकान्त नित्य मानते हैं उनके मत में आत्मा में सुख या दुःखाभाव कभी भी मुमकिन नहीं है, क्योंकि 'आत्मा एकान्तनित्य है' इस वचन का मतलब यह है कि त्रिकाल में आत्मा में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है। आत्मा संसारावस्था में दुःखी है तब वह सदा के लिए दुःखी ही रहेगी, क्योंकि किसी काल में एकान्तनित्य आत्मा में सुख उत्पन्न नहीं हो सकता है या दुःख का ध्वंस भी नहीं हो सकता है। यदि-'आत्मा पूर्वक्षण में दुःखी है और उत्तरक्षण में सुखी है'- ऐसा नैयायिक माने तब उसको - 'आत्मा एकान्तनित्य है'- इस पक्ष का त्याग करना पडेगा। इस तरह एकान्तनित्य आत्मद्रव्यवादी के मत में अपाय = अनिष्टापत्ति का निदर्शन वह द्रव्यानुयोगाधिकृत द्रव्यापाय उदाहरण है। इस तरह द्रव्यानुयोग में अधिकृत क्षेत्राद्यपायविषयक उदाहरण की भावना करनी चाहिए।

❋ उपाय आहरण के चार भेद २/१ ❋

उपाय. इति। उदाहरण का द्वितीय भेद है उपाय। उपाय का मतलब है इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति। उक्त उपाय विषयक जो उदाहरण है वह उपायउदाहरण कहा जाता है। अपाय उदाहरण की तरह उपाय उदाहरण के भी चार भेद हैं। अर्थात् द्रव्योपायउदाहरण, क्षेत्रोपायउदाहरण, कालोपायउदाहरण, भावोपायउदाहरण। धातुवादादि लौकिक द्रव्योपायउदाहरण है।

द्रव्योपायो लोके धातुर्वादादिः लोकोत्तरे त्वध्वादौ पटलादिप्रयोगतः प्रासुकोदककरणादिः। **क्षेत्रोपायो** लौकिको लाङ्गलकुलिकादिः लोकोत्तरस्तु विधिना प्रातरशनाद्यर्थमटनादिना क्षेत्रसञ्चारः। **कालोपायो** नाडिकादिर्लौकिकः, तस्य तज्ज्ञानोपायत्वेन तथाव्यपदेशात् लोकोत्तरस्तु सूत्रपरावर्तनादिः। **भावोपायस्तु** देवनिर्मितैकस्तम्भप्रासादोपशोभितसर्वर्तुकारामस्थरसालपादपस्य फलमवनामिन्या विद्यया गुर्विण्या दोहदपूरणार्थं गृहितवत**श्चाण्डालचौरस्या**भिप्रायपरिज्ञानार्थम**भयस्येवा**ऽऽख्यायिकाप्रबन्धोपदर्शनादिक इति। इदं च

पेयेऽस्तीत्यभिधीयते यथैतेषु द्रव्यादिविशेषेषु साधनीयेष्वस्त्युपायो विवक्षितद्रव्यादिविशेषवत्, उपादेयता वाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमुपाय" इत्युक्तम्। **धातुर्वादादिरिति**। अत्र "धातुर्वादः सुवर्णपातनोत्कर्षलक्षणो द्रव्योपाय" इति ***हारिभद्रवृत्तौ***। **अध्वादाविति**। दीर्घकालीनाटव्यादौ निर्वाहार्थं तक्रखरण्टितचीवरादिप्रयोगतः प्रासुकोदककरणादि-विधिविशेषः ***प्रकल्पग्रन्थादि***तो ज्ञेयः। ***अगस्त्यसिंहसूरिभि***स्तु "जहा धातुवातिता उवादेण सुवण्णादि करेंति तहा संघादिकज्जे जोणिपाहुडादीहिं दव्वोवाए दरिसेति पडिणीयपडिघायणत्थं वा" (दश.अग.चू.पृ. २२) इत्येवं लौकिक-द्रव्योपायाहरणमनूद्य लोकोत्तरद्रव्योपायाहरणं प्रदर्शितम्।

लाङ्गलेति। लाङ्गलकुलिकादितः क्षेत्रमुपक्रम्यतेऽतः क्षेत्रोपायत्वम्। तदुक्तं ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** " क्षेत्रोपायः = क्षेत्र-परिकर्मणोपायो यथाऽस्त्यस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रीकरणोपायो लाङ्गलादिस्तथाविधसाधुव्यापारो वा तेनैव वा प्रवर्तितव्यमत्र तथाविधान्यक्षेत्रवदिति। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु- "खेत्तोवातो जहा पुव्ववेतालीओ अवरवेताली णावाए गम्मति एवं विज्जा-दिहि अद्धाणाती आवती नित्थरितव्वा" इत्येवं व्याख्यातम्। **क्षेत्रसञ्चारः** = क्षेत्रभावनम्। (ग्रन्थाग्रम् - ३५०० श्लोक)।

नाडिकादिरिति। नाडिका = घटिका। आदिशब्दाच्छङ्क्वादिग्रहणम्। तदुक्तं ***स्थानांगवृत्तौ*** 'कालोपायः = काल-ज्ञानोपायः, यथाऽस्ति कालस्य ज्ञाने उपायो धान्यादेरिव जानीहि वा कालं घटिकाच्छायादिनोपायेन तथाभूतगणितज्ञ-वदि'ति। **योगशास्त्र**-योगबिन्दु-संवेगरंगशालादावनेके मरणकालज्ञानोपाया दर्शिताः प्रकृतेऽनुसन्धेयाः।

आख्यायिकाप्रबन्धेति। विस्तरतः चूर्ण्यादित इदमुदाहरणं ज्ञेयम् सुप्रसिद्धत्वाद् ग्रन्थगौरवभयाच्च नास्माभिः तत्प्रदर्श्यते। उपनयश्चात्रैवं, शैक्षकाणामुपस्थाप्यमानानामुपायेन गीतार्थेन विपरिणामादिना भावो ज्ञातव्यः- किमेते प्रव्राजनीया नवेति? प्रव्राजितेष्वपि तेषु मुण्डनादिष्वेवमेव विकल्पः ***प्रकल्पग्रन्था***दितो विस्तरतो ज्ञेयः।

दीर्घकालीन अटवी आदि में निर्वाह के लिए जो पटलादिप्रयोग से प्रासुक उदक करने की आपवादिक विधि है, वह लोकोत्तर द्रव्योपायउदाहरण है। लांगल यानी हल, कुलिका=खेत में घास काटने का छोटा काष्ठविशेष आदि खेत को योग्य बनाने के उपाय होने से लौकिक क्षेत्रोपाय कहे जाते हैं। तद्विषयक उदाहरण भी क्षेत्रोपाय उदाहरण कहा जाता है। आगमकथित विधि के अनुसार सुबह में भिक्षादि की प्राप्ति के लिए घूम कर क्षेत्र को भावित करना- यह लोकोत्तर क्षेत्रोपाय कहा जाता है। उसका प्रतिपादक उदाहरण भी लोकोत्तर क्षेत्रोपाय उदाहरण कहा जाता है। नाडिका आदि कालज्ञान के लौकिक उपाय हैं। अभी घडी, रेडीयो आदि साधन काल को जानने के लौकिक उपाय हैं। उसका निरूपण जिसमें हो वह लौकिक कालोपाय उदाहरण कहा जाता है। सूत्रपरावर्तन आदि साधन कालज्ञान के लोकोत्तर उपाय है। यानी अमुक प्रमाण में गाथा का परावर्तन आदि होने से अभी अमुक समय होगा - ऐसा कालज्ञान लोकोत्तर साधु को होता है। अतः सूत्रपरावर्त्तनादि लोकोत्तर कालविषयक ज्ञान के उपायभूत है। उसका प्रतिपादक कथानक लोकोत्तर कालोपाय उदाहरण कहा जाता है।

✱ भावउपाय-अभयकुमार मंत्री ✱

भावउपाय. इति। भावउपाय का अर्थ है भावविषयक ज्ञान का उपाय यानी अन्यके मनोगत भावों को जानने का उपाय। इस सम्बन्ध में अभयकुमार का कथानक प्रसिद्ध है। संक्षेप में वह इस तरह है कि- चांडाल चोर की गर्भवती पत्नी को अकाल में आम्रफल खाने का दोहला हुआ, जिसकी पूर्ति के लिए चांडाल चोर ने अवनामिनी विद्या से आम के पेड से, जो कि देवनिर्मित एक स्तंभवाले प्रासाद से सुशोभित एवं सब ऋतु में फल देनेवाले वृक्षों से अलंकृत श्रेणिक महाराज के उद्यान में सुरक्षित रहा हुआ था, आम्रफलों का ग्रहण किया था। आम्रफल के चोर को पकडने के लिए अभयकुमार मंत्री सब लोग को इकट्ठे कर के उन्हे युवानस्त्री,

लौकिकमर्थाक्षिप्तं चरणकरणानुयोगमधिकृत्य चोक्तम्। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य पुनरादानाद्युपायेनात्मास्तित्वसाधननिदर्शनं द्रष्टव्यम्।२।

स्थापना च दोषाच्छादनेना भीष्टार्थप्ररूपणा। तत्र लोके हिङ्गुशिवप्रवर्त्तकस्य निदर्शनम् लोकोत्तरे च प्रमादवशाद्-गच्छस्खलितस्य छादनेन कयाचित्कल्पनया प्रवचनं प्रभावयत इति चरणकरणानुयोगं लोकं चाधिकृत्य। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु नयभेदमतापेक्षया दुष्टहेत्वभिधानेऽपि तथाविधाभिप्रायेण तत्समर्थनं द्रष्टव्यम्।३।

आदानादीति। आदानं नाम समानाधिकरणकृतिजन्यग्रहणानुकूलव्यापारः, ग्रहणजनककृतेर्धर्मत्वाद्धर्मस्य चावश्य-मनुरूपेण धर्मिणा भवितव्यम्। न च भूतसमुदायमात्र एव देहोऽस्यानुरूपो धर्मी, तस्याचेतनत्वात् कृतेश्च चेतनत्वा-दिति। अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु ***धर्मसंग्रहण्यादितो***ऽवसेयम्। आदिपदेन सुखदुःखेच्छाभयद्वेषादिग्रहणम्। तदुक्तम् 'उव-ओगजोगइच्छाविलक्खणाणबलचेट्ठियगुणेहिं। अणुमाणा णायव्वो अग्गिज्झो इंदियगुणेहिं।। जो चिट्ठइ कायगतो जो सुहदुक्खस्स वेदणां णिच्चं। विसयसुहजाणओ वि य सो अप्पा होइ णायव्वो।। (दश.जि.चू.पृ. ४६) **हिङ्गुशिवेति**। ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरेण*** "तं च किंचि अत्थं तारिसं परूवेऊणं अत्तरुइयस्स अत्थस्स परूवणं करेइ एवं जहा पुंडरीज्झयणे पुंडरीयं परूवेऊण अण्णाणि मयाणि दूसियाणि निव्वयणं च सव्वनयविसुद्धं पवयणमुवदिट्ठं एवमादि ठवणाकम्मं भण्णइ" इत्युक्त्वाऽनन्तरं 'अहवे'त्यादिना हिंगुशिवोदाहरणं प्रदर्शितम्। केनाऽपि मालाकारेण राजमार्ग-पुरीषोत्सर्गलक्षणापराधापोहाय तत्स्थाने पुष्पपुञ्जकरणेन 'किमिदमि'ति पृच्छतो लोकस्य 'हिंगुशिवो देवोऽयमि'ति वदता व्यन्तरायतनस्थापना कृता। **कयाचिदिति**। यदि केनाऽपि यतिना किञ्चिदपभ्राजनाकार्यं प्रमादेन कृतं भवेत्तदा तथा प्रच्छादयितव्यं यथा प्रवचनमालिन्यं न स्यात् प्रत्युत प्रवचनप्रभावना भवेत्। तदुक्तम् "संजाए उड्डाहे जह गिरिद्धेहिं कुसलबुद्धिहिं। लोयस्स धम्मसद्धा पवयणवण्णेण सुट्ठ कया।। ***कल्पभाष्ये***ऽपि - "औद्धंसितो य मरुतो साहू पत्तो जसं च कित्तिं च।। (क.भा.गा. १७१६) **द्रव्यानुयोगमधिकृत्ये**ति। अत्र "सव्वभिचारं हेतुं सहसा वोत्तुं तमेव अन्नेहिं। उववूहइ सप्पसरं सामत्थं चप्पणो णाउं।। (दश.नि.गा. ६८) इति निर्युक्तिगाथाभावार्थं प्रदर्शयद्भिः ***श्रीहरि-***

पुरुष, चोर, राक्षस और माली के सम्बन्धवाली एक लम्बी-चौडी कहानी सुना कर अंत में चांडाल चोर को पकडते हैं। इस तरह चांडाल चोर के भावों को जानने के लिए बुद्धिनिधान अभयकुमार ने कहानी रूप उपाय का आश्रय लिया था। यह लौकिक भावोपायविषयक उदाहरण है, जो अर्थ = मनोगत भाव का आक्षेप करता है। यह चरणकरणानुयोग में अधिकृत है।

द्रव्यानुयोग में अधिकृत भावोपाय उदाहरण को बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि आत्मसत्तास्वरूप भाव के उपाय यानी आत्मास्तित्वस्वरूप भाव के निश्चय के साधन आदानादि है। आदान का अर्थ है ग्रहण। आदि पद से त्याग आदि ग्राह्य हैं। अर्थात् अभिलषित वस्तु के ग्रहण और अनिष्ट वस्तु के त्याग से आत्मा की सिद्धि होती है, क्योंकि जड वस्तु में इष्ट वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का परिहार स्वतः नामुमकिन है। अन्य किसीकी प्रेरणा के बिना ही अभिलषित वस्तु का ग्रहणादि चेतन आत्मा की सिद्धि करते हैं। अतः ग्रहणादि के आश्रयरूप से आत्मा की सिद्धि होती है।

* स्थापना उदाहरण ३/१ *

स्थापना. इति। उदाहरण के तृतीय भेद स्थापना का अर्थ है दोष का आच्छादन कर के अपने इष्ट अर्थ की प्ररूपणा। अपनी टट्टी को पुष्प से आच्छादित कर के देवपूजा का ढोंग रचा कर हिंगुशिव के प्रवर्तक माली का उदाहरण लौकिक स्थापना में प्रसिद्ध है। इस तरह जब प्रमाद आदि से साधु की स्खलना हो जाय तब अपनी कल्पना से दोष का आच्छादन करना और शासनप्रभावना करना यह लोकोत्तर स्थापना का उदाहरण है। इस सम्बन्ध में अतिप्रसिद्ध उदाहरण एक साधुभगवंत का है, जिसको मिथ्यादृष्टि अवस्थावाले श्रेणिक महाराजा ने जिनशासन की हीलना-बदनामी के लिए एक मंदिर में, जिसमें पूर्वसंकेतित वेश्या रही हुई थी, बंद कर दिये थे। साधु महात्मा ने वहाँ अपनी बुद्धि के बल से जिनशासन की महान प्रभावना की थी। चरण-करणानुयोग में अधिकृत स्थापना का और लोक में अधिकृत=लौकिक स्थापना का उदाहरण बताने के बाद अब विवरणकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत स्थापना विषयक उदाहरण बताते हैं कि- यदि वाद आदि में नयविशेष के अभिप्राय की अपेक्षा से दुष्ट हेतु का प्रयोग अनाभोग आदि से साधु कर बेठे तब जिस नय की दृष्टि से उस हेतु का समर्थन हो सके उस नय को प्रधान कर के उस हेतु के समर्थन

द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु यदि नास्तिको वदेद्- 'भावा एव न सन्ति, आत्मा तु सुतरां नास्ती'ति तदा तमेवं निवारयेत्- 'किमेतत्तव वचनमस्ति नास्ति वा? आद्ये प्रतिज्ञाहानिः द्वितीये च निषेधकस्यैवाऽसत्त्वे किं केन निषेधनीयं? किं नास्त्यात्मेति? किञ्च "नास्ति आत्मा" इति✦ प्रतिषेधको ध्वनिः शब्दः✦, शब्दश्च विवक्षापूर्वक इति नाजीवोद्भव इति प्रतिषेधध्वनेरेव सिद्ध आत्मेति।४। दर्शितं सभेदमुदाहरणम्।।१।।

तद्देशश्च निगमनोपयोगिदेशघटितो दृष्टान्तः। स चतुर्द्धा १ अनुशास्तिः, २ उपालम्भः, ३ पृच्छा, ४ निश्रावचनं चेति। तत्र सद्गुणोत्कीर्तनेनोपबृंहणमनुशास्तिः। अत्र च **सुभद्राकथानकं** वक्तव्यम्। तत्राऽपि तस्याः शीलगुणदृढत्वपरीक्षोत्तरं लोकप्रशंसा, एकदेशस्यैव प्रकृतोपसंहारोपयोगित्वादुदाहरणैकदेशता।

नास्तिकः = शून्यवादी सौगतो यद्वा तत्त्वोपप्लववादी चार्वाकोऽत्र बोध्यः। **प्रतिज्ञाहानिरिति**। प्रतिज्ञातार्थपरित्याग इति। भावास्तित्वव्याप्यस्य वचनास्तित्वस्य स्वीकारेण प्रतिज्ञातस्य भावासत्त्वस्य परित्यागात्। **द्वितीये** = निषेधक-वचनाऽभावविकल्पे कार्यात् कारणं साधयति-**किञ्चे**ति। **शब्दश्चे**ति विशिष्टशब्दश्चेत्यर्थः। अत्र प्रयोगा एवम्-आत्माऽस्ति प्रतिषेधध्वन्यन्यथानुपपत्तेः। प्रतिषेधध्वनिः विवक्षाजन्यः विशिष्टशब्दत्वात्। विवक्षा हि धर्मो धर्मस्य चानुरूपेण धर्मिणा भवितव्यमित्यत आत्मसिद्धिः। **न च** प्रथमानुमाने हेतोर्व्यधिकरणत्वादगमकत्वमिति **वाच्यम्** व्यधिकरणस्याऽपि गमकत्वस्य **रत्नाकर-कल्पलता-हेतुविडम्बनस्थलादौ** प्रदर्शितत्वात्। अस्तु वा विवादाध्यासित आत्मा सन् प्रतिषेधध्वनिजनकविवक्षाश्रयत्वादिति प्रयोगः। तेन न स्वरूपासिद्धिर्न वाश्रयासिद्धिरिति।

किञ्चाऽभावस्य सत्प्रतियोगिकत्वनियमादभावज्ञानस्य स्वप्रतियोगिज्ञानसम्पाद्यत्वनियमाच्चाऽन्यत्र प्रतियोगिनः सत्ता सिध्यति। तदुक्तं ***आत्मतत्त्वविवेकवृत्तौ भगीरथठक्कुरेण*** "प्रतियोगिव्यवहारनिरूपणं विना निषेधव्यवहारोऽपि न स्यादिति।" **उदाहरण**मिति। उदाहरणत्वं चैतद्भेदानां सर्वेषां देशोपनयाभावात्। तदुक्तं ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "एतद्भेदानां देशेन दोषवत्तया चोपनयाभावादिति।"

तद्देश इति। तस्य = उदाहरणार्थस्य देश इति। **निगमनेति**। विवक्षितार्थे प्रतिकूलप्रमाणाभावसूचकोपसंहारो निगमनम्। अयं भावः यत्रेष्टेन दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकार्थस्योपसंहारः क्रियते स दृष्टान्तः तद्देश इति। **अनु-**

वचन सत् है कि असत्? यदि तुम्हारा वचन सत् है=पारमार्थिक है तब 'कुछ भी पारमार्थिक है नहीं' ऐसी तुम्हारी प्रतिज्ञा का त्याग हो जायेगा, क्योंकि 'कुछ भी पारमार्थिक नहीं है' ऐसी प्रतिज्ञा कर के 'मेरा वचन पारमार्थिक है' ऐसा तुम स्वीकार करते हो। यदि तुम ऐसा कहो कि - "नहीं, मेरा वचन भी सत् नहीं है" तब तो आत्मा का निषेधक वचन ही नहीं है तब कौन, किसका, कैसे, कहाँ, और किसके लिए निषेध करेगा कि 'आत्मा नहीं है'? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी!

* निषेध वचन से आत्मसिद्धि *

किञ्च. इति। इसके अतिरिक्त बात यह है कि - 'आत्मा नहीं है' - यह प्रतिषेधध्वनि ही आत्मा का साधक है, क्योंकि आत्मा का निषेध करनेवाला ध्वनि शब्दरूप है, जो विवक्षा से उत्पन्न होता है। आशय यह है कि जब बोलने की इच्छा होती है तब मनुष्य बोलता है। बिना विवक्षा के कोई नहीं बोलता है। अतः बोलने की इच्छा जड वस्तु का धर्म नहीं है किन्तु जीव का ही धर्म है, क्योंकि जड घट-पट आदि को इच्छा ही पैदा नहीं होती है। अतः 'आत्मा नहीं है' यह निषेधवचन ही आत्मा की सिद्धि करता है, क्योंकि आत्मा के बिना विवक्षा=बोलने की इच्छा ही असंभव है और उसके अभाव में निषेधक वचन की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। इस तरह उदाहरण के अंतिम भेद प्रत्युत्पन्नविन्यास का निरूपण होने से उदाहरण नामक उपमान के प्रथम भेद का निरूपण समाप्त हुआ।

* तद्देश उपमान - २ *

तद्देश. इति। उपमान का द्वितीय भेद है तद्देश, जिसका अर्थ है - उपसंहार उपयोगी अमुक भाग से घटित द्रष्टांत। अर्थात् जहाँ संपूर्ण कथानक का कथन अपनी इष्ट वस्तु के प्रतिपादन के लिए आवश्यक न हो मगर उदाहरण का अमुक भाग ही

१ ✦✦ चिह्नद्वयान्तर्गतः पाठः कप्रतौ नास्ति।

द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु यदि नास्तिको वदेद्- 'भावा एव न सन्ति, आत्मा तु सुतरां नास्ती'ति तदा तमेवं निवारयेत्- 'किमेतत्तव वचनमस्ति नास्ति वा? आद्ये प्रतिज्ञाहानिः द्वितीये च निषेधकस्यैवाऽसत्त्वे किं केन निषेधनीयं? किं नास्त्यात्मेति? किञ्च "नास्ति आत्मा" इति✦ प्रतिषेधको ध्वनिः शब्दः✦, शब्दश्च विवक्षापूर्वक इति नाजीवोद्भव इति प्रतिषेधध्वनेरेव सिद्ध आत्मेति।४। दर्शितं सभेदमुदाहरणम्।।१।।

तद्देशश्च निगमनोपयोगिदेशघटितो दृष्टान्तः। स चतुर्द्धा १ अनुशास्तिः, २ उपालम्भः, ३ पृच्छा, ४ निश्रावचनं चेति। तत्र सद्गुणोत्कीर्तनेनोपबृंहणमनुशास्तिः। अत्र च **सुभद्रा**कथानकं वक्तव्यम्। तत्राऽपि तस्याः शीलगुणदृढत्वपरीक्षोत्तरं लोकप्रशंसा, एकदेशस्यैव प्रकृतोपसंहारोपयोगित्वादुदाहरणैकदेशता।

नास्तिकः = शून्यवादी सौगतो यद्वा तत्त्वोपप्लववादी चार्वाकोऽत्र बोध्यः। **प्रतिज्ञाहानिरिति**। प्रतिज्ञातार्थपरित्याग इति। भावास्तित्वव्याप्यस्य वचनास्तित्वस्य स्वीकारेण प्रतिज्ञातस्य भावासत्त्वस्य परित्यागात्। **द्वितीये** = निषेधक-वचनाऽभावविकल्पे कार्यात् कारणं साधयति-**किञ्चे**ति। **शब्दश्चे**ति विशिष्टशब्दश्चेत्यर्थः। अत्र प्रयोगा एवम्- आत्माऽस्ति प्रतिषेधध्वन्यन्यथानुपपत्तेः। प्रतिषेधध्वनिः विवक्षाजन्यः विशिष्टशब्दत्वात्। विवक्षा हि धर्मो धर्मस्य चानुरूपेण धर्मिणा भवितव्यमित्यत आत्मसिद्धिः। **न च** प्रथमानुमाने हेतोर्व्यधिकरणत्वादगमकत्वमिति **वाच्यम्** व्यधि-करणस्याऽपि गमकत्वस्य **रत्नाकर-कल्पलता-हेतुविडम्बनस्थलादौ** प्रदर्शितत्वात्। अस्तु वा विवादाध्यासित आत्मा सन् प्रतिषेधध्वनिजनकविवक्षाश्रयत्वादिति प्रयोगः। तेन न स्वरूपासिद्धिर्न वाश्रयासिद्धिरिति।

किञ्चाऽभावस्य सत्प्रतियोगिकत्वनियमादभावज्ञानस्य स्वप्रतियोगिज्ञानसम्पाद्यत्वनियमाच्चाऽन्यत्र प्रतियोगिनः सत्ता सिध्यति। तदुक्तं ***आत्मतत्त्वविवेकवृत्तौ भगीरथठक्कुरेण*** "प्रतियोगिव्यवहारनिरूपणं विना निषेधव्यवहारोऽपि न स्यादिति।" **उदाहरण**मिति। उदाहरणत्वं चैतद्भेदानां सर्वेषां देशोपनयाभावात्। तदुक्तं ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "एतद्भेदानां देशेन दोषवत्तया चोपनयाभावादिति।"

तद्देश इति। तस्य = उदाहरणार्थस्य देश इति। **निगमनेति**। विवक्षितार्थे प्रतिकूलप्रमाणाभावसूचकोपसंहारो निगमनम्। अयं भावः यत्रेष्टेन दृष्टान्तार्थदेशेनैव दार्ष्टान्तिकार्थस्योपसंहारः क्रियते स दृष्टान्तः तद्देश इति। **अनु-**

वचन सत् है कि असत्? यदि तुम्हारा वचन सत् है=पारमार्थिक है तब 'कुछ भी पारमार्थिक है नहीं' ऐसी तुम्हारी प्रतिज्ञा का त्याग हो जायेगा, क्योंकि 'कुछ भी पारमार्थिक नहीं है' ऐसी प्रतिज्ञा कर के 'मेरा वचन पारमार्थिक है' ऐसा तुम स्वीकार करते हो। यदि तुम ऐसा कहो कि - "नहीं, मेरा वचन भी सत् नहीं है" तब तो आत्मा का निषेधक वचन ही नहीं है तब कौन, किसका, कैसे, कहाँ, और किसके लिए निषेध करेगा कि 'आत्मा नहीं है'? न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसूरी!

* निषेध वचन से आत्मसिद्धि *

किञ्च. इति। इसके अतिरिक्त बात यह है कि - 'आत्मा नहीं है' - यह प्रतिषेधध्वनि ही आत्मा का साधक है, क्योंकि आत्मा का निषेध करनेवाला ध्वनि शब्दरूप है, जो विवक्षा से उत्पन्न होता है। आशय यह है कि जब बोलने की इच्छा होती है तब मनुष्य बोलता है। बिना विवक्षा के कोई नहीं बोलता है। अतः बोलने की इच्छा जड वस्तु का धर्म नहीं है किन्तु जीव का ही धर्म है, क्योंकि जड घट-पट आदि को इच्छा ही पैदा नहीं होती है। अतः 'आत्मा नहीं है' यह निषेधवचन ही आत्मा की सिद्धि करता है, क्योंकि आत्मा के बिना विवक्षा=बोलने की इच्छा ही असंभव है और उसके अभाव में निषेधक वचन की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। इस तरह उदाहरण के अंतिम भेद प्रत्युत्पन्नविन्यास का निरूपण होने से उदाहरण नामक उपमान के प्रथम भेद का निरूपण समाप्त हुआ।

* तद्देश उपमान - २ *

तद्देश. इति। उपमान का द्वितीय भेद है तद्देश, जिसका अर्थ है - उपसंहार उपयोगी अमुक भाग से घटित द्रष्टांत। अर्थात् जहाँ संपूर्ण कथानक का कथन अपनी इष्ट वस्तु के प्रतिपादन के लिए आवश्यक न हो मगर उदाहरण का अमुक भाग ही

---

१ ✦✦ चिह्नद्वयान्तर्गतः पाठः कप्रतौ नास्ति।

एवं भरतकथानकेनाऽपि एकदेशेन वैयावृत्त्यगुणोपसंहासद् गुरोः शिष्याप्रमादोपबृंहणमुचितम्। इदमपि लौकिकं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्योक्तम्।

द्रव्यानुयोगमधिकृत्य पुनरात्मास्तित्ववादिनः तन्त्रान्तरीयान् प्रति वक्तव्यम्, यदुत साध्वेतद् यदात्मास्तीत्यभ्युपगतं, किन्त्वकर्ताऽयं न भवति ज्ञानादीनां कृतिसामानाधिकरणनियमादित्यादि। उदाहरणदेशता त्वस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वदेशसाधन एव

शास्तिः = प्रशंसा। सा विधेयेति यत्रोपदिश्यते सोऽनुशास्तितद्देशः। **लोकप्रशंसे**त्यनन्तरं यावद् वक्तव्यमिति गम्यम्। यथा साधुलोचनपतितरजःकणापनयनेन लोकसम्भावितशीलकलंका तत्क्षालनायाऽऽराधितदेवताकृतप्रातिहार्या चालनीव्यवस्थापितोदकाच्छोटनोद्घाटितचम्पागोपुरत्रया सुभद्रा 'अहो शीलवती'ति लोकेनानुशासिता। **एकदेशस्यै**वेति लोकानुशास्तिमात्रस्यैव, तदुक्तं ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "इह च तथाविधवैयावृत्त्यकरणादिनाऽप्युपनयः सम्भवति, तत्त्यागेन च महाजनानुशास्तिमात्रेणोपनयः कृतः इत्याहरणतद्देशतेति"। तदुक्तं ***हारिभद्रवृत्तावपि*** - "अप्रमादवद्भिः साधूनां कणूकापनयादि कर्तव्यमिति विहायानुशास्त्योपसंहारमाहे'ति। (दश. हा. वृ. पृ. ३३)। प्रकृतेऽनुशास्तिः त्रिविधाऽवगन्तव्या स्वपरोभयभेदेन। ***व्यवहारसूत्रवृत्तौ श्रीमलयगिरिसूरिभिः*** उपदेशप्रदानमनुशिष्टिः स्तुतिकरणं वाऽनुशिष्टिः।..... तत्र यत् आत्मानमात्मनाऽनुशास्तिः साऽऽत्मानुशास्तिः। यत्पुनः परस्य परेण चानुशासनं सा परानुशिष्टिः। तत्रोदाहरणम् चम्पायां नगर्यां सुभद्रा। सा हि सर्वैरपि नागरिकजनैरनुशिष्टा यथा 'धन्याऽसि त्वम्, कृतपुण्याऽसि त्वमिति (व्य. सू. १/३७४) इत्यादिना यदुक्तं तदप्यत्रानुसन्धेयम्।

ज्ञानादीनामिति। आदिपदादिच्छादेर्ग्रहणम्। **कृतिसामानाधिकरण्यनियमादिति** कृतिसामानाधिकरण्यव्याप्तेः, यस्मिन्नधिकरणे ज्ञानादयः प्रतीयन्ते तत्रैव कृतेरपि प्रतीतेः। ज्ञानादयः स्वसमानाधिकरणमेव कृतिं जनयन्ति। ततश्च कृतिज्ञानादीनां सामानाधिकरण्यं = एकाधिकरणवृत्तित्वं सिध्यति, अन्यथा कृतिज्ञानादीनां व्यधिकरणत्वेन जन्य-

आवश्यक हो वहाँ द्रष्टांत के एक देश का, जो कि उपसंहार में उपयोगी है, कथन करना तद्देश उपमानरूप से यहाँ इष्ट है। इसके चार भेद हैं (१) अनुशास्ति, (२) उपालंभ, (३) पृच्छा, (४) निश्रावचन। अनुशास्ति का मतलब है सद्गुण के उत्कीर्तन से उपबृंहण करना-प्रेरणा देना। अनुशास्ति में सुभद्रा की कथा प्रसिद्ध है। यहाँ तद्देश उपमान की बात चल रही है। अतः सती सुभद्रा का संपूर्ण कथानक नहीं, लेकिन अनुशास्ति का भाग, जिसमें सती सुभद्रा के शील गुण की दृढता यानी चारित्र की निर्मलता की परीक्षा होने के बाद सब लोक-'महासती सुभद्रा का चरित्र निष्कलंक है, अनुपम है' इत्यादि प्रशंसा करते हैं, अनुशास्ति तद्देश उपमान है। उक्त द्रष्टांत का यह भाग उपसंहार में यानी 'गुणवान की उपबृंहणा-प्रशंसा करनी चाहिए' - इस भाग में उपयोगी है। अतः वह तद्देश यानी उदाहरण का एक भाग कहा जाता है।

एवं भरत. इति। महासती सुभद्रा के कथानक में जैसे शीलगुण की प्रशंसा का भाग तद्देश कहा जाता है, ठीक वैसे ही भरत महाराजा के कथानक के एक देश से वैयावच्च-साधुभक्ति गुण का उपसंहार कर के शिष्य के अप्रमत्तभाव की उपबृंहणा करना भी उचित ही है। इस तरह सुभद्रा के लौकिक उदाहरण का और भरत महाराजा के पूर्वभव के कथानक के भाग का, जो चरण-करणानुयोग में अधिकृत है, व्याख्यान हुआ।

*** द्रव्यानुयोग में अनुशास्ति तद्देश उपमान ***

द्रव्यानु. इति। अब व्याख्याकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत अनुशास्ति तद्देश को बताते हुए कहते हैं कि जो परदर्शनी सांख्य आदि आत्मा का स्वीकार करते हुए भी आत्मा को कर्ता नहीं मानते हैं उनके प्रति आत्मा के स्वीकार की प्रशंसा करते हुए आत्मा में कर्तृत्व की सिद्धि करनी चाहिए कि-"अहो! आपने आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार किया है वह बहुत अच्छा किया है, मगर आत्मा अकर्ता नहीं हो सकती है, क्योंकि ज्ञानादिगुण कृति के समानाधिकरण होते हैं"। आशय यह है कि जैसे आत्मा में ही ज्ञान, चैतन्य की सिद्धि होती है वैसे कृति यानी प्रयत्न की भी आत्मा में ही प्रतीति होती है। जैसे कि - 'चेतनोऽहं कर्ता' इस प्रतीति से अहंपदार्थ आत्मा में ही चैतन्य का और कर्तृत्व यानी कृतिआश्रयत्व का भान होता है। अतः चैतन्य की तरह आत्मा में कृति की प्रतीति होने से आत्मा में कर्तृत्व की अनायास सिद्धि हो जाती है, क्योंकि कृतिआश्रयत्व=प्रयत्नआश्रयत्व ही कर्तृत्व है। व्यवहार में भी देखा

निदर्शनाभिधानादित्यवधेयम् ।१।

उपालम्भः = दोषनिदर्शनम्। तत्र **मृगावती**देव्युदाहरणम्, एवं प्रमाद्यन् शिष्योऽप्युपालब्धव्य इति चरणकरणानुयोगमधिकृत्य। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु बहुधा नास्तिकवादप्रकटनलम्पटस्य चार्वाकस्याऽऽत्मनास्तित्वकथायामेवं वक्तव्यम्, यदुतात्माऽभावे

जनकभावानुपपत्तिप्रसङ्गात्, कृत्याश्रयत्वस्यैव कर्तृत्वरूपत्वात्। यत्तु ***न्यायवार्तिके*** 'ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायः कर्तृत्वम्' (न्या.वा. ३/१/६) इत्युक्तं तन्मन्दम्, गौरवात्, समवायस्याऽप्रसिद्धेश्च। तदेवं सिद्धमात्मनि कर्तृत्वम्।

एतेन *प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धौ* "न कर्ता कश्चिदस्त्यत्र, भोक्ता नैवात्र विद्यते। कर्तभोक्तृविनिर्मुक्ता परमार्थ-विभावना।।" (प्रज्ञो.सि.परिच्छे. ४/श्लो. १३) इति ***अनङ्गवज्रकृतिनोक्तं*** **तन्निरस्तं** द्रष्टव्यम्, कृतनाशाकृताभ्यागम-प्रसङ्गात् बन्धमोक्षान्यथानुपपत्तेः कर्तृभिन्ने चेतने मानाभावाच्च। **तदुक्तमुदयनेन *कुसुमाञ्जला*** -"कर्तृधर्मा नियन्तार-श्चेतिता च स एव नः। अन्यथानपवर्गः स्यादसंसारोऽथवा ध्रुवः।। (न्या. कु/१/१४) **एतेन** - प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलालवन्निर्लेपः परं चेतन इति ***साङ्ख्यमतं* निरस्तम्**, चेतनोऽहं कर्तेति प्रतीतेश्चैतन्यस्य कृतिसामानाधिकरण्य-साधनात्। यदि चेतनोऽहं कर्त्री, चेतनोऽहं कर्तृ इति च प्रतीती स्यातां तदा प्रकृतौ=प्रधाने कर्तृत्वं स्यात्, तच्च नास्तीति। किञ्चाऽचेतनेषु कदापि कर्तृत्वबुद्धिरपि नास्तीति परिशेषन्यायेनाऽपि पुरुषस्य कर्तृत्वं सिध्यति। **अत एव *साङ्ख्यतत्त्वकौमुद्यां वाचस्पतिमिश्रेण*** - "सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतना" (सां.का. ११ वृत्ति) इत्युक्तं **तन्निरस्तम्** बुद्ध्यादेश्चेतनत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। तदुक्तं - 'तस्य हेतुर्भवेद्वाच्यो यस्मिन् मोमुह्यते मतिर्नृणाम्। न हि दर्पण आदेयः करकङ्कणदर्शनाय बुधैः।।' [ ] तथा च सकलज्ञानप्राणप्रहाणपापव्यापारपङ्ककालिमा न प्रलीयते कल्पकोटिभिरपीति **दिक्**।

ननु द्रव्यानुयोगमधिकृत्य प्रदर्शिते भावोपायोदाहरणेऽस्यान्तर्भावः किमिति न क्रियत इत्याशङ्कायामाह- **उदाहरणदेशतेति**। कर्तृत्वांश एव विप्रतिपत्तेस्तत्समर्थनायैव निदर्शनाभिधानादिति भावः।

मृगावतीदेवीति। विस्तरत ***आवश्यकचूर्णितो*** लोकलोकोत्तरसाधारणमिदमुदाहरणं ज्ञातव्यम्। अत्रोपयोग्यंश-स्त्वेवम्, श्रीमहावीरसमवसरणे सविमानागतचन्द्रादित्योद्योतेन कालविभागमजानती मृगावतीनाम्नी साध्वी स्थिता, ततस्तद्गमनेऽतिकालोऽयमिति सम्भ्रान्ता साध्वीभिः सहार्यचन्दनासमीपं गता तया चोपालब्धा- अयुक्तमिदं भवादृशी-नामुत्तमकुलजातानामिति। **एवमिति**। अस्यानन्तरं लोकोत्तर इति शेषः। प्रकृते-अणुसट्ठीए सुभद्या उवालंभंमि य

जाता है कि जिसको ज्ञान होता है वही इच्छा पेदा होने पर प्रयत्न करता है। जो जानता ही नहीं है कि धर्म इष्ट का साधन है वह धर्म के अर्जन में प्रयत्न ही कैसे करेगा? ऐसा कभी नहीं देखा गया है कि चैत्र को आम्रफल का ज्ञान हुआ और मैत्र ने आम्रफल को जाने बिना ही आम्रफल खाने का प्रयत्न किया। जिसको ज्ञान उत्पन्न होता है वही प्रयत्न करता है। अतः आत्मा में चैतन्य = ज्ञान की सिद्धि होने पर वहाँ ही प्रयत्न = कृति की सिद्धि होती है, न कि अन्यत्र=जड प्रकृति में। फलतः आत्मा में ही कर्तृत्व की सिद्धि होगी। यहाँ आत्मा की सिद्धि अभिप्रेत नहीं है, मगर आत्मा में कर्तृत्व की सिद्धि अभिप्रेत है। इस तरह आत्मा में कर्तृत्वरूप देश = अंश की सिद्धि करने से इसका तद्देश में समावेश होता है, उदाहरण में नहीं - इस विषय पर ध्यान देने की विवरणकार ने सूचना दी है।

* उपालम्भ तद्देश २/२ *

तद्देश का द्वितीय भेद है उपालम्भ यानी दोष का दिग्दर्शन कराना। यहाँ मृगावती देवी का उदाहरण है जिसको चन्दनबालाजी ने उपालम्भ=शिक्षावचन दिया था। इस तरह प्रमाद करते हुए शिष्य को भी उपालंभ देना चाहिए, उसका अपराध बताना चाहिए। इस तरह चरण-करणानुयोग में अधिकृत उपालम्भ तद्देश का निरूपण करने के बाद द्रव्यानुयोग में अधिकृत उपालम्भ तद्देश को बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि - अनेक बार नास्तिकवाद = 'आत्मा नहीं है' ऐसा वक्तव्य प्रगट करने में लालची ऐसे चार्वाक = नास्तिक को, जब वह - 'आत्मा नहीं है' - ऐसा कथन करे तब, कहना चाहिए कि - यदि आत्मा नहीं है, तब 'आत्मा है' ऐसा

"अस्त्यात्मा" इति वितर्कः, "नास्त्यात्मा" इति कुविज्ञानं च नोपपद्येत धर्म्यभावे धर्मस्यैवाऽसम्भवादित्यादि। उदाहरणदेशता चास्य परलोकादिप्रतिषेधवादिनो नास्तिकस्य जीवसद्भावसाधनाद्भावनीया।२।

पृच्छा = प्रश्नः। तत्र - 'क्वाऽहमुत्पत्स्य' इति भगवति पृष्टे 'षष्ठ्यां नरकपृथिव्या'मिति भगवतोत्तरितः सप्तमनरकपृथिवीगमन-निमित्तचक्रवर्तिसाम्राज्यसम्पादनायाऽभ्युद्यतः **कृतमालेन** हतः **कूणिक** उदाहरणं लोके। लोकोत्तरेऽपि प्रष्टव्या आचार्या

मिगावती देवी। आयरिओ दोसु - [व्य.भा.श. ३७५] इति व्यवहारभाष्यवचनमनुस्मर्तव्यम्। **वितर्कः** = ज्ञानात्मको विशिष्टशब्दात्मको वा विपरीततर्कः, चार्वाकं प्रतीति गम्यते। **कुविज्ञानं** = कुत्सितं विज्ञानं, चार्वाकस्येति सामर्थ्य-गम्यम्। **धर्म्यभाव** इति। प्रसक्ते देहादावननुरूपत्वेन प्रतिषेधाद्, धर्म्यभावस्य धर्माभावव्याप्यत्वाच्च प्रसिद्धवितर्काद्य-सम्भवदोषकालुश्यं चार्वाकशिरःपतितमात्मानभ्युपगमे गीर्वाणगुरुणाऽपि पराणेतुमशक्यमिति तात्पर्यम्। **इत्यादीति**। आदिशब्देन जातिस्मृति-प्रत्यभिज्ञान-संशयादेर्ग्रहणम्। **परलोकादिप्रतिषेधवादिनः** = परलोक-पुण्य-पाप-जीवादि-प्रतिषेधवादिनो जीवसद्भावसाधनेन केवलं जीवविप्रतिपत्तिनिराकरणादुदाहरणदेशता **एतेना**ऽस्य द्रव्यानुयोगाधि-कृताऽपायोदाहरणान्तर्भावो **निरस्तः**, तत्र परवादिनोपस्थापितविप्रतिपत्तिनिराकरणाय विस्तरतो दोषदर्शनस्याभि-प्रेतत्वात्, अत्र तु परवादिनो विप्रतिपत्त्येकदेशनिराकरणाय सङ्क्षेपतो दोषदर्शनस्याभिप्रेतत्वादिति **दिक्**।

नन्वस्यानुशासनरूपत्वेन द्रव्यानुयोगाधिकृतानुशास्तौ समावेशः कर्तव्यः? न कर्तव्यः, तत्र प्रशंसाद्वाराऽनुशासन-स्याऽभिप्रेतत्वात्, अत्र तु केवलं दोषोपदर्शनद्वाराऽनुशासनस्याभिप्रेतत्वादिति विभावनीयं सुधीभिः।

कूणिक इति। भावार्थस्त्वेवम् श्रेणिकराजपुत्रः कूणिकः महावीरं पप्रच्छ - भदन्त! चक्रवर्त्तिनोऽपरित्यक्तकामा मृताः क्वोत्पद्यन्ते? भगवताऽभिहितं - सप्तमनरकपृथिव्यां, ततोऽसौ बभाण-अहं क्वोत्पत्स्ये? स्वामिनोक्तं - षष्ठ्यां, स उवाच - अहं किं न सप्तम्यां? स्वामिना जगदे-सप्तम्यां चक्रवर्तिनो यान्ति, ततोऽसावभिदधे-किमहं न चक्रवर्त्ती? यतो ममाऽपि हस्त्यादिकं तत्समानमस्ति। स्वामिना प्रत्यूचे - तव रत्ननिधयो न सन्ति, ततोऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनप्रवृत्तः कृतमालिकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गतः। विस्तरस्तु **व्याख्याप्रज्ञप्तितो**ऽवसेयः। **आग्रहात्** = तात्पर्यात्। **तेनैव** = प्रच्छकतात्पर्यविषयीभूतैकदेशेनैव।

मेरा विरोधी तर्क और 'आत्मा नहीं है' ऐसा तुम्हारा गलत ज्ञान कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि मेरी युक्ति और तुम्हारा कुविज्ञान धर्म है, जिसका धर्मी = आश्रय जड पदार्थ नहीं हो सकते हैं। आशय यह है कि चैतन्यरूप से प्रतीयमान धर्मों का आश्रय चेतनस्वरूप धर्मी ही होना चाहिए, अन्यथा धर्म-धर्मिभाव ही न घटेगा। दूसरी बात यह है कि धर्मी के बिना धर्म नहीं रह सकता है। अतः वितर्क-कुविज्ञानादि के आश्रयरूप में आत्मारूप धर्मी की सिद्धि होती है।

उदाहरणदेशता. इति। यहाँ यह शंका कि - 'यहाँ तद्देश का यानी उदाहरणदेश का अधिकार चल रहा है, न कि उदाहरण का। आप तो यहाँ आत्मारूप धर्मी की ही सिद्धि करने को चल पडे हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ धर्मिसिद्धि का नहीं, मगर धर्मसिद्धि का निदर्शन बताना चाहिए। अतः आपने जो निदर्शन बताया है उसका समावेश उदाहरण में करना युक्त है, उदाहरणदेश में नहीं' - इसलिए निराधार हो जाती है कि नास्तिक को परलोक, जीव, पुण्य, पाप आदि अनेक पदार्थ में विप्रतिपत्ति है फिर भी परलोक आदि सब की सिद्धि का यहाँ प्रयास नहीं किया जाता है, मगर विवाद के एक देशभूत जीव की सिद्धि करने का यहाँ प्रयत्न है। अतः यह उदाहरण नहीं है, मगर उदाहरणदेश = तद्देश ही है।

❋ पृच्छा तद्देश ३/२ ❋

पृच्छा. इति। तद्देश का तृतीय भेद है पृच्छा यानी प्रश्न। यहाँ श्रेणिकपुत्र कूणिक का द्रष्टांत है। संक्षेप में यह प्रसंग इस तरह है कि - जब भगवान् श्रीमहावीरस्वामी की देशना चल रही थी तब श्रेणिक महाराज का पुत्र कूणिक भगवंत से प्रश्न करता है कि - हे भगवंत! मैं कहाँ उत्पन्न होनेवाला हूँ?, तब भगवंत कहते हैं कि - 'तू छट्ठी नरक में जायेगा'। तब कूणिक सातवीं नरक में जाने के लिए चक्रवर्तीसाम्राज्य का सम्पादन करने को प्रयत्नशील होता है और छ खंड को जितने के लिए जब तमिस्रा गुफा के पास पहुँचता है तब कृतमाल नाम का यक्ष उसे मार डालता है और वह छट्ठी नरक में जाता है। यहाँ पृच्छा को बताने का तात्पर्य

जिज्ञासितमर्थम्, पृष्ट्वा च समाचरणीयानि शक्यानि अशक्यानि[1] तु नेति। उदाहरणदेशता चास्याऽभिहितैकदेश एव प्रष्टुराग्रहात्तेनैव चोपसंहारादवसेया। इदमपि लोकं चरणकरणानुयोगं चाधिकृत्य।

द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु 'नास्त्यात्मे'तिवादी नास्तिकः पृच्छ्यते, 'कुतो नास्त्यात्मे'ति? स चेद् ब्रूयात् 'सतोऽपरोक्ष' इति, तदाऽभिधेयम्, ''भद्र! कुविज्ञानमेतत्ते, विवक्षाऽभावे विशिष्टशब्दानुपपत्तेः, इत एवात्मसाधनादि'ति।३।

निश्रावचनं च, तत् यद् एकं कञ्चनं निश्राभूतं कृत्वा विचित्रप्रतिपादनम्। या **द्रुमपत्रकाध्ययने** भगवता **गौतम**निश्र-

---

सतोऽपरोक्ष इति। अत्राऽनादरे षष्ठी, तदुक्तं ***सिद्धहेमशब्दानुशासने*** 'षष्ठी वाऽनादरे' (सि.श.२/२/१०८) इति। आत्मनः त्वन्मते पारमार्थिकत्वे सत्यपि परोक्षत्वादभाव इति नास्तिकाशयः। हेतुस्तु परोक्षत्वमेव, प्रयोगस्त्वेवम्-विवादाध्यास्ति आत्मा असन् परोक्षत्वात् शशशृङ्गवदिति।

ननु परोक्षत्वं किं तव यदुताऽन्येषामिति विकल्पयामलमविरललुलल्लोलकल्लोललीलायितमनुशीलयत्प्रतिकल-मुन्मीलति। तत्र यदि तव परोक्षत्वमिति परिकल्प्यते तदा रत्नाकरजलसिकताकणसंख्यापरिमाणादिना हेतोर्व्यभिचार-कामुककुट्टिनीकटुकटाक्षेक्षितता केन पराक्रियेत? नाऽपि परेषां परोक्षत्वमसत्त्वसाधने समर्थम्, 'आत्मा नास्ती'ति ते कुविज्ञानमप्यन्येषां परोक्षत्वेन नभोऽम्भोजराजिविराजिसौरभ्यलीलामविकलमाकलयेदेव। यदि च तदप्यन्यैरनुमीयत एवातो न खकुसुमायितमित्युच्यते रुच्यवचोवैचित्रीचञ्चुभिस्तदा तत्किं मत्पक्षे पाणिपिहितं स्यादित्याशयेन समाधत्ते-**विवक्षाऽभावे विशिष्टशब्दानुपपत्तेरिति**। उन्मत्तादिवचनेऽतिप्रसङ्गवारणाय विशिष्टेत्युक्तम्। भूतचतुष्कमनाश्रय-माणाया विवक्षाया विशिष्टशब्दजनकत्वेन तदाश्रयतयाऽऽत्मसाधनादित्याशयेनाऽऽह - **इत एवे**ति। प्रयोगस्त्वेवम् - विवादाध्यासित आत्मा सन् विवक्षाजन्यविशिष्टशब्दान्यथानुपपत्तेरिति **दिक्**।

तद्देशचरमभेदमाह-**निश्रेति**। **विचित्रप्रतिपादनमिति**। पुरुषान्तरोद्देशेन पुरुषान्तरप्रतिपादनस्याभिप्रेतत्वाद् विचित्रे-त्युक्तं अन्यप्रबोधार्थमन्यनिश्रया प्रतिपादनमित्यर्थः। **द्रुमपत्रकेति**। अयं सङ्क्षेपार्थः श्रीगौतमं तापसादिप्रव्रजितानां

होने से तथा प्रश्न करनेवाले को जवाब के अमुक अंश में ही तात्पर्य होने से इसका पृच्छा तद्देश में समावेश होता है। यह लौकिक द्रष्टांत चरणकरणानुयोग में अधिकृत है।

✱ द्रव्यानुयोग में पृच्छा-तद्देश उपमान ✱

द्रव्यानु. इति। अब विवरणकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत पृच्छादेश को बताते हुए कहते हैं कि - जब नास्तिक कहे कि - 'आत्मा नहीं है' - तब उसे प्रश्न करना चाहिए कि - आत्मा क्यों नहीं है? यदि नास्तिक कहे कि - 'आप की दृष्टि से सत्=पारमार्थिक होता हुआ भी जीव हमें दिखता नहीं है - परोक्ष है इसलिए असत् = काल्पनिक है'। तब नास्तिक को कहना चाहिए कि - भाग्यशाली! आपका यह ज्ञान गलत है, क्योंकि आत्मा की आपके वचन से हि सिद्धि होती है। देखिये, आप जो वचनप्रयोग करते हैं कि - आत्मा नहीं है - वैसा विशिष्ट शब्दप्रयोग घट पट आदि जडपदार्थ क्यों नहीं करते हैं? इस प्रश्न का आपका जवाब यही होगा कि - मुझे यह प्रश्न करने की इच्छा है, - बोलने की इच्छा है जो घट आदि जड पदार्थ में नहीं है। अब आप ही सोचिए कि बोलने की इच्छा = विवक्षा घट आदि पदार्थ में क्यों नहीं होती है और आपमें ही क्यों होती है? सोचने पर इसका जवाब आपको अपने आप मिल जायेगा कि विवक्षा जड पदार्थ का धर्म नहीं है, मगर जडेतर = चेतन पदार्थ का धर्म है और वह चेतन पदार्थ ही आत्मा है, आत्मा को छोड कर दूसरा कुछ भी नहीं है। इस तरह विशिष्टशब्दजनक विवक्षा, जिसका आश्रय घट आदि जड पदार्थ हो ही नहीं सकते हैं, ही अपने आश्रय के रूप में आत्मा की सिद्धि करती है। इस तरह वाद में नास्तिक को प्रश्न कर के उसके दांत खट्टे कर देने चाहिए। तद्देश के तृतीय भेद पृच्छा का विवरण समाप्त हुआ।

✱ निश्रावचन तद्देश ४/२ ✱

तद्देश का चतुर्थ भेद है निश्रावचन अर्थात् किसी एक को निश्रा = आलंबन कर के अन्यके बोध के लिए प्रतिपादन करना। जैसे

---

१ वा परिहर्तव्यानीति मुद्रितप्रतौ। अस्माभिः कप्रतिपाठो गृहीतः।

याऽन्येऽप्यनुशासिताः। एवमसहना अपि शिष्या मार्दवसम्पन्नमेकं शिष्यं निश्राभूतं कृत्वाऽनुशासनीयाः। उदाहरणदेशता चास्य लेशत एव, तथानुशासनात्। एवं तावच्चरणकरणानुयोगमधिकृत्योक्तम्। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य त्वन्यापदेशेन लोकायतो वक्तव्यः, 'अहो! धिक्कष्टं नास्ति येषामात्मा, तदभावे दानादिक्रियावैफल्यात्। न च तद्वैफल्यम्, सत्त्ववैचित्र्यानुपपत्तेरि'त्यादि।४। उक्तः सभेद **उदाहरणदेशः**।।१।।

तद्दोषश्च बहुव्रीह्याश्रयणाद् दुष्टमुदाहरणम्। तच्चतुर्द्धा, अधर्मयुक्त-प्रतिलोमात्मोपन्यास-दुरुपनीतभेदात्। तत्राऽधर्मयुक्ते लोके

केवलोत्पत्तावनुत्पन्नकेवलत्वेनाऽधृतिमन्तं 'चिरसंसृष्टोऽसि गौतम! चिरपरिचितोऽसि गौतम! मा त्वमधृतिं कार्षीरि'त्यादिनाऽनुशासयताऽन्येऽप्यनुशासिताः, तदनुशासनार्थं द्रुमपत्रकाऽध्ययनं च प्रणिन्य इति। ननु प्रकृतेऽन्येऽनुशासिताः तर्हि अस्यानुशास्तावन्तर्भावः कर्तव्यः? न कर्तव्यः, तत्र प्रशंसाद्वाराऽनुशासनस्याभिप्रेतत्वात्, अत्र त्वन्यनिश्राद्वाराऽन्यानुशासनस्याभिप्रेतत्वादिति **दिक्**। **अन्यापदेशेनेति**। अन्यथा द्वेषादिना न सम्प्रतिपद्येतेति हेतोः।

लोकायत इति। लोके आयतं = विस्तीर्ण प्रसिद्धं वा प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमभ्युपगच्छतीति लोकायतः नास्तिक इत्यर्थः। 'भवतु दानादिक्रियावैफल्यं किं नश्छिन्नम्? न ह्यभ्युपगमा एव बाधायै भवन्ती'ति पराशयं दूषयितुमुपक्रमते- **न चेति**। **सत्त्ववैचित्र्यानुपपत्तेरित्यादि**। एकजातीयेष्टाऽनिष्टसाधनसम्प्रयोगेऽपि पुरुषभेदेन सुखदुःखाद्यनुभववैचित्र्यान्यथानुपपत्तेरित्यर्थः। तदुक्तं 'क्ष्माभृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयोः सद्रूपनीरूपयोः, श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयोः। सौभाग्यासुभगत्वसङ्गमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरं, यत्तत्कर्मनिमित्तमित्युपगमो वै सर्वथा युक्तिमान्'।। तदुक्तं **जिनभद्रगणि**क्षमाश्रमणेनापि "जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं। कज्जत्तणओ गोयमा! घडोव्व हेऊ अ से कम्मं।। (वि.आ.भा. २०६८)। **एतेन** दानादिक्रियाणां दृष्टधान्याद्यवाप्तिफलककृष्यादिक्रियावत् दृष्टमनःप्रसादादिफलकत्वमेव**त्यपास्तम्** अदृष्टफलोद्देशं विना स्वस्वत्वध्वंसानुकूलव्यापारेण मनःप्रसादाद्यनुपपत्तेः। अस्तु वा तथा, तथापि मनःप्रसादादेरपि फलवत्त्वाऽन्यथानुपपत्त्याऽदृष्टस्यैव सिद्धेरित्यधिकं **अदृष्टसिद्धिवादे**ऽनुसन्धेयम्।

तस्य = उदाहरणस्य दोषस्तद्दोष इत्यत्र धर्मे धर्मिणोऽभेदोपचाराश्रयणेऽस्वरसेनाऽऽह **बहुव्रीह्याश्रयणादिति**। तस्य = उदाहरणस्य दोषो यस्मिंस्स तद्दोषः। बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानसमासत्वाद् **दुष्टमुदाहरणमित्यर्थः**। समासप्रयोजनं चैकपद्यमैकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वमित्यन्यत्र विस्तरः। **नलदामकुविन्द** इति। तदुक्तं ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "पुत्रखादक-

---

स्वयं भगवंत महावीरस्वामी ने गौतम का अवलंबन कर के यानी गौतम को संबोधन कर के अन्य शिष्यों का द्रुमपत्रक अध्ययन में अनुशासन किया था, ठीक वैसे ही अन्य नम्र-विनयी शिष्य का अवलम्बन = संबोधन कर के अन्य असहनशील शिष्यों का अनुशासन = नियन्त्रण करना चाहिए। यहाँ वक्तव्य का अंश अनुशासन ही अभीष्ट होने से इसका तद्देश = उदाहरणदेश में समावेश किया गया है। यह चरण-करणानुयोग में अधिकृत वक्तव्य हुआ। इसी तरह द्रव्यानुयोग के अधिकार में अन्य को संबोधन कर के नास्तिक को कहना चाहिए कि - 'जिसके मत में आत्मा नहीं है उसको बहुत सी कठिनाइयाँ आयेगी। जैसे कि - आत्मा न होने पर दानादि क्रिया निष्फल हो जायेगी, क्योंकि आत्मा के अस्वीकार में दानादि क्रिया का फल किसको मिलेगा? यहाँ यह शंका कि - 'दानादि क्रिया की निष्फलता इष्ट ही है' - इसलिए निराधार हो जाती है कि - वैसा मानने पर जीवों की विचित्रता न घटेगी। आशय यह है कि कोई सुखी तो कोई दुःखी, कोई अमीर तो कोई गरीब, कोई ज्ञानी तो कोई मूर्ख - ऐसी विचित्रता जीवों में हम पाते हैं, वह क्यों है? इसके उपर जब विचार किया जाय तब यह मानना ही पडेगा कि जिसने पूर्व भव में दानादि शुभ क्रिया का सेवन किया है वह यहाँ अमीर है, सुखी है। जिसने दानादि नहीं किया है, वह यहाँ दुःखी है, गरीब है। आत्मा की स्वीकृति में तो यह सब ठीक तरह संगत हो पाता है, मगर आत्मा की अस्वीकृति में तो जीवों की विचित्रता का समाधान और दानादि क्रिया की निष्फलता की अनिष्टापत्ति का निराकरण कथमपि संभव नहीं है। अतः आत्मा का स्वीकार आवश्यक है"। इस तरह नास्तिक को सन्मार्ग पर लाना चाहिए। जहाँ साक्षात् नास्तिक से यह वाद करने में उसे साधु से द्वेष, अप्रीति आदि हो जाने का संभव है, वहाँ अन्य के साथ बातें कर के उसके मन में सन्मार्ग के प्रति झुकाव लाने का यह अच्छा कीमिया है। इस तरह उपमान का द्वितीय भेद उदाहरणदेश = तद्देश का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

नलदामकुविन्द उदाहरणं लोके[१], लोकोत्तरेऽपि चरणकरणानुयोगमधिकृत्य तथाविधं निदर्शनमवधार्य नाधर्मयुक्तं भणितव्यम्। द्रव्यानुयोगमधिकृत्य च वादे रूपविद्याबलेन प्रवचनार्थं सावद्यमपि कुर्यात्, यथा मयूरी-नकुलीप्रभृतिविद्याभिः स परिव्राजको विलक्षीकृत इति। दोषत्वं चाऽत्र सर्वथा स्वरूपतो वाऽधर्मयुक्तत्वादिति ध्येयम्।१।

प्रतिलोमं = प्रतिकूलम्। (ग्रन्थाग्रं-५०० श्लोक) तत्र कथानकं **प्रद्योतेन** हृतस्य पुनस्तमेव हृतवतोऽ**भयस्य** दृष्टव्यम्, इदं च

मत्कोटकमार्गेणोपलब्धबिलवासानामशेषमत्कोटकानां तप्तजलस्य बिले प्रक्षेपणतो मारणदर्शनेन रञ्जितचित्तचाणक्यावस्थापितेन चौरग्रहनलदामाभिधानकुविन्देन चौर्यसहकारितालक्षणोपायेन विश्वासिता मिलिताश्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वे व्यापादिता इति। आहरणतद्दोषता चास्याऽधर्मयुक्तत्वात् तथाविधश्रोतुरधर्मजनकत्वाच्चेति। अत एव नैवंविधोदा-हर्त्तव्यं यतिनेति।" (स्था. ४/३/३३८ वृ.) **मयूरी-नकूलीप्रभृतिविद्याभिरिति**। प्रभृतिशब्देन बिडालीव्याघ्र्यादिग्रहणम्। तदुक्तम् - 'मोरी णउली बिराली, वग्घी सीही उलूगी ओवाई। एयाओ विज्जाओ गेण्ह परिव्वायमहणीओ।। विस्तरस्तु ***विशेषावश्यकभाष्यवृत्त्यादेरवसेयः***। **सर्वथेति**। हेतुतः स्वरूपतोऽनुबन्धतश्च दोषत्वमित्यर्थः। सर्वत्र न तथासम्भव इति पूर्वकल्पशैथिल्यप्रयुक्ताऽरुच्या कल्पान्तरबोधनार्थमाह-**स्वरूपतो वेति**। रूपविद्यादिबलेन प्रवचनार्थं सावद्यकरणेऽपि हेतुतोऽनुबन्धतश्च दोषत्वं न सार्वत्रिकं किन्तु कदाचित्कम्, अन्यथा मैथुनमिव तदपवादतोऽपि कर्तव्यं न स्यादिति प्रदर्शनार्थं **ध्येयमि**त्युक्तमिति मे मतिः। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति।

स्थानाङ्गवृत्तौ तु - "साध्यविकलत्वादिदोषदुष्टं तद्दोषाहरणं, यथा नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वाद् घटवत्। इह साध्यसाधनवैकल्यं नाम दृष्टान्तदोषः। यच्चासभ्यादिवचनरूपं तदपि तद्दोषाहरणं यथा सर्वथाऽहमसत्यं परिहरामि गुरुमस्तककर्त्तनवदिति। यद्वा साध्यसिद्धिं कुर्वदपि दोषान्तरमुपनयति तदपि तदेव यथा सत्यं धर्म्ममिच्छन्ति लौकिकमुनयोऽपि - 'वरं कूपशताद्वापी, वरं वापीशतात्क्रतुः। वरं क्रतुशतात्पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद्वरम्'।। [महाभारते - आदिपर्व - ७४/१०२] इति वचनवक्तृनारदवदिति। अनेन च श्रोतुः पुत्रक्रतुप्रभृतिषु प्रायः संसारकारणेषु धर्मप्रतीतिराहितेति आहरणतद्दोषतेति। यथा वा - बुद्धिमता केनाऽपि कृतमिदं जगत् सन्निवेशविशेषवत्त्वात् घटवत्, स चेश्वर इति। अनेन हि स बुद्धिमान् कुम्भकारतुल्योऽनीश्वरः सिध्यतीति, ईश्वरश्च स विवक्षित "इति व्याख्यातमिति। अत्र बहु वक्तव्यम्।

✱ तद्दोष उदाहरण में अधर्मयुक्त उदाहरण १/३ ✱

तद्दोषश्च. इति। उपमान का तृतीय भेद है तद्दोष उदाहरण। यहाँ बहुव्रीहिसमास का आश्रय करने से तद्दोष का अर्थ होगा दुष्ट उदाहरण। वह इस तरह, तत् पद से उदाहरण ग्राह्य है। उदाहरण का दोष जिसमें है वैसा उदाहरण अर्थात् दोषवाला = दुष्ट उदाहरण। यहाँ दुष्ट उदाहरण में भी चार भेद हैं (१) अधर्मयुक्त, (२) प्रतिलोम, (३) आत्मोपन्यास (४) दुरुपनीत।

तत्र. इति। दुष्ट उदाहरण के प्रथम भेदस्वरूप अधर्मयुक्त सदोष उदाहरण में १नलदाम नामक कुविन्द = झुलाहा का लौकिक उदाहरण प्रसिद्ध है। लौकिक सदोष उदाहरण को जान कर वैसा अधर्मयुक्त नहीं बोलना यह लोकोत्तर उदाहरण होता है यह चरणकरणानुयोग में अधिकृत अधर्मयुक्त सदोष उदाहरण है। द्रव्यानुयोग में अधिकृत अधर्मयुक्त सदोष उदाहरण यह है कि - वाद में रूपविद्या के बल से शासन की प्रभावना के लिए सावद्य भी कार्य करना चाहिए जैसे कि मयूरी, नकुली आदि विद्या के बल से रोहगुप्त ने उस परिप्राजक के दाँत खट्टे कर दिये थे। यहाँ सर्वथा अधर्मयुक्त होने से या स्वरूपतः अधर्मयुक्त होने से उदाहरण में दुष्टता है, सदोषता है। इसके उपर गहरे चिंतन की आवश्यकता है इस बात की सूचना देने के लिए विवरणकार ने यहाँ ध्येयं पद का प्रयोग किया है। इस तरह तद्दोष के आद्य भेद अधर्मयुक्त उदाहरण का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

✱ प्रतिलोम तद्दोष उदाहरण २/३ ✱

प्रतिलोमं. इति। अब विवरणकार तद्दोष के द्वितीय भेद प्रतिलोम उदाहरण का निरूपण करते हैं। प्रतिलोम का अर्थ है प्रतिकूल। प्रतिकूल आचरण-तर्क-वाद आदि का जिसमें निरूपण हो वह प्रतिलोम तद्दोष उदाहरण है। यहाँ लौकिक उदाहरण

१ 'लोके' इति द्वितीयं पदमधिकं भाति।

लोके। लोकोत्तरे तु चरणकरणानुयोगमधिकृत्य-"[1]णो किंचि वि पडिकूलं कायव्वं भवभएणमण्णेसिं। अविणीतसिक्खगाण उ जयणाइ जहोचितं कुज्जा।। ( ) द्रव्यानुयोगमधिकृत्य तु द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकयोरन्यतरेणान्यतरं चोदयेत्, दुर्वादिनां द्विराश्यादिप्रतिपादकानां निरासाथ त्रिराश्यादिकं वा स्थापयेत्। अत्र चाऽऽद्ये पक्षे साध्यार्थाऽसिद्धेः, द्वितीये तु विरुद्धभाषणादेव दुष्टत्वमित्यवसेयम्।२।

तच्चातिविस्तरभयान्नेह प्रतन्यते, सूक्ष्मधिया स्वयं पूर्वोत्तरग्रन्थेन विभावनीयम्।

प्रतिकूलमिति। तदुक्तं ***हलायुधकोशे*** - 'प्रतिकूलं प्रतिलोमं, प्रतीपमुक्तं प्रसव्यमेकार्थम्'। (हला. ४/७४३) इति। प्रातिकूल्यं चाचार-सिद्धान्तादिकं प्रति द्रष्टव्यम्। **अभयस्ये**ति। सुप्रसिद्धत्वादिह नोच्यते। उदाहरणदोषता चाऽस्य श्रोतुः परापकारकरणनिपुणबुद्धिजनकत्वादवसेया। एवं शठं प्रति शठत्वं कुर्यादित्यादेः सदोषतोन्नेया। **स्थापयेदिति**। **ननु** त्रिराशिस्थापनस्य स्थापनोदाहरणे समावेशः कर्तव्यः, अन्यथा स्थापयेदित्यनुपपत्तेरिति **चेत्**? अहो! प्राज्ञता=प्रकर्षेणाऽज्ञता! शब्दमात्रसाम्येण मूढतया न भाव्यम्। पूर्वोक्तं किं विस्मरसि? यदुत स्वस्मात् सहसा जातदोषाच्छादनस्य स्थापनायामभिप्रेतत्वादिति। अत्र चाऽऽभोगपूर्वं विरुद्धसिद्धान्ताश्रयणेन प्रातिकूल्यस्य प्राधान्यादिति विवेकः सूक्ष्मेक्षिकया कार्यः।

साध्यार्थासिद्धेरिति। सर्वनयानां स्वविषये सत्यत्वात् परनयेऽसत्यत्वापादनपूर्वं स्वस्मिंस्सत्यत्वस्थापनरूपस्य साध्यार्थस्याऽसम्भवात् प्रत्युत परनयेऽप्रामाण्योद्भावनस्याऽसद्भूतोद्भावनरूपत्वेन स्वस्मिन् नये मिथ्यात्वाक्रान्त-विषमविषधरीविषावेगविधूरीभूततायाः सुरगुरुणाऽपि निराकर्तुमशक्यत्वात्। बभाण **सम्मतौ महावादी** "णिययवयणिज्जसच्चा, सव्वणया परवियालणे मोहा। ते उण ण दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिए वा।। (सं. त. १/२८)।

इदं तु ध्येयं - सम्यगालोचनायां नयान्तरजन्यबाधज्ञानस्य नयान्तरजन्यज्ञानेऽप्रतिबन्धकत्वात् स्याद्वादव्युत्पत्त्यर्थितया शिष्याणामंशग्राहिषु नयवादेष्वपवादतः प्रवृत्तिः "अशुद्धे वर्त्मनि स्थित्वा ततः शुद्धं समीहते' इतिन्यायेन

अभयकुमार का है। चंडप्रद्योत ने अभयकुमार को कपट से केद किया था। मगर कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तैली? बाद में बुद्धिनिधान अभयकुमार ने सब लोगों के सामने ही चंडप्रद्योत का अपहरण किया। ठीक ही कहा है, ठंडा लोहा गरम लोहे को काट डालता है। इस उदाहरण से श्रोता में 'तुम बनो इंट, तो मैं बनूँ पत्थर' ऐसी पापबुद्धि उत्पन्न होने से यह उदाहरण दुष्ट = दोषवाला है - यह तो स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है हाथ कँगन को आरसी क्या?

इस तरह अन्यत्र यानी लोकोत्तर उदाहरण में चरण-करणानुयोग के अधिकार में ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि जो चरण-करण के प्रतिकूल हो। जैसे कि "संसार के भय से अन्य किसी जीव के प्रति प्रतिकूल वर्तन नहीं करना चाहिए। अविनीत शिष्यों के प्रति यतना से यथोचित पद्धति के द्वारा काम करना चाहिए"। यह कथन प्रतिकूल आचरण के त्याग का उपदेश देता है।

❋ द्रव्यानुयोगाधिकृत प्रतिलोम तद्दोष ❋

द्रव्या. इति। चारित्रसंबंधित विधि-निषेध वचन को चरण-करणानुयोग में अधिकृत प्रतिलोम उदाहरण में बताने के बाद अब विवरणकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत प्रतिलोम तद्दोष उदाहरण का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि - जीवादि द्रव्यों के संबंध में द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय को एक-दूसरे का सहारा ले कर परास्त करना चाहिए। अर्थात् द्रव्यार्थिकनय की युक्ति से प्रतिकूल युक्ति दे कर पर्यायार्थिकनय से द्रव्यार्थिकनय के वक्तव्य का निरसन करना चाहिए और पर्यायार्थिकनय की युक्ति से प्रतिकूल युक्ति दे कर द्रव्यार्थिकनय से पर्यायार्थिक नय के वक्तव्य का निरास करना चाहिए। इस तरह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में परस्पर वाद-प्रतिवाद कराना चाहिए। अथवा द्विराशि आदि की स्थापना करनेवाले दुर्वादी के मत का निरसन करने के लिए त्रिराशि आदि की स्थापना करनी चाहिए। यह भी द्रव्यानुयोगाधिकृत प्रतिलोम दुष्ट उदाहरण है।

शंका :- द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नय के वाद-विवाद को सदोष मानने का कारण क्या है? वैसे द्विराशि के खंडन के लिए त्रिराशि के स्थापन में भी क्या दोष है जिससे दुष्ट उदाहरण में इनका समावेश किया गया है?

१ नो किञ्चिदपि प्रतिकूलं कर्तव्यं भवभयेनाऽन्येषाम्। अविनीतशिक्षकाणां तु यतनया यथोचितं कुर्यात्।।

आत्मोपन्यासश्चायं यत्राऽनुपन्यसनीय आत्मैवोपन्यस्यते। तत्र च लोके तटाकभेदे पिङ्गलस्थपतिरुदाहरणम्। अन्यत्राऽपि

समुचितैव। तदुक्तं प्रकृतप्रकरणकारेणैव ***तत्त्वार्थवृत्तौ*** - "स्वरूपतोऽशुद्धत्वेऽपि फलतः शुद्धत्वं सर्वेषां नयवादानां स्याद्वादव्युत्पादकतयेत्यर्वाग्दशायां सर्वथा तदाश्रयणं न्याय्यमिति परमार्थः।" (तत्त्वा. १/३५ य. वृ.)

विरुद्धभाषणादेवेति। स्वसिद्धांतपरित्यागपूर्वं विरुद्धसिद्धान्ताश्रयेण विरुद्धभाषणाद् दुष्टत्वम्। अत एव ***अगस्त्य-सिंहसूरिणा चूर्णौ***- "जदि परवाती, एवं भणेज्जा - दो रासी जीवा अजीवा तत्थ भणितव्वं न याणसि, तिण्णी रासी। ततियं ठावेत्ता जिते भण्णति - बुद्धि तव परिभूता, दो चेव रासी" (द.वै.चू.पृ. २६) इत्युक्तम्।

वस्तुतस्तु स्याद्वादमाश्रित्य नयमतभेदेन त्रैराशिकमतस्थापनस्य न दुष्टत्वम्। तदुक्त ***मुत्तराध्ययनबृहद्वृत्तौ श्रीशान्तिसूरिणा*** - "समभिरूढो हि जीवदेशं नोजीवमिच्छन्नपि न राशिभेदमिच्छति। सर्वनयानामपि चैकमत्यमत्रार्थे, सर्वनयमतत्वे च जिनमतस्य किमेकतरमतेन? इच्छतु वा समभिरुढो देशं नोजीवं एकनयिकं तु तन्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वं तु सर्वनयमतानुराधेनेति।" (उत्तरा.अ.३.बृ.वृ.) इदमेवाभिप्रेत्य ***स्याद्वादकल्पलतायां*** "एकान्तमाश्रयत एव त्रैराशिकस्य नयान्तरेण निरासात्, सैद्धान्तिकैस्तु नयमतभेदेन तथाभ्युपगमात्" (स्या.क.स्त.७.श्लो. ३० वृत्ति) इत्यादिकं विस्तर-केण व्यवस्थापितमिति **दिक्**।

द्रव्यानुयोगाधिकृतप्रतिलोमतद्दोषे ***श्रीहरिभद्रसूरिभिः*** निर्युक्त्यनुसारेण पूव बौद्धधर्मानुयायिनो विज्ञाननिमित्त-प्रव्रजितस्य पश्चात् परावृत्तभावस्य सञ्जातमहावादिनो ***गोपेन्द्रवाचकस्या***ऽपि निदर्शनं प्रदर्शितम्।

तद्दोषतृतीयभेदमावेदयति - **आत्मोपन्यास** इति। **यत्र**=वक्तव्ये, **अनुपन्यसनीयः**=उपन्यासानर्हः, **आत्मा**=स्वदेहः स्वो वा, **एव उपन्यस्यते** इति। इदं लौकिकलोकोत्तरचरणकरणानुयोगोदाहरणापेक्षया ज्ञातव्यम्। द्रव्यानुयोगाधिकारा-पेक्षया तु येनोदाहरणेन परमतदूषणायोपात्तेनाऽऽत्ममतमेव स्वात्मा वा दुष्टतयोपनीयत इत्यर्थः कार्यः। **पिङ्गलस्थ-पतिरिति**। तटाकभेदे 'कथमिदं तटाकमभेदं भविष्यती'ति राज्ञा पृष्टः पिङ्गलाभिधानः स्थपतिरवोचत् - भेदस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निखाते सतीति। अमात्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वान्निखात इति तेनात्मैव दोषे नियुक्तः

*** द्रव्यानुयोग प्रतिलोम तद्दोष उपमान में दोषप्रदर्शन ***

समाधान :- अत्र चाद्ये. इति। आपकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम उदाहरण में साध्यार्थ की असिद्धि दोष है। आशय यह है कि द्रव्यार्थिक नय की युक्ति से प्रतिकूल युक्ति का पर्यायार्थिक नय के द्वारा उपन्यास कर के द्रव्यार्थिक नय को अप्रमाण किया नहीं जा सकता है और वैसे ही पर्यायार्थिक नय की युक्ति से विपरीत युक्ति दे कर द्रव्यार्थिक नय द्वारा पर्यायार्थिक नय को भी अप्रमाण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सब नय अपने अपने विषय में सत्य = प्रमाण होते हैं। अतः पर्यायार्थिक नय के द्वारा द्रव्यार्थिक नय में अप्रामाणिकता की स्थापना कर के अपने विषय की स्थापनारूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है तथा द्रव्यार्थिक नय के द्वारा पर्यायार्थिक नय में असत्यता की सिद्धिपूर्वक अपने विषय की स्थापनारूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। परवादिमत निरासपूर्वक स्व मत की सिद्धि = साध्यसिद्धि न होना ही तो वाद-विवाद में दोषरूप है। अतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय में परस्पर वाद-विवाद कराने का प्रतिपादन करना सदोष है।

द्वितीये च. इति। ठीक वैसे ही द्विराशि के निरसन के लिए त्रिराशि के स्थापन का प्रतिपादन भी सदोष है, क्योंकि दो राशियों के विरुद्ध एकांततः तीन राशि का प्रतिपादन शास्त्रविरुद्ध है। इसमें अपसिद्धान्त दोष आता है। अतः द्रव्यानुयोग में अधिकृत दोनों ही प्रतिलोम उदाहरण दोषवाले = दुष्ट ही हैं - यह सिद्ध होता है। इसके निरूपण के साथ-साथ तद्दोष के द्वितीय भेद प्रतिलोम का निरूपण समाप्त हुआ।

*** आत्मोपन्यास तद्दोष उदाहरण ३/३ ***

आत्मो. इति। अब विवरणकार तद्दोष के तृतीय भेद आत्मोपन्यास का उपन्यास करते हैं। यहाँ आत्मोपन्यास का तद्दोष उदाहरण अर्थ है। जिस स्थान में अपना उपन्यास करना न चाहिए वहाँ अपना ही उपन्यास साक्षात् या परंपरा से, जान-बूझ कर

चरणकरणानुयोगे नैवं ब्रूयात्, यदुत [1]"लोइयधम्मातो वि हु जे पब्भट्ठा नराधमा तेउ। कह दव्वसोयरहिया, धम्मस्साराहगा होंति।। त्ति ( ) द्रव्यानुयोगेऽपि नैवं प्रयुञ्जीत - एकेन्द्रिया जीवा व्यक्तोच्छ्वासादिलिङ्गत्वात्, व्यतिरेके घटवदिति, अत्र च न च तथैतेष्व-सद्भावस्तस्माज्जीवा एवैत इति। आत्मनोऽपि तद्रूपापत्त्याऽऽत्मोपन्यासत्वम्। उदाहरणदोषता चात्मोपघातजनकत्वेन, तच्चासाधा-रण्यादित्यवसीयते।३।

स्ववचनदोषात्। **दव्वसोयरहिया**। अत्रोदाहरणदोषता च यतीनां द्रव्यशौचरहितत्वेन श्रोतुस्तेषु धर्माराधकत्वाभावबुद्धि-जनकत्वात्। वस्तुतो द्रव्यशौचं शौचमेव न भवति कामांगत्वेन भावशौचाननुगुणत्वात्। भावशौचं तु दोषपरिहारादिक-मेव। तदुक्तं भविष्यपुराणे 'अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः। स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते।।' (भ. पु. १/२/१६०) तदुक्तं **मैत्रेय्युपनिषदि** 'शौचमिन्द्रियनिग्रहः' (मै.उ.२/२) इति। मनसो मलिनत्वे गङ्गास्नानादीनामपि शौचानापादकत्वं का पुनः सामान्यजलस्नानादीनां कथा? तदुक्तं ***जाबालदर्शनोपनिषदि*** 'चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्ना-नैर्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि।। (जा.द.५/५४) अत्र बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते विस्तरभयात्।

व्यतिरेक इति। ये जीवा न भवन्ति न तेषु व्यक्तोच्छ्वासादिलिङ्गसद्भावो यथा घटादिषु। **एतेषु** = एकेन्द्रियेषु। **आत्मनः** = वादिनः, **अपि**शब्दोऽवधारणार्थः। **तद्रूपापत्त्या** = पराजयाऽऽपत्त्येति। अयं भाव एकेन्द्रियेषु व्यक्तो-च्छ्वासादिजीवलिङ्गसद्भावो वादिनः स्याद्वादिनोऽपि नाऽभिमतः। अतो नास्तिकादिप्रतिवादिनं प्रत्येकेन्द्रियेषु जीवत्वसाधनार्थं तत्र व्यक्तोच्छ्वासादिलिङ्गसद्भावोपगमेऽपसिद्धान्तनिग्रहस्थानप्राप्तिप्रसङ्गः। **आत्मोपघातजनक-त्वेन** = प्रतिवादिपराजयोद्देशप्रयुक्तहेतुनैव वादिपराजयापत्तिरूपस्याऽऽत्मोपघातस्य जनकत्वेन। **तच्च** = आत्मोपघात-जनकत्वञ्च, **असाधारण्यात्** = तादृशहेतोः सर्वेषु जीवेषु साधारण्याभावात्, यद्वैकेन्द्रिय-साधारण्याभावात्, अनेन स्वरूपासिद्धिः प्रदर्शिता। दशवैकालिकवृत्तिटिप्पणे तु 'तद्रूपापत्त्या = एकेन्द्रियत्वापत्त्ये'ति लिखितम्। अत्र चा***ऽगस्त्यसिंहसूरिणा चूर्णौ*** "जहा कोति भणेज्ज - एगिंदिया जीवा, जम्हा तेसिं फुडो उस्सास-नीसासो (? ण) दीसति दिट्ठंतो घडो, घडस्स निज्जीवस्स उस्सासनिस्सासो नत्थि, तहा एगिंदियाणं उस्सास-निस्सासो नत्थि तम्हा। एवमाइ विरुद्धं ण भणितव्वं।" इत्युक्तं तत्सङ्गततरं भातीति विभावनीयम्।

अत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** तु - 'यथा सर्वे सत्त्वा न हन्तव्या'इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय कश्चिदाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या

या अनजान में हो जाय इसका प्रतिपादक उदाहरण। दुष्ट उदाहरण में इसका समावेश इसलिए है कि प्रस्तुत प्रसंग में वैसा प्रतिपादन करने से अपने सिर पर ही दोष आता है। यहाँ लौकिक आत्मोपन्यास में पिंगल नामक शिल्पी का उदाहरण है। संक्षेप में यह दृष्टांत इस तरह है कि - तालाब बार बार टूट जाने से राजा जब पिंगल नाम के शिल्पी से तालाब को अखंड रखने का उपाय पूछता है तब वह कहता है कि - जिसके मस्तक के, दाढी के, मूँछो के बाल और आँख आदि पीले हो, उसका बलिदान दिया जाय तब तालाब अखंडित रहेगा। नगर में अन्य वैसा पुरुष मिलना मुश्किल था और स्वयं पिंगल नामक शिल्पी पीले बाल आदि लक्षण से युक्त था। अतः प्रधान ने उसीका बलिदान दे दिया। इस तरह पिंगल शिल्पी ने अपने पाँव पर अपने आप कुल्हाडी मारने का प्रयास किया। यह लौकिक दृष्टांत हुआ। इस तरह चरण-करणानुयोग में अधिकृत लोकोत्तर आत्मोपन्यास में ऐसा कथन कि 'ये लोग द्रव्यशौच = स्नानादि से रहित होने से लौकिक धर्म से भी भ्रष्ट हैं वे नराधम क्या धर्म के आराधक हो सकते हैं?' - नहीं करना चाहिए, क्योंकि कामवासना के अंगभूत स्नानादि द्रव्यशौच के त्यागी एवं भावशौचवाले मुनिवर्ग के सिर पर ही धर्म की अनाराधकता का - नराधमत्व का दोष आयेगा। अतः जिसके बोलने से अपने उपर दोष आता हो वैसा वाक्यप्रयोग यति के लिए निषिद्ध है।

❋ द्रव्यानुयोग में आत्मोपन्यास ❋

द्रव्यानुयोग. इति। अब विवरणकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत आत्मोपन्यास तद्दोष का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि - जीवादि द्रव्यों के संबंध में ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिए, जो अपना ही घातक हो। जैसे - "एकेन्द्रिय जीव हैं क्योंकि वे व्यक्त श्वासोच्छ्वास

१ लौकिकधर्मादितोऽपि खलु ये प्रभ्रष्टा नराधमास्ते तु। कथं द्रव्यशौचरहिता धर्मस्याऽऽराधका भवन्ति।। इति

दुरुपनीतं च दुष्टनिगमनम्। तत्र लोके मत्स्यग्रहणपरो भिक्षुरुदाहरणं "कन्थाचार्य श्लथा ते" इत्यादिकाव्यादवसेयम्। चरणकरणानुयोगे तु - "[1]इय सासणस्सऽवन्नो, जायइ जेणं ण तारिसं बूया। वाए वि उवहसिज्जइ, णिगमणतो जेण तं चेव।। त्ति (　) द्रव्यानुयोगेऽपि -" [2]जीवचिंताए वादिणा तहा भणितव्वं वादे जेण ण जिप्पइ परवाइणत्ति।। (द. वै. जि. चू. पृ. ५४)।४।

विष्णुनेव दानघा इत्येवंवादिना आत्मा हन्तव्यतयोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति। तद्दोषता तु प्रतीतैवास्येति" इत्येवमुदाहरणं प्रदर्शितमिति **ध्येयम्**।

भिक्षुरिति। कश्चिद् भिक्षुः जालव्यग्रकरो मत्स्यबन्धाय चलितः केनचित् जालस्य कन्थात्वमाशङ्क्य किञ्चिदुक्तः, तेन च तस्योत्तरमसङ्गतं दत्तम्। अत्र च वृत्तम् - कन्थाऽऽचार्य! श्लथा ते, ननु शफरवधे जालम्, अश्नासि मत्स्यान्? ते मे मद्योपदंशान्, पिबसि ननु? युतो वेश्यया, यासि वेश्याम्?। कृत्वाऽरीणां गलेऽङ्घ्री क्व नु तव रिपवः? येषु सन्धिं छिनद्मि, चौरस्त्वं? द्यूतहेतोः, कितव इति, कथं? येन दासीसुतोऽस्मि।। इति। अत्र कन्था नाम। सूत्रग्रथितो जीर्णो वस्त्रखण्डो यद्वा तिर्यक्स्यूतबहुवस्त्रखण्डसमूहः। तदुक्तम् - त्यक्तं वस्त्रं गृहस्थेन, बहिः प्रक्षाल्य यत्नतः। सहस्त्रं डोरिकं दद्यात्कन्था सेत्यभिधीयते।। शेषं तु प्रश्नोत्तररूपेणाऽतिरोहितार्थमेवेति न तन्यते।

चूर्णौ त्वत्रेदमुदाहरणमेवमुक्तम् - "तच्चणिओ मच्छए मारिंतो रण्णा दिट्ठो भणितो - किं मच्छए मारेसि? भणति - अविलंको न सक्केमि पातुं। मज्जं पिएसी? भणति - महिला ढोयं ण देति। महिला वि ते? किं जातपुत्तभंड छड्डेमि? णं पुत्ता वि ते? किं ताइं? खत्तं खणामि! खत्तं पि खणसि? किं वा कम्मं खोट्टिपुत्ताणं? खोट्टिपुत्तो सिं? कुलपुत्तो को वा बुद्धसासणे पव्वयंति?" (द.वै.अ.चू.पृ. २७)

द्रव्यानुयोगेऽपि। ***जिनदासगणिमहत्तर***वचनं प्रदर्शयति - **जीवचिंताए** त्ति। शेषमतिरोहितार्थम्। अत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** तु - "यथा नित्यः शब्दो घटवत्। इह घटे नित्यत्वं नास्त्येवेति कुतस्तत्साधर्म्याच्छब्दस्य नित्यत्वमस्तु? अपि त्वनित्य-

आदि लिंगवाले हैं, जैसे कि विपक्ष में घट। अर्थात् यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति इस तरह है कि - जो व्यक्त श्वासादि चिह्नवाले नहीं होते हैं वे जीव नहीं होते हैं जैसे जड घट। घट में व्यक्त श्वास आदि नहीं है और वह जीव भी नहीं है। मगर एकेन्द्रिय ऐसे नहीं हैं क्योंकि उनमें व्यक्त श्वासादि लिंग का अभाव नहीं है। अत वे जीव ही हैं - यह सिद्ध होता है"। - यह प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रयोग से अपने में भी एकेन्द्रियपने की या अपने ही पराजय की आपत्ति आती है। इस तरह यह प्रयोग आत्मोपन्यासरूप है। असाधारण्य के कारण इस प्रयोग में आत्मोपघातजनकता होने से इस उदाहरण में दोष है - यह जान पडता है। इस तरह आत्मोपन्यास तद्दोष का व्याख्यान पूर्ण हुआ। यहाँ विशेष वक्तव्य मोक्षरत्ना से ज्ञातव्य है।

* दुरुपनीत तद्दोष उदाहरण ४/३ *

दुरुपनीतं. इति। तद्दोष का अंतिम भेद है दुरुपनीत, जिसका अर्थ है दुष्ट निगमन। अर्थात् जिस उदाहरण का उपसंहार सदोष हो वैसा उदाहरण दुरुपनीत सदोष उदाहरण कहा जाता है। यहाँ लौकिक दृष्टांत मत्स्यग्रहण में तत्पर बौद्ध भिक्षु का है। यह उदाहरण 'कन्था' इत्यादि श्लोक से प्रसिद्ध है, जिसमें बौद्ध भिक्षु से जो प्रश्न किये जाते हैं उनका प्रत्युत्तर वह गलत-सदोष देता है ऐसा वर्णन पाया जाता है। संक्षेप में वह उदाहरण इस प्रकार है कि बौद्ध भिक्षु जब मछली को पकडने के लिए जाता है तब उसके हाथ में मछली पकडने की जाल को देख कर किसीको उसमें कथडी की शंका हो जाती है और उसे बात करता है कि - आचार्य! आपकी कथडी बहुत शिथिल और टूटी फूटी है। तब वह कहता है कि - 'यह तो मत्स्य जाल है'। 'अरे! क्या तुम मछली खाते हो?' 'हाँ, कभी कभी दारु पीता हूँ तब उसके साथ मछली खाता हूँ'। 'अरे! क्या तुम दारु भी पीते हो? - 'ना, रोज नहीं, मगर कभी कभी वेश्या के वहाँ जाता हूँ तब पीता हूँ'। 'अरे, क्या तुम वेश्यागामी हो'? 'नहीं जनाब! रोज नहीं, कभी कभी दुश्मन को खतम कर के वेश्या के वहाँ जाता हूँ'। 'अरे! क्या तुम्हारे दुश्मन भी है'? 'हाँ, जिसके वहाँ चोरी करता हूँ-डाका डालता हूँ - वे मेरे दुश्मन हो जाते हैं'। 'क्या तुम चौरी भी करते हो?' 'नहीं, रोज नहीं, मगर जुआर में जब हार जाता हूँ तब चौरी कर

१ इति शासनस्याऽवर्णो जायते येन न तादृशं ब्रूयात्। वादेऽप्युपहस्यते निगमनतो येन तदेवेति।।

२ जीवचिन्तायां वादिना तथा भणितव्यं वादे येन न जीयते परवादिनेति।

उक्तं 'सभेदमुदाहरणदोषमुदाहरणम्।।३।।

उपन्यासः = तथाविधप्रतिकूलाभिप्रायपूर्व उदाहारः। स चतुर्द्धा, १तद्वस्तु-२तदन्यवस्तु-३प्रतिनिभ-४हेतूपन्यासभेदात्। तत्र वाद्युक्तमेव वस्त्वादाय उपन्यासस्तद्वस्तूपन्यासः।

तत्रोदाहरणम् - एकः कार्पटिको बहून् देशान् भ्रान्त्वा समागतः, अन्यैः कार्पटिकैराश्चर्यं पृष्ट उक्तवान् 'समुद्रतीरे एकत्र मया महान् महीरुहो दृष्टः, तस्यैका शाखा समुद्रे प्रतिष्ठिताऽन्या च स्थले ततः समुद्रे पतितानि फलानि जलचरा भवन्ति, स्थले पतितानि

त्वात् घटस्य तत्साधर्म्याच्छब्दस्याऽनित्यत्वमेवाऽनभिमतं सिध्यतीति साध्यानुपयोगीदमुदाहरणम्। तथा सन्तानोच्छेदो मोक्षो दीपस्येवेत्यभ्युपगमे दीपदृष्टान्तादनादिमतोऽपि सन्तानस्याऽवस्तुता प्रतीयते। तथाहि - दीपस्यात्मनश्च सन्तानोच्छेद उत्तरक्षणाऽजनकत्वात्। तत्त्वे चार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वाभावादन्त्यक्षणस्याऽवस्तुत्वम्, अवस्तुत्वजनकत्वात् पूर्वक्षणस्यापि, तत एव पूर्वतरस्यापीत्येवं समस्तस्याऽपि सन्तानस्याऽवस्तुत्वम्। **अथ** क्षणान्तरानारम्भेऽपि स्वगोचरज्ञानजननलक्षणार्थक्रियाकारित्वादन्त्यक्षणो वस्तु भविष्यति, **नैवम्**, एवं हि भूतभाविपर्यायपरम्पराऽपि योगिज्ञानं स्वविषयमुत्पादयतीति वस्तुत्वं स्वीकुर्यात्, तत्र क्षणान्तरानारम्भे वस्तुत्वमित्यतो भवति दीपज्ञातं स्वमतदूषणावहमिति। **अथवा** अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति वक्तव्ये सम्भ्रमादनित्यो घटः कृतकत्वाच्छब्दवदिति वदतो दुरुपनीतं विपर्ययोपनयनादिति" (स्था. ४/३/३३८ वृ.) एवमुक्तमिति **ध्येयम्**।

उपन्यासचतुर्थभेदमाह - **उपन्यास** इति। व्यक्तप्रायम्। **तूष्णीम्भूत** इति अत्र वाद्युक्तमेव तरुफलपतनवस्तु गृहीत्वा तदुक्तविघटनात्तद्वस्तुत्वं ज्ञेयम्। अस्योदाहरणत्वं समर्थयता ***स्थानाङ्गवृत्तिकारेण*** कथितम् - "ज्ञातत्वं चास्य ज्ञातनिमित्तत्वात् अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेतत्। तथाहि एवं प्रयोगोऽस्य, जल-स्थल-पतितपत्राणि न जलचरादिसत्त्वाः सम्भवन्ति, जलस्थलमध्यपतितपत्रवत्, तन्मध्यपतितपत्राणां हि जल-स्थलपतितपत्रजलचरत्वादिप्राप्तिवदुभयरूपप्रसङ्गः, न चोभयरूपाः सत्वा अभ्युपगता इति।" (स्था. ४/३/३३८) इदं चोपलक्षणं 'गौस्त्वमि'त्युक्तस्य-'किं गवि गोत्वमुतागवि गोत्वम्, चेद्गवि गोत्वमनर्थकमेतत्। भवदभिलषितमगोरपि गोत्वं, भवति भवत्यपि सम्प्रति गोत्वम्'।।

लेता हूँ'। 'अरे! तुम जुगारी हो'? 'हाँ, मैं दासीपुत्र हूँ इसलिए जुआ खेलता हूँ'। - इस दृष्टान्त में बौद्ध भिक्षु प्रत्येक प्रश्न का उपसंहार सदोष करता है। इस लौकिक दृष्टांत को जान कर जिस तरह बोलने से जिनशासन की हीलना हो और जिसका उपसंहार करने पर वाद में लोग जैन साधु का उपहास करे वैसा नहीं बोलना चाहिए - यह लोकोत्तर चरण - करणानुयोगाधिकृत दुरुपनीत तद्दोष उदाहरण है। द्रव्यानुयोग के अधिकार में भी - जीव द्रव्य विषयक वाद में ऐसा कथन प्रतिपादन करना चाहिए कि जिससे परवादी अपने को हरा न सके। अर्थात् जिस प्रकार के वचन से प्रतिवादी के उपर विजय प्राप्त हो ऐसा बोलना चाहिए। इस तरह तद्दोष दुरुपनीत उदाहरण का विवरण पूर्ण हुआ। इसके साथ-साथ ही उपमान के तृतीय भेद तद्दोष उदाहरण = दुष्ट उदाहरण का विवेचन भी पूर्ण हुआ।

❋ उपन्यास उदाहरण ४ ❋

उप. इति। अब व्याख्याकार श्रीमद् उपमान के चतुर्थ भेद उपन्यास का निरूपण करते हैं। उपन्यास का अर्थ है - तथाविध प्रतिकूल अभिप्राय पूर्वक बताये जानेवाला उदाहरण। उपन्यास उदाहरण के चार भेद हैं। (१) तद् वस्तु उपन्यास, (२) तदन्य वस्तु उपन्यास, (३) प्रतिनिभ उपन्यास, (४) हेतु उपन्यास। तद्वस्तु उपन्यास उसे कहा जाता है जिस उदाहरण में वादी जिस चीज का कथन करता है उसी वस्तु का प्रतिवादी के द्वारा वादी के अभिप्राय से प्रतिकूल अभिप्राय पूर्वक उपन्यास हो। तद्वस्तु उपन्यास के लौकिक उदाहरण को स्वयं विवरणकार ही संक्षेप से बता रहे हैं कि - एक संन्यासी अनेक देश में घूम कर एक गाँव में आता है तब अन्य इकट्ठे हुए संन्यासी नये संन्यासी से पूछते हैं कि - 'भाग्यशाली! आपने अनेक देश में घूमते घूमते कुछ आश्चर्य देखा है?' तब यह नया संन्यासी कहता है कि - "समुद्र के तट पर मैंने एक बडे वृक्ष को देखा था जिसकी एक शाखा समुद्र में प्रतिष्ठित थी और दूसरी शाखा स्थल = भूमि में। विशेषता यह थी कि - उस वृक्ष की शाखा से जो फल समुद्र में गिरते थे वे जलचर प्राणी

१ मुद्रितप्रतौ च - 'सभेदमुदाहरणम्' इति पाठः।

च स्थलचरा' इति। तदिदमाकर्ण्य श्राद्धकार्पटिकेनोक्तं यान्यर्धमध्यपतितानि तानि किं भवन्तीति? तूष्णीम्भूतः कार्पटिक इति लोके। चरणकरणानुयोगे तु यदि कश्चिद्विनेयः कञ्चिदसद्ग्रहं गृहीत्वा न सम्यग् वर्त्तते स खलु तद्वस्तूपन्यासेनैव प्रज्ञापनीयः, यथा कश्चिदाह - न मांसभक्षणे दोषः, न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला।।१।। ( ) इदं च किलैवमेव युज्यते, प्रवृत्तिमन्तरेण निवृत्तेः फलाभावान्निर्विषयत्वेनाऽसम्भवाच्च। [1]तस्मात् फलनिबन्धननिवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रवृत्तिरप्यदुष्टैवेति।

इति दत्तोत्तरस्य प्रत्युत्पन्नमतेः पुरुषस्य।

मद्ये = मधुनि पीयमान इति गम्यते। **मैथुने**, क्रियमाणे इति गम्यते। **एवमेव** = यथोक्तमेव। **फलाभावा**दिति। प्राप्तिपूर्वको हि निषेधः सफलो भवति न त्वप्राप्तिपूर्वकः, अप्रसक्ते निषेधाभावात्, अन्यथा गगनभक्षणनिवृत्तेरपि सफलत्वं प्रसज्येत। अतो मांसभक्षणप्रवृत्तिः स्वविषयकनिवृत्तेः सफलत्वसम्पादकतया निर्दोषेति भावः। **निर्विषयत्वेनेति** निर्विषयत्वापत्त्येत्यर्थः। **असम्भवाच्चेति**। निवृत्तेरित्यत्राऽप्यनुषज्यते। अयं भावः, निवृत्तेः सविषयकपदार्थत्वात् विषयस्याऽसत्त्वे निवृत्तिपदप्रतिपाद्यस्याऽसम्भवात्। गगनवत् मांसं यद्यभक्षणीयं स्यात्तदा मांसभक्षणनिवृत्तेरसम्भवः स्यात् गगनभक्षणवत् मांसभक्षणस्याऽप्यप्रसिद्धिप्रसक्तेरिति। अतो मांसभक्षणात्मकप्रवृत्तिः स्वविषयकनिवृत्तेः सत्त्वसम्पादकतयाऽपि निर्दोषेति हृदयम्। इदमेवाह **फलनिबन्धने**ति। भावितार्थमेव।

*समाधत्ते-**तत्रोच्यत** इत्यादिना। **कथमिति**। मांसभक्षणादिनिवृत्तेर्दुष्टप्रवृत्तिपरिहारात्मकत्वरूपाऽऽद्यपक्षस्वीकारे* मांसभक्षणादिरूपप्रवृत्तेः दुष्टत्वमकामेनाऽपि स्वीकर्त्तव्यमिति भावः। **अदुष्टनिवृत्तिपरिहारात्मकप्रवृत्तेरपीति**। अदुष्टविषयकपरिहारात्मकत्वेन यदि महाफलत्वं तदा मांसभक्षणादिनिवृत्तिरूपादुष्टविषयकपरिहारात्मकत्वेन मांसभक्षणादिप्रवृत्तेरपि महाफलत्वं प्रसज्येत। **न च** मांसभक्षणादिनिवृत्तेरदुष्टत्वमसिद्धमिति **वाच्यम्** तस्या महाफलजनकत्वेनाऽदुष्टत्वस्य न्याय्यत्वात्, अन्यथा वदतो व्याघातः प्रसज्येत। अपिना यत्याश्रमादिनिवृत्तेरपि महाफलत्वप्रसङ्गापादनं सूचितम्। तदुक्तं ***हारिभद्रवृत्तौ*** "निवृत्तेरप्यदुष्टत्वात् तन्निवृत्तेरपि प्रवृत्तिरूपाया महाफलत्वप्रसङ्ग" इति। **पूर्वापरविरोध** इति। तस्य केवलं मांसभक्षणादेर्निर्दोषत्वमभिप्रेतं न तु महाफलजनकत्वमपि, द्वितीयविकल्पस्वीकारे च मांसभक्षणादौ महाफलजनकत्वमपि सिध्यतीति विरोधः। तदुक्त***मष्टकप्रकरणवृत्तौ श्रीजिनेश्वरसूरिणा*** -

हो जाते थे और जो फल भूमि पर गिरते थे वे स्थलचर प्राणी हो जाते थे"। तब एक श्रावक ने, जो कि वहाँ सन्यासी के वेश में उपस्थित था और अक्ल का पुतला था, सन्यासी की धोती ढीली करने के लिए एक प्रश्न किया कि - 'जो फल समुद्र और भूमि के मध्य में गिरते थे वे क्या होते थे?' प्रश्न को सुनते ही सन्यासी चुप-चाप वहाँ से रफूचक्कर हो गया। यहाँ श्रावक ने संन्यासी से प्रस्तुत की गई वस्तु का अवलम्बन कर के ही संन्यासी को मूक कर दिया। यह तद्वस्तु उपन्यास का लौकिक उदाहरण है।

❋ चरणकरणानुयोगाधिकृत तद्वस्तूपन्यास उदाहरण १/४ ❋

चरण. इति। अब विवरणकार चरण-करणानुयोग में अधिकृत तद्वस्तु उपन्यास के लोकोत्तर दृष्टांत को बताते हुए कहते हैं कि - यदि कोई शिष्य कदाग्रहग्रस्त हो कर सम्यक् वर्तन न करे, तब तद्वस्तु उपन्यास से यानी उसके द्वारा प्रदर्शित हेतु का विपरीत तर्क से ग्रहण कर के अपनी ओर से प्रदर्शन कर के उसको समझाना चाहिए। जैसे कि कोई शिष्य बोले कि - "मांस - भक्षण या मद्यपान या मैथुनसेवन में कुछ भी दोष नहीं है, क्योंकि यह जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। हाँ, यदि मांसभक्षण आदि की निवृत्ति करे तो उसका महान फल उसे प्राप्त होता है, मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि मांसभक्षण आदि में प्रवृत्त जीव सदोष है या इसकी प्रवृत्ति दुष्ट है'। यह वचन युक्त ही है, क्योंकि प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति का कुछ फल मिलता नहीं है। आशय यह है कि जिसमें प्रवृत्ति हो सके उसकी निवृत्ति का कुछ न कुछ फल हो सकता है। जिसमें प्रवृत्ति ही कभी संभवित नहीं है उसकी निवृत्ति का फल क्या हो सकता है? अन्यथा गगनभक्षण की निवृत्ति का फल सबको अनायास ही प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि गगनभक्षणनिवृत्ति सदा के लिए हैं ही। मगर किसीको भी गगनभक्षणनिवृत्ति का फल प्राप्त नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि जिसमें प्रवृत्ति संभव हो उसीकी निवृत्ति से कुछ फल प्राप्त हो सकता है। इस जगत में मांसभक्षण में कुछ लोग प्रवृत्ति करते हैं, तब मांसभक्षण की निवृत्ति

१ कप्रतौ - 'तस्मात्' पदं नास्ति।

'**तत्रोच्यते** - इह निवृत्तेर्महाफलत्वं किं दुष्टप्रवृत्तिपरिहारात्मकत्वेन आहोस्विददुष्टप्रवृत्तिपरिहारात्मकत्वेन? आद्ये कथं प्रवृत्तेर-दुष्टत्वम्? अन्त्ये चाऽदुष्टनिवृत्तिपरिहारात्मकप्रवृत्तेरपि महाफलत्वप्रसङ्गेन पूर्वापरविरोध इति। न मांसभक्षणेऽदोष इत्यत्र नञः[२] प्रश्लेषः कर्तव्यः, यतो भूतानां = जीवानां, एषा प्रवृत्तिः = उत्पत्तिस्थानम्, भूतानां = पिशाचप्रायाणां वा एषा प्रवृत्तिर्न तु विवेकिनामिति व्याख्येयम्।

"ननु निवृत्तिर्निरवद्याद्वस्तुनो विधीयमाना महाफला सावद्याद्वा? यदि निरवद्यात्तदा यत्याश्रमादेरपि निवृत्तिरङ्गी-कर्तव्या, तस्य निरवद्यत्वात्। न चैतदिष्टम्। अथ द्वितीयपक्षस्तदा मांसभक्षणस्य सावद्यत्वेन सदोषताप्राप्तेरिति।" (अष्ट. प्र. १८/८ वृ.)।

किञ्च मांसभक्षणादिनिवृत्तेर्महाफलत्वानुपपत्त्यैव मांसभक्षणादेरनिष्टसाधनत्वोन्नयनात्तत्र दुष्टत्वमव्याहतप्रसरम्।

किञ्च मांसशब्दार्थविभावनेनैव तद्भक्षणस्य दुष्टत्वं प्रतीयते, तदुक्तं **मनुना** - 'मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांस-मिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।। (म. स्मृ. ५/५६)

प्रश्लेषः = अनुक्तशब्दस्य प्रवेशः। कदाचित्परस्य प्रवृत्तिशब्दस्योत्पत्तिस्थानार्थकत्वे विप्रतिपत्तिरस्वरसो वा स्यादित्याशयेन **वाकारेण** कल्पान्तरः प्रसिद्धार्थकः प्रदर्शितः। **एतेन *ज्ञानसिद्धिकारस्येन्द्रभूतेः*** "नरश्वहयगोदीपं,

सफल हो सकती है। अतः मांसभक्षणादिरूप प्रवृत्ति अपनी निवृत्ति को सफल बनाने का काम करने से निर्दोष है - यह सिद्ध होता है।

निर्विषयत्वेन इति.। इसके अतिरिक्त बात यह है कि निवृत्ति अभावरूप होने से सविषयक = सप्रतियोगिक ही होती है, निष्प्रतियोगिक नहीं। अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी असत् होता है, उसकी निवृत्ति = अभाव भी असंभव है। नरपुच्छभक्षण की निवृत्ति कभी सुनी नहीं है, क्योंकि नरपुच्छ अप्रसिद्ध होने के कारण नरपुच्छभक्षण भी असत् है तब उसकी निवृत्ति कैसे संभवित है? यदि मांसभक्षण आदि में प्रवृत्ति ही न होती तब तो मांसभक्षण आदि ही असत् होने से उसकी निवृत्ति भी असंभवित हो जायेगी, क्योंकि तब निवृत्ति निष्प्रतियोगिक = निर्विषयक यानी असद्विषयक हो जाने से अपने स्वरूप को ही नहीं पायेगी। इस आपत्ति का निवारण करने के लिए मांसभक्षण आदि का प्रसिद्ध होना जरूरी है। वह तभी संभव है यदि कोई मांसभक्षण आदि में प्रवृत्ति करे। इस तरह मांसभक्षण आदि की निवृत्ति की, जिसका फल महान है, संभावना में निमित्त होने से मांसभक्षणादि दुष्ट कैसे होगे? अर्थात् मांसभक्षणादि निर्दोष ही है" -

❋ मांसभक्षणादि सदोष है ❋

तत्रोच्यते. इति। तब शिष्य को सन्मार्ग पर लाने के लिए उसे प्रश्न करना चाहिए कि - 'मांसभक्षणादि की निवृत्ति १ क्या दुष्ट प्रवृत्ति के परिहाररूप होने से महान फल की जनक है या २ अदुष्ट प्रवृत्ति के परिहाररूप होने से? प्रश्न का आशय यह है कि निवृत्ति का, जिससे महान फल आदि की प्राप्ति होती है, विषय क्या सदोष है या निर्दोष? यदि इनमें से प्रथम विकल्प का स्वीकार किया जायेगा तब तो मांसभक्षणादिरूप प्रवृत्ति निर्दोष कैसे सिद्ध होगी? क्योंकि मांसभक्षणआदिरूप दुष्ट प्रवृत्ति का परिहाररूप होने से मांसभक्षणादि की निवृत्ति महान फल का निमित्त है - ऐसा आपने स्वयं स्वीकार कर लिया है। अर्थात् 'जिसकी निवृत्ति से महान फल की प्राप्ति होती है उस निवृत्ति का विषय सदोष है' इस विकल्प के स्वीकार में तो निवृत्ति के विषयभूत मांसभक्षणादि के प्रवर्त्तन में सदोषता का स्वीकार ही फलित होता है।

अन्त्ये च. इति। यदि दूसरे विकल्प का स्वीकार किया जाय, तब तो मांसभक्षण की प्रवृत्ति भी, जो कि आपको सिर्फ निर्दोषरूप से अभिप्रेत है न कि महान फल के संपादकरूप से, महान फल की संपादक हो जायेगी; क्योंकि मांसभक्षण की निवृत्ति आपके अभिप्राय के अनुसार महान फल की जनक होने से निर्दोष ही सिद्ध होती है और निर्दोष मांसभक्षणादिनिवृत्ति के परिहार रूप होने से मांसभक्षणादि की प्रवृत्ति भी महान अभ्युदय का कारण कहलायेगी, जो आपको भी इष्ट नहीं है। साथ-साथ आपके वचन में पूर्वापर विरोध भी आयेगा, क्योंकि आपने यह प्रतिज्ञा की है कि 'मांसभक्षणादि प्रवृत्ति सिर्फ निर्दोष है और उसकी निवृत्ति महान अभ्युदय की जनक है' - और द्वितीय विकल्प के स्वीकार से 'मांसभक्षणादि प्रवृत्ति महान अभ्युदय की जनक है' यह सिद्ध हुआ

१ मुद्रितप्रतौ - अत्रो. इति पाठः। २ मुद्रितप्रतौ - 'नञ(अप्र)श्लेष' इति पाठः।

द्रव्यानुयोगे त्वेकान्तनित्यो जीवः, अमूर्त्तत्वात् आकाशवदिति प्रयोगे कर्मवदमूर्त्तत्वेऽनित्यः[1] स्यादिति। एवं व्यभिचारोदाहरणात्तु कर्म अमूर्त्तमनित्यं चेत्ययं वृद्धदर्शनेनोदाहरणदोष एव, यथाऽन्येषां साधर्म्यसमा जातिरिति ध्येयम्।१।

करिणां गर्दभस्य च। भक्षयेत् तत्त्वसिद्ध्यर्थं सर्वसंकल्पवर्जितम्।। (ज्ञा.सि. १/१३) इति वचनं, तथा **प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धिकृतः** "गम्यागम्यादिसङ्कल्पं नात्र कुर्यात् कदाचन। मायोपमादियोगेन भोक्तव्यं सर्वमेव हि।। (प्र.वि.सि. ४/१६) इति वचनं, च **निरस्ते** वेदितव्ये, महामोहविलसितत्वेन तथाप्रवृत्तेर्बलवदनिष्टानुबन्धित्वाच्च। **एतेन** मांसभक्षणादिप्रवृत्तेः स्वविषयकनिवृत्तेः सत्त्व-सफलत्वसम्पादकतया निर्दुष्टत्वं **निरस्तम्**, एवमेव पापकर्मणोऽपि स्वविषयकध्वंसादेः सत्त्व-सफलत्वसम्पादकतया देवानाम्प्रियस्य निर्दुष्टत्वप्रसङ्गाच्च। न चैतद्दृष्टमिष्टं वेति। ततश्च यं प्रति यद्विषयकनिवृत्तेर्महाफलत्वं तं प्रति तस्य सदोषत्वमिति स्थितम्। तेन न कोऽप्यतिप्रसङ्ग इति विभावनीयम्।

कर्मवदिति। उत्क्षेपणादिकर्मवदमूर्त्तत्वेन जीवोऽनित्यः स्यादिति प्रतिकूलाभिप्रायेण प्रयोग इति भावः। **व्यभिचारोदाहरणादिति**। उत्क्षेपणादौ कर्मणि हेतोरमूर्त्तत्वस्य सत्त्वेऽपि नित्यत्वस्य साध्यस्याऽभावेन हेतोर्व्यभिचारित्वं, साध्याभाववद्वृत्तित्वस्याक्षत्वात्। **वृद्धदर्शनेनेति** ***जिनदासगणिमहत्तरादि***मतेन, तदुक्तं ***चूर्णौ*** "जं अरूवि तं निच्चं भवइ-तं कहं? उक्कोचण-आउंटण-पसारण-गमणादीणि कम्माणि, ताणिवि अरूवीणि अह अपुव्वाणि (? अणिच्चाणि), तम्हा अणेगंतिगो एस हेउत्ति।" ***अगस्त्यसिंहसूरिणा*** त्वनिष्टापादनपूर्व व्यभिचारप्रदर्शनं कृतम्। यथा - "जति अरूवित्तं णिच्चत्तणे कारणं बुद्धिरपि ते णिच्चा आवण्णा, ण य तदत्थि, तम्हा अणेगंतितो हेतू।" इति। **अन्येषां** = नैयायिकानाम्। **साधर्म्यसमा जाति**रिति। अस्य च "कर्मवदमूर्त्तत्वेऽनित्यः स्यादितीत्यनेनाऽन्वय इति सूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम्। उदाहरणदोष एवेत्यनेन सहाऽन्वयस्तु न कर्तव्यः, साधर्म्यसमजातेरुदाहरणदोषत्वाभावात्, तत्र साधर्म्यसमलक्षणस्यासत्त्वाच्च। साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमजातिरिति। तदुक्तं ***गौतमीयन्यायसूत्रे*** "साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्य-वैधर्म्य समौ" (न्या.सू. १/३/२) इति। न चास्ति विशेषहेतुरत्र येन गगनसाधर्म्यान्नित्यो जीवो न पुनः कर्मसाधर्म्यादनित्य इति।

है। विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्!

'प्रश्लेष. इति'। इसके अतिरिक्त बात यह है कि - 'न मांसभक्षणे दोषः' इत्यादि पद्य में नञ् का यानी निषेधसूचक शब्द का प्रयोग करने से ही अर्थ की संगति होती है। तब पद्य का आकार ऐसा होगा कि - न मांसभक्षणेऽदोषः इत्यादि। तब पद्य का अर्थ यह होगा कि - मांसभक्षण, मद्यपान और मैथुनसेवन में दोष नहीं है ऐसा नहीं अर्थात् अवश्य दोष है, क्योंकि मांस आदि भूत यानी जीवों की उत्पत्ति का स्थान है। अतः मांसभक्षणादि सदोष ही है। या तो हम पद्य के उत्तरार्ध का ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं कि मांसभक्षणादि भूतों की यानी पिशाच-राक्षसादि समान जीवों की प्रवृत्ति है, विवेकी पुरुषों की नहीं। अतः सिर्फ अशिष्ट पुरुषों की प्रवृत्ति होने से मांसभक्षण आदि सदोष है - यह सिद्ध होता है" - इस तरह श्लोक का व्याख्यान कर के कदाग्रहाविष्ट शिष्य से उपन्यस्त श्लोक का ही आलंबन ले कर उसको समझाना - यह चरणकरणानुयोग में अधिकृत तद्वस्तूपन्यास का उदाहरण है।

* द्रव्यानुयोग में तद्वस्तु उपन्यास *

द्रव्यानु. इति। अब विवरणकार द्रव्यानुयोग में अधिकृत यानी जीवादि द्रव्य संबंधी व्याख्या के अधिकार में तद्वस्तु उपन्यास के उदाहरण का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं कि यदि परवादी ऐसा प्रयोग करे कि - 'जीव एकान्तनित्य है क्योंकि अमूर्त्त है। जो अमूर्त्त होता है वह एकान्तनित्य होता है जैसे कि आकाश' - तब उससे प्रदर्शित हेतु का ही विपरीत अभिप्राय से ग्रहण कर के उसके दाँत खट्टे कर देने चाहिए कि - 'जीव अनित्य है, क्योंकि वह अमूर्त्त है। जो अमूर्त्त होता है वह अनित्य होता है जैसे कि उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि कर्म (क्रिया)'। यह तद्वस्तु उपन्यास हुआ। श्रीजिनदासगणिमहत्तर के अभिप्राय से तो यहाँ व्यभिचारदोष के उद्भावन से उदाहरणदोष ही है। व्यभिचारदोष उद्भावन इस तरह है कि - 'उत्क्षेपण-गमनादि क्रिया में अमूर्त्तत्वरूप हेतु रहता है फिर भी एकान्तनित्यत्व, जो कि वादी को साध्यरूप से इष्ट है, वहाँ नहीं रहता है। इस तरह साध्याभाव के अधिकरण में रह

१ 'त्वं' इत्यशुद्धः पाठः मुद्रितप्रतौ।

तदन्यवस्तूपन्यासस्तुल्यवस्त्वन्तराश्रयणेन यथा पूर्वोदाहरण एव - यानि पुनः फलानि पातयित्वा कश्चिद्भक्षयति गृहे नयति वा तानि किं भवन्तीति लोके। चरणकरणानुयोगे तु न [1]'मांसभक्षण इत्यादौ यथाश्रुत एव कुग्रहे 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि (छान्दो. उप.

वस्तुतस्त्वत्र नैयायिकप्रयोगे सर्वथाऽमूर्त्तत्वस्य संसारिजीवेष्वसत्त्वेन पक्षैकदेशासिद्धिः, साध्यविकलश्च दृष्टान्तः, कर्मणा हेतुरनैकान्तिक इत्यादिदूषणप्रदर्शनं कर्त्तव्यं न तु जातिप्रयोगः कर्त्तव्यः। तदुक्तं ***प्रमाणमीमांसायां*** - 'सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं, न प्रतीपं जात्युत्तरैरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्यप्रसङ्गादिति" (प्रमा. मी. २/१/२९ वृत्ति)।

अत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** तु - "अकर्ताऽऽत्माऽमूर्त्तत्वादाकाशवदित्युक्ते अन्य आह- आकाशवदेवाऽभोक्तेत्यपि प्राप्तमनिष्टं चैतदिति। यथा वा मांसभक्षणमदुष्टं प्राण्यङ्गत्वादोदनादिवत्, अत्राऽऽहाऽन्यः - ओदनादिवदेव स्वपुत्रादिमांसभक्षणमप्यदुष्टमिति। यथा वा त्यक्तसङ्गा वस्त्रपात्रादिसङ्ग्रहं न कुर्वन्ति ऋषभादिवत् अत्राऽऽह-कुण्डिकाद्यपि ते न गृह्णन्ति तद्वदेवेति। तथा कस्मात्कर्म कुरुषे? यस्माद् धनार्थीति। इह प्रथमं ज्ञातं समग्रसाधर्म्यं, द्वितीयं देशसाधर्म्यं, तृतीयं सदोषं चतुर्थं प्रतिवाद्युत्तररूपमित्ययमेषां स्वरूपविभाग" इत्यप्युक्तमिति सूचनाय ध्येयमित्युक्तम्।

किं भवन्तीति। न किञ्चिदित्यर्थः। ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** तु "अयमपि ज्ञापकतया ज्ञातमुक्तः, अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेषः। तथाहि - न जलस्थलपतितानि पत्राणि जलचरादिसत्त्वाः सम्भवन्ति, मनुष्याद्याश्रितानीव। अयमभिप्रायो यथा जलाद्याश्रितत्वात् जलचरादितया तानि सम्पद्यन्ते तथा मनुष्याद्याश्रिततया मनुष्यादिभवयूकादितयाऽपि सम्पद्यन्ताम्, आश्रितत्वस्याऽविशेषात्। न च तानि तथाऽभ्युपगम्यत इति जलादिगतानामपि जलचरत्वाद्यसम्भव" इत्यधिकं व्याख्यातम्। वाद्युपन्यस्तवस्तुनः फलपतनादन्यवस्तुनः फलभक्षणादेरुपन्यासात् तदन्यवस्तूपन्यासत्वं विभावनीयम्।

जाने से वह हेतु व्यभिचारी = व्यभिचारदोषग्रस्त है। पूर्व में हमने जो बताया कि - गमनादि क्रिया की तरह अमूर्त होने से जीव अनित्य होगा - वह नैयायिक दर्शन के अभिप्राय से साधर्म्यसमजातिस्वरूप है। द्रष्टान्त के साधर्म्य से प्रत्यवस्थान = विपरीत तर्क लगाना यह साधर्म्यसम जाति है। गमनादि क्रिया रूप द्रष्टांत के साधर्म्य से जीव में अनित्यत्व का आपादन करने से उसमें साधर्म्यसम जाति का लक्षण ठीक तरह संगत होता है। इस विषय में शांति से सोचने की सूचना कर के विवरणकार तद्वस्तूपन्यास के व्याख्यान को जलांजलि देते हैं।

❋ तदन्यवस्तु उपन्यास २/४ ❋

तदन्य. इति। पुनरुपन्यास के द्वितीय भेद तदन्यवस्तु उपन्यास का उपन्यास करते हुए विवरणकार कहते हैं कि - वादी से प्रदर्शित वस्तु से भिन्न तथा उसके तुल्य वस्तु का उपन्यास जिस उदाहरण में किया जाता है, वह तदन्यवस्तूपन्यास उपमान कहा जाता है। इसमें लौकिक उदाहरण संन्यासी का है, जो कि तद्वस्तु उपन्यास के लौकिक उदाहरण में प्रदर्शित किया गया था। उसमें विशेषता इतनी है कि - संन्यासी से उपन्यस्त फलपतनरूप वस्तु से अन्य वस्तु का उपन्यास करना। जैसे कि - कोई मनुष्य उस पेड के फल को गिरा कर खा जाता है या घर ले जाता है उसका क्या होता है? अब यहाँ संन्यासी कुछ भी बोल न सकेगा, क्योंकि भूमिपतन और जलपतन को छोड कर अन्य भक्षण-नयन आदि वस्तु के संबंध में उसके पास कोई युक्ति ही नहीं है। अतः पूर्व में जो कहा था कि - जो फल भूमि पर गिरता है वह स्थलचर प्राणी होता है और जो पानी में गिरता है वह जलचर प्राणी बनता है - वह भी निर्युक्तिक हो जायेगा।

❋ चरणकरणानुयोग में तदन्यवस्तूपन्यास ❋

चरण. इति। चरण-करणानुयोग के अधिकार में तदन्यवस्तु उपन्यास का उदाहरण - 'न मांसभक्षणे' इत्यादि वचन के सामने विरोधी अन्य वचन का उपन्यास करना - यह है। जैसे कि 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' अर्थात् किसी प्राणी की हत्या नहीं करनी चाहिए। आशय यह है कि - परवादी 'न मांसभक्षणे दोष' इत्यादि शास्त्र वचन को बताता है तब उसके सामने उससे विरुद्ध अन्य शास्त्रवचन बताना चाहिए कि - तब 'न हिंस्यात्' उस शास्त्रवचन का अर्थ क्या होगा? इसकी संगति कैसे होगी? इस तरह पापवचन = सावद्यवचन का परिहार करना यह चरणकरणानुयोग में अधिकृत तदन्यवस्तु उपन्यास का उदाहरण है।

१ मुद्रितप्रतौ तु - 'मांस इत्यादौ' इति पाठः।

अध्या. ८) इति वचनान्तरोपन्यासेन परिहारः। द्रव्यानुयोगे तु कश्चिद्वदेत् - यस्य वादिनोऽन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमिति, तस्याऽन्यशब्दस्याऽविशिष्टत्वात्तयोरपि तद्वाच्यतयाऽविशेषादेकत्वप्रसङ्ग इति - तं प्रत्येवं तदन्यवस्तूपन्यासो विधेयः, 'हन्त! एवं परमाणु-द्व्यणुक-घट-पटादीनामेकत्वप्रसङ्गः, अन्यशब्दवाच्यत्वाऽविशेषात्, तस्माज्जीवशरीरयोरन्यत्वाभिधानं शोभनमेवेति।२।

वचनान्तरोपन्यासेनेति। विपरीतवचनोपन्यासेनेति। इदं चोपलक्षणम् 'अस्थ्नि वसति रुद्रश्च, मांसे वसति जनार्दनः। शुक्रे वसति ब्रह्मा च, तस्मान्मांसं न भक्षयेत्।।' [ ]इत्यादेः। तथा - अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च। तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः।।' [ ] इत्यत्र कुग्रहे-' अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। स्वर्ग गतानि राजेन्द्र! अकृत्वा कुलसन्ततिम्'।। [ ] इति वचनान्तरोपन्यासः कार्यः। एवम् 'पुंनाम्नो नरकाद्यस्मात्, त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः, स्वयमेव स्वयंभुवा।। [ ] इत्यत्र कदाग्रहे - "कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न च धार्मिकः।" [ ] इत्याद्यन्यशास्त्रवचनोपन्यासः कार्यः।

तस्य = वादिनः, **अविशिष्टत्वात्** = अभिन्नत्वात्, **तयोः** = जीवशरीरयोः, **तद्वाच्यतया** = अन्यशब्दवाच्यत्वेन रूपेण, **अविशेषात्** = अभिन्नत्वात्, वाचकाभेदे वाच्याभेदो वाचकभेदस्य वाच्यभेदव्यापकत्वेन व्यापकाभावाद्व्याप्याभावसिद्धिरिति परस्याशयः। **तदन्यवस्तूपन्यासः** = जीवशरीरापेक्षयाऽन्यवस्तूपन्यासः। हन्त इति। हन्तशब्दोऽत्र शोचने, तदुक्तं **हलायुधकोशे** - 'शोचने सम्प्रहर्षे च हन्तशब्दः प्रयुज्यते। (हला. को. ५/८७६) **अन्यशब्दवाच्यत्वाऽविशेषादिति**।' अन्यः परमाणुरन्यो द्व्यणुकः, अन्यो घटोऽन्यः पट' इत्यादिना प्रकारेण तेषामन्यशब्दवाच्यत्वस्याऽविशिष्टत्वेनाऽभेदप्रसङ्गः। न च तेषामनन्यत्वमस्तीति।

एतेन ययोः समानशब्दवाच्यत्वं तयोरैक्यमित्**यपास्तम्**। परमाणु-द्व्यणुकयोः समानशब्दवाच्यत्वस्य सत्त्वेऽपि तादात्म्यस्याऽसत्त्वेन व्यभिचारात्। अतीन्द्रियवस्त्वस्वीकारे प्रत्यक्षवस्तुनि व्यभिचारदर्शनार्थं 'घट-पटादी'त्यादिना द्वितीयव्यभिचारस्थानं प्रदर्शितम्। किञ्चैवं सति हर्याद्यनेकार्थकशब्दानामुच्छेदप्रसङ्गोऽपि दुर्निवार इत्यादिकं भावनीयम्।

अह न हु तं इति। अन्यत्र सर्वत्र - 'अह न सुयं' इति प्रयोगः। स्पष्टार्थमुदाहरणमत्र ***स्थानाङ्गवृत्तौ*** "प्रतिनिभता चास्य सर्वस्मिन्नप्युक्ते श्रुतपूर्वमेवेदं ममेत्येवमसत्यं वचो ब्रुवाणस्य परस्य निग्रहाय 'तव पिता मम पितु र्धारयति लक्षमि'त्येवंविधस्य द्विपाशरज्जुकल्पस्याऽसत्यस्यैव वचस उपन्यस्तत्वादिति। अस्य चोपपत्तिमात्ररूपस्याऽप्यर्थज्ञाप-

* द्रव्यानुयोग में तदन्यवस्तूपन्यास *

द्रव्यानु. इति। द्रव्यानुयोग के अधिकार में अर्थात् जीवादि द्रव्यों के व्याख्यान के अधिकार में तदन्यवस्तु उपन्यास का उदाहरण बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि प्रतिवादी ऐसा कथन करे कि - 'जो वादी जीव और शरीर को भिन्न मानता है उसको 'अन्यो जीवः अन्यत् शरीरम्' इस प्रकार के शाब्द व्यवहार से जीव और शरीर को अभिन्न मानना होगा। जीव और शरीर में प्रवर्तमान अन्यशब्द में कुछ भी विशेषता = भिन्नता नहीं है। अतः एक ही शब्द से वाच्य होने से जीव और शरीर में अन्यशब्द की वाच्यता भी समान ही रहेगी। अतः अन्यशब्दवाच्यता एक होने से जीव और शरीर में भी ऐक्य की सिद्धि होगी। जो एक शब्द से वाच्य होते हैं वे परस्पर अभिन्न होते हैं"। - तब इसके खिलाफ जीव और शरीर से अन्य वस्तु का उपन्यास करना चाहिए कि 'यह तो बडे खेद की बात है, क्योंकि ऐसा मानने पर परमाणु और द्व्यणुक तथा घट और पट आदि भी परस्पर अभिन्न हो जायेंगे। इसका कारण यह है कि 'अन्यः परमाणुः अन्यः द्व्यणुकः' इत्यादि शाब्दव्यवहार से एक ही अन्यशब्द की वाच्यता परमाणु, द्व्यणुक आदि में सिद्ध होती है। अर्थात् अन्यशब्दवाच्यता उनमें समान होने से वे परस्पर अभिन्न सिद्ध हो जायेंगे। मगर ऐसा नहीं है, क्योंकि परमाणु और द्व्यणुक परस्पर भिन्न ही हैं और घट, पट में तो भेद प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अतः अन्यशब्दवाच्यता समान होने से जीव और शरीर में अभेद का आपादन करना युक्त नहीं है। अतः जीव और शरीर परस्पर भिन्न हैं - यह कथन युक्तिसंगत ही है। इस तरह तदन्यवस्तु उपन्यास का निरूपण पूर्ण हुआ।

प्रतिनिभस्तु छलनिपुणवादिनं प्रति प्रतिच्छलेनोपन्यासः। यथा - "[१]एगंमि नयरे एगो परिव्वायगो सोवण्णेणं खोरएणं तहिं हिंडति, सो भणति जो ममं असुअं सुणावेति तस्सेतं देमि खोरयं। तत्थ एगो सावगो, तेण भणियं - 'तुज्झ पिया मह पिउणो धारेइ अणूणगं सयसहस्सं। जइ सुयपुव्वं दिज्जसु, अह न हु तं खोरयं देहि।। त्ति। अयं च लोके।

चरणकरणानुयोगे च येषां सर्वथा हिंसायामधर्मस्तेषामनशनविषय[२]चित्तोद्रेकभङ्गादात्महिंसायामप्यधर्म एवेति तदकरणप्रसङ्गः। द्रव्यानुयोगे पुनः - 'अदुष्टं मद्वचनमि'ति मन्यमानो यः कश्चिदाह - 'अस्ति जीव' इत्यत्र वद किञ्चित्। यद्यपि वावदूक इति स

कतया ज्ञातत्वमुक्तमिति। अथवा यथारूढमेव ज्ञातमेषः। तथाहि अत्राऽयं प्रयोगः - नास्त्यश्रुतपूर्वं किञ्चित् श्लोकादि ममेत्यभिमानधनं ब्रूमो वयम् - अस्ति तवाश्रुतपूर्वं वचनं तव पिता मम पितुर्द्धारयत्यन्यूनं शतसहस्रमिति यतेति।" इत्यधिकं व्याख्यातम्। अत्र यदि परः 'श्रुतमेवेदं मया, परं तन्मिथ्येत्यपि मया पश्चाच्छ्रुतमि'ति वदेत्, तदा 'यत्त्वया पश्चाच्छ्रुतं तन्मृषेति त्वया श्रुतं न वा? यदि श्रुतं तर्हि लक्षं देहि, अश्रुतं चेत्, तदैनं देही'त्यादिवचनोपन्यासः स्वधिया विभावनीयः।

येषां = लुम्पकानाम्, **सर्वथा**=सर्वप्रकारेण, हेतुतः स्वरूपतोऽनुबन्धतश्चेति यावत्। **अनशनविषयचित्तोद्रेकभङ्गादिति**। आत्महिंसारूप-तीव्रक्षुत्पिपासाधातुक्षोभादिजनकानशनविषयको यः चित्तस्योद्रेकः = उत्साहः तस्य भङ्गादिति। स्वहिंसायामधर्मत्वप्रतिसन्धानेन तीव्रक्षुधादिना वा यथाविध्यनशनविषयकचित्तोत्साहभङ्गस्य प्रमत्तयोगरूपत्वेन प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणस्य हिंसालक्षणस्य तादृशात्महिंसायामपि सत्त्वेन तत्र अधर्मत्वं स्यात्। न च तदिष्टम्, **अत एव** हिंसात्वस्य हेतुस्वरूपानुबन्धाधर्मत्वव्याप्यत्वं **निरस्तम्**, व्यभिचारात्।

❋ प्रतिनिभ उपन्यास ३/४ ❋

प्रति. इति। अब विवरणकार क्रमप्राप्त प्रतिनिभ उपन्यास का विवेचन करते हैं। वादी छल आदि के प्रयोग में निपुण हो तब उसके सामने विरुद्ध छल का उपन्यास करना जिससे उसकी स्थिति 'साँप ने छछुंदर निगला' ऐसी हो जाय। वैसा प्रतिछल का उपन्यास प्रतिनिभ उपन्यास कहा जाता है। यहाँ लौकिक उदाहरण एक परिव्राजक का है। यह संक्षेप में इस तरह है कि - 'एक संन्यासी एक नगर में सुवर्णमुहरों से भरा हुआ बोरा ले कर के फिरता है और वह बोलता है कि - 'जो मुझे न सुना हुआ सुनायेगा उसे मैं यह सुवर्णमुहरों का बोरा देनेवाला हूँ'। मगर जो जो लोग सुनाने के लिए आते हैं उनकी बातें सुन कर अंत में यह कह देता है कि - मैंने यह कहानी तो पूर्व में ही सुनी हुई है। मगर सेर को सवा सेर मिलना मुश्किल नहीं है। एक श्रावक उसके पास आया और बोला कि - तेरे पिताजी को मेरे पिताजी ने पूरा १० लाख रूपैया दिया था और वह उन्होंने वापस नहीं लौटाये हैं। यदि यह तूने यह सुना है तो १० लाख रूपैया दे दे और यदि नहीं सुना है तो यह सुवर्णमुहरों का बोरा दे दे, क्योंकि पहले कभी न सुनी हुई बात मैंने तुझे सुनायी है। श्रावक की बात सुनते ही संन्यासी हक्का-बक्का हो गया।

चरण. इति। अब व्याख्याकार चरणकरणानुयोग में अधिकृत प्रतिनिभ उपन्यास को बताते हुए कहते हैं कि - जो लोग (स्थानकवासी) हिंसा में सर्वथा अधर्म ही मानते हैं उनके प्रति यह कहना चाहिए कि - यदि हिंसा में सर्वथा अधर्म ही है तब आप अनशन कैसे कर सकेंगे? क्योंकि अनशन करने पर आत्महिंसा तो होती ही है। आपके हिसाब से वह भी अधर्म ही है। इसी सबब अनशन करने में जरूरी चित्त का उत्साह भग्न होने से अनशन की प्रवृत्ति ही नहीं बनेगी। द्रव्यानुयोग में अधिकृत प्रतिनिभ उपन्यास का उदाहरण यह है कि - 'मेरा वचन सत्य ही है' - ऐसा माननेवाला अभिमान का पुतला कोई मनुष्य बोले कि 'मैं कहता हूँ कि - जीव है आप इसके खिलाफ अपना वक्तव्य प्रदर्शित करो'। तब उस वाचाट पुरुष को कहना चाहिए कि-'जीव है = जीव विद्यमान है = विद्यमान जीव है = जो विद्यमान है वह जीव है' ऐसा माने पर तो घट आदि जड पदार्थ भी जीव बन जायेंगे, क्योंकि वे भी विद्यमान हैं। इस तरह छल से उसका पराभव करना यह प्रतिनिभ उपन्यास है।

---

१ एकस्मिन्नगरे एकः परिव्राजकः सौवर्णेन खोरकेण तत्र भ्रमति। स भणति यो ममाऽश्रुतं श्रावयति तस्मायेतत्खोरकं ददामि। तत्रैकः श्रावकः, तेन भणितम् - 'तव पिता मम पितुर्धारयत्यनूनकं शतसहस्रं। यदि श्रुतपूर्वं देहि, अथ न तं (श्रुतं) खोरकं देहि।' इति।

२ विषयाचित्तो. इति मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः।

वक्तव्यः - 'यद्यस्ति जीव एवं तर्हि घटादीनामप्यस्तित्वाज्जीवत्वप्रसङ्ग इति।३।

हेतुः = उपपादकः। तदुपन्यासः = हेतूपन्यासः। यथा किं नु यवाः क्रीयन्ते? इति प्रश्ने उत्तरम् - येन मुधा न लभ्यन्त इति लोके। चरणकरणानुयोगे तु यदि शिष्येण पृच्छ्यते - किमितीयं भिक्षाटनाद्याऽतिकष्टा क्रिया क्रियत इति? तदा स वक्तव्यः - 'येन न कष्टतरा वेदना वेद्यते नरकादाविति। द्रव्यानुयोगे तु यद्याह कश्चित् - 'किमित्यात्मा न चक्षुरादिभिरुपलभ्यते?' स वक्तव्यः 'येनातीन्द्रिय इति'। उक्तः सभेद **उपन्यासः**। तदेवं सुव्याख्यातं समासतो बहुभेदमिति पदम्।।३५।।

एवं सप्रपञ्चमुपदर्शितमुपमानम्। अथास्योपमासत्याया लक्षणघटकतया साफल्यमाह

वस्तुतस्तु मोक्षविषयकविधिजन्येच्छाऽपूर्वक-जीवमरणानुकूलविघटनीयव्यापारविघटकाभावप्रयुक्तप्राणव्यपरोपण-स्यैव हिंसालक्षणत्वं **कल्पलता**द्यनुसारेणोन्नीयते, तस्यैव च सर्वथाऽधर्मत्वम्। तेन यथाविध्यनशनजिनपूजानद्युत्तारा-देर्नाधर्मत्वं सर्वथेति **दिक्**।

यद्यस्ति जीव एवं तर्हीति। यदि योऽस्ति स जीवो भवतीति व्याप्तिरभिप्रेता तर्हि 'घटादिरस्ति' इतिव्यवहारात् घटादेरप्यस्तित्वाविशेषाज्जीवत्वं प्रसज्येतेति भावः। पुनरुपन्यासचतुर्थभेददर्शनायाह-**हेतुः उपपादक इति**। यस्याऽभावे सत्युपपाद्यं नोपपद्यते सः। यद्वा उपपाद्याभावव्याप्याभावप्रतियोगित्वमुपपादकत्वम्। **मुधेति**। मुधालाभा-भावाद्धेतोर्यवक्रयणमित्यर्थः। **नरकादाविति**। बलवदनिष्टसामग्रीविघटकत्वेन भिक्षाटनादेः करणमित्यर्थः। **बहुभेदमिति** मूलग्रन्थश्लोकस्थम् **पदं** = चरमपदम्। **यद्यपि** प्रकृतप्रकरणकारेण ***अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरणे"*** आहरण-तद्देश-तद्दोषो-पन्यासादिहेतुः विस्तरतस्तु मत्कृतो***पदेशामृततरङ्गिणीतो*** बोध्यः" (अ.स.वि.पृ. ३०९) इति निगदितं, **परंतु** साम्प्रतं न सोपलभ्यत इत्येतावतैव स्वबुभुत्सोपशमनीया मनीषिभिः।।३५।।

सदुपमानघटितेति। एतेनोपमानप्रतिपादनस्याऽर्थान्तरत्वं **निरस्तम्,** घटकज्ञानं विना घटितज्ञानस्यासम्भवेन निराकाङ्क्षाभिधानत्वविरहात्।

✱ हेतु उपन्यास उदाहरण ४/४ ✱

हेतु. इति। अब विवरणकार के द्वारा उपन्यास का चतुर्थ भेद, जो कि क्रमप्राप्त है, बताया जाता है। हेतु का अर्थ है उपपादक यानी समर्थक। उसका उपन्यास करना वह हेतु उपन्यास कहा जाता है। यहाँ लौकिक उदाहरण यह है कि 'आप जव को क्यों खरीदते हैं?' इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना कि - 'क्योंकि जव बिना मूल्य के नहीं मिलते हैं'। यह हेतूपन्यास का लौकिक उदाहरण है। इस तरह शिष्य यदि प्रश्न करे कि - भिक्षाटनादि कष्टदायक क्रिया क्यों की जाती है? तब उसको 'यहाँ इसको सहन करने से नरक आदि में अत्यंत घोर पीडा हमें सहन करनी न पडे इसलिए' ऐसा प्रत्युत्तर देना यह चरणकरणानुयोग में अधिकृत हेतूपन्यास का उदाहरण है। ठीक वैसे ही द्रव्यानुयोग में अधिकृत हेतूपन्यास का उदाहरण यह है कि - 'आँख आदि से आत्मा का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है?' इस प्रश्न का यह उत्तर देना कि - 'क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय है। जो चीज अतीन्द्रिय होती है, इन्द्रिय का अविषय है, उसका प्रत्यक्ष इन्द्रिय से कैसे हो सकता है? मतलब इन्द्रिय अगोचर वस्तु का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। आत्मा भी अतीन्द्रिय होने से चक्षु आदि इन्द्रियाँ से ज्ञात नहीं होती है।

इस तरह उपन्यास का व्याख्यान पूर्ण हुआ। मूलग्रन्थ की ३५वीं गाथा के चरम पाद में जो चरम शब्द 'बहुभेयं' है जिसका अर्थ है 'उपमान के चारों भेदों के विविध भेद-प्रभेद हैं', इसका व्याख्यान भी अच्छी तरह से संक्षेप में पूर्ण हुआ। साथ साथ ३५वीं गाथा का विवेचन भी पूर्ण हुआ और उपमान का भी भेद-प्रभेद से विवेचन पूर्ण हुआ।।।३५।।

शंका :- यहाँ औपम्यसत्य भाषा का वक्तव्य अवसरप्राप्त है। मगर आप तो उपमान के भेद-प्रभेदों का विवेचन करने को चल पडे। अतः आपका यह प्रतिपादन अर्थान्तरदोषग्रस्त है।

समाधान :- आपकी यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि औपम्यसत्य का घटक होने से उपमान का निरूपण सार्थक ही है। इसी बात को प्रकरणकार ३६वीं गाथा से प्रदर्शित कर रहे हैं।

[1]उवमासच्चा सा खलु, एएसु सदुवमाणघडिया जा। णासंभविधम्मग्गहदुट्ठा देसाइगहणाओ।।३६।।

खल्विति निश्चये, **सा** = भाषा, **उपमासत्या या एतेषु** = उपदर्शितभेदेषु मध्ये, **सदुपमानघटिता**, दोषघटितायाः सत्यत्ववारणायेदम्। इदमुत्सर्गतः, कारणतस्तूदाहरणदोषप्रतिपादनेऽपि नासत्यत्वमिति ध्येयम्।

ननु सदुपमाऽपि न सत्या 'चन्द्रमुखी'त्यादौ मुखे यावच्चन्द्रधर्मबाधात्। न चोपमानगतयत्किञ्चिद्धर्मपुरस्कारेणोपमाप्रवृत्तिः,

---

ननु सदुपमानघटितस्य सत्यत्वाभ्युपगमे तद्दोषप्रतिपादनस्याऽसत्यत्वं न्यायप्राप्तमित्याशङ्कायामाह **इदमुत्सर्गत** इति। उत्सर्गो नाम सामान्यविधानं यद्वा बलवत्कारणापोद्यत्वमुत्सर्गत्वम्। **कारणतः** = शिष्यमतिविस्फारणादिनिमित्तमाश्रित्य। **नासत्यत्वं** अधिकरणप्रवर्त्तनाद्यभावादिति गम्यम्।

अथ सदुपमा उपमानगतयावद्धर्मेण प्रवर्त्तते आहोस्विदुपमानगतयत्किञ्चिद्धर्मेणेति विकल्पयुगली मञ्जुलमरालयुगलीव विमलीभावमाबिभ्रती प्रतीतिपथमवतेतीर्यत इत्याशयेन शङ्कते **नन्विति**। तत्र प्रथमे आह-**यावच्चन्द्रेति**। यावत्त्वं च **जगदीशमते** अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वम्, **भवानन्दमते** च विषयतासम्बधेनाऽपेक्षाबुद्धिविशेषवत्त्वम्। द्वित्वादिवत् अपेक्षाबुद्धिविशेषव्यङ्ग्यो विषयताभिन्नः साकल्यापराभिधानो धर्मविशेषो यावत्त्वमिति तु वयम्।

द्वितीयमाशङ्क्य निषेधयति **न चेति**। **अभिधेयत्व-ज्ञेयत्वादिनेति**। स्वमतानुसरेण अनभिधेयभावेष्वभिधेयत्व-

---

गाथार्थ :- इनमें से जो भाषा सदुपमानघटित है वह उपमानसत्य भाषा है। उपमान के देश आदि का ग्रहण करने से असंभवित धर्मग्रहण से दुष्ट नहीं है।३६।

❋ सदुपमानघटित भाषा सत्य है ❋

विवरणार्थ :- ३५वीं गाथा में जो उपमान के भेद बताये गये हैं उनमें से जो उपमान सत् यानी निर्दोष है उससे घटितभाषा उपमासत्य है। सदुपमान से घटितभाषा उपमासत्य है। इस प्रकार के प्रतिपादन से जो भाषा असदुपमान से यानी दुष्ट उदाहरण से घटित है वह भाषा सत्य नहीं है, यह फलित होता है। इसकी सूचना देने के लिए सत् ऐसा विशेषण उपमान से लगाया गया है। यह जो प्रतिपादन किया गया है कि सदुपमानघटित भाषा औपम्यसत्य है वह उत्सर्ग से है, सर्वथा, सर्वदा और सार्वत्रिक नहीं। अतः कुछ कारणों का अवलंबन कर के सदोष उपमान से घटित भाषा का प्रयोग करने पर भी वह भाषा असत्य नहीं होती है, क्योंकि कारणिक दुष्ट उदाहरणघटित भाषा का तात्पर्य अधिकरण प्रवर्त्तन आदि नहीं है। इस बात पर ध्यान देने की विवरणकार सूचना देते हैं।

शंका :- ननु. इति। आप कहते हैं कि - सदुपमान से घटित उपमाभाषा सत्य है - मगर यह ठीक नहीं है। सदुपमान से घटित उपमाभाषा भी असत्य ही है, क्योंकि 'चन्द्रमुखी' इत्यादि वाक्य में चन्द्ररूप उपमान के सब धर्म तो मुखरूपी उपमेय में बाधित हैं। चन्द्र में कलंकितता आदि धर्म है जो मुखरूपी उपमेय में नहीं है। तब 'मुख चाँद जैसा है' - यह उपमावचन सत्य कैसे होगा? यदि तुम यह कहो कि - 'चन्द्ररूप उपमान के सभी धर्मो को आगे कर के उपमा की प्रवृति नहीं होती है किन्तु यत् किञ्चित् धर्म के पुरस्कार से ही उपमा की प्रवृत्ति होती है। अतः मुख में चन्द्र की कलंकितता आदि न हो फिर भी कुछ दोष नहीं है, क्योंकि उसको छोड कर चन्द्र के अन्य धर्म आह्लादकत्वादि तो मुख में रहते ही हैं। अतः मुख को चन्द्र की उपमा देने में कोई दोष नहीं है' - तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान के यत् किंचित् धर्म को आगे कर के उपमानउपमेयभाव के स्वीकार में तो अत्यन्तविलक्षण घट, घटाभाव आदि में भी उपमान-उपमेयभाव की प्रवृत्ति होने लगेगी। उनमें भी अभिधेयत्व-ज्ञेयत्व आदि अतिसाधारणधर्म रहते ही हैं। अतः उपमानगत यत्किञ्चित् धर्म की अपेक्षा से उपमान-उपमेयभाव मानना भी युक्त नहीं है। अतः उपमाभाषा सत्य नहीं है, किन्तु असत्य ही है।

❋ संभवित धर्म पुरस्कार से उपमाप्रवृत्ति ❋

समाधान :- **न. इति**। आपका वक्तव्य तथ्यहीन है। इसका कारण यह है कि उपमा की प्रवृत्ति उपमेय में असंभवित धर्म के

---

१ उपमासत्या सा खलु, एतेषु सदुपमानघटिता या। नासंभविधर्मग्रहदुष्टा देशादिग्रहणात्।।३६।।

अत्यन्तविलक्षणानामप्यभिधेयत्वज्ञेयत्वादिना परस्परमुपमानोपमेयभावप्रसङ्गादित्यत आह - **न** = नैव, **असम्भविनः** = मुखाद्युपमेयावृत्तयो ये **धर्माः** = चन्द्राद्युपमानगतकलङ्कितत्वादयः[1], **तद्ग्रहेण दुष्टा**[2]। कुतः? इत्याह - **देशादिग्रहणेन** चन्द्रमुखीत्यादौ देशोपमायां सम्भविनां प्रसन्नत्वादिधर्माणामेव ग्रहणान्न दुष्टत्वं नियामकश्चात्र समभिव्याहारविशेषादिरिति द्रष्टव्यम्। अत्यन्तविलक्षणानां च नोपमानोपमेयभावः, असाधारणधर्मघटितत्वादुपमाया इति ध्येयम्।

स्याऽसत्त्वेन केवलान्वयित्वाभावादभिधेयानभिधेयभावेषूपमाप्रवृत्त्यापादनं न स्यादतो ज्ञेयत्वाद्युपादानं कृतम्।

समाधत्ते-**नेति**। प्रथमविकल्पं दूषयति-**असम्भविन** इति। **सम्भविनामिति** मुखाद्युपमेयवृत्तीनाम्। **प्रसन्नत्वादीति**। आदिशब्देन वृत्तत्वसम्पूर्णत्वसौम्यत्वाऽऽह्लादकत्वादिग्रहः। ननूपमेयवृत्तिधर्मापेक्षयैवोपमा प्रवर्त्तते न तूपमेयावृत्तिधर्मापेक्षयेत्यत्र किं तन्त्रमित्यत आह-**नियामक** इति। **समभिव्याहारविशेषादिरिति**। आदिपदेन इवादिपदसन्निधानादेर्ग्रहणम्। ननु तर्ह्यत्यन्तविलक्षणानां घटतदभावादीनामुपमानोपमेयभावः किमिति नाङ्गीक्रियते? न हि तत्र ज्ञेयत्वादिधर्मा असम्भविनः, केवलान्वयित्वादित्याशयकं द्वितीयविकल्पं सिंहावलोकनन्यायेन निराकरोति **असाधारणधर्मघटितत्वादुपमाया** इति। ज्ञेयत्वादीनां केवलान्वयित्वेनाऽसाधारणधर्मत्वाभावेन न तद्घटितोपमायाः प्रवृत्तिः। असाधारणधर्मत्वं च न तदितरावृत्तित्वे सति तद्वृत्तित्वं किन्तु अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयातावच्छेदकत्वम्। तेन चन्द्रमुखीत्यादेरिव पद्ममुखीत्याद्युपमायाः प्रवृत्तावपि न क्षतिरिति। अत्यन्तवैलक्षण्यञ्च सत्त्वासत्त्वाभिलाप्यत्वानभिलाप्यत्वादियुगलापेक्षया बोध्यम्। तेन 'द्रव्यत्वेन घटसदृशः पट' इत्यादेः ***स्याद्वादरहस्य***प्रकरणवचनस्य न विरोधः, द्रव्यत्वस्य गुणाद्यवृत्तित्वेनाऽसाधारणत्वानपायादित्यादिसूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम्।

पुरस्कार से नहीं होती है किन्तु उपमेय में संभवित ऐसे उपमानगत धर्म के पुरस्कार से होती है। आशय यह है कि मुखरूपी उपमेय में असंभवित ऐसे कलंकितता आदि धर्म के, जो कि उपमानभूत चन्द्र में विद्यमान हैं, पुरस्कार से 'चन्द्रमुखी' इत्यादि उपमावचन की प्रवृत्ति नहीं होती है, जिसके कारण आप उपमावचन में असत्यता का आपादन कर सके। इसका कारण यह है कि 'चन्द्रमुखी' यह वचन देशोपमा है, सर्वोपमा नहीं। देशोपमा की प्रवृत्ति उपमेय में संभवित ऐसे उपमानगत धर्म के पुरस्कार से होती है। अतः यहाँ उपमेयभूत मुख में संभवित ऐसे प्रसन्नत्व, आह्लादकत्व, सौम्यता आदि के, जो उपमानभूत चन्द्र में रहे हुए हैं, पुरस्कार से ही उपमा की प्रवृत्ति होती है। तब इस उपमावचन को सत्य मानना ही न्यायप्राप्त है। यहाँ यह शंका कि - 'उपमेय में संभवित ऐसे धर्म के पुरस्कार से ही उपमा की प्रवृत्ति होती है, न कि उपमेय में असंभवित धर्म के पुरस्कार से - इसका नियामक कौन होगा?' - ठीक नहीं है, क्योंकि इसका नियामक समभिव्याहारविशेष आदि है। समभिव्याहार का मतलब है पदों का पूर्वोत्तरभाव। यहाँ समभिव्याहार विशेष से उपमान-उपमेयवाचक पदों का जो पूर्वोत्तरभाव है वह अभिमत है। तादृश समभिव्याहार ही उपमेय में संभवित धर्म के, जो कि उपमान में रहे हुए हैं, पुरस्कार से उपमा की प्रवृत्ति में नियामक है। आदि पद से यहाँ इव आदि पद का ग्रहण अभिप्रेत है।

* असाधारण धर्म से उपमा की प्रवृत्ति *

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपमानगत साधारणधर्म के, जो कि उपमेय में और अन्य में भी संभवित है, पुरस्कार से उपमा की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि उपमा का घटक उपमानगत असाधारण धर्म ही है, साधारण धर्म नहीं। मतलब कि उपमा असाधारण धर्म से घटित है, साधारण धर्म से नहीं। अतः पूर्व में जो दोष दिया गया था कि - 'उपमा यदि उपमानगत यत्किञ्चित् धर्म से प्रवृत्त होगी तब तो अभिधेयत्व आदि धर्मों के पुरस्कार से घट और घटाभाव आदि अत्यन्तविलक्षण धर्मी में भी परस्पर उपमा होने लगेगी' - इसका निराकरण हो जाता है, क्योंकि अभिधेयत्व आदिरूप साधारण धर्म को ले कर उपमा की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, किन्तु असाधारण धर्म से ही उपमान-उपमेयभाव प्रवृत्त होता है। इस विषय में बराबर ध्यान देने की विवरणकार सूचना देते हैं।

पूर्वपक्ष :- **ननु. इति**। आपने सदुपमान से घटित भाषा का समावेश उपमासत्य भाषा में किया वह ठीक है, किन्तु व्यतिरेक अलंकार आदि का समावेश आप किस भाषा में करोगे? यानी सत्यभाषा के किस भेद में व्यतिरेक अलंकार का अंतर्भाव करोगे?

१ 'कलङ्कितत्वा' इति कप्रतौ पाठः। २ 'दुष्टाः' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

ननु व्यतिरेकालङ्कारादिवचनानां क्वान्तर्भावः? यदि व्यवहारसत्यादौ, उपमाया अपि कथं न तत्र स इति चेत्? न, एतद्भेदस्य तत्र प्रवेशाद्, उपमाया एव व्यतिरेकाद्युपलक्षणत्वाद्वेति **दिग्**।।३६।। उक्तौपम्यसत्या।१०।

तदेवं निरूपिता सत्या भाषेत्युपसंहारमसत्याभाषानिरूपणप्रतिज्ञाञ्चाह

व्यतिरेकालङ्कारादिवचनानामिति। उपमेयस्योपमानाद्गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। तदुक्तं ***रसगङ्गाधरे*** 'उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषत्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।' (र.गं.पृ. ४६७) ***अलङ्कारकौस्तुभे***ऽपि 'यत्र केनचिद्धर्मेणोपमानापेक्षयोपमेयस्य वैलक्षण्यं वर्ण्यते स व्यतिरेकः' (अलं. कौ. वृ. ४६४) इत्युक्तम्। तन्निदर्शनञ्च - 'अकलंक मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा' [ ] इत्यादिकम्। तथा च व्यतिरेकालङ्कारादिवचनानां कुत्राऽपि सत्यभाषाभेदे समावेशाप्रदर्शनात् सत्यभाषा एकादशधा स्यादिति भावः। आदिशब्देन प्रतीपालङ्कारादेर्ग्रहणम्। **कथं नेति**। व्यतिरेकालङ्कारादिवचनानां यदि व्यवहारसत्यादौ समावेशस्तदोपमावचनानामपि तत्रैवान्तर्भावः कर्तु युज्यते विशेषाभावात्। तथा च सत्यभाषा नवधा स्यात् इत्याशयः पूर्वपक्षस्य। **तत्र** = व्यवहारसत्यादौ। **सः** = अन्तर्भावः।

समाधत्ते नेति। **एतद्भेदस्य** = उपमालङ्कारावान्तरभेदस्य, उपमात्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्येति यावत्। **तत्र** = व्यवहारसत्यादौ। उपमानावृत्तिधर्मपुरस्कारेण प्रवृत्तेर्व्यतिरेकालङ्कारादिवचनानां व्यवहारसत्यादौ प्रवेश इति भावः।

ननु तद्धर्मावच्छिन्नस्य यत्र समावेशस्तत्रैव तद्धर्मव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्य समावेशो युक्तः, तस्य तद्धर्मवैशिष्ट्याऽविशेषात्, अन्यथा पृथिवीत्वव्याप्यघटत्वादिधर्मावच्छिन्नस्य द्रव्ये समावेशो न **स्यादिति** यदि परो ब्रूयादित्याशयं हृदि निधाय कल्पान्तरं प्रदर्शयति **उपमाया एव व्यतिरेकाद्युपलक्षणत्वाद्वेति**। उपमापदस्यैव स्वार्थबोधकत्वे सति व्यतिरेकादीतरार्थबोधकत्वेन व्यतिरेकादेरप्यौपम्यसत्यायामेव समावेश इति भावः। **एतेन** प्रदर्शितसत्यभारतीभेदेषु सत्यत्वाक्रान्तव्यतिरेकादिवचनासमावेशरूपो न्यूनतादोषः **निरस्त** इति प्रदर्शनार्थ **दिक्**पदप्रयोगः कृतः।

व्यतिरेक अलंकार वह कहा जाता है जिसमें उपमान से उपमेय का वैधर्म्य प्रदर्शित किया जाता है। जैसे कि - तेरा मुँह तो निष्कलंक है, चन्द्र तो कलंकित है। यहाँ उपमान से उपमेय अधिक गुणवान है - यह प्रतीति होती है। मगर व्यतिरेकालंकार प्रतिपादक वचन का सत्यभाषा के किस भेद में समावेश करना यह आपने नहीं बताया है।

शंका :- यदि. इति। यह तो बहुत सरल बात है। व्यतिरेक अलंकार का समावेश तो व्यवहारसत्य आदि भाषा में करना चाहिए, क्योंकि लोगों की विवक्षा आदि से व्यतिरेक अलंकार की प्रवृत्ति होती है। अतः व्यतिरेक अलंकार का सत्यभाषा के किस भेद में समावेश होगा? यह प्रश्न ही उचित नहीं है।

समाधान :- उपमाया अपि. इति। आपने तीर नहीं तो तुक्का लगा तो दिया मगर यह सोचा नहीं कि - इस तरह तो उपमालंकारगर्भित वचन का भी व्यवहारसत्य आदि में समावेश करने में बाधक क्या होगा? तब तो सत्य भाषा के १० भेद न हो कर ९ भेद ही हो जायेंगे या तो उपमासत्य भाषा की तरह व्यतिरेकसत्य भाषारूप सत्यभाषा का ११वें भेद का भी प्रदर्शन करना चाहिए। अतः व्यतिरेक अलंकारादि भाषा का सत्य भाषा के किस भेद में समावेश होता है? यह बताना जरूरी है।

❋ व्यतिरेक अलंकार का समावेश ❋

उत्तरपक्ष :- न, इति। जैसे बच्चे लोक पत्तों का महल बनाते हैं, जो पवन की लहर से धराशयी हो जाता है, वैसे आप का यह कथन हमारे एक वचन से ही जमीनदोस्त बन जाता है। यह रहा हमारा वह वचन। सुनिये, यहाँ तात्पर्य यह है कि उपमा अलंकार का समावेश औपम्यसत्य भाषा में होने पर भी उपमा के एक भेदरूप यानी विशेष उपमास्वरूप व्यतिरेक अलंकार भाषा का समावेश तो व्यवहारसत्य भाषा में ही होता है। इसलिए व्यतिरेक अलंकारादि के असमावेश की समस्या हल हो जाती है और ११ वाँ सत्यभाषा का भेद बताने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। या तो हम यह भी कह सकते हैं कि उपमाशब्द उपलक्षण है। अर्थात् उपमाशब्द जैसे अपने वाच्यार्थ का बोध कराता है वैसे ही अपने वाच्यार्थ से इतर अर्थस्वरूप व्यतिरेक अलंकार आदि का भी बोध कराता है। मतलब यह है कि उपमावचन का जैसे उपमासत्य भाषा में समावेश होता है, ठीक वैसे ही व्यतिरेक अलंकार आदि वचनों का भी औपम्यसत्य भाषा में ही समावेश होता है, क्योंकि व्यतिरेकअलंकार भी उपमाविशेष ही है यानी उपमाअलंकार

[1]एवं सच्चा भासा, सुआणुसारेण वण्णिआ चित्ता। भासाइ असच्चाए सरूवमह कित्तइस्सामि।।३७।।

एवम् = उक्तप्रकारेण, **सत्याभाषा**, **श्रुतस्य** = प्रज्ञापनादेः, **अनुसारेण** = तदभिप्रायापरित्यागेन, **वर्णिता** = लक्षणादिभिर्निरूपिता। कीदृशी? इत्याह **चित्रा** = बहुभेद-प्रभेदघटितत्वात् विचित्रा, अथवा **चित्तात्**, 'गम्ययप्योगे[2] 'पञ्चम्याश्रयणात् चित्तं = अभिप्रायं गृहीत्वेत्यर्थः। **एतेन** श्रुतस्य न यथाश्रुत एवार्थो व्याख्येयः किन्त्वाभिप्रायिकोऽपि, अन्यथा कालिकानुयोग-

उपसंहारमिति विस्तरकेण निरूपितस्य पदार्थस्य सारांशकथनेन तन्निरूपणसमापनमुपसंहारः, तं, आहेत्यत्रान्वीयते।

प्रज्ञापनादेरिति। आदिशब्देन दशवैकालिकादेर्ग्रहणम्। **लक्षणादिभिरिति**। आदिशब्देन द्रष्टान्त-प्रयोजनादिग्रहणम्। **गम्ययप्योग** इति। 'गम्ययपः कर्माधारे (सि. हे. २/२/७४) इति ***सिद्धहेमसूत्रेण*** यपो गम्यत्वे पञ्चमीविधानं यथा प्रासादात् प्रेक्षत इति प्रासादमारुह्य प्रेक्षते इति। एवमत्राऽपि यपो गम्यत्वेन पञ्चमी, ततश्च **चित्तं = अभिप्रायं गृहीत्वेत्यर्थः** प्राप्त इति भावः। **एतेन** श्रुताभिप्रायग्रहस्य पदार्थनिरूपणे प्रयोजकत्वं **प्रदर्शितम्**, शब्दार्थमात्रे मूढतया न भाव्यमिति तात्पर्यम्।

एतेन = श्रुताभिप्रायग्रहणप्रयुक्तसत्यभाषानिरूपणप्रतिपादनेनेत्यर्थः, व्यज्यत इत्यनेनान्वीयतेऽग्रे। **अन्यथा** = श्रुततात्पर्यपर्यालोचनं विनैव यथाश्रुतार्थव्याख्यानाभ्युपगमे। **कालिकानुयोगवैफल्यप्रसङ्गादिति**। श्रुततात्पर्यमविभाव्यैव यथाश्रुतार्थाभ्युपगमे नय-निक्षेप-प्रमाणादितोऽर्थव्याख्यानरूपस्य कालिकानुयोगस्य निष्फलत्वं प्रसज्येत। तदुक्त-

का ही एक प्रकार है। इस संबंध में यह कथन तो एक दिग्दर्शनमात्र है। इस संबंध में अधिक विचार भी किया जा सकता है - ऐसा कह कर के उपमासत्य भाषा के विवरण पर विवरणकार पर्दा डालते हैं।।३६।।

उपमासत्य भाषा का वक्तव्य पूर्ण हुआ और इसके साथ साथ ही सत्यभाषा के दश भेदों का लक्षण-द्रष्टांत आदि से निरूपण पूर्ण होने से सत्यभाषा का निरूपण भी पूर्ण हुआ। अब ग्रन्थकार ३७वीं गाथा से सत्यभाषानिरूपण के उपसंहार और असत्य भाषा के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं।

गाथार्थ :- इस तरह अनेकभेदवाली सत्यभाषा का श्रुत के अनुसार विवरण हुआ। अब मैं (ग्रन्थकार महोपाध्याय श्रीमद्) असत्य भाषा का स्वरूप बताऊँगा।३७।

विवरणार्थ :- उक्त रीति से २१वीं कारिका से ३६वीं कारिका तक प्रज्ञापना आदि आगम के अभिप्राय को छोडे बिना लक्षण-दृष्टांत आदि से सत्यभाषा का निरूपण हुआ। सत्यभाषा अनेक मुख्य भेद और अनेक अवान्तर भेदों से घटित होने से विचित्र यानी अनेक प्रकारवाली है। 'चित्ता' ऐसा शब्द जो कि ३७वीं गाथा के द्वितीय पाद के अंत में रहा हुआ है, उसका एक अर्थ चित्रा = विचित्रा बता कर अब विवरणकार उस पद के दूसरे अर्थ को बताते हैं। 'चित्ता' इस प्राकृतशब्द की संस्कृत भाषा में 'चित्तात्' ऐसी छाया = संस्कृत अनुवाद भी मुमकिन है। 'गम्ययप् कर्माधारे' इस सूत्र से यप् प्रत्यय, जो सिद्धहेमव्याकरण में संबंधककृदंत में विहित है, अध्याहार्य होने पर कर्म और आधार को पञ्चमी विभक्ति प्राप्त होती है। अतः चित्तात् का अर्थ होगा 'चित्तं गृहीत्वा'। चित्त का मतलब है अभिप्राय। मतलब कि प्रज्ञापनादि आगम के अभिप्राय का ग्रहण कर के यह सत्यभाषानिरूपण पूर्ण हुआ।

❋ शास्त्र के तात्पर्य के अनुसार ही अर्थव्याख्यान मुनासिब ❋

एतेन. इति। यहाँ विवरणकार ने जो यह बात बताई कि-शास्त्र के अभिप्राय=तात्पर्य को ग्रहण कर के मैंने सत्यभाषा का निरूपण किया इससे यह फलित होता है कि - सर्वत्र शास्त्र के केवल यथाश्रुत अर्थ का व्याख्यान नहीं करना चाहिए। अर्थात्, शास्त्र के शब्दार्थ मात्र का प्रतिपादन नहीं करना चाहिए, किन्तु शास्त्र के आभिप्रायिक अर्थ = ऐदम्पर्यार्थ का भी व्याख्यान करना चाहिए। शास्त्र के आभिप्रायिक अर्थ का निरूपण करना अनावश्यक माना जाए, उसका अस्वीकार किया जाय तब तो

१ एवं सत्या भाषा श्रुतानुसारेण वर्णिता चित्रा। भाषाया असत्यायाः स्वरूपमथ कीर्त्तयिष्यामि।।३७।।

२ मुद्रितप्रतौ - 'यपः प्रयोगे' पाठोऽशुद्ध।

वैफल्यप्रसङ्गात्, हेतुग्राह्याणामर्थानामाज्ञाग्राह्यतया पर्यवसाननिमित्तकाशातनाप्रसङ्गाच्चेति **व्यज्यते**।

मावश्यकनिर्युक्तौ - जं जह सुअम्मि भणिअं, तं तहेव जइ वियालणा नत्थि। किं कालिआणुओगो दिट्ठो दिट्ठीपहाणेहिं।। (आ. नि.) न च साम्प्रतं कालिकानुयोगस्य विच्छिन्नत्वाद् यथाश्रुतार्थव्याख्यानमेव साम्प्रतमिति वाच्यम्, अधुनाऽपि तस्य तादृशमेधासम्पन्नशिष्यादिकं प्रतिविहितत्वाद्। तदुक्तं 'आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया' (आ.नि. ७६१) पदार्थ-वाक्यार्थ-महावाक्यार्थैदम्पर्यार्थक्रमेणार्थव्याख्यानस्य **उपदेशपदादौ** महता प्रबन्धेन प्रतिपादितत्वादिह न वितन्यते।

आज्ञाग्राह्यतया पर्यवसाननिमित्तकाशातनाप्रसङ्गाच्चेति। अयं भावः, तर्कानुमानादिना बोध्यानामर्थानां वाक्यार्थ-महावाक्यार्थादिपर्यालोचनं विनैव यथाश्रुतार्थव्याख्यानेन फलत आगमग्राह्यतापादानप्रयुक्तागमाशातनाप्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। तदुक्तं **सम्मतौ** 'जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमिओ। सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो।। (सं. त. ३/४५) हेतुग्राह्यस्याऽऽगमग्राह्यतापादनेन श्रोतुः तत्प्रतिपादके वचस्यनास्थादिदोषमुत्पादयन् सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमस्य निस्सारताप्रदर्शनेन तत्प्रत्यनीको भवतीति तात्पर्यम्।

ननु तर्ह्यतीन्द्रियत्वेनाऽऽगमग्राह्याणां धर्माधर्माकाशानां किमर्थं ***सम्मतिवृत्तावभयदेवसूरिणा*** - 'गतिस्थित्यवगाहलक्षणं पुद्गलास्तिकायादिकार्यं विशिष्टकारणप्रभवं विशिष्टकार्यत्वात्, शाल्यङ्कुरादिकार्यवत्। यश्चासौ कारणविशेषः सः धर्माधर्माकाशलक्षणो यथासङ्ख्यमवसेयः (स.त.३/४५ वृत्ति) इति प्रतिपादयता हेतुग्राह्यत्वं प्रतिपादितमिति **चेत् नैवम्**, आगमग्राह्येऽप्यर्थे स्याद्वादपरिकर्मितमत्युपलब्धहेतुप्रतिपादनेऽपि क्षतिविरहात्। तदुक्तं ***स्याद्वादकल्पलतायां*** 'यद्यप्यतीन्द्रियार्थे पूर्वमागमस्य प्रमाणान्तरानधिगतवस्तुप्रतिपादकत्वेनाऽहेतुवादत्वं तथाऽप्यग्रे तदुपजीव्यप्रमाणप्रवृत्तौ हेतुवादत्वेऽपि न व्यवस्थाऽनुपपत्तिः, आद्यदशापेक्षयैव व्यवस्थाभिधानात्' (स्या.क. २/२३ वृ.) इति। **एतेन**

कालिकानुयोग की निष्फलता की अनिष्ट आपत्ति आयेगी। कालिक अनुयोग का अर्थ है सूत्र के प्रत्येक पद, वाक्य, सूत्र, उद्देश, अध्ययन, श्रुतस्कंध आदि का नय, निक्षेप और प्रमाण से व्याख्यान करना। यदि सिर्फ शाब्दिक अर्थ का ही प्रतिपादन किया जाय तब तो विशिष्ट प्रज्ञाशाली शिष्य को नय भेद से शास्त्र के पद, वाक्य आदि का व्याख्यान करने का जो विधान किया गया है वह निष्फल हो जायेगा। अतः शास्त्र के एदम्पर्यार्थ का प्ररूपण भी आवश्यक है तथा उसके लिए शास्त्र के तात्पर्य को ढूंढना भी आवश्यक है-यह फलित होता है।

❋ केवल यथाश्रुतार्थव्याख्यान में आगम की आशातना ❋

हेतुग्राह्याणां. इति। दूसरी बात यह है कि विषय = अर्थ दो प्रकार के होते हैं हेतुवादग्राह्य और आगमवादग्राह्य। जो हेतुवाद से ग्राह्य है उसका निरूपण हेतु-तर्क-अनुमान आदि से करना चाहिए। जो केवल आगमवादग्राह्य है उसका निरूपण आगम से ही करना चाहिए। जैसे कि - आत्मा के लोकाकाशप्रदेशप्रमाण असंख्य प्रदेश हैं - यह विषय आगमवाद से ग्राह्य है। यहाँ कोई हेतु, तर्क आदि से इस विषय की सिद्धि का प्रयत्न करे तो वह संभव नहीं है और उससे श्रोता को आगमवचन के प्रति अनास्था-अनादर पैदा होता है। और जो विषय हेतुवाद से ग्राह्य=ज्ञेय है जैसे कि - 'आत्मा है' यह विषय। इसमें ज्ञानादिगुणरूप हेतु आदि के बिना ही - 'आगम में बताया है इसलिए आत्मा है' - ऐसा प्रतिपादन करने पर बुद्धिमान श्रोता को आगम के उपर अविश्वास पेदा होता है। इस तरह आगमग्राह्य को हेतुग्राह्य बताने में और हेतुग्राह्य को आगमग्राह्य बनाने में आगम की आशातना होती है। प्रस्तुत में तात्पर्य यह है कि - सत्यभाषा के लक्षण, भेद, दृष्टांत आदि को हेतु, तर्क, या अनुमान से न बता कर केवल - 'आगम में सत्यभाषा के ये दश भेद बताये गये हैं' - ऐसा व्याख्यान करने पर श्रोता के दिल में यह बात नहीं जमती है। अतः उसको आगम के प्रति सद्भाव उत्पन्न नहीं होता है। इस तरह शास्त्र के तात्पर्य का पर्यालोचन किये बिना केवल यथाश्रुत अर्थ का = शब्दार्थ मात्र का व्याख्यान करने पर हेतुवादग्राह्य पदार्थ को फलतः आगमवादग्राह्य बनाने से आगम की आशातना होती है। यदि इस आशातना से मुक्त होना हो, तो यथाश्रुत अर्थ की तरह तात्पर्यार्थ का भी व्याख्यान करना चाहिए। हेतु - तर्क आदि से शास्त्र के सही तात्पर्य

अथ सत्यभाषानिरूपणानन्तर**मसत्याया भाषायाः स्वरूपं कीर्त्तयिष्यामि**। इत्थं चोद्देशक्रमानुरूपैव संगतिरत्रेति सूचितम्।।३७।।

'अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं यथाऽऽलोचितकारिणाम्। प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित्।। गोचरस्त्वागमस्यैव ततस्तदुपलब्धितः। चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात्।। निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च। अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किञ्चन।। (यो. दृ. ९८/९९/१४३) इत्यादयो **योगदृष्टिसमुच्चय**श्लोका **व्याख्याताः**, श्रुतानुसारिप्रमाणान्तराणामागमिकार्थानाश्वासनिराकरणेन साफल्यात्। **एतेन** यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।। (वा. प. १/)इति **वाक्यपदी**यकारिकापि **व्याख्याता**, आगमिकार्थानामापाततो विरोधग्रस्तानां सम्यगवबोधाय प्रमाणान्तरोपयोगात्। इत्थमेव तत्त्वावाप्तिसम्भवात्। **अत एव** 'आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च। त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम्।। इति **पतञ्जलि**वचनमप्युपपद्यते **एतेन** ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः। कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः।। (यो. दृ. १४६) इत्यपि **व्याख्यातम्**, आगमस्य प्रमाणान्तरापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वेऽविप्रतिपत्तेरित्यादिकं सूक्ष्मधिया भावनीयम्।

इत्थमिति। सत्यभाषानिरूपणानन्तरमसत्यभाषानिरूपणप्रतिपादनेनेति। **उद्देशक्रमानुरूपैव सङ्गतिरत्रेति**। प्राथमिकनामकीर्त्तनं यद्वा नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः। तदुक्तं ***प्रमाणमीमांसायां*** नामधेयमात्रकीर्त्तनमुद्देशः। (प्र.मी. १/१/१) तदुक्तं ***स्याद्वादभाषायां*** च 'संज्ञामात्रेण पदार्थप्रतिपादनमुद्देशः' इति। क्रमो नाम पूर्वापरभावः। ततश्च नाममात्रेण भाषाभेदकथने यः पूर्वापरभावः तदनतिक्रमेणाऽनन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वरूपा सङ्गतिरत्राऽसत्यभाषानिरूपणे वर्त्तत इति सूचितमित्यर्थः। एतच्च परैरवसरसङ्गतिपदेन प्रतिपाद्यत इति ध्येयम्।।३७।।

भावभाषाधिकारे दशधा सत्यवचः खलु। श्रीन्यायाचार्यवाग्गूढार्थोन्नयनान्निरूपितम्।।१।।

इति मुनियशोविजयविरचितायां मोक्षरत्नाभिधानायां भाषारहस्यविवरणटीकायां प्रथमः स्तबकः। (ग्रन्थाग्रं-४००० श्लोक)

का अनुमान कर के बुद्धिमान् श्रोता के प्रति शास्त्र के ऐदम्पर्यार्थ का भी अवश्य व्याख्यान करना चाहिए। यह दूसरी बात भी विवरणकार के इस कथन से कि - 'शास्त्र के अभिप्राय को जान कर मैंने सत्यभाषा का निरूपण किया' - ध्वनित होती है। सारांश यह हुआ कि - कालिकानुयोग की निष्फलता का परिहार करने के लिए और हेतुवादग्राह्य पदार्थ को आगमवादग्राह्य बनाने के निमित्त से होनेवाली आगम की आशातना से बचने के लिए शास्त्र के आभिप्रायिक अर्थ का व्याख्यान करना और उसके लिए शास्त्र के तात्पर्य को मनन-चिंतन आदि से जानना अतिआवश्यक है। बाबावाक्यं प्रमाणं यह सर्वत्र मान्य नहीं है।

अथ. इति। सत्यभाषा के निरूपण के बाद मैं असत्य भाषा के स्वरूप का निरूपण करूँगा - इस कथन से यह बात ज्ञात होती है कि - सत्यभाषा के निरूपण के बाद में असत्यभाषा के निरूपण के प्रतिपादन में उद्देशक्रम के अनुरूप ही संगति है। पूर्व में १५वीं गाथा में ग्रंथकार ने बताया था कि द्रव्य का विषयरूप से आश्रय कर के द्रव्यविषयक भावभाषा के सत्य, असत्य, मिश्र और अनुभय ये चार भेद हैं यानी द्रव्यभावभाषा के सत्य, असत्य आदि चार भेदों का नाममात्र से कथन किया था। यही उद्देश शब्द से यहाँ अभिप्रेत है। उस उद्देश में जो क्रम है इसके अनुसार प्राप्त अवसरोचित असत्यभाषा के निरूपण में उद्देशक्रम के अनुरूप ही संगति सूचित होती है। अतः 'सत्य भाषा के निरूपण के पश्चात् असत्यभाषा का निरूपण असंगत है, अनुचित है' इस शंका का परिहार हो जाता है।।३७।।

द्वितीयः स्तबकः

तत्र पूर्वं लक्षणाभिधानपूर्वमसत्याया भेदानाह -

[१]सच्चाए विवरीया, होइ असच्चा विराहिणी तत्थ। दव्वाई चउभंगा, दसहा सा पुण सुए भणिआ।।३८।।

[२]कोहे१ माणे२ माया३ लोभे४ पिज्जे५ तहेव दोसे६ अ।

हास७-भए८ अवखाइअ९, उवघाए१० णिस्सिया दसमा।।३९।।

सत्यातो विपरीताऽसत्या भवति। अतस्मिंस्तद्वचनमिति यावत्। न **च** चरितोपमाद्यतिव्याप्तिः, यथार्थतात्पर्यविरहेण तद्वचनमिति गाथार्थात्। परिभाषानुरोधादाह, **विराहिणित्ति** विराधिकेत्यर्थः। लक्षणान्तरं चेदम्, विराधकत्वं च सद्भूतप्रतिषेधत्वादिनेति नानुपपत्तिः। **तत्र द्रव्यादयश्चत्वारो भङ्गाः**, ज्ञातव्या इति शेषः।

नत्वा श्रीमन्महावीरमपश्चिमाधिपं मया। साम्प्रतं स्तबके द्वैतीयिकेऽसत्या प्रतन्यते।।१।।

श्रीन्यायाचार्यो हि प्राक्प्रतिज्ञातासत्यभाषानिरूपणार्थमुपक्रमते - **तत्र** = असत्यभाषास्वरूपकीर्त्तने।

अतस्मिंस्तद्वचनमिति। तदभाववति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकं वचनमित्यत्र तात्पर्यम्। **चरितोपमाद्यतिव्याप्तिरिति**। 'चन्द्रमुखी'त्यस्य चन्द्रत्वाभाववति मुखे चन्द्रत्वप्रकारकशाब्दबोधजनकत्वेनाऽसत्यत्वमाशङ्कते। आदिपदेन कल्पितोपमानादेर्ग्रहणम्।

समाधत्ते **यथार्थतात्पर्यविरहेण तद्वचनमिति**। तृतीयार्थः प्रयुक्तत्वम्। ततश्च यथार्थतात्पर्यविरहप्रयुक्तं तदभाववति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकं वचनमसत्यं, न केवलं तदभाववति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकमिति गाथार्थः सामर्थ्यादुन्नीयते। औपम्यवचनादौ यथार्थतात्पर्यविरहप्रयुक्तत्वाभावेन न मृषात्वमिति भावः। **लक्षणान्तरमिति**। पूर्वोक्तलौकिकलक्षणतोऽन्यत् शास्त्रीयं लक्षणमित्यर्थः पारिभाषिकमिति यावत्।

ननु पूर्वोक्तलक्षणेऽप्यसद्भूतोद्भावनत्वरूपविराधकत्वस्य सत्त्वान्नेदं लक्षणान्तरमित्याशङ्कायां सत्यामाह-**विराधकत्वं च सद्भूतप्रतिषेधत्वादिनेति**। न त्वसद्भूतोद्भावनत्वेनेति शेषः। ततश्च 'नास्ति आत्मा' इत्यादिवचनं द्वितीयलक्षणाक्रान्तं 'एकान्तनित्य आत्मे'तिवचनं प्रथमलक्षणाक्रान्तमिति फलितम्। आदिपदेनार्थान्तरत्व-परपीडोत्पादकत्व-गर्हात्वादेर्ग्रहण्। द्वितीयं च लक्षणं निश्चयानुरोधिव्यवहारनयमतेनेति ध्येयम्। **नानुपपत्तिरिति**। न प्रथम-द्वितीय-

अब ग्रन्थकार असत्य भाषा के निरूपण में सर्व प्रथम असत्यभाषा के लक्षण का प्रदर्शन कर के उसके भेदों को ३८ और ३९वीं गाथा से बता रहे हैं।

❋ असत्य भाषा लक्षण और भेद ❋

गाथार्थ :- सत्य भाषा से विपरीत असत्य भाषा है जो कि विराधक भाषा है। असत्यभाषा के द्रव्यादि चार भंग = भेद हैं। आगम में असत्य भाषा के दश भेद बताये गये हैं।३८।

गाथार्थ :- निश्रितशब्द का क्रोधादि प्रत्येक में संबंध होने से असत्यभाषा के ये दश भेद प्राप्त होते हैं। (१) क्रोधनिश्रित, (२) माननिश्रित, (३) मायानिश्रित, (४) लोभनिश्रित, (५) प्रेमनिश्रित, (६) द्वेषनिश्रित, (७) हास्यनिश्रित, (८) भयनिश्रित, (९) आख्यायिकानिश्रित, (१०) उपघातनिश्रित।३९।

विवरणार्थ :- सत्यभाषा से विपरीत भाषा असत्य होती है। सत्य भाषा का लक्षण 'तस्मिंस्तद्वचनम्' ऐसा बताया गया है। अतः असत्य भाषा का लक्षण - 'अतस्मिंस्तद्वचनम्' - यह फलित होता है। मतलब कि जो जैसा नहीं है वैसा उसको बतानेवाला वचन असत्यवचन कहलाता है। जैसे कि 'पीतः शंखः' यह वचन। शंख पीला नहीं है फिर भी शंख को पीला बताने से 'पीतः शंखः' यह वचन मृषा वचन कहा जायेगा।

शंका :- **न च चरितो. इति**। 'अतस्मिंस्तद्वचनम्' ऐसा असत्य भाषा का लक्षण बनाने पर तो चरितोपमा आदि वचन में, जो सत्यभाषा के भेद में ही परिगणित है, भी मृषाभाषा का प्रदर्शित लक्षण प्रवृत्त होने से यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषवाला बन जायेगा,

१ सत्याया विपरीता भवत्यसत्या विराधिनी तत्र। द्रव्यादयश्चत्वारो भङ्गा दशधा सा पुनः श्रुते भणिता।।३८।।

२ कोधान्मानान्मायाया लोभात्प्रेम्णस्तथैव द्वेषाच्च। हास्याद्भयादाख्यायिकादुपघातान्निश्रिता दशमा।।३९।।

तथाहि - चतुर्द्धाऽसत्या भाषा प्रवर्त्तते, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति। द्रव्यतः सर्वेषु द्रव्येषु, क्षेत्रतो लोकेऽलोके वा,

लक्षणयोरैक्यापत्तिः उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यादिति। **एतेन** क्वचिदव्याप्तिरपि **प्रत्युक्ता** व्यवहारनयाभिमतायाः सर्वस्या मृषाभाषाया तादात्म्येन तादृगन्यतरत्वव्याप्तत्वात्, अन्यतरत्वस्यैव तल्लक्षणत्वात्। न च गौरवम्; प्रमाण-प्रवृत्तिसमये सिद्ध्यसिद्धिभ्यां पराहतत्वात्। **एतेन** पुनरुक्तिदोषोऽपि **निरस्त** इत्यादि भावनीयम्।

द्रव्यत इत्यादि। द्रव्यमाश्रित्येत्यर्थः। तदुक्तं ***पाक्षिकसूत्रेऽपि*** - 'से मुसावाए चउव्विहे पन्नत्ते - दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ त्ति' इति। **सर्वेषु द्रव्येष्विति**। विषयत्वं सप्तम्यर्थः। तेन सर्वद्रव्यविषयिणी मृषाभाषेत्यर्थः यथा 'नास्ति आत्मा' 'अनन्तप्रदेशमय आत्मा श्यामाकतण्डुलमात्रो दे'त्यादिः।

क्षेत्रत इति। क्षेत्रमाश्रित्येत्यर्थः। **नन्वा**काशस्य द्रव्यत्वेन तेनैव तदुपक्षयात्क्षेत्रतोऽसत्यभाषाया अतिरिक्त उपन्यासो व्यर्थ इति **चेत्? मैवम्**, लोकालोकान्यतररूपाकाशस्य द्रव्यत्वेऽपि लोके क्षेत्रत्वेन प्रसिद्ध्या पृथगुपादाने दोषाभावात्। एवमेव दिन-रात्र्यादिरूपस्य समयस्य द्रव्यत्वेऽपि लोके कालत्वेन प्रसिद्ध्या पृथगुपादाने न दोषः, तथैव लोकव्यवहारानुसारित्वोपपत्तेः। यद्वा कालत इत्यनेन कालस्य न विषयविधया निर्देशः किन्तु अधिकरणविधयेति न कश्चिद्

क्योंकि अलक्ष्य में लक्षण का गमन ही अतिव्याप्ति का लक्षण है। वह अतिव्याप्ति इस तरह आयेगी कि - उपमावचन, जैसे कि 'चन्द्रमुखी' यह वचन, मुख चन्द्र नहीं है फिर भी चन्द्ररूप से मुख का बोध कराता है। अतः असत्यवचन बन जायेगा। कल्पितोपमान में तो स्पष्ट ही वाच्यार्थ का बाध होने से असत्यवचन के लक्षण का गमन सिद्ध ही है।

* उपमासत्य भाषा मृषा नहीं है *

समाधान :- यथार्थ. इति। हमने जो मृषाभाषा का लक्षण बताया है वह वैसे ही हमें मान्य नहीं है, मगर हमारा तात्पर्य यह है कि - जो वचन यथार्थ तात्पर्य के अभाव से प्रयुक्त हो और जो जैसा न हो वैसा उसका बोधक हो वह वचन मृषाभाषा के लक्षणरूप है। इस तरह गाथा का अर्थ करने से कोई भी दोष नहीं आयेगा, क्योंकि चरितोपमान, कल्पितोपमान आदि वचन यथार्थ तात्पर्य के अभाव से प्रयुक्त नहीं है किन्तु यथार्थ तात्पर्य से ही प्रयुक्त है। यह बात तो ३४वीं गाथा में 'भावाबाहेण' पद से बतायी गई है। पुनः वहाँ अनुसन्धान करने से यह ज्ञात हो जायेगा कि उपमावचन यथार्थ तात्पर्य से ही प्रयुक्त है। अतः अतस्मिंस्तद्वचनरूप होते हुए भी यथार्थ तात्पर्य के अभाव से प्रयुक्त न होने से वह असत्यभाषा के लक्षण से आक्रान्त नहीं है। अतएव अतिव्याप्तिदोष का कोई अवकाश नहीं है।

* मृषा भाषा का पारिभाषिक लक्षण *

परि. इति। अब मृषा भाषा का पारिभाषा के अनुसार लक्षण बताया जाता है कि विराधक भाषा मृषा है। यह मृषा भाषा का लक्षणान्तर यानी दूसरा लक्षण है। मतलब कि विराधकवचनत्व ही मृषाभाषा का पारिभाषिक लक्षण है। यहाँ यह शंका हो कि - 'प्रथम लक्षण और द्वितीय लक्षण एक ही है, क्योंकि यथार्थ तात्पर्य से शून्य ऐसा जो अतस्मिंस्तद्वचन है वह भी विराधक वचन ही है, आराधक नहीं। अतः पारिभाषिक लक्षण लक्षणान्तर = द्वितीय लक्षण कैसे होगा?' - तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विराधकत्व यहाँ सद्भूतनिषेधत्व आदि रूप से अभिप्रेत है। आशय यह है कि प्रथमलक्षण असद्भूत के उद्भावनस्वरूप है, सद्भूत के निषेधरूप नहीं। अतः सद्भूतनिषेधत्वरूप अभिप्रेत विराधकत्व 'पीतः शंखः' इत्यादि वचन में, जो कि मृषा भाषा के प्रथम लक्षण से आक्रान्त है, न होने से उसमें विवक्षित विराधकत्व नहीं है। अतएव उसमें द्वितीय लक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस तरह सद्भूतप्रतिषेध आदिरूप से विराधकत्व की विवक्षा करने से उभय लक्षण में ऐक्य आदि किसी दोष की आपत्ति नहीं आती है।

* मृषा भाषा के द्रव्य-क्षेत्र आदि की अपेक्षा चार भेद *

तत्र. इति। मृषा भाषा में द्रव्यादि चार भंग ज्ञातव्य हैं। ज्ञातव्य यह पद मूलगाथा में नहीं लिया गया है, लेकिन अर्थ के अनुरोध से उसका अध्याहार करना आवश्यक है। मृषा भाषा के चार भेद इस तरह हैं कि - द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः और भावतः। द्रव्य की अपेक्षा से मृषा भाषा सर्व द्रव्यों में प्रवृत्त होती है। सर्व द्रव्य मृषा भाषा के विषय हो सकते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक और अलोक मृषा भाषा के विषय होते हैं। जैसे कि लोकसंबंधी असत्य वचन 'लोकाकाश अनन्तप्रदेशमय है' - इत्यादि वचन। वास्तव

लोकेऽनन्तप्रदेशमयो लोक इत्यादिः, अलोके च वसन्ति जीवाः पुद्गला वा, न वाऽलोक इत्यादिः। कालतो दिवा रात्रौ वा। भावतस्तु क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हास्याद्वा। अत्र 'एकग्रहणे तज्जातीयानां ग्रहणमि'ति न्यायात् क्रोधग्रहणान्मानग्रहः, लोभग्रहणाच्च मायाग्रहः, भयहास्यग्रहणेन च प्रेम-द्वेष-कलहाभ्याख्यानादिग्रह इति वृद्धसम्प्रदायः। भावाऽसत्यभेदा एव च दश अनन्तरं निर्युक्तिगाथया दर्शयिष्यन्त इति ध्येयम्।

दोष इति भावनीयम्। **अनन्तप्रदेशमयो लोक इत्यादिः**। इदं प्रथमलक्षणाक्रान्तमसत्यवचनोदाहरणम्। आदिपदेन 'नास्ति लोकः' इत्यादेर्द्वितीय-लक्षणाक्रान्तस्य ग्रहणम्। **अलोके च वसन्तीति**। इदं प्रथमलक्षणाक्रान्तम्। **न वाऽलोक इत्यादिः**। इदं द्वितीयलक्षणाक्रान्तम्, सद्भूतनिषेधपरत्वात्। आदिपदेन अलोकं लोकं वदतो ग्रहणम्। इदमपि द्वितीयलक्षणाक्रान्तम्, अर्थान्तरपरत्वादित्यादिकं विभावनीयम्। **एकग्रहण** इति। आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्यमस्य ग्रहणमिति न्यायस्याऽत्र भयादिस्थलेऽव्यापकत्वेनानुपादानमिति द्रष्टव्यम्। **मानग्रह** इति। द्वेषात्मककषायत्वेन रूपेण मानस्य क्रोधसजातीयत्वात्। **मायाग्रह इति**। रागात्मककषायत्वेन रूपेण मायाया लोभसजातीयत्वात्। एवमग्रेऽपि भावनीयम्। **अभ्याख्यानादिग्रह** इति। आदिपदेन पैशुन्यादिग्रहणम्।

ननु भवद्भिर्द्रव्याद्यपेक्षया मृषाभाषायाश्चतुर्विधत्वमुक्तं निर्युक्तौ च दशविधत्वमुक्तमिति कथं न विरोध इति **चेत्?** **मैवम्**, तत्र दशविधत्वं मृषाभावभाषाया एव प्रतिपादितं न तु मृषाभाषाया इति न विरोधः। मृषात्वसाक्षाद्व्याप्यजातेश्चतुर्विधत्वेन प्रतिपादनेऽपि मृषात्वसाक्षाद्व्याप्यजातिव्याप्यजातेर्दशविधत्वेन प्रतिपादने न कश्चिद्विरोध इत्यत्र तात्पर्यमिति बोधनार्थं **ध्येयमित्युक्तम्**।

में लोक असंख्यप्रदेशमय होने से अन्यथाप्ररूपक यह वचन मृषावाद के प्रथमलक्षण से आक्रांत है। इस तरह 'अलोक में जीव या पुद्गल रहते हैं' अथवा 'अलोकाकाश नहीं हैं' इत्यादिवचन अलोकाकाशविषयक मृषावचन है। यहाँ प्रथम उदाहरण मृषाभाषा के प्रथमलक्षण से युक्त है। द्वितीय उदाहरण में असत्यवचन के पारिभाषिक लक्षण की प्रवृत्ति होती है। इस तरह काल की अपेक्षा दिन में या रात में असत्यभाषा की प्रवृत्ति होती है। भाव की अपेक्षा असत्य वचन क्रोध से या लोभ से या हास्य से या भय से प्रवृत्त होता है। यहाँ भावतः असत्यभाषा में 'एकदेशग्रहणे तज्जातीयानां ग्रहणम्' - यह न्याय प्रवृत्त होता है। इस न्याय का आशय यह है कि - कहीं पर शब्दतः एक व्यक्ति का ग्रहण होने पर उसके सजातीय अन्य का भी ग्रहण होता है। जैसे कि 'वह भजिया खाता है' ऐसा कहने पर श्रोता को खाद्यरूप से सजातीय होने से चटनी का भी भान हो जाता है कि 'वह भजिया और चटनी खाता है'। वैसे यहाँ क्रोध का ग्रहण होने से द्वेषरूप से क्रोधसजातीय मान कषाय का ग्रहण हो जाता है। लोभ का ग्रहण करने से रागरूप से लोभसजातीय माया का ग्रहण हो जाता है। वैसे भय और हास्य के ग्रहण से तत्सजातीय प्रेम-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (=असद् दोषारोपण) आदि का ग्रहण हो जाता है - यह अर्थ वृद्धसम्प्रदाय से प्राप्त होता है। वृद्धसम्प्रदाय पद से यहाँ ज्ञानवृद्ध = बहुश्रुत पूर्व महर्षियों का समुदाय अभिप्रेत है।

भावासत्या. इति। यहाँ यह शंका करना कि 'आप मृषाभाषा के चार भेद बता रहे हैं और निर्युक्ति आदि* में असत्यवचन के दश भेद बताये गये हैं। अतः इन दोनों का विरोध ही होगा, क्योंकि एक ही विषय के चार भेद और दश भेद कैसे हो सकते हैं?' - युक्त नहीं है, क्योंकि निर्युक्ति आदि में असत्य वचन के जो दस भेद बताये गये हैं वे मृषावाद के मुख्य भेद स्वरूप नहीं है, मगर मृषावाद के मुख्य, चरम एवं चतुर्थ भेदरूप भावमृषावचन के भेदस्वरूप ही है। यानी चार भेद असत्यवचन के मुख्य भेद हैं और दस भेद मुख्य भेद के अवान्तरभेद हैं। अतः कोई विरोध नहीं है। ये दश भेद निर्युक्ति की गाथा से ही बाद में दिखाये जाएँगे, यह ध्यान रखना जरूरी है।

❋ द्रव्य-भाव में असत्यवचन की चतुर्भंगी ❋

अत्र द्रव्य. इति। अब यहाँ विवरणकार द्रव्य और भाव के संयोग में विधिमुख से और निषेधमुख से असत्यवचन की एक चतुर्भंगी बता रहे हैं। वह इस तरह है कि - द्रव्य से जो वचन असत्य है, भाव से नही - वह प्रथम भंग। जो वचन द्रव्य से असत्य नहीं है मगर भाव से असत्य है - वह द्वितीय भंग। जो वचन द्रव्य से और भाव से असत्य है - वह तृतीय भंग। जो वचन न तो द्रव्य से असत्य है और न भाव से असत्य है - वह चतुर्थ भंग। यहाँ द्रव्य से जो असत्य हो मगर भाव से असत्य न हो ऐसे वचनरूप

अत्र द्रव्यभावसंयोगे विधिप्रतिषेधाभ्यामपि चतुर्भङ्गी भावनीया। तथाहि - "[1]दव्वओ णाम एगे मुसावाए णो भावओ? भावओ णाम एगे मुसावाए नो दव्वओ[2], एगे दव्वओ वि भावओ वि[3], एगे णो दव्वओ णो भावओ[4]। तत्थ दव्वओ मुसावाओ णो भावओ, जहा कोई भणिज्जा - अत्थि ते कहिं पसुमिगाइणो दिट्ठा? ताहे भणइ - णत्थि, एस दव्वओ मुसावाओ, णो भावओ १। भावओ णो दव्वओ जहा मुसं भणिहामित्ति, तओ तस्स वंजणाणि सहसत्ति सच्चगाणि विणिग्गयाणि ताणि। एस भावओ णो दव्वओ २। दव्वओ वि भावओ वि जहा मुसावायपरिणओ कोई तमेव मुसावायं वदेज्जा ३। चउत्थो भंगो सुण्णोत्ति।।

सा पुनरुक्तलक्षणाऽसत्या **दशधा**। तथाहि - **कोहेत्ति**। अत्र सप्तमी पञ्चम्यर्थे। तथा च **क्रोधान्निःसृता** = निर्गता इत्यादि व्याख्येयम् अथवा निश्रा जाताऽस्याः सा निश्रिता, क्रोधे निश्रिता = क्रोधनिश्रितेति यथाश्रुतमेव क्रोधे इति। शिष्टं स्पष्टम्।।३९।। अत्र

दव्वओ मुसावाओ णो भावओत्ति। यद्यप्यत्र सद्भूतप्रतिषेधत्वरूपस्य विराधकत्वस्य पारिभाषिकाऽसत्यलक्षणस्य निषेधो न संभवति **तथापि** परपीडोत्पादकत्वरूपस्य विराधकत्वस्य पारिभाषिकाऽसत्यलक्षणस्य निषेधस्याऽभिप्रेतत्वात् 'णो भावओत्ति' वचनस्य युक्तत्वं भावनीयम्। **भावओ णो दव्वओत्ति।** एनमेव तृतीयभङ्गं विभाव्य एतद्विपर्ययेणाऽ***गस्त्यसिंहसूरिणा*** भावसत्यायाः सत्यभाषाऽष्टमभेदरूपायाः पूर्वप्रदर्शितं व्याख्यानं कृतमिति सम्भावयामि। **सुण्णोत्ति**। यद्वचनं नो द्रव्यतोऽसत्यं नाऽपि भावतः, तस्याऽसत्यत्वासम्भवेन चतुर्थभङ्गः शून्यः। **न च** नोशब्दस्य देशनिषेधवाचकतया ग्रहणे विसंवादतात्पर्यशून्यस्य तादृशमिश्रवचनस्य चतुर्थभङ्गे सम्भवेन तच्छून्यत्वाभिधानं न युक्तमिति **वाच्यम्** नोशब्दस्याऽत्र स्वविषयाऽपेक्षया सर्वनिषेधवाचकत्वेनाऽभिप्रेतत्वादिति **दिग्**।

'अर्थवशात् विभक्तिविपरिणाम' इतिन्यायात् सप्तमीं विभक्तिं पञ्चमीत्वेन विपरिणमयति - **क्रोधादिति**। इच्छाप्रतिघातानिष्टविषयदर्शनादिहेतुकं ताडनाक्रोशादिकारणमध्यवसायविशेषरूपं क्रोधमाश्रित्य निर्गतेत्यर्थः। ननु विभक्त्यन्तरविवक्षायां विभक्त्यन्तरप्रयोगो न साधुः = नार्थबोधजनकतावच्छेदकानुपूर्वीमानिति यावदित्याशङ्कां मनसि निधाय यथाश्रुतार्थोपपत्तिमेवाऽऽह **अथवेति। शिष्टमिति** अवशिष्टमि**त्यर्थः**।।३९।।

मृषा वचन के प्रथम भंग का उदाहरण यह है कि - कोई शिकारी आदि पूछे कि 'हिरन-पशु आदि तुमने देखे हैं?' तब हिरन को देखने पर भी जीवरक्षा के हेतु से 'ना, मैंने नहीं देखे हैं' - ऐसा प्रत्युत्तर देना चाहिए। यह वचन द्रव्यतः असत्य है, भावतः नहीं। द्वितीय भंग का उदाहरण यह है कि - 'मैं झूठ बोलूँगा' - ऐसा परिणाम होने पर भी सहसा मुँह में से सच्ची बात निकल गई, तब यह सहसाकार से बोले गये सत्य व्यंजन = शब्द भावतः असत्य है, द्रव्य से नहीं। अतः यह असत्य वचन के द्वितीय भेद में समाविष्ट होता है। जब कोई मनुष्य आदि 'मैं झूठ बोलूँगा' इस परिणाम से परिणत हो कर जब झूठ बोलता है तब यह वचन द्रव्यतः और भावतः असत्य वचनरूप होने से असत्यभाषा के तृतीय भेद में प्रविष्ट होता है। असत्य वचन का चतुर्थ भेद तो असंभवित ही होने से शून्य है, क्योंकि जो वचन न द्रव्यतः असत्य हो और न भावतः असत्य हो वह असत्य भाषा में कैसे अंतर्भूत हो सकता है? अतः चतुर्थ भंग शून्य है।

❋ असत्यभाषा के दस भेद ❋

सा. इति। वह असत्य भाषा दश प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार है क्रोधनिर्गत असत्यभाषा। यहाँ 'कोहे' में जो सप्तमी विभक्ति है वह पंचमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त है और उसका संबंध 'निस्सिया' के साथ है। अतः क्रोध से निकली हुई भाषा असत्य है। इस तरह माननिसृत आदि में भी व्याख्यान करना चाहिए। अथवा हम यथाश्रुत अर्थ की उपपत्ति इस तरह कर सकते हैं कि - 'निश्रा जाता अस्याः सा निश्रिता'। अर्थात् जिसको निश्रा प्राप्त हुई है वह निश्रित। क्रोध में जो निश्रित हैं वह क्रोधनिश्रित असत्यभाषा। प्राकृत भाषा में 'निस्सिआ' का अर्थ जैसे निःसृत होता है वैसे 'निश्रिता' यह अर्थ भी हो सकता है। अतः सप्तमीविभक्ति को यथावत् रख कर 'निस्सिआ' की छाया 'निश्रिता' कर के क्रोध में निश्रित ऐसा जो अर्थ किया गया है वह

१ द्रव्यतो नामैको मृषावादो नो भावतः १। भावतो नामैको मृषावादो न द्रव्यतः २। एको द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि ३। एको नो द्रव्यतो नो भावतः ४। तत्र द्रव्यतो मृषावादो नो भावतो यथा कश्चिद्भणेत् - 'अस्ति त्वया कुत्र पशुमृगादयो दृष्टाः? तदा भणति नास्ति, एष द्रव्यतो मृषावादो न भावतः १। भावतो नो द्रव्यतो यथा - मृषां भणिष्यामीति, ततस्तस्य व्यञ्जनानि सहसा सत्यानि विनिर्गतानि तानि, एष भावतो न द्रव्यतः २। द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि - यथा मृषावादपरिणतः कश्चित्तमेव मृषावादं वदेत् ३। चतुर्थो भङ्गः शून्य इति।

पूर्वं क्रोधनिःसृतामेव निरूपयति।

क्रोधनिःसृतामेवेति। **ननु** क्रोधनिश्रितेत्यर्थव्याख्यानं कृत्वा पुनः किमर्थं क्रोधनिःसृतेत्यस्योपादानं क्रियते? **मैवम्**, यथाश्रुतार्थसङ्गमनस्य वावदूकं प्रत्यभिप्रेतत्वात्, पूर्वमहर्षिभिः श्रीहरिभद्रसूरिप्रभृतिभिः क्रोधनिःसृतेत्यर्थस्य व्याख्यातत्वात्तत्रैव विवरणकारस्याऽपि स्वरसाच्च सर्वत्राऽग्रिमस्थले तथैव पूर्वप्रदर्शितार्थस्योपादानं कृतमिति ध्येयम्।

निश्चयाङ्गभूतशुद्धव्यवहारेणार्थप्रतिपादनं कृत्वाऽऽत्मलक्षिनिश्चयनयानुरोधेनाऽऽह **अथवेति**। **क्रोधाविष्टस्येति** अप्रशस्तक्रोधाविष्टस्येति। **यद्यप्यत्र** भावतोऽसत्यत्वमाश्रित्य दश भेदाः प्रदर्शिता न तु द्रव्यतोऽसत्यत्वमवलम्ब्य, अत एव **नन्वित्याशङ्का** भवितुं नार्हति द्रव्यतः सत्यत्वेऽपि भावासत्यत्वानपायात् **तथापि** विसंवादबुद्धिजननतात्पर्यरूपस्य भावासत्यत्वस्याऽसत्त्वात् द्रव्यतः सत्यत्वस्य सुवचत्वाच्च नासत्यत्वमित्याशयेनाऽऽशङ्कते-**नन्विति**।

समाधत्ते-**नेति**। **अप्रमाणत्वादिति**। माध्यस्थ्यपरिणामवियोजकक्रोधकषायेन यदृच्छाभाषकस्य यथावस्थितार्थप्रतिपादनतात्पर्यरूपस्य भावतः सत्यत्वस्य विघटनात् क्वचित् काकतालीयन्यायेन द्रव्यतः संवादेऽपि भावतोऽसत्यत्वस्य यथार्थतात्पर्यविरहरूपस्य प्रक्रान्तस्य सत्त्वाच्चाऽसत्यत्वप्रतिपादनस्य युक्तत्वमिति भावः। **सम्प्रदाय** इति। तदुक्तं ***चूर्णौ श्रीजिनदासगणिमहत्तरेण*** - 'तस्स कोहाउलचित्तत्तणेणं घुणक्खरमिव तं अप्पमाणमेव भवति। जहा घुणक्खरं सच्च-

युक्तिसंगत ही है। ३९वीं गाथा में शिष्ट यानी बचा हुआ शेष भाग स्पष्ट ही है। अतः उनका विवरण विवरणकार ने नहीं किया है। अर्थात् शेष मान आदि पदों के अर्थ का निश्रित अर्थ में अन्वय कर के - (२) माननिश्रित, (३) मायानिश्रित, (४) लोभनिश्रित, (५) प्रेमनिश्रित, (६) द्वेषनिश्रित, (७) हास्यनिश्रित, (८) भयनिश्रित, (९) आख्यायिकानिश्रित, (१०) उपघातनिश्रित। इस तरह असत्य भाषा के दशभेद प्राप्त होते हैं।।३९।।

अब प्रकरणकार ४०वीं गाथा से असत्यभाषा के प्रथमभेदरूप क्रोधनिश्रित भाषा का निरूपण कर रहे हैं।

गाथार्थ :- क्रोधाविष्ट हो कर जो कोई अपने लडके से कहता है कि - 'तू मेरा पुत्र नहीं है' यह वाक्य क्रोधनिःसृतमृषा भाषा है। या तो क्रोधाविष्ट व्यक्ति का सर्व वचन क्रोधनिःसृत असत्यभाषास्वरूप ही है।४०।

❋ क्रोधनिःसृत असत्यभाषा १/२ ❋

विवरणार्थ :- **सा. इति**। क्रोधाविष्ट हो कर जो भाषा बोली जाती है वह क्रोधनिःसृतमृषा भाषा है। जैसे कि पिता अपने लडके से हि गुस्सा में कहता है कि - 'तू मेरा लडका नहीं है।' यह वचन क्रोधनिःसृत मृषावचन है या तो हम ऐसे भी कह सकते हैं कि क्रोधाविष्ट व्यक्ति का सर्व वचन क्रोधनिश्रित असत्य ही है।

शंका :- **ननु.. इति**। गुस्सा के कारण अपने लडके को ही पिता - 'तू मेरा लडका नहीं है' - ऐसा जो कहता है उस वचन में तो सद्भूतनिषेधरूप पारिभाषिक मृषात्व रहता है। अतः उस वचन को असत्य कहना तो ठीक है, मगर क्रुद्ध व्यक्ति के सभी वचनों को असत्य कहना कैसे संगत होगा?, क्योंकि कुपित व्यक्ति का सब वचन विसंवादी ही होते हैं, संवादी नहीं - यह कोई राजाज्ञा नहीं है। जैसे कि कुपित व्यक्ति गाय को गाय कहती है तब उसका यह वचन असत्य नहीं है, क्योंकि यह वचन न तो सद्भूत का निषेध करता है और न तो असद्भूत का उद्भावन करता है, किन्तु यथावस्थित अर्थ का ही प्रतिपादन करता है तथा इस वचन के प्रयोग में वक्ता का अभिप्राय 'श्रोता को विसंवादी ज्ञान पेदा हो' - ऐसा भी नहीं है। अतः न तो द्रव्यतः असत्यत्व है और न तो भावतः असत्यत्व है। तब क्रोधप्रयुक्त इस संवादी वचन को आप कैसे असत्य कह सकते हैं?

❋ क्रोधप्रयुक्त सब वचन मृषा ही है ❋

समाधान :- **'न क्रोधा. इति**। आपकी यह शंका समीचीन नहीं है। क्रोध से आकुल हो कर जो पुरुष गाय को गाय कहता है वह वचन द्रव्यतः सत्य होने पर भी भावतः असत्य = अप्रमाण ही है, क्योंकि वह पुरुष क्रोधाविष्ट हो कर वचन प्रयोग करता है। क्रोधनिश्रित होने से 'मुझे यथावस्थित अर्थप्रतिपादन करना है' - ऐसे तात्पर्य से वह वाक्य प्रयुक्त नहीं होता है। अतः वह वाक्य व्यवहारतः सत्य दिखता हुआ भी परमार्थ से सत्य नहीं है - ऐसा पूर्व महर्षियों का अभिप्राय है।

[1]सा कोहणिस्सिया खलु कोहाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह ण तुमं मम पुत्तो अहवा सव्वंपि तव्वयणं।।४०।।

सा क्रोधनिःसृता खलु यां भाषां क्रोधाविष्टः कथयति यथा न त्वं मम पुत्र इति। इदं हि कुपितस्य पितुः पुत्रं प्रति वचनम्। **अथवा सर्वमपि तस्य** = क्रोधाविष्टस्य **वचनम्**।

नन्विदमयुक्तं क्रोधाविष्टस्याऽपि गां गामेव वदतोऽसत्यत्वाऽभावादिति चेत्? न, क्रोधाकुलचित्तत्वेन तस्य गवि (ग्रन्थाग्रं-६०० श्लोक) गवाभिधानस्याऽप्यप्रमाणत्वादिति **सम्प्रदायः**।

इदन्तु ध्येयम् - तत्र सम्मुग्धव्यवहारौपयिकसत्यत्वेऽपि फलौपयिकं न सत्यत्वम्, सङ्क्लिष्टाचरणस्य निष्फलत्वादिति।।४०।।

ननु कुपितस्य घुणाक्षरन्यायेनाऽपि सत्यभाषणेनाऽप्रशस्तक्रोधवशात् क्लिष्टकर्म बध्नतोऽपि [2]सत्यभाषाप्रत्ययं शुभं कर्म किमिति

मवि पंडियाणं चित्तगाहगं न भवति, कोवाकुलचित्तो जं संतमवि भासति तं तु मोसमेव भवति'। (दश. अ. ७/नि. गा. २७६ चू. पृ. २३७)।

फलौपयिकं न सत्यत्वमिति। वाक्समिति-गुप्ति-शुभकर्मबन्धनिर्जरादिफलोपायभूतसत्यत्वस्य निषेधेनेदं सूचितं भवति यदुत-अप्रशस्तक्रोधादिकषायप्रयुक्तवचनस्यैवाऽसत्यत्वं न तु प्रशस्तक्रोधादिप्रयुक्तस्याऽपि, तस्यैव तादृश-फलोपायरूपत्वात्। निश्चयतः तादृशाऽध्यवसायवृत्तिप्राशस्त्यस्यैव फलौपयिकत्वमित्यादि भावनीयम्।।४०।।

[3]**घुणाक्षरन्यायेनेति**। घुणः=काष्ठवेधकः कृमिः। तन्निष्पन्नमक्षरमधिकृत्य प्रवृत्तो न्यायः। न्यायश्चात्र फले यादृच्छि-कत्वसाधिका युक्तिः, तयेत्यर्थः। तदुक्तं **वर्धमानेन** 'घुणोत्किरणात्कथञ्चिन्निष्पन्नमक्षरं घुणाक्षरम्। तदिव यदकुशलेन दैवान्निष्पाद्यते तद्घुणाक्षरीयम्'।। **सत्यभाषाप्रत्ययमिति**। द्रव्यतः सत्यभाषायाः शुभवाग्योगरूपत्वेन शुभकर्मप्रकृति-प्रदेशबन्धजनकत्वमर्हति, योगानुरूपत्वात्प्रकृतिप्रदेशबन्धस्य 'जोगा पयडिपएसं' ( ) इति ***शिवशर्मसूरि***वचनादिति मुग्धाशङ्काया भावः।

न स्वातन्त्र्येणेति। प्रकृति-प्रदेशकर्मबन्धं प्रति योगस्य न स्वातन्त्र्येण हेतुत्वं किन्तु कषायसहकारितयैव, मौलं

इदं तु. इति। यहाँ यह ध्यातव्य है कि क्रोधाविष्ट हो कर गाय को गाय कहनेवाली व्यक्ति के वचन में मुग्ध लोग के व्यवहार में उपयोगी ऐसा सत्यत्व होने पर भी फलौपयिक सत्यत्व यानी निर्जरादि फल का उपायभूत सत्यत्व नहीं है, क्योंकि सत्य वचन भी संक्लेश से बोलने पर निष्फल ही होता है। अतः क्रोधादिकषायप्रयुक्त सब वचन असत्य ही होते हैं।

शंका :- **ननु. इति**। अप्रशस्त क्रोधादि कषाय से अशुभकर्मबंध होता है, शुभकर्मबन्ध नहीं - यह तो हमें मान्य ही है मगर अप्रशस्तक्रोधादिकषाय से प्रयुक्त सब वचन फलौपयिक सत्यत्व से शून्य ही होता है - यह बात ठीक नहीं है। देखिये, घुणाक्षरन्याय से जब कोई क्रोधाविष्ट हो कर सत्य वचन बोलेगा तब उसको कषायनिमित्तक अशुभ कर्मबन्ध होगा और द्रव्यतः सत्यवचनरूप शुभवचनयोग के निमित्त से शुभकर्मबन्ध भी होना चाहिए, क्योंकि शुभयोग तो शुभ प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध में हेतु होता है। घुणाक्षरन्याय का मतलब यह है कि जब घुण = लकडे में रहनेवाला कीडा लकडे को खाते खाते लकडे को कोरता है तब उसका प्रयास लकडे में अक्षर बनाने का नहीं है, फिर भी अनायास ही कभी कभी अक्षर के आकार बन जाते हैं। हम भी देखते हैं कि कभी कभी लकडे के फर्नीचर में कीडे छोटे छोटे छिद्र बनाते हैं तब अनायास ही कुछ डिझाइन=आकाररचना बन जाती है। लेकिन 'वे अक्षर या डिझाइन बुद्धिपूर्वक है' ऐसा कोई बुद्धिमान नहीं मानता है। उन अक्षरों को कोई प्रमाण मान कर काम नहीं करते हैं। प्रस्तुत में आशय यह है कि घुणाक्षर न्याय से क्रोधाविष्ट पुरुष का जो वचन व्यवहार से सत्य है, शुभ वचनयोगस्वरूप है, तन्निमित्तक शुभकर्मबंध भी होना ही चाहिए।

---

१ सा क्रोधनिश्रि(निःसृ)ता खलु, क्रोधाविष्टः कथयति यां भाषाम् । यथा न त्वं मम पुत्रोऽथवा सर्वमपि तद्वचनम्।।४०।।

२ अत्र मुद्रितप्रतौ - (सत्यं भाषमाणस्य नाप्रशस्तक्रोधवशात्क्लिष्टकर्मबन्धत्वमपि-पाठान्तरम्) इत्येवमन्यः पाठोऽपि प्रदर्शितः।

3 Wood-worm ghuna. This worm bores holes in wood and in books, which sometimes assume the shape of a letter of the alphabet. Hence its use to intimate the occurrence of something quite accidental. (from - A Handful of popular maxims Page - 26)

न बध्यत इति मुग्धाशङ्कायामाह -

[1]ठिइरसबन्धकराणं हंदि कसायाण चेव अणुरूवं। पयडिप्पएसकम्मं जोगा बज्झति ण विरूवं।।४१।।

हंदीत्युपदर्शने योगाः स्थितिरसबन्धकराणां कषायाणामनुरूपमेव प्रकृतिप्रदेशकर्म बध्नन्ति न विरूपम्। एवं च व्यवहारतः सत्याया अपि कस्याश्चिद्भाषायाः क्लिष्टकर्मबन्धसामग्रीभूतकषायाद्यन्तर्गताया न स्वातन्त्र्येण शुभकर्मबन्धहेतुत्वेन फलवत्त्वं तथा च क्रोधाभिभूतस्य सर्वाऽपि भाषाऽसत्यैवेति स्थितम्।।४१।।

न तावदस्याः शुभफलाहेतुत्वमेव प्रत्युताऽशुभफलजनकत्वमपीत्याह

[2]दुट्ठयरा वा सच्चा कोहाविट्ठाण जेण सप्पसरा। मिच्छाभिणिवेसकए, जीवाण हंदि सा होइ।।४२।।

क्रोधाविष्टानां वा = अथवा **दुष्टतरा सत्या**, अतिशयिता दुष्टा = दुष्टतरा, कुतः? इत्याह - **हंदीत्युपदर्शने येन** कारणे **सप्रसरा**

कारणं तु कषाया एव। यद्वा तृणारणिमणिन्यायेन सातेतरकर्मबन्धं प्रति कषायाणां हेतुत्वं सातवेद्यं प्रति तु योगानाम्, असति प्रतिबन्धके। ततश्च कषायसत्त्वदशायां तेनैव द्रव्यतः सत्यवचनरूपस्य शुभयोगस्योपक्षयान्न तस्य शुभकर्मबन्धहेतुत्वम्। शुभकर्मबन्धं प्रति द्रव्ययोगानामन्यथासिद्धत्वं तु जीर्णाभिनवश्रेष्ठिप्रबन्धेन समयप्रसिद्धमेव।

वस्तुतस्तु साम्परायिककर्मबन्धं प्रति कषायाणां स्वातन्त्र्येण हेतुत्वम्, ईर्यापथिककर्मबन्धं प्रति तु योगानाम्। साम्परायिककर्मप्रकृति-प्रदेशबन्धं प्रति तु योगानां कषायसहकारिकारणत्वम्। अतः कषायवैपरीत्येण योगानां सांपरायिकप्रकृति-प्रदेशबन्धजनकत्वं नास्ति। नहि सौवर्णदण्डे सति मार्त्तकपालात्सौवर्णो घटो भवितुमर्हति। अतः शुभकर्मबन्धनिर्जरादिरूपफलौपयिकसत्यत्वस्याऽसत्त्वादप्रशस्तकषायाविष्टस्य सर्ववचनयोगेऽसत्यत्वमेवेति सिद्धमिति भावनीयम्।

इस मुग्ध पुरुष की शंका का निराकरण प्रकरणकार ४१वीं गाथा से कर रहे हैं।

गाथार्थ :- स्थितिबंध और रसबंध के हेतुभूत कषाय के अनुरूप ही प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध योग से होता है, विपरीत नहीं।४१।

❋ योगनिमित्तक कर्मबंध कषाय के अनुरूप ही होता है ❋

विवरणार्थ :- **हंदि. इति**। कर्मस्थितिबंध और रसबंध के हेतुभूत कषाय के अनुरूप ही कर्मप्रकृतिबंध और कर्मप्रदेशबंध में योग हेतु होता है, कषाय से विपरीत प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध में योग समर्थ नहीं होता है। प्रस्तुत में अप्रशस्त क्रोधादि कषाय से आविष्ट पुरुष गाय को गाय कहता है तब उसका यह वचन व्यवहारतः = द्रव्यतः सत्य होने पर भी शुभकर्मबंध का जनक नहीं है, क्योंकि उस पुरुष के अप्रशस्त क्रोधादि कषाय अशुभ कर्म की दीर्घ स्थिति के और तीव्र अशुभरस के बन्ध का हेतु है और योग कषायानुकूल कर्मबंध में सहकारी होता है। अतः क्लिष्ट कर्म बंध की सामग्रीभूत कषाय में अंतःप्रविष्ट द्रव्यतः सत्यवचनप्रयोगरूप शुभवचनयोग भी शुभप्रकृतिबंध और प्रदेशबंध में हेतु नहीं होता है। अतएव क्रोधाविष्ट व्यक्ति को व्यवहारतः सत्यवचनरूप शुभवचनयोग के निमित्त से शुभकर्मबंध नहीं होता है। शुभकर्मबंधरूप फल का उपायभूत सत्यत्व न होने से क्रोधादि कषायग्रस्त व्यक्ति का सर्व वचन असत्य ही है, सत्य नहीं - यह फलित होता है।।४१।।

अप्रशस्त क्रोधादि कषाय में अंतर्गत शुभयोग से सिर्फ शुभ कर्मबंध नहीं होता है, इतना ही नहीं किन्तु अशुभकर्मबंध अवश्य होता है - इस बात को प्रकरणकार ४२वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- या तो कषायग्रस्त पुरुष की सत्यभाषा अत्यंत दुष्ट है, क्योंकि उसका प्रसरण होने पर वह जीवों के मिथ्याअभिनिवेश की हेतु होती है।४२।

❋ अप्रशस्तकषायप्रयुक्त भाषा अत्यंत दुष्ट है ❋

विवरणार्थ :- क्रोध से जो भाषा द्रव्यतः सत्य बोली जाती है वह द्रव्यतः मृषाभाषा की अपेक्षा से भी अत्यंत दुष्ट है, क्योंकि

---

१ स्थित्यनुबन्धकराणां हंदि कषायाणामेवानुरूपम्। प्रकृतिप्रदेशकर्म योगा बध्नन्ति न विरूपम्।।४१।।

१ दुष्टतरा वा सत्या क्रोधाविष्टानां येन सप्रसरा। मिथ्याभिनिवेशकृते जीवानां हन्दि सा भवति।।४२।।

= प्रसरणयुक्ता **सा** = सत्या भाषा **जीवानां मिथ्याभिनिवेशकृते भवति**। क्लिष्टाशयानां सत्यभाषणं 'सम्यगिदं मयोक्तं' इति दुर्भाषितानुमोदनं जनयन् महाकर्मबन्धहेतुरिति परमार्थतोऽसत्यमित्यर्थ इति किमतिविस्तरेण?।।४२।। उक्ता क्रोधनिःसृता। अथ माननिःसृतामाह।

[1]सा माणणिस्सिया खलु, माणाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह बहुधणवंतोऽहं अहवा सव्वं पि तव्वयणं।।४३।।

स्पष्टा। नवरं यथा बहुधनवानहमिति वचनमल्पधनस्याऽपि मानिनः [2]क्वचित्केनचित्पृष्टस्येत्यवधेयम्। शेषं प्राग्वत्।।४३।।

उक्ता माननिःसृता। अथ मायानिःसृतामाह

दुष्टतरेति। केवलं द्रव्यतोऽसत्यायाः सकाशादतिशयेन दुष्टेत्यर्थः।आपेक्षिकमिदं वचनम्। तेन न कश्चिद्विरोधः। **प्रसरणयुक्तेति**। प्रसरणं चात्र न सन्निकृष्टदेशसंयोगानुकूलव्यापाररूपं किन्त्वनुमोदनरूपं द्वितीयबालताकल्पम्। तेन युक्तेत्यर्थः। अत एव **मिथ्याभिनिवेशकृते भवति**। अतिस्वमतिकल्पनया तत्त्वविप्लवो मिथ्याभिनिवेशः, तत्कृते भवतीत्यर्थः। अत एव **महाकर्मबन्धहेतुरिति**। द्रव्यतोऽसत्यभाषाजन्यकर्मबन्धापेक्षया महतः कर्मबन्धस्य हेतुरित्यर्थः। **एतेन** महाकर्मबन्धरूपफलौपयिकत्वस्य सत्त्वात् कथं न फलौपयिकसत्यत्वमित्याशङ्काऽनुत्थानहता **द्रष्टव्या**, शिष्टैस्तादृशफलौपयिकस्य सत्यत्वेनाऽव्यवहारात्, सद्भ्यो हितत्वस्य सत्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्याभावाच्च तथापि सत्यत्वव्यवहारे तून्मत्तप्रलापप्रसङ्गादिति ध्येयम्।।४२।।

मानिन इति। परावज्ञाहेतुः स्वात्मन्युत्कर्षत्वारोपरूपोऽध्यवसायविशेषो मानः, तद्वत इत्यर्थः। मानिनः सर्वं वचनमसत्यमिति ज्ञात्वा मानोत्पत्तेर्जातिमदादिदशविधस्थानानि सम्यगवगम्य परिहर्त्तव्यानि यतिनेति भावः। एवमग्रेऽपि

उस क्रोधाविष्ट भाषक की भाषा का प्रसरण होने पर वह भाषा मिथ्याभिनिवेश की हेतु होती है। यहाँ प्रसरण का अर्थ अनुमोदन अभिप्रेत है। जब वक्ता क्रोध से वचनप्रयोग करता है तब वह वचन भावतः असत्य ही है, विराधक ही है, सत्य नहीं अर्थात् क्रोधप्रयुक्त वचन दुर्भाषित है, सुभाषित नहीं। फिर भी वक्ता को 'मैं ने तो सच्चा कहा है - इत्यादि रूप से अपने असत्य वचन की अनुमोदना होती है। एक तो क्रोध से बोलना ही मूर्खता है और दूसरी मूर्खता है उसकी अनुमोदना। इस तरह क्रोधप्रयुक्त द्रव्यतः सत्यवचन दुर्भाषित की अनुमोदना द्वारा अधिक पापकर्म बंध कराता है, क्योंकि पाप की अनुमोदना पाप के पक्षपातस्वरूप होने से क्लिष्ट कर्म का हेतु है। अशुभतर कर्मबंध का निमित्त होने से क्रोधप्रयुक्त संवादी भाषा अत्यंत दुष्ट होने से परमार्थ से तो असत्य ही है - यह सिद्ध होता है। इस संबंध में अधिक विचार भी किया जा सकता है, मगर यहाँ वह आवश्यक नहीं है। अतः इस विषय का विस्तार यहाँ नहीं किया गया है।।४२।।

क्रोधनिःसृतभाषारूप असत्यभाषा के प्रथम भेद का निरूपण हुआ। अब प्रकरणकार ४३वीं गाथा से क्रमप्राप्त माननिःसृत असत्यभाषा का निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- मानकषाय से ग्रस्त जीव जो बोलता है कि - 'मैं बहुत धनी हूँ' इत्यादि, वह माननिःसृत असत्यभाषा है या माननिःसृत सब वचन असत्य ही है।४३।

❋ माननिःसृत भाषा २/२ ❋

विवरणार्थ :- श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है। श्लोक में जो वचन दृष्टांतरूप से प्रदर्शित किया गया है कि 'मैं बहुत धनी हूँ' - यह वचन अभिमानी और अल्प धनी व्यक्ति का है जब वह किसीसे पूछा जाता है तब यह ज्ञातव्य है। शेष अर्थ तो गाथार्थ में ही बताया गया है। विशेष विचारविमर्श यहाँ क्रोधनिःसृत मृषाभाषा की तरह जानना चाहिए।।४३।।

माननिःसृत भाषा का निरूपण हुआ। अब क्रमप्राप्त मायानिःसृत भाषा को, जो असत्यभाषा का तृतीय भेद है, प्रकरणकार ४४वीं गाथा से बताते हैं।

---

१ सा माननिःसृता खलु मानाविष्टो कथयति यां भाषाम्। यथा बहुधनवानहं अथवा सर्वमपि तद्वचनम्।।४३।।

२ स्येव च तदव - इत्यशुद्धपाठो मुद्रितप्रतौ।

[1]मायाइ णिस्सिया सा, मायाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह एसो देविंदो अहवा सव्वंपि तव्वयणं।।४४।।

स्पष्टा। नवरं यथा - 'एष देवेन्द्र' इति ऐन्द्रजालिकस्याऽवास्तवशक्रप्रदर्शकस्य मायावचनम्। शेषं प्राग्वत्।।४४।। उक्ता मायानिःसृता अथ लोभनिःसृतामाह

[2]सा लोभणिस्सिया खलु लोभाविट्ठो कहेइ जं भासं। जह पुण्णमिणं माणं अहवा सव्वं पि तव्वयणं।।४५।।

स्पष्टा। नवरं **पूर्णमिदं मानम**िति कूटतुलादौ ग्राहकं प्रति लुब्धस्य वणिजो वचनं शेषं प्राग्वत् ४।।४५।। उक्ता लोभनिःसृता। अथ प्रेमनिःसृतामाह

[3]सा पेम्मणिस्सिया खलु पेम्माविट्ठो कहेइ जं भासं। जह तुज्ज अहं दासो अहवा सव्वंपि तव्वयणं।।४६।।

भावना कार्या। **ऐन्द्रजालिकस्येति**। मन्त्रबलेनाऽविद्यमानवस्तुप्रदर्शनपूर्वं परवञ्चकस्य। **मायावचन**मिति। हृदयेऽन्यथा कृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणाध्यवसायविशेषो माया तदुक्तम्-'स्वाश्रयाव्यामोहकरत्वे सतीतरव्यामोहकारणं माये'ति, तज्जन्यं वचनं मायावचनम्। परवञ्चनाभिप्रायेण किञ्चित्सत्येन परं प्रत्याययन् सम्यगाशयविपत्तितोऽसत्यवाद्येवेति भावः।।४४।।

लोभनिःसृतेति। परवित्तादिहरणादिहेतुकोऽध्यवसायविशेषो लोभः, तदुक्तम्- 'परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं यो हृदि

गाथार्थ :- मायाआविष्ट पुरुष जो बोलता है, जैसे कि - 'यह देवेन्द्र है' वह मायानिःसृत मृषाभाषा है या तो मायावी का सर्व वचन मायानिःसृत भाषास्वरूप है।४४।

❋ मायानिःसृत मृषा भाषा ३/२ ❋

विवरणार्थ :- श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। सिर्फ दृष्टान्त को इस तरह जानना चाहिए कि - इन्द्रजाल बिछानेवाला मायावी पुरुष अपनी माया से - जादु से - मन्त्र से नकली इन्द्र बना कर लोगों को ठगने की इच्छा से जो कहता है कि 'यह देवों का स्वामी इन्द्र है' इत्यादि, वह वचन मायानिःसृत मृषाभाषास्वरूप है। शेष यानी बचा हुआ श्लोक का चतुर्थ पाद 'अहवा....' इत्यादि का व्याख्यान क्रोधनिःसृत मृषा भाषा की तरह ज्ञातव्य है। संक्षेप में तो गाथार्थ में ही बताया गया है।।४४।।

मायानिःसृत मृषाभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार लोभनिःसृत भाषा का, जो कि मृषाभाषा के चतुर्थ भेदरूप है, ४५वीं गाथा से निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- लोभाविष्ट पुरुष जो बोलता है, जैसे कि 'यह मान = माप संपूर्ण है' इत्यादि, वह लोभनिःसृत मृषाभाषा है या तो लोभाविष्ट पुरुष का सर्व वचन लोभनिःसृत मृषाभाषा है।४५।

❋ लोभनिःसृत मृषा भाषा - ४/२ ❋

विवरणार्थ :- श्लोकार्थ स्पष्ट ही है। दृष्टांत में विशेषता यह है कि - धन पर लुब्ध व्यापारी ग्राहक को माल कम देता है, फिर भी वह कहता है कि - 'यह माल पूरा है, कम नहीं है' 'यह माप बराबर है' ये वचन लोभनिःसृत हैं और द्रव्यतः = व्यवहारतः भी मृषा ही है। अतः इनका यहाँ दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया गया है। या तो उसका सब वचन मृषा ही है। इसकी विवेचना क्रोधनिःसृत भाषा की व्याख्या की तरह जाननी चाहिए।।४५।।

इस तरह लोभनिःसृत मृषाभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब ४६वीं गाथा से प्रकरणकार श्रीमद् प्रेमनिःसृत मृषाभाषा का, जो कि मृषाभाषा का पाँचवा भेद है, निरूपण कर रहे हैं।

गाथार्थ :- प्रेमाविष्ट व्यक्ति का वचन जैसे कि - 'मैं तेरा दास हूँ' - यह वचन प्रेमनिःसृत मृषाभाषारूप है या तो प्रेमी का सब वचन प्रेमनिःसृत मृषाभाषारूप है।४६।

१ मायया निःसृता खलु, सा मायाविष्टः कथयित यां भाषाम्। यथैष देवेन्द्रोऽथवा सर्वमपि तद्वचनम्।।४४।।

२ सा लोभनिःसृता खलु लोभाविष्टः कथयति यां भाषाम्। यथा पूर्णमिदं मानमथवा सर्व्वमपि तद्वचनम्।।४५।।

३ सा प्रेमनिःसृता खलु प्रेमाविष्टः कथयति यां भाषाम्। यथा तवाऽहं दासोऽथवा सर्व्वमपि तद्वचनम्।।४६।।

स्पष्टा। नवरं '**तवाहं दास**' इति स्नेहाकुलस्य प्रियतमस्य प्रियतमां प्रति वचनं, '[1]प्रेम च तीव्रतरमोहोदयजनितः परिणामविशेष इति ध्येयम्। शेषं स्पष्टम् ५।।४६।।

उक्ता प्रेमनिःसृता। अथ द्वेषनिःसृतामाह

सा दोसणिस्सिया खलु दोसाविट्ठो कहेइ जं भासं।

जह न जिणो कयकिच्चो, अहवा सव्वंपि तव्वयणं[2]।।४७।।

स्पष्टा। नवरं 'न जिनः कृतकृत्य' इत्यभिनिविष्टपाखण्डिकस्य -' [3]इन्द्रजालकल्पया विद्ययाऽतिशयेनैव वाऽयमैश्वर्यं दर्शयति न

जायते। अभिलाषो द्विजश्रेष्ठ! स लोभः परिकीर्त्तितः।। '( ) ततो निर्गतेत्यर्थः।।४५।।

स्नेहाकुलस्येति। स्नेहः स्वाभाविकी प्रीतिः। तदुक्तम् दर्शने स्पर्शने वाऽपि श्रवणे भाषणेऽपि वा। यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते।। ( ) तेनाकुलः चञ्चलचित्तः स्नेहाकुलः तस्येत्यर्थः। **परिणामविशेष** इति। अध्यवसायविशेषो भावबन्धनरूपः, तदुक्तम्सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे। यद्भावबन्धनं युनोः स प्रेम परिकीर्त्तितः।। ( ) इति। अत एव देवगुर्वादिविषयकेण प्रीतिप्रकर्षेण यदुच्यते तन्न मृषा, मोहोदयाजनितत्वादिति सूचनार्थं **ध्येयमित्युक्तम्**।।४६।।

इन्द्रजालकल्पयेति। मन्त्रौषधादिभिश्चक्षुरादिप्रतिबन्देनाऽन्यथाप्रतिभानप्रयोजकं इन्द्रजालं, तत्कल्पा = तत्तुल्या, तया विद्ययेत्यर्थः। **अतिशयेनैवेति**। दुर्घटघटनाघटनपटुः परवञ्चकः शक्तिविशेषोऽतिशय इत्येवमतिशय-लक्षणं पाखण्डिनामऽभिमतम्।

वस्तुतस्तु तीर्थकरेतरवृत्तिर्गुणविशेषः। तदुक्तं प्रकरणकारेण **आध्यात्मिकपरीक्षायाम्** - सहजदेवकृतक्षायिकत्वोपाधिभेदावच्छिन्नभेदप्रतियोग्यव्यासज्यवृत्तितीर्थकरत्वसमानाधिकरणो विशेषगुण एवातिशयः (आ.प.श्लो.४ वृत्ति) इति।

*** प्रेमनिःसृत मृषा भाषा - ५/२ ***

विवरणार्थ :- पूर्व की तरह श्लोकार्ध से प्रेमनिःसृत भाषा के लक्षण का प्रतिपादन होता है जो स्पष्ट ही है और यहाँ गाथार्थ में बताया गया है। उदाहरण में विशेषता यह है कि - स्नेहराग से आकुल प्रियतम = प्रिया का स्वामी अपनी प्रिया को कहता है कि - मैं तेरा गुलाम हूँ - यह वचन प्रेमनिःसृत मृषाभाषा है। स्पष्ट ही है कि प्रिया का स्वामी होते हुए भी प्रिया का दासत्व का प्रदर्शक वचन द्रव्यतः और भावतः मृषा ही है। विवरणकार प्रेम के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि प्रेम अत्यंत तीव्र मोह के उदय से जनित आत्मा के परिणामविशेषरूप है इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। अतः देव-गुरु आदि विषयक प्रीतिविशेष से जो कहा जाता है वह प्रेमनिःसृत मृषाभाषा स्वरूप नहीं होता है। शेष व्याख्यान पूर्ववत् ज्ञातव्य है जो संक्षेप से गाथार्थ में ही बताया गया है।।४६।।

प्रेमनिःसृत मृषाभाषा का निरूपण हुआ। अब श्रीमद् ४७वीं गाथा से द्वेषनिःसृत मृषाभाषा को, जो कि असत्यभाषा का छट्ठा भेद है, बताते हैं।

गाथार्थ :- द्वेष से व्याप्त जीव जो बोलता है कि - जिनेश्वर कृतकृत्य नहीं है - इत्यादि, वह वचन द्वेषनिःसृत मृषाभाषा है। या तो द्वेषप्रयुक्त सर्व भाषा द्वेषनिःसृत मृषाभाषा ही है।४७।

*** द्वेषनिःसृत मृषाभाषा - ६/२ ***

विवरणार्थ :- गाथार्थ तो स्पष्ट ही है। पूर्वार्ध से द्वेषनिःसृत भाषा का लक्षण बताया गया है और पश्चार्द्ध के प्रथम पाद से दृष्टान्त का प्रदर्शन किया गया है। दृष्टांत का भावार्थ यह है कि कदाग्रहग्रस्त दुर्मति ३६३ पाखंडी आदि का, जो कि श्रीजिनेश्वर

---

१ अत्र मुद्रितप्रतौ - प्रेमवतीप्रवरमोहोदय - इति पाठेऽशुद्धो वर्त्तते।

२ सा दोषनिःसृता खलु, दोषाविष्टः कथयति यां भाषाम्। यथा न जिनः कृतकृत्योऽथवा सर्वमपि तद्वचनम्।।४७।।

३ अत्र मुद्रितप्रतौ - इन्द्रजालिकतया विद्यातिशयेनैव कार्य(चाय)मैश्वर्य "-इति अशुद्धः पाठः।

तु कर्मक्षयेण कृतार्थोऽयम्' इति भगवद्गुणमत्सरिणो वचनम्। द्वेषश्चात्र[1] मात्सर्य, क्रोधस्तु [2]तदतिरिक्तोऽप्रीतिपरिणाम इति भेदः। शेषं प्राग्वत् ६।।४७।।

उक्ता द्वेषनिःसृता। अथ हास्यनिःसृतामाह

[3]सा हासणिस्सिया खलु हासपरिणओ कहेइ जं भासं।
जह पेच्छगहासट्ठा, दिट्ठेवि न दिट्ठमियवयणं।।४८।।

अत्र सहजदेवकृतक्षायिकत्वोपाधिभेदावच्छिन्नभेदप्रतियोगीति सहजत्व-देवकृतत्व-क्षायिकत्वलक्षणधर्मविशेषत्रिकावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावप्रतियोगीत्यर्थः, सहजदेवकृतक्षायिकान्यतम इति यावत्। अव्यासज्यवृत्तीत्यनुक्तौ परतीर्थप्रवर्त्तकमहेशमायाव्यादिसाधारण्यापातेनाऽतिशयत्वं व्याहन्येत। अव्यासज्यवृत्तित्वं चैकमात्रवृत्तिधर्मावच्छिन्नपर्याप्तिमत्त्वम्। परमार्थतस्त्वेक एवातिशय उपाधिभेदात्त्रिधा भिद्यते यथैक एव योगो व्यापारभेदात्त्रिधा भिद्यत इत्यादि विभावनीयमित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन। **वेति**। एवकारसमभिव्याहारबलाद् वाकारो व्यवस्थायां न तु भजनायां, वैनयिकादिपाखण्ड्यभिप्रायापेक्षया 'विद्यये'ति, अज्ञानिपाखण्ड्यभिप्रायापेक्षया चाऽतिशयेनेतीयं व्यवस्था भाति। प्रत्यन्तरे चाऽत्र - 'इन्द्रजालिकतया विद्यातिशयेनैव कार्यमैश्वर्य'मित्यशुद्धः पाठ इति ध्येयम्। **कर्मक्षयेणेति** घातिकर्मक्षयेणेत्यर्थः।

ननु द्वेषस्य क्रोधरूपत्वेनैव क्रोधनिःसृतायामस्याः प्रवेशान्नैतत्पृथग्ग्रहणं न्याय्यमित्याशङ्कायामाह - **द्वेषश्चाऽत्र मात्सर्यमि**ति। परगुणाद्यसहिष्णुता मात्सर्यम्। तदुक्तं सांख्यतत्त्वकौमुद्यां वाचस्पति **मिश्रेण** - 'परसंपदुत्कर्षो हि हीनसंपत्पुरुषं दुःखाकरोति' (सां. त. कौ. पृ. २) **तदतिरिक्त** इति। मात्सर्यातिरिक्त इति। **एतेन** मृषाभाषाविभाजकोपाधिसामानाधिकरण्यरूप आधिक्यदोषोऽपि **निरस्त** उपाधिसाङ्कर्यविरहादिति भावनीयम्।

भगवंत के गुणों के प्रति मात्सर्य=ईर्ष्या रखते हैं, यह वचन कि - 'यह तो इंद्रजालरूप माया = विद्या से या तो अतिशय से ही अष्टप्रातिहार्यादिस्वरूप ऐश्वर्य को बताता है, वास्तव में यह कर्मक्षय से कृतार्थ = कृतकृत्य नहीं है' - द्वेषनिःसृत मृषावाद है, क्योंकि यह वचन द्वेषप्रयुक्त है और विसंवादी है। यदि बकरे की दाढी में से दूध निकले, तो भी श्रीजिनेश्वर भगवंत में माया - इंद्रजाल आदि का संभव नहीं है। अतः असद्भूत का उद्भावन करने से यह वचन नितांत मृषा ही है।

❋ द्वेष और क्रोध की भेदरेखा ❋

द्वेषश्च. इति। यहाँ यह शंका करना कि - 'द्वेष तो क्रोधस्वरूप ही है। अतः क्रोधनिःसृत भाषा में ही द्वेषनिःसृत भाषा का समावेश हो जायेगा। फिर क्रोधनिःसृत भाषा के अतिरिक्त द्वेषनिःसृत भाषा का ग्रहण करना ठीक नहीं है' - असंगत है। इसका कारण यह है कि - द्वेष और क्रोध एक नहीं है किन्तु अलग अलग है। द्वेष का अर्थ है मात्सर्य यानी अन्य के उत्कर्ष के प्रति असहिष्णुता। जब कि क्रोध का अर्थ है अप्रीतिरूप परिणाम जो कि मात्सर्य से अतिरिक्त है। क्रोध और द्वेष में इस तरह भेद होने से क्रोधनिःसृत भाषा से स्वतंत्ररूप से द्वेषनिःसृत भाषा का ग्रहण करना युक्तिसंगत ही है।।४७।।

इस तरह द्वेषनिःसृत भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब श्रीमद्जी ४८वीं गाथा से हास्यनिःसृत भाषा को, जो कि असत्य भाषा का ७ वाँ भेद है, बता रहे हैं।

गाथार्थ :- हास्य से परिणत हो कर जो भाषा कही जाती है वह हास्यनिःसृत भाषा है। जैसे कि प्रेक्षकों को हँसाने के लिए कुछ वस्तु देखने पर भी - 'मैंने यह नहीं देखा है' - ऐसा कहा जाता हुआ वचन।४८।

---

१ अत्र मुद्रितप्रतौ - 'परगुणासहनमात्सर्य' - इत्येवं पाठः।

२ अत्र मुद्रितप्रतौ - अप्रीतिरूपः परिणाम' - इत्येवं पाठः, सोऽपि शुद्धः।

३ सा हास्यनिःसृता खलु, हास्यपरिणतः कथयति यां भाषाम्। यथा प्रेक्षकहास्यार्थं दृष्टेऽपि न दृष्टमिति वचनम्।।४८।।

खलु निश्चये, **सा हास्यनिःसृता** हास्यं नाम हास्यमोहोदयजनितः परिणामविशेषः। तत्र परिणतः = **हास्यपरिणतः, यन्मृषां** बाधितार्थ कथयेत्, **यथा प्रेक्षकहास्यार्थं** विलोकमानस्त्रीजनमित्रादिहास्योत्पादनकृते कान्दर्पिकाणां, **दृष्टेऽपि** वस्तुनि न **दृष्टमिति वचनं**, तथावचन एव परस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्या हास्योत्पत्तेः ७।।४८।। उक्ता हास्यनिःसृता। अथ भयनिःसृतामाह

[1]सा य भयणिस्सिया खलु, जं भासइ भयवसेण विवरीयं।
जह णिवगहिओ चोरो नाहं चोरोत्ति भणइ नरो।।४९।।

भाषामित्यस्याऽनिबद्धस्य ग्रहणात् यां = भाषां, **भयवशेन विपरीतां** = असदर्थां, भाषते सा च खलु भयनिःसृता, यथा

हास्यमोहोदयजनित इति। **एतेन** सम्यग्विभाव्य अवसरोचिताल्पस्मितादिना भाषणे नाऽसत्यत्वम्, मोहोदयजनित-परिणामविशेषाभावादिति **व्यज्यते। बाधितार्थमिति**। क्रोधादिनिःसृता सर्वा भाषा मृषैव। हास्यनिःसृतं बाधितार्थकं वचनमेवाऽसत्यं न तु सर्वमेव, हास्यस्य नोकषायभेदत्वादतो मूले 'मोसं' इति पदमत्रोपात्तम्। यद्वा हास्यस्यापि मोहनीयत्वाऽविशेषात् तन्निःसृताः सर्वा अपि भाषा मृषैव यथोपयोगं नयविशेषाभिप्रायेण व्याख्यानस्य सर्वनयसमूहात्मके भगवत्प्रवचने न्याय्यत्वादिति सूक्ष्मेक्षिकया दृष्टव्यम्। **तथावचन एवेति**। तथाविधविसंवादिवचने सत्येवेत्यर्थः। **प्रवृत्तिनिवृत्त्येति**। वस्तुग्रहणादिरूपप्रवृत्तेर्निवर्त्तनेनेत्यर्थः। हास्योत्पत्तेर्दर्शनादिकारणानि ज्ञात्वा परिहर्त्तव्यानि यतिनेति प्रकृते भावः। तदुक्तं ***स्थानाङ्गे*** - 'चउहिं ठाणेहिं हासुप्पत्ती सिता तं जहा - पासित्ता, भासेत्ता, सुणेत्ता, संभारेत्ता त्ति। (स्था. ४/१/२६९)।।४८।।

अनिबद्धस्य ग्रहणादिति। मूलग्रन्थेऽनुपात्तस्याऽप्यर्थवशेन ग्रहणादिति भावः।।४९।।

✲ हास्यनिसृत मृषाभाषा - ७/२ ✲

विवरणार्थ :- हास्य का अर्थ है नोकषायात्मक हास्यमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न विशेष परिणाम। उसमें परिणत हो कर जो मृषा कथन, जिसका अर्थ बाधित होता है, किया जाता है वह हास्यनिःसृत असत्यभाषा है। यहाँ खलु शब्द निश्चय अर्थ में है अर्थात् हास्य में परिणत हो कर जो विसंवादी भाषा बोली जाती है वह निश्चितरूप से हास्यनिःसृत भाषा ही है, जो असत्य भावभाषा के सप्तम भेद में परिगणित है। हास्यनिःसृत मृषाभावभाषा का लक्षण बताने के बाद विवरणकार हास्यनिःसृत भाषा के दृष्टांत को बताते हुए कहते हैं कि कान्दर्पिक यानी चेष्टाविशेष से हास्यकारी नट, विदूषक आदि लोग अपने को देखनेवाले स्त्रीवर्ग, मित्र आदि के हँसाने के उद्देश से किसी वस्तु को देखने पर भी - 'मैंने यह चीज नहीं देखी है' - इत्यादि वचन कहते हैं जो कि हास्यनिःसृत भाषा के लक्षण से आक्रान्त होने से हास्यनिःसृत भाषारूप ही है। आशय यह है कि प्रेक्षक के देखते हुए ही विदूषक आदि किसी व्यक्ति की अमुक चीज ग्रहण करता है और बाद में जब वह अनजान व्यक्ति विदूषक को पूछती है कि - 'तुमने मेरी अमुक चीज देखी हैं? तब विदूषक प्रेक्षकवर्ग को हँसाने के लिए उस वस्तु के देखने का भी साफ साफ इन्कार करता है जिसके कारण वह व्यक्ति उस खोई हुई चीज की शोधनादि प्रवृत्ति अन्यत्र करती है और इसको देख कर प्रेक्षक लोग हँसने लगते हैं। यहाँ प्रेक्षकों को हँसाने के लिए वैसा ही वचन बोलना आवश्यक है। वैसा प्रत्यक्ष से बाधित वचन बोलने पर ही प्रेक्षक लोक हँसते हैं। अतः यह भाषा हास्यनिःसृत भाषा कही जाती है।।४८।।

हास्यनिःसृत भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार ४९वीं गाथा से अवसरोचित भयनिःसृत भाषा का, जो कि मृषा भाषा ८ वाँ भेद है, निरूपण कर रहे हैं।

गाथार्थ :- भय के निमित्त से जो विपरीत वचन कहा जाता है वह भयनिःसृत भाषा है। जैसे कि राजा से पकडा गया चोर मार-पीट-फाँसी आदि सजा के भय से न्याय की कचेरी में कहता है कि - मैं चोर नहीं हूँ - इत्यादि वचन भयनिःसृत भाषा का उदाहरण है।४९।

✲ भयनिःसृत मृषाभाषा ८/२ ✲

विवरणार्थ :- मूल गाथा में 'भाषां' इस द्वितीया विभक्तिवाले पद का ग्रहण नहीं किया गया है जिसका ग्रहण यहाँ अर्थ के

१ सा च भयनिःसृता खलु यां भाषते भयवशेन विपरीताम्। यथा नृपगृहीतश्चौरो नाहं चौर इति भणति नरः।।४९।।

नृपगृहीतश्चौरो नरो 'नाहं चौर' इति भणति ८।।४९।। उक्ता भयनिःसृता। अथाख्यायिकानिःसृतामाह

[1]जा कूडकहाकेली, अक्खाइअणिस्सिया हवे एसा। जह भारहरामायणसत्थेऽसंबद्धवयणाणि।।५०।।

या कूटकथाकेलिरेषाऽऽख्यायिकानिःसृता भवेत्, यथा भारतरामायणशास्त्रेऽसम्बद्धवचनानि। वेदादौ विध्यादिवचनानि तु

भयवशेनेति। तृतीयार्थः कर्तृत्व-करणत्व-ज्ञानज्ञाप्यत्व-साहित्य-प्रतियोगित्व-निरूपितत्व-निष्ठत्व-समवेतत्व-समानकालीनत्व-प्रयोज्यत्वावच्छिन्नत्वाऽभिन्नत्वादिः। प्रकृते च प्रयोज्यत्वम्। ततश्च भयनोकषायप्रयुक्तविपरीतार्थ-प्रज्ञापनी भाषा भयनिःसृतेति फलितम्। विपरीतेति पदं च परिचायकं न तु व्यावर्तकम्। तेन व्याधादिपृष्टस्य ताडनादिभयेन मृगादिगमनसत्यदिग्भाषणे द्रव्यतः सत्यत्वेऽपि भावतोऽसत्यत्वमेवेति ध्वनितम्। नाहं चौर इति। इदमप्युपलक्षणं, तेन स्वापराधाऽस्वीकारनिमित्तकातिताडनादिभयेन स्वापराधस्वीकारे द्रव्यतः सत्यत्वेऽपि भावतोऽसत्यत्वमेव, स्वापराधाऽऽच्छादनेच्छायाः सत्त्वेन यथार्थतात्पर्यविरहादिति पर्यालोचनीयम्।

भारतरामायणेति। लौकिकभारतरामायणेति। भीमहनुमन्मीलनवृक्षालिंगननिमित्तकसत्यवतीपुत्रव्यासजन्मादि-प्रतिपादकानि **भारतेऽ**सम्बद्धवचनानि। **रामायणे** च हनुमत्पूच्छ-हनुमत्सूर्यगिलन-भूमिस्थकुम्भाधिकरणकसीताजन्म-सुपर्णानाशिकाच्छेदन-स्वर्णमृगानयनोद्देश्यकानुधावनादिकं तथा रामस्य पूर्णादपूर्णीभवनं सीताया लक्ष्मणं प्रति कर्क-शोपालम्भदानं तथा 'युद्धादिकं स्वकीर्त्त्यर्थाद्यर्थं कृतं न तु त्वदर्थं, षण्मासपर्यन्तरावणगृहे आवासात् त्वच्छीलशङ्का मम मनसि वर्तते' इत्यादि रामस्य सीतां प्रति वचनमित्यादीनि स्वकपोलकल्पितवचनानि कियच्छक्यन्ते प्रदर्शयितुम्।

इदं चोपलक्षणं ब्रह्मणो लूनशिरस्कत्वस्य, महादेवस्याऽनन्तशिष्नत्वस्य, शक्रस्य सहस्रयोनित्वस्य, विष्णोः सरुग्दृष्टित्वस्य, अरणिपतिताद्व्यासवीर्याच्छुकदेवजन्मनः[3], [3B]अश्वीभूतसूर्यादश्विन्युत्पादस्य च प्रतिपादकानां **पुराणा**दिवचनानाम्।

ननु तर्हि वेदविधिवचनानि कुत्राऽन्तर्भवन्तीत्याशङ्कायामाह **वेदादाविति**। आदिशब्देन मनुवसिष्टस्मृत्यादेर्ग्रहणम्। **विध्यादिवचनानीति**। विध्यादिप्रतिपादकवचनानि 'श्वेतं वायव्यमजमालभेत भूतिकामः' (श. प. ब्रा.) इत्यादीनि।

सन्दर्भ से अभिप्रेत है। अतः 'यां' का अर्थ होगा 'यां भाषां' अर्थात् पुरुष जिस भाषा को जिसका अर्थ असत् यानी काल्पनिक = बाधित होता है, भय के कारण विपरीत बोलता है वह भाषा भयनिःसृत भाषा है। जैसे राजा से पकडे गये चोर का यह वचन कि - 'मैं चोर नहीं हूँ' - भय से प्रयुक्त होने से भयनिःसृत मृषावचन स्वरूप है।।४९।।

भयनिःसृत भाषा का निरूपण हुआ। अब आख्यायिका भाषा का, जो कि असत्य भाषा के ९ वें भेदरूप है, ५०वीं गाथा से प्रकरणकार निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- झूठी कथा कहने की जो क्रीडा=आदत है वह आख्यायिकानिःसृत भाषा है, जैसे कि भारत-रामायण आदि शास्त्र में ग्रथित अयुक्तवचन।५०।

❋ आख्यायिकानिःसृत मृषाभाषा ❋

विवरणार्थ :- आख्यायिका का अर्थ है कथा। क्रीडा से या व्यसन से ही जो गलत कहानी कही जाती है, अनबनी घटनाओं का जो कथन किया जाता है वह आख्यायिकानिःसृत यानी आख्यायिका से उत्पन्न मृषाभाषा है। आशय यह है कि कोई भी घटना, प्रसङ्ग, कथा जब कही जाती है तब उसमें जो वचन मिथ्या होते हैं वे आख्ययिकानिःसृत मृषाभाषारूप होते हैं। महाभारत,

१ या कूटकथाकेलिराख्यायिकानिःसृता भवेदेषा। यथा भारत-रामायणशास्त्रेऽसम्बद्धवचनानि।।५०।।

२ यदुपघातपरिणतो भाषते वचनमलीकमिह जीवः। उपघातनिःसृता सा यथाऽचौरेऽपि चौर इति।।५१।।

३ भागवत, ३B मार्कंडेयपुराण-अध्या. ७५ पत्र १९९

परप्रतारणार्थं **कालासुरा**दिकृतत्वेन मायानिःसृतायामन्तर्भवन्तीत्यवधेयम् ९।।५०।। उक्ताऽऽख्यायिकानिःसृता। अथोपघातनिःसृता माह

[1]जं उपघायपरिणओ भासइ वयणं अलीअमिह जीवो।
उवघायणिस्सिआ सा, जहा अचोरेवि चोरोत्ति।।५१।।

आदिशब्देन निषेधादेर्ग्रहणम्। **परप्रतारणार्थमिति** सगरसुलसादिप्रतारणकृते। **अनेन** वेदादीनां प्रामाण्यं **निराकृतम्**।

वेदानां **नैयायिकै**रीश्वरकर्तृकत्वं, **मीमांसकै**र्नित्यत्वं **सुगतै**श्चाष्टककृतत्वमभ्युपगम्यते। तन्निरासार्थमाह - **कालासुरादिकृतत्वेनेति। मधुपिङ्ग**जीवमहाकालाख्यासुरादिकर्तृकत्वेनेत्यर्थः। प्रकृते ***त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रे*** 'मधुपिङ्गोऽप्यपमानात् कृत्वा बालतपो मृतः। महाकालाभिधः षष्टिसहस्रोऽसुरोऽभवत्।। (त्रि. श. ७/२/४७४) इत्यादितः "सगरं सुलसायुक्तं स जुहावाऽध्वरानले। कृतकृत्यो जगामाऽथ महाकालः स्वमाश्रयम्।। (त्रि. श. ७/२/५००) इत्यन्तमुक्तं दृष्टव्यम्।

एवञ्च यज्ञेषु हिंसायाः प्रतिपादकस्य ***भागवतस्य***[1] यज्ञेषु हन्यमानपशूनां स्वर्गमनस्य प्रतिपादकस्य ***विष्णुपुराणस्य***, यज्ञवधार्थं पशुनिर्माणस्य प्रतिपादकस्य [2]***मनुस्मृतिवचनस्य***, एकपुत्रहोमे शतपुत्रोत्पादविषयकस्य [3]***लोमेशो***पदेशस्य, श्राद्धमांसाऽभक्षकस्य पशुलोमप्रमितवर्षस्थितिनरकगमनप्रतिपादकस्य [4]***वसिष्टस्मृति***वचनस्य, श्राद्धमांसभक्षणे निर्दोषत्वस्य प्रतिपादकस्य [5]***याज्ञवल्क्यस्मृतिवचनस्य***, यज्ञश्राद्धादौ मांसाऽभक्षकस्याऽब्राह्मणत्वप्रतिपादकस्य [6]***व्यासस्मृतिवचनस्य***, **दशरथश्राद्धे** ऋषीणां मृगादिमांसभक्षकत्वप्रतिपादकस्य [7]***पद्मपुराणवचनस्य***, मांसादितः पितृतृप्तिप्रतिपादकस्य [8]***मत्स्यपुराणवचनस्य***, ब्राह्मणसम्प्रदानकभार्यादानप्रतिपादकस्य [9]***भविष्यपुराण***वचनस्य, 'स्त्रियमध उपासीत' (बृ. आ. उप. छ/४/२) इति **बृहदारण्यकोपनिषद्वचनस्य**, 'चतुर्गामी भवेत् विप्रः' इत्यनेन विप्रस्य चतुर्वर्णनारीगामित्वविधायकस्य [10]***वराहपुराण***वचनस्य च अज्ञजनप्रतारणकृते कृतत्वेन मायानिःसृतायामन्तर्भावः कर्तव्य इति **दिक्**।। ५० ।।

रामायण आदि लौकिक शास्त्रों में अनेक वचन ऐसे हैं कि जो अयुक्त हैं - असंभवित हैं। अतः वैसी भाषा आख्यायिकानिःसृत मृषाभाषा कही जाती है।

वेदादौ. इति। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि लौकिक शास्त्र भी अनेक असंबद्ध वचनों से घटित है फिर भी उन वेदादि शास्त्रों का आख्यायिकानिःसृत भाषा में समावेश नहीं होता है किन्तु मायानिःसृत मृषाभाषा में समावेश होता है। इसका कारण यह है कि - वेदों की रचना कालासुर ने की है जिसका उद्देश दूसरों को ठगने का था। माया से निःसृत होने से वेद आदि के 'पशुं आलभेत' इत्यादि सावद्य विधिवाक्य, पापप्रवर्तक विधिवचनादि मायानिःसृत मृषा भाषा में प्रविष्ट होते हैं, न कि आख्यायिकानिःसृत भाषा में इस बात का ख्याल रखना आवश्यक है।।५०।।

आख्यायिकानिःसृत भाषा का निरूपण हुआ। अब ग्रंथकारश्री ५१वीं गाथा से असत्यभाषा के अंतिम भेदरूप उपघातनिःसृत भाषा का निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- उपघात में परिणत हो कर जो झूठ वचन कहा जाता है, जैसे कि जो चोर नहीं है उसे भी - तू चोर है - इत्यादिवचन, वह उपघातनिःसृत मृषाभाषा है।५१।

१. भागवतस्कंध-४, अध्याय-४, पत्र-१०, श्लो-६. २. मनुस्मृति-अध्याय-५, श्लो-३९-४०

३. महाभारतवनपर्व अध्याय १२७. ४. वसिष्टस्मृति-पृ. ४३, श्लो-३१

५. एवं दशधाऽसत्या, भाषोपदर्शिता यथासूत्रम्। एषाऽपि भवति सत्या, प्रशस्तपरिणामयोगेन।।५२।। ६. याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय-१, श्लो-१६९ ७. ७ व्यासस्मृति-पृ. २५, श्लो-५६. ८. पद्मपुराण-प्रथमसृष्टिखंड, अध्या. ३३, पत्र-९७, श्लो ७७/८४. ९. मत्स्यपुराण-अध्या-१७, श्लो ३०/३६. १०. भविष्यपुराण-पृ. ५५७ ११ वराहपुराण-अध्या. ६८।

उपघातपरिणतः = पराशुभचिन्तनपरिणतः, **इह** = जगति **जीवो यदलीकं** = अनृतं, **वचनं भाषते सा उपघातनिःसृता यथाऽचौरे 'चौर' इति**, वचनमिति शेषः।।५१।। उक्तोपघातनिःसृता। तदेवमुपदर्शिता दशाऽप्यसत्याभेदा इत्युपसंहरति।

[1]एवं दसहाऽसच्चा भासा उवदंसिया जहासुत्तं। एसा वि होइ सच्चा पसत्थपरिणामजोगेणं।।५२।।

एवं = उक्तप्रकारेण, **दशधा** = दशभिः प्रकारैः, **असत्या भाषा उपदर्शिता** कथं? **यथासूत्रं** = [2]समयपरिभाषामनुल्लंघ्येत्यर्थः। दर्शनीयशेषमाह **एषा** = उपदर्शिताऽसत्या, **सत्याऽपि प्रशस्तपरिणामयोगेन**। तथाहि - प्रवचनप्रद्विष्टनृपादिकं प्रति लब्धिमतो महर्षेः-

---

अलीकमिति विशेषणमेतद्व्यवहारनयमतेन। निश्चयनयमते तूपलक्षणमेतन्न विशेषणम्। तेनोपघातपरिणामेन परसद्भूतदोषोद्भावनमप्युपघातनिःसृतत्वेनासत्यवचनमिति फलितमिति निश्चयनयाभिप्रायेण ज्ञातव्यम्।

यथासूत्रमिति। सूत्रलक्षणं चेदं प्रोक्तम् - 'सूत्रं नामाऽल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।" तदनतिक्रम्येति यथाश्रुतार्थो न घटते, सूत्रे = समयेऽतिसङ्क्षेपेण प्रदर्शितत्वात्, अत्र च किञ्चिद्विस्तरेण नयमतभेदपुरस्सरमुक्तत्वादित्याह **समयपरिभाषामनुल्लंघ्येति**। सर्वनयसमूहात्मकस्य समयस्य तत्तन्नयपुरस्कृतां परिभाषामनतिक्रम्येत्यर्थः।

ननु प्रशस्तपरिणामयोगेन मृषाभाषायाः सत्यत्वप्रतिपादनमसङ्गतम्। न हि सम्भवत्युत्पन्नाया असत्यायाः प्रशस्तपरिणामयोगेन सत्यत्वम्? स्वरूपस्य त्याजयितुमशक्यत्वात्। कथं चोत्पन्नाया असत्याया प्रशस्तपरिणामयोगः? निसृष्टाया भाषायाः क्षणिकत्वात् ततो व्यधिकरणत्वाच्चेति **चेत्? मैवम्**, तात्पर्यापरिज्ञानात्। प्रशस्तपरिणामस्य योगो यस्मिन् कषाये स प्रशस्तपरिणामयोगः, तेन प्रशस्तपरिणामयोगेन कषायेणेत्यत्र तात्पर्यम्। तृतीयार्थश्च प्रयोज्यत्वम्, तस्य द्रव्यतोऽसत्यायामन्वयः। ततश्च प्रशस्तपरिणामविशिष्टकषायप्रयुक्ता द्रव्यतोऽसत्या भावतः सत्या भवतीत्यर्थः। इदं च घृतं दहतीति न्यायेनोक्तम्। निश्चयतस्तु प्रशस्तपरिणामस्यैव सत्यत्वम्, निश्चयाङ्गभूतशुद्धव्यवहारेण च प्रशस्तपरिणामप्रयुक्तत्वेन क्रोधादिनिःसृतायाः सत्यत्वमित्यादि निपुणतरं निभालनीयम्।

✱ उपघातनिःसृत मृषाभाषा - १०/२ ✱

विवरणार्थ :- यहाँ उपघात का अर्थ है अन्य का अशुभ चिंतन। अतः दूसरे को पीडा पहूँचाने के इरादे से जो मृषाभाषा बोली जाती है वह उपघातनिःसृत मृषाभाषा है। यह बात उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। जैसे कि अमुक पुरुष चोर नहीं है फिर भी उनको पीडा करने के उद्देश से 'यह चोर है' ऐसा कहना यह उपघातनिःसृत मृषावचन है। यद्यपि यहाँ मूलग्रंथ में 'वचनं' पद का उल्लेख नहीं किया गया है मगर उसका अर्थ के बल से यहाँ अध्याहार होने से लाभ होता है। तब अर्थ यह प्राप्त होगा कि - शाहुकार को भी पीडा, कलंक देने के आशय से कहा गया वचन कि 'यह चोर है' यह उपघातनिःसृत मृषाभाषा है।।५१।।

उपघातनिःसृत भाषा का निरूपण हुआ। इसके साथ ही असत्य भाषा के दस भेदों का निरूपण भी समाप्त हुआ। इसका उपसंहार ५२वीं गाथा से ग्रन्थकार करते हैं।

गाथार्थ :- इस तरह असत्य भाषा सूत्र के अनुसार दस भेद से बतायी गई। यह भी प्रशस्तपरिणामयुक्त कषाय से सत्य होती है।५२।

विवरणार्थ :- आगम की परिभाषा का उल्लंघन किये बिना दस प्रकार की मृषाभाषा का विवेचन हुआ। अब मृषाभाषा के संबंधी शेष = बचा हुआ वक्तव्य बताया जाता है। शेष वक्तव्य में यह दिखाना है कि - प्रदर्शित क्रोधनिःसृत आदि मृषा भाषा भी प्रशस्त परिणामयुक्त कषाय से प्रयुक्त होती है तब सत्य हो जाती है। यह बात उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। जैसे कि जिनशासन के द्वेषी राजा को सन्मार्ग लाने के और प्रवचन भी अप्रभ्राजना आदि को दूर करने के प्रयोजन से जब लब्धिवंत मुनि भगवंत क्रोधपूर्वक उस राजा को - तुम राजा ही नहीं हो - इत्यादि वचन कहे तब वह वचन प्रशस्तक्रोध से प्रयुक्त होने से मृषा नहीं है मगर सत्य ही है।

'न त्वं नृप' इत्यादिक्रोधनिःसृतं वचनं सत्यमेव। **न चाऽत्र** नृपपदस्य प्रशस्तनृपे लक्षणा, अन्यत्राऽपि तत्प्रसक्तेरित्येवमन्यत्राऽप्यूह्यम्।।५२।।

नन्वयं कारणभेदकृतः कार्यविभागः, कारणानि च करणाऽपाटवादीन्यतिरिच्यन्तेऽपि अन्तर्भवन्ति च रागद्वेषमोहेष्वपीत्यत आह

ननु प्रशस्तपरिणामपर्यन्तानुधावनाऽपेक्षया नृपपदस्य प्रशस्तनृपे लक्षणावृत्त्यङ्गीकारस्यैव युक्तत्वम्, प्रशस्तपरिणामे मृषाभाषासामग्रीविघटकत्वाकल्पनात्। तथा च 'न त्वं नृप' इत्यस्य 'न त्वं प्रशस्तनृप' इत्येवमबाधिताऽर्थस्य लक्षणया लाभेन सत्यत्वस्याऽक्षतत्वमित्याशयेनाऽऽशङ्कते **न चेति**। समाधत्ते **अन्यत्राऽपि तत्प्रसक्तेरिति**। अप्रशस्तकषायस्थलेऽपि लक्षणाप्रसक्तेस्सत्यत्वाऽऽपत्तिरित्याशयः। पुत्रं प्रति पितुरप्रशस्तक्रोधप्रयुक्तस्य 'न त्वं मे पुत्र' इतिवचनस्याऽपि सत्यत्वापत्तिः, पुत्रपदस्य प्रशस्तपुत्रे लक्षणाया सुवचत्वात् अन्यथाऽर्धजरतीयप्रसङ्गादित्यजां निष्काशयतः क्रमेलकापातः। **अन्यत्राऽप्यूह्यमिति**। माननिःसृतादिस्थलेऽपि विभावनीयमित्यर्थः तच्च सुगममिति न प्रदर्श्यतेऽस्माभिः।

कारणभेदकृत इति। विभागश्च क्वचिज्जातिभेदकृतः, क्वचिदुपाधिभेदकृतः, क्वचिद्विशेषभेदकृतः, क्वचिद्गुणभेदकृतः, क्वचित्कार्यभेदकृतः, क्वचित्कारणभेदकृतः, क्वचित्प्रतियोगिभेदकृतः क्वचित्सम्बंधादिभेदकृतः, विभागोऽपि कार्यविभागः, कारणविभागः, पदार्थविभागो, द्रव्यविभागो, गुणविभागः, कर्मादिविभाग इत्येवमनेकधा भिद्यते। प्रकृते च भाषायाः कार्यत्वविवक्षणे भाषाविभागः कार्यविभागः। स च कारणभेदेन भवति। अत उक्तं '**कारणभेदकृतः कार्यविभाग** इति। क्रोधादिकारणभेदकृतः मृषाभाषात्मककार्यविभाग इत्यर्थः। ततः किमित्याह **कारणानीति। अतिरिच्यन्तेऽप्यन्तर्भवन्ति चेति**। अत्र पूर्वपक्षिण इदमाकूतम् कार्यविभागस्य कारणवैजात्यप्रयुक्तत्वात् कारणतावच्छेदकधर्मभेदेन

शंका :- न चात्र. इति। अप्रशस्त कषाय से प्रयुक्त भाषा मृषा है और प्रशस्त कषाय से प्रयुक्त भाषा सत्य है इस कल्पना की अपेक्षा तो नृपपद की प्रशस्त नृप में लक्षणा करना ही उचित है। तात्पर्य यह है कि - 'तूं राजा नहीं है' इस वाक्य में राजा पद का अर्थ है प्रशस्त राजा = नीतिसंपन्न अच्छा राजा। तब उस वाक्य का अर्थ यह होगा कि - 'तुम नीतिमान राजा नहीं हो।' यह वचन तो सत्य ही है, क्योंकि जिनशासन के प्रति बिना कारण के द्वेष रखनेवाला नीतिसंपन्न कैसे हो सकता है? इस तरह उपर्युक्त वाक्य में सत्यत्व का समर्थन लक्षणा से ही हो सकता है तब उसको छोड कर प्रशस्त परिणाम की और दौडना कैसे उचित होगा?

* मृषा भाषा को लक्षणा से सत्य बताना अयुक्त है *

समाधान :- अन्यत्रापि. इति। जनाब! एक ही लकडी से सब को हाँकना कैसे उचित होगा? क्योंकि 'गंगायां घोषः' इत्यादि स्थल में प्रसिद्ध लक्षणा का यहाँ आश्रय करने पर तो प्रशस्तक्रोधप्रयुक्त भाषा की तरह अप्रशस्तक्रोधप्रयुक्त भाषा भी सत्य सिद्ध हो जायेगी। आशय यह है कि नृपपद की जैसे न्यायसंपन्न राजा में लक्षणा कर के सत्यत्व की सिद्धि की जाती है ठीक वैसे ही 'तुम मेरे पुत्र नहीं हो' इस वाक्य में, जो कि अप्रशस्तक्रोधाविष्ट पिता के द्वारा अपने पुत्र के प्रति प्रयुक्त है, भी पुत्र पद की 'प्रशस्त पुत्र में लक्षणा करने से सत्यत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि तब अर्थ यह प्राप्त होगा कि - तुम मेरा अच्छा पुत्र नहीं हो - जो सत्य ही है। पिता को नाराज करनेवाला पुत्र सुपुत्र कैसे हो सकता है? इस तरह लक्षणा का आश्रय करने पर अप्रशस्तक्रोधकषायप्रयुक्त भाषा भी सत्य हो जायेगी मगर उसमें सत्यत्व नहीं है किन्तु असत्यत्व ही है। लक्षणा का स्वीकार एक स्थल में हो और दूसरे स्थल में न हो - ऐसी कोई राजाज्ञा तो नहीं है। अतः दोनों ही स्थल में समानरूप से लक्षण की प्रवृत्ति होने से सत्यत्व की सिद्धि हो जायेगी। यह तो बकरे को निकालने पर उंट घूस गया। इस तरह मानकषायनिःसृत मृषाभाषा के स्थल में भी विचार करने की विवरणकार सूचना देते हैं।।५२।।

पूर्वपक्ष :- नन्वयं. इति। सजातीय कारण से सजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है और विजातीय कारण से विजातीय कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः कार्यवैजात्य का प्रयोजक कारणवैजात्य है। यहाँ क्रोधनिःसृतभाषा, माननिःसृतभाषा इत्यादिरूप से जो मृषाभाषारूप कार्य का विभाग किया गया है वह क्रोध, मान आदि कारणभेद से प्रयुक्त है। क्रोध, मान आदि, जो कि मृषाभाषा के

१. कप्रतौ - परिषामा - इत्यशुद्धः पाठः।

[1]रागेण व दोसेण व मोहेण व भासई मुसं भासं। तहवि दसहा विभागो अणाइणिद्देससंसिद्धो।।५३।।

रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा भाषते मृषां भाषाम्। यदुक्तम् - 'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्। यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं किं स्यात्।।' (   ) इति। इदं चावधारणमितरासाधारणकारणनिषेधार्थम्, क्रोधभयादिकषायनोकषायाणां द्वेषे, कार्यतावच्छेदकधर्मभेदस्य न्याय्यत्वम्। मृषाभाषाकारणताच्छेदकधर्मांश्च न केवलं क्रोधत्वादयोऽपि तु करणाऽपाटवत्व-प्रमादत्वानाभोगत्व-सहसाकारत्वादयोऽपि विद्यन्ते। ततश्च क्रोधनिःसृतभाषादिवत् करणापटुतानिःसृतभाषा, प्रमादनिःसृतभाषा इत्यादिमृषाभाषानिर्देशस्याऽपि न्याय्यत्वात् तेषां क्रोधनिःसृतादावनन्तर्भावात्। अनेन न्यूनतादोषो ध्वन्यते। **न च** करणापटुता-प्रमादादीनां मोहेऽन्तर्भावदविवक्षेति **वाच्यम्** तथा सति क्रोध-मान-भयादीनां द्वेषत्वाक्रान्तत्वेन माया-लोभ-हास्यादीनां रागत्वाक्रान्तत्वेन यथाक्रमं द्वेषरागयोरन्तर्भावेन रागनिःसृतभाषा द्वेषनिःसृतभाषेत्येवं निर्देश-प्रसङ्गेन विभाजकतावच्छेदकधर्माणां परस्परसामानाधिकरण्यरूपस्याऽऽधिक्यदोषस्य वज्रलेपायितत्त्वापत्तेः, मोह-निःसृतभाषाया अप्रदर्शनेन न्यूनताबुभुक्षितराक्षसीप्रसरणप्रसङ्गाच्चेत्येकं सन्धित्सतोऽपरत्र प्रच्याव्यत इति पूर्वपक्षाशयं 'रागेणव'त्ति श्लोकार्धेनोपन्यस्य नयविशेषापेक्षयाऽङ्गीकृत्य च नयमतभेदेन पश्चार्द्धेन प्रकरणकारः समाधास्यति।

यस्येति। जिनस्येत्यर्थः। **अनृतकारणं** किं स्यात्? नैव स्यादित्यर्थः। अयं **वाचकमुख्याश**यो यदुत रागद्वेष-मोहानामेवानृतवचनबीजत्वेन तत्क्षयवतो भगवतो वचनेऽनृतत्वशङ्कानुपपत्तिः, रागादिप्रतियोगिकाभावस्याऽसत्य-भाषाकारणविशेषाभावकूटरूपत्वेनासत्यवचनकारणसामान्याभावसाधकत्वात्। नन्वेवं सति रागाद्यतिरिक्तस्य क्रोधादि-करणापाटवादेर्मृषावादकारणत्वं न स्यादित्याशङ्कायामाह - **इदं चेति। इतरासाधारणकारणनिषेधार्थमिति।**

कारण हैं, परस्परभिन्न-विजातीय होने से क्रोधनिःसृत, माननिःसृत आदि अलग अलग मृषाभाषा के भेद बताये गये हैं। मगर यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे मृषाभाषा के कारण क्रोध आदि है वैसे ही करणापटुता यानी सम्यक् शब्दोच्चारण में जिह्वेन्द्रिय की असमर्थता आदि भी मृषाभाषा के कारण हैं जिनका क्रोध-मान आदि में समावेश नहीं हो सकता है। अतः क्रोधादिनिःसृत भाषा की तरह करणापटुतानिःसृत भाषा इत्यादि निर्देश करना आवश्यक है। अतः मृषाभाषा के दश भेद है ऐसा कहना ठीक नहीं है।

अन्तर्भवति च. इति। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि - यदि आप करणापटुता आदि मृषावादकारणों का मोह में अंतर्भाव करोगे तब तो आपसे बताये गये क्रोध आदि कारणों का भी राग और द्वेष में अंतर्भाव हो सकता है। अतः राग-द्वेष-मोहनिःसृत भाषा से अतिरिक्त कोई भी मृषाभाषा न हो सकेगी। तब भी मृषाभाषा के दश प्रकार की संगति न हो सकेगी। अतः मृषाभाषा का दशविध विभाग ठीक नहीं है।

ग्रंथकार पूर्वपक्ष की उपर्युक्त शंका का ५३वीं गाथा के पूर्वार्द्ध से निरूपण कर के उत्तरार्ध से दशविध विभाग ही मुनासिब है इसकी सिद्धि कर रहे हैं।

गाथार्थ :- कोई भी पुरुष राग से या द्वेष से या मोह से मृषा भाषा को बोलता है फिर भी मृषाभाषा का दशविध विभाग अनादिनिर्देशसिद्ध है।५३।

विवरणार्थ :- राग-द्वेष-मोह, इन तीनों में से किसी एक के कारण मृषाभाषा बोली जाती है, क्योंकि कहा गया है कि - "राग से या द्वेष से या मोह से असत्य बोला जाता है। मगर जिस जिनेश्वर भगवंत में राग द्वेष-मोहरूप तीन दोष नहीं है उसको मृषा बोलने का कारण क्या होगा?" अर्थात् राग, द्वेष और मोह से रहित व्यक्ति कभी भी असत्यवचन का प्रयोग नहीं करती है, क्योंकि रागादि तीन से अतिरिक्त असत्य वचन का कारण ही नहीं है।

*** राग, द्वेष, मोह - मृषाभाषा के असाधारण कारण ***

इदं च. इति। यहाँ यह शंका हो कि - "असत्यभाषा के कारण रागादि तीन ही हैं तब पूर्व में जो बताया है कि - क्रोध, मान आदि निमित्तक भाषा क्रोधनिःसृतभाषा, माननिःसृतभाषा इत्यादिरूप से कही जाती है - वह कैसे संगत होगा? दूसरी बात यह भी

१. रागेण वा द्वेषेण वा मोहेन वा भाषते मृषां भाषाम्। तथाऽपि दशधा विभागोऽनादिनिर्देशसंसिद्धः।।५३।।

मायाहास्यादिकषायनोकषायाणां च रागे एवान्तर्भावात्, पराभिमतानां भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्साकरणापाटवहेतूनामपि मध्ये, अतस्मिंस्त-दध्यवसायरूपस्य भ्रमस्य, चित्तानवधानतारूपप्रमादस्य, इन्द्रियाऽसामर्थ्यरूपकरणाऽपाटवस्य च फलतो मोहे विप्रलिप्सायाश्च द्वेष एवान्तर्भावात्।

यद्येवं तर्हि त्रिधैव विभागः क्रियतामत आह- **तथापि दशधा विभागोऽनादिनिर्देशसंसिद्धः**। अयं भावः, सङ्ग्रहाभिप्रायेणत्रिधा विभाग-

रागादित्रितयातिरिक्तेऽसत्यवचनासाधारणकारणत्वनिषेधार्थमिति त्रितयभिन्नेऽसत्यवचनसाधारणकारणत्वसत्त्वेऽपि न निषेधानुपपत्तिरिति भावः। रागादेरसाधारणकारणत्वाभिधानं तु क्रोधादीनां मृषावादकारणत्वेनाऽभिमतानां हेतु-स्वरूप-फलान्यतमापेक्षया रागादित्रितयान्यतमेऽन्तर्भावविवक्षणात्। तदेव प्रदर्शयति **क्रोधभयादिकषायनोकषायाणामि**ति। अत्र च प्रथमं द्वन्द्वसमासः तदनन्तरं बहुव्रीहिसमासः ततश्च कर्मधारय इति। एवमेवाग्रेऽपि बोध्यम्। ततश्च क्रोधादि-कषाययोर्भयादिनोकषायाणामित्यर्थः। **द्वेष इति**। तेषां द्वेषजन्यत्वेन कार्ये कारणोपचारमाश्रित्य द्वेषान्तर्भावो विवक्षितः। राग इति माया-लोभ-हास्यादीनां रागजन्यत्वेन राग एवान्तर्भावविवक्षा तत एव। प्रेम्णः स्वरूपत एव रागत्वं द्वेषस्य च स्वरूपत एव द्वेषत्वमिति तत्प्रदर्शनं न कृतम्। **अनवधानतेति** विषयान्तरसञ्चार इत्यर्थः। **इन्द्रियासामर्थ्येति**। सामथ्य चात्र सम्यक्शब्दोच्चारणं प्रति जिह्वेन्द्रियस्य बोध्यम्। **फलत** इति फलमाश्रित्येति। श्रोतृणां मोहजनकत्वापेक्षया मोह एवान्तर्भावविवक्षा। **विप्रलिप्सायाश्चेति**। तस्या द्वेषहेतुकत्वेन द्वेषान्तर्भावविवक्षा।

लब्धावकाशः परोऽधुना प्रत्यवतिष्ठते **यद्येवं तर्हीति**। यदि स्वपराभिमतानामसत्याभाषाहेतूनां यथासम्भवं हेतु-

है कि मृषाभाषा के कारण रागादि की तरह करणापटुता, भ्रम, प्रमाद आदि भी है ही। तब 'मृषाभाषा के हेतु रागादि तीन ही है' यह वचन कैसे संगत होगा?" - तो यह समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि यहाँ जो प्रतिपादन किया गया है कि - मृषाभाषा का कारण राग, द्वेष और मोह ही हैं, अर्थात् रागादि तीन से अतिरिक्त कोई भी मृषाभाषा का कारण नहीं है, वह असत्य भाषा के असाधारण कारण की अपेक्षा से बताया गया है। अर्थात् रागादि तीन ही मृषाभाषा के असाधारण कारण हैं। रागादि तीनों से अतिरिक्त कोई भी मृषाभाषा का आसाधारण कारण नहीं है - इस तात्पर्य से अवधारण का प्रदर्शन किया गया है। मतलब कि राग, द्वेष और मोह से अतिरिक्त जो कोई भी मृषावाद के कारणरूप से प्रसिद्ध हो या इष्ट हो उसका राग, द्वेष और मोह में ही समावेश हो जाता है। यह बात ठीक ही है, क्योंकि क्रोध और मान कषाय तथा भय आदि नोकषाय का द्वेष में ही अंतर्भाव हो जाता है तथा माया, लोभ कषाय और हास्य आदि नोकषाय का राग में ही समावेश हो जाता है। अन्य लोग को असत्यवचन के कारणरूप में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापटुता अभिमत हैं जिनमें से भ्रम, प्रमाद और करणापटुता का मोह में और विप्रलिप्सा का द्वेष में समावेश हो जाता है। अतः राग, द्वेष और मोह से अतिरिक्त कोई भी मृषावाद का असाधारण कारण नहीं है - यह सिद्ध हो जाता है। अन्य लोगों को मृषावाद के कारण रूप से अभिमत में प्रथम भ्रम है। जो जैसा न हो वैसा उसमें उसका बोध होना यह भ्रम शब्द का अर्थ है। जैसे कि आत्मा एकान्त नित्य नहीं है फिर भी उसमें एकान्तनित्यता का बोध होना वह भ्रम है। यह भ्रम व्यामोह का उत्पादक होने से फलतः मोहस्वरूप ही है। प्रमाद, जो कि अन्य लोगों को मृषावाद के कारणरूप से अभिमत है, चित्त की अनवधानतास्वरूप है यानी दत्तचित्तता का अभाव या अन्य विषय में मन की प्रवृत्ति यह प्रमादशब्द का अर्थ है। वह भी मोहोत्पादक होने से फलतः मोहस्वरूप ही है। वैसे करणापटुता का अर्थ है इंद्रिय का असामर्थ्य अर्थात् स्पष्ट शब्दोच्चारण करने में जीभ का असामर्थ्य करणापाटवशब्द का वाच्यार्थ है। वह भी श्रोता को व्यामोह पेदा करने से मोहस्वरूप ही फलित होता है। विप्रलिप्सा का अर्थ है दूसरों को ठगने की इच्छा। यह विप्रलिप्सा द्वेषजन्य होने से कार्य में कारण का उपचार कर के द्वेषस्वरूप सिद्ध होती है। अतः स्वसमयाभिमतं क्रोधादि कारण का और परसमयाभिमत भ्रम आदि कारण का साक्षात् या परंपरा से राग, द्वेष और मोह में समावेश हो जाने से राग, द्वेष और मोह ही असत्यभाषा के असाधारणकारण है - यह सिद्ध होता है।

शंका :- *यद्येवं.* इति। यदि राग, द्वेष और मोह ही मृषाभाषा के असाधारण कारण है तब तो असत्यभाषा का विभाग तीन प्रकार का बताना ही उचित होगा। तात्पर्य यह है कि - रागनिःसृत, द्वेषनिःसृत और मोहनिःसृत भाषा ये तीन ही असत्य भाषा के भेद हैं - ऐसा असत्य भाषा के विभाग का निर्देश करना उचित है, क्योंकि रागादि तीन ही असत्य भाषा के प्रधान कारण हैं। अतः दश

सङ्क्षेपेऽप्यनतिविस्तर[1]सङ्क्षेपरुचि[2]नयाभिप्रायसिद्धोऽनादिर्दशधा विभागः यथाप्रयोगमेव प्रयोगार्हः, तथैव व्यवहारसिद्धेरिति।।५३।।

भङ्ग्यन्तरेण चतुर्द्धाऽपि मृषाभाषाविभागामाह-

स्वरूप-फलापेक्षया राग-द्वेष-मोहान्तर्भाव इति प्रतिपाद्यते भवद्भिः तर्हीति। मोहश्चात्र मिथ्यात्वमोहरूपोऽज्ञानात्मको वा ग्राह्यः। **सङ्ग्रहाभिप्रायेण त्रिधा विभागसङ्क्षेप** इति। शेषकारणानां रागादित्रितयेण सङ्ग्राहकस्य सङ्ग्रहनयस्याभिप्रायेण दशविधमृषाभाषाया राग-द्वेष-मोहनिःसृतभाषात्वरूपेण त्रिधा मृषाभाषाविभागसङ्क्षेपाऽङ्गीकरण इत्यर्थः। इदमपि अपरसङ्ग्रहनयाभिप्रायेणोक्तम्। परसङ्ग्रहनयाभिप्रायेण राग-द्वेषयोरपि मोहप्रकृतिकत्वाऽपेक्षया मोहे सङ्ग्रहात् 'मोहनिःसृतभाषाया एकविधाया एवाङ्गीकार इति निगूढार्थः। **अपीति**। परोदिताङ्गीकारपूर्वकविशेषद्योतनार्थोऽपिशब्दः। **अनतिविस्तरसङ्क्षेपरुचिनयाभिप्रायसिद्ध** इति। नातिविस्तरेण नाऽप्यतिसङ्क्षेपेण स्वविषयप्रतिपादने रुचिर्यस्य नयस्येति अनतिविस्तरसङ्क्षेपरुचिनयः व्यवहारनय इत्यर्थः, प्रक्रमे च निश्चयानुगृहीतव्यवहारनयो ग्राह्यः, अप्रशस्तक्रोधनिःसृतायाः सर्वस्या अपि भाषाया असत्यत्वप्रतिपादनपरत्वात्, तस्य तथाविधव्यवहारोपपादनाभिप्रायेण सिद्धोऽनादिर्दशविधो मृषाभाषाविभागः। **यथाप्रयोगमेवेति**। प्रदर्शितदशविधविभागप्रयोगानतिक्रमेणैव प्रयोक्तुमर्हति। अत्र हेतुमाह **तथैव व्यवहारसिद्धेरिति**। अत्रेतिशब्दो हेतुवाचकः, तदुक्तं ***हलायुधकोशे*** - 'इतिशब्दः स्मृतो हेतौ प्रकारादिसमाप्तिषु। (हला.को.५/८८७) इति। दशधा विभागाङ्गीकार एव तथाविधानादिव्यवहारोपपत्तेरिति हेतोर्दशधा विभागस्यैव युक्तत्वं सिध्यति। व्यवहारश्चात्र प्रस्तुताभिमतशास्त्रीयव्यवहाररूपो ग्राह्यः, अन्यथा त्वन्यव्यवहाराणामपि

प्रकार का मृषाभाषा का विभाग बताया गया है वह अनुचित है! बिना कारण विभागगौरव करना कैसे समीचीन होगा?

✱ मृषाभाषा का दशविध विभाग ही युक्तिसंगत है ✱

समाधान :- ***तथापि.*** इति। संग्रहनय के अभिप्राय से असत्यभाषा विभाग त्रिविध हो सकता है, क्योंकि संग्रहनय वस्तु का संग्रह = संकोच = संक्षेप करता है। अतएव उसको संग्रहनय कहा जाता है। मगर प्रस्तुत में असत्यभाषा के तीन भेद बताना उचित नहीं है, क्योंकि संग्रहनयाभिमत असत्यवचनविभागनिर्देश से व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती है। असत्यवचनविषयक व्यवहार की सिद्धि तो व्यवहारनयसम्मत अनादिनिर्देश-सिद्ध दशविध विभाग से ही हो सकती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय अत्यंत विस्ताररुचिवाला भी नहीं है और अत्यंत संक्षेपरुचिवाला भी नहीं है किन्तु मध्यम रूचिवाला ही है। अत्यंत विस्तार से या अतिसंक्षेप से व्यवहार नहीं हो सकता है। अतएव यहाँ न तो अतिविस्तार से मृषावचन के अपरिमित भेद बताये गये हैं और न तो अतिसंक्षेप से तीन भेद बताये गये हैं। मृषाभाषा के दशविध विभाग का प्रयोग, जो कि मध्यमरुचिवाले व्यवहारनय के अभिप्राय से प्रसिद्ध है, वह अनादि है। मृषावचन के विभाग का वचनप्रयोग, मध्यमरुचिनय के अभिप्राय से प्रसिद्ध अनादिकालीन प्रयोग के अनुसार ही करना युक्तिसंगत है, क्योंकि मृषावचन के दशविध विभाग से ही तादृश व्यवहार की सिद्धि होती है।

इस गाथा का आशय यह है कि संग्रह नय अपनी अपेक्षा से सत्य ही होने से मृषावचन के त्रिविध विभाग का संक्षेप से प्रदर्शन सत्य है। फिर भी तादृश संक्षिप्तविभागप्रदर्शन तथाविधव्यवहार का उपपादक न होने से यहाँ मृषाभाषा के दशविध विभाग का प्रदर्शन किया गया है। मध्यमरुचिवाले नय के अभिप्राय से प्रदर्शित विभाग से ही तथाविध व्यवहार की सिद्धि होने से मध्यम विभाग निर्देश ही समीचीन है। ५४वीं गाथा से प्रकरणकार भिन्न पहलू से मृषाभाषा के चार भेदों को भी बताते हैं।

गाथार्थ :- सद्भाव का निषेध, वस्तु में असद्भूत का उद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा - इस तरह मृषाभाषा के चार भेद भी हैं।५४।

✱ मृषाभाषा के चार भेद ✱

विवरणार्थ :- अन्य अपेक्षा से यहाँ जो मृषाभाषा के चार भेद बताये जा रहे हैं इनमें प्रथम भेद है सद्भूत का निषेध। यानी धर्मिमात्र के अभाव का प्रतिपादन करना। जैसे कि - जीव नहीं है, पुण्य नहीं है,, पाप नहीं है, इत्यादि वचन जो पारमार्थिक जीव, पुण्य, पाप का निषेधक होने से सद्भावनिषेधरूप मृषाभाषा के प्रथम भेद में परिगणित है।

१. मुद्रितप्रतौ कप्रतौ च - 'विस्तरं सं' - इति पाठोऽशुद्धः। २. मुद्रितप्रतौ - चितयाभि - इति पाठोऽशुद्धः।

[1]सब्भावस्स णिसेहोऽसब्भूयुब्भावणं च अत्थम्मि। अत्थंतरं च गरहा, इय चउहा वा मुसा भासा।।५४।।

सद्भावस्य निषेधः = धर्मिमात्रे नास्तिप्रतिपादनम्, यथा-नास्ति जीवः, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १। **असद्भूतोद्भावनम्** = अभ्युपगते धर्मिणि विरुद्धधर्मप्रतिपादनम्। धर्म्यभ्युपगमदर्शनायैवार्थ इति पदम्। यथा - 'अस्ति जीवः परं अणुपरिमाणो व्यापको

प्रसिद्धत्वेनाऽविरोधात्। एवकारेण चान्यथा तथाविधव्यवहारानुपपत्तिः प्रदर्शिता। **एतेन** विभाज्यवृत्तिविभाजकोपाध्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदकूटरूपो न्यूनतादोषस्तथा पूर्वोक्तलक्षण आधिक्यदोषोऽपि **निरस्तः** परापरभेदभिन्नसङ्ग्रहनयस्यातिविस्तरेणाऽपरिमितभेदग्राहिनयस्य च स्व-स्व-विषयापेक्षया सत्यत्वेऽपि तदभिमतातिसंक्षिप्तविस्तृतविभागयोः तथाविधव्यवहारानुपपादकत्वेन तत्प्रदर्शनं नातिप्रयोजनमिति पर्यालोचयामि। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति।।५३।।

अभ्युपगत इति। ननु धर्म्यभ्युपगमः कुतो गम्यत इत्यत आह - **धर्म्यभ्युपगमदर्शनायैवेति** धर्म्यभ्युपगमं विनाऽसद्भूतोद्भावनस्य दुःशक्यत्वात्। क्वचिच्चैवमेवाऽसद्भूतधर्म्युद्भावनमपि सम्भवति यतोऽस्ति वन्ध्यापुत्र इत्यादिवचने तथापि प्रायोवृत्त्या तथाप्रयोगाभावेन न तद्विवक्षा यद्वाऽसद्भूतपदेन यथासम्भवतादृशधर्मधर्म्युभयग्रहणमिति न दोष इति भावनीयम्। **व्यापक** इति सर्वव्यापीत्यर्थः। अत्र जीवं धर्मिणमभ्युपगम्य तत्राणुपरिमाणत्वं विभुत्वं वा विरुद्धधर्म उद्भाव्यते। ततोऽसद्भूतोद्भावनरूपमसत्यत्वमत्र सिध्यति।

नन्वस्य धर्म्यंशे सत्यत्वात् धर्मांशे चाऽसत्यत्वात्, सत्यामृषात्वमेव युक्तं न त्वसत्यत्वमेव। तदुक्तं **स्थानाङ्गवृत्तावपि** 'तृतीयं सत्यमृषा = तदुभयस्वभावं 'आत्माऽस्त्यकर्तेत्यादिवदि'ति (स्था. ४/१/२३८ वृत्ति) धर्म्यंशे सत्यत्वं धर्मांशे चासत्यत्वमादायैवात्र मिश्रत्वस्योपपत्तेरिति **चेत्? मैवम्,** धर्मांशापेक्षयैव प्रमाशाब्दबोधजनकत्वाद्यभिप्रायेण भाषायां सत्यत्वादिकमभिमतं न तु धर्म्यंशापेक्षया, सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तमिति वचनात्, एतच्च विवरणकारोऽग्रे स्फुटीकरिष्यति। ततश्च धर्मांशेऽप्रमाशाब्दबोधजनकत्वेनाऽसद्भूतोद्भावनवचनेऽसत्यत्वमेवेति स्थितम्।

ननु तर्हि स्थानाङ्गवृत्तिवचनोपपत्तिः कथं स्यादिति **चेत्**? अत्राऽस्माकं नव्यन्यायविद्याप्रदाः तर्करत्नपदविभूषिता ***जयसुन्दरविजय***मुनीन्द्रा व्याचक्षते "आत्माऽस्त्यकर्तेति स्थानाङ्गवृत्तिवचनमात्मत्वावच्छेदेनाकर्तृत्वबोधजननतात्पर्येण मिश्रत्वप्रतिपादनपरतया व्यवहारनयमतेन सङ्गच्छते मुक्तात्मस्वकर्तृत्वसत्त्वेऽपि संसारिषु बाधात्, आत्मत्वसामानाधिकरण्येनाऽकर्तृत्वबोधजननतात्पर्ये त्विदं सत्येऽन्तर्भवति। 'अस्ति जीवः परमाणुपरिमाणो व्यापको वे'ति त्वात्मत्वावच्छेदेनाऽणुपरिमाणत्वस्य व्यापकत्वस्य वा बोधकत्वेनाऽसत्यमेव न तु मिश्रम्, आत्मत्वसामानाधिकरण्येनाऽप्यणुपरिमाणत्वादेर्बाधात् आत्मनः शरीरप्रमाणत्वात्, सर्वदैवाऽसङ्ख्येयाकाशप्रदेशावगाहित्वाद्वा। **एतेन** केवलिसमुद्घातदशायामात्मत्वसामानाधिकरण्येन व्यापकत्वस्य सत्त्वेन मिश्रवचनत्वप्रसङ्गोऽ**पास्तः**, लोकालोकव्यापिनि गगन एव मुख्यसर्वव्यापित्वस्याऽभ्युपगमादिति।"

असद्भूत. इति। मृषाभाषा का दूसरा भेद है असद्भूत का उद्भावन। अर्थात् स्वीकृत धर्मी में विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन। यहाँ मूलग्रंथस्थ गाथा के पूर्वार्द्ध में जो 'अत्थम्मि' पद है, जिसकी संस्कृत छाया 'अर्थे' इस तरह होती है, इसका निवेश वक्ता को धर्मी का स्वीकार अभिमत है इस बात की सूचना देने के लिए है। इसका कारण यह है कि धर्मी के स्वीकार के बिना असद्भूत धर्म का प्रतिपादन व्यवहार में नहीं होता है। इसका उदाहरण यह है कि - 'आत्मा है, मगर वह अणुपरिमाणवाली है या व्यापक = विभु है' - इत्यादि वचन। आत्मारूप धर्मी का स्वीकार कर के उसके परिमाण के विरुद्ध अणुपरिमाण या विभुपरिमाणरूप धर्म का प्रतिपादन करने से यह वचन असद्भूतोद्भावनरूप मृषाभाषा है। आत्मा शरीरपरिमाणवाली है - शरीरव्यापी है। अतः अणुपरिमाण या विभुपरिमाण आत्मारूप धर्मी के विरुद्ध है।

१. सद्भावस्य निषेधोऽसद्भूतोद्भावनं चार्थे। अर्थान्तरं च गर्हा इति चतुर्धा वा मृषा भाषा।।५४।।

वेत्यादिः। **अर्थान्तरं** नाम 'अन्यत्र वस्तुनि अन्यशब्दप्रयोगो यथा गव्यश्वशब्दाभिधानम् ३। **च** = पुनः, **गर्हा** = निन्दाभिप्रायेण [1]नीचत्वव्यञ्जकाणां सतामप्यशोभनधर्माणामभिधानम्। यथा काणोऽयं, बधिरोऽयमित्यादिः ४। **इति** = अमुना प्रकारेण, **चतुर्धा वा मृषा भाषा**। इत्थं च यथायोगं विभागान्तरमपि विभावनीयम्।।५४।।

अथ मृषाभाषानिरूपणस्य सिद्धत्वं सत्यामृषानिरूपणप्रतिज्ञां चाह

एवमसच्चा भाषा, निरूविया पवयणस्स नीईए। सच्चामोसं भासं, अओ परं कित्तइस्सामि[2]।।५५।।

स्पष्टा।।५५।।

अर्थान्तरमिति। अयं भेदः [3]तृतीयस्थानाङ्गप्रदर्शिततदन्यवचने यद्वा [4]चतुर्थस्थानाङ्गप्रदर्शितविसंवादनायोग-रूपासत्येऽन्तर्भवतीति यथासम्भवमागमनीत्या बहुश्रुतपुरुषैर्भावनीयम्। **गर्हेति**। स्थानाङ्गप्रदर्शिता [5]त्रिविधा चतुर्विधा वा गर्हाऽत्र न संभवति विरुद्धत्वप्रसङ्गादत आह **निन्दाभिप्रायेणे**ति। इदं चोपलक्षणं सावद्यव्यापारप्रवर्त्तनाभिप्रायादि-प्रयुक्तवचनादीनाम्। तदुक्तं ***धर्मसंग्रहवृत्तौ*** 'गर्हा तु त्रिधा। एका सावद्यव्यापारप्रवर्त्तिनी यथा 'क्षेत्रं कृषे'त्यादि। द्वितीयाऽप्रिया - काणं काणं वदतः। तृतीया आक्रोशरूपा यथा - 'अरे! वान्धकिनेय! इत्यादि' (ध. सं. - श्लो.२६ वृत्ति)

विभागान्तरमपीति। कायानृजुकतादिरूपोऽन्यविभागोऽपीत्यर्थः तदुक्तं ***स्थानाङ्गे*** 'चउव्विहे मोसे पन्नत्ते तं जहा कायअणुज्जुयया, भासअणुज्जुयया, भावअणुज्जुयया विसंवादणाजोगे। (स्था. ४/१/२६४) एवं स्थूलमृषाभाषा सूक्ष्म-मृषाभाषेति मृषाभाषाद्वैविध्यम्। यद्वा लौकिकमृषाभाषा लोकोत्तरमृषाभाषेति मृषाभाषाद्वैविध्यम्। एवं नयान्तरापेक्षया सूक्ष्ममीक्षणीयम्। न चैवमागम – विरोधः, निक्षेपस्थलवदत्रापि विभाजकान्तरोपस्थितौ विभागान्तरस्येष्टत्वात्। अनेनैवाभिप्रायेण **विभावनीयमित्युक्तम्**।।५४।।

स्पष्टेति। स्पष्टत्वाद् नेयं विवृता। अत एवास्माभिरपि न तत्र श्रमो विधीयते।

भावभाषाधिकारे हि दशविधमृषावचः। व्याख्यापद्धतिमानिन्ये यशोविजयधीमता।।१।।

इति मुनियशोविजयविरचितायां मोक्षरत्नाभिधानायां भाषारहस्यविवरणटीकायां द्वितीयः स्तबकः।

अर्थान्तर. इति। मृषाभाषा का तृतीय भेद है अर्थान्तर यानी अलग वस्तु का अलग शब्द से प्रतिपादन करना। जैसे कि गाय को घोडा कहना। यहाँ गाय में गाय शब्द का प्रयोग करना चाहिए मगर घोडा शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः यह अर्थान्तर मृषाभाषास्वरूप है।

गर्हा. इति। मृषाभाषा का चतुर्थ भेद है गर्हा यानी निन्दा के तात्पर्य से प्रतिपाद्य = संबोध्य व्यक्ति में नीचता = हलकाई के सूचक होते हुए भी अशुभ धर्म का प्रतिपादन करना। अर्थात् जिन शब्दों के प्रयोग से सामनेवाली व्यक्ति निम्न कक्षा की है - हीन है, यह भान हो उन शब्दों का उस व्यक्ति की निन्दा के अभिप्राय से प्रयोग करना यह गर्हास्वरूप मृषाभाषा है। जैसे कि जिसको एक आँख नहीं है उसकी निन्दा के अभिप्राय से उसे 'अरे! ओ काणिया!' ऐसा कहना या बधिर व्यक्ति को निन्दा के अभिप्राय से 'अरे! बहेरा!' इत्यादि रूप से पुकारना यह गर्हास्वरूप मृषाभाषा है, क्योंकि उपर्युक्त भाषा संबोध्य व्यक्ति में हीनता को बताती है। इस तरह मृषाभाषा के विकल्प से चार भेद भी हो सकते हैं। इस तरह यथासंभव अन्यरूप से मृषाभाषा का अन्य विभाग स्वयं चिंतन-मनन करने योग्य है - ऐसी सूचना दे कर विवरणकार मृषाभाषा का विवरण समाप्त करते हैं।।५४।।

अब प्रकरणकार मृषाभाषा के प्रतिपादन की संपूर्णता और सत्यामृषा भाषा के निरूपण की प्रतिज्ञा को ५५वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- इस तरह आगमनीति के अनुसार असत्यभाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब मैं असत्यामृषा भाषा का कीर्तन=निरूपण करूँगा।।५५।।

गाथा का अर्थ स्पष्ट होने से विवरणकार ने इसका विवरण नहीं बनाया है। ३८ से ले कर ५४ गाथा पर्यन्त असत्यभाषा का विवरण आगम के तात्पर्य का उल्लंघन किये बिना किया गया है - यह बात अत्यंत स्पष्ट ही है।

---

१. अत्र च मुद्रितप्रतौ - 'नीचत्वव्यञ्जककाणाङ्गताद्यशोभनधर्माणां - इति पाठो निर्दिष्टो वर्त्तते।

२. दृश्यतां स्थानांग ३/३/१७५ सूत्रे। ३. दृश्यतां स्थानांगसूत्र ४/१/२५४ इत्यत्र।

४. दृश्यतां स्थानांगसूत्र ३/१/१२७ इत्यत्र। ५. दृश्यतां स्थानांगसूत्र ४/२/२८८ इत्यत्र।

तृतीयः स्तबकः

प्रतिज्ञातनिरूपणाया एव सत्यामृषाभाषाया लक्षणपूर्वं विभागमाह

[1]अंसे जीसे अत्थो विवरीओ होइ तह तहारूवो। सच्चामोसा, मीसा, सुअंमि परिभासिआ दसहा।।५६।।

[2]उप्पन्न-विगय-मीसग, जीवमजीवे अ जीवअज्जीवे।

तहणंतमीसिया खलु, परित्त अद्धा य अद्धद्धा।।५७।।

यस्या भाषायाः, **अर्थः** = विषय, **अंशे** = देशे, **विपरीतः** = बाधितसंसर्गो **भवति, तथा** = पुनः, **तथारूपः** = अबाधितसंसर्गो भवति, तच्छब्दस्य यच्छब्देनाऽऽक्षेपात्, सा **सत्यामृषा श्रुते मिश्रेति परिभाषिता**, सत्यत्वेन स्वरूपत आराधकत्वात्, असत्यत्वेन

व्याख्यायाऽसत्यभाषां मिश्रभारती प्रतन्यते। व्यवहारनयाऽऽलम्बिप्रज्ञयैव यथागमम्।।१।।

लब्धावसरः श्रीमन्न्यायाचार्यो हि सत्यामृषालक्षणाद्युपोद्घातमाह **प्रतिज्ञातेति**।

आक्षेपादिति। लाभादित्यर्थो न तु समानवित्तिवेद्यत्वरूपमाक्षेपत्यमत्र ग्राह्यम्। पूर्वोक्तेन यस्याइतिपदेनाऽनुपदमेव वक्ष्यमाणस्य सेतिपदस्य लाभो यत्तत्पदयोः परस्परं साकाङ्क्षत्वात्। एतेन निराकांक्षशाब्दबोधोपपत्तिः सेतिपदे स्वच्छन्दमतिप्रविष्टत्वकल्पनापरिहारश्च कृतो भवति। **सत्यामृषेति**। उद्देश्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन बाधिता-बाधितसंसर्गकविधेयप्रकारकशाब्दबोधजनकवचनत्वं सत्यामृषालक्षणमिति फलितम्। **न चा**सत्यायामतिव्याप्तिरिति **वाच्यम्** शुद्धव्यवहाराभिमताया तस्या उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन बाधितसंसर्गकशाब्दधीजनकत्वात्।

मिश्रेति परिभाषितेति। इदञ्च लक्षणान्तरम्, उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्योरसाङ्कर्यात् न दोषः व्यवहर्तव्याभेदेऽपि

अब ग्रंथकार द्रव्यभावभाषा के तृतीयभेद सत्यामृषा भाषा का निरूपण करने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। जिसके निरूपण की प्रतिज्ञा कि गई है, उस सत्यामृषा भाषा का लक्षण बता कर उसीका विभाग ग्रंथकार श्रीमद् ५६-५७वीं गाथा से बताते हैं।

* मिश्र भाषा लक्षण और भेद *

गाथार्थ :- जिस भाषा का विषय एक अंश में विपरीत हो और अन्य अंश में तथारूप = अविपरीत हो वह भाषा सत्यामृषा है। वह आगम में मिश्रभाषा रूप से परिभाषित है जिसके भेद दश हैं।।५६।।

गाथार्थ :- (१) उत्पन्नमिश्रित, (२) विगतमिश्रित, (३) उत्पन्नविगतमिश्रित, (४) जीवमिश्रित, (५) अजीवमिश्रित, (६) जीवाजीवमिश्रित, (७) अनंतमिश्रित, (८) प्रत्येकमिश्रित (९) अद्धामिश्रित, (१०) अद्धाद्धामिश्रित - ये दश भेद मिश्रभाषा के हैं।५७।

विवरणार्थ :- गाथा में 'जीसे' पद है जिसकी छाया संस्कृत में 'यस्याः' होती है, जो यत् पद का षष्ठीविभक्ति स्त्रीलिंग एकवचन में रूप है। यत् शब्द से तत्शब्द का आक्षेप = लाभ होता है, क्योंकि यत् शब्द तत्शब्दसापेक्ष है। सापेक्षशब्द का लाभ न हो तब अर्थबोध या वाक्यार्थज्ञान नहीं हो सकता है। अतः प्रस्तुत में भाषाशब्द स्त्रीलिंग होने से तत् पद का स्त्रीलिंग प्रथमाविभक्ति में 'सा' ऐसा रूप बनता है - इसका लाभ होता है। तब अर्थ यह निष्पन्न होगा कि - जिस भाषा का विषय एकदेश में

---

१. एवमसत्या भाषा निरूपिता प्रवचनस्य नीत्या। सत्यामृषां भाषां, अतः परं कार्त्तयिष्यामि।।५५।।

२. अंशे यस्या अर्थो विपरीतो भवति तथा तथारूपः। सत्यामृषा मिश्रा श्रुते परिभाषिता दशधा।।५६।।

३. उत्पन्नविगतमिश्रके जीवेऽजीवे च जीवाजीवे। तथाऽनन्तमिश्रितां खलु, प्रत्येकाद्धायां चाद्धाद्धायाम्।।५७।।

स्वरूपतो विराधकत्वात्। युगपत्फलद्वयानुत्पत्तेस्तु कारणान्तरविरहप्रयोज्यत्वादिति **दिग्**।

सा च **दशधा, उत्पन्नमिश्रिता, विगतमिश्रिता, उत्पन्नविगतमिश्रिता, [1]जीवमिश्रिता, अजीवमिश्रिता जीवाजीवमिश्रिता, अनन्तमिश्रिता, प्रत्येकमिश्रिता, अद्धामिश्रिता, अद्धाऽद्धामिश्रिता** चेति।

व्यवहर्तव्यतावच्छेदकभेदात् इति भावनीयम्। **स्वरूपत** इति। मिश्रत्वं च स्वरूपत आराधनविराधनीत्वरूपं परिस्थूर-व्यवहारनयमतेन ग्राह्यम्। तेन द्रव्यतोऽसत्ये भावसत्यवचने नातिप्रसङ्गः, तस्य फलत आराधकत्वेऽपि स्वरूपत आराधकत्वस्याभावात्। न वा द्रव्यतः सत्ये भावासत्यवचनेऽतिप्रसङ्गः, तस्य फलतो विराधकत्वेऽपि स्वरूपतो विराधकत्वासत्त्वात्।

नन्वेवं सति स्वरूपत आराधकविराधकत्वाभ्यामेकदैव शुभाशुभकर्मबन्धादिलक्षणफलद्वयप्रसङ्ग इत्यारेकां निरस्यति **युगपदिति**। **कारणान्तरविरहप्रयोज्यत्वादिति**। मिश्राध्यवसायाभावप्रयोज्यत्वादित्यर्थः। न चैवं सति मिश्रभाषायाः कर्मबन्धाजनकत्वं स्यादिति वाच्यम्, अनायुक्तं भाषमाणत्वेन निश्चयमतेन फलतो विराधकत्वस्य सत्त्वात्, अशुभकर्मबन्धजनकत्वस्यानपायात्, निश्चयाङ्गव्यवहाराभिप्रायेण तु सर्वांशाविपर्ययरूपत्वाभावादेव शुभकर्मबन्धादि-फलानुत्पत्तिनिर्वाहादिति **दिगर्थः**।

बाधितसंसर्गवाला है और अन्य अंश में अबाधितसंबंधवाला है वह भाषा सत्यामृषा भाषा है। बाधितसंसर्ग का अर्थ यह होता है कि जिसके संबंध का अभाव हो। अर्थात् जिस भाषा के विषय के एक देश का उद्देश्य में संबंध न हो और एक देश का संबंध हो वह भाषा अंश में सत्य और अंश में मृषा होने से सत्यामृषा कही जाती है। यह बात आगे सत्यामृषा भाषा के विभाग में बताये जानेवाले दृष्टांतों से स्पष्ट हो जायेगी। अतः हम यहाँ उसके दृष्टांत का प्रदर्शन नहीं करते हैं। आगम की परिभाषा से यह सत्यामृषा भाषा मिश्रभाषा कही जाती है। ऐसी परिभाषा होने का कारण यह है कि सत्यामृषा भाषा एक अंश में सत्य होने से स्वरूपतः आराधक है और एक देश में असत्य होने से स्वरूपतः विराधक है। इस दृष्टि से यह भाषा आगम की परिभाषा के अनुसार मिश्रभाषास्वरूप है।

शंका :- यदि मिश्रभाषा स्वरूपतः आराधक और स्वरूप से विराधक है तब तो मिश्रभाषा के वक्ता को मिश्रभाषा के प्रयोगकाल में आराधकत्व की अपेक्षा शुभकर्मबन्ध और विराधकत्व की अपेक्षा अशुभकर्मबंध भी होना चाहिए।

* मिश्रभाषा से शुभाशुभ कर्मबंध नामुमकिन *

समाधान :- ***युगपत्.*** इति। अरे! अभी तुम्हारे दूध के दांत भी नहीं टूटे हैं और बडी बात करने चल रहे हैं! देखिये मिश्रभाषा स्वरूप की अपेक्षा से ही आराधक और विराधक भले हो, मगर वक्ता को मिश्रभाषा के प्रयोग से एक ही काल में शुभाशुभकर्मबंधरूप दो फल की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि शुभाशुभकर्मबंधरूप फलद्वय का कारण स्वरूप की अपेक्षा से आराधकत्व और विराधकत्व नहीं है मगर शुभाशुभमिश्रित अध्यवसाय आदि है, जिसका अभाव होने से मिश्रभाषा के वक्ता को शुभाशुभ कर्मबंधरूप फलद्वय की एक साथ प्राप्ति नहीं होगी मगर अनायुक्त परिणाम से मिश्रभाषा बोलने से केवल अशुभकर्मबन्ध ही होगा। यह तो एक दिग्दर्शन है। इस सम्बन्ध में और भी ज्यादा विचार किया जा सकता है इस बात की सूचना देने के लिए यहाँ दिग् शब्द का प्रयोग किया गया है।

* मिश्रभाषा के दशभेद *

यह मिश्रभाषा दश प्रकार की है। वह इस तरह है- (१) उत्पन्नमिश्रित, (२) विगतमिश्रित, (३) उत्पन्नविगतमिश्रित, (४) जीवमिश्रित, (५) अजीवमिश्रित, (६) जीवाजीवमिश्रित, (७) अनंतमिश्रित, (८) प्रत्येकमिश्रित, (९) अद्धामिश्रित और (१०) अद्धाद्धामिश्रित।

पूर्वपक्ष :- **ननु.** इति। मिश्रभाषा का दशविध विभाग युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि मिश्रभाषा के अनेक प्रयोग ऐसे देखे जाते हैं जिनका प्रकृत दशभेद में से किसी भेद में भी समावेश नहीं हो सकता है। देखिये मानो कि एक ग्राहक को व्यापारी से १०० रूपए

---

१. अत्र मुद्रितप्रतौ - देशेषु जीवमिश्रिते'ति पाठस्तत्र 'देशेषु' इति पदं संपातायातं भाति।

ननु[1] शतरूप्यकेषु देयेषु पञ्चाशत्सु दत्तेषु 'शतं दत्ता' इत्याद्यानां धवखदिराशोकद्रुमसमूहे [2]चाऽशोकवनमित्याद्यानां भाषाणां [3]क्वान्तर्भावः? उत्पत्तिजीवादिमिश्रितादिनिदर्शनस्याऽतत्त्वादिति[4] चेत्? **सत्यम्,** उत्पत्तिजीवादीनां क्रियान्तरवस्त्वन्तराद्युप-

शतरूप्यकेषु देयेषु पञ्चाशत्सु दत्तेष्विति। प्रत्यन्तरे तु शतकेषु देशेषु पञ्चाशत्सु देशेष्विति पाठो वर्तते किन्त्वशुद्धतयाऽनादत्तः। **शतं दत्ता इति**। 'श्वस्ते शतं दास्यामि' इत्यभिधाय पञ्चाशत्स्वपि दत्तेषु लोके मृषात्वादर्शनात् सत्यत्वं, (ग्रन्थाग्रम्-४५०० श्लोक) अदत्तेषु रूप्यकेषु चासत्यत्वमिति व्यवहारतोऽस्याः सत्यामृषात्वम्। सर्वथाऽदाने तु सर्वथा विपर्ययादसत्यत्वमेव स्यादतः पञ्चाशत्सु दत्तेष्वित्युक्तम्। **अशोकवनमिति**। पुरोवर्ति-समूहघटकीभूतवृक्षवृत्तिवृक्षत्वावच्छेदेनाऽशोकत्वस्य बाधेऽपि तत्सामानाधिकरण्येनाऽबाधाद् व्यवहारतः सत्यामृषात्वं, अवच्छेदकावच्छेदेनाऽशोकत्वान्वयतात्पर्येण प्रयोगात्। **अतत्त्वादिति**। अतथात्वादिति। अयं पूर्वपक्षाशयो यदुत - 'शतं दत्ता' इत्यत्र दानमिश्रितत्वं न वक्ष्यमाणजीवमिश्रितत्वादिकम्। ततश्च दानमिश्रितादिवचनानां प्रदर्शितदशविध-मिश्रितभाषाऽन्तर्भावो न सम्भवति, उत्पत्तिमिश्रितादिवचनानां दानमिश्रितादिवचनविलक्षणत्वात्।

समाधत्ते-**सत्यमिति**। अत्राऽयं शब्दोऽर्धसम्मतिप्रदर्शकः। **उत्पत्तिजीवादीनामिति**। उत्पत्तिजीवादिमिश्रितादि-निदर्शनघटकीभूतोत्पत्तिजीवादीनामित्यर्थः। **क्रियान्तरवस्त्वन्तराद्युपलक्षणत्वादिति**। उत्पत्ति-जीवाद्यर्थबोधकत्वे सति क्रियान्तरवस्त्वन्तरादिरूपस्वेतरार्थबोधकत्वादित्यर्थः। अयं भाव उत्पत्त्यादिपदानां स्वेतरपदार्थभूतक्रियाद्युपलक्षणत्वाद् दानादिरूपक्रियान्तरस्याऽपि यथासम्भवमुत्पत्तिजीवादिमिश्रितादिष्वन्तर्भावो बोध्यः।

एतेन 'शतं दत्ता' इत्यादिभाषाणां सत्यामृषात्वेऽपि प्रदर्शितदशविधसत्यामृषाविभागेऽनन्तर्भावान्न्यूनतादोष इति **निरस्तं,** यथायथं दशविधविभागे समावेशेन विभाज्यतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदकूटस्य विभाज्यवृत्तित्वात्।

देने के हैं और वह पचास रूपए दे कर कहता है कि - शेठजी! मैंने १०० रूपए दे दीये हैं। तब उसकी भाषा मिश्र है, क्योंकि दान क्रिया के देशभूत ५० रूपए के दान में यह भाषा सत्य है और शेष ५० रूपए के दान के अंश में असत्य है। लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि 'मैं १०० रूपए दूँगा' ऐसा बोल कर दूसरे दिन यदि ५० रूपया दे दे तब भी उस पुरुष में 'यह मृषावादी है' - ऐसा व्यवहार नहीं होता है। अतः इस अभिप्राय से यह भाषा सत्य है और शेष पचास रूपए को नही देने की दृष्टि से वह भाषा असत्य भी है। मगर प्रदर्शित दशविध मिश्रभाषाविभाग में इस भाषा का समावेश नहीं हो सकता है, क्योंकि यह भाषा न उत्पत्तिमिश्रित है, न विगतमिश्रित है और न ही शेषमिश्रितभाषारूप है किन्तु यह भाषा तो दानमिश्रितभाषा स्वरूप है जिसका दशविध विभाग में समावेश नहीं हो सकता हैं, क्योंकि उत्पत्तिमिश्रित आदि भाषा के दृष्टान्त प्रस्तुत दृष्टान्त से विलक्षण हैं। ठीक इसी तरह धव, खदिर, अशोक आदि के वृक्षों के समूहरूप वन में 'यह अशोक वन है' यह भाषा भी मिश्रभाषास्वरूप है, क्योंकि वृक्षसमूह के एक देश में यह भाषा अबाधितसंसर्गवाली होने से सत्य है और अन्य अंश में यह भाषा बाधितसंसर्गवाली होने से असत्य है। वृक्षसमूह में कतिपय वृक्ष ही अशोक के हैं, सभी वृक्ष अशोक के नहीं है, क्योंकि अशोकवृक्ष के अलावा धव, खदिर, आम आदि के पेड़ भी वहाँ हैं। मगर इस भाषा का समावेश जीवमिश्रित, अजीवमिश्रित आदि भाषा में नहीं हो सकता है, क्योंकि जीवमिश्रित आदि भाषा के दृष्टांत से यह भाषा विलक्षण है और इस भाषा की अपेक्षा जीवमिश्रितादि उदाहरण विलक्षण हैं। यह भाषा जीवमिश्रित नहीं है मगर वृक्षमिश्रित है। अतः मिश्रभाषा का दशविध विभाग ठीक नहीं है।

(मिश्रभाषा का विभाग निर्दोष है)

उत्तरपक्ष :- *सत्यं* इति। यहाँ सत्यं शब्द का प्रयोग अर्ध स्वीकार अर्थ में प्रयुक्त है। आशय यह है कि दानक्रियाविषयक मिश्रभाषा और विजातीयवृक्षविषयक मिश्रभाषा का उत्पन्नमिश्रित आदि भाषा में या जीवमिश्रित आदि भाषा में समावेश नहीं होता है, यह बात ठीक है, फिर भी यहाँ न्यूनता आदि किसी दोष का अवकाश नहीं है। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति आदि क्रियाविषयक उत्पन्नमिश्रित आदि भाषा का घटकीभूत उत्पत्ति आदि शब्द उपलक्षण है। अर्थात् उत्पत्ति शब्द से जैसे उत्पत्ति क्रिया

१. अत्र मुद्रितप्रतौ - शतकेषु देशेषु पंचाशत्सु देशेषु - इत्यत्यन्ताशुद्धः पाठः। २. मुद्रितप्रतौ - 'वाऽशो' इति पाठः। ३. मुद्रितप्रतौ - 'च क्वा' इति पाठः। ४. मुद्रितप्रतौ - निदर्शना स्यात् तत्त्वादिति एवमशुद्धः पाठः।

लक्षणत्वात्, विशेषस्यैव वा विभागाश्रयणात्।

एतेन ज्ञाने यथाऽतस्मिंस्तदवगाहित्वरूपं भ्रमत्वं तद्वति तदवगाहित्वरूपं प्रमात्वं चैकत्रैव, 'इदं रजतं' इति ज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वाद्रजतांशे च भ्रमत्वात्, एवं अघटवत्यपि भूतले 'भूतलं घटवदि'ति भाषाया भूतलांशे प्रमाजनकत्वात् घटांशे च भ्रमजनकत्वात्

ननु विभाजकोपाधीनां विशेषणत्वमेव न तूपलक्षणत्वमपि, अन्यथा सर्वत्र विभागन्यूनतादोषविलयापत्तेरिति कदाचित् परो ब्रूयादिति मनसि निधाय कल्पान्तरं प्रदर्शयति **विशेषस्यैव वा विभागाश्रयणादिति**। सत्यामृषा-भाषाविशेषप्रतियोगिकविभागस्यैव विवक्षणान्न तु सत्यामृषात्वावच्छिन्नप्रतियोगिकविभागस्येत्यर्थः। तथा च 'शतं दत्ता' इत्यादिप्रदर्शितभाषाणां सत्यामृषात्वावच्छिन्नत्वेऽपि सत्यामृषाविशेषत्वाभावेन विभजनीयत्वाभावादेव प्रकृत-विभागेऽसमावेशेऽपि न न्यूनतादोषगन्धलेशोऽपि। अनधिकृतत्वेनाऽलक्ष्यत्वादेव तदसमुच्चयो न नो बाधायै किन्तु गुणायैवेत्याशयः। **न च** सत्यामृषाभाषाविशेषविभागनिरूपणे प्रतिज्ञान्तरनिग्रहस्थानप्राप्तिरिति **वाच्यम्** पूर्वमपि सत्यामृषाभाषाविशेषविभागनिरूपणस्यैव प्रतिज्ञातत्वान्न तु सत्यामृषासामान्यविभागनिरूपणस्य, व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तेः।

सत्यामृषाविशेषविभागस्यैव प्रदर्शनं कुतः? इति तु कुचोद्यम्, मिश्रभाषाविशेषस्यैव प्रकृतविभागप्रतियोगित्वे आर्षपुरुषाणामिच्छैव नियामिका परममुनीनां पर्यनुयोगानर्हत्वात् प्रकृतविभागानन्तर्भूतानां भाषाणां मिश्रत्वावच्छिन्नत्वेनैव प्रकृतविभागे मिश्रभाषाविशेषप्रतियोगित्वमुन्नीयत इत्यादि दृढतरं विभावनीयं सुधीभिः।

एतेनेति। मिश्रभाषाविशेषविभागप्रतिपादनेनेति, वचनान्तरे सत्यामृषाविशेषभेदप्रतिपादनद्वारा सत्यामृषात्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदाभावसंभवप्रतिपादनेनेति यावत्। **एकत्रैवेति** एकस्मिन्नेव ज्ञाने। **भूतलांशे** इति सप्तम्यर्थो विषयता तदन्वयश्च प्रमायाम्। तेन भूतलरूपविशेष्यांशविषयकप्रमाजनकत्वादित्यर्थः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। तदुक्तं ***सिद्धि-***

का बोध=ग्रहण होता है वैसे उत्पत्ति क्रिया से अन्य दानादि क्रिया का भी बोध होता है। अतः उत्पत्तिक्रियाविषयक मिश्रभाषा के प्रदर्शन से दानादिक्रियाविषयक मिश्रभाषा का भी प्रदर्शन हो जाता है। अर्थात् उत्पन्नमिश्रितभाषा की तरह दत्तमिश्रित आदि भाषा भी सत्यामृषा है - इस आशय से उत्पन्नमिश्रित आदि भाषा का निरूपण किया गया है। ठीक इसी तरह ही जीवमिश्रित आदि भाषा के घटकीभूत जीव आदि शब्द भी अन्य वस्तुओं के उपलक्षण हैं। अर्थात् जैसे जीवमिश्रित आदि भाषा सत्यामृषा भाषास्वरूप है वैसे अन्यवस्तुमिश्रित भाषा भी सत्यामृषा ही है, अन्यस्वरूप नही - इस अर्थ का बोध कराने के तात्पर्य से जीव आदि शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः "अशोकवनं" इत्यादि प्रदर्शित वचन भी सत्यामृषा स्वरूप ही सिद्ध होते हैं। आशय यह है कि उत्पन्नमिश्रित आदि प्रदर्शित दशविध भाषा ही मिश्रभाषा है ऐसा नहीं है किन्तु इन दश भाषा के अतिरिक्त दत्तमिश्रित आदि भाषा भी सत्यामृषा भाषा हैं। दशविध विभाग अन्यभाषा में सत्यामृषात्व का निषेधक नहीं है। अतः कोई दोष नहीं है।

✻ अव्याप्ति का दूसरे ढंग से निराकरण ✻

विशेषस्यैव. इति। विवरणकार समाधान देने के लिए अन्य अभिप्राय का आश्रय कर के बताते हैं कि ये दशभेद सत्यमृषाभाषासामान्य के नहीं है किन्तु सत्यमृषाभाषाविशेष का है। अर्थात् प्रदर्शित विभाग विशेषमिश्रभाषा का ही है, सामान्यमिश्रभाषा का नहीं। आशय यह है कि प्रकृत दशविध मिश्रभाषा से अतिरिक्त कोई भी भाषा मिश्रभाषा नहीं है - ऐसा निषेध इस विभाग से सूचित नहीं होता है, मगर अन्य भाषा प्रदर्शित मिश्रभाषाविशेषस्वरूप नहीं है ऐसा निषेध होता है। अर्थात् दशविध सत्यामृषा भाषा से अन्य भाषा मिश्रभाषा विशेषान्तरस्वरूप और यहाँ अनधिकृत है - ऐसा फलित होता है। दत्तमिश्रितादि भाषा का दशविध मिश्रभाषा के विभाग में समावेश न होने पर भी न्यूनता आदि कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह विवक्षित सत्यामृषाभाषाविशेषस्वरूप नहीं है। अर्थात् वह अलक्ष्य है। जो वस्तु विभाग का लक्ष्य ही न हो उसका समावेश उस विभाग में न हो तो न्यूनता दोष का अवकाश नहीं होता है। न्यूनता दोष तब होता, यदि दत्तमिश्रित आदि भाषा भी प्रस्तुत विभाग का लक्ष्य हो। इस सम्बन्ध में अधिक विचार भी किया जा सकता है।

एतेन ज्ञाने. इति। यहाँ अन्य विद्वान मनीषियों का यह कहना है कि- "जैसे एक ही ज्ञान में भ्रमत्व और प्रमात्व रहता है वैसे

सत्यामृषात्वं **इत्युक्तावपि न क्षतिः**।

वस्तुतस्तु एवं सत्यो(? सति) मृषाभेदोच्छेदापत्तिः सर्वस्या अप्यसत्याया अंशे सत्यत्वात् सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं इति न्यायात्

विनिश्चये - यथा यत्राऽविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।। (सि. वि. १/१९) **सत्यामृषात्वमिति**। अंशभेदेन भ्रमप्रमाजनकत्वात्सत्यामृषात्वमापाद्यत इति भावः। अतिपरिस्थूलव्यवहारनयाभिप्रायेणेष्टापत्तितयाऽङ्गीकरणायाऽऽह **इत्युक्तावपि न क्षतिरिति**। न न्यूनतादोष इति तात्पर्यम्।

निश्चयानुगृहीतव्यवहारनयाभिप्रायेणाऽऽह **वस्तुत** इति। **एवं सतीति**। धर्मधर्म्यंसापेक्षया भ्रमप्रमाजनकत्वेन सत्यामृषात्वाभ्युपगमे सतीत्यर्थः। **मृषाभेदोच्छेदापत्तिरिति**। मृषाभाषाविभागोच्छेदप्रसङ्ग इत्यर्थः। तत्रैव हेतुमाह **सर्वस्या** इति। तदेव समर्थयति- **सर्व**मिति। **अभ्रान्तमिति**। प्रमेत्यर्थः। भ्रमस्यापि धर्म्यंशेऽभ्रमत्वात्।

यत्तु कैश्चित् - 'भ्रमस्य धर्मविषयकत्वावच्छेदेन दोषापेक्षा धर्मिविषयकत्वावच्छेदेन च तदनपेक्षेत्युच्यते **तन्मन्दम्** दोषापेक्षे भ्रमे तदनपेक्षाऽनभ्युपगमात्। **न च** दोषापेक्षे भ्रमे दोषानापेक्षा नाभ्युपगम्यते तदा धर्मांश इव धर्म्यंशेऽपि भ्रमत्वं स्यादिति **वाच्यम्** धर्म्यंशे स्वभावादेवाऽभ्रमत्वात्। तदुक्तं ***तत्त्वचिन्तामणौ*** न ह्येकस्मिन् ज्ञाने जनयितव्ये तदपेक्षा तदनपेक्षा च सम्भवति। (त. चि. प्रत्य. खं. पृ. ५६३) **न च**वमनेकान्तवादत्यागः, सम्यगेकान्ताविनाभावित्वादनेकान्तस्य। तदुक्तं ***वादिदेवसूरिभिः*** नयगोचरापेक्षया त्वेकान्तात्मकत्वस्याऽपि स्वीकारात्। (स्या. र. ५/८ - पृ. ८३५) इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन।

मृषाभाषा में भी सत्यत्व और असत्यत्व रहता है। आशय यह है कि भ्रम का लक्षण है अतस्मिंस्तदवगाहिता। अर्थात् जो जैसे न हो उसका वैसे बोध होना। प्रमा का लक्षण है 'तद्वति तदवगाहिता' अर्थात् जो जैसा है वैसा ही उसका भान होना। अब देखिये, चकमक आदि दोष के कारण सीवी में "यह चाँदी है" ऐसा ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान धर्मी अंश में तो प्रमा ही है, क्योंकि इस ज्ञान का धर्मी इदं = पुरोवर्ती पदार्थ है जिसका पुरोवर्तिरूप से ही बोध होता है। तथा धर्म अंश में यह ज्ञान अप्रमा है, क्योंकि इसका ज्ञान का धर्म है रजतत्व, जो कि पुरोवर्ती सीवी में नहीं है। अतः रजतत्वशून्य में रजतत्व का बोध कराने से यह ज्ञान धर्म अंश में भ्रमस्वरूप भी है। अतः "इदं रजतं" इस ज्ञान में भ्रमत्व और प्रमात्व रहता है। ठीक वैसे ही जब भूतल में घट न होगा तब 'भूतलं घटवत्' यह भाषा भी सत्य और असत्य होने से सत्यामृषा हो जायेगी। आशय यह है कि 'घटवद् भूतलं' इस वाक्य से श्रोता को जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें विशेष्यरूप से भूतल का भान होता है और घट का विशेषणरूप से भान होता है। उस ज्ञान के विशेष्यस्वरूप भूतल तो वहाँ है ही। अतः वह ज्ञान भूतलरूप धर्मी अंश में प्रमात्मक है। उस ज्ञान का विशेषणरूप घट वहाँ नहीं है, क्योंकि भूतल में घट का संयोग सम्बन्ध नहीं है। अतः घट रूप धर्म अंश में वह ज्ञान भ्रमात्मक है। इस तरह घटशून्य भूतल में 'घटवद् भूतलं' यह भाषा धर्मी अंश में प्रमाजनक होने से और धर्म अंश में भ्रमजनक होने से सत्यामृषा हो जायेगी। धर्मी अंश में प्रमाजनक होने से वह भाषा आंशिक सत्य है और धर्म अंश में भ्रमजनक होने से वह भाषा आंशिक असत्य भी है। अतः मुण्ड भूतल में 'घटवद् भूतलं' यह वचन सत्यामृषा हो जायेगा।"

इत्युक्तावपि न क्षतिः। विवरणकार इन विद्वान मनीषियों के इस आशय की अत्यंत स्थूल व्यवहारनय की दृष्टि से स्वीकार करते हुए कहते हैं कि आपके इस कथन से भी हमारे मत में कोइ भी दोष न आयेगा। इसका कारण यह है कि दशविध सत्यामृषा भाषा का प्रदर्शित विभाग विशेषमिश्रभाषा का ही है, सामान्यमिश्रभाषा का नहीं। अतः दशभेद से अतिरिक्त भाषा में सामान्यतः सत्यामृषात्व का हम इन्कार नहीं करते हैं।

* धर्मी अंश में प्रमाजनकत्व मिश्रभाषात्व का आपादक नहीं है *

वस्तुतस्तु. इति। विवरणकार ने जो भी अभी कथन किया है, वह अभ्युपगमवाद से ही जानना चाहिए। इसका कारण यह है कि धर्मी अंश में प्रमाजनक और धर्म अंश में भ्रमजनक भाषा को सत्यामृषा माना जाय तब तो द्रव्यविषयक भावभाषा के द्वितीय भेदरूप मृषाभाषा का ही उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि 'सब ज्ञान धर्मी अंश में तो अभ्रान्त ही होता है' इस न्याय से सब मृषाभाषा

धर्म्यंशे प्रमाजनकत्वात्। तस्माद्धर्म्यंशविनिर्मोकेन परिस्थूरभ्रमप्रमाजनकत्वमादायैवैतद्भेदातिरेक इति **ध्येयम्**।

ननु तथापि 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इत्यत्र मूलस्य कपिसंयोगावच्छेदकत्वांशेऽसत्यत्वेऽपि वृक्षस्य कपिसंयोगवत्त्वांशे

निगमनमाह **तस्मादिति**। मृषात्वावच्छेदेन धर्म्यंशविषयकप्रमाजनकत्वसत्त्वेन मृषाभाषाविलयप्रसङ्गादिति। **धर्म्यंशविनिर्मोकेनेति**। धर्म्यंशप्रवेशमनादृत्येत्यर्थः। **एतद्भेदातिरेक** इति। परिस्थूलव्यवहारनयाभिप्रायेण धर्मांशे विपर्ययाविपर्ययरूपत्वेन भ्रमप्रमाजनकत्वात्सत्यामृषात्मकस्य भाषाभेदस्याऽसत्यातोऽतिरिक्तत्वम्। तथा च प्रदर्शित-भाषाया घटरूपधर्मांशे केवलं विपर्ययरूपत्वेन भ्रमजनकत्वादसत्यत्वमेव न तु सत्यामृषात्वम्, धर्मांशे भ्रमप्रमाजन-कत्वाभावादिति। **न चैव**मपि मुण्डभूतले 'घटवद् भूतलमि'ति वाक्यस्य घटात्मकधर्मांशे भ्रमजनकत्वेऽपि भूतलत्व-रूपधर्मांशे प्रमाजनकत्वान्मिश्रत्वं दुर्निवारमिति **वाच्यम्** धर्मितावच्छेदकातिरिक्तधर्मांशे एव भ्रमप्रमाजनकवचनत्वस्य मिश्रलक्षणत्वादित्यादिसूचनार्थं **ध्येयमित्युक्तम्**।

तथापीति। धर्मांशापेक्षयैव भ्रमप्रमाजनकत्वेन सत्यामृषात्वाभ्युपगमेऽपीति। **मूले वृक्षः कपिसंयोगी** इति। शाखायां कपिसंयोगसत्त्वदशायामिदं बोध्यम्। ननुमते अत्र मूले कपिसंयोगावच्छेदकत्वं वृक्षे च कपिसंयोगवत्ता भासते। **सत्यत्वादिति**। शाखायां कपिसंयोगसत्त्वादिति गम्यम्। **सत्यामृषात्वमिति**। अवच्छेदकत्वरूपधर्मांशे भ्रमजनकत्वेऽपि संयोगरूपधर्मांशे प्रमाजनकत्वादिति भावः। समाधत्ते **नेति**। **मूले** इत्यत्रावच्छिन्नत्वं सप्तम्यर्थः, तस्य च कपिसंयोगि-

---

भी धर्मी अंश में प्रमाजनक होने से धर्मी अंश में तो सत्य ही है। मृषाभाषा भी केवल भ्रमजनक न होने से मृषाभाषा न रहेगी, मगर सत्यामृषा भाषा बन जायेगी। अर्थात् सर्वांश में भ्रमजनक कोई भी भाषा न होने से कोई भी भाषा मृषा नहीं कहलायेगी। इस तरह सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर धर्मी अंश में प्रमाजनक होने से सत्य और धर्म अंश में भ्रमजनक होने से असत्य ऐसी भाषा को सत्यामृषा भाषा कहने पर मृषाभाषा का ही उच्छेद हो जायेगा। अतः यही मानना होगा कि - धर्मी अंश को छोड कर स्थूल दृष्टि से धर्म अंश में ही भ्रम और प्रमा का जनक जो वचन हो वह मिश्रभाषारूप है। अर्थात् अमुक धर्म अंश में भ्रमजनक और अमुक धर्म अंश में प्रमाजनक भाषा ही सत्यामृषा भाषा है। तब तो मुंड भूतल में 'घटवद् भूतलं' यह भाषा असत्य ही सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि यह भाषा धर्म अंश में केवल भ्रमजनक ही है, भ्रम-प्रमा उभयजनक नहीं है। इस सम्बन्ध में शांति से विचार करने की सूचना देने के लिए विवरणकार ने 'ध्येयं' पद का प्रयोग किया है।

पूर्वपक्ष :- ***ननु तथापि*** इति। जो भाषा अमुक धर्म अंश में प्रमाजनक होने से सत्य हो और अमुक धर्म अंश में भ्रमजनक होने से असत्य हो वह भाषा मिश्रभाषा स्वरूप है - ऐसा कथन करने पर भी असत्यभाषा सत्यामृषा बन जायेगी। देखिये - जब वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग है तब वक्ता यह बोलता है कि 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' यह वचन सत्यामृषा हो जायेगा। इसका कारण यह है उस वाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें मूल कपिसंयोगावच्छेदकरूप से मालुम होता है और वृक्ष कपिसंयोगवाला है ऐसा ज्ञात होता है। वास्तव में कपिसंयोग का अवच्छेदक है शाखा। अतः कपिसंयोग की अवच्छेदकता शाखा में है, मूल में नहीं। फिर भी मूल में कपिसंयोगावच्छेदकतारूप धर्म का भान होता है जो कि तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान होने से भ्रमात्मक है। लेकिन वृक्ष में कपिसंयोगरूप धर्म का जो भान होता है वह तो प्रमात्मक ही है, क्योंकि वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग तो विद्यमान है ही। इस तरह अवच्छेदकतारूप एक धर्म अंश में भ्रमात्मक ज्ञान का जनक होने पर भी कपिसंयोगरूप अन्य धर्म अंश में प्रमाजनक होने से वह वाक्य सत्यामृषा हो जायेगा। मगर लोक में उस वचन का मृषारूप से ही व्यवहार होता है न कि सत्यामृषा के रूप में। अतः आपके द्वारा किये गये परिष्कार से भी उपर्युक्त वचन में मृषात्व की उपपत्ति न हो सकेगी और सत्यामृषात्व की आपत्ति का परिहार भी न हो सकेगा।

*** 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' वचन मिश्रभाषारूप नहीं है ***

उत्तरपक्ष :- ***न मूला*** इति। आप तो हिजडे के घर बेटा हुआ - ऐसी बात कर रहे हैं। जो भाषा मृषारूप से प्रसिद्ध है वह सत्यामृषा कैसे हो सकेगी? इसका कारण यह है कि 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इस वाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें वृक्ष में कपिसंयोग और मूल में कपिसंयोग की अवच्छेदकता का स्वतन्त्र भान नहीं होता है, मगर मूलावच्छिन्न कपिसंयोग का ही वृक्ष

सत्यत्वात्सत्यामृषात्वं स्यादिति **चेत्? न,** मूलावच्छिन्नकपिसंयोगवत्त्वांशे मूलावच्छिन्नसमवायसम्बन्धेन वा तदंशेऽप्रमात्वादेवेति दिग्।।५६-५७।।

तत्रादावुत्पन्नमिश्रितामेवाऽऽह

शब्दार्थैकदेशे कपिसंयोगेऽन्वय इत्याशयेनाह **मूलावच्छिन्नकपिसंयोगवत्त्वांश** इति। अयं भावः तादृशवाक्यजन्यबोधे मूलेऽवच्छेदकत्वं वृक्षे च संयोगवत्त्वं पृथग् न भासते नानामुख्यविशेष्यताशालिज्ञानत्वेन समूहालम्बनज्ञानत्वप्रसङ्गात्। न च समूहालम्बनज्ञानमत्र जायते, तत्सामग्रीविरहात् किन्तु प्रकृते विशिष्टवैशिष्ट्याऽवगाहि ज्ञानं जायते। अत्र ज्ञाने विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं कारणं विशेषणावच्छिन्नप्रतियोगिकवैशिष्ट्याऽऽख्यः सम्बन्धः च संसर्गतया प्रकारतानाक्रान्तविशेष्ये भासते। इदमेव ज्ञानं विशिष्टविशेषणकज्ञानप्रभेदरूपं विशेषणविशिष्टप्रतियोगिकवैशिष्ट्यावगाहि भवति विशेषणोपलक्षितप्रतियोगिकवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानाद् भिद्यते चेति बोध्यम्। तथा च मूलावच्छिन्नकपिसंयोगवत्तारूपधर्मांशे भ्रमजनकत्वान्मृषात्वमेवेति सिद्धम्।

एतेन एकत्र द्वयमिति रीत्या एकस्मिन्नेव कपिसंयोगे मूलावच्छिन्नत्वं वृक्षवृत्तित्वं चैतदुभयं विशेषणतयैव भासते न तु विशेषणविशेष्यतावच्छेदकभावेन। तथा च मूलावच्छिन्नत्वांशे भ्रमजनकत्वात् वृक्षवृत्तित्वांशे च प्रमाजनकत्वात्सत्यामृषात्वमेवेत्यपि **निरस्तम्** वृक्षवृत्तित्वस्य विशेषणत्वेन भानप्रयोजकसामग्रीविरहेण विशेषणत्वेनोभयोपस्थितेः तादृशज्ञानप्रयोजिकाया असत्त्वात् प्रथमान्तमुख्यविशेष्यकत्वाभावेन तादृशशाब्दबोधस्याऽव्युत्पन्नत्वाच्च।

अत एव विशेष्ये विशेषणं तत्राऽपि विशेषणान्तरमिति रीत्या वृक्षे कपिसंयोगः तत्र च मूलावच्छिन्नत्वं विशेषणतया भासते न तु मूलावच्छिन्नत्वं वृक्षांशे विशेषणतावच्छेदकतया। तथा च विशेषणान्तरविशिष्टविशेषणस्य मूलावच्छिन्नकपिसंयोगस्य बाधात् शुद्धविशेषणस्य कपिसंयोगस्याऽबाधाच्च सत्यामृषात्वमेव न तु मृषात्वमित्यपि **परास्तम्** बाधकाभावेन विशेषणद्वयस्याऽव्यवधानेनोपस्थितेः तादृशबोधप्रयोजिकाया विशृंखलोपस्थितेरसत्त्वात्।

विधेयतावच्छेदकधर्मलाघवाय कल्पान्तरं प्रदर्शयति **मूलावच्छिन्नसमवायसम्बन्धेन वा** इति। अप्रमात्वरक्षार्थं मूलावच्छिन्नत्वं समवायस्य विशेषणं, अन्यथा शाखायां कपिसंयोगस्य समवायेन सत्त्वात् प्रमात्वमेव स्यात्। **तदंश** इति कपिसंयोगवत्तांश इति। **अप्रमात्वादेवेति** तादृशवाक्यस्य मूलावच्छिन्नसमवायेन कपिसंयोगवत्तांशेऽप्रमाजनकत्वादेव मृषात्वमिति भावः। यद्वा तादृशवाक्यजन्यज्ञानस्य तादृशसम्बन्धेन कपिसंयोगवत्तांशेऽप्रमात्वादेव तज्जनकवाक्यस्य मृषात्वमिति भावः।

इदं चाभ्युपगमवादेनोक्तम्। **वस्तुतस्तु** 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी'त्यत्राऽवच्छिन्नत्वं न सप्तम्यर्थः किन्तु वृत्तित्वमेव तस्य च कपिसंयोगिशब्दार्थैकदेशे कपिसंयोगेऽन्वयः। तदुक्तं ***स्याद्वादकल्पलतायां*** - 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' इत्यत्राऽपि 'मूलवृत्तिकपिसंयोगवान् वृक्ष' इत्येव स्वारसिकोऽर्थः। यदि च मूलेऽवच्छेदकत्वं भासते तदाऽपि स्वनिरूपितै-

में भान होता है। वृक्षरूपी धर्मी में मूलावच्छिन्न कपिसंयोगवत्ता तो बाधित ही है, क्योंकि वृक्ष में मूलावच्छिन्न कपिसंयोग नहीं है मगर शाखावच्छिन्न कपिसंयोग है। अतः धर्मी में जिसका सम्बन्ध नहीं है ऐसे मूलावच्छिन्न कपिसंयोग का ज्ञान तो भ्रमात्मक ही सिद्ध होता है। मूलावच्छिन्न कपिसंयोगवत्तारूप धर्म अंश में अप्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न करने से वह वाक्य भी मृषा ही है, सत्यमृषा नहीं।

या फिर ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'मूले वृक्षः कपिसंयोगी' वाक्य से जो शाब्दबोध होता है उसमें वृक्षरूप धर्मी में मूलावच्छिन्नसमवाय सम्बन्ध से कपिसंयोग का भान होता है, जो कि बाधित है। इसका कारण यह है कि वृक्ष में शाखावच्छिन्नसमवाय सम्बन्ध से कपिसंयोग रहा हुआ है न कि मूलावच्छिन्नसमवाय सम्बन्ध से। अतः मूलावच्छिन्न समवायसम्बन्ध से कपिसंयोगरूप धर्म अंश में अप्रमाजनक होने से वह वाक्य मृषा ही है न कि सत्यमृषा, क्योंकि वह वचन धर्मांश में भ्रम-प्रमा उभय का जनक नहीं है मगर केवल भ्रम का ही जनक है। संयोग अव्याप्यवृत्ति पदार्थ है। अतः वह वृक्ष में शाखावच्छिन्न समवायसम्बन्ध से ही रहता है। अतः मूलावच्छिन्न समवायसम्बन्ध से कपिसंयोग का वृक्ष में अभाव ही है। तदभाववति तत्प्रकारकज्ञान का जनक

उप्पन्नमीसिया सा उप्पन्ना जत्थ मीसिया हुंति। संखाइ पूरणत्थं सद्धिमणुप्पन्नभावेहिं[१] ।।५८।।

सा उत्पन्नमिश्रितेति विधेयनिर्देशः। **यत्राऽनुत्पन्नभावैः सार्द्धं संख्यायाः पूरणार्थं** उत्पन्ना मिश्रिता भवन्तीत्यनूद्यनिर्देशः। उदाहरणं तु क्वचिदुत्पन्नेषु पञ्चसु दारकेषु दशाऽभ्यधिकेषु वाऽद्य दश दारका जाता इति स्वयमेव दृष्टव्यम्। अत्र च दशसंख्यायाः पञ्चसंख्या-द्वयाऽऽत्मिकाया अंशयोरेव बाधाबाधाभ्यां सत्यासत्यत्वं न तु कार्त्स्न्येनाऽन्यतररूपानुप्रवेशः। अत एव 'श्वस्ते शतं दास्यामि' इति

कत्वसंवलितभेदप्रतियोगित्वरूपम्। (स्या. क. स्त. ७ श्लो. १३ वृत्ति) तत उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन बाधितसंसर्ग-कविधेयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दधीजनकत्वेन तादृशवचनस्य मृषात्वमेव न तु सत्यामृषात्वमित्यादि विभावनाय **दिक्पद**प्रवेशः कृतः।।५६-५७।।

अनूद्यनिर्देशः = उद्देश्यतया निर्देशः। उद्देश्यत्वं च मानांतरप्राप्तत्वे सति विधेयान्वयित्वेन निर्देश्यत्वम्। **अन्ये** तु विधेयतानिरूपकत्वमुद्देश्यत्वमित्याहुः। उद्देश्यविधेयभावस्थले विधेयतानिरूपकसम्बन्धेन विधेयतावच्छेदकरूपेण विधेयतासमव्याप्तरूपेण वा विधेयस्य व्यापकत्वं तादात्म्येन चोद्देश्यस्य व्याप्यत्वमिति व्युत्पत्तिः।

वस्तुतस्तु अत्र यस्योत्पन्नमिश्रितस्य एवाऽधिगमः तं प्रतीतरस्य विधेयत्वं यस्य चेतरस्यैवाऽधिगमस्तं प्रति उत्पन्नमिश्रितस्य विधेयत्वं यस्य चोभयानधिगमस्तं प्रत्युभयस्य विधेयत्वमित्यतिदेशेन ***स्याद्वादरत्नाकरे*** व्यवस्थितम्। स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमित्यत्र विशेषणविशेष्यान्तरप्रसिद्धौ तदन्यभागस्य विधेयत्वमुभयस्यैव चाप्रसिद्धावुभयस्यैव विधेयत्वमिति तत्रोक्तेरिति ध्येयम्। **स्वयमेवेति**। **न चो**दाहरणाप्रदर्शनान्न्यूनत्वमिति **वाच्यम्** व्युत्पन्नं प्रति तस्या-नुपयोगित्वेन सर्वत्र तन्निर्देशस्याऽनावश्यकत्वात् यथा चैतत्तत्वं तथा प्रतिपादितं **प्रमाणमीमांसायाम्**।

कार्त्स्न्येन बाधप्राप्तौ सत्यां बाधाबाधलाभार्थमाह **पञ्चसङ्ख्याद्वयात्मिकाया** इति। **अंशयोरेवेति**। एकपञ्च-सङ्ख्याया उत्पन्नेष्वबाधेन द्वितीयस्य च बाधेन भ्रमप्रमाजनकत्वात्सत्यासत्यत्वमिति भावः। एवकारव्यवच्छेद्यमाह **न तु कार्त्स्न्येने**ति। **अन्यतररूपानुप्रवेश** इति सत्यासत्यान्यतरानुप्रवेश इत्यर्थः। **न च** पञ्चषूत्पन्नेष्वस्तु सत्यामृषात्वं परं दशाभ्यधिकेषूत्पन्नेषु 'अद्य दश दारका जाता' इत्यस्य सत्यत्वमेव ग्रामस्थेषु दशसु दारकेष्वद्यकालीनोत्पत्तेरबाधादिति वाच्यम् तथापि साक्षाच्छब्दतः प्रतीतस्य यथोक्तसङ्ख्याधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदस्य बाधेनांशतो भ्रमजनकत्वात्सत्या-

होने से वह वचन असत्य ही है। इस सम्बन्ध में अधिक विचार भी किया जा सकता है। यहाँ जो बताया गया है वह तो एक दिग्दर्शन मात्र ही है। इस बात की सूचना देने के लिए यहाँ दिग्शब्द का प्रयोग विवरणकार ने किया है।।५६-५७।।

अब प्रकरणकार श्रीमद् ५८ वीं गाथा से सत्यामृषा भाषा के प्रथम भेदस्वरूप उत्पन्नमिश्रित भाषा का निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- जिस भाषा में उत्पन्नभाव संख्या की पूर्ति के लिए अनुत्पन्नभावों से मिश्रित होते हैं वह उत्पन्नमिश्रित भाषा है।५८।

❋ उत्पन्नमिश्रित भाषा - १/३ ❋

विवरणार्थ :- उपदर्शित श्लोकार्थ में 'वह उत्पन्नमिश्रित भाषा है' यह विधेयात्मक निर्देश है तथा 'जिस भाषा में उत्पन्न भाव संख्या की पूर्ति के लिए अनुत्पन्न भावों से मिश्रित होते हैं' यह अनूद्यनिर्देश यानी उद्देश्यनिर्देश है। जो अप्रसिद्ध होता है वह विधेय होता है और जो प्रसिद्ध होता है वह उद्देश्य होता है। प्रसिद्ध वस्तु को उद्देश्य बना कर अप्रसिद्ध वस्तु का विधान किया जाता है। प्रस्तुत में उत्पन्नमिश्रित भाषा अज्ञात होने से विधेय है और शेष अंश उद्देश्यस्वरूप है। उत्पन्नमिश्रित भाषा का उदाहरण बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि कभी किसी गाँव में पाँच या दश से अधिक बालक का जन्म हुआ हो तब 'आज यहाँ दस बालकों का जन्म हुआ है' ऐसा कहना उत्पन्नमिश्रित भाषा का उदाहरण है, जो स्वयं द्रष्टव्य है। यह वचन उत्पन्नमिश्रित इसलिए कहा जाता है कि दश संख्या दो पाँच संख्या स्वरूप है जिनमें से एक पाँच संख्या का उत्पन्न बालकों में बाध नहीं है, मगर दूसरी पाँच संख्या का उत्पन्न बालकों में बाध है - अभाव है, क्योंकि बालक तो पाँच ही पैदा हुए हैं। अतः एक अंश में प्रमाजनकत्व और अन्य अंश में भ्रमजनकत्व होने से यह भाषा सत्यासत्य कही जाती है। यहाँ भाषा में देश से सत्यत्व और देश से असत्यत्व अभिमत है न कि

१. उत्पन्नमिश्रिता सा उत्पन्ना यत्र मिश्रिता भवन्ति। संख्यायाः पूरणार्थं सार्धमनुत्पन्नभावैः।।५८।।

प्रतिज्ञाय पञ्चाशद्ददानोऽपि नाऽदातृवत्सर्वथा मृषाभाषित्वेन व्यवह्रियते इति प्रकृते तथाविधव्यवहारानुरोधान्नानुपपत्तिः।

ननु 'शतं दास्यामि' इति प्रतिज्ञाय 'पञ्चाशद्दानेऽमृषाभाषित्वं न वास्तवं व्यवह्रियते किन्तु तत्कार्यकारित्वादिरूपं भाक्तमेव। अत एव तस्य पञ्चाशद्दत्वा 'शतं दत्तं' इति गिरा लोकान् साक्षीकुर्वतो मृषाभाषित्वेनैव निग्रह इति चेत्? **न**, तत्रांऽऽशिकमृषाभाषित्व-मृषात्वस्यानपायात्। एवमन्यत्राप्यूह्यम्।

अत एवेति कात्स्न्र्येनान्यतररूपानुप्रवेशस्यानभिमतत्वादेवेति। **तथाविधव्यवहारानुरोधादिति**। आंशिकविपर्यया-विपर्ययपक्षव्यवहारानुसरणादित्यर्थः। **नानुपपत्तिरिति** न सत्यामृषात्वव्याहतिरित्यर्थः।

तत्कार्यकारित्वादिरूपमिति प्रतिज्ञानुसार्यांशिककार्यकारित्वादिरूपमिति। आदिशब्देन सर्वथा प्रतिज्ञाविपर्यया-ननुसरणत्वादिग्रहणम्। **भाक्तमेवेति** गौणमेव न तु मुख्यमित्यर्थः सर्वता प्रतिज्ञानुसरणाभावादिति स्वयमेव गम्यम्। **अत एवेति**। मुख्यसत्यत्वाभावादेवेत्यर्थः। **निग्रह** इति। यदि च तस्य मुख्यसत्यभाषित्वं स्यात्तदा मृषाभाषित्वेन पराभवो न स्यात् मुख्यसत्यभाषित्वस्य मृषाभाषित्वाभावव्याप्यत्वादिति प्रसङ्गः। ततश्च व्यापकाभावेनैव व्याप्याभावस्य मुख्यसत्यभाषित्वाभावरूपस्य सिद्धेर्भाक्तसत्यभाषित्वं तदविरुद्धं तत्र स्यादिति [2]फक्किकार्थः।

अदत्तापलापद्वारेति। शेषाऽदत्तपञ्चाशद्रूप्यकनिह्नवद्वारेति। अयं भावः तत्रांशिकसत्यभाषित्वं मुख्यमेव न तु गौणम्। अत आंशिकमृषाभाषित्वस्य सत्त्वेऽपि मृषाभाषित्वेन निग्रहो न भवितुमर्हति, तत्प्रतिपक्षस्य तत्र सत्त्वात्। यदा शेषादत्तधनस्यापलापः 'शतं दत्तमि'त्यनेन क्रियते तदांऽऽशिकमृषाभाषित्वं लब्धव्यापारं निग्रहाय प्रभवति घातिकर्म-प्रकृतिसान्निध्यलब्धसामर्थ्याया अघातिप्रकृतेरिव। परं नैतावतांऽऽशिकमृषाभाषित्वे निग्रहकारणत्वं सिध्यति निर्व्यापारस्य तस्याऽप्रभविष्णुत्वात् न वा तत्रांऽऽशिकमुख्यसत्यत्वाभावः अदत्तानपलापदशायां निग्रहाभावात्।

एक अंश में भी असत्यत्व है इसलिए संपूर्ण भाषा असत्य ही है या एक अंश में सत्यत्व है इसलिए संपूर्ण भाषा असत्य ही है या एक अंश में सत्यत्व है इसलिए संपूर्ण भाषा सत्य ही है। एक अंश में असत्यत्व होने पर भी यह भाषा मृषा नहीं कही जाती है। इसलिए तो लोक में भी यह देखा जाता है कि - 'मैं तुझे कल १०० रूपए दूँगा' ऐसा कह कर पचास रूपए देने पर भी 'वह मृषावादी है' ऐसा व्यवहार नहीं होता है जैसा कि एक भी रूपैया न देनेवाले पुरुष में 'यह मृषावादी है' ऐसा व्यवहार होता है। अतः प्रकृत में उत्पन्नमिश्रित भाषा को भी, लोगों के वैसे व्यवहार का अनुसरण कर के, सत्यासत्य भाषा कहने में कोई दोष नहीं है।

शंका :- ***ननु.*** इति। 'मैं कल १०० रूपए दूँगा' एसा कह कर दूसरे दिन पच्चास रूपए देने पर दातार = अल्पर्द्धि मृषावादी नहीं है मगर सत्यवादी है - ऐसा जो व्यवहार होता है वह दातार में मुख्य सत्यभाषित्व है इसकी वजह से नहीं मगर अपने वचन के अनुसार कथंचित् कार्य करना इत्यादि रूप गौण सत्यवक्तृत्व की वजह से होता है। दातार में प्रधान सत्यवक्तृत्व नहीं है। अत एव वह दातार पच्चास रूपए दे कर लोगों को साक्षी रूप से इकट्ठा कर के कहता है कि - 'मैंने १०० रूपये दे दिये हैं' - तब लोग साक्षी देने की बात तो दूर रही मगर दातार को ही पकड लेंगे कि - 'तुम ही मृषाभाषी हो। तुमने १०० रूपए दिये ही कहाँ है?' यदि दातार में मुख्य सत्यभाषित्व हो, तब 'यही मृषाभाषी है।' ऐसा निग्रह कैसे हो सकता? मगर वैसा निग्रह होता है। उसीसे यह सिद्ध हो जाता है कि दातार में प्रधान सत्यवक्तृत्व नहीं है। हाँ, गौण सत्यवक्तृत्व हो तब कोई दोष नहीं है, क्योंकि गौण सत्यवक्तृत्व तो औपचारिक हो सकता है जो कि हमने अभी बताया है।

* मिश्रभाषा में सत्यत्व औपचारिक नहीं है *

समाधान :- ***न. तत्र.*** इति। क्या तुम्हारी अकल चरने गई है? इतना भी आप समझ नहीं सकते हैं कि - उपर्युक्त भाषा में आंशिक मृषात्व है और उस दातार में आंशिक मृषाभाषित्व है वह स्वरूपतः निग्रह का कारण नहीं होता है मगर जब दातार 'मैंने १०० रूपए दे दिये। अब मुझे कुछ देना नहीं है। हिसाब खतम हो गया - साफ हो गया' इस तरह जब शेष पच्चास रूपए को, जो दातार ने नहीं दिये हैं मगर भविष्य काल में देने शेष हैं, देने का अपलाप करता है तब उसका आंशिक मृषाभाषित्व निग्रह का प्रयोजक बनता है। अर्थात् आंशिक मृषाभाषित्व स्वरूपतः निग्रह का कारण नहीं है, मगर अदत्त धन के अपलाप द्वारा निग्रह का

१. 'मृषाभाषित्वं' इति मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः। २. तत्त्वनिर्णयार्थं पूर्वपक्षः फक्किका। दृश्यतां पदार्थलक्षणसंग्रहः पृ. १४३।

स्याऽप्यदत्तापलापद्वारा निग्रहप्रयोजकत्वात्, अन्यथा जाताजातविषयभेदेन प्रकृतप्रयोगोच्छेदप्रसङ्गात्।

न च दशसंख्यापर्याप्तेरद्य जातेषु बाधात्सर्वथा मृषात्वम्, अन्यथा 'एको न द्वौ' इति न स्यादिति **वाच्यम्**, दशस्वेतत्कालोत्पत्तिकाभेदांशेन संवादादिति दिग्। एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ॥५८॥ उक्ता उत्पन्नमिश्रिता। अथ विगतमिश्रितामाह

वस्तुतस्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं निग्रहकारणत्वमदत्तापलापस्थमव्युत्पन्नस्यांशिकमृषाभाषित्वे भासत इति **ध्येयम्**।

विपक्षे बाधकतर्कमाह **अन्यथेति**। मुख्यांशिकसत्यत्वानङ्गीकारे। **प्रकृतप्रयोगोच्छेदप्रसङ्गादिति**। उत्पन्नानुत्पन्नरूपविषयभेदेन भ्रमप्रमाजनकत्वमादाय कृतप्रकृतप्रयोगस्य स्थूलव्यवहारनयाभिप्रायेणांशिकसत्यामृषात्वाक्रान्तस्यांऽऽशिकसंवादात् सर्वथा मृषात्वेनाऽव्यवहृतस्योच्छेदापत्तेरिति भावनीयम्।

सङ्ख्याशब्दानां पर्याप्त्याऽन्वयबोध एव साकाङ्क्षत्वमित्याशयवतः शङ्कामपहस्तयितुमाह - **न च दशसङ्ख्यापर्याप्तेरिति**। पर्याप्तित्वं चाऽत्राऽनित्यत्वे सति व्याप्यवृत्तित्वे सति स्वरूपभिन्नसम्बन्धत्वरूपं बोध्यम्। दशसङ्ख्यापर्याप्तेर्यद्वा पर्याप्तिसम्बन्धेन दशसङ्ख्याया अद्यजातेष्वभावेनोद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन बाधितसंसर्गकविधेयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दधीजनकत्वात्सर्वथा मृषात्वमेव, न तु सत्यामृषात्वम्। विपक्षे बाधकमाह **अन्यथे**ति। उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नत्वप्रकारेणैवाऽन्वयो भवतीति व्युत्पत्त्यस्वीकारे। **'एको न द्वावि'**ति। एकत्ववत्यपि द्वित्वावच्छिन्नत्वरूपेणाऽन्योन्याभावस्य सत्त्वात् 'एको न द्वौ' इति व्यवहारो भवति, तद्विशेष्यक-तत्प्रकारकज्ञानस्य तद्विशेष्यक-तत्प्रकारकव्यवहारप्रयोजकत्वात्। **इति न स्यादिति** इति प्रयोगो न स्यात्। तादृशव्युत्पत्त्यस्वीकारे द्वित्वेनोपस्थितयोः प्रत्येकं भेदान्वयस्य बाधितत्वात् 'एको न द्वौ' इति शाब्दव्यवहारो न स्यादिति द्वित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावस्यैवाऽत्र विषयत्वं सिध्यतीति शङ्काशयः।

समाधत्ते-**दशस्वेतत्कालोत्पत्तिकाभेदस्यांशेन संवादादि**ति। दशसु पञ्चसङ्ख्याद्वयाश्रयेषु दारकेष्वंशेनैतत्कालो-

प्रयोजक है। इससे - दातार में जो सत्यभाषित्व आंशिक भी है वह औपचारिक ही है, मुख्य नहीं - ऐसा कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि दातार जब शेष पन्नास रूपए को देने का इन्कार नहीं करता है तब उसका - यह मृषाभाषी है - ऐसा निग्रह नहीं होता है। यह मानना युक्तिसंगत भी है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जाए तब तो उत्पन्न-अनुत्पन्नरूप विषय के भेद से सत्यामृषास्वरूप उत्पन्नमिश्रितभाषा का जो प्रयोग हुआ है उसीका उच्छेद हो जायेगा। उस भाषा में आंशिक सत्यत्व भी मुख्य रूप से न हो तब तो - "वह मिश्रभाषा है, मृषा नहीं" - यह लौकिक व्यवहार ही उपपन्न नहीं हो सकेगा। अतः मानना होगा कि मिश्रभाषा में आंशिक सत्यत्व औपचारिक नहीं है, मगर मुख्य ही है।

शंका :- ***न च.*** इति। अद्यकालोत्पन्न बालक में दश संख्या की पर्याप्ति का, जिसका विधान किया गया है, बाध होने से यह भाषा सर्वथा मृषा ही है, न कि सत्यामृषा। आशय यह है कि दश संख्या की पर्याप्ति एक, दो या तीन बालक में नहीं रहती है मगर दश बालक में ही रहती है, क्योंकि वह दश व्यक्ति में ही पर्याप्त होती है, एक - दो व्यक्ति में नहीं। प्रस्तुत में तो उत्पन्न बालक पाँच होने से उनमें दशसंख्यापर्याप्ति नहीं रह सकती है। अतः जिसका विधान किया जाता है उसका उद्देश्य में बाध होने से यह वचन मृषा ही सिद्ध होता है। यदि ऐसा न माना जाए तब 'एको न द्वौ' ऐसा जो प्रयोग होता है उसकी कथमपि उपपत्ति न हो सकेगी। आशय यह है कि एकत्वसंख्याविशिष्ट व्यक्ति द्वित्वसंख्याविशिष्ट होती नहीं है। अतः एकत्वसंख्या से विशिष्ट द्वित्वसंख्याविशिष्ट से भिन्न है इस तात्पर्य से 'एको न द्वौ' वाक्य का प्रयोग होता है। मगर यदि 'एको न द्वौ' वाक्य का अर्थ ऐसा किया जाय कि द्वित्वसंख्या की आश्रयभूत दो व्यक्ति में से एकव्यक्ति तो एकत्वसंख्या से विशिष्ट है ही तब 'एको न द्वौ' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकेगा। मगर 'एको न द्वौ' ऐसा शब्दप्रयोग लोक में होता है इसीसे यह सिद्ध होता है कि - एकत्वविशिष्ट में द्वित्वसंख्या की पर्याप्ति न होने से या तो पर्याप्ति संबंध से द्वित्व न होने से द्वित्वसंख्याविशिष्ट व्यक्ति का भेद एकत्वविशिष्ट में रहता है - इसी तात्पर्य से वह प्रयोग किया जाता है। वैसे यहाँ भी दशसंख्या की पर्याप्ति या पर्याप्ति संबंध से दश संख्या अद्य उत्पन्न बालको में न होने से वह भाषा मृषा ही है।

[१]सा विगयमीसिया खलु, विगया भन्नंति मीसिया जत्थ। संखाइ पूरणत्थं, सद्धिमविगएहि अन्नेहिं।।५९।।

खल्विति निश्चये, **सा** भाषा **विगतमिश्रिता** भण्यते **यत्र** = यस्यां, **विगताः** = प्रध्वस्ताः पदार्थाः, **सङ्ख्यायाः पूरणार्थमन्यैः अविगतैः** = अप्रध्वस्तैः, **सार्धं** मिश्रिता **भण्यन्ते**। यथा-एकं ग्राममधिकृत्य यत्र्यूनाधिकेषु विगतेषु 'अद्य दश वृद्धा विगता' इत्युदाहरणम्

त्पत्तिकतादात्म्यस्य संवादेन तदंशे प्रमाजनकत्वेनांऽऽशिकसत्यत्वस्याऽनपायान्न केवलं मृषात्वं किन्तु सत्यामृषात्वमिति।

अत्र सत्यासत्यत्वं विषयभेदेन न विवक्षितं किन्त्वेकस्मिन्नेवांशभेदेन। **तेन** सङ्ख्यायां भ्रमजनकत्वादुत्पत्तौ च प्रमाजनकत्वात्प्रकृते सत्यासत्यत्वमिति **निरस्तम्**, उत्पन्नमिश्रितयोगार्थाऽघटनाच्च। **अत एवात्र** हि विवादः सङ्ख्यामाश्रित्य समाधानं त्वेतत्कालिकोत्पत्तिकाभेदांशसंवादेनेति आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे भवानित्यपि **प्रत्युक्तम्**, धर्मिमुखेन समाधानप्रदाने सङ्ख्यायामप्यांशिकसंवादस्याऽऽक्षेपलभ्यत्वात्, अनित्यत्वे सति व्याप्यवृत्तित्वे सति स्वरूपभिन्नसम्बन्धरूपस्य पर्याप्तिसम्बन्धस्य निवेशापेक्षया समवायस्याऽपृथग्भावसम्बन्धस्य वा प्रवेशे लाघवाच्च। **न च** सम्बन्धगौरवस्याऽदोषत्वमिति **वाच्यम्**, तस्याऽपि क्वचिद्दोषत्वात्। **एतेन** एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीतिवत् पञ्चसु जातेषु दश जाता न सन्तीति तस्य सर्वथैव मृषात्वम्, पर्याप्तिसम्बन्धेन दशसङ्ख्याया अद्य जातेषु बाधादित्यपि **निरस्तम्**, दृष्टान्तस्याऽपि वैषम्याच्च। एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीत्यत्रापि न द्वित्वावच्छिन्नाभावस्य विषयत्वमङ्गीक्रियते किन्तु द्वित्वेनोपस्थितयोः प्रत्येकं निषेधान्वयः। अतस्तस्याऽपि न सर्वथा सत्यत्वं किन्तु बाधाऽबाधाभ्यां मिश्रत्वमेवेत्यादिसूचनार्थं **दिक्**पदप्रयोगः कृतः। अतिदिशति **अन्यत्राऽपीति**। विगतमिश्रितादिष्वपीति।।५८।।

अद्य दश वृद्धा विगता इति। विगताविगतविषयभेदेन दशसङ्ख्यायाः पञ्चसङ्ख्याद्वयात्मिकाया अंशयोरेव बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वमादाय सत्यासत्यत्वं द्रष्टव्यम्। यद्वा दशसु वृद्धेषु एतत्कालध्वस्ताभेदस्य अद्यकालीनध्वंसप्रतियोगित्वस्य वांऽशभेदेन बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वमादाय सत्यामृषात्वं भावनीयम्।।५९।।

समाधान :- ***दशसु.*** इति। आपकी यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि दश बालकों में से पाँच बालकों में अद्यकालीन उत्पत्तिविशिष्ट का तादात्म्य अबाधित होने से आंशिक संवाद उपलब्ध होता है। अतः यह भाषा सर्वथा मृषा नहीं है। यदि दश बालकों में से एक भी बालक में अद्यकालीन उत्पत्तिविशिष्ट का तादात्म्य भी बाधित होता, तब तो उसे सर्वथा मृषा कहना उचित होता। मगर ऐसा है नहीं। यहाँ दश बालकों में से पाँच बालको में अद्यकालीन उत्पत्तिविशिष्ट का अभेद अबाधित है और शेष पाँच बालकों में वह बाधित है। अतः आंशिक संवाद और विसंवाद की अपेक्षा यह भाषा सत्यामृषा ही है यह सिद्ध होता है। इस संबंध में अधिक विचार भी किया जा सकता है - इसकी सूचना देने के लिए विवरणकार ने यहाँ दिग् शब्द का प्रयोग किया है। इस तरह विगतमिश्रित आदि भाषा में भी पाठक स्वयं विचार करे - ऐसा कह कर उत्पन्नमिश्रित भाषा के संबंधी अपने वक्तव्य को विवरणकार समाप्त करते हैं।।५८।।

उत्पन्नमिश्रित भाषा कही गई। अब ५९ वीं गाथा से प्रकरणकार मिश्रभाषा के द्वितीय भेद विगतमिश्रित भाषा को, जो कि क्रमप्राप्त है, बताते हैं।

गाथार्थ :- जिस भाषा में विगत भाव अविगत भाव के साथ संख्या पूर्ति के लिए मिश्रित किये जाते हैं वह भाषा विगतमिश्रित कही जाती है।५९।

*** विगतमिश्रित भाषा २/३ ***

विवरणार्थ :- जिन पदार्थों का ध्वंस हो गया हैं वे अनष्ट अन्य पदार्थों के साथ प्रतिपादित संख्या की पूर्ति के लिए मिश्रित बना कर जिस भाषा में बताये जाते हैं वह भाषा विगतमिश्रित भाषा कही जाती है। यह बात उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। जैसे कि किसी गाँव में पाँच या पंदर वृद्ध पुरुष दिवंगत हो जाने पर 'आज यहाँ दश वृद्ध मर गये है' ऐसा वचन विगतमिश्रित कहा जाता

१. सा विगतमिश्रिता खलु, विगता भण्यन्ते मिश्रिता यत्र। संख्यायाः पूरणार्थं सार्धम विगतैरन्यैः।।५९।।

२।।५९।। उक्ता विगतमिश्रिता। अथोत्पन्नविगतमिश्रितामाह

[१]उप्पन्नविगयमीसिअमेयं पभणंति जत्थ खलु जुगवं। उप्पन्ना विगया वि य, ऊणब्भहिया भणिज्जंति।।६०।।

एतां = भाषां **उत्पन्न - विगतमिश्रितां प्रभणन्ति,** श्रुतधरा इति शेषः, **यत्र** = यस्यां भाषायां, **खलु** = निश्चये, **उत्पन्ना विगता अपि च** भाषा, **ऊना अधिका युगपद्भण्यन्ते**। उदाहरणं चास्मिन् ग्रामे दश जाता दश च मृता इत्यवधारणानुपपत्तौ द्रष्टव्यम् ३।।६०।। उक्तोत्पन्नविगतमिश्रिता। अथ जीवमिश्रितामाह

अवधारणानुपपत्ताविति दशाभ्यधिकेषु न्यूनेषु वा जातेषु मृतेषु च तदवधारणबाधात्। अत्र चोत्पन्नाः सङ्ख्या-पूरणार्थमनुत्पन्नैः विगताश्चाविगतैः साध मिश्रिता युगपद् भण्यन्तेऽत उत्पन्नविगतमिश्रितत्वमभिमतम्। अत्र च जातेषु न्यूनत्वं विगतेषु चान्यूनत्वं, जातेषु न्यूनत्वं विगतेषु चाधिकत्वं, जातेष्वधिकत्वं विगतेषु च न्यूनत्वं जातेष्वधिकत्वं विगतेषु चाधिकत्वमिति चतुर्भङ्गी भावनीया। **न च** जातेषु न न्यूनाधिकत्वं विगतेषु न्यूनत्वम्, जातेषु न न्यूनाधिकत्वं विगतेषु अधिकत्वं, विगतेषु न न्यूनाधिकत्वं जातेषु न्यूनत्वं, विगतेषु न न्यूनाधिकत्वं जातेष्वधिकत्वमिति शेषभङ्ग-चतुष्कस्यापि सम्भवादष्टभङ्गी स्यादिति **वाच्यम्,** एवं सत्युभयमिश्रत्वं न स्यात्किन्त्वेकतरमिश्रत्वम् प्रथमद्वितीययोरेव तदन्तर्भावेन प्रकृतेऽनधिकारादिति दिग्।

अत्रापि जातविगतेषु दशसङ्ख्यायाः पञ्चसङ्ख्याद्वयात्मिकाया अंशयोरेव बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वेन

है। यहाँ वास्तव में दश वृद्ध नहीं मरे हुए हैं, किन्तु दश संख्या से न्यून या अधिक वृद्ध मरे हुए हैं। अतः अन्य न मरे हुए वृद्ध को मीला कर या मरे हुए वृद्धपुरुषों में से अधिक पुरुषों को निकाल कर दशसंख्या ठीक होती है। अतः यह भाषा विगतमिश्रित कही जाती है। यहाँ वृद्धों में जितने मरे हुए हैं, उस अंश में प्रमाजनक होने से और अविनष्ट वृद्ध पुरुषों के अंश में भ्रमजनक होने से इस भाषा को सत्यामृषा कहना युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है।।५९।।

मिश्र भाषा के विगत मिश्रित भाषारूप द्वितीयभेद का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार ६० वीं गाथा से उत्पन्नविगतमिश्रित भाषा का निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- जिस भाषा से वास्तव में उत्पन्न और विगत भाव एक साथ अधिक या न्यून कहे जाते हैं उस भाषा को उत्पन्नविगतमिश्रित कहते हैं।६०।

✱ उत्पन्नविगतमिश्रित भाषा - ३/३ ✱

विवरणार्थ :- गाथा में 'श्रुतधराः' पद अध्याहृत है। अतः यह अर्थ प्राप्त होता है कि - जिस भाषा से वास्तव में उत्पन्न पदार्थ और विनष्ट पदार्थ एक ही साथ न्यून-अधिक कहे जाते हैं इस भाषा को श्रुतधर पुरुषों उत्पन्न विगतमिश्रित भाषा कहते हैं। जैसे कि 'इस गाँव में आज दश ही पैदा हुए और दश ही मर गये' ऐसे वाक्य का अवधारण बाधित होता है तब वह उत्पन्नविगतमिश्रित कहा जाता है। आशय यह है कि जब गाँव में दश से न्यून या अधिक बालकों का जन्म हुआ हो और दश से न्यून या अधिक वृद्धों का मरण हुआ हो तब किया जानेवाला, 'आज यहाँ दश पैदा हुए और दश मरे' यह वचन प्रयोग, उत्पन्नविगतमिश्रित कहा जाता है, क्योंकि गाँव में दस ही पेदा हुए है और मरे हुए हैं-ऐसा नहीं है किन्तु अधिक या न्यून पेदा हुए हैं और मरे हुए हैं। यहाँ उत्पन्न पदार्थ संख्यापूर्ति के लिए अनुत्पन्न पदार्थ से और विगत पदार्थ अविगत पदार्थ से मिश्रित होकर एक साथ ही बताये जाते हैं। अतः इस भाषा को श्रुतधर पुरुषों उत्पन्न विगतमिश्रित भाषा कहते हैं।।६०।।

उत्पन्नविगतमिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब मिश्रभाषा के चतुर्थ भेद जीवमिश्रित भाषा का, जिसका निरूपण क्रमप्राप्त होने से अवसरोचित है, ६१ वीं गाथा से प्रकरणकार विवेचन कर रहे हैं।

गाथार्थ :- जीव और अजीव दोनों के समूह में अजीव को छोड कर 'यह अनेक जीवों का समूह है' इत्यादि जो कहा जाता हैं, वह जीवमिश्रितभाषा है।६१।

---

१. उत्पन्नविगतमिश्रितामेतां प्रभणन्ति यत्र खलु युगपत्। उत्पन्ना विगता अपि चोनाभ्यधिका भण्यन्ते।।६०।।

[1]स जीवमिस्सिया खलु ज भन्नइ उभयसिविसय वि। वज्जितुविसयमन्नं एसो बहुजीवरसि त्ति।।६१।।

सा खलु जीवमिश्रिता या (ग्रन्थाग्रम्-श्लो.७००) उभयराशिविषयाऽपि = जीवाजीवसमूहविषयाऽपि, **अन्यं** = अजीवाख्यं, **विषयं वर्जयित्वा एष बहुः** जीवराशिरिति भण्यते। अत्र हि जीवांशे सत्यत्वमजीवांशे चासत्यत्वम्। **न च** बहुषु जीवत्सु शङ्खादिष्वल्पेषु च मृतेषु 'महानयं जीवराशिः' इत्यभिधाने जीवप्राधान्यविवक्षणात्र दोषः, बाहुल्येन प्रयोगोपलम्भादिति **वाच्यम्** एवं हि प्रयोगसमर्थ-सत्यासत्यत्वमित्यादि पूर्वोक्तदिशाऽनुसन्धेयम्।। ६० ।।

जीवांशे सत्यत्वमजीवांशे चासत्यत्वमिति। जीवांशे संवादेन प्रमाजनकत्वात्सत्यत्वस्याजीवांशे च विसंवादेन भ्रमजनकत्वादसत्यत्वस्य सत्त्वात्सत्यासत्यत्वमिति भावः। **न दोष**'इति। पुरोवर्तिनि विधेयस्य जीवप्राधान्यस्याऽबाधान्नांशिकभ्रमजनकत्वेनांशिकमृषात्वमपि तु सत्यत्वमेवेति शंकाकाराशयः।

पराभिप्रायं नयमतभेदेनाङ्गीकृत्य नयान्तराभिप्रायेण मिश्रत्वं समर्थयति **एवं हि प्रयोगसमर्थनेऽपीति**। भूयस्तथाविधप्रयोगोपलम्भोन्नीतं विधेयतया जीवप्राधान्यमादाय तथाविधप्रयोगसत्यत्वसमर्थनेऽपीत्यर्थः। अपिशब्दो विशेषद्योतनार्थः। तदेव प्रदर्शयति **उभयीयसमूहे एकीयत्वासमर्थनादिति**। परस्परनिरपेक्षाणामनेकेषामेकस्मिन्नन्वयरूपेऽपेक्षाबुद्धिविशेषविषयरूपे वा जीवाजीवघटितसमूहे जीवघटितत्वस्याऽजीवघटितत्वस्य वाऽसमर्थनादिति।

ननूभयघटितसमूहस्यैकघटितत्वं स्वीकर्तव्यमेव, अन्यथा उभयघटितत्वमेव न स्यात् प्रत्येकाघटितस्योभय-

*** जीवमिश्रित भाषा ४/३ ***

विवरणार्थ :- जीव और अजीव के समूह में अजीव को छोड कर 'यह अनेक जीवों का समूह है' इत्यादि जो कहा जाता है वह जीवमिश्रित भाषारूप हैं। इस भाषा को मिश्र कहने का तात्पर्य यह है कि - समूह में जितने जीव हैं उस अंश में यह भाषा संवादी होने से सत्य है तथा अजीव अंश में विसंवाद होने से असत्य है। मतलब कि अपने विषयभूत समूह के एक देश में प्रमाजनकत्व और अन्य अंश में भ्रमजनकत्व होने से यह भाषा सत्यामृषा कही जाती है। अजीव से मिश्रित ऐसे जीव इस भाषा के विषय होने से इस भाषा को जीवमिश्रित कहते हैं।

शंका :- ***न चेति*** । शंखसमुदाय को, जिसमें अनेक शंख जीवंत है और अल्प शंख मृत है, उद्देश बना कर कहना कि 'यह जीवों का बडा समूह है' यह भाषा तो निर्दोष ही है, क्योंकि यहाँ वक्ता का तात्पर्य जीवप्राधान्यप्रतिपादन का है। लोकव्यवहार में प्रायः ऐसे अनेक प्रयोग देखे जाते हैं। जिसके कारण उपर्युक्त प्रयोग का तात्पर्य समूह में जीवप्राधान्य का है - यह ज्ञात होता है। जीवों की मुख्यता=प्रधानता तो अनेक जीवंत शंखों के समूह में अबाधित ही है। अतः यह भाषा आंशिक भी मृषा नहीं हैं, सर्वथा सत्य ही है। तब इस भाषा का सत्यामृषा भाषा में प्रवेश करना कैसे उचित होगा?

समाधान :- ***एवं हि.*** इति। आपकी यह शंका दो कौड़ी की है। इसका कारण यह है कि - आप इस तरह जीवप्राधान्य की विवक्षा से प्रस्तुत वाक्य का समर्थन कीजिए फिर भी जीव और अजीव के समूह में 'यह जीवसमूह है' इसका यानी समूह में जीवसंबंधित्व का समर्थन नहीं हो सकता है। अतः यह भाषा सर्वांश में सत्य सिद्ध नहीं हो सकती है।

*** उभय प्रत्येकसंबंधी है, प्रतिनियत एकव्यक्तिसंबंधी नहीं ***

उभयीयस्य. इति। यहाँ शंका करना कि - "जो उभय का समूह है वह एक का संबंधी तो जरूर होगा ही, अन्यथा वह उभय का समूह ही नहीं हो सकेगा। आशय यह है कि जीव और अजीव का समूह जीव का समूह तो होगा ही। अतः जीवसंबंधित्व तो उभय के समूह में भी अबाधित ही है। समूह में जीव-अजीवसम्बन्धित्व होने से ही जीवसंबंधित्व की सिद्धि हो जाने से-समूह में जीवसंबंधित्व की सिद्धि नहीं होगी - यह कहना कैसे उचित होगा?" - भी उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि उभय से घटित समूह एक से घटित तो है ही मगर वह प्रतिनियत एकसम्बन्धी नहीं होता है। अर्थात् जीव और अजीव के समूह में सिर्फ जीवसंबन्धित्व नहीं हो सकता है, क्योंकि वैसे तो समूह में सिर्फ अजीवसम्बन्धित्व की सिद्धि करने में भी कोई बाधा नहीं होगी। समूह उभयघटित होने से अजीवघटित भी है ही। अतः यहाँ प्रतिनियत एकसम्बन्धित्व की सिद्धि दुर्घट है। प्रतिनियत एकसंबंधित्व

१. सा जीवमिश्रिता खलु या भण्यते उभयराशिविषयाऽपि। वर्जयित्वा विषयमन्यमेषो बहुजीवराशिरिति।।६१।।

नेऽप्युभयीयसमूहे एकीयत्वाऽसमर्थनात्, उभयीयस्यैकीयत्वनियमेऽपि प्रतिनियतैकत्वानियमात्। **न च** प्रतिनियतत्वस्याऽबोध एव, बोधे वा मृषात्वमेव स्यादिति वाच्यम् बोधसामग्रीमहिम्नैव तद्बोधात्, समूहस्य सामान्यत एकीकृतस्याऽपि विशेषार्पणया विभेदाच्च

घटितत्वाभावव्याप्यत्वात्। न हि पटाघटितसमूहस्य घटपटघटितत्वं भवितुमर्हतीत्याशङ्कायामाह**उभयीयस्यैकीयत्व-नियमेऽपि प्रतिनियतैकत्वानियमादिति**। उभयघटितत्वस्यैकघटितत्वव्याप्यत्वेऽपि प्रातिस्विकैकमात्रघटितत्वव्याप्त्य-भावाद्, विनिगमनाविरहादिति शेषः। अयं भावः, जीवाजीवघटितसमूहस्य जीवमात्रघटितत्वव्याप्यत्वं नास्ति, विपक्ष-बाधकतर्काभावात्, अन्यथाऽजीवमात्रघटितत्वव्याप्यत्वस्याऽपि सुवचत्वात्। ततश्च न सर्वथा सत्यत्वमिति सिद्धम्।

ननु जीवमात्रघटितत्वस्याऽजीवमात्रघटितत्वस्य वा बोध एवात्र न स्वीक्रियतेऽपि तु जीवघटितत्वबोध एव तस्य चाबाधेन सर्वथा सत्यत्वमेव। यदि च जीवमात्रघटितत्वादेर्बोधः स्यात्तदा मृषात्वमेव स्यात् न तु सत्यामृषात्वं, विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नस्योद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन बाधादित्याशयेन शङ्कते-न चेति।

समाधत्ते **बोधसामग्रीमहिम्नैव तद्बोधादिति**। शाब्दबोधसामग्रीसाचिव्येनैव प्रतिनियतैकत्वबोधादिति। अयं भावो नेदं राजकीयं वचनं यदुत प्रकृते जीवघटितत्वबोध एव जायतां न तु जीवमात्रघटितत्वबोध इति किन्तु यदा यत्र यादृशी सामग्री तदा तत्र तादृक्कार्यं जायते, प्रकृते चाऽऽकाङ्क्षादिरूपशाब्दबोधसामग्रीबलेनैव 'एष बहुजीवराशि-रि'ति वाक्यात् पुरोवर्तिनि बहुत्वसङ्ख्याविशिष्टजीवमात्रघटितसमूहाभेदस्य तादात्म्येन वा तादृशसमूहस्य स्वारसिको बोधो जायत एव। न हि स्वसामग्रीसञ्जातं कार्यं भूतपतिनाऽपि पराकर्तुं शक्यम्। ननु पूर्वमेवोक्तं 'यदि च जीवमात्र-घटितत्वादेर्बोधस्स्यात्तदा मृषात्वमेव स्यादित्यादि किं विस्मर्यते? इत्याशङ्कायामाह - **समूहस्य सामान्यत एकीकृत-स्यापि विशेषार्पणया विभेदाच्चेति**। अयं भावो **यद्यपि** सङ्ग्रहनयाभिप्रायेण विशेषविनिर्मोकेण विवक्षितसमानपरिणामो-परागेण च समूह एक एव, समानपरिणामस्यैकत्वात्, विवक्षितसामान्यधर्मावच्छेदेन च जीवमात्रघटितत्वस्य विसंवादेन भ्रमजनकत्वादसत्यत्वं **तथापि** स्थूलव्यवहारनयाभिप्रायेण सामान्यधर्मविनिर्मोकेण विशेषधर्मोपरागेण च स एव समूहो विवक्षितविशेषधर्मानुसारेणाऽनेकधा विभज्यते, विशेषधर्माणामनेकत्वात्। पुरोवर्तित्वादिसामान्यधर्मावच्छेदेन बाधित-संसर्गकविधेयतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबोधजननेऽपि। विवक्षितविशेषधर्मसामानाधिकरण्येनाऽबाधितसंसर्ग-

का अवधारण न होने से यह भाषा सर्वांश में सत्य नहीं है, किन्तु सत्यामृषा है - यही मानना तर्कसंगत है, जो कि आगममान्य भी है।

शंका :- ***न च.*** इति। हम प्रस्तुत स्थल में प्रतिनियत एकसंबन्धित्व का बोध मानते ही नहीं हैं। अर्थात् समूह में सिर्फ जीवसम्बन्धित्व का बोध हमें मान्य नहीं है किन्तु जीवाजीवसंबंधित्व का बोध हमें मान्य है। यह तो उभय के समूह में अबाधित ही है। अतः यह भाषा सत्य ही है न कि मृषा। यदि उभय के समूह में प्रतिनियत एकराशिसंबद्धत्व का इस वाक्य से बोध होगा तब तो यह भाषा मृषा ही बन जायेगी, क्योंकि जीव और अजीव दोनों से घटित समूह में सिर्फ जीवसंबद्धत्व या सिर्फ अजीवसम्बद्धत्व तो बाधित ही है। समूह सिर्फ प्रतिनियत एक राशि से घटित नहीं है, किन्तु उभय से ही घटित है। अतः प्रतिनियत एक राशिसम्बद्धत्व का बोध मानने पर यह भाषा मृषा ही बन जायेगी और सामान्यत एक राशिसम्बद्धत्व का बोध मानने पर वह भाषा सत्य ही बन जायेगी। मगर सत्यामृषा नहीं। किसी ने ठीक ही कहा है कि आगे कुआँ पीछे खाई।

✱ समूह एकात्मक भी है, अनेकात्मक भी है ✱

समाधान :- ***बोधसामग्री.*** इति। वाह! आप अपनी सामग्री से होनेवाले शाब्दबोध का भी इन्कार करने के लिए तैयार हो रहे हैं, क्योंकि आप कहते हैं कि - 'प्रतिनियत एकराशिसंबद्धत्व का बोध हमें मान्य ही नहीं है'। मगर यहाँ यह नादिरशाही नहीं चल सकती है। आपको प्रतिनियत एक राशि से सम्बद्धत्व का बोध मान्य हो या न हो - इसके बल पर उस वाक्य से शाब्दबोध नहीं होता है किन्तु शाब्दबोध तो अपनी सामग्री के बल पर ही होता है। जहाँ जिस प्रकार के शाब्द बोध की सामग्री रहेगी, वहाँ उस प्रकार का शाब्दबोध होगा - यह सर्वमान्य नियम है। प्रस्तुत में 'महानयं जीवराशिः' वाक्य में जिस प्रकार की आकांक्षा, समभिव्याहार आदि शाब्दबोध की सामग्री है उसके बल से श्रोता को इस वाक्य से समूह में सिर्फ जीवसंबद्धत्व का ही बोध होता

न[1] मृषात्वमिति पर्यालोचनीयं सूक्ष्मेक्षिकया नयनिपुणैः। एवमन्यत्राऽप्यवसेयम् ४।।६१।।

उक्ता जीवमिश्रिता।४। अथाऽजीवमिश्रितामाह

[2]साऽजीवमीसिया वि य, जा भन्नइ उभयरासिविसया वि।
वज्जित्तु विसयमन्नं, एस बहुअजीवरासि त्ति।।६२।।

स्पष्टा। नवरं बहुषु मृतेषु स्तोकेषु च जीवत्सु शंखादिषु 'महानयमजीवराशिः' इत्येवोदाहरणम् ५।।६२।। उक्ताऽजीवमिश्रिता। अथ जीवाजीवमिश्रितामाह-

---

कविधेतावच्छेदकावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दधीजननेनांऽऽशिकसत्यात्वस्याऽनपायात्सत्यामृषात्वमेव युक्तमित्याशयः। **न मृषात्वमिति** न सर्वथा मृषात्वमिति। मुद्रितप्रतौ तु - 'तन्मृषात्वमि'त्यशुद्धः पाठः। **अन्यत्रापीति**। अजीवमिश्रितादावपीति।।६१।।

उभयराशिविषयाऽपि = जीवाजीवसमूहविषयाऽपि। **अन्यं** = जीवाख्यं। शेषं स्फुटम्। **बहुषु मृतेष्विति**। इदं चोपलक्षणम्। तेनाऽल्पेष्वपि तत्कथने न क्षतिः। बहुत्वोपादानं च पूर्वोत्तरप्रतिपादितमिश्रत्वद्वयस्पष्टतार्थम्। यद्वा बाहुल्येन तथाप्रयोगानुसरणार्थं तद्दृष्टव्यम्। न ह्येकस्मिन् मृते शेषेषु बहुषु जीवत्सु 'महानयमजीवराशिः' इत्यस्यांऽऽशिकसत्यत्वं स्थूलव्यवहारनयोऽपि मन्यत इति ध्येयम्। **'महानयमजीवराशिरिति**। अत्र च देशयोर्बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वेन सत्यासत्यत्वं पूर्वोक्तदिशा भावनीयम्। **इत्येवेति**। अत्र एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थं न त्वन्ययोगव्यवच्छेदार्थमिति भावनीयम्।।६२।।

है न कि सामान्यतः जीवसंबद्धत्व का। मगर प्रतिनियत एकराशिसंबद्धत्व का बोध होने पर भी वह भाषा मृषा नहीं है इसका कारण यह है कि - जैसे सामान्यदृष्टि से अनेक वस्तुओं के समूह में एकत्व का बोध होता है वैसे ही विशेष दृष्टि से समूह में अनेकत्व का भी बोध होता है। अर्थात्, विशेषधर्म पर दृष्टि केन्द्रित करने पर समूह एक - अखंडितरूप से भासित नहीं होता है मगर अनेकशः=खंडशः ज्ञात होता है जिसके एक अंश में सिर्फ जीवसंबद्धत्व अबाधित है और अन्य अंश में सिर्फ अजीवसंबद्धत्व होने से जीवसंबद्धत्व बाधित है। इस तरह विशेष दृष्टि से समूह के एक अंश में भ्रमजनकत्व और शेष अंश में प्रमाजनकत्व होने से यह भाषा सर्वथा मृषा नहीं है मगर सत्यामृषा ही है - यह सिद्ध होता है। यहाँ भाषा में सर्वथा सत्यत्व को दूर करने के लिए प्रतिनियत एकराशिसंबद्धत्व का समूह में भान माना गया है और सर्वथा मृषात्व को हटाने के लिए सिर्फ जीवसंबद्धत्व का अखंड और एक समूह में नहीं मगर समूह के खंड = अंश में भान माना गया है। इस तरह दो हेतुओं से विवरणकार ने सत्यामृषात्व की सिद्धि की है। इस तरह इस संबंध में नयनिपुण पुरुषों को समूह दृष्टि से विचार करने की विवरणकार सूचना देते हैं। अतिदेश करते हुए विवरणकार गाथा के विवरण के अंत में कहते है कि अजीवमिश्रित आदि भाषा में भी उपदर्शित रीति के अनुसार सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना चाहिए।।६१।।

संक्षेप से जीवमिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त अजीवमिश्रित भाषा, जो कि मिश्रभाषा का पाँचवाँ भेद है, ६२ वीं गाथा से बताई जाती है।

गाथार्थ :- जीव और अजीवरूप उभयराशिविषयक भाषा जब अन्य विषय को छोड कर कही जाती है तब वह अजीवमिश्रित भाषा कही जाती है। जैसे कि - 'यह महान् अजीवसमुदाय है' ।६२।

*** अजीवमिश्रित मिश्रभाषा - ५/३ ***

विवरणार्थ :- गाथार्थ स्पष्ट ही है। मूल गाथा में अन्य विषय को छोड कर ऐसा जो कहा है उसका अर्थ है - जीवविषय को छोड कर। शेष अर्थ हमने गाथार्थ में ही स्पष्ट रूप से बता दिया है। इसमें उदाहरण बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि - शंख समुदाय को, जिसमें अनेक शंख मृत है और अल्प शंख जीवित है, उद्देश कर के 'यह बडा अजीवसमुदाय है' ऐसा जब विधान किया जाता है वह भाषा अजीवमिश्रित भाषा के उदाहरण में हम ले सकते हैं। यहाँ शंखसमुदाय के मृत शंख में संवाद होने से

---

१. तन्मृषात्वमिति - मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः। १. साऽजीवमिश्रिताऽपि च या भण्यते उभयराशिविषयाऽपि। वर्जयित्वा विषयमन्यमेषो बह्वजीवराशिरिति।।६२।।

[1]सा उभयमिस्सिया वि य, जीवाजीवाण जत्थ रासिम्मि।
किज्जइ फुडो पओगो, ऊणब्भहिआइ संखाए।।६३।।

उभयं अत्र जीवाजीवौ, तन्मिश्रिता=**उभयमिश्रिताऽपि सा** भवति, **यत्र**=यस्यां, **जीवाजीवयोः राशौ, ऊनाभ्यधिकायाः संख्यायाः स्फुटः** = प्रकटः **प्रयोगः** क्रियते। यथा मृतेषु जीवत्सु च शंखादिषु 'एतावन्तोऽत्र मृता एतावन्तश्च जीवन्त्येवेति यथोक्तप्रमाणविसंवादे ६।।६३।। उक्ता जीवाजीवमिश्रिता। अथाऽनन्तमिश्रितामाह

[2]साऽणंतमीसिया वि य, परित्तपत्ताइजुत्तकंदम्मि। एसो अणंतकाओत्ति' जत्थ सव्वत्थ वि पओगो।।६४।।

अनन्तमिश्रिताऽपि च सा भवति, यत्र=यस्यां, **परित्तानि** यानि पत्रादीनि तद्युक्ते **कन्दे**=मूलकादौ, **सर्वत्राऽपि**=सर्वावच्छेदेनाऽपि, **'एषोऽनन्तकाय'** इति प्रयोगः।

यथोक्तप्रमाणविसंवाद इति। अत्राऽप्युत्पन्नविगतमिश्रिताया इव चतुर्भंगी भावनीया। अत्र मृतेषु जीवत्सु चांशभेदनैव बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वेन सत्यासत्यत्वमित्यादि पूर्ववद्भावनीयम्।।६३।।

उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नस्याऽन्वयो भवतीत्याशयेन शङ्कते - **नन्वत्र मृषात्वमेवे**ति। पत्रादियुक्तकन्दे 'एषोऽनन्तकाय' इति वचने मृषात्वमेव, सर्वावच्छेदेनाऽनन्तकायस्याऽभेदसंसर्गेण बाधितत्वादिति शेषः। विपक्षे बाधमाह - **अन्यथे**ति। उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेनैव विधेयतावच्छेदकावच्छिन्नान्वयस्याऽस्वीकारे। **'इमौ**

और जीवंत शंख में विसंवाद होने से यह भाषा भ्रम-प्रमाउभयजनक है। अतएव सत्यामृषाभाषा रूप से कही जाती है। यहाँ अजीवसमूह जीव से मिश्रित होने से इस भाषा को अजीवमिश्रित कहते हैं।।६२।।

अजीवमिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब ६३ वीं गाथा से सत्यामृषा भाषा के छठ्ठे भेदरूप जीवाजीवमिश्रित भाषा को प्रकरणकार बताते हैं।

गाथार्थ :- जीव और अजीव के समुदाय में न्यून या अधिक संख्या का जब स्पष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है तब वह भाषा जीवाजीवमिश्रितभाषा कही जाती है।६३।

*** जीवाजीवमिश्रित सत्यामृषा भाषा - ६/३ ***

विवरणार्थ :- जिस भाषा में जीव और अजीव के समूह में न्यून या अधिक संख्या का स्पष्टरूप से प्रयोग किया जाता है वह भाषा जीवाजीवमिश्रित होती है, जब प्रदर्शित प्रतिनियत संख्या का विसंवाद हो तब। यह बात उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। देखिये जीवाजीवमिश्रित भाषा के उदाहरण को। जहाँ अनेक शंख जीवंत और मृत है वहाँ जीवंत और मृत शंखों के समुदाय में 'इस समुदाय में इतने शँख जीवंत है और इतने शंख मृत है "ऐसा निश्चित संख्यावाला विधेयात्मक कथन करना यह जीवाजीवमिश्रित भाषा है जब यथोक्त संख्या का विसंवाद हो। मानो कि अमुक शंखसमूह में ४० शंख जीवंत है और ६० शंख मरे हुए हैं। तब कोई कहता है कि - 'यहाँ ५० शंख जीवंत और ५० शंख मरे हुए है' तो यह भाषा जीवाजीवमिश्रित कही जाती है, क्योंकि जीवंत शंख में ५० संख्या की अंशभूत ४० संख्या का संवाद है और १० संख्या का विसंवाद है वैसे ही ६० मृत शंख के एक देशभूत ५० शंख में ५० संख्या का संवाद है न कि ६० मृत शंखों में। इस तरह जिस अंश में संवाद है उस अंश में प्रमाजनकत्व होने से सत्यत्व है और जिस अंश में विसंवाद है उस अंश में भ्रमजनकत्व होने से असत्यत्व है। अतः इस भाषा का सत्यामृषा के विभाग में समावेश किया गया है। जीव और अजीव दोनों अंश में आंशिक सत्यत्व और आंशिक असत्यत्व होने से इस भाषा को जीवाजीवमिश्रित कहते हैं। अधिक विवेचन पूर्व की तरह यहाँ भी स्वयं ज्ञातव्य है।।६३।।

जीवाजीवमिश्रित भाषा का कथन पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार ६४ वीं गाथा से सत्यामृषाभाषा के ७ वें भेदरूप अनंतमिश्रित भाषा का निरूपण करते हैं।

---

१. सोभयमिश्रितापि च जीवाजीवयोर्यत्र राशौ। क्रियते स्फुटः प्रयोगः, ऊनाभ्यधिकायाः संख्यायाः।।६३।।

१. साऽनन्तमिश्रिताऽपि च परित्तपत्रादियुक्तकन्दे। एषोऽनन्तकाय इति यत्र सर्वत्राऽपि प्रयोगः।।६४।।

नन्वत्र मृषात्वमेव, अन्यथा घटपटयोर्द्वयोः "इमौ घटौ" इति वचो मृषा न स्यादिति **चेत्? न,** द्वित्वावच्छिन्नत्वस्य **घटा**'विति। एतद्वाक्यं मृषैव, तज्जन्यस्याऽभेदसंसर्गकेदम्पदोत्तरौप्रत्ययोपस्थापितद्वित्वावच्छिन्नेदम्प्रकारक-घटविशेष्य-कशाब्दबोधस्य भ्रमत्वात्, पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्ववति घटत्वस्याऽसत्त्वात्। परं तादृशव्युत्पत्त्यस्वीकारे तदसत्यं न स्यात्, द्वित्वेनोपस्थितयोः प्रत्येकं तादात्म्येन घटान्वयस्यांऽशेनाऽबाधितत्वादिति नन्वाशयः।

अहो! प्रियमिष्टमेवौषधतयोपदिष्टमित्याशयेन समाधत्ते-नेति। **द्वित्वावच्छिन्नत्वस्येति**। व्यापकत्वं, सामानाधि-करण्यं, विशिष्टत्वं, सीमाकरणमनुकूलत्वमित्यादयोऽर्था अवच्छिन्नत्वस्य। प्रकृते च व्यापकत्वरूपमवच्छिन्नत्वं ग्राह्यमित्याह **द्वित्वव्यापकत्वरूपस्येति**। ततश्च द्वित्वव्यापकेदन्त्वावच्छिन्ने तादात्म्येन घटान्वयस्याभिमतत्वं प्रदर्शि-तम्। ननु तथापि कथमांशिकसत्यत्वमित्याह **एकत्वव्यापकत्वद्वयरूपत्वेनेति**। द्वित्वव्यापकत्वं चैकत्वव्यापकत्व-द्वयरूपमित्यर्थः, द्वयोरेकैकस्मिन्नपि द्वित्वावच्छिन्नाधिकरणतासत्त्वादिति हेतोः। ततश्चैकत्वव्यापकेदन्ताद्वयावच्छिन्ने

गाथार्थ :- प्रत्येककाय-पत्र आदि से युक्त कंद में सर्वत्र 'यह अनंतकाय है' ऐसा प्रयोग अनंतमिश्रित भाषा है।६४।

* अनंतमिश्रित सत्यमृषा भाषा - ७/३ *

विवरणार्थ :- पत्र आदि प्रत्येककाय से युक्त कंद-मूल आदि अनंतकाय के समूह में सर्व अवच्छेदेन यानी समूह के प्रत्येक अवयव की अपेक्षा से 'यह अनन्तकाय है' ऐसा वचन अनन्तमिश्रित भाषा है। वचन के विषयभूत अनन्तकाय प्रत्येककाय से मिश्र है। अतः इस भाषा को अनन्तमिश्रित भाषा कहते हैं। अनन्तकायिक अंश में संवादी और प्रत्येककाय के अंश में विसंवादी होने से इस भाषा को सत्यामृषा भाषा कहते हैं।

शंका :- ***नन्वत्र.*** इति। अनन्तमिश्रित भाषा को सत्यामृषा कहना ठीक नहीं है, किन्तु मृषा भाषा ही कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि - इस भाषा से सर्वावयवावच्छेदेन अनन्तकायिक का विधान होता है, जो कि बाधित ही है, क्योंकि समुदाय में प्रत्येककाय पत्र आदि होने से तादात्म्य संबंध से अनन्तकाय का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि आप इस भाषा को संपूर्ण मृषा भाषा न मानेंगे तब तो जब भूतल में घट और पट होगा तब उनको उद्देश कर के 'इमौ घटौ' यानी 'ये दो घट हैं' यह वाक्य भी असत्य न हो सकेगा। आशय यह है कि घट और पट के समूह में 'ये दो घट हैं' यह वाक्य लोक में असत्यरूप से प्रसिद्ध है, क्योंकि पर्याप्तिसंबंध से द्वित्व के अधिकरण पुरोवर्ती पदार्थ में तादात्म्य संबंध से घट का अन्वय बाधित है। पर्याप्ति संबंध से द्वित्व संख्या का अधिकरण सिर्फ घट नहीं है, किन्तु घट-पट उभय है। मगर समूह में अन्वय न कर के समूह के देश में घट का संबंध लगाना अभिमत हो तब तो 'घट-पट उभय में 'इमौ घटौ' यह वचन भी असत्य सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः मानना होगा कि उद्देश्य के देश में नहीं, मगर संपूर्ण उद्देश्य में ही विधेय का अन्वय होता है। तब तो प्रत्येककाय से मिश्रित अनन्तकाय में यह वचन कि - 'यह संपूर्ण अनन्तकाय है' असत्य ही होगा, क्योंकि संपूर्ण समूह में, जो कि प्रत्येककाय से मिश्रत अनंतकाय से घटित है, भ्रमात्मक शाब्दबोध का जनक है।

* अनंतमिश्रित भाषा में आंशिक सत्यत्व भी है *

समाधान :- ***न, द्वित्व.*** इति। ठीक ही सुना है कि थोथा चना बाजे घना। आप की बात में कुछ दम नहीं है। समाधान सुनने से पहले यहाँ एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि - *'इमौ घटौ' वाक्य में द्वित्वावच्छिन्न इदं पदार्थ उद्देश्य है और घट विधेय* है। निपातातिरिक्त नामार्थ का अभेद संबंध से अन्वय होता है। अतः द्वित्वावच्छिन्न इदं पदार्थ में तादात्म्य संबंध से घट का अन्वय = संबंध होता है। यद्यपि यहाँ अवच्छिन्नत्व का अर्थ विशिष्टत्व किया जाय तब द्वित्वसंख्याविशिष्ट इदं पदार्थ में अभेद संबंध से घट का अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि पर्याप्तिसंबंध से द्वित्वसंख्याविशिष्ट इदं पदार्थ घट-पट उभय है जिसमें घट का तादात्म्यसंबंध से अन्वय बाधित है। तथापि यह भाषा सर्वथा मृषा नहीं है। इसका कारण यह है कि यहाँ अवच्छिन्नत्व का अर्थ विशिष्टत्व अभिमत नहीं है किन्तु व्यापकत्व अभिमत है। अर्थात् द्वित्वव्यापक इदं पदार्थ में घट का अभेदसंसर्ग से अन्त यहाँ अभिप्रेत है। इदं पदार्थ में द्वित्वव्यापकता है वह एकत्व की दो व्यापकतास्वरूप है अर्थात् घटनिष्ठ एकत्व की व्यापकता और पटनिष्ठ एकत्व की व्यापकता। ये दो व्यापकता इदंपदार्थ घट-पटोभय में रहती है। इसी तरह इदंपदार्थ में एकत्वव्यापक इदन्ताद्वय की सिद्धि होती है। एक घटनिष्ठ एकत्वव्यापक इदंता और दूसरी पटनिष्ठ एकत्वव्यापक इदन्ता। अब यहाँ

[१]द्वित्वव्यापकत्वरूपस्यैकत्वव्यापकत्वद्वयरूपत्वेनोक्तवचसोऽप्यांशिकसत्यत्वात्, समुदायावच्छिन्नत्वस्याऽपि प्रकृतेऽवयवावच्छिन्नत्वानतिरेकादिति दिग् ७।।६४।।

उक्ताऽनन्तमिश्रिता। अथ परित्तमिश्रितामाह

तादात्म्येन घटान्वयोऽभिप्रेत इति फलितम्। अवच्छिन्नत्वं च प्रकृते सामानाधिकरण्यरूपं ग्राह्यम्। ततश्चैकत्व-व्यापकेदन्ताद्वयसामानाधिकरण्येन घटान्वयोऽभिमत इति निर्गलितार्थः। यद्वाऽवच्छिन्नत्वमत्र विशिष्टत्वरूपं बोध्यम्। ततश्चैकत्वव्यापकेदन्ताद्वयविशिष्टे घटान्वय इति फलितम्। तादृशप्रथमेदन्तावति पटे तादात्म्येन घटान्वयस्य बाधितत्वेऽपि तादृशद्वितीयेदन्तावति घटेऽबाधितत्वेनाऽऽशिकसत्यत्वाऽनपायात्सत्यामृषात्वमेव तत्रेति तात्पर्यम्। नन्वेवमवयवावच्छिन्नविषयताया आंशिकसत्यत्वोपपादनेऽपि समुदायावच्छिन्नविषयतायाः सर्वथा बाधितत्वं नापह्नोतुं शक्यमित्याशङ्कायामाह - **समुदायेति**। अयं भावः, यथा वनस्य वृक्षसमूहरूपस्य नाशोकादिसमूहिव्यतिरिक्तत्वं संतानस्य वा न सन्तानिव्यतिरिक्तत्वं तथा समुदायावच्छिन्नत्वस्याऽपि नावयवावच्छिन्नत्वातिरिक्तत्वम्। तथा च समुदायावच्छिन्नविषयताया अवयवावच्छिन्नविषयतारूपाया आंशिकसंवादेन न तत्र सर्वथा मृषात्वं, प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायवृत्तित्वायोगात्। तथा च स्वविषयीभूतपुरोवर्तिसमुदायावयवात्मक-प्रत्येककायिकावच्छेदेन विसंवादेऽपि समूहावयवरूपानन्तकायिकावच्छेदेन संवादोपलम्भान्न सर्वथा मृषात्वम्। समुदायावच्छिन्नविषयतायाः समुदायघट-कीभूतप्रत्येककायिकावच्छिन्नविषयतारूपाया बाधेन समुदायघटकीभूतानन्तकायिकावच्छिन्नविषयतारूपायाश्चाऽबा-धेनाऽनन्तमिश्रितभाषायाः सत्यामृषात्वमेव। **एतेन** सर्वावयवावच्छेदेनाऽभेदसंसर्गेणाऽनन्तकायिकस्य बाधान्मृषात्व-मेवेत्यपास्तमित्यादिप्रदर्शनार्थं **दिक्पदप्रयोगः** कृतः।।६४।।

एकत्वव्यापक इदन्ताद्वय के आश्रय में घट का अन्वय होगा। एकत्वव्यापक इदंताद्वय के आश्रय घट और पट हैं जिनमें से घट में तो तादात्म्यसंबंध से घट का अन्वय अबाधित ही है, भले पट में अभेदसंसर्ग से घट का अन्वय बाधित हो। अतः आंशिक भ्रमजनकत्व और आंशिक प्रमाजनकत्व होने से यह भाषा न सर्वथा सत्य है और न सर्वथा मृषा है, किन्तु सत्यामृषा है।

❋ समुदायावच्छिन्नत्व प्रत्येकावच्छिन्नत्व से अनतिरिक्त है ❋

समुदा. इति। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी ध्यातव्य है कि - जिस ज्ञान की विषयता समुदायावच्छिन्न होती है वह अवयवावच्छिन्न विषयता से अतिरिक्त नहीं होती है। इसका कारण यह है कि समुदाय समुदायी = अवयव से अतिरिक्त नहीं है। अतः द्वित्वत्वावच्छिन्न इदंत्व की विषयता एकत्वद्वयावच्छिन्न विषयता से = एकत्वव्यापक इदन्ताद्वय से अवच्छिन्न विषयता से अतिरिक्त नहीं है, जिसमें आंशिक संवाद और आंशिक विसंवाद है। अतः समुदायावच्छिन्नविषयता में भी आंशिक संवाद और विसंवाद प्राप्त होता है जिसकी वजह से वह वाक्य सत्यासत्य सिद्ध होता है, न कि केवल असत्य। ठीक इसी तरह प्रत्येककाय और अनन्तकाय के समूह से नियंत्रित विषयता भी प्रत्येककाय से नियन्त्रित और अनंतकाय से नियन्त्रित विषयता से अतिरिक्त नहीं है किन्तु तत्स्वरूप ही है। प्रत्येक काय से नियन्त्रित विषयता में विसंवाद होने पर भी अनंतकाय से नियन्त्रित विषयता में तो संवाद है ही। आशय यह है कि प्रत्येककायमिश्रित अनन्तकाय के समुदाय में 'यह अनंतकाय है' ऐसा वाक्य भ्रमात्मक शाब्दबोध उत्पन्न करता हुआ भी समुदाय के अंशभूत प्रत्येककाय में भ्रमात्मक और अनन्तकाय में प्रमात्मक शाब्दबोध को उत्पन्न करता है। अतः वह वाक्य सर्वथा मृषा नहीं है, किन्तु आंशिक सत्य और आंशिक असत्य है। अतः उसका मिश्रभाषा में प्रवेश करना विचारसंगत ही है। यह तो एक दिग्दर्शन है। इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है इसकी सूचना देने के लिए विवरणकारने यहाँ दिग् पद का प्रयोग किया है।।६४।।

द्रव्यविषयक भावभाषा के तृतीयभेदरूप मिश्रभाषा के सातवें भेद - अनन्तमिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब मिश्रभाषा के आठवें भेदरूप प्रत्येकमिश्रित भाषा का प्रकरणकार ६५ वीं गाथा से निरूपण कर रहे हैं।

---

१. '-अद्वित्व- इति मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः।

[1]परमपुरिसेहि भणिया, एसा य परित्तमीसिया भासा। जाऽणंतजुअपरित्ते भण्णई एसो परित्तो त्ति।।६५।।

एषा च भाषा परमपुरुषैः = तीर्थकरगणधरप्रभृतिभिः **परित्तमिश्रिता भणिता**। एषा का? इत्याह-**याऽनन्तेन** = अनन्तकायलेशेन युते म्लानमूलादौ **'एष परीत' इति भण्यते**। इयं हि परीतांशे सत्याऽनन्तांशे चासत्येति सत्यामृषा।

स्यादेतत् - परीतानन्तकायोभयसंवलिते एकत्र "एतावन्तोऽनन्ता एतावन्तश्च परीता" इति यथोक्तप्रमाणविसंवादे परीतानन्तमिश्रिताऽप्यतिरिच्यते **मैवम्** इयत्तायास्तत्र[2] अप्रयोगादेवाऽप्रयोगात्, उभयातिरेकनिमित्तस्य बुद्धिविशेषस्य [3]चाभावात्। प्रत्येकानन्तप्रयोगनिमित्तं तु वैलक्षण्यमस्त्येव।

तीर्थंकरगणधरप्रभृतिभिरिति। अर्थतः तीर्थंकरेण, सूत्रतो गणधरप्रभृतिभिरिति। प्रभृतिशब्देन स्थविरादिग्रहणम्। **परीतांशे सत्याऽनन्तांशे चासत्येति**। स्वविषयीभूतसमुदायघटकीभूते परीतांशे संवादेन प्रमाजनकत्वात्सत्या, अनन्तांशे च विसंवादेन भ्रमजनकत्वादसत्येति मिश्रान्तर्भाव इति भावः। युगपदुभयराशीयत्ताप्रतिपादने यथोक्तप्रमाणविसंवादे चोत्पन्नविगतमिश्रितादिवत्परीतानन्तमिश्रिताऽप्यतिरिक्तेत्याशयेन शङ्कते **स्यादेतदिति**। भावितार्थमेतत्।

समाधत्ते **मैवमिति। तत्राऽप्रयोगादेवाप्रयोगादिति**। परीतानन्तकायोभयसंवलिते राशावियत्तायाः प्रयोगाभावादेव मिश्रभाषाविभागे परित्तानन्तमिश्रिताया उभयातिरिक्तायाः प्रयोगाभावात्। न हि व्यवहारनयो व्यवहारानवतीर्णभाषाया विभागनिरूपणे प्रवर्त्तते। **न चे**यत्तायास्तत्र प्रयोगः कथं न भवतीति **वाच्यम्** अर्वाग्दर्शिभिस्तादृगियत्ताया ज्ञातुमशक्यत्वात् स्वज्ञानाविषयप्रतिपादने चोन्मत्तत्वप्रसङ्गात्। **न चा**तीन्द्रियदर्शिभिस्तादृगियत्ताया ज्ञातुं शक्यत्वेनातिरिक्तपरित्तानन्तमिश्रितायाः कदाचित्प्रयोगकरणे तत्प्रदर्शनं न्याय्यमिति **वाच्यम्**, तद्वचनस्य सत्यत्वादेव मिश्रभाषाया-

गाथार्थ :- अनंतकाय से मिश्रित प्रत्येककाय के समूह में 'यह प्रत्येककाय है' ऐसी भाषा प्रत्येकमिश्रित = परित्तमिश्रित है - ऐसा परम पुरुषों से कहा गया है।६५।

*** प्रत्येकमिश्रित सत्यामृषा भाषा - ८/३ ***

विवरणार्थ :- अनन्तकाय के अंश से युक्त म्लान मूल आदि में 'यह प्रत्येककाय है' यह वचन परित्तमिश्रित है - ऐसा तीर्थंकर-गणधर आदि परम पुरुषों ने बताया है। यहाँ प्रत्येककायिक अंश में संवाद होने से यह भाषा सत्य है और अनन्तकायिक अंश में यह भाषा असत्य है। आंशिक सत्य और आंशिक असत्य होने के कारण यह भाषा सत्यामृषा भाषा में अधिकृत है।

शंका :- ***स्यादेतत्. इति***। जैसे उत्पन्नमिश्रित और विगतमिश्रित भाषा से उत्पन्नविगतमिश्रित भाषा अतिरिक्त है वैसे अनन्तमिश्रित और प्रत्येकमिश्रित भाषा से परित्तानन्तमिश्रितभाषा को अतिरिक्त = स्वतंत्र मानना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि प्रत्येककाय और अनंतकाय के समूह में 'यहाँ इतने अनन्तकाय हैं और इतने प्रत्येककाय हैं' ऐसा वाक्य, जो कि विसंवादी प्रमाणविषयक है, न सर्वथा मृषा है और न सर्वथा सत्य है, किन्तु आंशिक सत्य और आंशिक मृषा है। अतः इस वचन को सत्यामृषा मानना आवश्यक है तथा अनंतमिश्रित और प्रत्येकमिश्रित से भी उसे अतिरिक्त मानना आवश्यक है। अतः परित्तअनंतमिश्रित नाम की एक अतिरिक्त भाषा का स्वीकार न्यायप्राप्त है।

*** स्वतंत्र परित्तानंतमिश्रित भाषा नहीं है ***

समाधान :- ***मैवम्. इति***। आपका यह कथन तथ्यहीन है। इसका कारण यह है कि व्यवहार में कभी भी ऐसा वाक्यप्रयोग कि 'इसमें इतने अनंतकाय हैं और इतने प्रत्येककाय हैं' होता ही नहीं है। जो प्रयोग होता ही नहीं है उसका समावेश किस भाषा में करना? या उसके लिए एक अतिरिक्त भाषा की व्यवस्था करना यह सब अविचारित कार्य है। व्यवहारनय के अभिप्राय से मिश्र भाषा का अधिकार यहाँ चल रहा है। जो भाषा व्यवहार में प्रयुक्त होती है उसका कहाँ किस नियम से समावेश करना? यह सब व्यवहारनय का कार्य है। जो भाषा अव्यवहारिक है उसका समावेश करने के लिए व्यवहारनय का कोई प्रयास नहीं होता है। अतः

१. परमपुरुषैर्भणिता एषा च परित्तमिश्रिता भाषा। याऽनंतयुतपरीते, भण्यते एष परीत इति।।६५।। २. मुद्रितप्रतौ - तत्राऽप्रयोगात् - इति त्रुटितः पाठः, कप्रतौ च पूर्णपाठः। ३. मुद्रितप्रतौ - वाभावात् - इति पाठः।

अत एवाऽऽह **चूर्णिकारः** "[१]अणंतमिस्सिया जहा कोइ मूलगच्छोढं (थूडं) दट्ठुणं अन्नं वा कंचि तारिसं भणिज्जा जहा सव्वो एस [२]अणंतकाओत्ति। तस्स मूलपत्ताणि जिण्णत्तणेण परिभूयाणि[३] केवलं तु जलसिंचणगुणेण केइ तस्स किसलया पादुब्भूआ[४] अओ अणंता परित्तेण[५] मीसिया भन्नइ। परित्तमीसिया जहा अभिनवउक्खयं मूलगं कोइ परिमिलाणं ति काउणं भणेज्जा जहा सव्वो एस परित्तो। तत्थ अंता परित्तीभूआ मज्झपएसे[६] अणंता चेव। एसा परित्तमीसियत्ति"। अत्र हि जीर्णपत्रत्वं म्लानकन्दत्वं च स्पष्टावेव विवक्षाहेतू

मनवतारात्। **एतेन** अप्रयोगादिति हेतोः स्वरूपासिद्धिः **प्रत्युक्ता**। हेत्वन्तरमाह **उभयातिरेकनिमित्तस्येति**। अनन्तमिश्रितातः तथा परित्तमिश्रितातोऽतिरेकनिमित्तस्येत्यर्थः। अयं भावः यथोत्पन्नविगतमिश्रितभाषाद्वयातिरेकनिमित्तं बुद्धिविशेषरूपमस्ति तथा परीतानन्तमिश्रितभाषाद्वयातिरेकनिमित्तं नास्ति। अत उभयव्यतिरिक्तायाः परीतानन्तमिश्रिताया निर्देशो न कृतः। **एतेन** यदि जातविगतमिश्रितभाषाद्वयातिरिक्ता जातविगतमिश्रिता स्यात् तदा परित्तानन्तमिश्रितभाषाद्वयातिरिक्ता परीतानन्तमिश्रिताऽपि स्यात् अन्यथा जातविगतमिश्रिताप्यतिरिक्ता न स्याद् विशेषाभावादिति **निरस्तम्**।

नन्वेवं सति परीतानन्तकायोभयसंवलिते 'अयं परित्तानन्तसमूह' इति प्रयोगोऽपि न स्यादित्याशंकां निराकर्तुमाह **प्रत्येकानन्तप्रयोगनिमित्तं तु वैलक्षण्यमस्त्येवेति। न च** प्रत्येकानन्तप्रयोगनिमित्तविषयकाध्यवसायविशेषजन्यभाषाया परीत्तानन्तमिश्रितभाषाद्वयातिरिक्तत्वमस्त्विति **वाच्यम्** इयत्ताऽविषयिण्याः तस्याः सत्यत्वादेवात्राऽनधिकारादित्युक्तोत्तरत्वात्। ननु प्रत्येकानन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य सत्त्वे किं मानमित्याशङ्कायामाह **अत एवेति** = प्रत्येकानन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तविशेषस्य सत्त्वादेवेति। **चूर्णिकार** इति। ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरो*** न ***त्वगस्त्यसिंहसूरिः, तत्कृतदशवैकालिकचूर्णौ*** तादृशपाटस्याऽसत्त्वात्। **मज्सपएसे अणंता चेव**त्ति। शस्त्राद्यनुपहतत्वादिति हेतोः। अत्र चूर्णौ तु 'मज्सपएसो अणंतो चेव' इति पाठः। अन्यत्राऽपि किञ्चित्पाठान्तरं वर्तते। स्पष्टत्वान्न व्याख्यायते। **जीर्णपत्रत्वमिति**। अयं भावः 'मूलपत्ताणि जिण्णत्तणेण परिभूयाणि'अत्र तृतीया हेतावुक्ता। ततः जीर्णत्वहेतुकं प्रत्येककायिकत्वमित्यर्थो लभ्यते अनन्तकायिकत्वेन प्रतीयमाने प्रत्येककायिकत्वज्ञाननिमित्तप्रतिपादनात्प्रत्येकानन्तकायवचनप्रयोगनिमित्तं

मिश्रभाषा में परित्तअनंतमिश्रित भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है।

उभय. इति। इससे अतिरिक्त एक बात यह भी ध्यातव्य है कि प्रत्येकमिश्रितभाषा और अनंतमिश्रितभाषा का निमित्तभूत जो अध्यवसायविशेष है उसके अतिरिक्त कोई ऐसा निमित्त है ही नहीं। जिसकी स्वतंत्र कल्पना करने का कुछ निमित्त ही नहीं है उसकी कल्पना करना कैसे उचित हो सकता है? हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्येककाय और अनन्तकाय के समूह में 'यह प्रत्येककाय और अनन्तकाय का समूह है' ऐसा प्रयोग हो। मगर इसके अस्वीकार का कोई कारण नहीं है, क्योंकि प्रत्येककाय और अनन्तकाय के प्रयोग में निमित्तभूत वैलक्षण्य तो समूह में होता ही है। जिसका विलक्षण निमित्त हो उसका कार्य विलक्षण होने का इन्कार तो कोई भी बुद्धिमान नहीं कर सकता है। प्रत्येककाय और अनंतकाय के समूह में 'यह प्रत्येककाय और अनंतकाय है' इस वचनप्रयोग का निमित्त तो मान्य है ही। इसीलिए तो चूर्णिकार श्रीजिनदासगणिमहत्तर ने भी श्रीदशवैकालिकसूत्र चूर्णि में कहा है कि -

❋ चूर्णिकार का वचन ❋

अणंत. इति। अनन्तमिश्रित भाषा वह है कि जब कोई पुरुष अनंतकायिक मूले के पौधे को देख कर या अन्य कुछ देख कर बोले कि 'यह सब अन्‍न्तकाय है'। इस भाषा को अनन्तमिश्रित कहने का कारण यह है कि अनंतकाय मूले के पत्ते बडे होने से

१. अनन्तमिश्रिता यथा कश्चिन्मूलकस्थूडं दृष्ट्वाऽन्यं वा कञ्चित् तादृशं भणेत् यथा सर्व एष अनन्तकाय इति। तस्य मूलकपत्राणि जीर्णत्वेन परिभूतानि (परित्तीभूतानि) केवलं तु जलसिंचनगुणेन केचित्तस्य किशलयाः प्रादुर्भूताः। अतोऽनन्ताः परित्तेन मिश्रिता भण्यन्ते। प्रत्येकमिश्रिता नाम यथा अभिनवोत्खातं मूलकं कश्चित्परिम्लानमिति कृत्वा भणेत् यथा सर्व एषः प्रत्येकः। तत्राऽन्ताः प्रत्येकीभूता मध्यप्रदेशा अनन्ता एव। एषा प्रत्येकमिश्रितेति। २. 'कायोत्ति' एवं चूर्णौ पाठो लभ्यते। ३. परित्तीभूआ णे एवं मुद्रितप्रतौ पाठः। ४. 'पादुब्भूता' इति चूर्णौ पाठो लभ्यते। ५. 'परित्तत्तेण' इति पाठः चूर्णौ लभ्यते। ६. 'पएसो अणंतो इति पाठः सांप्रतं चूर्णौ लभ्यते मुद्रितप्रतौ तु 'पएसा अणंता' इति।

उक्तौ। एवं च प्रायिकप्रयोगविवक्षाहेतुं विना यादृच्छिकदुष्टप्रयोगविवक्षाप्रसूतभाषाया मृषात्वमेवाऽवसीयते। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति।।६५।।

उक्ता परित्तमिश्रिता ८। अथाऽद्धामिश्रितामाह

[१]सच्चामोसा भासा, सा अद्धामीसिया भवे जत्थ। भन्नइ पओअणवसा दिवसनिसाणं विवज्जासो।।६६।।

सा अद्धामिश्रिता सत्यामृषा भाषा भवेत् यत्र प्रयोजनवशाद्दिवसनिशयोर्विपर्यासो भण्यते। यथाऽपरिणत एव दिवसे

वैलक्षण्यमस्तीति सिध्यति। एवं म्लानकन्दत्वमपि भावनीयम्। **विवक्षाहेतू** इति। प्रत्येकानन्तकायविषयकप्रायिकवचन-प्रयोगविवक्षाहेतू इत्यर्थः। **एवं चेति** तादृशविवक्षाहेतुप्रतिपादनेन चेति। **यादृच्छिकदुष्टप्रयोगविवक्षाप्रसूतभाषाया** = स्वच्छन्दमतिकल्पिताऽवधारणवचनप्रयोगतात्पर्यजनितभाषाया इति। यत्किंचन निमित्तं द्रष्ट्वाऽद्रष्ट्वा वा 'अनन्त-कायिक एवायं' इत्यादिभाषाया मृषात्वमेव न सत्यामृषात्वं दुष्टविवक्षाजन्यत्वात्। यदि चागमोक्तलिङ्गविशेषनिश्चये सति 'प्रायोऽयमनन्तकाय' इत्याद्युच्यते तदा न मृषात्वमित्याभाति।।६५।।

प्रत्येककायिक हो गये हैं। केवल उस पर पानी का सिंचन करने से कुछ नये पत्ते (किसलय) पैदा हुए हैं। अतः प्रत्येककाय से मिश्र अनन्तकाय को विषय बनानेवाली यह भाषा भी अनन्तमिश्रित कही जाती है। प्रत्येकमिश्रित भाषा वह है, जैसे कि अभी अनंतकायिक मूले को जमीन से बाहर निकालने पर वह म्लान होने से कोई ऐसा कहे कि 'यह संपूर्ण प्रत्येककाय है'। इस भाषा को प्रत्येकमिश्रित भाषा कहने का कारण यह है कि मूले = जमीनकंद के बाहर के भाग में रहे हुए जीव म्लान हो जाने का कारण प्रत्येककाय हो चुके हैं मगर जमीनकंद के मध्य भाग में तो अनंतजीव ही रहे हुए हैं। मध्य भाग में रहे हुए अनंतकाय से मिश्रित ऐसे प्रत्येककाय को विषय बनानेवाली भाषा को परित्तमिश्रित कहना ठीक ही है। यथा नाम तथा गुण।

* चूर्णिकार के वचन का फलितार्थ *

अत्र हि. इति। महनीय श्रीजिनदासगणिमहत्तर ने उपर यह बताया कि अनन्तकायिक मूले के पत्ते जीर्ण-शीर्ण होने से प्रत्येककायिक हो गये हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि बडे जीर्णपत्र प्रत्येककाय के प्रायिक प्रयोग की विवक्षा का हेतु हैं। अर्थात् जमीनकंद होते हुए भी यदि उसके पत्ते जीर्ण-शीर्ण हो चूके हो तो वह प्रत्येककाय होने की संभावना है। बडे होने से किसलय अवस्था को मूले के पत्ते छोड चूके हैं। इसलिए वे प्रत्येक काय होते हैं। बडापन यहाँ प्रत्येककायिकत्व के हेतुरूप से बताया गया है। जमीनकन्द होने से वह अनन्तकायिक तो है ही। अतः प्रत्येककाय और अनंतकाय के प्रयोग का निमित्त होता है ऐसा जो पूर्व में कहा था वह चूर्णिकार के वचन से सिद्ध होता है। इसी तरह परित्तमिश्रित के उदाहरण में चूर्णिकार ने जो यह कहा कि - 'जमीनकंद म्लान होने से कोई ऐसा कहे कि "यह संपूर्ण प्रत्येककाय है"। इससे यह फलित होता है कि म्लानकंदत्व यानी जमीनकंद की म्लानावस्था प्रायिक प्रत्येककाय प्रयोग की विवक्षा की हेतु है। इस तरह चूर्णिकार के वचन से यह साफ साफ मालुम हो जाता है कि जीर्णपत्रत्व और म्लानकन्दत्व प्रायिकप्रयोग की विवक्षा के हेतु हैं। अर्थात् जब जीर्णपत्रत्व आदि का निश्चय हो तब 'यह प्रायः प्रत्येककाय है' इत्यादि प्रयोग करना उचित है। मगर प्रायिकविवक्षा के बिना अपनी मनगडंत इच्छा के अनुसार, आगमकथित निमित्त की अपेक्षा किये बिना ही, दुष्ट (सदोष) प्रयोग की विवक्षा से यह कहना कि 'यह प्रत्येककाय ही है' वह भाषा तो मृषा ही होती है - यह ज्ञात होता है। यह विषय अत्यंत गंभीर है। अतः इस विषय में तत्त्वनिर्णय तो बहुश्रुत पुरुषों से ही ज्ञातव्य है। इस गंभीर तत्त्व को तो बहुश्रुत पुरुष जानते हैं। इस तरह इस विषय की गंभीरता को और अपनी पापभीरुता को व्यक्त कर के विवरणकार परित्तमिश्रित भाषारूप सत्यामृषाभाषा के ८ वें भेद के विवेचन को तिलांजलि देते हैं।।६५।।

अब मिश्रभाषा के ९वाँ भेद अद्धामिश्रित ६६ वीं गाथा से बताया जाता है।

गाथार्थ :- प्रयोजनवश दिन और रात का विपर्यास जिस भाषा में हो वह अद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा है।६६।

* अद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा ९/३ *

विवरणार्थ :- अद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा वह होती है जिसमें प्रयोजनविशेष के कारण दिन और रात्री का विपर्यास बताया

---

१. सत्यामृषा भाषा साऽद्धामिश्रिता भवेद्यत्र। भण्यते प्रयोजनवशाद्दिवसनिशयोर्विपर्यासः।।६६।।

कश्चित्सहायं त्वरयन् वदति-उत्तिष्ठोत्तिष्ठ रजनी वर्तत इति रात्रौ वा वर्त्तमानायां वदति उत्तिष्ठोत्तिष्ठोद्गतः सूर्य इति।

नन्वियं मृषैव दिवसे रजनीवर्त्तमानत्वस्य रजन्यां वा दिवससत्त्वस्य बाधात्। [1]वर्त्तमानाद्यभिधायकवचनस्याऽव्यवहितोत्पत्तिकत्वे लक्षणायां च [2]सत्यात्वमेवेति नातिरेक इति **चेत्? न** लक्ष्यतावच्छेदकघटकव्यवधानाभावकूटेऽशतो बाधाबाधाभ्यामुभयरूपसमावेशाद् अन्यथा प्रहरान्तरव्यवधानेऽपि तथाप्रयोगप्रसङ्गात्। पदान्तरे लक्षणा च नानुशासनस्वरससिद्धेत्याभाति।।६६।।

प्रयोजनवशादिति। अनेन निष्प्रयोजनं तथाभणने मृषात्वमेवाऽवसीयते। **अपरिणतः** = अनस्तमितदशायामित्यर्थः।

नन्वत्र शक्त्या शाब्दबोधोऽभ्युपगम्यते लक्षणया वेति विकल्पयुगली प्रोन्मीलतीत्याशयेन शङ्कते कश्चि**न्नन्विति**। तत्र प्रथमे प्राह **मृषैवेति**। हेतुमाह **दिवस** इत्यादि। पूर्वापरक्षितिद्वयमध्यवर्तिसूर्यकिरणावच्छिन्नकालरूपदिवसस्य सूर्यमण्डलाऽदर्शनयोग्यकालरूपरजनीविरुद्धत्वेन रजनीवर्त्तमानत्वाभावव्याप्यदिवसवर्त्तमानत्ववति रजनीवर्त्तमानत्वस्याऽयोगात् व्यापकाभावेन व्याप्याभावनिर्णयाद्रजन्यां दिवससत्त्वाभावनिर्णयादित्यत्र तात्पर्यम्। द्वितीये वदति **वर्त्तमानाद्यभिधायकवचनस्येति** वर्त्ततेऽस्ति, भवतीत्यादिवचनस्येति। **अव्यवहितोत्पत्तिकत्वे लक्षणायामिति**। तेन 'रजनी वर्त्तत' इत्यस्य 'अव्यवहितोत्तरकालोत्पत्तिका रजनी'त्यर्थः। ततः किमित्याह **सत्यात्वमेवेति**। रजन्याम-व्यवहितोत्तरकालोत्पत्तिकत्वस्य सत्त्वेन प्रमाजनकत्वात्सत्यात्वमेव न तु मृषात्वं भ्रमजनकत्वाभावादित्याशयः। तं निरसितुमाह **नेति**। **लक्ष्यतावच्छेदकघटकव्यवधानाभावकूट** इति। लक्ष्यतावच्छेदकीभूताव्यवहितोत्पत्तिकत्वघटकीभूतव्यवधानाभावकूट इत्यर्थः, एकक्षणव्यवधानक्षणद्वयव्यवधानक्षणत्रयव्यवधानाद्यभावसमूह इति भावः। **उभयरूप-**

जाता है। जैसे कि दिन पूर्ण होने के पूर्व में ही कोई अपने सहायक मित्र को स्फूर्ति से त्वरा करता हुआ कहता है कि - 'औ! उठ, उठ, अब तो रात हो चूकी है।' यह भाषा अद्धामिश्रित सत्यामृषास्वरूप है। वैसे रात विद्यमान होने पर भी कोई अपने सहायक को उठाने के उद्देश से कहता है कि 'ओ भाईजान! उठ, उठ, अब तो सूरज भी उदित हो चुका है।' यह भी अद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा का ही उदाहरण है। व्यवहार में इस तरह अनेक प्रयोग दिखे जाते हैं। बहुत सोनेवाले आदमी को जगाने के लिए और काममें जोडने के लिए सूर्योदय को कुछ देर होने पर भी 'सूर्योदय हो गया, अब तो उठो।' इत्यादि प्रयोग किया जाते हैं। यहाँ वास्तव में सूर्योदय नहीं हुआ है। अतः रातरूप काल से कथितकाल मिश्रित हो जाता है। अतः इस भाषा को अद्धामिश्रित कहा जाता है।

❋ अद्धामिश्रितभाषा सत्यामृषा नहीं है - नैयायिक ❋

नैयायिक :- *नन्वियं.* इति। अद्धामिश्रित भाषा को सत्यामृषा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दिन को रात कहना या रात को दिन कहना केवल मृषा ही है। दिन में रात की सत्ता बाधित होने से अद्धामिश्रित भाषा का प्रदर्शित प्रथम उदाहरण और रात में दिन की सत्ता बाधित होने से प्रदर्शित द्वितीय उदाहरण भी सर्वथा मृषा ही है। यदि यहाँ 'रजनी वर्तते' इसमें वर्तमानत्व के अभिधायक 'वर्तते' पद की अव्यवहितोत्पत्तिकत्व में लक्षणा मानी जायेगी तब तो यह भाषा सर्वथा सत्य ही हो जायेगी। आशय यह है कि शब्द में शक्ति और लक्षणा ये दो वृत्ति रहती हैं जिनके बल पर शब्द अर्थबोध कराता है। शब्द का जो मूल अर्थ होता है उसमें उस शब्द की शक्ति रहती है जैसे कि 'गंगायां जलं' इत्यादि में गंगापद की जलप्रवाहविशेष में। मूल अर्थ से संबद्ध वस्तु में शब्द की लक्षणा होती है जैसे कि 'गंगायां घोषः' में गंगापद की तीर में। जब शक्यार्थ का बाध होता है तब लक्ष्यार्थ का आश्रय कर के वाक्य से अभ्रान्त शाब्दबोध माना जाता है। यहाँ पर 'वर्त्तते' पद की शक्ति है विद्यमानता में। मगर शक्ति से शाब्दबोध के स्वीकार में भ्रमात्मक शाब्दबोध होने से अद्धामिश्रित भाषा में सर्वथा असत्यत्व की आपत्ति आती है। इसका निवारण करने के लिए 'वर्त्तते' पद की अव्यवहितोत्पत्तिकत्व में लक्षण मानी जाय तब 'रजनी वर्त्तते' का अर्थ होगा - रात की अव्यवहितोत्तर काल में उत्पत्ति होनेवाली है। यह अर्थ तो सही है, क्योंकि सूर्यास्त की १०/१५ मिनट पूर्व में यह वाक्य कहा जाता है तब तो रात्री की उत्पत्ति (उदय) अव्यवहितोत्तर काल में होनेवाली ही है। अतः लक्षणा से शाब्दबोध का निर्वाह करने पर यह भाषा सत्य सिद्ध हो जायेगी और शक्ति से शाब्दबोध का स्वीकार करने पर यह भाषा मृषा सिद्ध हो जायेगी। इतो व्याघ्रः इतस्तटी। आगे कुआँ पीछे खाई! शक्ति या लक्षणा को छोड कर शाब्दबोध का अन्य कोई प्रकार है ही नहीं। अतः अद्धामिश्र भाषा का सत्यामृषा भाषा के विभाग में प्रदर्शन करना युक्तिसंगत नहीं है।

१. वर्त्तमानावदभिधायक-इति मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः। २. सत्यत्व- इति पाठान्तरं मुद्रितप्रतौ।

उक्ताऽद्धामिश्रिता ९। अथाऽद्धाद्धामिश्रितामाह

[1]रयणीए दिवसस्स व देसो देसेण मीसिओ जत्थ। भन्नइ सच्चामोसा, अद्धद्धामीसिया एसा।।६७।।

रजन्या दिवसस्य वा देशः = प्रथमप्रहरादिलक्षणः, **देशेन** = द्वितीयप्रहरादिलक्षणेन, **यत्र मिश्रितो भण्यते एषा अद्धाद्धामिश्रिता**

समावेशादिति। रजनीप्रतियोगिकोत्पत्तौ एकद्वयादिक्षणव्यवधानाभावस्य बाधितत्वेऽपि प्रहरादिव्यवधानाभावस्याऽबाधितत्वेन भ्रमप्रमाजनकत्वात्सत्यामृषात्वमिति भावः। विपक्षे बाधमाह **अन्यथेति**। प्रदर्शितरीत्या सत्यामृषात्वाऽस्वीकारे। **तथाप्रयोगप्रसङ्गादिति**। मध्याह्नकालेऽपि 'रजनी वर्त्तत' इत्यादिवचनप्रयोगप्रसङ्गादिति। ततश्च यथाविधव्यवधाने सति प्रयोजनवशाद् यादृशवचनप्रयोगो लोके जायते तस्यांशतो बाधाबाधाभ्यां सत्यामृषात्वं तथाविधव्यवधानातिक्रमेण यादृच्छिकतादृशप्रयोगे तु मृषात्वमेवेति पर्यवसितम्। ननु तर्हि लक्षणैव कथं नाङ्गीक्रियते? इत्याह **पदान्तरे लक्षणा च नानुशासनस्वरससिद्धेति**। तथाविधवचनानां सत्यामृषायां समावेशप्रदर्शनात्रानुशासनस्य लक्षणायां स्वरस इत्युन्नयनादिति स्वयमूह्यम्।।६६।।

मध्यंदिनो जात इति। **यद्यपि** विद्यमानप्रागभावप्रतियोगिके मध्यंदिने स्वप्रतियोगिकोत्पत्तिक्षणध्वंसवैशिष्ट्यस्य बाधेन भ्रमजनकत्वात्तादृशवाक्यस्याऽसत्यत्वमेव **तथापि** लक्ष्यतावच्छेदकाव्यवहितोत्पत्तिकत्वघटकीभूतव्यवधानाभावकूटेंऽशतो बाधाबाधाभ्यां भ्रमप्रमाजनकत्वेन सत्यामृषात्वस्याऽप्रत्यूहान्न कश्चिद्दोष इति सर्वं चतुरस्रम्।

नन्वेवं सत्यद्धाद्धाद्धामिश्रिताऽपि वक्तव्या, **न च** तस्या अद्धाद्धामिश्रितायामेवान्तर्भावान्नातिरेक इति **वाच्यम्** एवमद्धाद्धामिश्रिताया अप्यद्धामिश्रितायामेवान्तर्भावात्तुल्यन्यायेनाद्धाद्धामिश्रितायाः स्वतन्त्रताऽपि हन्येतेति **चेत्? नैवम्** अनितिविस्तरसङ्क्षेपरुचिनयाभिप्रायेण सत्यामृषाविशेषविभागप्रदर्शनात् परममुनीनां पर्यनुयोगानर्हत्वात् **एतेना**नन्त-

※ अद्धामिश्रित भाषा सत्यामृषास्वरूप ही है - स्याद्वादी ※

स्याद्वादी :- ***न लक्ष्य.*** इति। आपने अपने नाम पर धब्बा लगा दिया, बिना सोच समझ कर बोलने से। देखिये यदि आपने लक्षणा मानी फिर भी लक्ष्यतावच्छेदक तो आपके मत से अव्यवहितोत्पत्तिकत्व ही बनेगा जिसका घटक एक अंश है अव्यवधान यानी व्यवधानाभावसमूह। सूर्यास्त होने में जब १०/१५ मिनट की देर है तब 'रजनी वर्त्तते' यह वाक्य कहा जाता है, मगर रात्री की उत्पत्ति में सर्वथा व्यवधान=अंतर का अभाव नहीं है किन्तु १५ मिनिट का व्यवधान ही है। फिर भी १ प्रहर आदि काल का व्यवधान नहीं है। अतः व्यवधान का अभाव भी है। रात की उत्पत्ति में १०/१५ मिनट का व्यवधान होते हुए भी १ प्रहरादि का व्यवधान नहीं होने से लक्ष्यावच्छेदकघटकीभुत व्यवधानाभावसमूह के एक अंश में बाध और अन्य अंश में बाधाभाव होने से यह भाषा सत्यामृषा ही है, केवल सत्य या केवल मृषा नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तब तो १ प्रहर का व्यवधान होने पर भी दिन में ३ या ३।। बजे 'अब तो रात हो गई है' इत्यादि वचनप्रयोग की आपत्ति होगी। मगर ऐसा प्रयोग नहीं होता है। अतः मानना होगा कि लक्ष्यतावच्छेदकघटक में आंशिक संवाद और विसंवाद होने से यह भाषा सत्यमृषा ही है। आपने जो यह कहा था कि 'लक्षणा के स्वीकार में तो यह भाषा सत्य ही बन जायेगी' - वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ लक्षणा करने में अनुशासन का स्वरस नहीं है। अद्धामिश्रित भाषा का सत्यामृषा भाषा में प्रदर्शन किया है इसीसे पता चलता है कि यहाँ पदान्तर में लक्षणा अनुशासनस्वरससिद्ध नहीं है। सौ बात की एक बात, अद्धामिश्रित भाषा सर्वथा सत्य या सर्वथा मृषा नहीं है, मगर सत्यामृषा ही है।।६६।।

अद्धामिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब द्रव्यविषयक भावभाषा के तृतीयभेदरूप सत्यामृषाभाषा के अंतिम और दशवें भेद अद्धाद्धामिश्रित भाषा को उपाध्यायजी महाराज ६७ वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- रात या दिन का कुछ भाग अन्य भाग से जहाँ मिश्रित हो जाता है, वह भाषा अद्धाद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा कही जाती है।६७।

१. रजन्या दिवसस्य च देशो देशेन मिश्रितो यत्र। भण्यते सत्यामृषाऽद्धाद्धामिश्रितैषा।।६७।। २. एवं सत्यामृषाभेदा उपदर्शिताः समयसिद्धाः। भाषामसत्यामृषामतः परं कीर्तयिष्यामि।।६८।।

सत्यामृषा। यथा प्रथमपौरुष्यामेव वर्त्तमानायां कश्चित् कञ्चित् त्वरयन् वदति - 'चल मध्यंदिनो जात' इत्यादि उक्ताऽद्धाद्धामिश्रिता १०।।६७।।

तदेवमुपदर्शिताः सत्यामृषाभेदाः। अथैतन्निरूपणसिद्धत्वमसत्यामृषानिरूपणप्रतिज्ञां चाऽऽह

[1]एवं सच्चामोसाभेया उवदंसिया समयसिद्धा। भासं असच्चमोसं अओ परं कित्तइस्सामि।।६८।।

स्पष्टा।।६८।।

मिश्रितादिवत् पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मबादरैकद्व्यादीन्द्रियादिमिश्रिताया अपि प्रदर्शनं कर्तव्यं यद्वा तद्वदेवानन्तमिश्रितादिप्रदर्शनमपि न कर्तव्यं विनिगमनाविरहादिति **प्रत्युक्त**मित्यादि निपुणतरं निभालनीयम्।।६७।।

एवमिति। षट्पञ्चाशत्तमगाथातः प्रारभ्य सप्तषष्ठीगाथापर्यन्तं लक्षण-भेद-निदर्शनादिप्रदर्शनप्रकारेण। **समयसिद्धा** इति। प्रज्ञापनादशवैकालिकनिर्युक्त्याद्यागमप्रसिद्धा इति यावत्। अनेन स्वमनीषिकाव्यवच्छेदः कृतः।

निश्चयतो मृषा वाक्सत्यामृषा व्यवहारतः। यथा सूत्रानुसारेण, स्यात्तथा दर्शिताऽधुना।।१।।

इति मुनियशोविजयविरचितायां मोक्षरत्नाभिधानायां भाषारहस्यविवरणटीकायां तृतीयः स्तबकः।

✵ अद्धाऽद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा - १०/३ ✵

विवरणार्थ :- रात या दिन का प्रथम प्रहर आदि स्वरूप एक भाग द्वितीय प्रहरादि रूप अन्य भाग से जहाँ मिश्रित होता है, वह भाषा अद्धाद्धामिश्रित सत्यामृषा भाषा कही जाती है। यह उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। जैसे कि दिन की प्रथम पौरुषी विद्यमान होने पर ही जब कोई ऐसा कहे कि - 'चल चल अभी तो मध्याह्न हो गया।' इत्यादि भाषा अद्धाद्धामिश्रित भाषा स्वरूप है। यहाँ अद्धाद्धा का अर्थ है दिन रूप अद्धा=काल के एक देशरूप अद्धा=काल। वह अन्य प्रहर से मिश्रित हो कर कहा जाता है। इसलिए इस भाषा को अद्धाद्धामिश्रित भाषा कहते हैं। इस तरह अद्धाद्धामिश्रित भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ।।६७।।

अद्धाद्धामिश्रितभाषा के निरूपण से सत्यामृषा भाषा के भेदों का निरूपण पूर्ण हुआ। अब श्रीमद्जी द्रव्यविषयक भावभाषा के तृतीय भेदरूप सत्यामृषा के निरूपण की समाप्ति को और असत्यामृषाभाषा के, जो कि द्रव्यविषयक भावभाषा का चतुर्थ और अंतिम भेद हैं, निरूपण की प्रतिज्ञा को ६८ वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- इस तरह आगम में प्रसिद्ध सत्यमृषा के भेद बताये गये। अब मैं (प्रकरणकार) असत्यमृषा भाषा को कहूँगा।६८।

विवरणार्थ :- गाथा स्पष्ट होने से विवरणकार के रूप में प्रकरणकार ने विवरण नहीं किया है। बात भी सही ही है कि इस प्रकरण में ५६ वीं गाथा से लेकर ६७ वीं गाथा पर्यंत लक्षण, भेद, हेतु, दृष्टांत आदि के द्वारा उपाध्यायजी ने सूक्ष्मरूप से सत्यामृषा भाषा का निरूपण किया है अब प्रकरणकार अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के लिए असत्यामृषा भाषा का, जिसके निरूपण की प्रतिज्ञा की गई है, लक्षण बता कर विभाग बता रहे हैं।

---

१ अनधिकृता या तिसृस्वपि न चाराधनविराधनोपयुक्ता। भाषाऽसत्यामृषा एषा भणिता द्वादशधा।।६९।।

चतुर्थः स्तबकः

अथ प्रतिज्ञातनिरूपणाया एवासत्यामृषाया लक्षणाभिधानपूर्वं विभागमाह

[3]अणहिगया जा तीसुवि, ण य आराहणविराहणुवउत्ता। भासा असच्चमोसा, एसा भणिया दुवालसहा।।६९।।

[1]आमंतणि१ आणवणी२ जायणि३ तह पुच्छणी४य पन्नवणी५।
पच्चक्खाणी६भासा भासा इच्छाणुलोमा७य।।७०।।
[2]अणभिग्गहिआ८ भासा, भासा य अभिग्गहम्मि९ बोधव्वा।
संसयकरणी१०भासा, वायड११ अव्वायडा१२ चेव।।७१।।

या तिसृस्वपि = सत्या-मृषा-सत्यामृषाभाषासु **अनधिकृता। एतेन** 'उक्तभाषात्रयविलक्षणभाषात्वं' एतल्लक्षण**मुक्तम्। च** = पुनः न आराधनविराधनोपयुक्ता। एतेनापि परिभाषानियन्त्रितं अनाराधकविराधकत्वं लक्षणान्तरमाक्षिप्तम्। **एषाऽसत्यामृषा भाषा द्वादशधा**

श्रीजिनं हर्षतो नत्वा त्रैशलेयं महाप्रज्ञम्। चतुर्थस्तबकेऽसत्यामृषा व्याख्यायते मया।।१।।

महामहोपाध्यायः साम्प्रतं प्रतिज्ञाताऽसत्यामृषाभावभाषालक्षणाद्याह **'अणहिगया'** इति **उक्तभाषात्रयविलक्षण-भाषात्वमि**ति। **एतेन** इयं भाषा सत्यैव असत्यादिलक्षणविरहादिति **प्रत्युक्तं** विनिगमनाविरहेण सत्यालक्षणा-योगतोऽसत्यत्वप्रसङ्गात्, अप्रयोजकत्वाच्च। न ह्येवं भवति यदयं नपुंसकः स पुमान् अस्त्रीत्वात्। यद्वा नपुंसकः स्त्री अपुंस्त्वादिति। स्त्रीपुंसाभ्यामन्य एव नपुंसकः तथोपलभ्यमानत्वात्। एवं सत्यादितोऽन्यैवाऽसत्यामृषा हेतु-स्वरूप-फलभेदात्। **एतेना**ऽसत्यामृषात्वस्य कल्पितत्वं **निरस्तम्** यथा चैतत्तत्त्वं तथाऽऽमन्त्रणीनिरूपणे स्फुटीभविष्यतीति किमिह प्रयासेन? **अनाराधकविराधकत्वमि**ति। इयं हि नैव आराधनी तल्लक्षणविगमात्।

ननु *प्रज्ञापनायां* सर्वा अपि भाषा आयुक्तं भाषमाणस्याऽऽराधकत्वोपदेशात्कथं हेतोः स्वरूपासिद्धिदोष-कार्ष्ण्यमपाक्रियते? **न च** तत्र भाषमाणस्याऽऽराधकत्वमुक्तं, अत्र च भाषाया आराधनीलक्षणशून्यत्वमिति न विरोध इति **वाच्यम्** तद्भाषाया आराधनीलक्षणविनिर्मुक्तत्वे तस्याऽऽराधकत्वायोगादिति **चेत्? उच्यते** तथाविधनैश्चयिकाऽऽराध-कत्वसम्भवेऽपि व्यावहारिकाऽऽराधकत्वलक्षणविरहस्याऽभिप्रेतत्वान्न दोषः। नापीयं विराधिनी सद्भूतप्रतिषेधत्वाद्य-भावात्। नापीयमाराधनविराधिनी एकदेशसंवादविसंवादाऽभावात्। अतो युक्तमुक्तमनाराधकविराधकत्वमिति। अत्र च स्वरूपतोऽनाराधक-विराधकत्वं ग्राह्यं न तु हेतुतः फलतो वा तेन न कश्चिद्दोष इति समाकलितस्वसमय-रहस्यैर्दिव्यदृशा निभालनीयम्।

* असत्यामृषा भावभाषा के लक्षण एवं १२ भेद का निरूपण *

गाथार्थ :- जो सत्यादि तीन भाषा में अनधिकृत हो और जो आराधक और विराधक भी न हो वह भाषा असत्यामृषा भाषा है जिसके १२ भेद हैं।।६९।।

गाथार्थ :- (१) आमंत्रणीभाषा, (२) आज्ञापनी भाषा, (३) याचनी भाषा, (४) पृच्छनी भाषा, (५) प्रज्ञापनी भाषा, (६) प्रत्याख्यानी भाषा, (७) इच्छानुलोमा भाषा, (८) अनभिगृहीत भाषा, (९) अभिगृहीत भाषा, (१०) संशयकरणी भाषा, (११) व्याकृत भाषा, (१२) अव्याकृत भाषा।।७०-७१।।

विवरणार्थ :- जो भाषा सत्य, मृषा और सत्यामृषा में अनधिकृत हो वह भाषा असत्यामृषा भाषा है। इस कथन से यह प्राप्त होता है कि 'सत्यादि तीन भाषा से व्यावृत्त-विलक्षण भाषात्व जहाँ हो वह असत्यामृषा भाषा है। अर्थात् सत्यादि तीन भाषा से विलक्षण भाषात्व ही असत्यामृषा भाषा का लक्षण है। आगे यह बताया गया है कि वह भाषा आराधन, विराधन में उपयुक्त नहीं होती है, अर्थात् असत्यामृषा भाषा न आराधक है, न विराधक है। अतः असत्यामृषा भाषा का अनाराधकविराधकत्वरूप दूसरा लक्षण प्राप्त होता है। यह लक्षण परिभाषा से नियन्त्रित है अर्थात् दूसरा लक्षण पारिभाषिक है। आगम में असत्यामृषा भाषा के १२ भेद बताये गये हैं। देखिये (१) आमंत्रणीभाषा, (२) आज्ञापनी भाषा, (३) याचनी भाषा, (४) पृच्छनी भाषा, (५) प्रज्ञापनी भाषा, (६) प्रत्याख्यानी भाषा, (७) इच्छानुलोमा भाषा, (८) अनभिगृहीत भाषा, (९) अभिगृहीत भाषा, (१०) संशयकरणी भाषा, (११) व्याकृत भाषा, (१२) अव्याकृत भाषा।।६९-७०-७१।। असत्यामृषा भाषा के भेदों के निरूपण में सर्व प्रथम प्रकरणकार आमन्त्रणी भाषा को, जो कि असत्यामृषा भाषा का प्रथम भेद है, ७२ वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- जो भाषा संबोधनयुक्त होती है और जिसको सुन कर श्रोता को अवधान होता है वह भाषा आमन्त्रणी है - ऐसा तत्त्वदर्शी पुरुषों ने कहा है।७२।

१ आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी तथा पृच्छनी च प्रज्ञापनी। प्रत्याख्यानी भाषा भाषा इच्छानुलोमा च।।७०।। २ अनभिगृहीता भाषा भाषा चाभिग्रहे बोद्धव्या। संशयकरणी भाषा व्याकृताऽव्याकृता चैव।।७१।।

भणिता। तथाहि-**आमन्त्रणी** १, **आज्ञापनी** २, **याचनी** ३, **पृच्छनी** ४, **प्रज्ञापनी** ५, **प्रत्याख्यानी** ६, **इच्छानुलोमा** ७, **अनभिगृहीता** ८, **अभिगृहीता** ९, **संशयकरणी** १०, **व्याकृता** ११, **अव्याकृता** १२ **चेति**।।६९-७०-७१।। तत्रादावामन्त्रणीमेवाऽऽह।

[१]संबोहणजुत्ता जा, अवहाणं होइ जं च सोऊणं। आमंतणी य एसा, पण्णत्ता तत्तदंसीहिं।।७२।।

या संबोधनैः = हे-अये-भोप्रभृतिपदैः **युक्ता** = सम्बद्धा **यां च श्रुत्वा अवधानं** = श्रोतृणां श्रवणाभिमुख्यं, सम्बोधनमात्रेणोपरमे 'किं मामामन्त्रयसी'ति प्रश्नहेतुजिज्ञासाफलकं **भवति एषा तत्त्वदर्शिभिरामन्त्रणी प्रज्ञप्ता**। तदेवमत्र 'सम्बोधनपदघटिता' इत्येकं लक्षणं 'श्रवणाभिमुख्यप्रयोजकभाषात्वं' चापरं लक्षणं द्रष्टव्यम्।

लक्षणान्तरमिति। ननु भाषात्रयविलक्षणभाषात्वाऽनाराधकविराधकत्वयोरनर्थान्तरत्वमेव। न हि सत्यत्वादितोऽतिरिक्तमाराधकत्वादिकं भवति। तेन लक्षणान्तरकथनं न युक्तम् अन्यथा पर्यायवाचकशब्दान्तरोपादानेऽपि लक्षणान्तरत्वं प्रसज्यते। **अहो**! अपूर्वप्रेक्षाकारिता देवानांप्रियस्य। अवधारणैकभावेन तद्वति तद्वचनत्वरूपसत्यात्वस्य असद्भूतप्रतिषेधत्वादिरूपाऽऽराधकत्वतः तदभाववति तद्वचनत्वरूपस्याऽसत्यत्वस्य च सद्भूतप्रतिषेधत्वादिरूपविराधकत्वतो विलक्षणत्वं पूर्वमुक्तं किं विस्मर्यते? उपधेयसाङ्कर्येऽप्युपाध्यसाङ्कर्यादिति विवेचिततरं चैतत्प्रागिति नेह प्रतन्यते।।६९-७०-७१।।

सम्बोधनैरिति। ननु भाषा कथं सम्बोधनैर्युक्ता भवितुमर्हति? सम्बोधनस्य तु अनभिमुखस्याऽन्यत्राऽऽसक्तस्य वाऽभिमुखीकरणरूपत्वात् यद्वाऽभिमुखीकृत्याऽज्ञातार्थज्ञापनानुकूलव्यापारानुकूलव्यापाररूपत्वादित्यत आह **हे-अये-भोप्रभृतिपदैरिति**। नामनिक्षेपरूपं सम्बोधनमत्राभिप्रेतं न तु भावनिक्षेपरूपमिति तात्पर्यम्। **श्रोतृणामिति**। प्रकृते सम्बोध्यानामित्यर्थः। सम्बोध्यत्वं च वक्तृव्यापारजन्य-प्रश्नविशेषहेतुजिज्ञासाऽनुकूलव्यापाराश्रयत्वम्। **एतेन** तद्व्यापारजन्यज्ञानानुकूलव्यापाराश्रयत्वं सम्बोध्यत्वमिति परोक्तं **परास्तम्** अतिप्रसक्तत्वात्। **सम्बोधनपदघटितेति**। स्वरूपलक्षणमेतत्। हेतुमुखेन लक्षणान्तरमाह **श्रवणेति**। श्रवणाभिमुख्यप्रवर्त्तकभाषात्वमित्यर्थः। **हेतुत्रय**मिति। फल-स्वरूप-हेतुभेदेन त्रैविध्यमत्र यथाक्रममवगन्तव्यम्।

उक्तमिति। श्रीदशवैकालिकवृत्तौ हरिभद्रसूरिभिरिति गम्यम्। **अप्रवर्त्तकत्वादिति** प्रवृत्तिजनकत्वाभावादिति। **ननु** ***प्रज्ञापनावृत्तौ*** प्रकृते 'केवलं व्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा (प्र.प. ११/सू.१६५-म.वृ.) इत्युक्तं भवद्भिरस्त्वप्रवर्त्तकत्वमुच्यत इति कथं न विरोधः? इत्याशङ्कां मनसिकृत्याऽऽह **प्रवृत्तिपदेन सत्यादिजन्यप्रवृत्तिविशेषो ग्राह्य** इति। व्यवहारमात्रप्रवर्त्तकत्वेऽपि सत्यादिजन्यप्रवृत्तिविशेषजनकत्वाभावान्न दोषः। **एतेन** प्रवर्त्तकत्वाभ्युपगमेऽस्याः श्रवणाभिमुख्यप्रयोजकभाषात्वलक्षणासत्त्वेनाऽसत्यामृषात्वमेव विलीयेतेति कुचोद्यं **निरस्तम्** विशेषनिषेधेऽपि सामान्यप्रवृत्तौ विरोधाभावात्। न हि नीलघटनिषेधे कृते घटसामान्यसत्त्वे विरोधं प्रतियन्ति विद्वांसः। **प्रकृतलक्षणमेवेति**। प्रथमं तु न पारिभाषिकं लक्षणमिति ध्येयम्।

✱ आमंत्रणी असत्यमृषा भावभाषा १/४ ✱

विवरणार्थ :- संबोधनयुक्त भाषा आमन्त्रणी भाषा है ऐसा जो कहा गया है इसमें संबोधन का अर्थ है - हे, ओ, भो इत्यादि शब्द। संस्कृतभाषा में ये शब्द संबोधनवाचक कहे जाते हैं। यदि वक्ता 'हे देवदत्त!' इतना सम्बोधन कर के ही आगे कुछ न बोले, तब श्रोता को तुरंत ही अवधान=श्रवणाभिमुखता होती है जिससे 'यह मुझे क्यों आमंत्रण देता है = पुकारता है?' इस प्रश्न की हेतुभूत जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यहाँ अवधान शब्द से ऐसा अर्थ अभिप्रेत है। प्रदर्शित अवधान=श्रवणाभिमुखता का जनक होने से इस भाषा को आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि सम्बोधनपदघटित भाषा यह आमन्त्रणीभाषा का प्रथम लक्षण है और दूसरा लक्षण यह है कि श्रवणाभिमुखताप्रयोजक भाषात्व।

---

१ संबोधनयुक्ता याऽवधानं भवति यां च श्रुत्वा। आमंत्रणी चैषा प्रज्ञप्ता तत्त्वदर्शिभिः।।७२।।

अस्याश्चाऽसत्यामृषात्वे हेतुत्रयमुक्तम् एषा किलाऽप्रवर्त्तकत्वात्, सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतः तथाविधदलोत्पत्तेरिति (दशवै. अ. ७/नि.गा. २७६ हा.वृ.)। तत्राऽऽद्यहेतौ प्रवृत्तिपदेन सत्यादिजन्यप्रवृत्तिविशेषो ग्राह्यः। द्वितीये तु प्रकृतलक्षणमेव। तृतीये तु भाषावर्गणाविशेषजन्यत्वमेतल्लक्षणमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम्।।७२।। उक्ताऽऽमन्त्रणी १। अथ आज्ञापनीमाह

आणावयणेण जुआ, आणवणी पुव्वभणिअभासाओ।
करणाकरणाणियमादुट्ठविवक्खाइ सा भिण्णा[२]।।७३।।

तृतीय इति। समवायिकारणस्योपादानकारणस्य वा दलपदार्थत्वं मनसिकृत्य व्याख्यानयति **भाषावर्गणाविशेषजन्यत्वमिति**। सत्यादित्रयभाषावर्गणाविलक्षणभाषावर्गणाजन्यत्वमिति यावत्। **न चै**तत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्, तदुक्तं ***प्रज्ञापनायां*** "जीवे णं भंते! जाइं दव्वाइं मोसभासत्ताए गिण्हति ताइं किं सच्चभासत्ताए निसरति, मोसभासत्ताए, सच्चामोसभासत्ताए, असच्चामोसभासत्ताए निसरइ? गोयमा! नो सच्चभासत्ताए निसरति, मोसभासत्ताए निसरति, णो सच्चामोसभासत्ताए, णो असच्चामोसभासत्ताए निसरति। एवं सच्चामोसभासत्ताए वि असच्चामोसभासत्ताए वि एवं चेव। (प्रज्ञा. पद ११/सू. १७२) इदमेवाभिप्रेत्य ***शास्त्रवार्त्तासमुच्चये***ऽप्युक्तम्- 'वन्ध्येतरादिको भेदो रामादीनां यथैव हि। मृषासत्यादिभेदानां तद्वत्तद्धेतुभेदतः।। (शा.स.स्त. ११/श्लो. १६) अन्त्यहेतुद्वयं चाज्ञापन्यादावप्यनुसन्धेयम्।।७२।।

*** आमन्त्रणी भाषा में असत्यामृषाभाषात्व के तीन हेतु ***

अस्याश्च. इति। आमन्त्रणी भाषा असत्यामृषा है, सत्यादिरूप नही - इस सम्बन्ध में श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराजा ने श्रीदशवैकालिकसूत्र की व्याख्या में कहा है कि यह भाषा असत्यामृषा है, क्योंकि (१) यह भाषा अप्रवर्त्तक है (२) सत्यादि तीन भाषा के लक्षण से रहित है और (३) तथाविध उपादान कारण से यानी विलक्षण उपादान कारण से उत्पन्न होती है। यहाँ जो प्रथम हेतु बताया गया है उसका अर्थ यह अभिप्रेत है कि सत्यादि तीन भाषा से जन्य प्रवृत्ति की यह भाषा अप्रयोजक है। आशय यह है कि अप्रवर्त्तक पद का 'प्रवृत्तिमात्र की अप्रयोजक' ऐसा अर्थ यहाँ इष्ट नहीं है, क्योंकि यह भाषा श्रोता में श्रवणाभिमुखतारूप प्रवृत्ति की प्रयोजक है ही। अतः प्रवर्त्तक का अर्थ है प्रवृत्तिविशेष का अप्रयोजक यानी सत्य इत्यादि तीन भाषा से जन्य प्रवृत्तिविशेष की अप्रयोजक होने से यह भाषा असत्यामृषाभाषास्वरूप है। दशवैकालिकसूत्र की टीका में जो दूसरा हेतु बताया गया है कि आमन्त्रणी भाषा सत्यादि तीन भाषा के लक्षण से रहित है - यह तो यहाँ असत्यामृषाभाषा के प्रथमलक्षण सत्यादिभाषात्रयविलक्षणभाषात्वरूप ही है। अंतिम और तृतीय हेतु यह बताया है कि 'तथाविधदलोत्पत्तेः', इसका अर्थ यह है कि भाषावर्गणाविशेष से यह भाषा उत्पन्न होती है। आशय यह है कि सत्यभाषा की जनक भाषावर्गणा अलग होती है, असत्यभाषा की उत्पादक भाषावर्गणा अलग होती है, सत्यामृषा भाषा की सर्जक भाषावर्गणा अलग होती है और असत्यामृषा भाषा की कारणीभूत भाषावर्गणा अलग होती है। जो भाषावर्गणा सत्यभाषा को उत्पन्न करती है उससे असत्यादि भाषा उत्पन्न नहीं होती है। जो भाषावर्गणा सत्यादिभाषा की जनक होती है, उससे आमन्त्रणी भाषा की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु भिन्न भाषावर्गणा से आमन्त्रणी भाषा का जन्म होता है। अतः कारणभेद की दृष्टि से भी आमन्त्रणी भाषा सत्यादि तीन भाषास्वरूप नहीं हैं, किन्तु उनसे विलक्षण ही है - यह सिद्ध होता है। यह भी असत्यामृषा भाषा के लक्षणरूप से अभिप्रेत है यह जानना चाहिए।।७२।।

आमन्त्रणी भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार आज्ञापनी भाषा को, जो कि असत्यामृषा भाषा का दूसरा भेद है, ७३ वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- आज्ञावचन से युक्त भाषा आज्ञापनी भाषा है। करण और अकरण के अनियम से और अदुष्टविवक्षा से जन्य होने से पूर्वप्रदर्शित (सत्यादि तीन) भाषाओं से यह भिन्न है।७३।

---

१ किमामन्त्रयसीति-मुद्रितप्रतौ।

२ आज्ञावचनेन युता आज्ञापनी पूर्वभणितभाषातः। करणाकरणानियमादुष्टविवक्षया सा भिन्ना।।७३।।

आज्ञावचनं=अकरणस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वाभिधायकं करणवचनं पञ्चम्यादिकं, तेन **युक्ता**=सहिता **आज्ञापनी** यथा 'इदं कुरु' इति।

नन्वस्याः कथं सत्यादिभेदः? इत्याचक्षते आह-'**पूर्वभणितभाषातः करणाकरणानियमाऽदुष्टविवक्षातः सा भिन्नेति**। अयं भावः करणनियमे सत्यैवेयं स्यात्, अकरणनियमे तु मृषैव स्यादित्युभयाऽनियमादुभयातिरेकः, दुष्टविवक्षापूर्वकत्वाभावाच्च मृषातिरेकः

बलवदनिष्टेति। करणे यावदनिष्टं ततोऽधिकतरानिष्टावहत्वाभिधायकमिति। ततश्च भयप्रयोज्यप्रवृत्तिजनकेच्छा-प्रयोजकभाषात्वमितिलक्षणं प्राप्तं। यत्राऽऽज्ञादानेऽपि तदकरणे आज्ञाप्यस्य न प्रत्यवायः न सा परमार्थत आज्ञापनी यथा कश्चित् 'त्वमद्यैकाशनं कुरु' इत्यादि। तदकरणे प्रत्यवायश्च लौकिकदृष्ट्या ज्ञेयः तेन क्वचिदाज्ञाप्येनेष्टा-पत्तितया तदङ्गीकरणेऽपि न तत्क्षतिः। प्रज्ञापन्यतिव्याप्तिवारणार्थं 'भयप्रयोज्ये'त्युक्तम्। **न च** प्रतिषेधकप्रज्ञापन्या-मतिव्याप्तिरिति **वाच्यम्** आज्ञापकसकाशादापत्स्यमानप्रत्यवायनिमित्तकत्वस्य भयविशेषणत्वात्। प्रवृत्तिरित्युपलक्षणं निवृत्तेः तेन न निवर्त्तकाज्ञापन्यामव्याप्तिः। इदं च लक्षणं छद्मस्थाऽऽज्ञापकभाषाऽपेक्षयाऽवगन्तव्यम्। तेन केवल्या-ज्ञापन्या असङ्ग्रहेऽपि न क्षतिरित्यादि निपुणतरं निभालनीयम्। **पञ्चम्यादिकमिति। सिद्धहेमशब्दानुशासन** आज्ञार्थ-प्रत्यये पञ्चमी सञ्ज्ञाकृता। तेन पञ्चम्यादिकमित्युक्तम्। आदिपदेन लोटादिग्रहणम् **पाणिनीये**ऽत्र लोट्सञ्ज्ञायाः परिभाषितत्वात्। अनेन सान्वर्थतोक्ता 'आज्ञाप्यते = आज्ञासम्पादने प्रयुज्यतेऽनया सा आज्ञापनी' (प्रज्ञा. ११/सू. १६२ वृ.) इति ***श्रीमलयगिरिसूरि***वचनात्।

सत्यादिभेद इति। सत्याऽसत्या-सत्यामृषाऽन्यतमप्रतियोगिताकभेदवत्त्वमाज्ञापन्याः कथं? वैलक्षण्याभावादिति नन्वाशयः। श्रीहरिभद्रसूरिप्रदर्शिताज्ञापनीवैलक्षण्यप्रदर्शनेन समाधत्ते **पूर्वभणितभाषातः** = पूर्वभणितसत्यादिभाषात इति। **सत्यैवे**ति। इयं भाषाऽऽज्ञासम्पादनक्रियायुक्ताभिधायिनी आज्ञाप्यमानश्च स्त्र्यादिस्तथा कुर्यादेवेतिनियम-स्वीकारेऽस्यास्सत्यत्वमेव स्याद् विसंवादाभावादिति भावः। **मृषैवेति**। आज्ञाप्यमानः स्त्र्यादिस्तथा नैव कुर्यादिति-नियमस्वीकारेऽस्या मृषात्वमेव स्याद् विसंवादित्वात्, आज्ञासम्पादनक्रियावियुक्ते आज्ञासम्पादनक्रियायुक्तत्वा-भिधानादिति यावत्। **उभयानियमादिति** करणाकरणानियमादिति। **उभयातिरेक** इति सत्यासत्यातिरेक इति। अयं भावः करणाकरणान्यतरनियमेऽस्या अन्यतरप्रवेशः स्यादेव परन्त्वन्यतरनियम एव नास्ति, उभयभावात्। न हि घटपटोभयाभावे सति घटपटान्यतरः सम्भवति। निश्चयनयानुगृहीतव्यवहारनयाभिप्रेतं मृषात्वं निरसितुं हेत्वन्तरमाह **दुष्टविवक्षापूर्वकत्वाभावाच्चेति**। न ह्याज्ञापनीत्वावच्छिन्ने दुष्टविवक्षाजन्यत्वनियमोऽस्ति, अदुष्टविवक्षाजन्याज्ञा-

✱ आज्ञापनी भाषा - २/४ ✱

विवरणार्थ :- आज्ञावचन से युक्त भाषा आज्ञापनी है - ऐसा जो यहाँ बताया गया है इसमें आज्ञावचन का अर्थ है करणवचन, जिसके लिए सिद्धहेमव्याकरण में कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्रसूरिजी महाराजा ने 'पञ्चमी' ऐसी संज्ञा दी है। पाणिनीकृत व्याकरण में इसके लिए 'लोट्' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। करणवचन का अर्थ यह है कि जिसका अकरण=अपालन बलवान् अनिष्ट का अनुबन्धी होता है। अर्थात् जिसको आज्ञा की जाती है उसको आज्ञावचन = करणवचन के अपालन के निमित्त से अनिष्ट की प्राप्ति होती है। जैसे कि 'तुम यह काम करो' ऐसा राजा या अधिकारी का वचन आज्ञावचन है। आज्ञाप्य; जिसको आज्ञा की गई है, यदि आज्ञा का पालन न करे तब उसे बलवान् अनिष्ट की प्राप्ति होती है।

शंका :- *न.* इति। आज्ञापनी भाषा किसे कहते हैं? यह तो सब को मालुम ही है। मगर आज्ञापनी भाषा का असत्यामृषा के विभाग में समावेश क्यों किया गया है? आज्ञापनी भाषा में सत्यादि भाषा से क्या विलक्षणता है जिसके कारण उसका असत्यामृषा भाषा के विभाग में प्रवेश किया गया? इसका समाधान नहीं होता है।

✱ आज्ञापनी भाषा व्यवहारनय से न सत्य है, न मृषा ✱

समाधान :- ***पूर्व.*** इति। भाई साहब! हम यह भी बताते ही हैं, मगर इतनी जल्दी क्या है? अधीरता को छोड दो और हमारी

सत्यामृषात्वप्रतिषेधस्त्वप्रसक्तत्वादेव न कृत इति।

नन्वाज्ञाविषये आज्ञां ददतः कथं न सत्यवादित्वं? श्रोतुः प्रवृत्त्यभावस्य निमित्तान्तराद्यधीनत्वादिति **चेत्? न** प्रवर्त्तकादप्रवृत्तौ

पन्यानुपलब्धेः। **एतेना**ऽकरणे प्रत्यवायजनकत्वेन सद्भ्योऽहितत्वाज्ञापन्या असत्यत्वमिति **प्रत्युक्तम्** व्यवहार-सम्मतमृषात्वप्रयोजकविरहात्। **नन्वस्याः** सत्यामृषायामेवान्तर्भावो भवतु सत्यामृषात्वस्याऽप्रतिषिद्धत्वादित्या-शङ्कायामाह **सत्यामृषात्वप्रतिषेधस्त्वप्रसक्तत्वादेव न कृत** इति। एकदेशसंवादविसंवादाभावेन सत्यामृषात्व-स्याऽप्राप्तत्वादेवाऽप्रतिषिद्धत्वमित्याशयः। **एतेन** कस्याश्चिदाज्ञापन्याः संवादस्याऽन्यस्या विसंवादस्य चोपलब्धेराज्ञा-पन्याः सत्यामृषात्वमिति मुग्धप्रलापः **परास्तः** प्रत्येकमांशिकसंवादविसंवादरूपस्य सत्यामृषान्तर्भावनिमित्तस्याऽभावात्। **एतेन** अनिषिद्धमनुमतं भवतीति **निरस्तम्** अनिषिद्धं सर्वथा निषिद्धमित्यस्याऽपि जागरूकत्वात्, शास्त्रस्य प्रसक्त-प्रतिषेधकत्वाच्च। न ह्यप्रसक्तं शास्त्रेण प्रतिषिध्यते अन्यथा गगनभक्षणादिप्रतिषेधस्याऽपि कर्त्तव्यत्वप्रसङ्गात्।

विनीतस्त्र्यादिविनेयजनविषयाया अस्याः सत्यत्वमेव स्वविषयविषयकत्वादित्याशयेन कश्चित्शङ्कते-**नन्विति**। **आज्ञाविषये** = आज्ञापयितुमर्हे। ननु कदाचिद् विनेयजनेनाऽऽज्ञायामसम्पादितायामाज्ञापन्या असत्यत्वं स्यात् विवक्षि-तकार्यप्रसाधन-सामर्थ्यवियुक्तत्वादित्याशङ्कायामाह **श्रोतुः प्रवृत्त्यभावस्य निमित्तान्तराद्यधीनत्वादिति**। आज्ञाप्यप्र-

---

बात सुनो। सत्यादि भाषा से आज्ञापनी भाषा विलक्षण=भिन्न होने के दो कारण हैं। प्रथम हेतु है करण और अकरण का अनियम और दूसरा हेतु है अदुष्टविवक्षापूर्वकत्व। करण और अकरण के अनियमरूप प्रथम हेतु को बताने का आशय यह है कि यदि करणनियम हो तब तो आज्ञापनी भाषा सत्य ही हो जाती और अकरणनियम हो तब असत्य ही हो जाती। करणनियम का अर्थ है जिसका पालन अवश्य करना ही पडे। यदि आज्ञापनी भाषा का पालन किया ही जाय ऐसा हो, तब तो इस दुनिया में किसीको जैल या फाँसी की सजा ही न होगी क्योंकि 'चोरी मत करना, खून मत करना' इत्यादि राजकीय आज्ञा है ही। मगर ऐसा नहीं है इससे सिद्ध होता है कि आज्ञापनी भाषा में करणनियम नहीं है। आज्ञा के अपालननिमित्त सजा हो वह बात अलग है। यदि करणनियम होता तब तो आज्ञापनी भाषा संवादी हो जाने से सत्य ही बन जाती। मगर करणनियम नहीं है। अतः आज्ञापनी भाषा सत्यभाषा नहीं है किन्तु उससे भिन्न है - यह सिद्ध होता है। वैसे ही अकरणनियम भी नहीं है। अकरणनियम का अर्थ है जिसका पालन होगा ही नहीं। आज्ञापनी भाषा में अकरणनियम मानने पर यह अर्थ प्राप्त होगा कि आज्ञापनी भाषा ऐसी है कि उससे जो आज्ञा होती है उसका पालन होनेवाला ही नहीं है। तब तो यह भाषा विसंवादी होने से मृषा ही बन जायेगी। मगर ऐसा अकरणनियम भी आज्ञापनी में नहीं है, क्योंकि अनेक मनुष्य आज्ञा का संपादन करते हैं - ऐसा देखा जाता है। यदि अकरणनियम को मान्यता दी जाय तब तो भारी अव्यवस्था हो जायेगी। अतः करण और अकरण के अनियम से आज्ञापनी भाषा न तो सत्य है और न तो मृषा है किन्तु अतिरिक्त है - यह सिद्ध होता है। आज्ञापनी भाषा मृषा नहीं है - इसकी सिद्धि का दूसरा हेतु है दुष्टविवक्षापूर्वकत्वाभाव। अर्थात् आज्ञांकित पुरुष आदि को आज्ञा देने में वक्ता का कोई दुष्ट अभिप्राय नहीं होता है। क्या कोई यह कह सकता है कि 'चोरी मत करो' इस आज्ञा के प्रयोग में राजा का दुष्ट आशय होता है? यदि दुष्ट विवक्षा से आज्ञापनी भाषा का उद्भव हो तब तो आज्ञापनी भाषा में असत्यत्व हो सकता है। मगर सब आज्ञापनी भाषा में दुष्टअभिप्राय प्रयुक्तत्व नहीं होता है। अतः आज्ञापनीमात्र का असत्य भाषा में प्रवेश नहीं हो सकता है। यहाँ तो सब आज्ञापनी भाषा का किस भाषा में अंतर्भाव करना? यह बताना अभिप्रेत है। आज्ञापनी भाषा सत्यामृषा नहीं है - ऐसा निषेध करने की या तो इस निषेध में कोई हेतु बताने की जरूरत नहीं है, क्योंकि आज्ञापनी भाषा में आंशिक संवाद और आंशिक विसंवाद न होने से सत्यामृषात्व की शंका भी किसीको नहीं होती है। जो अप्राप्त=अप्रसक्त है उसका निषेध शास्त्र नहीं करता है। यहाँ तक के विवेचन से यह निःसंदिग्ध सिद्ध होता है कि आज्ञापनी भाषा सत्यादि तीन भाषा स्वरूप नहीं है किन्तु सत्यादि तीन भाषा से विलक्षण भाषा है। अतएव असत्यामृषा भाषा के लक्षण से आक्रांत होने से आज्ञापनी का असत्यामृषा भाषा में प्रदर्शन करना युक्तिसंगत ही है।

शंका :- ***'नन्वाज्ञा.'*** इति। जो विनीत है - आज्ञांकित है, अतएव आज्ञा का विषय है = आज्ञा देने योग्य है उसको आज्ञा देने पर वक्ता सत्यवादी क्यों न बनेगा? विनीत को आज्ञा करने पर वह आज्ञापालन करता है - यह सर्वजनविदित है। कभी कभी

परमार्थतोऽसत्यत्वात्, आज्ञाप्यस्य तथात्वाऽनिर्णये [1]भावभाषात्वनियामकसम्यगुपयोगानिर्वाहाच्चेतिदिग् २।।७३।। उक्ताऽऽज्ञापनी साम्प्रतं याचनीमाह

वृत्त्यभावस्य विविक्षतकार्यसम्पादनसामग्रीविघटक-विस्मरणादिरूप-निमित्तान्तरप्रयोज्यत्वं न त्वाज्ञापनीवृत्तिमृषात्व-प्रयोज्यत्वमित्यर्थः। आज्ञाप्यप्रवृत्तेः सत्यत्वव्यापकत्वाभावेन न तदभावात् तदभावसिद्धिः अन्यथा चन्द्रकान्तमणि-समवधानदशायां वह्नेरदाहकत्वेनाऽवह्नित्वं प्रसज्येतेति गम्भीरो नन्वाशयः।

नन्वाज्ञाप्यस्याऽऽज्ञाविषयत्वं निर्णीयाऽऽज्ञा दीयते यदुतैवमेव? इति करालविकल्पयुगलकामुककुट्टिनीकटु-कटाक्षविक्षेपाक्षेपविक्षेपितो भवदुपन्यस्तपक्षो मनीषितस्वार्थसिद्धिसौधमध्यं कथमध्यारोहति? तथाहि यदि प्रथमो विकल्पः समाश्रीयते तदा तत्रापि आज्ञापन्या अप्रवर्त्तकस्वभावोऽङ्गीक्रियते प्रवर्त्तकस्वभावो वा? इति अप्रमत्त-विकल्पद्वयभारण्डपक्षिप्रचारः कथङ्कारं निवारणीयः? आद्ये तु प्रवृत्तिनिमित्तशून्ये पदप्रयोगादुन्मत्तप्रलापदोषकेसरि-किशोरकापातगलितगतिर्हस्तिनीपतिः सत्यत्वसिद्धिप्राणप्रणियनीप्रथियस्तरप्रीतिपथावितथातिथ्याभ्यर्थनासामर्थ्यं कथं समर्थयिष्यति? द्वितीये तु विवरणकारः प्राह **प्रवर्त्तकादप्रवृत्ताविति। एतेन** प्रवृत्त्यभावस्य निमित्तान्तराद्यधीनत्वादिति **निरस्तम्,** आज्ञापन्याः प्रवर्त्तकस्वभावे सति बलात्प्रवृत्तिः स्यात् स्वभावस्य त्याजयितुमशक्यत्वात् अन्यथाऽभव्यानामपि कदाचिन्मुक्तिः प्रसज्येत।

मौलद्वितीयविकल्पे प्राह **आज्ञाप्यस्य तथात्वाऽनिर्णय** इति। अयमाज्ञाप्यः स्त्र्यादिजन आज्ञां सम्पादयिष्यत्येवेति निर्णयेऽसति। **भावभाषात्वनियामकसम्यगुपयोगाऽनिर्वाहाच्चेति**। उवउत्ताणं भासा (भा.र.गा. १३-पृ. ४६) इत्यादिना प्रतिपादितस्य भावभाषात्वनियामकस्य 'अयमाज्ञां सम्पादयिष्यत्येव, इत्थमेव दीयमानाऽऽज्ञा सफलीभविष्य-ती'त्यादिसम्यगुपयोगस्याऽसत्त्वाच्चेति। **एतेन** आज्ञाप्यस्य तथात्वमनिर्णीयैवाऽऽज्ञाविषयेऽप्याज्ञां ददतः सत्यवादित्वा-भावो **ध्वनितः** सम्यगुपयोगस्याऽसत्त्वाच्च। सम्यगुपयोगपूर्वकत्वाभावाद् भावभाषात्वमेव नास्ति कुतस्तरां सत्यत्व-सम्भवः? एवं व्यापकाऽभावेन व्याप्याभावसिद्धिः। न हि द्रव्यत्वाभाववति पृथ्वीत्वादिकल्पनां कलयन्ति कुलीनाः।

ननु प्रथमहेतौ परमार्थतोऽसत्यत्वादित्युक्तं द्वितीये चाऽर्थतो द्रव्यभाषात्वमित्यनयोः कथं न विरोधः? द्रव्यभाषात्व-

विनीत को आज्ञा देने पर भी प्रवृत्ति न हो, आज्ञापालन न हो वह तो आज्ञाप्य की विस्मरणशीलता आदि अन्य निमित्त के अधीन होने से उपपन्न हो सकता है। मगर इसके कारण आज्ञापनी भाषा को सत्य न बताना और विनीत को आज्ञा देनेवाले वक्ता को सत्यवादी न कहना - यह कैसे समुचित है? प्रवृत्ति का अभाव अर्थात् आज्ञापालन का अभाव आज्ञापनी भाषा में रहे हुए सत्यत्वाभाव से प्रयुक्त नहीं है, किन्तु अन्य निमित्त से प्रयुक्त है। अतः आज्ञापनी भाषा के वक्ता को सत्यवादी ही कहना चाहिए।

* आज्ञापनी में असत्यामृषात्व के समर्थक दो हेतु *

समाधान :- ***न, प्रवर्त्तकात्.*** इति। आपने तो बडे भारी सत्याग्रह का प्रारंभ कर दिया। मगर वह सत्याग्रह नहीं है, असत्याग्रह=कदाग्रह है। इसका कारण यह है कि आज्ञापनी भाषा अन्य को प्रवृत्ति कराने के उद्देश से प्रयुक्त होने से प्रवर्त्तक वचन है। अतः उससे अवश्य प्रवृत्ति होनी ही चाहिए। यदि आज्ञावचन प्रवर्त्तक हो, फिर भी उससे प्रवृत्ति न हो तब तो वह परमार्थ से असत्य ही बन जायेगा, क्योंकि वह विसंवादी बन जाता है। अतः आज्ञापनी को सत्य मानने पर विस्मरणशीलतादि अन्य निमित्त होने पर भी प्रवृत्ति होने की आपत्ति आयेगी।

आज्ञाप्यस्य. इति। इससे अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि 'मैं जिसको आज्ञा कर रहा हूँ वह आज्ञापालन करेगा या नहीं?- यह विचारविमर्श करने के बाद जब यह निर्णय हो जाये कि - मैं जिसको आज्ञा दे रहा हूँ वह आज्ञापालन करने की परिस्थिति मैं है और वह आज्ञापालन करेगा ही तभी आज्ञांकित विनेय पुरुषादि को आज्ञा करनी चाहिए, क्योंकि उपर्युक्त निर्णय भावभाषात्व का नियामक होता है। यदि वैसा निर्णय न हो तब तो वह भाषा भाव भाषा ही न बनेगी तब वह सत्य तो कैसे हो सकेगी? क्योंकि सत्यभाषा भावभाषा के एक अवान्तरभेदस्वरूप ही है। अतः 'आज्ञाप्य आज्ञापालन करेगा ही' ऐसा निर्णय न होने पर जो आज्ञा दी

१ योगनिर्वाहाच्चेति - मुद्रितप्रतौ पाठोऽशुद्धः।

¹सा जायणी य णेया, जं इच्छियपत्थणापरं वयणं। भत्तिपउत्ता एसा, विणावि विसयं गुणोवेया।।७४।।

यत् ईप्सितस्य = स्वेच्छाविषयस्य **प्रार्थनापरं** = याचनप्रवणं, **वचनं** 'मम भिक्षां प्रदेही' त्यादिरूपं, **सा याचनी ज्ञेया। चः** समुच्चये।

स्याऽसत्यत्वाद्यभावव्याप्यत्वादिति **चेत्, मैवम्** आज्ञापन्या अकरणे प्रत्यवायजनकत्वेनाकरणदशायामाज्ञाप्यं प्रत्यहितावहत्वेनैवम्भूतनयाभिप्रायेण यद्वा विसंवादित्वेन नयान्तराभिप्रायेणाऽसत्यत्वस्योक्तत्वात्। अत एवाऽविनीतेभ्य आज्ञादानस्य तत्र तत्र बहुशो निषिद्धत्वमुपपद्यते। **न च** करणदशायां सत्यत्वं स्यात् सद्भ्योऽहितावहत्वाभावादिति **वाच्यम्,** तथापि आज्ञापनीत्वावच्छिन्नायां सत्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, करणानियमस्योक्तत्वात्। द्वितीयहेतौ तु 'अनुपयोगो द्रव्यमि'ति परिभाषयाऽऽज्ञापनीत्वसामानाधिकरण्येन पारिभाषिकं द्रव्यभाषात्वमुक्तमिति न विरोधः परिभाषायाः परिभाषान्तरविरोधाभावात्। **न चैवं** सत्यसत्यामृषात्वमपि न स्यात् भावभाषत्वरूपव्यापकस्याभावेन द्रव्यभाषात्वोन्नीतेन व्याप्याभावसिद्धेरिति **वाच्यम्,** नयविशेषाभिप्रायेण तथाऽभिमतत्वात् यद्वा सम्यगुपयोगविशेषपूर्वकत्वाभावेऽपि 'मयेदमित्थं भाषितव्यम्, इत्थमेव भाष्यमाणं 'अहमनेनाऽत्र नियुक्तोऽस्मि' इत्यादिश्रोतृपरिज्ञानाय भविष्यती'त्यादिसम्यगुपयोगसामान्यपूर्वकत्वेन भावभाषात्वमपि न विरुध्यते सम्यगुपयोगाऽनिर्वाहस्य चात्र नयविशेषाभिप्रायेण विवरणकृता प्रोक्तत्वात्, नयज्ञानस्य नयान्तरजन्यज्ञानाऽप्रतिबन्धकत्वादित्यादिगहनतमभावप्रदर्शनार्थां **दिगित्युक्तम्**।।७३।।

याचनप्रवणमिति। स्वोद्देश्यकदानेच्छापरकवचनरूपयाचनीभाषाघटकीभूतस्य दानस्य स्वरूपं मनाग्मीमांसामहे।

तत्र 'हस्ताद्धस्तान्तरार्पणं दानमि'ति **केचित्, तन्मन्दम्**, क्षेत्रदानादावव्याप्तेः, अर्पणपदार्थनिर्वचने आत्माश्रयदोषदुष्टदन्दशूकदष्टत्वाच्च। 'परस्वत्वोत्पादनानुकूलव्यापारो ददात्यर्थ' **इत्यपरे,** तदप्यविचारितरमणीयम्, परकीयधनादिविनियोगगजेऽतिव्याप्तिकोपप्रकम्पप्रोच्छलदतुच्छहनूमल्लोललाङ्गुलास्फोटप्रकटितोत्कटभूमण्डलाकम्पपञ्चाननकलितत्वात्। **अत एव** पराभीष्टसम्पादनानुकूलव्यापारो दानमिति मुग्धवचनमपि **प्रत्युक्तम्,** अनिष्टवस्तुविषयकदानादावव्याप्तिकण्ठपीठनिविष्टनिर्लज्जकुट्टिनीकटाक्षितत्वाच्च।

स्यादेतत् स्वस्वत्वनिवृत्त्यनुकूलव्यापारो दानमिति। **नैतद्** युक्तम्, वित्तादिविनाशपित्रादिमरणादावतिव्याप्तिसमुद्धतबन्धुकीसम्पर्ककलङ्कपङ्कपङ्किलत्वात्।

स्वस्वत्वनिवृत्तिप्रकारिकेच्छैव दाधात्वर्थ' इत्यपि **न सम्यग्,** 'अनलादिभिर्मदीयं वित्तादि नश्यतामि'त्याद्याकारिकायामिच्छायामतिव्याप्तिपिशाचदुःसञ्चारपुरस्कृतत्वात्। 'गोहिरण्यादीनां स्वकीयानां मूल्यग्रहणं विना शास्त्रोक्त-

---

जाती है वह भाषा सत्य नहीं है - यह सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में अधिक विचार किया जा सकता है। यह तो एक कुँजीमात्र है ऐसी सूचना देने के लिए विवरणकार ने यहाँ दिग् शब्द का प्रयोग किया है।।७३।।

आज्ञापनी भाषा का संक्षेप से निरूपण पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार क्रमप्राप्त याचनीभाषा का, जो कि असत्यामृषा भाषा का तृतीय भेद है, ७४ वीं गाथा से निरूपण कर रहे हैं।

गाथार्थ :- इच्छित वस्तु की प्रार्थना में तत्पर भाषा याचनी भाषारूप से ज्ञातव्य है। भक्ति से प्रयुक्त यह भाषा विषय के बिना भी गुणयुक्त है।७४।

* याचनी भाषा - ३/४ *

विवरणार्थ :- अपनी इच्छा के विषयभूत इष्ट पदार्थ की याचना में तत्पर वचन याचनीभाषारूप से ज्ञातव्य है जैसे कि 'मुझे भिक्षा दीजिये' इत्यादि प्रार्थनापरक वचन। यहाँ जो च शब्द है वह समुच्चय यानी अन्य पदार्थ के संग्रह के लिए प्रयुक्त है। वही आगे बताया जाता है।

---

१ सा याचनी च ज्ञेया यदीप्सितप्रार्थनापरं वचनम्। भक्तिप्रयुक्तैषा विनाऽपि विषयं गुणोपेता।।७४।।

[1]**नन्वियमविषयेऽसत्यैव** यथाऽविनीतादावाज्ञापनी। एवञ्च रागाद्यभावेन किञ्चिदपि कस्यचिददततः तीर्थंकरान् प्रति। आरूग्ग-

वर्त्मना स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानमिति' **जरन्नैयायिका** आहुः। **तदसमीचीनम्,** अन्यायोपार्जितवित्तादिदानस्याऽतथात्वात्। **न च** तत्र भाक्तो दानपदार्थ इति **वाच्यम् तथापि** विद्यादिदानेऽव्याप्तिदोषविडम्बना निबिडं भवन्तं निपीडयन्ति न कथमपि विगमारामसम्मुखीनं मनो विरचयति। न हि विद्यादिदानाद्विद्यादौ स्वस्वत्वं विनश्यति, प्रत्युत प्रगुणीभवति। 'व्यये कृते वर्द्धते नित्यमेव विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्'।। इति किं नाकर्णितं सकलप्रवीण-प्रामाणिकश्रेणिशिरोमणीयमानैः तत्रभवद्भिर्भवद्भिः? उद्धारविक्रये चातिव्याप्तिबुभुक्षितराक्षसी न कथमपि पराकर्तुं शक्येति (ग्रन्थाग्रम् - ५००० श्लोक) ध्येयम्।

स्वस्वत्वध्वंसविशिष्टपरस्वत्वानुकूलेच्छा दाधात्वर्थ इति **नव्यनैयायिका** व्याचक्षते। **तन्न मनोरमं** एवं सति दातृदत्ते सत्यप्यस्वीकारदशायामव्याप्तिक्षितिः क्षितिपतिनाऽपि रक्षितुं न क्षमीभूयते। किञ्च बोधिदानादावव्याप्तिरप्यप्रतिकार्या। **न च** बोधिदानं दानमेव न भवतीति मिथ्यात्वविषोद्गार **उद्गीरणीयः**, परमार्थतः तस्यैव दानरूपत्वात्। तदुक्तं ***जयानन्दकेवलिचरित्रे*** -

बोधिदानात्परं दानं नास्त्येव दत्तया यया। सर्वसौख्यश्रियां पात्रं भवेच्छिवपदावधि।। (ज.के.पृ. १५१)

वयं तु ब्रूमः मूल्यग्रहण-तत्प्रागभावोभयाभावविशिष्टपरस्वत्वोत्पादनोद्देश्यकाभ्रान्तव्यापारो दानमिति। विक्रय-वस्तु-परावर्त्तनादावतिप्रसङ्गनिराकरणाय मूल्यग्रहणेति अभावविशेषणम्। उद्धारविक्रयेऽतिप्रसङ्गावारणार्थं तत्प्रागभावेति द्वितीयमभावविशेषणम्। **न चै**वमपि विक्रयादावतिप्रसङ्गतादवस्थ्यम् 'एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति इति न्यायेन मूल्यग्रहणे सत्यपि मूल्यग्रहणतत्प्रागभावोभयत्वावच्छिन्नाभावस्याऽक्षतत्वादिति **वाच्यम्** द्वित्वेनोपस्थितयोर्मूल्यग्रहण-तत्प्रागभावयोः प्रत्येकं निषेधान्वयविवक्षणात् यद्वाऽस्तु मूल्यग्रहणतत्प्रागभावप्रतियोगिकाभावद्वयविशिष्टपरस्वत्वोत्पादनोद्देश्यकाभ्रान्त-व्यापारो दानमिति स्पष्टव्याख्यानम्। धनपतन-पित्रादिमरणादावतिव्यापकतापराकरणाय 'उद्देश्यके'ति व्यापार-विशेषणम्। **न च** तादृशव्यापारविशिष्टतादृशाभावो दानमिति कथं न स्याद् विनिगमनाविरहादिति **वाच्यम्** दानस्य भावरूपत्वात्, अन्यथा तुच्छत्वप्रसङ्गात्। ततश्च यथोक्तमेव सम्यग्। अत एव घ्नतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददातीत्यादावपोह्यते चतुर्थी वैयाकरणविचक्षणैः, व्यापारे तादृशोद्देश्यकत्वस्य प्रच्यवात्। न वा दत्तेऽप्यप्रतिग्रहदशायां दानमहासत्याः प्राणहत्यापापारोपशिरःकलङ्कः परस्वत्वानुत्पादेऽपि व्यापारे परस्वत्वोत्पादोद्देश्यकत्वस्यानपायात्। तच्च स्वत्वं धर्माविरोधिस्वभोगसाधनत्वरूपं ***अध्यात्ममतपरीक्षावृत्युक्तं*** ग्राह्यम्। तेन बोध्यभयविद्याशरणधर्मोपदेशाचार्यादिपददेशावग्रहसाधुवसतिदानादौ नाऽव्याप्तिदुर्ललनासङ्गतिमालिन्यं न वा परकीयधनादिविनियोगस्थलेऽति-प्रसङ्गमातङ्गस्पर्शपातकम्, तादृशस्वत्वोत्पादोद्देश्यकत्वविरहादिति। न वाऽनाभोगतः परकीयवित्तादिविनियोगेऽति-व्यापितापिशाचिकासच्चारः, तादृशव्यापारस्य भ्रान्तत्वादिति।

वस्तुतस्तु मूल्यग्रहणसंसर्गाभावविशिष्ट-परस्वत्वानुकूलस्वपरिणामव्यञ्जकलौकिक-लोकोत्तरान्यतरक्रियाविशेषो दानम्। निश्चयनयाभिप्रायेण तु दानस्य सङ्कल्परूपत्वमेव। अत एव दीयमानं दत्तमिति पारमर्षप्रसिद्धि-रित्यभिनवोन्मेषशालिप्रज्ञोन्नीतोऽयं पन्थाः पर्यालोच्यतां पर्युपासितगुरुकुलैः।

याचनीत्वावच्छिन्नमुद्दिश्याऽसत्यामृषात्वविधानं न युक्तम्, याचनीत्वसामानाधिकरण्येनाऽसत्यामृषात्वबाधात् तदभावव्याप्यासत्यत्वोपलम्भादित्याशयेन शङ्कते **नन्विति। अविषये** = याचनाऽविषये। हेतुप्रदर्शनमेतत्। प्रयोग-स्त्वेवम् विवादाध्यासिता याचनी मृषा स्वाविषयविषयकत्वात् अविनीतविषयकाज्ञापनीवत्। विवादाध्यासितत्वमेव

१ 'तन्नियमाविषये' इति मुद्रितप्रतौ पाठोऽतीवाऽशुद्धः।

बोहिलाभं[1] समाहिवरमुत्तमं दिंतु' इति [2]सूत्रस्था याचनी कथं स (? मस)त्यामृषा स्यादित्यत आह

भक्तिप्रयुक्ता एषा याचनी **विषयं विनाऽपि गुणेन** = [3]असत्यामृषालक्षणेन, निश्चयतस्तु सत्याऽन्तःप्रवेशलक्षणेन **उपेता** = युक्ता न तु दुष्टेति भावः। अत एवोक्तम्- [4]"भासा असच्चमोसा णवरं भत्तीभासिआ एसा। ण तु खीणपेम्मदोसा, दिंति समाहिं च बोहिं च।।

प्रदर्शयति- **एवञ्चेति** तादृशव्याप्तिसिद्धेरिति। **रागाद्यभावेनेति**। अनेनाऽदातृत्वहेतुः प्रदर्शितः। **अददत** इति। अनेनाऽविषयत्वमुक्तम्। प्रयोगास्त्वेवम् - तीर्थंकरा अदातारः, रागाद्यभावात्, सिद्धवत्। तीर्थंकरा याचन्यविषया अदातृत्वात् तद्वत्। तीर्थंकरविषयिणि याचनी मृषा स्वाविषये प्रवर्त्तनात् अविनीतविषयकाज्ञापनीवत्। **कथमसत्यामृषा स्यादि**ति। काक्वा 'नैवाऽसत्यामृषा स्यादिति ध्वनितम्।

समाधत्ते- ***भक्तिप्रयुक्तेति***। इदं च वक्ष्यमाणगुणोपेतत्वविशेषणसाधनार्थमुक्तम्। इदं चोपलक्षणं न तु विशेषणम्, अन्यत्र तदभावात्। अतो नान्यत्राऽव्याप्तिरिति ध्येयम्। **निश्चयत** इति। पारिशेषन्यायात्पूर्वोक्तोऽसत्यामृषालक्षणो गुणो व्यवहारत इति सिध्यति। प्रयोगा एवम् विवादास्पदीभूता याचनी न दुष्टा गुणोपेतत्वात्। दुष्टत्वं चात्र मृषात्व-दोषयुक्तत्वरूपं ग्राह्यम्। तदपि कुतः? इति चेत्? उच्यते, विप्रतिपन्ना याचनी गुणोपेता भक्तिप्रयुक्तत्वात् सम्प्रति-पन्नवत्। **सत्यान्तःप्रवेशलक्षणेनेति**। नन्वपूर्वेयं कल्पनेति चेत्? उच्यते, विप्रतिपन्ना याचनी नैश्चयिकसत्यत्वाक्रान्ता विप्रलिप्सा-पूर्वकत्वाभावात्। तदपि कुतः? भक्तिप्रयुक्तत्वादित्यनेन गृहाण। यद्वा भक्तिप्रयुक्तत्वादेव नैश्चयिकसत्यत्वसिद्धिः तद्भक्त्या तत्प्रतिबन्धककर्मविगमेन तत्प्राप्तेः। यत उक्तम् 'भत्तीइ जिनवराणं खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा'। (आ.नि. १०९७ पूर्वार्द्धः) **अत एवेति** अदुष्टत्वादेवेति। आवश्यकनिर्युक्तिसंवादमाह 'भासा'

शंका :- ***ननु.*** इति। याचनीभाषामात्र का असत्यामृषा भाषा में समावेश करना ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विषयक याचनी भाषा मृषा भी होती है। देखिये जैसे आज्ञा के अविषयभूत अर्थात् आज्ञा के अयोग्य ऐसे अविनीत आदि के विषय में आज्ञापनी भाषा मृषा है, वैसे ही जो याचना का अविषय है अर्थात् जिसको प्रार्थना करने पर भी जो कुछ देनेवाला नहीं है उसको प्रार्थना करनेवाली याचनी भाषा मृषा ही होगी, क्योंकि याचना निष्फल होने से वह भाषा विसंवादग्रस्त बनती है। इसका उदाहरण तो लोगस्स सूत्र यानी चतुर्विंशतिस्तव सूत्र में प्रसिद्ध ही है। यह रहा वह शास्त्रवचन का अर्थ - 'हे भगवंत! मुझे आरोग्य, बोधिलाभ और श्रेष्ठ समाधि दीजिए।' यह प्रार्थना तीर्थंकर भगवंतो से की जाती है जो रागादि से विनिर्मुक्त होने से किसीको कुछ भी देते ही नहीं है। अतः यह याचनी भाषा असत्यामृषा कैसे हो सकती है? प्रार्थना का विषय तो सरागी होता है, वीतरागी नहीं; क्योंकि जो वीतरागी है वह तो प्रार्थना करने पर भी कुछ भी देनेवाले नहीं हैं।

✱ व्यवहारनय से याचनी भाषा असत्यमृषा ही है। ✱

समाधान :- ***भक्ति.*** इति। आपकी यह शंका इसलिए निराधार हो जाती है कि यह याचनी भाषा अदुष्ट है। याचनी भाषा में दोष के विपरीत गुण की उपलब्धि होने से दोषाभाव की सिद्धि होती है। व्यवहारनय के अभिप्राय से इस याचनी भाषा में असत्यामृषात्वरूप गुण रहता है, क्योंकि यह याचनी भाषा भक्ति से प्रयुक्त है। आशय यह है कि तीर्थंकर भगवंतों को 'लोगस्स सूत्र' में जो प्रार्थना की जाती है कि - उत्तम आरोग्य, बोधिलाभ और श्रेष्ठ समाधि मुझे दीजिए-जो याचनी भाषारूप है, तीर्थंकर भगवंतो के प्रति अपनी भक्ति के कारण बोली जाती है। तीर्थंकर भगवंतो के अचिंत्य सामर्थ्य पर अटूट विश्वास और उन पर अतुल भक्ति के कारण याचनी भाषा में मृषात्वरूप दोष नहीं रहता है किन्तु असत्यामृषाभाषात्वरूप गुण रहता है। अतः याचनी भाषा को निर्दोष कहने में कोई दोष नहीं है।

निश्चयत. इति। यह बात व्यवहारनय से बताई गई है। निश्चयनय की दृष्टि से जब विचार किया जाय तब तो यह याचनी भाषा सत्यभाषा में ही समाविष्ट हो जाती है, क्योंकि यह भाषा भक्तिभाव से प्रयुक्त है, विप्रलिप्सा = दूसरों को ठगने के अभिप्राय से प्रयुक्त नहीं है। पूर्व में १७ वीं गाथा में यह बताया गया है कि निश्चनय के दृष्टिकोण से विप्रलिप्सा से अप्रयुक्त असत्यामृषा भाषा

१ आरोग्यबोधिलाभं समाधिवरमुत्तमं ददतु। २ सूत्रस्थाऽसत्यामृषा - इति पाठः मुद्रितप्रतौ। अग्रे च कथमित्यस्यानन्तरं च 'सत्यामृषा' - इति पाठः। ३ सत्यामृषा इति पाठो कप्रतौ मुद्रितप्रतौ च वर्तते। अर्थसंगत्यर्थं अकारप्रश्लेष आवश्यकः। ४ भाषा असत्यामृषा नवरं भक्त्या भाषितैषा। न खलु क्षीणप्रेमद्वेषा ददति समाधिं च बोधिं च।

(आ.नि. १०९५) परमार्थतो दातृत्वमपि तेष्वस्त्येव। **अत एवोक्तम्** - ³'जं तेहिं दायव्वं तं दिन्नं जिणवरेहिं सव्वेहिं। दंसणनाणचरित्तस्स, मोक्खमग्गस्स उवएसोत्ति।। (आ.नि. १०९६)।

न चेदं दातृत्वं **गौणम्; दात**त्वान्तरस्य तथात्वे विनिगमकाभावात्।

इत्यादि। व्याख्यालेशः प्रदर्श्यते। एषा = प्रक्रमाद् याचनी, भाषा असत्यामृषा। कुतः? इत्याह नवरं = केवलं भक्त्या भाषिता। प्रयोगस्त्वेवम् एषा भाषाऽसत्यामृषा भक्तिमात्रप्रयुक्तत्वात्। नवरंपदसार्थकतां प्रदर्शयति नहु=नैव क्षीणप्रेमद्वेषा = ददति समाधिं च बोधिं चेति। ततश्च दातृत्वाभावेऽपि भक्तिमात्रप्रयुक्तत्वादसत्यामृषात्वं सिध्यतीति भावार्थः।

वस्तुगतिमनुरुध्याह **परमार्थत** इति। **दातृत्वमपी**ति। किं पुनः याचनीविषयत्वमित्यपिशब्दार्थः। **अत एवेति**। तीर्थकराणां **दातृत्वादेवेति**। निर्युक्तिवचनं प्रदर्शयति **जमिति**। व्याख्यालेशः प्रदर्श्यते। यत्तैः=तीर्थकरैः दातव्यं तद्दत्त जिनवरैः सर्वैः=ऋषभादिभिः दर्शनज्ञानचारित्रस्य, मोक्षमार्गस्योपदेशः। आदर्शान्तरेऽत्यपादः 'एस तिविहस्स उवएसो' इति एवं वर्तते। तत्र च 'एषः = आरोग्यादिप्रसाधकः त्रिविधस्योपदेश' इत्यर्थः कार्यः। ततश्च प्रार्थितोपायोपदेश-दातृत्वसिद्धिरित्यर्थः।

प्रार्थितवस्तुदातृत्वमेव मुख्यं प्रार्थितवस्तूपायदातृत्वं तु भाक्तमिति शङ्कां निरसितुमुपक्रमते **न चेति**। **इदं** = प्रार्थितोपायविषयकं। समाधत्ते- **दातृत्वान्तरस्य**=प्रार्थितदातुः, **तथात्वे** = मुख्यदातृत्वे, **विनिगमकाभावात्** = एकतरपक्ष-पातियुक्तिविरहात्। अयं भावः प्रार्थितोपायस्य दातरि गौणं दातृत्वं न तु मुख्यं, प्रार्थितस्य दातरि मुख्यं दातृत्वं न

सत्यभाषास्वरूप ही है। तीर्थंकर भगवंतो को प्रार्थना करने में विप्रलिप्सा का कहाँ अवकाश है? अतः निश्चयनय के अभिप्राय से यह प्रार्थनावचन सत्यत्वरूप गुण से अलंकृत होने से निर्दोष ही है, सदोष नहीं।

अत एव इति। लोगस्स सूत्र का प्रार्थनावचन भक्तिप्रयुक्त होने से निर्दोष ही है। इसीलिए तो आवश्यकनिर्युक्ति में श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने भी यही कहा है कि 'यह भाषा (आरुग्गबोहिलाभं इत्यादि लोगस्स सूत्र की प्रार्थनापरक भाषा) असत्यामृषा है, क्योंकि यह भाषा केवल वीतराग भगवंतों के प्रति भक्ति से कही जाती है'। भक्तिमात्र से कही जाती है इसका आशय यह है कि तीर्थंकर भगवंतों के राग-द्वेष आदि दोष क्षीण हो जाने से वे किसीको कुछ भी नहीं देते हैं तब समाधि और बोधि तो कैसे देंगे? अर्थात् वे समाधि और बोधि (जिनधर्मप्राप्ति) नहीं देते हैं। सिर्फ भक्तिप्रयुक्त होने से यह असत्यामृषा भाषा है।

❋ परमार्थतः तीर्थंकर में दातृत्व है ❋

परमार्थतो. इति। यहाँ जो अभी कहा गया वह भी अभ्युपगमवाद से कहा गया है। वास्तव में तो तीर्थंकर परमात्मा में दातृत्व है ही। यह तो चतुर्दशपूर्वधर चरमश्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामीजी को भी अभिमत है। तीर्थंकर भगवंतों में पारमार्थिक दातृत्व होने से ही आवश्यक निर्युक्ति में ही अगली गाथा में कहा गया है कि 'तीर्थंकर भगवंतों जो कुछ देनेवाले थे वह सब तो जिनेश्वर भगवंतों ने दे दिया ही है, क्योंकि सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का उपदेश, जो आरोग्य, बोधिलाभ आदि का साधक है, सब तीर्थंकर भगवंतों ने दिया ही है'। अतः-'तीर्थंकर भगवान् कुछ भी नहीं देते है। इसलिए वे प्रार्थना के विषय नहीं हैं। अतएव उनसे की जानेवाली प्रार्थना=याचना असत्यामृषा नहीं है, किन्तु मृषा ही है' - ऐसी जो पूर्व में शंका की गई थी वह निराधार सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अपने अभिमत आरोग्य-बोधिलाभ आदि के उपायभूत दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपदेश तो तीर्थंकर भगवंतों ने दिया ही है।

शंका :- ***न चेदं.*** इति। आपकी यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि प्रार्थना करनेवाला आरोग्य बोधिलाभ आदि की प्रार्थना करता है और भगवान् आरोग्य-बोधिलाभ आदि नहीं देते हैं मगर उनके उपाय का उपदेश देते हैं। अतः यह दातृत्व मुख्य नहीं है किन्तु गौण है। मुख्य दातार तो वही है कि जो जिस चीज की प्रार्थना की गई है उसीका प्रदान करे। अतः तीर्थंकर भगवंत में वास्तविक दातृत्व नहीं है। अतः पूर्व में जो कहा गया था कि 'रागादि का अभाव होने से तीर्थंकर भगवंत कुछ नहीं देते हैं। अतः वे प्रार्थना के विषय नहीं है' इत्यादि। वह ठीक ही है।

३ यत्तैर्दातव्यं तद्दत्तं जिनवरैः सर्वैः। दर्शनज्ञानचारित्रस्य मोक्षमार्गस्योपदेशः।।

प्रार्थितोपायप्राप्तावपि तदकरणे च प्रार्थना परमार्थतो मृषैव। तदुक्तम् 'लद्धिल्लियं च बोहिं अकरिंतोऽणागयं च पत्थेंतो। अण्णं दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मुल्लेण।। (आ.नि. ११००)त्ति। एवं स्वधियाऽभ्यूह्यम् ३।।७४।।

उक्ता याचनी ३। अथ पृच्छनीमाह

गौणमित्यत्र बलवत्प्रमाणाभावेन शक्यते इदमपि वक्तुं यदुत प्रार्थितोपायस्य दातरि मुख्यं दातृत्वमन्यत्र तु गौणमिति। ततश्च विनिगमकाभावेनोभयत्र मुख्यं दातृत्वमभ्युपेयं अन्यत्र पक्षपातात्। **एतेन** तीर्थकरा न दातारः रागद्यभावादित्यादयः प्रयोगाः **प्रत्युक्ताः** कालात्ययापदिष्टदोषोद्भवद्विकटकोपाटोपोत्कटकटुकण्टकडङ्कितत्वात्। **एतेन** प्रार्थिताप्राप्तेर्विसंवादित्वात्कथमसत्यामृषेति **निरस्तम्** परमभक्तिप्रयुक्ततादृशयाचन्या विसंवादित्वाभावात्। तदुक्तम्- भत्तीइ जिणवराणं परमाए खीणपिज्जदोसाणं। आरुग्गबोहिलाभं समाहिमरणं च पावंति।। (आ.नि. १०९८) वस्तुतः सानुबन्धारोग्यादिप्राप्तिनिमित्तत्वेनारोग्याद्युपायदातृत्वमेव मुख्यं दातृत्वमिति तु ध्येयम्।

ननु जिनभक्तिमात्रादेवाऽऽरोग्यबोधिलाभादि भविष्यत्येव ततः किमनेन वर्त्तमानकालदुष्करेण रत्नत्रयकष्टानुष्ठानेन? इत्याशङ्कायां सत्यां निश्चयनयं पुरस्कृत्य प्राह **प्रार्थितोपायप्राप्तावपी**ति। प्रार्थितारोग्याद्युपायभूतरत्नत्रयोपदेशप्राप्तावपि, **तदकरणे** = प्रार्थितसाधकतयोपदिष्टोपायेऽप्रवर्त्तने, **परमार्थतः** = परमार्थमाश्रित्य, **मृषैव**, न सत्येत्येवकारार्थः। **एतेन** तीर्थंकरविषयिणी याचनी भाषा मृषा स्वाविषये प्रवर्त्तनादिति **प्रत्युक्तम्** हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्, स्वाविषयविषयकत्वप्रयुक्तं न नैश्यिकमृषात्वमपि तु याचनीभाषाघटकीभूतस्वोद्देश्यकदानेच्छारूपयाचनाया अलीकत्वप्रयुक्तमिति **गूढार्थः**।

निर्युक्तिवचनसंवादं दर्शयति '***लद्धिल्लिय***मिति'। अस्या ***हारिभद्र***व्याख्यालेशः प्रदर्श्यते-' लब्धां च बोधिमकुर्वन्ननागतां च प्रार्थयन् ***अन्नंदाइं***ति निपातोऽसूयायाम्। अन्ये तु व्याचक्षते - अन्यामिदानीं बोधिं लप्स्यसि किं? कतरेण मूल्येन? इयमत्र भावना- बोधिलाभे सति तपःसंयमानुष्ठानपरस्य प्रेत्य वासनावशात्तत्तत्प्रवृत्तिरेव बोधिलाभोऽभिधीयते। तदनुष्ठानरहितस्य पुनर्वासनाऽभावात्तत्कथं तत्प्रवृत्तिः? इति बोधिलाभानुपपत्तिरित्यादिसूचनार्थ**मभ्यूह्यमित्युक्तम्**।

इदं तु ध्येयम्-व्यवहारनयमतेन याचनी भाषाऽसत्यामृषैव न तु मृषा अन्यथा प्रतिमाप्रतिपन्नश्रमणादीनामियमनुज्ञाता न स्यात्। अनुज्ञाता चेयं तेषां, तदुक्तं ***स्थानाङ्गे*** पडिमापडिवन्नस्स णं अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासातो भासित्तए। तं जहा-जायणी, पुच्छणी अणुन्नवणी पुट्ठस्स वागरणी। (स्था. ४/१/२३७) इति। ततश्चास्या असत्यामृषात्वमेव व्यवहारनयाभिप्रायेण चतुर्विधभाषाविभागस्य प्रक्रान्तत्वादिति।।७४।।

---

* तीर्थंकर भगवंत में पारमार्थिक दातृत्व है *

समाधान :- *दातृत्वान्तर.* इति। आपने जो यह बात बताई कि मुख्य दातार तो वही है कि जो जिस चीज की प्रार्थना की गई है उसीका प्रदान करे - वह निर्युक्तिक होने से प्रमाण नहीं है। जिस बात में कुछ युक्ति न हो उसका स्वीकार कैसे किया जा सकता है? यदि युक्तिशून्य बात का भी स्वीकार हो तब तो हम यह भी कह सकते हैं कि 'मुख्य दातार वही है जो जिस चीज की प्रार्थना की गई है उसकी प्राप्ति के सच्चे उपाय का उपदेशप्रदान करें।' तब तो तीर्थंकर भगवान से अन्य दातार में गौण दातृत्व की सिद्धि और तीर्थंकर भगवंत में मुख्य दातृत्व की सिद्धि हो जायेगी। अतः यही मानना होगा कि प्रार्थित चीज के दाता की तरह प्रार्थित चीज के उपाय के उपदेशदाता में भी मुख्य दातृत्व ही है। अतः तीर्थंकर भगवंत भी मुख्य दानवीर है - यह सिद्ध हो जाता है। इष्टदाता की अपेक्षा इष्टोपायदाता सानुबन्ध इष्टप्राप्ति में निमित्त होता है।

प्रार्थितो. इति। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि आरोग्य, बोधिलाभ आदि की प्रार्थना करने पर भी जो उसके उपायभूत मोक्षमार्ग में, जो कि तीर्थंकर भगवंत से बताया गया है - स्थापित किया गया है, प्रवृत्त नहीं होता है उसकी प्रार्थना ही झूठी है, सच्ची नहीं। इसीलिए तो श्रीभद्रबाहुस्वामीजी ने ही आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि बोधि को प्राप्त करने पर भी जो उसका पालन नहीं करता है और दूसरे भव में बोधि=जिनधर्मप्राप्ति या दीक्षा की प्रार्थना करता है वह किस मूल्य से दूसरी बार बोधि को प्राप्त

[1]जिन्नासियत्थकहणं परूविया पुच्छणी जिणवरेहिं। पन्नवणी पन्नत्ता विणीयविणयम्मि विहिवाओ।।७५।।

जिज्ञासितस्य = ज्ञातुमिष्टस्य **अर्थस्य कथनं** तद्विदः पार्श्वे, **जिनवरैः** पृच्छनी प्रज्ञप्ता। **न च** निग्रहार्थं विकल्पोक्तायां 'एगे भवं दुवे भवं' इत्यादि **सोमिलादि**भाषायामव्याप्तिः, छलवाग्भूतायास्तस्या अलक्ष्यत्वात्। 'कुत आगतः' 'क्व गमिष्यसि' 'कइविहा णं भंते!

उत्तरप्रयोजकः शब्दः पृच्छेति केषाञ्चिन्मतम्। तद्व्यपोहायाऽऽह-**जिज्ञासितस्येति। एतेन** प्रतिवचनानन्तरमाक्षेपोत्थानं पृच्छेति परेषां कथनं **प्रत्युक्तम्** निग्रहवाक्छलादावतिप्रसक्तेः। तदुक्तमपरैरपि 'यत्रान्वेषणमर्थानां वाक्यैरभ्यर्थनापरैः। जिज्ञासुः पृच्छति परं सा पृच्छेत्यभिधीयते।। '**प्राचीनचूर्णिकार**स्याऽप्यत्रैव निर्भरः 'अविण्णातस्स संदिद्धस्स वा अत्थस्स जाणणत्थं तदभियुत्तचोयणं पुच्छणी। (दश. प्रा. चू. पृ. १६१) इत्यनेन ज्ञायते। परेऽपि 'अविज्ञातार्थज्ञानार्थमिच्छाप्रयोज्यवाक्यं पृच्छेत्याहुः। ज्ञानोद्देश्यकप्रवृत्त्यधीनशब्दः पुच्छेत्यपि **केचित्**। जिज्ञासाविष्करणं पृच्छे**त्यन्ये**। जिज्ञासाविषयकज्ञानानुकूलव्यापारः पृच्छेत्यपि **वदन्ति**। निजिघृक्षाप्रयुक्तभाषायामव्याप्तिं ऋजुः शङ्कते न चेति। **सोमिलादीति**। सोमिलशब्दवाच्या आगमप्रसिद्धा बहवः। एको द्वारवत्यां नगर्यां गजसुकुमारमारको ब्राह्मणः। अन्यो वाराणसीवास्तव्यः पार्श्वनाथस्वामिशिष्यो ***निशीथ***सूत्रोक्तः, परोऽपापावास्तव्यो ब्राह्मणो यस्य यज्ञे समायाता इन्द्रभूत्यादयः वीरान्तिके प्रव्रजिताः, अपर उज्जयिनीवास्तव्योऽन्धब्राह्मणः। अत्र च वाणियग्रामवास्तव्यो ब्राह्मणो ***व्याख्याप्रज्ञप्त्यु***क्तो ग्राह्यः, एगे भवं इत्याद्यन्यथाऽनुपपत्तेरिति। **अव्याप्तिरिति**। जिज्ञासितार्थकथनाभावादितिगम्यम्।

समाधत्ते-**छलवाग्भूताया** इति। **ननु** सोमिलभाषाया वाक्छलत्वं कुतः? **उच्यते** 'एगे भवं? दुवे भवं? अक्खए भवं? अव्वए भवं? अवट्ठिए भवं? अणेगभूयभावभविए भवं?' इत्यादयः पर्यनुयोगाः सोमिलभट्टेन वाणिज्यग्रामवास्तव्येन श्रमणं भगवन्तं महावीरं प्रति कृताः। तस्यायमाशयः एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवताऽऽत्मनः कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवययानां चात्मनोऽनेकतोपलक्षित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः कृतः। द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीत्याशयेन पर्यनुयोगो विहितः। अक्खए भवमित्यादिना च पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः। अणेगभूयभावभविए भवमिति अनेके भूताः = अतीताः भावाः = सत्तापरिणामा भव्याश्च = भाविनश्च यस्य स तथा। अनेन चातीतभविष्यत्सत्ताप्रश्नेनानित्यतापक्षः पर्यनुयुक्तः

करेगा? क्योंकि वह यहाँ ही प्राप्त बोधि की उपेक्षा कर रहा है। अतः उसकी प्रार्थना=याचना परमार्थ से तो मृषा ही है। इस विषय में स्वयं अधिक विचार करने की विवरणकार सूचना देते हैं।।७४।।

याचनी भाषा का व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त पृच्छनी भाषा, जो कि असत्यामृषा भाषा का चतुर्थ भेद है, बताई जा रही है।

गाथार्थ :- जिज्ञासित अर्थ का कथन पृच्छनी है - ऐसा जिनेश्वर भगवंतों ने प्ररूपण किया है। विनीतविनय = विनेयजन के प्रति विधि को बताना यह प्रज्ञापनी भाषा है ऐसा जिनेश्वर भगवंतों ने बताया है।।७५।

❋ पृच्छनी भाषा - ४/४ ❋

विवरणार्थ :- जिस अर्थ को जानने की इच्छा होती है उस अर्थ का निवेदन=पर्यनुयोग उस अर्थ के ज्ञाता के पास करना यह पृच्छनी भाषा है - ऐसी श्रीजिनेश्वर भगवंतों ने प्ररूपणा की है।

❋ सोमिल ब्राह्मण की भाषा ❋

शंका :- ***न च निग्र.*** इति। यदि जिस अर्थ की जिज्ञासा है उसीका निवेदन करना पृच्छनी भाषा है तब तो वाणियग्राम के निवासी सोमिल ब्राह्मण की भाषा में पृच्छनी भाषा का लक्षण न जाने से अव्याप्ति आयेगी। सोमिल ब्राह्मण का प्रसंग भगवती सूत्र में इस तरह बताया गया है कि जब चरम तीर्थाधिपति श्रमण भगवान् महावीर केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद वाणियग्राम में पधारे तब सोमिल ब्राह्मण भगवान का निग्रह करने के लिए - हराने के लिए 'हे भगवंत! आप एक हैं या दो हैं?' इत्यादि प्रश्न करता

१ जिज्ञासितार्थकथनं प्ररूपिता पृच्छनी जिनवरैः। प्रज्ञापनी प्रज्ञप्ता विनीतविनये विधिवादः।।७५।।

जीवा पण्णत्ता? इत्यादिभाषाणामेव लक्ष्यत्वात्। उक्ता पृच्छनी ४।

अथ **प्रज्ञापनीमाह। विनीतः** = शिक्षितो **विनयो** येन एतादृशे शिष्ये, यो **विधिवादः** = विध्युपदेशः, सा प्रज्ञापनी प्रज्ञप्ता कर्तव्यत्वप्रतिपादकः प्रत्ययः तद्घटितं वाक्यं वा।

एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति। तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषविनिर्मुक्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायि। विस्तरस्तु ***व्याख्याप्रज्ञप्तितो***ऽवसेयः अनुपयोगित्वादिह नोच्यते। **अलक्ष्यत्वात्** = लक्ष्यतानाक्रान्तत्वात्। न हि लक्ष्यताविनिर्मुक्ते लक्षणाप्रवृत्तिदोषः प्रत्युत गुण एवेति भूषणं न दूषणमिति भावः। **अनेन** वाक्छलं सामान्यच्छल-मुपचारच्छलमिति त्रितयमेतत्पृच्छनीभाषाबहिर्भूतमिति **व्यज्यते**।

ननु तर्हि कासां लक्ष्यत्वमित्याशङ्कायामाह- **कुत** इति। न चैतत्स्वच्छन्दमतिविजृम्भितम्। तदुक्तं ***चूर्णौ***-पुच्छणी जहा कओ आगच्छसि? कत्थ वा गच्छत्ति? तथा कतिविधा णं भंते! जीवा पण्णत्ता? एवमादि। (जि.द.वै.चू.पृ. २३९) पृच्छनासामान्यविधि***स्तूत्तराध्ययनसूत्रो***क्ताभ्यः" आसणगओ न पुच्छिज्जा णेव सिज्जागओ कयाइवि। आगम्मुक्कुडुओ संतो पुच्छिज्जा पंजलिउडो।। (उत्त. १/२२) इत्यादिगाथाभ्योऽवसेयः। विशेषविधिस्तु ***प्रकल्पग्रन्था***दितो ज्ञेयः। **कर्तव्यत्वप्रतिपादकः प्रत्यय** इति। ***पाणिनि***ये लिङ्तव्यत्तव्यानीयर्ण्यदादिः ***सिद्धहेमे*** च सप्तम्यादिः। तादृश-प्रत्ययमात्रोक्तौ च न प्रवृत्त्यौपयिककर्तव्यताविशेषज्ञानं जायतेऽतः कल्पान्तरं प्रदर्शयति तद्घटितं वाक्यं वेति। लिङ्गादिप्रत्ययघटितं वाक्यमित्यर्थः। समभिव्यवहारो वाक्यमि***त्येके।*** एकतिङ्गन्तार्थमुख्यविशेष्यकं वाक्यमि***त्यपरे***। स्वार्थबोधसमाप्तं वाक्यमि***त्यन्ये***। पदसमूहो वाक्यमिति **ऋजवः**। आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमत्पदसमुदायो वाक्यमिति **परे**। शाब्दप्रतीजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं पदात्मकं वाक्यमिति **केचित्**। **वाक्यपदीये** तु - 'आख्यातशब्दः१ संघातो२ जातिः३ सङ्घातवर्तिनी। ४एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो५ बुद्ध्यनुसंहतिः६। पदमाद्यं७ पृथक्सर्व ८पदं साकाङ्क्षमित्यपि। वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्।।' (वा.प.का.२/श्लो. १-२) इत्यष्टधा वाक्यस्वरूपं मतभेदेन विस्तरतः प्रतिपादितं ततोऽवसेयम्।

है। ये प्रश्न जिज्ञासा से नहीं किये गये थे मगर भगवंत के पराजय के उद्देश से किये गये थे कि 'यदि भगवंत द्रव्यार्थिक नय का आश्रय ले कर 'मैं एक हूँ' ऐसा प्रत्युत्तर देंगे तब में पर्यायार्थिक नय का आश्रय ले कर अनेकत्व की सिद्धि करूँगा' इत्यादि। श्रीमहावीरस्वामी ने तो स्याद्वाद का आश्रय ले कर अत्यंत निर्दोष उत्तर दिया, वह बात अलग है मगर हमारा आशय तो यह है कि सोमिल ब्राह्मण ने जो प्रश्न किये वे जिज्ञासा प्रयुक्त न होने से उनमें पृच्छनी भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति न होने से पृच्छनी भाषा का लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त बनेगा।

समाधान :- *छल.* इति। आप हमारे कथन के तात्पर्य को ही नहीं जानते हैं। अतः ऐसी शंका कर रहे हैं। सोमिल ने जो प्रश्न किये थे वे तो वाक्छलरूप थे, जो पृच्छनी भाषा के लक्ष्य ही नहीं हैं। जो अपना लक्ष्य नहीं है, उसमें लक्षण की अप्रवृत्ति तो गुणस्वरूप है, दोषरूप नहीं। अतः पृच्छनी भाषा का लक्षण नितांत निर्दोष है।

* प्रज्ञापनी भाषा ५/४ *

अथ प्रज्ञा. इति। प्रकरणकार गाथा के पश्चार्द्ध से प्रज्ञापनी भाषा का, जो असत्यामृषा का पाँचवाँ भेद है, निरूपण कर रहे हैं। जिसने विनय का अभ्यास किया है अर्थात् जो विनयी है ऐसे शिष्य को विधिउपदेश देना यह प्रज्ञापनी भाषा है - ऐसा जिनेश्वर भगवंतों ने बताया है। विधि का अर्थ है कर्तव्यताप्रतिपादक प्रत्यय, जिसके लिए सिद्धहेमव्याकरण में सप्तमी संज्ञा रखी गई है और पाणिनीयव्याकरण में इसके लिए लिङ् संज्ञा रखी गई है। यह प्रत्यय यहाँ विधिशब्द से अभिप्रेत है या तो उस प्रत्यय से घटित वाक्य को भी विधि कहते हैं। अतः यह फलित हुआ कि विनयवंत शिष्य को कर्तव्यताप्रतिपादक उपदेश देना यह प्रज्ञापनी भाषा है। विधि का अर्थ कृतिसाध्यत्व आदि ही है, अपूर्व आदि नहीं। अर्थात् विध्युपदेश को सुन कर श्रोता को 'यह कार्य मत्कृतिसाध्य है यानी मेरे प्रयत्न से सिद्ध हो सकता है' यह बोधहोता है मगर जिसको मीमांसक अपूर्व कहते हैं, नैयायिक अदृष्ट कहते हैं और

यथा च विधेः कृतिसाध्यत्वादिकमेवार्थो न त्वपूर्वादिस्तथा **मत्कृतवादरहस्यादवसेयम्**। इह तु न प्रतन्यते ग्रन्थान्तरप्रसङ्गात्।

प्रसङ्गतो विध्यर्थं प्रति सङ्क्षेपतः परेषामभिप्रायं दर्शयामः। तत्र **भट्टाः** प्रवृत्तिजनने विधिव्यापारीभूतो विधिसमवेतो शब्दभावनापरनामा अतिरिक्तपदार्थविशेषोऽभिधा, तस्या एव ज्ञानं प्रवर्त्तकं तत्रैव भावनात्वेन रूपेण विधिशक्तिरि**त्याहुः**। ***गुरुप्रभाकर***मते कार्यताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वेन कार्यत्वस्य विधिप्रत्ययार्थत्वम्। **परे तु** सङ्कल्पज्ञानं प्रवर्त्तकम्। सङ्कल्प इच्छा तत्रैव विधिशक्तिरित्याहुः। **अन्ये तु** वैदिकविधिजन्यप्रवृत्तौ अपूर्वज्ञानं प्रवर्त्तकम्। ततोऽपूर्वस्यैव लिङर्थत्वमिति व्याचक्षते।

भामतीकारस्तु-यजेत इत्यादिषु शब्द एव कर्तव्यमिष्टसाधनं व्यापारमवगमयंस्तस्येष्टसाधनतां कर्तव्यतां चावगमयति अनन्यलभ्यत्वादुभयोः अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात्। यत्र तु कर्तव्यताऽन्यत एव लभ्यते यथा 'न हन्यात् न पिबेत्' इत्यादिषु हननपानप्रवृत्त्यो रागतः प्रतिलम्भात् तत्र तदनुवादेन नञ्समभिव्याहृता लिङ्गादि-विभक्तिरन्यतोऽप्राप्तमनयोरनर्थहेतुभावमात्रमवगमयति। प्रत्यक्षे हि तयोरिष्टसाधनभावोऽवगम्यते अन्यथा रागविषय-त्वायोगात्। तस्माद्रागादिप्राप्तकर्तव्यताऽनुवादेनानर्थसाधनताप्रज्ञापनपरं 'न हन्यात्' न पिबेदित्यादि वाक्यं न तु कर्तव्यतापरमिति (भा. १/१/४) इत्याह।

केचित्त भावनाज्ञानं वैदिके प्रवर्त्तकम्। भावना च प्रयत्नो न त्विष्टसाधनताज्ञानम्। विधिशक्तिरपि तत्रैवेति **वदन्ति**। चेष्टा विध्यर्थ इति **पामराः**। इष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थ **इत्येके**। तदुक्तं ***विधिविवेके मण्डनमिश्रेण***-पुंसां नेष्टाभ्यु-पायत्वात्, क्रियास्वन्यः प्रवर्त्तकः। प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम्।। (वि.वि. पृ. १७३) इति।

अपरे तु साधनत्वमात्रं विध्यर्थ इति प्रतिपादयन्ति। ***उदयनाचार्या***स्तु प्रवर्त्तकमिष्टसाधनताज्ञानमेव लिङ्गर्थ-स्त्वाप्ताभिप्रायो लाघवादित्याहुः। ***जरन्नैयायिका***स्तु बलवदनिष्टाननुबंधीष्टसाधनताविषयकं कृतिसाध्यताज्ञानमेव प्रवर्त्तकम्। विध्यर्थोऽपि बलवदनिष्टाननुबंधीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वमेवेत्याहुः। ***नव्या***स्तु विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम्, इष्टसाधनत्वम्, कृतिसाध्यत्वञ्चेति त्रयमेव विध्यर्थ इति **प्राहुः**।

कृतिसाध्यत्वादिकमेवेति। आदिपदेनेष्टसाधनत्वादि ग्राह्यम्। तदुक्तम**ष्टसहस्रीविवरणे**-"कार्यादिरूपनियोगस्येष्ट-साधनत्वादेर्वा लिङर्थत्वमित्यत्र नास्माकमेकान्तः शब्दशक्तेर्विचित्रत्वात्, यथाव्युत्पत्ति जायमानस्य विचित्रबोधस्य च लाघवमात्रेणानपवदनीयत्वादिति।" (अ.स.वि.पृ. ५२) **एतेन** कृतिसाध्यताज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वे मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने प्रवृत्त्यापत्ति**र्निरस्ता** बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वविरहात्। **एतेन** विधिप्रत्ययेनेष्टसाधनत्वाभिधाने कारणे लिङ्गा-ऽनुशासनात् दर्शपौर्णमासाभ्यामित्यनभिहिताधिकारविहिता तृतीया न स्यादिति वैयाकरणानामेकान्ताभिनिवेशः **परास्तः**। उपायतामात्राभिधानेऽपि तद्विशेषकरणत्वानभिधानात्। **वस्तुतस्त्व**भिहितान्वयलभ्यं यागेष्टसाधनत्वम्, इष्टसाधनत्वसामान्यस्य विध्यर्थत्वात् न तु विशिष्टेष्टसाधनत्वस्येति न दोष इति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

न त्वापूर्वादिस्तथेति। अपूर्वादिज्ञाने सत्यपि अप्रवृत्तेः, असत्यपि प्रवृत्तेश्चेति शेषः। अयं भावः अपूर्वादिज्ञाने सत्यपि विना कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वादिज्ञानं प्रवृत्तिर्न जायत इत्यन्वयव्यभिचारः। अपूर्वादिज्ञानं विनाऽपि कृतिसाध्यत्वादि-

अन्य लोग पुण्य धर्म आदि कहते हैं उसका विधिवाक्य से बोध नहीं होता है। अतः कृतिसाध्यता आदि ही विध्यर्थ है, अपूर्व आदि नहीं। कृतिसाध्यत्वादि यहाँ जो आदि शब्द है, उससे इष्टसाधनता आदि का ग्रहण हो सकता है। अन्य कुछ वादी संकल्प आदि को ही विध्यर्थ मानते हैं। इसका निषेध 'अपूर्वादि' में प्रयुक्त आदि पद से यहाँ सूचित किया गया है। विवरणकार कहते हैं कि इस सम्बन्धी विशेषविवेचन मैंने [1]***वादरहस्य*** ग्रन्थ में किया है। अतः जिज्ञासु लोग उस ग्रंथ को देख सकते हैं। यहाँ इस विषय का विस्तार करने पर एक अलग स्वतंत्र ग्रन्थ का ही निर्माण हो जायेगा। इतना यह विषय गहन है।

१ दुःख की बात है कि उपाध्यायजी महाराज से रचित प्रमारहस्य आदि ग्रन्थों कि तरह यह ग्रन्थ भी वर्त्तमान काल में उपलब्ध नहीं हो रहा है। यह ग्रन्थ लुप्त-नष्ट हो गया है या किसी अन्य भांडागार में सुरक्षित पड़ा हुआ है? यह खोज का विषय है।

यथा प्राणिवधान्निवृत्ता जीवा दीर्घायुषो भवन्तीति। इदमुपलक्षणं हिंसादिप्रवृत्तौ जीवो दुःखितो भवतीत्यादिनिषेधोपदेशस्यापि। उक्तं च 'पाणिवहाउ णियत्ता हवंति दीहाउआ अरोगा य। एमाई पन्नत्ता पण्णवणी वीयराएहिं।। ( ) त्ति। एवं च 'भयाप्रयोज्य-प्रवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकभाषात्वम्' एतल्लक्षणम्। आज्ञापनीवारणाय भयाऽप्रयोज्येति। तादृशेच्छाप्रयोजकत्वं च विधेस्तज्जनकेष्ट-

ज्ञानात्प्रवृत्तिर्जायत एवेति व्यतिरेकव्यभिचारः। ततोऽपूर्वादिः न विध्यर्थः। किञ्च अपूर्वादिपदादपि प्रवृत्त्यापत्ति-बुभुक्षितराक्षसी कथं पराकर्तु शक्येत मीमांसकमुख्यैः? आदिपदेन सङ्कल्पादिग्रहणम्। मानाभावेन सङ्कल्पज्ञानमपि न विध्यर्थः, इच्छात्मकस्य तस्य स्वरूपसतो हेतुत्वेन तदभावे तज्ज्ञानादप्रवृत्तेरिति सङ्क्षेपः। **मत्कृतवादरहस्यादिति**। नेदानीमयं ग्रन्थ उपलभ्यतेऽस्माकं दौर्भाग्येन।

भवन्तीति। यद्यपीदमर्थवादवाक्यं न तु विधिवाक्यं तथापि तस्य विध्युन्नायकतया न तत्प्रदर्शने कश्चिद्दोषः। यथा चैतत्तत्त्वं तथानुपदमेव स्फुटीभविष्यति। **हिंसादिप्रवृत्तौ जीवो दुःखितो भवतीति**। इदमपि न विधिवाक्यं किन्तु अनिष्टार्थबोधनद्वारा निषेधवाक्यैकवाक्यतया निवर्त्तकवाक्यरूपो निन्दार्थवादः।

ननु हिंसां न कुर्यादित्यत्र विध्यर्थनिषेधानुपपत्तिः हिंसाया आजीविकादिरूपेष्टसाधनत्वात् **न च** नायं विधिः हिंसाया रागप्राप्तत्वात्; एकत्र विधिनिषेधानुपपत्तेश्चेति **वाच्यम्** निषेधकोट्युपस्थापको विधिप्रतिरूपकोऽयं कुर्यादिति शब्द इति तात्पर्यात्। **न च** तथाप्यसुराऽविद्यादिवत् पर्युदासलक्षणया विरोध्यनिष्टसाधनतत्व-बोधनत्वोपपत्तेरिति **वक्तव्यम्,** नञोऽसमस्तत्वात् क्रियासङ्गतत्वेन प्रतिषेधवाचकत्वव्युत्पत्तेश्चेति **चेत्? मैवम्,** विशेष्यवति विशिष्टनिषेधस्य 'सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः सति विशेष्यबाध' इति न्यायेन विशेषणनिषेधपर्यवसायितया 'हिंसा बलवदनिष्टसाधनमि'ति 'हिंसा न कुर्यादि'त्यनेन बोधनात् यद्वा हिंसायामिष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वसत्त्वेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाभावात् 'हिंसां न कुर्यादि'ति विध्यर्थनिषेधोपपत्तेः विध्यर्थ-पर्याप्तिविरहात् पर्याप्तिसम्बन्धेन विध्यर्थविरहाद्वेति **विभावनीयम्।**

इदं तु ध्येयम्-'इदानीं कृतिसाध्यतादि'ज्ञानमेव प्रवर्त्तकम् न तु 'कृतिसाध्यतादि'ज्ञानम्। तेन न भावियौवराज्ये बालस्य

यथा. इति। प्रज्ञापनी भाषा का उदाहरण बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि प्राणीवध से निवृत्त जीव दीर्घायुष्यवाले होते हैं। यह प्रज्ञापनी भाषा है। इस वाक्य से अहिंसा में कर्तव्यता का ज्ञान होता है। इस वाक्य से 'अहिंसा मेरे प्रयत्न से साध्य है और मेरे इष्ट का साधन है' इत्यादि बोध होता है। दशवैकालिक चूर्णि आदि में जो यह उदाहरण बताया गया है वह निषेधोपदेश का भी ज्ञापक है। अर्थात् जैसे विधिउपदेश प्रज्ञापनी भाषा है ठीक वैसे ही निषेधोपदेश भी प्रज्ञापनी भाषा है। निषेध उपदेश के उदाहरण को स्वयं विवरणकार बताते हैं कि 'हिंसा में प्रवृत्त जीव दुःखी होता है'। इस निषेधोपदेश से श्रोता को हिंसा में अकर्तव्यता की बुद्धि होती है। हिंसा की निवृत्ति का उपदेश मीलता है, जो हिंसानिवृत्ति प्रयत्नसाध्य है और इष्ट का साधन है। अन्यत्र भी कहा गया है कि 'प्राणीवध से निवृत्त जीव दीर्घजीवी और नीरोगी होते हैं' इत्यादि। यह भाषा प्रज्ञापनी हे - ऐसा वीतराग भगवंतो ने बताया है।

* प्रज्ञापनी भाषा का लक्षण *

एवं च. इति। उपर्युक्त चर्चा से प्रज्ञापनी भाषा का लक्षण यह फलित होता है कि भयाप्रयोज्य ऐसी प्रवृत्ति की जनक जो इच्छा, उसकी प्रयोजक भाषा प्रज्ञापनी भाषा है। अर्थात् जो प्रवृत्ति भयप्रेरित नहीं होती है उस प्रवृत्ति के कारणभूत अभिलाष को प्रज्ञापनी भाषा परंपरा से उत्पन्न करती है। प्रवृत्ति का कारण अभिलाष है। यदि इच्छा न हो तब प्रवृत्ति नहीं होती हैं। अतः जीवदया आदि प्रवृत्ति को उत्पन्न करने के लिए जीवदया पालन की इच्छा होनी आवश्यक है। उस इच्छा की संपादक प्रज्ञापनी भाषा है। यहाँ प्रवृत्ति का विशेषण जो दिया गया है कि 'भयाऽप्रयोज्य' वह आज्ञापनी भाषा में प्रज्ञापनी भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति न हो उस उदेश से दिया गया है, क्योंकि आज्ञापनी भाषा से भी प्रवृत्ति होती है। अतः प्रवृत्तिजनक इच्छा की संपादक आज्ञापनी भाषा भी है। प्रज्ञापनी और आज्ञापनी भाषा में इतना साम्य होते हुए भी विषमता यह है कि आज्ञापनी भाषा से जो प्रवृत्ति होती है वह भयप्रेरित है और प्रज्ञापनी भाषा से जो प्रवृत्ति होती है वह भयप्रेरित नहीं होती है। आशय यह है कि राजा अपने सेवक को आज्ञा देता है,

साधनताज्ञानजनकतया वाक्यान्तरस्य च विध्युन्नायकतया।

जिनकल्पादौ वा शैक्षस्य प्रवृत्तिः तदानीं कृतिसाध्यत्वाभावात्। **एतेन** तदुपकरणशून्यस्येष्टसाधनताज्ञानात्प्रवृत्तिप्रसङ्गो **निरस्तः,** स्वेष्टसाधनत्वविरहेण तदानीं कृत्यसाध्यत्वात्। न वा तृप्तस्य भोजने प्रवृत्तिः तदानीमिष्टसाधनत्वाभावादिति। विधिवाक्यं चाधिकारिणं प्रत्येवं प्रवर्त्तकं न त्वनधिकारिणं प्रति **एतेन** सूरिमंत्रादिविध्युपदेशस्यानधिकारिप्रवर्त्तक**त्वमपास्तम्,** तं प्रति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविरहात्। एवमिति। प्रवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकभाषात्वमित्युक्ते आज्ञापन्यामँतिव्याप्तिः स्यात् तस्यास्तथात्वादित्यत भयाप्रयोज्येति प्रवृत्तिविशेषणम्, आज्ञापन्या भयप्रयोज्यप्रवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकभाषात्वादिति विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावसिद्धिः।

नन्वेवं निषेधकप्रज्ञापन्यामव्याप्तिः स्यात् तस्या निवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकभाषारूपत्वात्। **न च** प्रवृत्तिपदस्य निवृत्त्युपलक्षणत्वान्न दोष इति **वाच्यम्,** तथापि 'हिंसया नरकं गच्छेदि'त्यादितो भयप्रयोज्यनिवृत्तेरेव जायमानत्वेनाऽव्याप्तेस्तादवस्थ्यादिति **चेत्? उच्यते,** भयपदस्याऽत्र प्रज्ञापकसकाशादागामिप्रत्यवायनिमित्तकभयार्थपरत्वान्न दोषः प्रज्ञापकस्य प्रत्यवायजननेऽनधिकारात् तादृशेच्छाजनकं चेष्टसाधनताज्ञानं तज्जनकं च विधिवाक्यमित्यतः कारणं विहाय प्रयोजकमित्युक्तम्। प्रयोजकत्वं चात्र परम्परया कारणत्वरूपं न तु प्रेरणानुकूलव्यापाराश्रयत्वरूपं, बाधात्। तदेवाह **तादृशेच्छाप्रयोजकत्वं** = भयाऽप्रयोज्यप्रवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकत्वम्। तादृशपरम्परकारणत्वमेव प्रदर्शयति **तज्जनकेष्टसाधनताज्ञानजनकतये**ति भयाप्रयोज्यप्रवृत्तिजनकेच्छाजनकेष्टसाधनताज्ञानजनकतयेति।

इष्टसाधनतेत्युपलक्षणं कृतिसाध्यत्वादेः विध्यर्थस्य यद्वा विशेषणमेव, कृतिसाध्यत्वज्ञाने सत्यपीष्टसाधनत्वज्ञानाभावेन विषभक्षणादिजनकेच्छोत्पादाभावात् तदज्ञानेऽपि स्वर्णपर्वताद्यानयनेच्छाया इष्टसाधनत्वज्ञानेन जायमानत्वात्। प्रक्रिया चैवम्-प्रथमं विधिवाक्यश्रवणादिष्टसाधनत्वादिज्ञानं इदं मदीयमिष्टसाधनमित्याद्याकारकं जायते तत इष्टसाधनताज्ञानेन चिकीर्षा जन्यते ततः कृतिः ततः भयाप्रयोज्या प्रवृत्तिर्जायत इति। एवं विधेर्भयाप्रयोज्यप्रवृत्तिजनकेच्छाजनकेष्टसाधनताज्ञानजनकत्वेन तादृशेच्छाप्रयोजकत्वनिर्वाह इति भावः।

नन्वेवं सत्यर्थवादोपदेशे प्रज्ञापनीलक्षणं कथं सङ्गमनीयम्? इत्याशङ्कयामाह **वाक्यान्तरस्येति** अर्थवादस्येत्यर्थः। प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। **केचित्तु** विध्यनधीनप्रवृत्त्युत्तम्भकवचनमर्थवाद इत्याचक्षते। विध्यसम-

उससे सेवक की प्रवृत्ति होती है वह भयप्रेरित होती है, क्योंकि आज्ञा का पालन न करने पर बडे अनिष्ट की प्राप्ति होने का उसे ख्याल रहता है। जब कि प्रज्ञापनी भाषा में ऐसा नहीं है। 'जिनं पूजयेत्' अर्थात् 'जिनेश्वर भगवंत की पूजा करनी चाहिए' इस विधि वाक्य से श्रोता को जिनपूजा में प्रयत्नसाध्यता और इष्ट साधनता का ज्ञान होने से वह जिनपूजा में स्वेच्छा से प्रवृत्ति करता है न कि 'मैं जिनपूजा न करुंगा तो भारी अनिष्ट की मुझे प्राप्ति होगी' इत्यादि भय से। अतः प्रज्ञापनी भाषा के लक्षण में भयाप्रयोज्य ऐसा प्रवृत्ति का विशेषण लगाया गया है। विधिप्रत्ययघटित वाक्य भयाप्रयोज्य प्रवृत्ति की जनक इच्छा को साक्षात् उत्पन्न नहीं करता है मगर उसमें इष्टसाधनता का ज्ञान करा कर इच्छा को उत्पन्न करता है। आशय यह है कि 'जिन पूजयेत्' इत्यादि विधिउपदेश से श्रोता को यह ज्ञान होता है कि 'जिनपूजा मेरे इष्ट सुखादि का साधन है'। इस इष्टसाधनता के ज्ञान से श्रोता को जिनपूजा की इच्छा होती है जो जिनपूजारूप प्रवृत्ति की जनक होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विध्युपदेश तादृश इच्छा को साक्षात् उत्पन्न नहीं करता है मगर इष्टसाधनता के ज्ञान को उत्पन्न करने के द्वारा तादृश इच्छा को उत्पन्न करता है। अतएव प्रज्ञापनी भाषा का लक्षण तादृशेच्छाजनकभाषात्वं न कह कर तादृशेच्छाप्रयोजकभाषात्वं इस रूप से बताया गया है। साक्षात् या परंपरा से जो कारण हो उसे प्रयोजक कहा जाता है। यहाँ परंपरा से कारणरूप अर्थ में प्रयोजकशब्द अभिप्रेत है।

* अर्थवाद भी प्रज्ञापनी भाषा है *

वाक्यान्तरस्य. इति। यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'विधिवाक्य में तो इष्टसाधनता ज्ञान को उत्पन्न करने के द्वारा तादृशेच्छाप्रयोजकत्वरूप की उपपत्ति हो सकती है मगर वाक्यान्तर में, जो विधिवाक्यरूप नहीं है किन्तु अर्थवादरूप है, तादृश - इच्छाप्रयोजकत्व की उपपत्ति कैसे हो सकेगी?' - इसका समाधान यह है कि अर्थवाद भी विधिअनुमापक होने के रूप में तादृशेच्छा

अहिंसापरा दीर्घायुषः स्युः इत्याद्युपदेशेषु उद्देश्यविधेयभावमहिम्नैवा-हिंसादीर्घायुरादीनां हेतु-हेतुमद्भावलाभः। तत एव चाऽऽहत्य विवेकिनां प्रवृत्तिरित्यपि वदन्ति।।७५।। उक्ता प्रज्ञापनी ५। अथ प्रत्याख्यानीमाह

भिव्याहृतवाक्यमर्थवाद **इत्येके**। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य प्रशंसनमर्थवाद **इत्यपरे**। **विध्युन्नायकतया**=विध्यनुमापकतया तादृशेच्छाप्रयोजकत्वमित्यत्राऽप्यनुवर्त्तते। ततश्चार्थवादवाक्यस्य विध्यनुमानोत्थापकतया तादृशेच्छाप्रयोजकत्व-मित्यर्थः। तथाहि-धन्यः स मासो दिवसोऽपि धन्यः स एव साऽपि घटकाऽपि धन्या। यत्र प्रभुः भाग्यवता जनेन दृष्टो जगत्स्वामी कृपानिवासः।। अयं च साक्षाद् विध्यर्थस्य प्रशंसार्थकवाक्यरूपः स्तुत्यर्थवादः। तेन च 'जिनदर्शनं कर्तव्य-मि'त्याकारको विधिरनुमीयते। उन्नीतस्य च विधिवाक्यस्य तादृशेच्छाजनकेष्टसाधनताज्ञानजनकतया भयाप्रयोज्य-प्रवृत्तिजनकेच्छाप्रयोजकभाषात्वस्याऽव्याहतिः। तत्र तादृशेच्छायाः परम्परकारणत्वरूपस्य प्रयोजकत्वस्य सत्त्वात्। क्वचित् स्युत्यर्थवादेन निषेधवाक्यमुन्नीयते यथा 'अलीकं ये न भाषन्ते सत्यव्रतमहाधनाः। धात्री पवित्रीक्रियते तेषां चरणरेणुभिः।।' इत्यादौ। क्वचित् निन्दार्थवादेन निषेधवाक्यमनुमीयते यथा 'न हिंसा सदृशं पापं, त्रैलोक्ये सचराचरे।' इत्यादौ। यत्र विधिवाक्येन सहैव स्तुत्यर्थवादस्तत्रेष्टार्थबोधनद्वारा विधिवाक्यैकवाक्यतयाऽर्थबोधो यथा 'परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि। परोपकारजं पुण्यं न स्यात्क्रतुशतैरपि।।' ( ) इति ***भागवतवचने***। **न चैव**मिष्टसाधनताया विध्यर्थत्वं न स्यात् तज्ज्ञानस्य स्तुत्यर्थवादादेवोपपत्तेरिति **साम्प्रतम्** इष्टसाधनत्वसामान्यस्य विध्यर्थत्वात् न तु विशिष्टेष्टसाधनत्वस्येत्युक्तोत्तरत्वात्। क्वचिन्निन्दार्थवादेन विधिवाक्यमुन्नीयते। यथा 'भीमम्मि भवसमुद्दे पडिया कीसंति पाणिणो मूढा। न सरंति निरुयवेरग्गबंधणबंधणविमुक्कं।। '(वै.र.गा. १९) इति ***लक्ष्मीलाभ-गणिकृतवैराग्यरसायने***। अत्र हि निन्दार्थवादेन 'वैराग्यबान्धवं स्मरेदि'ति विधिरुन्नीयते। स्तुतिनिन्दार्थवादौ यथाक्रमं षोडशवचनभेदान्तर्गतोपनीतापनीतवचनाभ्यां स्वसमये वर्ण्येते। यद्वा यत्रान्यप्रकरणादितो विधिवाक्यमुपलभ्यते तत्राऽर्थवादस्य विधिवाक्यैकवाक्यतयाऽर्थबोधकत्वं यत्र चान्यप्रकरणादितो विधिवाक्यं नोपलभ्यते तत्राऽर्थवादस्य विध्युन्नायकत्वमित्यपि शक्यते वक्तुमित्यादि बहुतरमूहनीयम्।

अत्र परेषां मतमाह-**अहिंसापरा** इति। **उद्देश्यविधेयभावमहिम्नैवेति**। अयं भावः यथा 'धनी सुखी भवेत्' इत्यत्र धनिनमुद्दिश्य सुखित्वस्य विधानाद् धनसुखयोर्हेतुहेतुमद्भावो लभ्यते तथा प्रकृतेऽहिंसापरानुद्दिश्य दीर्घायुष्कताया विधानादहिंसादीर्घायुषोर्हेतुहेतुमद्भावो ज्ञायते यदुत अहिंसा दीर्घायुष्कताहेतुः दीर्घायुश्चाहिंसाकार्यमिति। **तत एवेति**। कार्यकारणभावज्ञानादेवेति एवकारेण विधिवाक्यव्यवच्छेदः क्रियते। एतन्नयेन तादृशवाक्यादेर्विध्यनुमानोत्थापकत्वं नाभ्युपेयते गौरवात्। **वदन्ती**त्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः, कृत्यसाध्येऽपि तत एव प्रवृत्तिप्रसङ्गात्।।७५।।

का प्रयोजक है। अर्थवाद का अर्थ यह है जो स्तुतिपरक हो या निंदापरक हो ऐसा वाक्य। अर्थवाद के द्वारा जिस अर्थ की प्रशंसा की जाती है उससे कर्तव्यताप्रतिपादक विधिवाक्य की कल्पना की जाती है। जैसे कि 'उनको धन्य हैं जो सदा जिनेश्वर भगवंत की पूजा करते हैं' यह स्तुति अर्थवाद है। इससे जिनपूजा में कर्तव्यताप्रतिपादक विधि (वाक्य) की कल्पना की जाती है कि 'जिनं पूजयेत्' अर्थात् जिनेश्वर की पूजा कर्तव्य है। स्तुति अर्थवाद से अनुमित वह विधिवाक्य इष्टसाधनता का ज्ञान उत्पन्न करता है, जो भयाप्रयोज्यप्रवृत्तिजनक इच्छा का कारण होता है। इस तरह अर्थवाद वाक्य भी विधिवाक्य का अनुमापक होने से परंपरा से तादृशेच्छा का प्रयोजक होता है। अतः अर्थवाद में भी तादृशेच्छाप्रयोजकभाषात्वरूप प्रज्ञापनी भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति निराबाध होती है। अतः प्रज्ञापनी भाषा में अव्याप्ति आदि दोष भी नहीं है और अर्थवाद का प्रज्ञापनी भाषा से बहिर्भाव भी नहीं है - यह फलित होता है।

* अर्थवाद में अन्य विद्वानों का अभिप्राय *

अहिंसापरा. इति। अर्थवाद कैसे प्रवृत्ति का कारण बनता है? इस स्थल में अन्य विद्वान् मनीषियों के अभिप्राय को बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि - 'अहिंसा में तत्पर जीव दीर्घायु होते हैं' यह अर्थवाद विधिवाक्य का अनुमापक नहीं है किन्तु

[1]पत्थियणिसेहवयणं पच्चक्खाणी जिणेहि पन्नत्ता। णियइच्छियत्तकहणं णेयाइच्छानुलोमा य।।७६।।

प्रार्थितस्य = याचितवस्तुनः **यन्निषेधवचनं** सा **जिनैः प्रत्याख्यानी प्रज्ञप्ता**। यथा इदं न ददामीत्यादि। प्रार्थितस्येति उपलक्षणं दुराचरितनिषेधवचनस्याऽपि 'पापं न करिष्यामी'त्याद्याकारस्य तथात्वात्। तस्मान्निषेधविषये निषेधप्रतिज्ञैव प्रत्याख्यानी ६।। उक्ता प्रत्याख्यानी।

याचितवस्तुन इति। परकृतस्वोद्देश्यकदानेच्छाविषयीभूतवस्तुन इत्यर्थः। **उपलक्षणत्वमिति**। **एतेन** सावद्यव्यापार-निषेधवचनस्य प्रार्थितनिषेधकत्वाभावेन प्रत्याख्यानीबहिर्भावोऽ**पास्तः** प्रार्थितशब्दोपलक्षितदुराचरितनिषधकत्वाप्रच्य-त्वात्। उपलक्षणत्वे बीजमाह-**तथात्वादिति**। निषेधविषयत्वादिति। फलितलक्षणमाह-**निषेधविषये निषेधप्रतिज्ञेति**। **एतेन** अप्रार्थिते सम्भावितप्रार्थनाविषयत्वे वस्तुनि 'न ददामि'त्यादावव्याप्तिः अप्रार्थितनिषेधकत्वादिति **प्रत्युक्तम्** तत्र निषेधविषयत्वस्यानपायात्। निषेधविषयत्वं चात्र द्विरूपं बोध्यम्।एकं देयवस्तुनिष्ठम्। **अनेन** धर्मास्तिकायं न ददामी-त्यादिप्रतिज्ञायाः प्रत्याख्यानीबर्हिर्भावो **ध्वनितः** अग्राह्यधारणीयत्वेन तस्याऽदेयत्वात् प्रसक्तस्यैव निषेधात्, हास्यादितः तथाभाषणे हास्यनिःसृतादिरूपत्वेन मृषात्वात्। अपरं च सम्प्रदानव्यक्तिनिष्ठं निषेध्यत्वरूपं ग्राह्यम्। ततश्च दीक्षाधि-कारणं प्रति 'दीक्षां न दास्य' इत्यादिप्रतिज्ञाया मृषात्वमावेदितं भवति, निषेधाविषये निषेधकरणेन विराधनीत्वात्

उद्देश्यविधेयभाव के बल से कार्यकारणभाव का ज्ञापक है। आशय यह है कि प्रदर्शित अर्थवाद के दृष्टान्त में 'अहिंसापराः' यह भाग उद्देश्य है 'दीर्घायुषः स्युः' यह भाग विधेय है। जो प्रसिद्ध होता है यानी अन्य प्रमाण से ज्ञात होता है उसको उद्देश्य कहते हैं। प्रसिद्ध वस्तु को उद्देश्य बना कर अप्रसिद्ध वस्तु का विधान किया जाता है। जैसे कि 'जो धर्मी होता है वह सुखी होता है। इस वाक्य में धर्मवान् को उद्देश्य बना कर सुख का विधान किया गया है। उससे श्रोता को यह बोध होता है कि जो धर्म होता है वह सुखकारण होता है। इस तरह उद्देश्यविधेयभाव के बल से धर्म में सुख की कारणता और सुख में धर्म की कार्यता का बोध होता है अर्थात् धर्म और सुख के बीच हेतु - हेतुमद्भाव=कार्यकारणभाव का लाभ=ज्ञान होता है। ठीक वैसे ही यहाँ अहिंसक जीव को उद्देश्य कर के दीर्घायुष्कता का विधान होने से श्रोता को यह बोध होता है कि 'जो अहिंसक होता है = अहिंसापालन में तत्पर होता है वह दीर्घायु होता है। इस तरह उद्देश्यविधेयभाव के बल से अहिंसा में दीर्घायुष्कता की कारणता और दीर्घायुष्य में अहिंसा की कार्यता का लाभ=अवगम=निश्चय होता है। यही यहाँ अहिंसा और दीर्घायुष्य के बीच कार्यकारणभाव का लाभ शब्द से अभिप्रेत है। इस कार्यकारणभाव के ज्ञान से ही विवेकी समर्थ श्रोता तुरंत अहिंसा में प्रवृत्ति करता है, अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है। इस तरह अर्थवाद के स्थल में विधिवाक्य की कल्पना के बिना ही प्रवृत्ति उपपन्न हो सकती है। तादृश प्रवृत्ति के कारण अभिलाष के जनक ज्ञान को उत्पन्न करने से यह अर्थवादरूप वाक्य भी तादृशेच्छाप्रयोजक होने से प्रज्ञापनी भाषा के लक्षण से आक्रान्त होने से प्रज्ञापनी भाषारूप है। इस तरह इन विद्वान् मनीषियों के अभिप्राय से अर्थवाद से उन्नीत कार्यकारणभावनिश्चय प्रवृत्ति का संपादक है। अन्य विद्वान् मनीषियों के मत का प्रदर्शन कर के विवरणकार ने प्रज्ञापनी भाषा के निरूपण को जलांजलि दी है।।७५।।

अब ७६ वीं गाथा से असत्याभाषाभेदनिरूपणक्रमप्राप्त प्रत्याख्यानी भाषा बताई जाती है।

गाथार्थ :- प्रार्थित चीज का निषेधवचन प्रत्याख्यानी है - ऐसा जिनेश्वर भगवंतो ने बताया है और यह भी ज्ञातव्य है कि अपनी इच्छा का प्रदर्शन करना यह इच्छानुलोम भाषा है।७६।

✱ प्रत्याख्यानी भाषा - ६/४ ✱

विवरणार्थ :- जिनेश्वर भगवंतों ने यह प्रतिपादन किया है कि किसीसे प्रार्थित यानी माँगी गई चीज का निषेधक वचन प्रत्याख्यानी भाषा है। जैसे कि कोई विज्ञप्ति करे कि 'मुझे यह चीज दो' तब उसे कहना कि 'यह मैं न दूंगा' यह प्रत्याख्यानी भाषा है, क्योंकि किसीसे प्रार्थित चीज देने का इस भाषा से निषेध हो रहा है। यहाँ प्रार्थित ऐसा जो शब्द है वह दुराचरित का उपलक्षण=ज्ञापक है। अर्थात् जैसे प्रार्थित का निषेधक वचन प्रत्याख्यानी भाषा है वैसे दुराचरित का निषेधक वचन भी प्रत्याख्यानी भाषारूप ही है। जैसे कि 'मैं पाप नहीं करूंगा' ऐसा निषेधकवचन। इसको भी प्रत्याख्यानी भाषा कहने का कारण यह है कि यह

१ प्रार्थितनिषेधवचनं प्रत्याख्यानी प्रज्ञप्ता। निजेप्सितत्वकथनं ज्ञेया इच्छानुलोमा च।।७६।।

अथेच्छानुलोमामाह-निजेप्सितत्वं=स्वेच्छाविषयत्वं तत्कथनं चेच्छानुलोमा ज्ञेया, यथा कश्चित् किञ्चत्कार्यमारभमाणःकञ्चन पृच्छति (ग्रन्थाग्रम्-श्लोक ८००) 'करोम्येतत्?' इति। स प्राह-करोतु भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति। अत्र चाप्तेच्छाविषयत्वेन स्वेष्टसाधनत्वशङ्काप्रतिरोधेन तन्निश्चयात्स्वेच्छाया अविलम्बेन प्रादुर्भावादिच्छानुलोमत्वम्।

निषेधाऽविषयेऽपि पुरुषे आगमोक्तबाह्यलिङ्गादितो निषेधविषयत्वज्ञानदशायां निषेधकरणे असत्यामृषात्वव्याप्य-प्रत्याख्यानीयत्वमपि न विरुध्यते इत्याभाति।

ननु निषेधप्रतिज्ञा प्रत्याख्यानीत्येव वक्तुमर्हति निषेधविषय इत्यस्य व्यर्थत्वादिति निरर्थकघटकघटितमदेतल्ल-क्षणमिति **चेत्? मैवम्** निषेद्धुमर्हे वस्तुन्येव निषेधस्य प्रत्याख्यानीत्वं न तु निषेधानर्हे वस्तुनीति ज्ञापनाय तदुपादाम्। **एतेन** 'दीक्षां नैव ग्रहीष्यामी'त्यादिनिषेधवचनस्य प्रत्याख्यानीबहिर्भावो **व्यज्यते** निषेधाविषये निषेधप्रतिज्ञारूप-त्वात् जिनसाध्वादिविषयकद्वेषादिनिसृतत्वेन परमार्थः मृषात्वात्। **अत एव** लोभादिप्रत्ययिकनिषेधस्याऽप्यप्रत्या-ख्यानी**त्वमवसेयम्** लोभनिःसृतत्वेनाऽसत्यत्वात् स्वव्यापकाभावेनाऽप्रत्याख्यानीत्वसिद्धेरित्यादिकं यथागमं पर्यालोच-नीयम्।

इच्छानुलोममिति। अनुलोमत्वं चात्र कार्यसहकारिकारणत्वरूपं ग्राह्यं न तु स्वपक्षपातित्वरूपम्। ततश्चेच्छा-सहकारिकारणवचनत्वमिच्छानुलोमत्वमित्यर्थः। **स्वेच्छाविषयत्वमिति** स्वपदेन पर्यनुयुक्तो ग्राह्यो न तु पर्यनुयोक्ता। **तत्कथनमिति**। पर्यनुयुक्तेच्छाविषयत्वमप्रतिपादनिमित्यर्थः। पर्यनुयोक्तुः पर्यनुयुक्तेच्छाविषयत्वज्ञाने सति तद्विषयिण्याः स्वेच्छाया जायमानत्वेन सान्वर्थमिदमभिधानमित्याशयेनऽऽह **अत्र चेति**। **आप्तेच्छाविषयत्वेनेति** पर्यनुयोक्तृज्ञातायाः पर्यनुयुक्ताप्तेच्छाया विषयत्वेन। **तन्निश्चयादिति** स्वेष्टसाधनत्वनिश्चयात्। अयं भावः ज्ञानादिच्छा ततः कृतिः ततः प्रवृत्तिर्जायते। ततः तत्तत्प्रवृत्तिं प्रतीच्छायाः प्रयोजकत्वं लभ्यते। प्रवृत्तिहेत्विच्छायाः स्वेष्टसाधनत्वादिनिश्चयजन्यत्वेन स्वेष्टसाधनत्वादिनिश्चयार्थं पुरुषः स्वाप्ताभिप्रायें ज्ञातुमाप्तपुरुषं पर्यनुयुङ्क्ते। प्रदर्शितप्रत्युत्तरज्ञानादाप्तेच्छाविषयत्वं ज्ञायते। आप्तेच्छाविषयत्वस्य स्वेष्टसाधनत्वव्याप्यत्वज्ञानाच्चिकीर्षितविषयकस्वेष्टसाधनत्वचलितप्रतिपत्तिः प्रति-रुध्यते, आप्तेच्छाविषयत्वज्ञानोन्नीतस्वेष्टसाधनत्वनिश्चयः स्वेष्टसाधनत्वशङ्काप्रतिबन्धकत्वात्। अत्रानुमानाकार-श्चैवम् 'इदं मदिष्टसाधनं मत्कर्तव्यतया आप्ताभिप्रेतत्वात् स्वेष्टसाधनत्वनिश्चयात्तद्विषयककृतिजनकेच्छा द्रुतं प्रादुर्भवतीति निजेप्सितत्वकथने स्वेच्छासहकारिकारणत्वरूपमिच्छानुलोमत्वं निराबाधमित्यर्थः।

भाषा भी प्रार्थितनिषेधक वचन की तरह निषेधभाषारूप है। अतः प्रत्याख्यानी भाषा का लक्षण यह फलित होता है कि - निषेध के विषय में निषेध की प्रतिज्ञा ही प्रत्याख्यानी भाषा है। अतः अन्य से प्रार्थित वस्तु या सावद्यव्यापार आदि के निषेध की प्रतिज्ञा में प्रत्याख्यानी भाषा के लक्षण का आसानी से निर्वाह हो सकता है। प्रत्याख्यानी भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ।

* इच्छानुलोमा भाषा ७/४ *

अथेच्छा. इति। अब प्रकरणकार ७६ वीं गाथा के पश्चार्द्ध से इच्छानुलोम भाषा का, जो असत्यामृषा भाषा का ७ वाँ भेद है, निरूपण करते हैं कि अपनी इच्छा का कथन करना यह इच्छानुलोम भाषा है। आशय यह है कि कुछ काम का प्रारंभ करता हुआ पुरुष किसी को पूछता है कि 'मैं यह काम करुं?" तब जिसे प्रश्न किया गया है वह कहता है कि - 'आप यह काम करो, मुझे भी यह इष्ट ही है'। यह प्रत्युत्तर इच्छानुलोम भाषा है, क्योंकि प्रत्युत्तर देनेवाला अपनी इच्छा की विषयता=स्वेष्टता का प्रतिपादन करता है। इच्छनुलोम का अर्थ है इच्छा का सहकारिकारण। किसी भी चीज की इच्छा तब होती है जब 'यह मेरे इष्ट का साधन है' ऐसा निश्चय होता है। अमुक प्रवृत्ति या चीज मेरे इष्ट सुख आदि का साधन है या नहीं? ऐसी इष्टसाधनत्व की शंका होती है तब पुरुष 'अपने आप्त पुरुष का इस विषय में क्या अभिप्राय है?' यह जानने का उत्सुक होता है और अपने मान्य पुरुष को यह प्रश्न करता है कि 'मैं यह करुं?' तब वह मान्य पुरुष यदि ऐसा उत्तर दे कि 'करो भाई, मुझे भी यह अभीष्ट है' तब श्रोता को यह मालुम होता है कि - यह कार्य मेरे आप्त पुरुष को अभीष्ट है। इससे श्रोता को यह निश्चय होता है कि 'यह मेरे इष्ट

यत्राऽपि शोभनमेतदित्येवोच्यते तत्रापि वक्तिरिच्छाविषयत्वमर्थात् प्रतीयत एव।

अथ यत्र जातदीक्षेच्छस्यापि पित्राद्यनुमत्यर्थं गुरुं प्रति प्रश्नस्तत्र 'यथासुखं मा प्रतिबन्धं कुर्याः' इत्युत्तरं तत्र कथमिच्छानुलोमत्वम् इच्छाया उत्पन्नत्वेन पुनरनुत्पदनादिति? **मैवम्**, तत्रोपेयेच्छाया उत्पन्नत्वेऽप्यनुमतिरूपोपाये कालविलम्बरूपानिष्टसाध-

ननु यत्र वक्त्रा शोभनमेतदित्येवोक्तं न तु 'ममाऽप्यभिप्रेतमेतदि'ति तत्र कथमिच्छानुलोमत्वनिर्वाहः स्वेच्छाविषयत्वाप्रतिपादनादित्याशङ्कायामाह **यत्रापीति**। **अर्थात्** = अर्थमवलम्ब्य तात्पर्यवृत्त्या। अयं भावः कण्ठतः स्वेच्छाविषयत्वाकथनेऽपि शोभनमेतदिति श्रवणेन श्रोतुराप्ताभिप्रायविषयत्वं तात्पर्यमहिम्ना प्रतीयते एव। विवरणे क्रियासङ्गतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थः। उन्नीताप्ताभिप्रायविषयत्वेन स्वेष्टसाधनत्वनिश्चयात्ताजक् स्वेच्छा प्रादुर्भवतीतीच्छानुलोमत्वमव्याहतमिति। **जातदीक्षेच्छस्येति**। जमाल्यादेरिति शेषः। **पुनरनुत्पादनादिति**। न हि उत्पन्नं घटमुत्पादनाय कश्चिद् यतते न वा तथायत्ने घटः पुनरुत्पद्यते। एवं विनष्टप्रागभावाया दीक्षेच्छाया भविष्यदुत्पत्तिप्रतियोगिकत्वाभावेन कथं तत्सहकारिकारणत्वरूपमिच्छानुलोमत्वं स्यात्? **न च** जातदिक्षेच्छायाः स्थितिसम्पादनार्थमुपयुक्तत्वादिच्छानुलोमत्वमिति **वक्तव्यम्**, उत्पन्नस्य सहकारिकारणानधीनस्थितिकत्वात्, न हि दण्डविनाशे जातो घटो विनश्यतीति **अथाशयः**। समाधत्ते **मैवमिति**। **उपेयेच्छायाः** = दीक्षारूपोपेयेच्छायाः। **उत्पन्नत्वे** = गुरुप्रदर्शितसंसारासारतोपदेशादिना जातत्वे, **अपीति** अभ्युपगमपूव विशेषद्योतनार्थः। **अनुमतिरूपोपाये** = स्वीयदीक्षाविषयक-पित्राद्यनुमतिरूपोपाये। **कालविलम्बेति**। दीक्षाविषयककालक्षेपरूपमेत्यर्थः। इदं चोपलक्षणं

का साधन है क्योंकि यह मेरे कर्त्तव्य से आप्तपुरुष को अभीष्ट है। जो आप्तपुरुष को मेरे कर्तव्यरूप से अनुज्ञात होता है वह मेरे इष्ट का साधन होता है। जो जिस फल का साधन नहीं होता वह उस फल को चाहनेवाले पुरुष के कर्तव्यरूप में आप्तपुरुष से अनुज्ञात नहीं होता है जैसे कि द्युतक्रीडा। इस तरह आप्तपुरुष के कथन से अनुज्ञात श्रोता को स्वेष्टसाधनत्व का निश्चय होने से स्वेष्टसाधनत्व की शंका दूर हो जाती है, क्योंकि निश्चय शंका का विरोधी होता है - प्रतिबन्धक होता है- विघटक होता है। स्वेष्टसाधनत्व के निश्चय से तद्‌विषयक प्रवृत्तिजनक इच्छा का तुरंत ही प्रादुर्भाव होता है। अतः यह भाषा इच्छा का सहकारी कारण होने से इच्छानुलोम भाषा कही जाती है।

*** अर्थतः आप्ताभिप्राय का ज्ञान मुमकिन ***

यत्रापि. इति। जहाँ पृच्छा करने पर आप्तपुरुष शब्दतः अपनी इच्छा को बताते नहीं हैं कि 'मुझे यह इष्ट है' मगर सिर्फ इतना ही बताते हैं कि 'यह अच्छा है' तो यह भाषा भी इच्छानुलोम भाषा ही है, क्योंकि इस वाक्य से भी आप्तपुरुष की इच्छा का अर्थतः भान होता ही है। आशय यह है कि 'यह अच्छा कार्य है' - इस कथन से श्रोता को यह अर्थतः ज्ञात होता है कि 'यह कार्य मैं करुं' ऐसा वक्ता को अवश्य इष्ट है, अन्यथा 'यह कार्य अच्छा है' ऐसा वक्ता का कथन नहीं होता। इस तरह तात्पर्य के अन्वेषण से वक्ता के अभिप्राय का ज्ञान होता है और उससे 'यह मेरे इष्ट का साधन है' ऐसा श्रोता को निश्चय हो जाता है। स्वेष्टसाधनता के निश्चय से स्वेष्टसाधनत्व की शंका दूर होने से तत्तत्कार्यविषयक अपनी इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। अतः शब्दतः अपनी इच्छा का कथन न करने पर भी अर्थतः अपनी इच्छा का कथन करनेवाली आप्त पुरुष की यह वाणी इच्छानुलोम भाषा है, क्योंकि यह वाणी श्रोता की इच्छा का सहकारि कारण है।

शंका :- ***अथ*** इति। अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति लेने के लिए जब अपने गुरुदेव से दीक्षार्थी, जिसको दीक्षा लेने की इच्छा पेदा हो चूकी है, प्रश्न करता है कि 'हे भगवंत! आपने संसार का जो स्वरूप बताया है वह सत्य ही है। यह मुझे श्रद्धा है। इसलिए मुझे दीक्षा लेने की भावना है। तो मैं दीक्षा की अनुमति के लिए माता-पिता को पूछने के लिए जाउँ?' तब गुरु भगवंत प्रत्युत्तर देते हैं कि 'यथासुखं मा प्रतिबन्धं कुर्याः' अर्थात् आपको जैसे सुख हो वैसा करो विलंब मत करो। अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'यह गुरु भगवंत की वाणी इच्छानुलोमरूप कैसे हो सकती है? क्योंकि यहाँ दीक्षार्थी को दीक्षा की इच्छा तो उत्पन्न हो चुकी ही है। जो इच्छा उत्पन्न हो चूकी है वह इच्छा वापस तो कैसे उत्पन्न होगी। क्या एक बार जिसने जन्म ले लिया हो वह उस रूप में ही दूसरी बार जन्म ले सकता है? एक बार पेदा हुआ घट ही दूसरी बार पेदा हो सकता है? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर निषेधात्मक ही प्राप्त होता है। वैसे दीक्षार्थी को दीक्षा की इच्छा पहले से ही उत्पन्न होने से उस इच्छा की उत्पत्ति के

नत्वशङ्कानिरासेनोपायेच्छोत्पादनेनेच्छानुलोमत्वनिर्वाहात्।

'विध्यादिभिन्नप्रवृत्त्यप्रतिबन्धकवचनत्वमेवेच्छानुलोमत्वम्' इत्यपि कश्चित्।।७६।। उक्ता इच्छानुलोम ७।। अथाऽनभिगृहीतामाह।

निषेधादेः, तथात्वात्। अयं भावः दीक्षारूपोपेयं प्रति पित्राद्यनुमतेरुपायत्वेन दीक्षासाधनीभूतपित्राद्यनुमतौ प्रवृत्त्यथ तत्र कालविलम्बरूपानिष्टसाधनत्वशङ्काविघटनमावश्यकम्, अन्यथा तदिच्छाया असम्भवात्। निषेधाभावव्यञ्जक-गुर्वनुज्ञालाभेन 'पित्राद्यनुमतिः न मदनिष्टसाधनम्, गुर्वनुज्ञातत्वादि'त्यनुमानात् पित्राद्यनुमतावनिष्टसाधनत्वशङ्का प्रलीयते। ततो द्रुतं दीक्षौपयिकेच्छा जायते। दीक्षेच्छानुलोमत्वाभावेऽपि दीक्षौपयिकेविषयकेच्छासहकारि-कारणत्वेनेच्छानुलोमत्वं सुघटघटाकोटिसण्टङ्कमाटीकते।

अन्यमतमाह **विध्यादिभिन्नप्रवृत्त्यप्रतिबन्धकवचनत्वमेवेति**। प्रवृत्त्यप्रतिबन्धकवचनत्वमित्येवोक्तौ विध्यादावति-व्याप्तिः प्रज्ञापन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वाभावात्। अतो विध्यादिभिन्नेति। आदिपदेनाज्ञादेर्ग्रहण्। विध्यादिभिन्नवचन-त्वमित्येवोक्तौ आमन्त्रण्यादावतिप्रसङ्गः। अतः प्रवृत्त्यप्रतिबन्धकेति वचनविशेषणम्। ज्ञानेच्छादावतिव्याप्तिवारणाथ वचनत्वमित्युक्तम्। एवकारेण निजेप्सितत्वकथनत्वादेर्व्यवच्छेदः कृतः। ततो विध्यादिभिन्नत्वे सति प्रवृत्त्यप्रतिबन्धक-

अनुकूल यह भाषा नहीं है। जब श्रोता में इच्छा की उत्पत्ति का सहकारि कारण वह वचन नहीं है तब उसे इच्छानुलोम भाषा कहना कैसे उचित होगा? अतः ज्ञानी गुरु भगवंत की वाणी इच्छानुलोम नहीं बनेगी।

*** उपेयेच्छा की तरह उपाय इच्छा का सहकारी कारण वचन इच्छानुलोम ***

समाधान :- *मैवम्.* इति। आपकी यह शंका आपको जरूर मधुर लगेगी, क्योंकि कहा गया है कि - पूत अपना सब को प्यारा। मगर विचार करने पर यह निराधार हो जाती है। इसका कारण यह है कि उपेय यानी कार्य की इच्छा की उत्पत्ति में अनुकूल = सहकारिकारणभूत वचन जैसे इच्छानुलोम भाषा है वैसे उपाय यानी साधन की इच्छा का अनुकूल वचन भी इच्छानुलोम भाषा ही है। प्रस्तुत में दीक्षा उपेय = कार्य है और माता-पिता की सम्मति दीक्षा का उपाय=साधन है। दीक्षार्थी को दीक्षारूप उपेय की इच्छा तो उत्पन्न हो चूकी है। इसलिए यह गुरु भगवंत की वाणी उपेय इच्छा के अनुकूल नहीं है ऐसा आप कह सकते हो फिर भी 'वह मातापिता की सम्मति रूप उपाय की इच्छा के अनुकूल नहीं है' - ऐसा आप नहीं कह सकते, क्योंकि 'यथासुखं देवानुप्रिय! विलंब मत करो' ऐसी ज्ञानी गुरुदेव की वाणी को सुन कर दीक्षार्थी को यह निश्चय होता है कि माता-पिता की अनुमति गुरु भगवंत से अनुज्ञात है। अतः मेरे अनिष्ट का साधन नहीं है। ऐसा निश्चय होने से दीक्षा के लिए माता-पिता की अनुमति में दीक्षार्थी को जो पूर्व में शंका थी कि - 'में दीक्षा की अनुमति माँगूगा तब हो सकता है कदाचित् दीक्षा में वे कालक्षेप करे, जो दीक्षा में अनिष्टकारक होगा' - वह दूर हो जाती है, क्योंकि 'ज्ञानी गुरु भगवंत से अनुमति की प्रवृत्ति अनुज्ञात है' ऐसा निश्चय, जो माता-पिता की अनुमति में कालक्षेपरूप अनिष्टसाधनत्व की शंका का विरोधी = नाशक है, उसे हो चूका है। दीक्षा के लिए माता-पिता की अनुमति में अनिष्टसाधनता की शंका दूर होने से और इष्टसाधनता का निश्चय होने से दीक्षार्थी को अनुमति माँगने की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है, जो अनुमति की प्रवृत्ति का कारण है। इस तरह माता-पिता की अनुमतिरूप दीक्षाउपाय की इच्छा को उत्पन्न करने से इस भाषा में इच्छानुलोमत्व का निर्वाह निःशंक हो सकता है।

*** इच्छानुलोम भाषा में अन्य विद्वानों का अभिप्राय ***

विध्यादि. इति। अब विवरणकार महामहोध्याय यशोविजयजी महाराज इच्छानुलोम भाषा के विषय में अन्य विद्वान् मनीषियों का मत बताते हैं। उन विद्वान् मनीषियों का यह कहना है कि - जो भाषा विध्यादि से भिन्न हो और प्रवृत्ति की प्रतिबन्धक न हो वही इच्छानुलोम भाषा है। इच्छानुलोम भाषा के इस लक्षण का आशय यह है कि इच्छानुलोम भाषा प्रवृत्ति की प्रतिबन्धक नहीं होती है। अतः प्रवृत्तिअप्रतिबन्धकवचनत्व ऐसा इच्छानुलोम भाषा का लक्षण हो सकता है। मगर इसमें दोष यह है कि प्रज्ञापनी आदि भाषा भी प्रवृत्ति की निमित्त होने से प्रवृत्ति की प्रतिबन्धक नहीं है। अतः विधिवाक्यघटित प्रज्ञापनी आदि भाषा में भी इच्छानुलोम भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति होने लगेगी। अतः विध्यादिभिन्नत्वरूप विशेषण लगाना आवश्यक है। तब इच्छानुलोम भाषा का लक्षण - 'विध्यादिभिन्नत्वे सति प्रवृत्त्यप्रतिबन्धकवचनत्व' - होगा। अब प्रज्ञापनी आदि भाषा में इच्छानुलोम भाषा के लक्षण की प्रवृत्ति होने का संभव नहीं है, क्योंकि प्रज्ञापनी आदि में लक्षण के विशेष्यांश की विद्यमानता होने पर भी विशेषण अंश की विद्यमानता नहीं

[1]**सा होइ अणभिग्गहिया, जत्थ अणेगेसु पुट्ठकज्जेसु। एगयराणवहारणमहवा डित्थाइयं वयणं।।७७।।**

यत्र = यस्यां, **अनेकेषु पृष्टकार्येषु मध्ये एकतरस्य अनवधारणं** = अनिश्चयो **भवति**। एतावत्सु कार्येषु मध्ये किं करोमि? इति

वचनत्वमिच्छानुलोमलक्षणं फलितम्। **कश्चिदि**त्यनेनाऽस्वरसः प्रदर्शितः। तद्बीजं तु विशेषणविशेष्यभावे विनिगमना-विरहेण गौरवात् घटकज्ञानस्य घटितज्ञानहेतुत्वेन लक्षणघटकभेदप्रतियोगिविध्याद्यज्ञाने सति तद्घटितेच्छानुलोमत्वा-ज्ञानप्रसङ्गाच्चेति।

इदं तु ध्येयम् - ज्ञापयिता प्रार्थयिता च स्वेष्टसाधनत्वस्य प्रतिसन्धानं कृत्वा आज्ञां प्रार्थनां वा करोति। यं प्रति आज्ञां प्रार्थनां वा करोति तस्य आज्ञाप्यस्य प्रार्थनीयस्य वा पुरुषस्य इष्टसाधनत्वस्य प्रतिसन्धानं कृत्वा आज्ञां प्रार्थनां वा न करोति। यथा 'घटमानये'त्यत्र स्वामी स्वकल्याणमनुसन्धायैव भृत्यमाज्ञापयति। सम्भवति आज्ञापलननेन भृतस्यापि इष्टसाधनत्वं तथापि आज्ञा भृतस्य नैवेष्टसाधनतां प्रतिपादयति। प्रमाणान्तरेणैव आज्ञापालकस्य स्वेष्टसाधनत्वं ज्ञायते। प्रार्थनायामपि प्रार्थयितुरेवेष्टसाधनत्वं प्रतीयते। प्रार्थनीयपुरुषस्य कल्याणं प्रति लक्ष्यं कृत्वा प्रार्थना न प्रयुज्यते यथा 'मह्यं गां देही'त्यत्र प्रार्थनायां प्रार्थनीयस्येष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानं नास्ति। प्रार्थयिता स्वेष्टस्य सिध्यर्थमेव प्रार्थनां करोति स्थलविशेषे च प्रार्थनायामपि प्रार्थनीयस्येष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानं वर्तत एव। आज्ञापन्यपरपर्यायाया आज्ञाया याचन्यपराभिधानायाः च प्रार्थनाया विध्युपदेशो भिन्नः। विध्युपदेशे विध्युपदेष्टुरिष्ट-साधनता न प्रतीयन्ते किन्तूपदेश्यपुरुषस्यैवेष्टसाधनता प्रतीयते यथा 'ज्वरितः पथ्यमश्नीयादि'ति विध्युपदेशः ज्वरग्रस्तस्य पुरुषस्यैवेष्टसाधनत्वादेः प्रतिपादनं करोति न तूपदेष्टुरिष्टसाधनत्वादेः।

यत्तु 'उपदेष्टा स्वेष्टमभिसन्धाय नैवोपदिशति, अपि तूपदेश्यपुरुषस्येष्टसाधनताया एव प्रतिसन्धानं कृत्वोप-देशं करोती'ति ***महाप्रभुलालगोस्वामिनो***क्तम्, **तदसत्** कर्मनिर्जरादिस्वेष्टसाधनतामभिसन्धायाऽप्युपदेशस्य सम्भवात् तीर्थकराद्युपदेशेऽव्याप्तेश्च। आज्ञाभङ्गे आज्ञाप्यस्यानिष्टप्राप्तिर्भवति, प्रार्थनाभङ्गे प्रार्थयितुः सकाशात् प्रार्थनीय-स्यानिष्टप्राप्तिर्न जायते विध्युपदेशापालने चोपदेष्टुः सकाशादुपदिष्टस्यानिष्टलाभः न सञ्जायत इत्यासामपरं भेदकारणं। इच्छानुलोमायमनुज्ञानर्थान्तरायामनुज्ञाता स्वेष्टसाधनत्वं प्रतिसन्धायानुज्ञां नैव करोति किन्त्वनुज्ञेयपुरुष-स्यैवेष्टसाधनत्वादिकमवगत्यानुज्ञां करोति। विध्युपदेशाऽनुज्ञयोश्चैव एव भेदो यत् अप्रवृत्तं पुरुषं प्रवर्तयति विध्युपदेशेनोपदेष्टा, स्वेच्छया च प्रवृत्तः सन् पुरुषोऽनुज्ञया प्रवर्तितो भवति। स्थलविशेषे चानुज्ञायामप्यनुज्ञातः पुरुषस्य स्वेष्टसाधनत्वप्रतिसन्धानं वर्त्तत एव। ततश्च स्वेच्छाप्रवृत्तपुरुषप्रवर्त्तकवचनत्वमिच्छानुलोमत्वमिति व्यापकं निर्दोषमस्मदभिनवोन्मेषशालिप्रज्ञोनीतं लक्षणान्तरं विभावनीयं विवेकिभिः।।७७।।

है। प्रज्ञापनी आदि में विध्यादि भेद नहीं रहता है। इस तरह विशेषण अभाव से प्रयुक्त विशिष्ट का अभाव सिद्ध होगा। अतः अतिव्याप्ति दोष का संभव नहीं है। विध्यादि में आदि पद से आज्ञा आदि अभिप्रेत है।

इच्छानुलोम भाषा के संबंध में अन्य विद्वान मनीषियों के अभिप्रेय को बता कर विवरणकार ने इच्छानुलोम भाषा के निरूपण को जलांजलि दे दी है।।७६।।

अब प्रकरणकार ७७ वीं गाथा से असत्यामृषा भाषा के आठवें भेद अनभिगृहीत भाषा को बताते हैं।

गाथार्थ :- अनेक कार्य की पृच्छा करने पर निश्चितरूप से किसी एक कार्य का जिस प्रत्युत्तर से श्रोता को निश्चय न हो वह भाषा अनभिगृहीत भाषा है। अथवा डित्थादि वचन अनभिगृहीत भाषारूप है।७७।

✱ अनभिगृहीत भाषा - ८/४ ✱

विवरणार्थ :- अनेक कार्य की पृच्छा होने पर पूछे गये कार्यों के मध्य में किसी एक कार्य का श्रोता को निश्चय न हो ऐसे

१ सा भवति अनभिग्रहीता यत्राऽनेकेषु पृष्टकार्येषु। एकतरानवधारणमथवा डित्थादिकं वचनम्।।७७।।

प्रश्ने 'यत्प्रतिभासते तत्कुरु' इति प्रतिवचने कस्यापि शृङ्गग्राहिकयाऽनिर्द्धारणात् सा अनभिगृहीता भवति।

नन्वेकतरानवधारणं प्रतिषेधवचनेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिरिति **चेत्? न,** प्रकृतप्रवृत्त्यप्रतिबन्धकस्यानवधारणस्य विवक्षितत्वात्,

---

एकतरस्येति। इदं चैकतमस्याऽप्युपलक्षणम् एकग्रहे तत्सजातीयग्रहणन्यायात्, तमपः तरप्प्रत्ययसजातीयत्वात्। एवमभिगृहीतायां भावनीयम्। **शृङ्गग्राहिकयेति**। शृङ्गं गृह्यते यस्यां क्रियायां सा शृङ्गग्राहिका। अनेकधर्मकलिते वस्तुनि प्रातिस्विकधर्मस्य अनेकेषु पदार्थेषु वा प्रतिनियतपदार्थस्य प्रदर्शनेऽयं शृङ्गग्राहिकान्यायः प्रवर्त्तते। एतन्न्यायं प्रदर्शयता **बृहदारण्यकभाष्यवृत्तौ *आनंदगिरिणोक्तं*** 'यथा गोमण्डलस्थां गां शृङ्गं गृहीत्वा विशेषतो दर्शयति' ''एसा बहुक्षीरे''ति (बृ. उप. भ. वृ. १-४-४६६)। अनेनैव न्यायेन ***तत्त्वार्थभाष्ये*** नयानां निर्भासकत्वं प्रतिपादितम्। प्रकृते तृतीयार्थो जन्यत्वं तस्य चानिर्द्धारणपदार्थनिर्द्धारणाभावप्रतियोगिन्यन्वयः। ततः शृङ्ग्राहिकान्यायजन्यनिर्द्धारणाभावात् 'गम्ययपः कर्माधारे' (सि.हे.२/२/७४) इति ***सिद्धहेमसूत्रेण*** तादृशाभावमाश्रित्येत्यर्थः। व्यतिरेकमुखेन न्यायप्रदर्शनमेतत्।

'नैव किंचित् करणीयमि'त्यत्रैकतरानवधारणत्वसद्भावेनाऽनभिगृहितत्वं स्यादित्याशयेन मुग्धः शङ्कते **नन्विति**। समाधत्ते-**प्रकृतेति**। ततश्च प्रकृतप्रवृत्त्यप्रतिबन्धकैकतरानवधारणवचनत्वमनभिगृहीतत्वमितिफलितम्। प्रकृतत्वं च प्रकरणप्राप्तत्वं प्रतिज्ञाविषयत्वं वेत्यन्यदेतत्। एवञ्च नानिश्चयात्मकज्ञानेऽप्यतिव्याप्तिः। **तुल्यफलहेतुत्वप्रतिसन्धानेने**ति समानफलहेतुतानुमानेनेत्यर्थः। अयं भावः 'यत्प्रतिभासते तत्कुरु' इति प्रत्युत्तरं श्रुत्वा श्रोतुरेवमनुमानात्मको बोधो जायते - एतानि कर्माणि तुल्यफलसाधनानि पर्यनुयुक्ताप्तपुरुषेण अविशेषकर्तव्यतयाऽनुज्ञातत्वात्। यदि फलविशेषसाधनत्वमेतेषु स्यात् तर्हि शृङ्गग्राहिकयाऽऽप्तपुरुषानुज्ञातत्वं स्यात्, न चैतेषु विशेषरूपेणानुज्ञातत्वमपि तु अविशेषरूपेण,

---

प्रत्युत्तर को अनभिगृहीत भाषा कहते हैं। जैसे कि अनेक कार्य करने का अवसर उपस्थित होने पर 'यह कार्य करना या वह कार्य करना? इस उल्झन से ग्रस्त पुरुष जब अपने मान्य पुरुष को यह प्रश्न करता हैं कि - इन कार्यों में से मैं किस कार्य का प्रारंभ करूं? तब यदि मान्य पुरुष ऐसा जवाब दे कि - 'तुमको जो ठीक लागे वह करो' - तब यह प्रतिवचन अनभिगृहीत भाषास्वरूप ज्ञातव्य है, क्योंकि यह प्रत्युत्तर शृङ्गग्राहिकान्याय से अर्थात् विशेषरूप से किसी कार्य का निश्चायक नहीं है। शृङ्गग्राहिका न्याय यह है कि - अनेक गोपाल अपनी अपनी गायों को एक मैदान में चरने के लिए छोड देते हैं। सादृश्य होने के कारण - 'किस गोपाल की कौन कौन धेनु हैं' - इसका निश्चय साधारणतया सभी को नहीं होता है। जिसकी जो गाय होती है वह गोपाल अपनी अपनी गायों के विशेष धर्म को जानता है। इसलिए मैदान से अपने अपने गोष्ठ जाने के समय अपनी अपनी गायों का शृंग पकड कर उस दिशा में ले जाते हैं जिस दिशा में उनका गोष्ट होता है। शृङ्गं गृह्यते यस्यां क्रियायां सा शृङ्गग्राहिका - इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस क्रिया में शृङ्ग का ग्रहण आवश्यक होता है उस क्रिया को शृङ्गग्राहिका या शृङ्गग्राहिका न्याय कहते हैं। इस न्याय से अनेक कार्यों में से किसी कार्यविशेष का ज्ञान=निश्चय जहाँ हो वहाँ इस न्याय की अन्वयमुखी प्रवृत्ति होती है। प्रस्तुत में श्रोता को कार्यविशेष का निश्चय मान्य पुरुष के जवाब से नहीं होता हैं। अतः यहाँ व्यतिरेक मुख से इस न्याय की प्रवृत्ति होती है।

शंका :- *नन्वेक.* इति। आप यह कहते हैं कि - जिस भाषा से विशेषरूप से एक कार्य का निश्चय न हो वह अनभिगृहीत भाषा है तब तो निषेधवचन भी अनभिगृहीत वचनरूप बन जायेगा, क्योंकि किसी एक कार्य का अवधारण उस वचन से नहीं होता है। आशय यह है कि - इन कार्यों में से मैं किस कार्य को करूँ?' इत्यादि प्रश्न का प्रत्युत्तर 'इनमें से एक भी कार्य मत करो' ऐसा मिले तो यह निषेधवचन, जो प्रत्याख्यानी भाषारूप में मान्य है, कहा जाता है जिससे कार्यविशेष में प्रवृत्ति करने का श्रोता को निश्चय नहीं होता है। अतः प्रस्तुत कार्य में से किसी कार्यविशेष करने का निश्चायक न होने से यह वचन भी अनभिगृहीत भाषारूप बन जायेगा। निषेधवचन भी प्रवृत्तिविशेष करने का निश्चायक नहीं ही है।

✱ प्रवृत्ति के अप्रतिबन्धक अनवधारण का अनभिगृहीतभाषा में निवेश ✱

समाधान :- *न, प्रकृत.* इति। वाह! नाना के आगे ननिहाल की बातें! आप जो कहना चाहते हैं वह हमें ठीक तरह से मालुम है। इसलिए अनभिगृहीत भाषा का लक्षण सिर्फ अनवधारणवचन नहीं है किन्तु प्रकृत प्रवृत्ति का अप्रतिबन्धक अनवधारण वचन है

अस्याश्च फलं सर्वेषु कर्मसु तुल्यफलहेतुत्वप्रतिसन्धानेन प्रथमोपस्थित एव झटिति प्रवृत्तिर्न त्वधिकेच्छया कर्मान्तरसामग्रीविलम्बेन तद्विलम्ब इति ध्येयम्।

आदेशान्तरमाह-**अथवा डित्थादिकं** = यदृच्छामात्रमूलकं, **वचनं** अनभिगृहीता। एतन्मते प्रागुक्तं वचनमाज्ञापनीविशेष एवेत्य-

तस्मात्तुल्यफलसाधनान्येतानि। तेन किमित्याह **प्रथमोपस्थित एव झटिति प्रवृत्तिरिति**। फलमित्यत्रान्वीयते तुल्यफलसाधनत्वानुमानेनोपस्थितिलाघवात् प्रथमोपस्थित एव झटिति प्रवृत्तिरनभिगृहीतायाः फलमिति। एवकारेणाऽप्रथमोपस्थितकार्यव्यवच्छेदः क्रियते। न हि तुल्यफलसाधनत्वज्ञाने सति कश्चिदुपस्थितिकृतगौरवं सहते। झटितिपदफलमाह-**न त्वधिकेच्छयेति** न त्वधिकलाभेच्छयेत्यर्थः। तृतीयार्थः प्रयोज्यत्वम्। ततोऽधिकलाभेच्छाप्रयोज्यकर्मान्तरसामग्रीविलम्बप्रयोज्यः **तद्विलम्बः** = प्रवृत्तिविलम्बो नास्तीत्यर्थः। अयं भाव इच्छाया तत्तत्कर्मसामग्रीघटकत्वेन तत्तत्कर्मसम्पाद्यफलाऽधिकलाभेच्छा जायते तदा तत्तत्कर्मसामग्रीघटकेच्छाविरहप्रयोज्यतत्तत्कर्मसामग्रीविघटनं स्यादेव किन्तु सैव नास्ति प्रसक्तेषु प्रस्तुतेषु कर्मसु तुल्यफलहेतुत्वनिश्चयेन अधिकफलहेतुत्वनिषेधस्याऽऽक्षेपात्, तस्य चाधिकलाभेच्छाप्रतिबन्धकत्वादिति मूलं नास्ति कुतः शाखा? इति न्यायापातः। इदं च यथाश्रुतव्याख्यानं कृतम्। यदि च कर्मान्तरसामग्रीविलम्बेनेत्यस्यानन्तरं वाकारः स्यात्तदा कर्मान्तरपदव्याख्यानं सुष्ठु सङ्गच्छेत्। तदा कर्मान्तरसामग्रीविलम्बनिषेधहेतुश्च प्रथमोपस्थित एव झटिति प्रवृत्तिरिति विभावनीयं सुधीभिः।

श्रीमलयगियाद्यभिप्रायमुक्त्वा साम्प्रतं श्रीजिनदासगणिमहत्तराद्यभिप्रायं प्रदर्शयति **आदेशान्तर**मिति। **यदृच्छामात्रमूलकमिति** अलौकिकधातुमूलकमिति। **वचनमिति**। एतन्मते चाप्रसिद्धप्रवृत्तिनिमित्तकपदत्वमनभिगृहीतत्वमिति

- ऐसा यहाँ अभिप्रेत है। आपसे प्रदर्शित निषेध वचन तो प्रस्तुत प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक है, अप्रतिबन्धक नहीं। अतः तादृश निषेधवचन में अनवधारणवचनत्वरूप विशेष्य अंश की विद्यमानता होने पर भी प्रकृतप्रवृत्तिअप्रतिबन्धकत्वरूप विशेषण अंश की अविद्यमानता है। अतः विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव की सिद्धि निराबाध होती है। अतः तादृशनिषेध वचन में अनभिगृहीत भाषा के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। अब आपकी शंका निर्मूल हो जाती है।

✱ अनभिगृहीत भाषा का फल ✱

अस्याश्च. इति। अनभिगृहीत भाषा से सब कार्य में समान फल की साधनता का अवगम होने से प्रथम उपस्थित कार्य में ही श्रोता की तुरंत प्रवृत्ति होती है। आशय यह है कि - जब मान्य पुरुष यह कहता है कि 'तुमको जो ठीक लगे वह करो' तब श्रोता को यह ज्ञात होता है कि "इन सब कार्यों का फल समान ही है, क्योंकि यदि इन कार्यों के फल में विशेषता होती तब तो अवश्य विशेषअधिक फलवाले कार्य की मान्य पुरुष ने अनुज्ञा दी होती। मगर आप्त पुरुष ने विशेषरूप से कार्य का नाम नहीं लिया है। अतः इन सब कार्यों का फल समान ही है। ये सब कार्य समानफल के साधन है।" ऐसा निश्चय होने से जो कार्य प्रथम उपस्थित होता है उसमें कार्यकर्ता की प्रवृत्ति तुरंत होती है। कार्य की प्रवृत्ति में विलंब नहीं होता है, क्योंकि श्रोता=कार्यकर्ता को सब कार्य में तुल्यफल की साधनता का निश्चय होने से अधिक फल की इच्छा नहीं होती है। यदि प्रस्तुत अनेक कार्य में तुल्य फल की हेतुता का निश्चय न हो तब तो श्रोता को अधिक फल की इच्छा हो सकती है, जिससे तत् तत् कार्यसामग्री में विलंब हो सकता है, क्योंकि इच्छा भी कार्यप्रवृत्ति की सामग्री का एक अंश है। मगर प्रस्तुत में उपस्थित सब कार्य में समान फल की हेतुता का निश्चय हो जाने से अधिक फल की इच्छा नहीं रहती है। अतः कार्यसामग्री में विलंब भी नहीं होता है। अतएव प्रथमोपस्थित कार्य की प्रवृत्ति में विलंब भी नहीं होता है अपि तु उसीमें तुरंत ही प्रवृत्ति होती है। 'ध्येयं' शब्द से विवरणकार इस संबंध में शांति से ध्यान देने की सूचना दे रहे हैं।

✱ अनभिगृहीत भाषा में आदेशान्तर का प्रदर्शन ✱

आदेशा. इति। एक मत से अनभिगृहीत भाषा का स्वरूप और दृष्टांत बता कर अन्य मत से अनभिगृहीत भाषा को विवरणकार बताते हैं। अनभिगृहीत भाषा के संबंधी अन्य मत यह है कि डित्थादि वचन, जो कि यदृच्छामात्रमूलक होता है वह अनभिगृहीत भाषा है। इस मत के अनुसार अनभिगृहीत भाषा का लक्षण यदृच्छामात्रमूलकवचनत्व ऐसा प्राप्त होता है। असंभवित अर्थवाले धातु

वधेयम्।।७७।। उक्ताऽनभिगृहीता ८। अथाभिगृहीतामाह।

अभिगहिया पडिवक्खो, संसयकरणी य सा मुणेयव्वा। जत्थ अणेगत्थपयं सोऊण होइ संदेहो।।७८।।[1]

अभिगृहीता प्रतिपक्षः = विपरीता, प्रस्तावादनभिगृहीताया इति लभ्यते। तथा चानेकेषु कार्येषु पृष्टेषु यदेकतरस्याऽवधारणम् लक्षणं फलितम्। प्रकृते डीङ्धातुरलौकिकः तदुक्तं ***हेलाराजेन वाक्यपदीयवृत्तिसमुद्देशवृत्तौ*** कल्पनया तु डयतिधातुरसम्भवदर्थो डित्थस्याऽन्वाख्यानायाऽपोद्ध्रियते।। (वा.प. ३कांड-वृत्तिस. श्लो. ७७-वृत्ति.) ***यत्तु रघुनाथशर्मणा*** "यदृच्छाशब्दे तु प्रवृत्तिनिमित्ते सति नार्थसम्भवः (वा.प.कां. ३-अम्बाकर्त्रीटीका पृ. १८९) **इत्युक्तं तदसत्** काष्ठमयहस्त्यादेः डित्थपदार्थत्वात्। तदुक्तं ***पदार्थलक्षणसङ्ग्रहे***-डित्थः काष्ठमयहस्ती १ निपुणमनुष्यः २ इति। अन्यत्राऽप्युक्तम्- 'श्यामरूपो युवा विद्वान् सुन्दरः प्रियदर्शनः। सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च डित्थ इत्यधीयते।। (डित्थादिकमित्यत्र आदिशब्देन डवित्थादेर्ग्रहणम्। काष्ठमयमृगस्य डवित्थपदार्थत्वात्।

ननु *श्रीयाकिनीमहत्तरासूनुना दशवैकालिकवृत्तौ* 'अनभिगृहीता भाषा अर्थमनभिगृह्य या उच्यते डित्थादिवदि'त्युक्तं ***प्रज्ञापनाटिप्पणे*** च तेनैव 'अत्थाणभिग्गहेणं बालुम्मत्तपलायवयहसितादि अणभिग्गहिया, घडातिअत्थपडिवायणमभिग्गहिया, एसऽवायणी अणभिग्गहिया सैव' (प्र.टी.भा.पद.पृ. ८३) इत्युक्तमिति कथं न तत्र विरोध इति **चेत्**;? ***मैवम्, दशवैकालिकवृत्तौ श्रीजिनदास***गणिमहत्तराभिप्रायमनुरुध्योक्तम्। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः***' अणभिग्गहिया णाम जा भासा अत्थं अणभिगेण्हिऊण केवलं वायामित्तमेव उदाहरिज्जति जहा डित्थो डवित्थो, अमट्टो, प्रार्थन इति। अहवा-'उससियं नीससियं निच्छूढं खासियं च छीयं च। णिस्सिंघियमणुस्सारं अणक्खरं छेल्लियादीयं।।१।।" (दश.चू.श्रीजिन.पृ.२३९) इति। ***प्रज्ञापनाटिप्पणे*** च ***अगस्त्यसिंहसूरेः*** प्राचीनतमदशवैकालिकचूर्णिकारस्य मतं चेतसिकृत्योक्तम्। तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ***-'अत्थाणभिग्गहएण बालुम्मत्तप्पलावहसियायि अणभिग्गहिया' (दश. अग. चू. पृ. १६१) **न च** चूर्णिकारयोर्वचने कथं न विरोधः? इति **वक्तव्यम्** अभिप्रायान्तरेणार्थप्रतिपादनपरत्वात्; अपेक्षाभेदेऽविरोधात्, नयज्ञानस्य नयान्तरजन्यज्ञानप्रतिबन्धकत्वाभावात्,अन्यथा दुर्नयत्वप्रसङ्गादिति समाकलितसमयसारैः समाधेयम्।

ननु डित्थादिवचनस्यानभिगृहीतत्वे पूर्वप्रदर्शिताया 'यत्प्रतिभासते तत्कुरु' इत्यादिभाषायाः कुत्रान्तर्भावः? इत्याशङ्कायामाह **एतन्मते** = द्वितीयमते। **आज्ञापनीविशेष एवेति**। प्रतिनियतावधारणशून्यकरणवचनरूपाज्ञापनी न तु केवलं करणवचनरूपेत्याशयो भाति। अयं भावः 'इदं कुरु' इत्यत्र शृङ्गग्राहिकयाऽऽज्ञानिर्देशः क्रियते 'यत्प्रतिभासते तत्कुरु'इत्यत्र च शृङ्ग्राहिकां विनैवाज्ञा दीयत इत्यनयोर्विशेषः। **एतेन** असत्यामृषाविभागन्यूनतादोषः **प्रत्युक्तः** विशिष्टस्य कथञ्चित् शुद्धानतिरेकात्। न हि नीलघटो घटो न भवतीत्यादिसूचनार्थ**मवधेयमित्युक्तम्**।।७७।।

प्रतिपक्ष इति। प्रतिपक्षपदार्थज्ञानस्य पक्षज्ञानापेक्षत्वात् तत्प्रदर्शयति-**प्रस्तावादिति** प्रकरणादित्यर्थः। **'इदमिदानीं कर्तव्यमिति**। इदं चोपलक्षणं 'इदमिदानीं कर्तव्यमिदं ने'त्यस्य। तदुक्तं ***प्रज्ञापनावृत्तौ*** - 'अभिगृहीता प्रतिनियतार्थव-

से निष्पन्न वचन को यदृच्छामात्रमूलकवचन कहा जाता है। इस मत के अनुसार पूर्व में जो 'यत्प्रतिभासते तत्कुरु' दृष्टान्त बताया गया है वह आज्ञापनीविशेषस्वरूप ही है, अन्यभाषास्वरूप नहीं - यह निश्चितरूप से मानना चाहिए।।७७।।

अनभिगृहीत भाषा का निर्वचन पूर्ण हुआ। अब प्रकरणकार श्रीमद् असत्यामृषा भाषा के निरूपण में क्रमप्राप्त अनभिगृहीत एवं संशयकरणी भाषा का ७८ वीं गाथा से निरूपण करते हैं।

गाथार्थ :- अनभिगृहीत से विपरीत भाषा अभिगृहीत भाषा कही जाती है। जिस भाषा के अनेकार्थक पदों को सुन कर श्रोता को संशय हो वह संशयकरणी भाषारूप से ज्ञातव्य है।।७८।

१ अभिगृहीता प्रतिपक्षः संशयकरणी च सा मुणि(ज्ञा)तव्या। यत्रानेकार्थपदं श्रुत्वा भवति सन्देहः।।७८।।

'इदमिदानीं कर्तव्यमि'ति साऽभिगृहीता। अथवा घट इत्यादिप्रसिद्धप्रवृत्तिनिमित्तकपदाभिधानं सेति' द्रष्टव्यम्। उक्ताऽभिगृहीता, ९।

धारणँ यथा 'इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति' (प्रज्ञा. भा. प. सू. १६५ वृत्तिः **नन्वितरांशनिषेधेनेयं** प्रत्याख्यानी कथं न स्यात्? विनिगमनाविरहात् यद्वा मिश्रमोहनीयवदियमतिरिक्तधर्मान्तराक्रान्ता स्यादिति **चेत्? उच्यत** निषेधांशसत्त्वेऽपि प्रतिनियतार्थावधारणांशप्राधान्येनेयमभिगृहीतोच्यते।

वस्तुतस्तु अभिगृहीतत्वानभिगृहीतत्वयोरेव व्याकृतत्वाव्याकृतत्वयोरेव वाऽसत्यामृषात्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मत्वं आमन्त्रणीत्वादेस्तु असत्यामृषात्वसाक्षाद्व्याप्यव्याप्यधर्मत्वमेव। **एतेन** 'अनयोरन्यतरत्कर्तव्यम्, इदं ने'त्यादेः कर्तव्यत्वप्रतिपादकत्वेन प्रज्ञापनीत्वं स्याद्, निषेधकरणेन प्रत्याख्यानीत्वं वा स्यान्न तु अनभिगृहीतत्वमिति **कुचोद्यमपहस्तितम्** असत्यामृषात्वपरम्परव्याप्यानेकधर्माक्रान्ताया भाषायाः तत्साक्षाद्व्याप्यधर्मावच्छिन्नसमावेशप्रदर्शनस्य न्याय्यत्वात्, धर्मान्तरत्वाभ्युपगमे 'हे देवदत्त! इदं कुरु' इत्यादौ आमन्त्रणीत्वाज्ञापनीत्वादिसाङ्कर्येणाऽसत्यामृषाया अपरिमितभेदप्रसङ्गात्, तत्प्रदर्शनस्य व्यवहारानुपयोगित्वाद् गौरवाच्च। **न च** तत्र वाक्यान्तरकल्पना **युक्ता** कल्पनागौरवात्, तथाननुभवाच्चेति भावनीयं तत्त्वमेतत्।

अगस्त्यसिंहसूर्यादिमतेनाऽऽदेशान्तरमाह **अथवेति।** अतिरोहितार्थमिति न प्रतन्यते। **लवण-घोटकादिष्विति।** आदिशब्देन वस्त्रपुरुषयोर्ग्रहणम्। **प्रकरणादीनामिति** तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनामिति। आदिशब्देन संयोगविप्रयोगसाहचर्यादीनां ग्रहणम्। **विशिष्य**=विशेषरूपेण **हेतुत्वेन**। प्रकरणाऽव्यवहितोत्तरजायमानाशाब्दबोधं प्रति प्रकरणस्य हेतुत्वं संयोगाऽव्यवहितोत्तरजायमानशाब्दबोधं प्रति च संयोगस्य हेतुत्वं; स्वाऽव्यवहितोत्तरजायमानत्वसम्बन्धेन प्रकरणादीनां शाब्दबोधहेतुत्वमिति यावत्। तेन न कोऽपि व्यभिचारः। अयं भावः यावद्धर्मावच्छिन्ने पदशक्तिः गृह्यते तावद्धर्मावच्छिन्नं तत्पदेनोपस्थाप्यत इति नियमः। ततो लवणत्वाश्वत्वाद्यवच्छिन्नेषु सैन्धवपदशक्तिग्रहात् तत्पदं तावद्धर्मावच्छिन्नोपस्थापकं भवति। तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वेनार्थविशेषनिर्णयार्थं प्रकरणादिभिः तन्मृग्यते। ततोऽर्थविशेषविश्रान्तः शाब्दबोधो जायते यथा प्रकृते लवणतात्पर्यग्राहकभोजनप्रकरणे सति 'लवणानयनं मम कर्तव्यमिति'त्याकारकः, अश्वतात्पर्यग्राहकप्रयाणप्रकरणे सति' अश्वानयनं मम कर्तव्यमि'त्याकारकः शाब्दबोधो जायते। क्वचित्तात्पर्यग्रहः संयोगात् यथा घटोऽपसारणीय इत्यादौ समीपस्थे घटे, क्वचित् विप्रयोगात् यथा 'घटमत्रानय' इत्यादौ घटपदस्य दूरस्थे घटे, क्वचित् साहचर्यात् यथा घटं पटञ्चानयेत्यादौ एकदेशवृत्तिघटपटयोः। एवमाभिमुख्यादितोऽपि द्रष्टव्यम्। स्वाऽव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन तेषां हेतुतेति न व्यभिचारः

न च प्रकरणादीनामननुगमाच्छाब्दबोधहेतुत्वं नास्तीति **वाच्यम्** तेषु जनकतासम्बन्धेन तात्पर्यज्ञानत्वावच्छिन्नवत्त्वस्याऽनुगतधर्मस्य सत्त्वात्। **एतेन** तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात् कारणमस्तु

❋ अभिगृहीत भाषा - ९/४ ❋

विवरणार्थ :- यद्यपि मूल गाथा में प्रतिपक्ष अर्थात् विपरीत भाषा अभिगृहीत है ऐसा कहा गया है मगर किस भाषा से विपरीत यह नहीं कहा गया है। अतः अभिगृहीत भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता है तथापि यहाँ अनभिगृहीत भाषा के बाद अभिगृहीत भाषा का निरूपण चल रहा है। अतः प्रकरण के बल से अनभिगृहीत भाषा का प्रतिपक्षशब्दार्थ के प्रतियोगी रूप में लाभ होता है। तब अर्थ यह होगा कि - जो भाषा अनभिगृहीत भाषा से विपरीत है वह अभिगृहीत भाषा है। इस बात को स्पष्ट करते हुए विवरणकार कहते हैं कि - जब अनेक कार्यों की पृच्छा की जाती है तब उनमें से किसी एक का निर्धारण = अवधारण करानेवाली भाषा अभिगृहीत भाषा है। जैसे कि - 'इन कार्यों में से मैं क्या करूँ?' इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में 'अभी तुम यह करो' ऐसा कहा जाय तो यह भाषा अभिगृहीत भाषारूप ज्ञातव्य है, क्योंकि इस प्रत्युत्तर से श्रोता को किसी एक कार्य का निश्चय हो जाता है। अनभिगृहीत भाषा संबंध में अन्य मत को बताते हुए विवरणकार कहते हैं कि प्रसिद्ध प्रवृत्ति-निमित्तवाले पद का कथन करना यह अभिगृहीत भाषा है जैसे कि घट इत्यादि शब्द। घटशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व प्रसिद्ध है। अतः घट आदि शब्दोच्चारण अभिगृहीत भाषा

अथ **संशयकरणीमाह। संशयकरणी च सा** '**मुणियव्वा** = ज्ञातव्या, **यत्र** = यस्यां, **अनेकार्थं** = बह्वर्थाभिधायकं, **पदं श्रुत्वा** श्रोतुः **सन्देहो भवति**। तथाहि - सैन्धवमानयेत्युक्ते सैन्धवपदस्य लवणघोटकादिष्वनेकेष्वर्थेषु शक्तिग्रहादनेकार्थपदजन्यशाब्दबोधे प्रकरणादीनां विशिष्य हेतुत्वेन तद्विरहे शाब्दबोधविरहेऽपि भवति वक्त्रभिप्रायसन्देहात् 'लवणानयनं घोटकानयनं वा मम कर्तव्यं'

(मुक्ता. पृ. ६४४) इति ***मुक्तावलीकारस्य*** वचनं **निरस्तम्** एवं सति यागदानादीनामपि स्वर्गहेतुता विशीर्येत। वस्तुतस्तु तृणारण्यादीनां वह्निं प्रतीव प्रकरणादीनां शाब्दबोधं प्रत्येकशक्तिमत्त्वेनैव हेतुत्वम्। **तेन** 'प्रकरणादीनामननुगतानां नार्थविशेषबोधे शक्तेः सहकारित्वं, तात्पर्यग्राहकत्वेन तदनुगमे तु लाघवात्तात्पर्यग्रहत्वेनैव तत्सहकारित्वकल्पनमुचितम्' (म.स्या.र.पृ. २३) इति **मध्यमस्याद्वादरहस्य**वचनविरोधोऽपि **परिहृत** इति विभावनीयम्।

तद्विरहे शाब्दबोधविरहेऽपीति। प्रकरणादिविरहे लवणाशाब्दबोधौपयिकसामग्र्या घोटकादिशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वात् घोटकादिशाब्दबोधसामग्र्याश्च लवणशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्वात् तादृशवाक्यात् शाब्दबोधानुत्पादेऽपीति। **ननु** शाब्दबोधविरहे संशय एवं कथं भवेत्? येनेयं संशयकरणी स्यादित्याशङ्कायामाह **भवति वक्त्रभिप्रायसन्देहादि**ति। 'लवणानयनं घोटकाद्यानयनं वा वक्तुरभिप्रेतमि'ति संशयात्, लवणानयनकर्तव्यताबुबोधयिषयेदमुक्तं घोटकाद्यानयनकर्तव्यताबुबोधयिषया वेति संशयादिति यावत्। **मानसः सन्देह इति**। उपनयसहकारेणेति गम्यम्, इदं च **जीर्णनैयायिकम**तंनुरुध्योक्तम्। कल्पान्तरं पुरस्कृत्याह-**परोक्षसंशयाभ्युपगम** इति। शाब्दसंशयाभ्युपगम इति। संशयात्मकानुमित्यादेरनभ्युपगमात्। **तत्संशये** = तात्पर्यसंशये। **शाब्द एवे**ति। एवकारो मानससंशयव्यवच्छेदार्थः।

है। यह मत चूर्णिकार का है। इस तरह संक्षेप से अनभिगृहीत भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ।

* संशयकरणी भाषा - १०/४ *

अब असत्यामृषा भाषा के दशवें भेद संशयकरणी भाषा का निरूपण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि - जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उस पद को सुन कर श्रोता को सन्देह होता है कि 'इस शब्द का अर्थ यह है कि वह है?' अतः अनेक अर्थवाले शब्दों से घटित भाषा संशयकरणी भाषा कही जाती है। जैसे कि 'सैन्धवमानय' यह भाषा। सैन्धव शब्द के अर्थ नमक, अश्व आदि होते हैं। विवरण में जो आदिशब्द दिया है उससे वस्त्र और पुरुष का ग्रहण अभिप्रेत है क्योंकि सैंधव संस्कृतशब्द के अर्थ नमक, अश्व, वस्त्र और पुरुष हैं। सैंधवशब्द की नमक, अश्व आदि अर्थ में शक्ति गृहीत होने से सैंधवशब्द से उन अर्थों का स्मरण होता है। जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उस शब्द के सब अर्थ सर्वत्र उपयोगी नहीं होते हैं किन्तु अर्थविशेष यानी प्रतिनियत अर्थ ही उपयोगी होता है। अनेकार्थक शब्द का प्रस्तुत में वक्ता को क्या अर्थ अभीष्ट है? उसका ज्ञान श्रोता को प्रकरण आदि के बल से होता है। जैसे कि जब भोजन का प्रकरण होता है तब 'सैंधवमानय' वाक्य से 'नमक लाना मेरा कर्तव्य है' ऐसा श्रोता को ज्ञान होता है क्योंकि भोजनप्रकरण से सैन्धवशब्द का लवण अर्थ में तात्पर्य है - ऐसा श्रोता को ज्ञान होता है। वैसे ही जब प्रयाण का प्रसंग होता है तब 'अश्व को लाना मेरा कर्तव्य हैं' ऐसा श्रोता को शाब्दबोध होता है, क्योंकि गमनप्रकरण अश्वतात्पर्य यानी अश्व का बोध कराने के अभिप्राय से सैन्धवशब्द का प्रयोग किया गया है - इसका ज्ञापक होता है। इस तरह अनेक अर्थवाले शब्द से जन्य बोध के प्रति प्रकरणादि विशेषरूप से हेतु हैं यह निश्चित होता है।

* अनेकार्थक शब्द से संशय की उत्पत्ति *

तद्विरहे शाब्द. इति। मगर जहाँ भोजन-गमन आदि का प्रकरण नहीं होता है वहाँ श्रोता को अनेकार्थक शब्दों को सुन कर शाब्दबोध नहीं होता है अर्थात् 'नमक लाना मेरा कर्तव्य है' ऐसा निश्चय या तो 'अश्व को लाना मेरा कर्तव्य है' ऐसा निश्चय नहीं होता है। उस स्थल में श्रोता को वक्ता के अभिप्राय में संशय होता है कि - 'नमकानयन में मुझे नियुक्त करना वक्ता को अभिप्रेत है या अश्व आनयन में नियुक्त करना?' वक्ता के अभिप्राय में ऐसा संशय हो जाने पर श्रोता को अपने विषय में भी यह संशय हो जाता है कि 'नमक लाना मेरा कर्तव्य है या अश्व आनयन?' यह संशय मानस प्रत्यक्ष ज्ञानरूप होता है। संशय को प्रत्यक्ष माननेवाले प्राचीन नैयायिकों के मत के अनुसार मानस संशय की उत्पत्ति यहाँ बताई गई है।

१ मुणितव्या - इति मुद्रितप्रतौ।

इति मानसः सन्देहः। परोक्षसंशयाभ्युपगमे तात्पर्यनिश्चयस्य प्रतिनियतार्थनिश्चयहेतुत्वेन तत्संशये शाब्द एव वा स इतीयं संशयकरणी।

अनेकार्थपदं श्रुत्वेति प्रायिकं, संशयहेतुत्वमात्रमेव लक्षणम्। अतः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति भाषाऽपि प्रतियोगिपदाभ्यां कोटिद्वयं

प्रायिकमिति परिचायकमिति। परिचायकत्वञ्च तदघटकत्वे सति अर्थविशेषज्ञापकत्वम्। अनेकार्थपदं श्रुत्वेत्यस्य लक्षणवृत्तितयाऽङ्गीकारे तु इदं तटस्थलक्षणं स्यात्। कादाचित्कत्वे सति व्यावर्तकत्वं तटस्थलक्षणत्वं यथा देवदत्तस्य तिलकादिकम्। सत्यन्तेन स्वरूपलक्षणव्यवच्छेदः क्रियते। ननु तर्हि अस्याः स्वरूपलक्षणं किमित्याशङ्कायामाह - **संशयहेतुत्वमात्रमेव लक्षण**मिति। मात्रपदमनेकार्थपदश्रवणव्यवच्छेदार्थः तेन नाऽव्याप्तिरनुपदमेव वक्ष्यमाणस्थले। एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थः, स च लक्षणमित्यनन्तरं योज्यः यद्वा एवकारस्य तात्पर्यग्रहकत्वमिति भावनीयम्। संशय-हेतुवचनत्वमिति प्रकरणाल्लभ्यते। तेन न सामान्यधर्मदर्शनादावतिव्याप्तिः। प्रसङ्गात् लक्षणलक्षणानि प्रदर्श्यन्ते। व्यतिरेकिहेतुवचनं लक्षण**मित्येके**। लक्ष्यमात्रव्यापको धर्मो लक्षण**मित्यन्ये**। असाधारणधर्मो लक्षणमि**त्यपरे**। लक्षणं ज्ञानजनकज्ञानविषय इति **परे**। अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषत्रयशून्यं लक्षणमित्यपि **केचित्**। सजातीयविजातीय-व्यावर्तको लक्ष्यगतः कश्चिल्लोकप्रसिद्धाकारो लक्षणमिति **ऋजवः**। **वेदान्तिन**स्तु लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं लक्षणम्। तच्च लक्ष्यतावच्छेदकेन सह समव्याप्तिकत्वम्, यथा अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृचैतन्यमिति **वदन्ति**। समानासमानजातीयव्यवच्छेदकं लक्षणमिति **पामराः**। व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणमिति तु स्याद्वादिनो **वयम्**।

प्रतियोगिपदाभ्यामिति। स्थाणुपुरुषपदाभ्यां। प्रतियोगित्वं चात्र विरोधित्वम्। **न चात्र** विरोधो न पदयोः किन्तु तादात्म्येन पदार्थयोः समवायेन पदार्थतावच्छेदकयोर्वेति पदयोः कथं प्रतियोगित्वमिति **वाच्यम्** प्रतियोगिवाचक-पदाभ्यामित्यत्र तात्पर्यात्। **कोटिद्वयमिति**। स्थाणुत्वपुरुषत्वरूपकोटिद्वयम्। कोटित्वं च प्रकृते संशयजनकज्ञानी-

✱ परोक्षसंशय की उत्पत्ति ✱

परोक्षसंशयाभ्यु. इति। नव्य मनीषियों ने परोक्ष संशय का भी स्वीकार किया है। उनका आशय यह है कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का हेतु होता है। तात्पर्य यानी वक्ता के अभिप्राय का निश्चय होने पर श्रोता को निश्चयात्मक शाब्दबोध होता है वैसे तात्पर्य में संशय होने पर यानी संशयात्मक तात्पर्यज्ञान होने पर संशयात्मक शाब्दबोध होना न्यायप्राप्त है। अतः अनेकार्थक पद के तात्पर्य का निश्चय होने पर जैसे प्रतिनियत अर्थ का निश्चयात्मक शाब्दबोध होता है वैसे ही अनेकार्थक पद के तात्पर्य में संदेह होने पर संशयात्मक शाब्दबोध होता है कि 'लवण आनयन मेरा कर्तव्य है या अश्व आनयन?' संशय प्रत्यक्ष ही होता है परोक्ष नहीं - इसमें कोई विनिगमक न होने से वह नियम मान्य नहीं हो सकता है। अतः अपनी सामग्री के अनुसार संशय कभी प्रत्यक्षरूप होता है और कभी परोक्षस्वरूप होता है। परोक्ष संशय का अर्थ यहाँ शाब्द संशय ऐसा अभिप्रेत है। अतः नव्य नैयायिक के मत के अनुसार तात्पर्यग्राहक भोजनप्रकरण आदि के अभाव में 'सैन्धवमानय' शब्द से शाब्दज्ञानात्मक संशय होता है। प्राचीन नैयायिक के मतानुसार यहाँ मानस प्रत्यक्षात्मक संशय होता है। संशय का स्वरूप चाहे कैसा भी हो मगर तादृश संशय को उत्पन्न करने से वह भाषा संशयकरणी भाषा कही जाती है। यथानाम तथा गुण।

✱ संशयकरणी भाषा का लक्षण ✱

अनेका. इति। यहाँ जो कहा गया है कि जिस भाषा के अनेक अर्थवाले पद को सुन कर श्रोता को संशय होता है वह संशयकरणी भाषा है। उसमें अनेकार्थवाले पद को सुन कर - यह अंश प्रायिक है। अर्थात् वह अंश सब संशयकरणी भाषा में रहता है - ऐसा नहीं है मगर अमुक संशयकरणी भाषा में ही रहता है। अतः वह संशयकरणी भाषा के लक्षण में प्रविष्ट नहीं है, सिर्फ परिचायक है। संशयकरणी भाषा का लक्षण तो सिर्फ संशयहेतुत्व ही है जो कि उस भाषा में रहता ही है। अर्थात् संशयहेतुवचनत्व ही संशयकरणी भाषा का लक्षण है। संशयकरणी भाषा का ऐसा लक्षण बनाने से सब संशयकरणी भाषा का संग्रह होता है। अतः 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह भाषा भी संशयकरणी के उक्त लक्षण से संगृहीत होती है। उक्त भाषा में स्थाणु और पुरुष ये दो पद प्रतियोगिपद है अर्थात् विरुद्ध अर्थ के वाचक हैं। स्थाणुत्व और पुरुषत्व एक वस्तु में नहीं रहते हैं। अतः परस्परविरुद्ध हैं। विरुद्ध

वाकारेण च विरोधमुपस्थाप्य संशयं जनयन्ती तादृश्येवेति ध्येयम्।।७८।। उक्ता संशयकरणी १०। अथ व्याकृतामाह

[1]भासा असच्चमोस पयडत्था वाअडा मुणेयत्वा। अइगंभीरमहत्था अहव अव्वत्ता।।७९।।

व्याकृताऽसत्यामृषा भाषा, प्रकटः = सुज्ञानः **अर्थो** यस्यास्तादृशी **[2]मुणेअव्वा** = ज्ञातव्या 'यथा एष भ्राता देवदत्तस्ये'त्यादिः। अर्थस्य सुज्ञानत्वं च 'तात्पर्यज्ञानादिबहुहेतुसम्पत्त्यविलम्बेनोऽचिरकालोत्पत्तिकप्रतिसन्धानविषयत्वं बोध्यम् ११।।

प्रकारतावत्त्वरूपं ग्राह्यम्। **विरोधमिति**। एकधर्मितावच्छेदकविशिष्टविशेष्यकत्वावच्छेदेन विरुद्धत्वेन नानाधर्मप्रकारत्वं संशयत्वमिति तात्पर्येण 'एकधर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारकज्ञानं संशय इति ब्रुवतां मतेन द्विकोटिक एव संशयः, विरोधज्ञानं च तन्मते संशयकारणम्। अतो 'वाकारेण विरोधमुपस्थाप्य' इति तन्मतेनेदमुक्तमिति मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु 'अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा? इत्यत्र स्थाणुत्व-तदभाव-पुरुषत्व-तदभावरूपकोटिचतुष्टयशाल्येव *संशयः स्वीक्रियते।* तादृशवाक्यादिदम्पदाद्धर्मिणः, स्थाणुपुरुषपदाभ्यां स्थाणुत्व-पुरुषत्वयोर्वाकारद्वयेन चाभावद्वयस्योपस्थितेरित्यादि-सूचनार्थं ध्येयमित्युक्तम्।।७८।। (ग्रन्थाग्रम्-५५०० श्लोक)।

तात्पर्यज्ञानादीति। आदिशब्देन पद-वृत्ति-पदार्थाकाङ्क्षा-योग्यतासत्तिज्ञानग्रहणं बोद्धव्यम्। कारणसप्तकजन्य त्वाच्छाब्दबोध्येति हेतोः। तात्पर्यज्ञानादिबहुहेतुसमवधानविलम्बाभावप्रयोज्या अचिरकालोत्पत्तिः यस्य प्रतिसन्धानस्य = शाब्दबोधस्य तद्विषयत्वरूपं सुज्ञानत्वमर्थस्याऽत्राभिप्रेतम्। अयं भावः शाब्दबोधस्य तात्पर्यज्ञानादिजन्यत्वेन तद्वि-लम्बे शाब्दबोधविलम्बो भवति तदविलम्बेन च तदविलम्बः। व्याकृतभाषाया भावितार्थत्वेन तात्पर्यज्ञानादिक-विलम्बेनोपतिष्ठते। अतः शाब्दबोधोऽपि ताजक् सम्पद्यते। तादृशशाब्धबोधविषयत्वेन सोऽर्थः तद्भाषाऽपेक्षया सुज्ञानो भण्यते। तादृशविषयताकत्वेन सा व्याकृता भण्यते। प्रकटार्थकासत्यामृषावचनत्वं तल्लक्षणं बोद्धव्यम्। अतो न जनपदसत्यादावतिव्याप्तिः। अत्र बहु वक्तव्यम्। तत्तु नोच्यते विस्तरभयात्।

अर्थ के वाचक उन दो पदों से स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप दो कोटि उपस्थित होती हैं। तथा उस वाक्य में जो 'वा' शब्द है उससे विरोध की उपस्थिति होती है। पुरुषत्व और स्थाणुत्वरूप दो धर्म में परस्पर विरोध का ज्ञान संशय का जनक है, क्योंकि एक ही धर्मी में अनेक विरोधी धर्म का भान होना यह संशय का ही स्वरूप है। अतः संशयजनक होने से 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा?' यह भाषा भी संशयकरणी ही है। इस संबंध में शांति से ध्यान देने की सूचना कर के संशयकरणी भाषा के विवेचन को विवरणकार समाप्त करते हैं।।७८।।

अब प्रकरणकार ७९ वीं गाथा से व्याकृत और अव्याकृत भाषा का निरूपण कर रहे हैं।

गाथार्थ :- स्पष्ट अर्थवाली असत्यामृषा भाषा व्याकृत भाषा कही जाती है। अव्याकृत भाषा वह है जो अत्यंत गंभीर महार्थ की बोधक होती है या तो अव्यक्त भाषा अव्याकृत भाषा है - यह जानना चाहिए।।७९।

*** व्याकृत भाषा - ११/४ ***

विवरणार्थ :- जिस भाषा का अर्थ प्रकट होता है ऐसी असत्यामृषा भाषा व्याकृत भाषा है - ऐसा ज्ञातव्य है। जैसे कि 'यह देवदत्त का भाई है' इत्यादि भाषा। इस असत्यामृषा भाषा का अर्थ प्रकट ही है अर्थात् सुज्ञान=सरलता से ज्ञेय है। अर्थ की प्रकटता या सुज्ञानता का अर्थ है - तात्पर्यज्ञान आदि अनेक हेतु की झटिति उपस्थिति रहने से तुरंत ही उत्पन्न होनेवाले शाब्दबोध की विषयता है। आशय यह है कि शाब्दबोध के कारण पदज्ञान, वृत्तिज्ञान, तात्पर्यज्ञान आदि अनेक होते हैं। जब तक सभी कारण उपस्थित न हो तब तक कार्य उत्पन्न नहीं होता है। वक्ता कभी कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिसके कारण श्रोता को वक्ता के अभिप्राय = तात्पर्य आदि का तुरंत ज्ञान हो जाने से बिना विलंब के अर्थबोध हो जाता है। तादृश शाब्दबोध की विषयता जिस अर्थ में रहती है वह अर्थ प्रकट=सुज्ञान कहा जाता है। अर्थात् तादृश शाब्दबोध का जो विषय होता है वह प्रकटार्थ कहा जाता है। तादृश प्रकटार्थ का बोध करानेवाली भाषा व्याकृत भाषा कही जाती है। व्याकृत भाषा का, जो कि असत्यामृषा भाषा का

---

१ भाषा असत्यामृषा प्रकटार्था व्याकृता ज्ञातव्या। अतिगंभीरमहार्था अव्याकृता अथवा अव्यक्ता।।७९।। २ मुणिअव्वा - इति मुद्रितप्रतौ।

अथाऽव्याकृतामाह-**अतिगम्भीरः** = दुर्ज्ञानतात्पर्यः, **महान्** अर्थो यस्याः साऽव्याकृता भवति अथवा बालादीनामव्यक्ता भाषाऽव्याकृता भवति।।७९।। उक्ताऽव्याकृता-१२/तदभिधानाच्चाऽभिहिता द्वादशाऽऽप्यसत्यामृषाभेदाः। अथोपसंहरति।

दुर्ज्ञानतात्पर्य इति। दुःखेन = महता प्रयासेन ज्ञानं यस्य तत् दुर्ज्ञानम्। दुर्ज्ञानं तात्पय यस्याऽर्थस्य स दुर्ज्ञानतात्पर्यः। अयमेवाऽव्याकृतत्वे मुख्यो हेतुः। **यद्यपि** दुर्ज्ञानतात्पर्यकत्वं शब्दनिष्ठं न त्वर्थनिष्ठं **तथापि** तादृशशब्द-विषयत्वेनाऽर्थे तदुपचोरेणोक्तमिति **ध्येयम्**।

अर्थस्य दुर्ज्ञानतात्पर्यकत्वे हेतुमाह **महानिति**। महत्त्वादतिगम्भीरत्वम्, अतिगम्भीरत्वादव्याकृतत्वमिति हेतु-हेतुमद्भावः। ततश्चाऽनेकनयनिक्षेपादिसङ्कुलभाषायाः श्लेषालङ्कारादेर्वाऽव्याकृतत्वं लभ्यते। अत्राऽर्थस्य दुर्ज्ञानतात्पर्यकत्वञ्च श्रोतृसामान्याऽपेक्षया ज्ञेयम्। तेन तादृशगुप्तसङ्केतादिज्ञानवतां ततः झटिति सङ्केतितार्थबोधेऽपि न क्षतिः।

ननु श्रोत्रपेक्षयाऽव्याकृतत्वाभ्युपगमे प्रतिनियतश्रोतुः सुज्ञेयत्वे दुर्ज्ञेयत्वे वैकतरत्वसिद्धावपि सभायां श्रोतुः द्वैविध्ये 'जा सा सा सा' इत्यादिरूपायाः तस्या अन्यतरत्वं दुर्वचं स्यात्। **न च** तदा मिश्रत्वं स्यादिति **वाच्यम्,** अस्यास्तत्राऽनधिकारात्, व्याकृताऽव्याकृतत्वोपगमे प्रदर्शितविभागभङ्गप्रसङ्गाच्च। अतो वक्त्रपेक्षयैवाऽव्याकृतत्वं वाच्यम्। अत एवाऽग्रे 'विगलिंदियाण चरमा' इति वक्ष्यमाणग्रन्थविरोधोऽपि परिहृतो भवतीत्याशङ्कायां कल्पान्तरमाह-**अथवेति। बालादीनामिति। यद्यपि** बालादयो मनःपर्याप्त्या पर्याप्ताः **तथापि** ते मनःकरणाऽपाटवेन वातादिनोपहतचैतन्यकतया वा पूर्वापराऽनुसन्धानविकला यथाकथञ्चित् मनसा विकल्प्य भाषन्ते। न च ते एवमपि जानन्ते यथा 'अहमेतद्भाष' इति। यथाऽवस्थितार्थाप्रतिपादकत्वात् अविभावितार्थत्वाच्च तेषामव्यक्तभाषाया अव्याकृतत्वम्। एवमेव ते भाषन्ते श्रृण्वन्ति च नच किञ्चिज्जानन्ति। तदुक्तं ***व्यवहारसूत्रभाष्ये***ऽपि-'अपट्टुप्पण्णो बालो अतिवुड्ढो तह अवन्नी वा।। विन्नाणावरियं तेसिं, कम्हा? जम्हा उ ते सुणंता वि। न वि जाणंते किमयं सद्दो संखस्स पडहस्स।। (व्य. भा. उ. १०, गा. ६१/६२) **न चैवं** भावभाषात्वमेव न स्यात्, कुतः तद्व्याप्यद्रव्य-भावभाषात्वव्याप्याऽसत्यामृषात्वव्याप्यऽव्याकृतत्वम्? तद्व्याप्यव्याप्यव्याप्यस्याऽपि तद्व्याप्यत्वनियमेन व्यापकाभावात् व्याप्याभावस्योन्नयनादिति **साम्प्रतम्** विशेषोपयोगविरहेऽपि भावभाषात्वनियमकोपयोगसामान्यस्याऽनपायात्, अन्यथा तेषामजीवत्वमेकेन्द्रियत्वं वा स्यात्। **न चो**पयोगविशेषप्रयुक्तत्वविरहान्न तस्या भावभाषात्वमिति **वक्तव्यम्,** एवं हि विशेषोपयोगप्रयुक्ताया अपि भाषाया विशिष्टतरोपयोगाऽप्रयुक्तत्वेन भावभाषात्वं न स्यात्। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः*** 'अव्वोयडा नाम जा सोतारेहिं भासिज्जमाणा न संविज्जइ, जहा वागाणं एवमादि' (दश.जिन.चू.पृ.२३९)। ***दशवैकालिकबृहद्वृत्तौ*** तु 'अव्याकृता चैव = अस्पष्टार्था अप्रकटार्था, बालकादीनां थपनिकेत्यादिवदि' (दश.हा.वृ.पृ.१४०) त्युक्तम्।।७९।।

ग्यारहवाँ भेद है, संक्षेप से निरूपण पूर्ण करने के बाद अब श्रीमद्जी अव्याकृत भाषा का, जो असत्यामृषा भाषा का बारहवाँ और अंतिम भेद है, निरूपण करते हैं।

❋ अव्याकृत भाषा - १२/४ ❋

अथाऽव्या. इति। अव्याकृत भाषा वह कही जाती है जिसका अर्थ अतिगम्भीर और महान हो। अर्थ में अतिगम्भीरता बताने का आशय यह है कि उस अर्थ का तात्पर्य दुर्ज्ञेय है अर्थात् - 'इस शब्द का अर्थ यही है', इसका बोध कराने के अभिप्राय से ही वक्ता ने इस शब्द का प्रयोग किया है - ऐसा तात्पर्यज्ञान श्रोता को आसानी से नहीं होता है मगर बहुत कोशिष करने के बाद ही श्रोता को वक्ता के अभिप्राय का पता चलता है। कभी कभी तो बहुत कुछ सोचने के बाद भी सामान्य श्रोता को उस शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं भी होता है। ऐसी भाषा को अव्याकृत भाषा कहते हैं। अथवा तो यह भी कहा जा सकता है कि - बालकादि कि अव्यक्त भाषा अव्याकृत भाषा है। छोटे बच्चेकी अस्पष्ट अक्षरवाली भाषा स्पष्ट बोध न कराने से तथा स्पष्टार्थ बोध कराने के उद्देश से प्रयुक्त न होने से अव्याकृत भाषा है। - ऐसा यहाँ तात्पर्य है।।७९।।

अव्याकृत भाषा का निरूपण पूर्ण हुआ। अव्याकृत भाषा का निरूपण पूर्ण करने से असत्यामृषा भाषा के १२ भेद का भी कथन

[1]एवमसच्चामोसा दुवालसविहा परूविआ सम्मं। दव्वम्मि भावभासा, तेण समत्ता समासेणं।।८०।।

स्पष्टा।।८०।। अथैतासां भाषाणां मध्ये केषां काः सम्भवन्तीति प्रसङ्गादाह।

सव्वा वि हु सुरनारयनराण, विगलिन्दियाण चरमा य।

पंचिंदियतिरियाणवि सा सिक्खालद्धिरहियाणं।।८१।।[2]

सुरनारकनराणां सर्वा अपि हि सत्याद्या भाषाः सम्भवन्ति। **विकलेन्द्रियाः** = द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, तेषां, चतसृणां **चरमा** = असत्यामृषा भाषा भवति, तेषां सम्यक्परिज्ञानपरवञ्चनाद्यभिप्रायाभावेन सत्यादिभाषाऽसम्भवात्।

सत्यादितोऽतिरिक्ता व्यवहारनयाश्रिता। चरमा भावभाषा ह्यसत्यामृषा विवेचिता।।१।।

पूर्वोत्तरग्रन्थयोरेकवाक्यप्रतिपादनार्थं सङ्गतिं प्रदर्शयति-**प्रसङ्गादिति**। प्रसङ्गसङ्गत्या इत्यर्थः। अत्र प्रसङ्गसङ्गतिश्च स्मृत्यस्योपेक्षानर्हत्वम्, उपस्थितविषयनिष्ठोपेक्षानर्हतावच्छेदकधर्मवत्त्वमिति यावत्। **अन्ये तु** प्रकान्तप्रकृतपदार्थज्ञानपूर्वकारपदार्थ-ज्ञानोपकारकत्वं प्रसङ्गसङ्गतिरित्याहुः। अप्रस्तुतार्थख्यापनं प्रसङ्ग इति **केचित्**। आगमशैल्या चेदं स्वामित्वद्वारमुच्यते। **असत्यामृषेति**। द्रव्यविषयकभावभाषात्वव्याप्यमसत्यामृषात्वमत्र बोध्यम्। विकलेन्द्रियाणां सत्यादिभाषा कुतो न सम्भवतीत्याशङ्कायामाह-**सम्यक्परिज्ञानपरवञ्चनाद्यभिप्रायाभावेने**ति। सम्यक्परिज्ञानाभावेन सत्यभाषाव्यवच्छेदः क्रियते। परवञ्चनाद्यभिप्रायाभावेनेत्यनेन मृषाव्यवच्छेदः कृतः। सत्यामृषाघटकीभूत-

पूर्ण हो गया। अब प्रकरणकार ८० वीं गाथा से इस विषय का उपसंहार करते हैं।

गाथार्थ :- इस तरह असत्यामृषा भाषा के १२ भेदों का सम्यक् प्ररूपण किया गया है। अतः द्रव्य में भावभाषा का निरूपण भी संक्षेप से पूर्ण हुआ।८०।

विवरणार्थ :- गाथा स्पष्टार्थवाली होने से इसका विवरण नहीं किया गया है। ६९ वीं गाथा से ले कर यहाँ तक भावभाषा के प्रथम भेद द्रव्यविषयक भावभाषा के चतुर्थ भेद के बारह भेद का आगम के तात्पर्य को बता कर विरोध-अव्याप्ति आदि दोषों का परिहार कर के वैसी हृदयंगम और न्यायपूर्ण शैली से उपाध्यायजी महाराज ने विवेचन किया गया है कि असत्यामृषा भाषा के संबंधी श्रोता के अज्ञान-संशय-विपर्यय दूर हो जाते हैं। अतः द्रव्यविषयक भावभाषा का संक्षेप से निरूपण भी सम्यक् रहा है - इसमें कोई संदेह नहीं है।

अथैतासां. इति। अब पूर्वप्रदर्शित द्रव्यविषयक भावभाषा के सत्यादि चार भेद में से किस किस जीव को कौन सी भाषा संभवित है? इस विषय का प्रकरणकार प्रसंग से निरूपण करते हैं। प्रसंगनिरूपण का अर्थ यह है कि मुख्य विषय के निरूपण में स्मृत एवं उपेक्षानर्ह विषय का निरूपण। ८१ वीं गाथा से प्रकरणकार सप्रसंग उपर्युक्त बात को बता रहे हैं।

गाथार्थ :- सुर, नारक और मनुष्यों को सर्व भाषा संभव है। विकलेन्द्रिय और शिक्षालब्धिरहित पंचेन्द्रिय तिर्यंच की चरमभाषा = असत्यामृषा स्वरूप होती है।८१।

विवरणार्थ :- देव, नारक और मनुष्यों को सर्व भाषा यानी सत्य, असत्य, सत्यासत्य और असत्यामृषा - चारों भाषा संभवित हैं। बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय को, जो विकलेन्द्रिय शब्द से कहे जाते हैं, चार भाषा में से अंतिम असत्यामृषा संभवित है। विकलेन्द्रिय जीवों को सत्य आदि तीन भाषा का संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीव को मन न होने से सम्यक् = यथावस्थित ज्ञान ही नहीं होता है कि - 'यह घट है, घटशब्द का उच्चारण करने से श्रोता को उसका बोध होगा। जब यर्थार्थ ज्ञान ही नहीं है तब सत्य भाषा का संभव कैसे होगा? वैसे दूसरों को ठगने का अभिप्राय भी नहीं होता है जिसकी वजह से मृषा भाषा का संभव हो। जब सत्य या असत्य भाषा का ही संभव नहीं है तब सत्यामृषा भाषा का कैसे संभव होगा? अतः पारिशेषन्याय से विकलेन्द्रिय की भाषा असत्यामृषा सिद्ध होती है।

१ एवमसत्यामृषा द्वादशविधा प्ररूपिताः सम्यक्। द्रव्ये भावभाषा समाप्ता समासेन।।८०।।

२ सर्वा अपि खलु सुरनारकनराणां विकलेन्द्रियाणां चरमा च। पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि सा शिक्षालब्धिरहितानाम्।।८१।।

शिक्षा = संस्कारविशेषजनकः पाठः, **लब्धिश्च** जातिस्मरणरूपा तथाविधव्यवहारकौशलजनकक्षयोपशमरूपा वा, ताभ्यां[1] **रहितानां पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि सा** = असत्यामृषा भवति। तेऽपि हि न[2] सम्यग्यथावस्थितवस्तुप्रतिपादनाभिप्रायेण भाषन्ते, नाऽपि परविप्रतारणबुद्ध्या किन्तु कुपिता अपि परं मारयितुकामा अपि एवमेव भाषन्त इति **तेषामसत्यामृषैव** भाषा। **न च** कुपितानां तेषां भाषा क्रोधनिःसृताऽसत्यैव स्यादिति **वाच्यम्** अव्यक्तत्वेनानवधारणीयत्वाद्, विलक्षणदलजन्यत्वाच्चेत्यवधेयम्।

सत्यत्वासत्यत्वयोरभावसिद्धौ नितरां तद्घटितसत्यामृषानिषेधः सिद्ध्यति। **तेऽपि** = शिक्षालब्धिरहिताः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि, किं पुनर्विकलेन्द्रिया इत्यपि शब्दार्थः। **कुपिता अपीति**, आस्तामकुपिता इत्यपिशब्दार्थः। **मारयितुकामा अपि**, आस्ताममारयितुकामा इत्यपिशब्दार्थः। तदुक्तं ***प्रज्ञापनायाम्*** - 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णो च्चं भासं, भासंति, णो मोसं भासं भासंति, णो सच्चामोसं भासं भासंति, एगं असच्चामोसं भासं भासंति णण्णत्थ सिक्खापुव्वगं उत्तगुणलद्धिं वा पडुच्च सच्चं पि भासं भासंति, मोसंपि, सच्चामोसंपि, असच्चामोसंपि भासं भासंति।' (प्र.भा.प.सू. १६७) इति। **अव्यक्तत्वेनानवधारणीयत्वादिति**। यथावस्थितार्थप्रतिपादकत्वेन स्वार्थनिश्चयाजनकत्वादिति। स्वार्थनिश्चयाजनकत्वेन न तद्वति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकत्वं येन सत्यत्वं स्यात्, न वा तदभाववति तत्प्रकारकशाब्दबोधजनकत्वं येनाऽसत्यत्वं स्यात् न वांऽऽशिकसत्यासत्यत्वं येन मिश्रत्वं स्यात्। ननु तर्ह्यसत्यामृषात्वमपि कुतः स्यादित्याशङ्कायामाह-**विलक्षणदलजन्यत्वादि**ति। दलं = उपादानकारणम्। विलक्षणत्वं च सत्यादिदलापेक्षयेति प्रस्तावाल्ल-

(पञ्चेन्द्रियतिर्यंच की भाषा)

शिक्षा. इति। पंचेन्द्रिय तिर्यंच (पशु के दो प्रकार होते हैं। अमुक ऐसे पशु पक्षी होते हैं जिनको शिक्षा या लब्धि मिली होती है। शिक्षा का अर्थ है विशेष संस्कार का जनक अभ्यास। जैसे कि तोते को 'राम' आदि शब्द की शिक्षा दी जाती है। लब्धि का अर्थ है जातिस्मरण ज्ञान या तो तथाविध व्यवहारकुशलता का जनक क्षयोपशम (शक्ति)। अमुक प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनको न तो शिक्षा मिली है और न तो लब्धि शिक्षा और लब्धि से शून्य पशु-पक्षी की भाषा भी विकलेन्द्रिय जीवों की भाषा की तरह असत्यामृषा होती है। सामान्य पशु-पक्षी आदि को सत्य आदि भाषा का संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि वे न तो दूसरों को सम्यग् अर्थ बोध कराने के अभिप्राय से बोलते हैं और न तो दूसरों को ठगने के अभिप्राय से बोलते हैं। यदि यथावस्थित अर्थप्रतिपादन के अभिप्राय से वे बोले तब तो उसकी भाषा सत्य हो सकती है। यदि दूसरों को ठगने आदि के अभिप्राय से वे बोले तब उसकी भाषा असत्य हो सकती है। मगर सामान्य पशु-पक्षी तो गुस्सा आने पर भी और दूसरों को मारने का अभिप्राय होने पर भी बस ऐसे ही बोलते हैं। गाय, बैल, कुत्ता आदि कुपित हो या न हो, दूसरों को मारने की इच्छा हो या न हो, न तो दूसरों को अर्थबोध कराने के अभिप्राय से और न तो दूसरों को ठगने के अभिप्राय से बोलते हैं। बस वैसे ही प्रलाप करते हैं जिससे श्रोता को कुछ भी अर्थबोध नहीं होता है। अतः शिक्षा और लब्धि से शून्य पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी की भाषा केवल असत्यामृषा भाषारूप ही होती है - यह सिद्ध होता है।

शंका :- *न च.* इति। यदि कोपाविष्ट न हो उस दशा में भले ही सामान्य पशु-पक्षी की भाषा असत्यामृषा हो मगर जब वे कोपाविष्ट होंगे तब तो उसकी भाषा मृषा ही हो जायेगी क्योंकि व भाषा क्रोधनिःसृत है। क्रोधजन्य सर्व भाषा मृषा-है यह तो पूर्व में प्रतिपादन हो चूका ही है। अतः क्रोधाविष्ट अवस्था में प्रयुक्त सामान्य पशु-पक्षी की भाषा क्रोधनिःसृत मृषाभाषा ही सिद्ध होती है। अतः असत्यामृषा से अतिरिक्त भाषा का शिक्षालब्धिशून्य पशु-पक्षी में निषेध करना कैसे संगत हो सकता है?

❋ कुपित सामान्य तियच की भाषा व्यवहारतः असत्यामृषा ❋

समाधान :- *अव्यक्तत्वेन.* इति। जनाब ऐसी शंका करना यह आसमान पर थूकने जैसा है, क्योंकि इस शंका से आप आगम के ज्ञान से रहित हैं यह मालुम हो जाता है। इसका कारण यह है कि शिक्षालब्धिशून्य पशु-पक्षी कितना भी गुस्सा कर के बोले फिर भी उसकी भाषा अव्यक्त होती है - यथावस्थित वस्तु की प्रतिपादक नहीं होती है, अस्पष्ट ही होती है। अतः उस भाषा से श्रोता को अर्थ का कुछ भी निश्चय नहीं होता है। तब श्रोता को भ्रमात्मक निश्चय भी कैसे उत्पन्न हो सकेगा? जिसकी वजह से भाषा असत्य हो सके। अतः अर्थनिश्चायक न होने से उनकी भाषा मृषा नहीं है यह सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि सत्य,

१ ग्रहरहितानां - इति मुद्रितप्रतौ। २ यथास्थित. इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

शिक्षालब्धिसहितास्तु शुकसारिकादयोऽन्ये च तिर्यञ्चो यथायोगं चतुर्विधामपि भाषां भाषन्ते, शिक्षालब्धिभ्यां व्यक्तभाषोत्पत्तेरित्यवधेयम्।।८१।। उक्ता द्रव्यभावभाषा। अथ श्रुतभावभाषामाह

[1]तिविहा सुअम्मि भासा सच्चा मोसा असच्चमोसा य।
सम्मं उवउत्तस्स उ, सच्चा सम्मत्तजुत्तस्स।।८२।।

भाषापदस्य प्रकरणमहिम्ना भावभाषापरत्वात् **श्रुते** = श्रुतविषया भावभाषा, **त्रिविधा** = त्रिप्रकारा भवति। तद्यथा सत्या, मृषा

भ्यते। ततः सत्यादित्रयोपादानकारणीभूतभाषावर्गणाविलक्षणभाषावर्गणाजन्यत्वादित्यर्थः। प्रथमहेतुनाऽन्ययोगव्यवच्छेदः कृतः, द्वितीयेन चायोगव्यवच्छेद इति। यथासम्भवमनभिगृहीताव्याकृतयोः समावेशः कार्य इत्यादिसूचनार्थ**मवधेय**मित्युक्तम्।

व्यक्तभाषोत्पत्तेरिति यथावस्थितार्थप्रतिपादकभाषोत्पत्तेरिति। ततः तद्भाषायाः स्वार्थनिश्चयजनकत्वेन यथायथं सत्यादित्वं सम्भवतीत्याशयः। तदुक्तं ***प्रज्ञापनायाम्***-'अहं भंते! उट्टे गोणे खरे घोडए अए एलते जाणति बुयमाणे अहमेसे बुयामि? गोयमा! णो इणट्ठे समत्थे, णण्णत्थ सण्णिणो।' (प्रज्ञा.भा.प.सू. १६३) **वृत्तिकारेण** चात्र- 'सञ्ज्ञी=अवधिज्ञानी, जातिस्मरः, सामान्यतो विशिष्टमनःपाटवोपोतो वा, तस्मादन्यो न जानाति। सञ्ज्ञी तु यथोक्तस्वरूपो जानीते' (प्र.पृ. १६९) इत्युक्तम्।।८१।।

उक्तेति। पञ्चदश्यां गाथायां भावभाषाया द्रव्यश्रुतचरित्रभेदात् त्रैविध्यमुक्तम्। तत्रोक्ता = निरूपिता **द्रव्यभावभाषा**। अवसरसङ्गतिं प्रदर्शयति **अथे**ति। **श्रुते** इत्यत्र सप्तम्यर्थः विषयत्वमित्यत आह - **श्रुतविषयेति। त्रिविधेति। ननु**

असत्य और सत्यामृषा भाषा की उपादानकारणीभूत जो भाषावर्गणा होती हैं उनसे विलक्षण=विजातीय भाषावर्गणा से शिक्षालब्धिरहित पशु-पक्षी की भाषा उत्पन्न होती है। असत्यामृषा भाषा की उपादानकारणीभूत भाषावर्गणा से जन्य होने से यह भाषा असत्यामृषा ही सिद्ध होती है न कि मृषा आदि। अतः शिक्षालब्धि से रहित पशु-पक्षी की भाषा असत्यामृषा ही है यह साफ-साफ सिद्ध हो जाता है। अगर ऐसा आगम का ज्ञान आपको होता तो आपने जो शंका की है उसका उत्थान ही न होता।

शिक्षालब्धिसहिता. इति। जिनको शिक्षा या जातिस्मरणादि लब्धि प्राप्त हुई हैं ऐसे तोता-मेना आदि और अन्य पशु-पक्षी तो सत्यादि चारों भाषा को बोलते हैं। इसका कारण यह है कि शिक्षा और जातिस्मरण विशेष आदि से व्यक्त अक्षर की उत्पत्ति होती है जिससे श्रोता को अर्थ का निर्णय हो सकता है - यह तो रामायण में प्रदर्शित जटायु के प्रसङ्ग आदि से ज्ञात हो सकता है। अतः यदि वे यथावस्थित अर्थ का प्रतिपादन करे तब उनकी भाषा सत्य होगी और विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करे तब उनकी भाषा मृषा होगी इत्यादि सुज्ञेय है।।८१।।

इस तरह विशेषरूप से २१वीं गाथा से लेकर ८१ वीं गाथापर्यन्त भावभाषा के प्रथम भेद द्रव्यविषयक भावभाषा का लक्षण, भेद, प्रभेद, द्रष्टांत आदि से आगम के अनुसार निरूपण हुआ। द्रव्यविषयक भावभाषा के निरूपण को जलांजलि देने के बाद ८२ वीं गाथा से श्रीमद् प्रकरणकार श्रुतभावभाषा का निरूपण कर रहे हैं, जो भावभाषा का दूसरा भेद है - ऐसा १५ वीं गाथा में पूर्व बताया गया था।

गाथार्थ :- श्रुतविषयक भाषा के तीन भेद हैं - सत्य, मृषा और असत्यमृषा। सम्यग्दृष्टि सम्यक् उपयुक्त हो कर जो कुछ बोलता है वह सत्यभाषा है।८२।

✱ श्रुतविषयक भावभाषा - २ ✱

विवरणार्थ :- 'श्रुते' पद में जो सप्तमी विभक्ति है उसका अर्थ है विषयत्व। अतः `श्रुते भाषा' का अर्थ होगा श्रुतविषयक भाषा। प्रस्तुत में भावभाषा का प्रकरण चलता है। अतः प्रकरण के बल पर भाषापद भावभाषा का बोधक है। अतः अर्थ यह होगा श्रुतविषयक भावभाषा। इसके तीन प्रकार होते हैं - सत्य, असत्य और असत्यमृषा। गाथा के पश्चार्द्ध से श्रुतविषयक भावभाषा का

---

१ त्रिविधा श्रुते भाषा सत्या मृषा असत्यामृषा च। सम्यगुपयुक्तस्य तु सत्या सम्यक्त्वयुक्तस्य।।८२।।

असत्यामृषा च। तत्र **सम्यगुपयुक्तस्य** = आगमानुसारेण यथावद्वदतः, तुर्विशेषणे किं विशिनष्टि? बहुश्रुतत्वादिगुणं, सत्या = सत्यैव भवति, विशुद्धाशयत्वादिति भावः।।८२।।

अस्तु सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य सत्या, असत्या तु कस्येत्याह

द्रव्याविषयकभावभाषावदस्याः चतुर्विधत्वं कुतो न भवति। कस्माद्वा द्रव्यविषयकमानवभाषाया त्रिविधत्वं न भवतीति **चेत्? मैवम्**, चतसृणां द्रव्यविषयकभावभाषात्वं च चतुर्विधद्रव्यपरिणतिमाश्रित्योक्तम्, श्रुतविषयकभावभाषात्वं च तिसृणां वाचां फलीभूतोपयोगापेक्षया, मिश्रोपयोगाभावेन तृतीयस्या अत्र अनधिकारादि***त्यष्टसहस्रीविवरणे*** प्रकरणकारेणैव समाहितत्वात्। ***प्रतिमाशतकेऽपि* "कथं** तर्हि श्रुतभावभाषायां तृतीयभेदस्याऽपरिगणनं, द्रव्यभाषायां तु तत्परिगणनमिति **चेत्?** एकत्र निश्चयनयेन धर्मिणोऽर्पणात्, अन्यत्र तु व्यवहारनयेनेति गृहाण' (प्रति. श. श्लो. ८९ वृ.) इत्येवं समाहितम्। अयं भावः यथाऽध्यवसाये शुभाशुभान्यतरत्वमेव न तु मिश्रताऽपि तथा निश्चयनयतो द्रव्यात्मकेषु मनोवचःकाययोगेष्वपि न मिश्रता। तेन मिश्रवचनत्वं श्रुतभावभाषायां तादृशनिश्चयोपगृहीतव्यवहारेणाऽपि नोभ्युपेयते। न चेदं स्वमनीषिकयोच्यते। तदुक्तं ***प्रतिमाशतकवृत्तौ*** - अन्त्येषु द्रव्ययोगेषु अपि निश्चयान्नैव मिश्रता। तन्मते द्रव्ययोगाणामपि मिश्राणामभावात्। तत्तदंशप्राधान्ये शुभाशुभान्यतरस्यैव पर्यवसानात्, निश्चयाङ्गव्यवहारेणाऽपि तथाव्यवहरणात् (प्र. श. श्लो. ८९ वृ.) इति। श्रुतज्ञानस्यामन्त्रणीप्रज्ञापन्यादिनियतत्वेन तत्परावर्त्तनादावसत्यामृषात्वस्याऽपि सम्भवेन निश्चयानुपगृहीतव्यवहारेणासत्यामृषात्वं श्रुतभावभाषायामङ्गीक्रियते। अतः श्रुतभावभाषायाः त्रैविध्यमुक्तं युक्तमेवेति भावनीयम्।

तत्र = श्रुतभावभाषायाम्। **आगमानुसारेणेति**। अत्राऽऽगमानुसारित्वमुपयोगे भाषणे चोभयत्र ज्ञेयम्। **बहुश्रुत्त्वादिगुणमिति**। बहुश्रुतत्वादिगुणविशिष्टस्य सम्यगुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरिति भावः अयमनूद्यनिर्देशः, विधेयनिर्देशं प्रदर्शयति सत्येति। 'सर्व वाक्यं साधारणं' इति न्यायात् 'इष्टतोऽवधारणमि'तिन्यायाच्चावधारणं प्रदर्शयति **सत्यैवे**ति। मृषात्वाद्यन्ययोगव्यवच्छेद एवकारार्थः। न हि तादृशविशेषणकलितस्य सम्यग्दृष्टेःश्रुतविषयकभावभाषायां मृषात्वं सम्भवतीति भावः। हेतुमाह **विशुद्धाशयत्वादि**तिविशुद्धाशयप्रयुक्तत्वादिति। तेन पराशङ्कितवैयाधिकरण्यदोषः परिहृतो भवति। सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तत्वविशेषणेन तत्प्रसूतभाषायां भावभाषात्वसिद्धिः; आगमानुसारेण भाषमाणत्वविशेषणात् श्रुतविषयकत्वसिद्धिः; विशुद्धाशयत्वविशेषणेन, सत्यत्वसिद्धिः। यदि च परो वैयधिकरण्यादिदोषमुद्भावयेत् तदा उपयुक्तप्रयुक्तत्वादिकं **प्रदर्शनीयम्**। प्रयोगा एवम् विवादास्पदीभूता भाषा भावभाषा उपयुक्तप्रयुक्तत्वात्। विवादास्पदीभूतभावभाषा श्रुतविषयिणी आगमानुयाय्युपयोगप्रयुक्तत्वात्। विवादास्पदीभूतश्रुतभावभाषा सत्या विशुद्धाशयप्रयुक्तत्वादिति। जिज्ञासितामथ प्रतिपादयन् प्रतिपादयिता अवधेयवचनो भवतीत्यतो जिज्ञासां प्रदर्शयति - **अस्त्वि**ति। अनेनावसरसङ्गतिः प्रदर्शिता। ततो वाक्यैकवाक्यताप्रतिपत्तिरपि सुकरा भवति।

पूर्वमिति। 'उवउत्ताणं भासा' (भा. र. गा. १३) इति त्रयोदश्यां गाथायामिति। **पूर्वापरविरोध** इति। अत्रानुप-

---

प्रथम भेद बताया गया है कि सम्यगुपयुक्त सम्यदृष्टि की भाषा श्रुतविषयक सत्यभावभाषा है। सम्यगुपयुक्त हो कर बोलने का अर्थ है आगम के अनुसार यथावत् बोलना। मूलगाथा में जो 'तु' शब्द है वह विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है अर्थात् सम्यगदृष्टि को कुछ विशेषण से विशेषित करता है। वह विशेषण बहुश्रुतत्वादि गुण है। अर्थात् आगम के अनुसार यथावत् बोलनेवाले और बहुश्रुतत्वादिगुणसंपन्न समकितदृष्टि की भाषा श्रुतविषयक सत्य भावभाषा है। सब वाक्य अभिप्रेत अवधारणवाले होते हैं। अतः प्रस्तुत में भी यथेष्ट अवधारण के लिए विवरणकार ने सत्या पद के बाद एवकार का प्रयोग किया है। अर्थात् उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट सम्यग् दृष्टि की भाषा सत्य ही है। 'ही' कहने से मृषा आदि भाषा का व्यवच्छेद होता है। यह तो ठीक ही है, क्योंकि आगम के अनुसार बोलनेवाले बहुश्रुतत्वादिगुणसंपन्न समकितदृष्टि की भाषा विशुद्ध आशय से प्रयुक्त होती है। अतः उसमें मृषात्व की शंका निराधार हो जाती है।।८२।।

[1]**होइ असच्चा भासा, तस्सेव य अणुवउत्तभावेणं। मिच्छत्ताविट्ठस्स व, अवितहपरिणामरहिअस्स।।८३।।**

तस्यैव च = *सम्यग्दृष्टेः अनुपयुक्तभावेन* वदतः श्रुतविषयिणी **असत्या** भावभाषा भवति। **अथो**पयुक्तानां भाषा भावभाषेति पूर्व प्रतिज्ञानाद् अनुपयुक्तानां तदभिधाने कथं न पूर्वापरविरोधः? इति **चेत् न** तत्राभिलापजनकविवक्षारूपोपयोगस्यैव ग्रहणाद् अत्र च

युक्तभाषामुद्दिश्योपयुक्तभाषात्वरूपपूर्वोक्तभावभाषात्वविधाने स्पष्ट एव विरोधः। न ह्येवं भवति वह्निमान् पर्वतो धूमध्वजाऽभाववानिति **अथाशयः**। तन्निरस्यति-**नेति**। **तत्रेति** त्रयोदश्यां गाथायाम्। **अविरोधादिति** अयं भावः भाषाविवक्षयोः कार्यकारणभावसत्त्वेन सर्वत्र भावभाषायामभिलापजनकविवक्षारूपोपयोगजन्यत्वं निराबाधमेव। अतः 'उवउत्ताण' इत्यनेनाभिलापजनकविवक्षात्मकोपयोगशालिनां भावभाषेत्यभिप्रेतम्। प्रकृते चानुपयोगपदेन न शब्दजनकविवक्षारूपोपयोगशून्यत्वमभिप्रेतं किन्तु हेत्वाद्युपयोगविरहितत्वमभिप्रेतम्। अयं भावो शब्दजनकविवक्षारूपोपयोगजन्यसम्यग्दृष्टिभाषायां हेत्वाद्युपयोगाजन्यत्वेनासत्यत्वं विधीयते। हर्यादिपदवत् वाचकसाम्येऽपि वाच्यवैषम्येनार्थविशेषसत्त्वेऽप्यर्थान्तरासत्त्वस्य प्रतिपादने न कश्चिद्विरोधलेशगन्धोऽपि। उक्तार्थदार्ढ्यार्थं विपक्षे बाधमाह - **सर्वथानुपयोगे** इति। तदा सम्यग्दृष्टौ अभिलापजनकविवक्षारूपोपयोगस्याऽप्यभावे इत्यर्थः कार्यः न तूपयोगसामान्याभावे इति, असिद्धेः, अजीवत्वप्रसङ्गाच्च। **तूष्णीम्भावप्रसङ्गादिति**। शब्दजनकविवक्षारूपोपयोगाभावे

शंका :- सम्यगुपयुक्त सम्यग्दृष्टि की श्रुतविषयिणी भावभाषा सत्य है - यह तो ज्ञात हुआ। मगर श्रुतविषयिणी असत्य भावभाषा किसमें संभवित है? यह तो आपने बताया नहीं। अतः उसका निर्वचन कीजिये।

प्रकरणकार उपर्युक्त शंका का समाधान ८३ वीं गाथा से ही दे रहे हैं। यह रहा गाथार्थ।

गाथार्थ :- सम्यग्दृष्टि ही जब अनुपयुक्त होता है तब उसकी भाषा असत्य कही जाती है। अथवा सम्यक् परिणाम से रहित मिथ्यात्व से आविष्ट जीव की भाषा श्रुतविषयक असत्य भावभाषा होती है।८३।

✱ श्रुतविषयक असत्य भावभाषा ✱

विवरणार्थ :- वही समकितदृष्टि जीव अनुपयुक्त हो कर अर्थात् श्रुतानुसारी उपयोग से शून्य हो कर जब श्रुतविषयक बोलता है तब उसकी श्रुतविषयक भावभाषा मृषा = असत्य होती है। अब शंका का समाधान मिल गया होगा।

शंका :- ***अथ.*** इति। आपने एक शंका तो हल कर दी। मगर दूसरी एक शंका खडी हो गई है। वह यह कि - आपने पूर्व में १३ वीं गाथा में यह बताया था कि 'उपयुक्त हो कर जो भाषा बोली जाती है वह भावभाषा है' और आप अभी ऐसा कह रहे हो कि 'अनुपयुक्त सम्यग् दृष्टि की श्रुतविषयक भावभाषा असत्य है'। स्पष्ट ही है कि आपके कथन से सम्यग् दृष्टि उपयोगशून्य हो कर बोलता है तब तो उसकी भाषा द्रव्यभाषा ही हो जायेगी न कि भावभाषा। जब वह भावभाषा ही नहीं है तो भावभाषाविशेषरूप श्रुतभावभाषा कैसे होगी? जब श्रुतभावभाषा ही नहीं है तब श्रुतविषयक असत्य भावभाषा भी कैसे होगी? मूलं नास्ति कुतः शाखा? अतः आप यहाँ जो कह रहे हैं कि - 'अनुपयुक्त समकितदृष्टि की श्रुतभावभाषा मृषा है' इसमें भावभाषात्व का बाध आपके ही वचन से प्राप्त होता है। अतः आपका वचन पूर्वापरविरोधग्रस्त हो जाता है। ठीक ही कहा है कि - गये थे रोजा छुडाने, उल्टी नमाज़ गले पडी।

✱ उपयुक्तत्व और अनुपयुक्तत्व के विरोध का परिहार ✱

समाधान :- ***न. तत्राभिलाप.*** इति। ठीक ही कहा है कि खाल ओढाये सिंह की, स्यार सिंह नहीं होय। सिर्फ शास्त्र पढने से ही शास्त्र का रहस्य प्राप्त नहीं होता मगर गुरुसेवापूर्वक शास्त्र का ग्रहण-मनन-चिंतन करने से वह प्राप्त होता है। वह रहस्यप्राप्त होने पर सब विरोध मिट जाते हैं। देखिये, यहाँ शास्त्र के रहस्य को। १३ वीं गाथा में जो कहा गया है कि 'उवउत्ताणं भासा' इत्यादि इसमें उपयोग शब्द से शब्दोत्पादक विवक्षारूप उपयोग ही अभिप्रेत है न कि अन्य उपयोग भी। अर्थात् शब्दजनक विवक्षारूप उपयोग से जन्य भाषा भावभाषा होती है। जब कि यहाँ श्रुतविषयक मृषा भावभाषा में हेतुआदिविषयक उपयोग का अभाव अभीष्ट है। अतः कोई विरोध नहीं है। आशय यह है कि उपयोग के अनेक प्रकार होते हैं। भावभाषा का जनक जो उपयोग

१ भवत्यसत्या भाषा तस्यैव चानुपयुक्तभावेन। मिथ्यात्वाविष्टस्य वाऽवितथपरिणामरहितस्य।।८३।।

हेत्वाद्युपयोगाभावस्य ग्रहणेनाऽविरोधात् सर्वथानुपयोगे तूष्णीम्भावप्रसङ्गात्। **हेत्वाद्यनुपयोगे कथमहेतुकं वदेदिति चेत्? विपरीत**-व्युत्पत्तेरिति गृहाण।

शब्दानुत्पादेन मूकत्वापत्तिः कारणाभावे कार्याभावस्य न्याय्यत्वात्। न च तूष्णीम्भाव उपलभ्यते। ततः कार्यात् विवक्षारूपकारणमनुमीयते। ततः अनुपयोगभावेनेतिपदं हेत्वाद्युपयोगभावेनेत्यर्थकं न तु विवक्षारूपोपयोगा-भावेनेत्यर्थकमिति सिध्यति। **एतेन** 'सम्यगुपयोगशालिनामिति (भा. र. गा. १३ पृ. ५५) यत्पूर्वमुक्तं तत्र सम्यक्पदमपि परिचायकमिति **व्यज्यते**। तेन न मृषा-सत्यामृषाद्यसङ्ग्रहः।

वयं तु ब्रूमः अभिलापजनकविवक्षारूपोपयोगजन्यवचनत्वमपि भावभाषायाः तटस्थलक्षणमेव न तु स्वरूपलक्षणम्। तच्च भाषापर्याप्तिपर्याप्तजवचनत्वमेव। भाषापर्याप्त्या यो जीवः पर्याप्तः तज्जन्या या भाषा सा भावभाषेत्यर्थः। भाषा-पर्याप्तिपर्याप्तत्वं च तद्भविकं ग्राह्यम्। तेन न द्वीन्द्रियादिगत्यागतेन सचित्ताश्मादिना यः पतनादिनिमित्तकः शब्दो जन्यते तत्रातिव्याप्तिः। न वा विकलेन्द्रियभाषायामव्याप्तिः। **एतेन** अमनस्कत्वेन भगवतो भाषायां विवक्षारूपेच्छात्म-कोपयोगजन्यत्वाभावेनाऽव्याप्तिः **प्रत्युक्ता** भाषापर्याप्तिपर्याप्तजन्यत्वस्याप्रच्यवत्वात्। अत एव षोडशवचनभेदान्तर्गता-ध्यात्मवचनस्यापि भावभाषायां समावेशः सुकरः। **न च** निसरणादिद्रव्यभाषायामतिव्याप्तिरिति **वाच्यम्,** द्रव्यप्राधान्या-पेक्षया द्रव्यभाषात्वेऽपि निसरणादिक्रियाभाषापरिमाणलक्षणभावप्राधान्यापेक्षया भावभाषात्वस्यानपायात् उपधेय-साङ्कर्येऽप्युपाध्यसाङ्कर्यात्। वस्तुतोऽनाहितभाषापरिणामानामेव भाषाद्रव्याणां निरुपचरितं तद्व्यतिरिक्तद्रव्यभाषा-त्वं नोआगमतो घटामञ्चति। सूत्रे च कुतश्चिद् विवक्षातो भावभाषासङ्कीर्णा द्रव्यभाषा त्रिविधा प्रदर्शितेति आभाति।

यद्यप्यजीवेभ्यः शब्दोत्पत्तिर्भवति तथापि नासौ भाषा किन्तु केवलं शब्द एव। **न च** ध्वनियन्त्रेभ्यः जातेषु शब्देष्व-व्याप्तिरिति **वाच्यम्,** तत्र न भाषोत्पद्यते किन्तु ध्वनिरेव केवलः। अत एव तस्य ध्वनियन्त्रमिति यथार्थं नामकरणं, भाषायन्त्रं तु त्रसजीवस्थताल्वादिरेव, तत एव यथेच्छं भाषोत्पत्तेः। आधुनिकध्वनियन्त्रेभ्यो न यथेच्छं शब्दोत्पत्तिः किन्तु पूर्वगृहीतशब्दाभिव्यक्तिमात्रम्। पूर्वमग्राहीतशब्दानामुत्पत्तिर्ध्वनियन्त्रेभ्यो नैव जायते किन्तु त्रसजीवेभ्य एवेति विशेषाच्च तत्र भावभाषात्वं नाभ्युपेयते। द्रव्यभाषात्वाभ्युपगमे च न नः क्षतिः। भावभाषात्वप्रतीतिरस्तु कथञ्चित् सौसादृश्यादिना भ्रमात्मिकैव **एतेन** मूकेशस्यैवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञानमपि **प्रत्युक्तम्,** सादृश्यावगाहित्वे तस्य प्रमात्वेऽपि तादात्म्यावगाहित्वे भ्रमत्वानपायात् यामलप्रत्यभिज्ञानवत्।

यदि च तत्राऽपि भावभाषात्वमुपचरितव्यवहारनयेन परमगुरूणामभिमतं तर्हि भाषापर्याप्तिपर्याप्तजतत्सदृशान्यतर-शब्दत्वमेव तल्लक्षणमिति समाकलितसमयसद्भावैर्विभावनीयम्।

यहाँ अभिप्रेत है वह विवक्षारूप है। वह उपयोग तो श्रुतविषयक मृषा भावभाषा को बोलनेवाले समकितदृष्टि मे होता ही है, क्योंकि वह तो उसका कारण है। कारण न रहेगा तो कार्य कैसे उत्पन्न होगा? मगर उस समकितदृष्टि की वह श्रुतभावभाषा मृषा होने का कारण हेतु आदि के उपयोग का अभाव है। उपयोग शब्द एक होने पर भी उसके अर्थ अलग होने से अमुक अर्थ का निषेध करने पर भी अन्य अर्थ का विधान करने में कोई विरोध नहीं होगा।

* विवक्षा के अभाव में शब्द की अनुत्पत्ति *

सर्वथा. इति। यहाँ यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है कि - "श्रुतविषयक मृषा भावभाषा के वक्ता समकितदृष्टि में हेतु आदि के उपयोग का जैसे अभाव है वैसे विवक्षारूप उपयोग का भी अभाव क्यों नहीं है? हेतु आदि उपयोग के अभाव की तरह विवक्षारूप उपयोग के अभाव का स्वीकार करने में क्या विरोध है? जिसकी वजह विवक्षात्मक उपयोग की विद्यमानता और हेतु आदि के उपयोग की अविद्यमानता का आप प्रतिपादन कर रहे हैं। हम तो कहते हैं कि या तो दोनों रहेंगे या तो दोनों नहीं - "इसका कारण यह है कि यह शंका अनुत्थानपराहत है। हमने पूर्व में ही बता दिया है कि विवक्षा यानी बोलने की इच्छा=अभिलाषा शब्द की जनक होती है। जब विवक्षा ही नहीं होगी तब वक्ता बोलेगा ही क्या? क्या यह कभी देखा गया है कि बोलने की इच्छा

वा = अथवा, **अवितथपरिणामरहितस्य** = सम्यक्श्रुतपरिणामविकलस्य, **मिथ्यात्वाविष्टस्य** उपयुक्तस्याऽनुपयुक्तस्य वा सर्वाऽपि

प्रकृतं प्रस्तुमः। **ननु** भवद्भिः प्रकृते हेत्वाद्युपयोगाभावप्रतिपादितो ***दशवैकालिकनिर्युक्तौ*** च 'अणुवउत्तो अहेउअं चेव' (दश. अ. ७ नि. श्लो. २८०) इत्युक्तमतो विरोधः सम्पनीद्यते। अयं भावः अहेतुकमिति अत्र भेदप्रतियोगिविधया हेतोः प्रवेशात्, तदज्ञाने तदज्ञानात्, भेदज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानसम्पाद्यत्वात्, भेदप्रतियोगिज्ञानं लौकिकसन्निकर्षजन्यमलौकिकसन्निकर्षजन्यं वेत्यन्यदेतत्। ततोऽहेतुकं भाषणे समायातो हेतूपयोगो भवद्भिर्वार्यते कथम्? न हि शब्दार्थाज्ञाने शब्दप्रयोगः सम्भवतीति स्ववधाय शस्त्रोत्थापमनमेतदित्याशयेन शङ्कते **हेत्वाद्यनुपयोग** इति।

समाधत्ते - **विपरीतव्युत्पत्ते**रिति। विपरीतहेतुज्ञानादिति। न हि सद्धेतूपयोगविरहेऽपि असद्धेतौ हेतुत्वप्रकारकं ज्ञानं न सम्भवतीति। ततः सद्धेतूपयोगविकलः सम्यग्दृष्टि विरुद्धहेतुकं युक्त्यागमविरुद्धं यद्भाषते सा श्रुतविषयिणी मृषा भावभाषेत्यर्थः फलितः।

ननु लोकोत्तरं तु प्रामाण्यं अनेकान्तवासनोपनीतानन्तधर्मात्मकवस्त्ववगाहित्वेन संशयविपर्यायादावपि सम्यग्दृष्टेर्न हीयत इति **महाभाष्यादौ** प्रसिद्धं तद्वदेवानाभोगादिनाऽहेतुकं भाषणेऽपि तद्भाषायां सत्यत्वमेव वक्तुमर्हति न मृषात्वम्, अन्यथा सम्यगुपयुक्तत्वे सत्यपि गुरुनियोगादितः तथाविधसम्प्रदायलब्धार्थादितो वा वितथभाषणसम्भवेन मृषात्वं तन्निमित्तः कर्मबन्धश्च प्रसज्येतेत्याशङ्कायामाह **वा = अथवेति**। **सम्यक्श्रुतपरिणामविकलस्येति**। मिथ्यादृष्टौ कदाचित् स्वरूपतो यत् सम्यक्श्रुतं तत्सद्भावेऽपि तत्परिणामो नास्ति। तेन नातिप्रसङ्गः। एवञ्चात्र श्रुते स्वरूपतः सम्यक्त्वस्य नाधिकारोऽपि तु स्वामिकृतस्येति तात्पर्यग्राहणाय 'परिणामे'त्युक्तम्। विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावो

के बिना ही कोई बोलता हो? अतः विवक्षारूप उपयोग के अभाव में तो समकितदृष्टि को भी मौन ही रहना पडेगा। तब तो भाषा की ही उत्पत्ति नहीं होगी तो फिर वह सत्य है या असत्य? द्रव्यभाषा है या भावभाषा? श्रुतविषयक है या द्रव्यविषयक है? इत्यादि बातों को भी कोई अवसर न रहेगा। मगर समकितदृष्टि जीव आगमोक्त हेतु आदि के अनुपयोग से भी कभी बोलता हुआ देखा जाता है। अतः यह मानना होगा कि उसमें शब्दजनक विवक्षा=बोलने की इच्छास्वरूप उपयोग विद्यमान ही है, जिससे प्रयुक्त होने से वह भाषा भावभाषा कही जाती है। अतः भावभाषा का जनक विवक्षारूप उपयोग है और प्रकृत में हेतु आदि के उपयोग का अभाव है - यह सिद्ध हो जाता है।

शंका :- ***हेत्वाद्यनु.*** इति। एक शंका का समाधान मिलते ही दूसरी समस्या खडी हो जाती है। आप कहते हैं कि हेतु आदि के अनुपयोग से समकितदृष्टि बोलता है तब वह भावभाषा मृषा कही जाती है और श्रीदशवैकालिक निर्युक्ति में कहा है कि अनुपयुक्त हो कर अहेतुक बोलने पर वह श्रुतविषयक भावभाषा मृषा होती है तब तो आप के वचन और निर्युक्ति के वचन में विरोध ही होगा, क्योंकि हेतु आदि के अनुपयोग में अहेतुक भाषण का कैसे संभव होगा? क्योंकि अहेतुक में नञ् शब्द के प्रतियोगिरूप में हेतु का ही प्रवेश है। तब तो हेतु के उपयोग के बिना 'यह अहेतुक है' यह कैसे मालुम होगा? और वैसा मालुम न होने पर अहेतुक भाषण कैसे होगा?

समाधान :- ***विपरीत.*** इति। ठीक ही कहा है कि - कोयला होय न ऊजलो, सो मन साबुन लाय। यहाँ तक अनेक शास्त्रों की तथ्यपूर्ण बातें कही फिर भी आप निराधार शंका कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टि अनुपयोग से अहेतुक बोलता है - इस शास्त्रवचन का तात्पर्य यह है कि वह अनुपयोग से विपरीतहेतुवाला वचन बोलता है। यानी सम्यग् हेतु के उपयोग बिना विपरीत हेतु=युक्तिशून्य हेतु का प्रतिपादन कर रहा है। अतः उसकी भाषा मृषा है। विपरीत हेतु के ज्ञान में सम्यग् हेतु के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सम्यग् हेतु से अज्ञात मनुष्य को भी विपरीत हेतु का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। आप अपनी अक्ल लगाओ और शास्त्र के तात्पर्य की खोज करो। सिर्फ विरोध करने से कुछ तत्त्व प्राप्त नहीं होगा।

* मिथ्यादृष्टि की सर्व श्रुतविषयक भावभाषा असत्य है *

वा. अथवा. इति। अथवा तो यह भी कह सकते हैं कि सम्यक् श्रुत के परिणाम से शून्य मिथ्यादृष्टि की, चाहे वह उपयुक्त हो या अनुपयुक्त हो, श्रुतविषयक सब भाषा असत्य है। यहाँ यह शंका कि - "जब मिथ्यादृष्टि श्रुतविषयक विपरीत भाषा बोलता

श्रुतगोचरा भाषा असत्या, उन्मत्तवचनवत्तद्वचनस्य घुणाक्षरन्यायेनाऽऽपाततः संवादेऽपि प्रमाणत्वेनाऽव्यवहारात्।

कथं तर्हि श्रुते अवतरत्येषा, तज्ज्ञानस्य सदसदविशेषादिहेतुनाऽज्ञानत्वादिति? **सत्यम्**, अविशेषितश्रुतपदेनोभयोपग्रहात्, विशेषितस्यैव प्रातिस्विकरूपानुप्रवेशेनाभिलापादिति **दिग्**।

मिथ्यादृष्टौ सिध्ययतीति भावः। अत एवोक्तं प्रकरणकृता **तत्त्वार्थटीकायां**-बहुप्रकारभ्रान्तज्ञानप्रवाहपतितं किञ्चिद-भ्रान्तमपि ज्ञानं तेषां भ्रान्तमेव भ्रमशक्तेरनपगमादिति (त. टी. १३३) इति **उपयुक्तस्येति**। अत्राऽपि न सम्यगुपयुक्तत्वं किन्तु मिथ्योपयुक्तत्वं, तज्ज्ञानस्य मोक्षौपयिकत्वाभावात्। तदुक्तं **ज्ञानार्णवे** 'मिथ्यादृष्टिज्ञाने सम्यक्प्रवृत्त्यादिद्वारा मोक्षहेतुतावच्छेदकज्ञानत्वाभाव एवाज्ञानत्वम्। (ज्ञाना. प्र. त. श्लो. १५ वृ.) मोक्षानौपयिकमिथ्याज्ञानप्रयुक्तत्वे-नाऽसत्यत्वम्। **घुणाक्षरन्यायेनेति**। घुणः काष्ठकीटकः तेन काष्ठवेधे कृते यथाकथञ्चिदक्षरं निष्पाद्यते स घुणाक्षर-न्याय उच्यते। तदुक्तं ***वर्धमानेन*** "घुणोत्किरणात्कथञ्चिन्निष्पन्नमक्षरं घुणाक्षरां तदिव यदकुशलेन दैवान्निष्पाद्यते तद्घुणाक्षरीयम्।।" ( ) यत्र दैवात्सञ्जातं कार्यं न तु यत्नेन तत्रायं न्यायः प्रवर्तते। अजाकृपाणीयकाकता-लीयान्धचटकान्धकवर्तकीयाभाणकादिन्याया अपि प्रकृतार्थे प्रयुज्यन्ते। **आपातत** इति। संशयादिग्रस्तत्वमविचारित-वाक्यात्वं वा आपातत्त्वं, तसिलर्थः प्रयोज्यत्वं, तस्य चान्वयः संवादे। ततश्चाऽविचारितवाक्यप्रयोज्यसंवाद इत्यर्थः। तस्मिन् सत्यपि **प्रमाणत्वेन** = प्रमाजनकत्वेन = सत्यत्वेनेति यावत्। **अव्यवहारात्** = व्यवहाराभावात्। सदसद-विशेषादिहेतोरिति तून्मत्तवचनवदित्यनेन लभ्यते।

इदमाकर्ण्य कश्चित् शङ्कते - **कथमिति**। **सदसदविशेषादीति** आदिशब्देन यदृच्छोपलब्ध्यादिग्रहणम्। तदुक्तं विशेषावश्यकभाष्ये ***श्रीजिनभद्रगणिना*** 'सदसदविसेसणाओ भवहेउजाहिच्छिओवलम्भाओ। नाणफलाभावाओ मिच्छदिट्ठिस्स अन्नाणं।। (वि. भा. ३१९) इति। अभ्युपगमपूर्व विशेषं द्योतयति **सत्यमिति**। **अविशेषितश्रुतपदेनेति**। अयं भावः अक्षरादिसप्रतिपक्षाः श्रुतज्ञानस्य चतुर्दश भेदाः प्रसिद्धाः। तदुक्तं ***देवेन्द्रसूरिणा*** 'अक्खरसन्निसम्मं साइयं खलु सपज्ज-वसियं च। गमियं अंगपविट्ठं सत्त वि एए सपडिवक्खा।। (प्र. कर्म. १६) यदि अत्र सम्यक्श्रुतभावभाषेति विशेषरूपेण प्रतिपादितं स्यात् तर्हि न मिथ्याश्रुतविषयकभावभाषाया ग्रहणं स्यात्। तच्च नास्ति। अतः

है तब तो ठीक है कि उसकी भाषा असत्य है मगर जब मिथ्यादृष्टि पंडितजी आदि किसी जैन साधु को जैनशास्त्र पढाता है या तो श्रुत से अविरुद्ध बात करता है तब उसकी भाषा कैसे मृषा बनेगी? क्योंकि वह भाषा तो श्रुत के अनुरूप ही है" - ठीक नहीं है, क्योंकि उन्मत्त पुरुष के वचन की तरह उसकी भाषा में घुणाक्षरन्याय से आपाततः संवाद होने पर भी उस भाषा का प्रमाणत्वेन=सत्यत्वेन व्यवहार नहीं होता है। आशय यह है कि जैसे उन्मत्त मनुष्य, जिसने दारु पिया है या धतुरा खाया है जिस के कारण उसकी बुद्धि चरने को गई है, अपनी पत्नी को बहन कहता है, बहन को पत्नी कहता है, माँ को पत्नी भी कहता है। शायद वह अपनी पत्नी को पत्नी कहे या माँ को माँ कहे फिर भी लोक में उसका वचन प्रमाणभूत नहीं कहा जाता है क्योंकि उसकी अक्ल चरने को गई है। वैसे घुणाक्षर न्याय से मिथ्यादृष्टि की भाषा में क्वचित् संवाद उपलब्ध हो फिर भी वह प्रमाण नहीं है। घुणाक्षरन्याय यह है कि जैसे लकडे के किडे लकडे को काटते हैं तब लकडे में छोटे छोटे छिद्र बन जाते हैं। कभी कभी बहुत अच्छी डीझाइन भी बन जाती है और कभी कभी छिद्र ऐसे भी बन जाते हैं कि जिसके कारण क, ख आदि अक्षर बन जाते हैं। लकडे के किडे को डिझाइन बनाने का या अक्षर बनाने का कुछ ज्ञान या आशय नहीं होता है मगर लकडे को कोरते कोरते यकायक बिना अक्षरादि बनाने के उद्देश के भी अक्षरादि बन जाते हैं। फिर भी लोग ऐसा नहीं कहते हैं कि लकडे के किडे को अक्षर या डिझाइन बनाने का ज्ञान है, क्योंकि वे किडे तो असंज्ञी-संमूर्च्छिम हैं। वे अक्षर तो भवितव्यतावश ही बन गये हैं। ठीक वैसे है मिथ्यादृष्टि को सम्यक्श्रुत का परिणाम नहीं है। अतः उस की भाषा सम्यक् श्रुत के परिणाम से नहीं कही जाती है। अतः आपाततः उसकी भाषा में क्वचित् संवाद उपलब्ध होने पर भी उसमें सत्यत्व का व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को सत् और असत् आदि का विवेकज्ञान ही नहीं होता है। अविवेकप्रयुक्त भाषा में सत्यत्व का व्यवहार कैसे हो सकता है? कथमपि नहीं।

विशेषणविनिर्मुक्तश्रुतपदेन **उभयोपग्रहात्** = सम्यग्मिथ्याश्रुतग्रहणान्न दोषः कश्चित्।

एवं सति मिथ्याश्रुतविषयकभावभाषाया अपि सत्यत्वं स्यादित्याशङ्कायामाह **विशेषितस्यैवेति**। सम्यग्मिथ्या-विशेषणविशिष्टस्यैव श्रुतस्य **प्रातिस्विकरूपानुप्रवेशेन** = सत्यमृषादिप्रत्येकरूपेण प्रवेशेन, **अभिलापात्** = प्रतिपादनात्। अयं भावः भावभाषात्वसाक्षाद्व्याप्यद्वितीयजात्यवच्छिन्ने विषयविधया श्रुतत्वेन प्रवेशः। तेन न मिथ्यादृग्भाषाया असङ्ग्रहः। भावभाषात्वसाक्षाद्व्याप्यद्वितीयजात्यवच्छिन्ने च विषयविधया श्रुतत्वेन प्रवेशः। विशेषरूपं च प्रथमे उपयुक्त-सम्यक्श्रुतत्वं द्वितीये चानुपयुक्तसम्यक्श्रुतत्वं मिथ्याश्रुतत्वं वेति नाव्यवस्थादिदोषनिपातः। सम्यक्श्रुतत्वं च स्वाम्यपेक्षया बोद्धव्यम् न तु स्वरूपापेक्षया। तेन स्वरूपतो मिथ्याश्रुतस्याऽपि सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतस्य यथोपयोगं स्याद्वादमहाराजसेवकनयविशेषापेक्षयाऽवलम्बनेऽपि तद्विषयिण्यां श्रुतभावभाषायां न सत्यत्वव्याहति-रित्यादिप्रदर्शनार्थं **दिगित्युक्तम्**।

प्रकृते ***दशवैकालिकनिर्युक्ति***वचनसंवादं प्रदर्शयति-**तदिति**। **ननु** निर्युक्तिकृता च' मिच्छदिट्ठी वि य तहेव' इत्यत्र चकारेणोभयसमुच्चयः कृतः भवद्भिश्च 'वा = अथवे'त्युक्त्वा प्रथमपक्षः परित्यक्त इति कथं न वः तेन विरोधः **मैवम्,** तत्र चकारो न समुच्चयार्थे किन्तु वाकारार्थे इतिप्रदर्शनार्थमेवाऽत्र वाकारो गृहीतः। यद्वा वाकारो व्यवस्थायां ग्राह्यः। सा चेयं, सम्यग्दृष्टेरनुपयुक्तभावेन भाषमाणस्य भाषायाः श्रोतृवितथार्थबोधजनकत्वात्, मृषाभाषावर्गणाजन्यत्वात्, बाधितार्थकत्वाच्च व्यवहारतो मृषात्वमेव। अत एव क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपि मृषावचनयोगो देशितः ***चतुर्थकर्मग्रन्थादा***। अयञ्चाऽसत्यवचनयोगो न मोहमूलकः, तस्य प्रक्षीणत्वात् किन्त्वनाभोगनिमित्तको व्यवहारनयाभिमतः। अनाभोगतो वितथभाषणेऽपि परमगुरुप्रणीतयथोक्तवस्तुस्वरूपाभ्युपगमस्य तच्चेतसि सर्वदैवाऽविचलितत्वात्, प्रज्ञापनीयत्वादि-गुणकलितत्वाच्च तद्भाषायां भावतः सत्यत्वमेव। उपेत्यवितथभाषणे सम्यग्दृष्टित्वहान्यापत्तेः। **न च** द्रव्यतोऽसत्यत्वं भावतः सत्यत्वमित्यभ्युपगमे सत्यामृषात्वप्रसङ्ग इति **वाच्यम्,** द्रव्यांशापेक्षयैव भ्रमप्रमाजनकत्वेन भाषायां सत्या-मृषात्वस्याऽभ्युपगमात्, न तु द्रव्यभावापेक्षया। युगपदुभयप्राधान्यार्पणेऽवक्तव्यत्वेऽपि तदन्यतरप्राधान्यार्पणे सत्या-

शंका :- ***कथं.*** इति। यदि उन्मत्त पुरुष की तरह मिथ्यादृष्टि को सत् और असत् का भेदज्ञान नहीं है तब तो उसका ज्ञान अज्ञानरूप है। जब उसका ज्ञान अज्ञानस्वरूप है तब उसकी भाषा श्रुतविषयक कैसे होगी? उसकी भाषा श्रुतविषयक नहीं है मगर कुश्रुतविषयक है - मिथ्याश्रुतविषयक है। तब उसकी भाषा का श्रुतविषयक भावभाषा में समावेश ही कैसे हो सकेगा? अतः उसकी भाषा को श्रुतविषयक मृषा भावभाषा कहना भी सर्वथा असंगत ही है।

* श्रुतविषयक भावभाषा में श्रुतसामान्य का अधिकार *

समाधान :- ***सत्यम्.*** इति। आपकी बात में इतना तो तथ्य है कि मिथ्यादृष्टि की वाणी कुश्रुतविषयक है। फिर भी आप आगे जो बात कर रहे हो उससे लगता है आप सींग कटा कर बछड़ों से मिलना चाहते हो। इसका कारण यह है कि श्रुतविषयक भावभाषा में विषयविधया सम्यक् श्रुत का उपादान नहीं किया है मगर अविशेषित श्रुत = श्रुतसामान्य का ग्रहण किया है। जब श्रुत का सम्यक् या मिथ्या इत्यादि विशेषण नहीं लगाया गया है तब तो निर्विशेषणक श्रुतपद से सम्यक् श्रुत की तरह मिथ्याश्रुत का भी ग्रहण न्यायप्राप्त है, क्योंकि श्रुतत्वनामक धर्म दोनों में समान ही है। अतः 'मिथ्यादृष्टि की भाषा में श्रुतत्वनामक धर्म नहीं है' - ऐसा जो आपने बताया था वह निराधार सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मिथ्याश्रुत भी अश्रुत = श्रुतभिन्न नहीं है मगर श्रुत ही है। क्या नील घट भी घट नहीं होता है? अतः श्रुतविषयक भावभाषा में श्रुतसामान्य का विषयविधया ग्रहण होने से मिथ्यादृष्टि की मिथ्याश्रुतविषयक भावभाषा को श्रुतविषयक भावभाषा कहने में कोई विरोध नहीं है। हाँ, यह बात अलग है कि श्रुतविषयक सत्यादि भावभाषा में विशेषित श्रुत का ही ग्रहण होता है। अर्थात् श्रुतविषयक सत्य भावभाषा में विषयविधया उपयुक्त सम्यक् श्रुत का ग्रहण अभिप्रेत है और श्रुतविषयक मृषा भावभाषा में विषयरूप से अनुपयुक्त सम्यक् श्रुत या मिथ्याश्रुत का ग्रहण अभिप्रेत है। अतः मिथ्याश्रुतविषयक भावभाषा में सत्यत्व की या उपयुक्त सम्यक्श्रुतविषयक भावभाषा में असत्यत्व की आपत्ति भी नहीं रहती है। इस संबंध में अधिक विचार भी किये जा सकते हैं। इस बात की सूचना देने के लिए दिग् शब्द का विवरणकार ने प्रयोग किया है।

तदिदमाह **भगवान् भद्रबाहु** 'सम्मद्दिट्ठी उ सुअंमि अणुवउत्तो अहेउअं चेव। जं भासइ सा मोसा, मिच्छद्दिट्ठी वि य तहेव।। (दश. नि. गा. २८०) त्ति। अहेतुकं 'तन्तुभ्यः पट एव भवती' त्यादि।।८३।। **अथा**ऽसत्यामृषा श्रुतभावभाषा कस्य? इत्याह।

सत्याऽन्यतरपर्यवसानात्, सर्वत्र सप्तभङ्ग्या अव्याहतप्रसरात्। ततः स्वाम्यपेक्षया सत्यत्वं द्रव्यभाषास्वरूपाऽपेक्षया चाऽसत्यत्वं तदेति न कश्चिद्विरोधगंधलेशोऽपि।

अत एव गुरुनियोगादितो वितथार्थापरिज्ञानसम्भवेन तथाभाषणे प्रज्ञापनीयत्वादिगुणकलितस्य वक्तुर्न कर्मबन्ध इति समयभणितिः, भावसत्यत्वेन द्रव्याऽसत्यत्वस्योपक्षीणत्वात्। पश्चात् गुरुणाऽन्येन वा ज्ञानिना सम्यगर्थज्ञापनेऽपि पूर्ववत् भाषणे त्वसत्यत्वमेव तदा, अभिनिविष्टत्वेन भावसत्यत्वप्रच्यवात्। **एतेन** नवपूर्वादिश्रुतधरस्याऽभव्यस्याऽऽगमानुगामिभाषायाः स्वामिकृताऽसत्यत्वेऽपि यथावस्थितार्थप्रतिपादकत्वेन श्रोतृप्रमाजनकत्वात् द्रव्यतः सत्यत्वमव्याहतमिति **व्यज्यत**, अन्यथा भगवद्भाषाया अपि द्रव्यश्रुतत्वं न स्यात्। विशेषपरिज्ञानदशायाञ्चाभव्येभ्य उत्करपतितचम्पकमालाज्ञातेन श्रुतग्रहणादिनिषेधात्तद्भाषा सत्यत्वेन न व्यवहर्तव्या, कुत्सितस्वामिकत्वादिति तु **ध्येयम्**।

अनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेः श्रुतविषयिणीमसत्यां भावभाषां प्रदर्शयति **अहेतुकमिति**। युक्तिविकलमिति ***श्रीहरिभद्रसूरयो*** व्याचक्षते। इदञ्च हेतुगम्यपदार्थापेक्षया बोध्यम्। तेन नाऽऽगमगम्यपदार्थभाषणेऽसत्यत्वाऽऽपातः। उभयसाधारण्यलाभार्थं तु नञो विरोधार्थकत्वं ज्ञेयम्। तेन अहेतुकं = युक्तिविरुद्धमित्यर्थो लभ्यते, यथा लोकः कदापि न निर्लेपो भविष्यति जीवानां परिमितत्वादित्याद्यागमिकार्थोदाहरणम्। मृषात्वं त्वत्र स्पष्टमेव। तथा यौक्तिकार्थोदाहरणं तु **'तन्तुभ्यः पट एव भवतीत्यादि'**। तन्तूनां स्वविषयकप्रमाविपर्ययादेरपि जनकत्वेनाऽन्ययोगव्यवच्छेदरूपैवकारार्थबाधादसत्यत्वम्। ***प्राचीनतरचूर्णौ*** तु 'तंतवो धडकारणं, वीरणा पडस्स एवमादि सम्मदिट्ठीणो वि भवति मोसा' (दश. अग. चू. पृ. १६२) इत्युक्तम्। विवरणकृता चाऽत्र ***श्रीदशवैकालिकहारिभद्र***वृत्त्यनुसारेणाऽत्रोदाहरणं प्रदर्शितमिति ध्येयम्।

प्रकृते श्रुतेऽनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्भाषाया मृषात्वप्रतिपादने इदमर्थतः प्राप्तं भवति यदुत श्रुते उपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्भाषा सत्यैव **न च** सम्यक्श्रुतोपयुक्तस्याऽपि सम्यग्दृष्टेः मिथ्याश्रुतपरावर्तने कथं सत्यभाषावक्तृत्वं स्यादिति **वाच्यम्** बहुश्रुतत्वादिगुणकलितस्य सम्यगुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेर्मिथ्याश्रुतपरावर्तनेऽपि द्रव्यतोऽपि सत्यत्वमनपायमेव। तथाहि "जिनेन्द्रस्तवनं यस्य, तस्य जन्म निरर्थकं। जिनेन्द्रस्तवनं नास्य सफलं जन्म तस्य हि"।। इति व्यवहारतो मिथ्याश्रुतस्य तथाविधसम्यग्दृष्टिपरिगृहीतस्य न व्यवहारतोऽपि मृषात्वम्, 'यसु प्रयत्ने', 'तसु उपक्षये', 'असु क्षेपणे' इति धातुपाठबलेन तदर्थघटनद्वारा तद्दोषप्रच्यवात्। 'गत्वा गच्छामि चैत्यं' इत्यत्राऽकारद्वयप्रश्लेषात् 'गत्वाऽऽगच्छामि चैत्यं' इत्यर्थव्याख्याने कृते सति 'न मांसभक्षणे दोष' इत्यादौ च पूर्वोक्तरीत्याऽकारप्रश्लेषेन तदर्थघटनायां सत्यां दूषणविलयात्। दृष्टो हि 'इह कोऽपि नास्ती'त्युक्ते पश्चान्मनुष्योपलब्धौ 'इह कोऽपि ना अस्ती'ति विवरणेन बहुश्रुतत्वादिगुणोपेतस्य दोषभङ्ग इति विभावनीयं सूक्ष्मेक्षिकया।। ८३।।

यहाँ जो कहा गया है वह अपनी मनमानी कल्पना से कहा गया है - ऐसा नहीं है। इस तथ्य को प्रकट करते हुए विवरणकार पूर्णचरमश्रुतकेवली भगवान भद्रबाहुस्वामीजी से रचित श्रीदशवैकालिकनिर्युक्ति के वचन को बताते हैं। यह रहा वह शास्त्रपाठ - "(जब) समकितदृष्टि श्रुत में अनुपयुक्त हो कर अहेतुक ही बोलता है वह भाषा (श्रुतविषयक) मृषा भाषा है और मिथ्यादृष्टि की भाषा भी वैसी ही है।" निर्युक्ति में जो कहा गया है कि `अहेतुकं' इसका अर्थ है `युक्तिविरुद्ध' अर्थात् युक्तिहीन भाषण। जैसे कि `तंतुओं से पट ही बनता है' इत्यादि भाषा। तन्तु अपना ज्ञान भी उत्पन्न करता है, जलाने पर भस्म को भी उत्पन्न करता है। अतः तन्तु से पट ही उत्पन्न होता है वह बात मिथ्या = असत्य है। इस तरह ८३ वीं गाथा में श्रुतविषयक मृषा भावभाषा का संक्षेप से निरूपण पूर्ण हुआ।

शंका :- ***अथ.*** इति। श्रुतविषयक सत्य भावभाषा और असत्य भावभाषा किसकी होती है यह तो पता चल गया। मगर

[1]**उवरिल्ले नाणतिगे उवउत्तो जं च भासइ सुअंमि। सा खलु असच्चमोसा जं बाहुल्लेण सा सुत्ते।।८४।।**

यत् श्रुते परावर्त्तनादि कुर्वन्, **उपयुक्तो भाषते एषाऽसत्यामृषा यद्** = यस्मात्कारणात्, **सूत्रे** = सिद्धान्ते, **बाहुल्येन** = प्रायः, **सा** = आमन्त्रण्यादिरूपा, असत्यामृषैवास्तीति। **चः** = पुनः, **उपरितने ज्ञानत्रिके** अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानलक्षणे, प्रत्येकं प्रत्येकमुपयुक्तो यद्भाषते साऽप्यसत्यामृषा, आमन्त्रण्यादिवत्तथाविधाध्यवसायप्रवृत्तेरिति सम्प्रदायः।

ननु श्रुतभावभाषायां निरूपणीयायां न ज्ञानत्रिकस्याऽवसरः केवलज्ञानस्य श्रुतज्ञाननाशं विनाऽनुत्पादादिति **चेत्? सत्यम्**

आमन्त्रण्यादिरूपेति। इदं च हेतुविशेषणम्। तदुक्तं ***प्राचीनतरचूर्णौ*** - "सुतनाणमामंतण-पण्णवणीमातिनियमिति सुतनाणोवयुत्तस्स वायणाति असच्चामोसा।" (दश. अग. चू. पृ. १६२) अत्र 'इति'शब्दो हेतौ वर्तते। तदुक्तं ***हलायुध-कोशे*** - "इतिशब्दः स्मृतो हेतौ प्रकारादिसमाप्तिषु।" (हुला. ५/८८७) प्रकारान्तरं दर्शयति चः = पुनरिति। श्रीहरिभद्र-सूर्यादिमतेनायं चकारः समुच्चयार्थ उक्तः। यद्यपि ***अगस्त्यसिंह***सूरिभिस्तु प्रकृते - "ओहि-मणपज्जव-केवलणाणिवयणं व एस सुतभावभासा" (दश. अग. चू. पृ. १६२) इत्येवं वाकार उक्तः तथापि स व्यवस्थायां ज्ञेय इति न दोषः। **तथा-विधाध्यावसायप्रवृत्ते**रिति। आमान्त्रण्यादिप्रयोजकाध्यवसायासमानाध्यवसायात् प्रवृत्तेः, ज्ञानत्रिकोपयुक्तभाषाया इति गम्यते। **सम्प्रदाय** इति। श्रीहरिभद्रसूर्यादिज्ञानवृद्धपुरुषसम्प्रदायः। प्रकृते चावध्यादिज्ञानोपयुक्तत्वेऽपि तेषां मूकत्वेन परप्रबोधानार्थं शब्दाश्रयणस्याऽऽवश्यकत्वाच्छ्रुतभावभाषात्वं, व्यवहारमात्रहेतुत्वात्, सत्यादिभाषालक्षणवियोगात्, असत्यामृषाभाषावर्गणाजन्यत्वाच्चासत्यामृषात्वमित्यस्माकमाभाति। तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति।

ननु ज्ञानत्रिकस्यैव ग्रहणं कुतः? किमथ ज्ञानचतुष्कग्रहणं न **कृतम्? उच्यते** व्यवहारावधारणदशायां श्रुतमुख-निरीक्षकत्वेन मतेरकिञ्चित्करत्वात्, मतिश्रुतयोरतिसङ्कीर्णस्वरूपत्वात्, श्रुतकेवलिषट्स्थानपतितत्वान्यथानुपपत्ति-हेतुना मतिज्ञानविशेषस्य तत्र तत्र श्रुतेऽन्तर्भावस्य ***महाभाष्यादौ*** प्रसिद्धत्वात्; बाहुल्येन व्यवहारे मत्युपयोग-विनिर्मुक्तश्रुतोपयोगस्य विरहात्, ***श्रीसिद्धसेनदिवाकरादिमते*** मतिश्रुतयोरभेदाच्च श्रुतग्रहणेन मतेर्ग्रहणात्प्रकृते न ज्ञान-चतुष्कोपादानमित्यनेकान्तवादनिपुणमतिभिर्विभावनीयम्।

अप्रस्तुतार्थभिधानमेतदित्याशयेन शङ्कते **नन्विति**। अवध्यादिसत्त्वे श्रुतस्यावश्यम्भावात्तदुपादानमित्याशङ्काया-माह **केवलज्ञानस्येति**। नट्ठम्मि छउमत्थिए नाणे (आ. नि. श्लो.) इत्यागमवचनात् केवलस्य श्रुतध्वंसाविनाभावित्वेन

श्रुतविषयक असत्यामृषा भावभाषा किसकी होती है? इसका निरूपण तो बाकी ही रह गया।

इस शंका की उपस्थिति होने पर प्रकरणकार ८४ वीं गाथा से श्रुतविषयक असत्यामृषा भावभाषा किसकी होती है यह बता रहे हैं।

गाथार्थ :- अगले तीन ज्ञान में उपयुक्त होकर जो भाषा कही जाती है वह असत्यामृषा श्रुतभावभाषा है। श्रुत में उपयुक्त हो कर जो भाषा कही जाती है वह भी असत्यामृषा श्रुतभावभाषा है, क्योंकि बहुलतया श्रुत में आमन्त्रणी आदिरूप भाषा होती है।८४।

※ असत्यामृषा श्रुतभावभाषा ※

विवरणार्थ :- श्रुत का परावर्त्तनादि करते करते जो भाषा बोली जाती है वह असत्यामृषा श्रुतविषयक भावभाषा है, क्योंकि आगम की भाषा, प्रायः आमंत्रणी आदिरूप होने से, असत्यामृषा ही होती है। ठीक वैसे ही अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में से किसी एक में उपयोग रख कर जो भाषा बोली जाती है वह भाषा भी असत्यामृषा भाषा ही है, क्योंकि आमन्त्रणी आदि भाषा की तरह वह भाषा भी तथाविध अध्यवसाय से ही प्रवृत्त होती है। अर्थात् आमंत्रणी आदि भाषा के प्रयोजक अध्यवसाय के तुल्य अध्यवसाय से उस भाषा की प्रवृत्ति होने से वह भाषा भी आमन्त्रणी आदि भाषा की तरह असत्यामृषा भाषा ही है - ऐसा प्राचीन ज्ञानवृद्ध पुरुषों का सम्प्रदाय है।

शंका :- **ननु.** इति। यहाँ श्रुतभावभाषा का निरूपण हो रहा है। अतः यहाँ उपयोग के विषयरूप में श्रुत की बात करना उचित

१ उपरितने ज्ञानत्रिके उपयुक्तो यच्च भाषते श्रुते। सा खलु असत्यामृषा यद् बाहुल्येन सा सूत्रे।।८४।।

द्रव्यश्रुतं प्रतीत्य भावभाषायाः केवलज्ञानेऽपि सम्भवात्। तदुक्तम् [1]'केवलनाणेणत्थे णाउं जे तत्थ पन्नवणजोग्गे। ते भासइ तित्थयरो श्रुतसत्त्वे केवलानुत्पादात्केवलज्ञानसत्त्वे श्रुतध्वंसः सिध्यति। ततः केवलश्रुतयोः सहानवस्थानादपि न तदुपादानं कर्तव्यम्, श्रुतासत्त्वे तदुपयोगस्याऽप्यसम्भवात्। **एतेना**तीतश्रुतापेक्षया केवलिनि असत्यामृषाश्रुतभावभाषाभिधानमिति कुचोद्यम**पास्तम्** वान्तसम्यग्दर्शनस्याऽपि मिथ्यादृष्टेः सतः तत्प्रसङ्गाच्चेति। ततश्चावधिमनःपर्याययोः श्रुतसमान-कालीनत्वेऽपि केवलज्ञानस्य तदसमानकालिकत्वान्न श्रुतभावभाषायां ज्ञानत्रिकोपादानं युक्तमिति **नन्वाशयः**।

सहानवस्थानमङ्गीकृत्य विशेषं द्योतयति **सत्यमिति**। **द्रव्यश्रुतं प्रतीत्येति**। अनेन केवलिनि भावश्रुताभावोऽङ्गी-कृतः। **भावभाषाया** इति। केवलज्ञानोपयुक्तत्वेनात्र भावभाषात्वं ज्ञेयम्। श्रुतभाषात्वं च केवलिवचनस्य द्रव्यश्रुतत्वेनेति भावः। ***आवश्यकनिर्युक्ति***संवादं प्रदर्शयति **'केवलनाणेणत्थे'** इत्यादि। केवलज्ञानोपलब्धार्थैकदेशभूतप्रज्ञापनीयार्थाभि-धायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणः तीर्थकरस्य वाग्योगः शेषं श्रुतं = कारणे कार्योपचाराद् द्रव्यश्रुतं भवतीति गाथातात्पर्यम्। तदुक्तं ***श्रीहेमसूरिणा***-"केवलिनः शब्दमात्रं श्रोतृणां श्रवणानन्तरलक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वेनोपचाराच्छ्रुतं भवति न तु भणनक्रियाकाल इति। **अथवा** अन्यथा व्याख्यायते- स केवलिनः सम्बन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति, कथम्भूतम्? शेषं = गुणभूतमप्रधानम् औपचारिकत्वादिति। अन्ये तु पठन्ति-वइजोगसुयं हवइ तेसिंति। तत्र तेषां भाषमाणानां सम्बन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुतं भवति द्रव्यश्रुतमिति अर्थः। अथवा तेषामिति श्रोतृणां, तानाश्रित्येत्यर्थः। भाषकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति भावश्रुतकारणत्वाद् द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः अथवा तानर्थान् भाषते केवली। वाग्योगश्चायमस्य भाषमाणस्य भवति तेषां श्रोतृणां भावश्रुलकारणत्वात् श्रुतमसौ भवति" (वि. भा. गा. ८२९ मल. वृत्ति.)

नन्वेवं भाषकस्य विभङ्गज्ञानोपयुक्तत्वेऽपि कदाचिच्छ्रोतुः भावश्रुतकारणत्वेन तदीयवाग्योगेऽप्युपचारेण द्रव्य-श्रुतत्वं स्यात्। ततो ज्ञानचतुष्कोपादानं कर्तव्यम्? **न** कर्तव्यम्, कादाचित्कत्वात् परममुनीनामनभिमतत्वाच्च उपचारे

है न कि अवधि आदि तीन ज्ञान की। अतः श्रुतभावभाषा के निरूपण में अवधि आदि तीन ज्ञान की बात करना अवसरोचित नहीं है। इसका कारण यह है कि जब केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तब श्रुतज्ञान ही नहीं रहता है, क्योंकि श्रुतज्ञान के नाश के बिना केवलज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होती है। केवलज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ प्रकट अवस्था में विद्यमान नहीं रहते हैं तब केवली को श्रुतज्ञान का उपयोग कैसे संभवित है? अतः तीन ज्ञान की बात श्रुतभावभाषा में करना अनुचित है।

* द्रव्यश्रुत की अपेक्षा केवली में भावभाषा *

समाधान :- *सत्यं* इति। आपकी यह बात तो सत्य है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति श्रुतज्ञान के नाश के बिना नहीं होती है। अतः केवली में श्रुतज्ञान नहीं होता है। अतएव श्रुतज्ञान का उपयोग भी केवली को असंभवित है। मगर यहाँ आपसे जो बात कही गई है वह भावश्रुत की अपेक्षा से सत्य है। अर्थात् केवली को भावश्रुत नहीं होता है। केवली में द्रव्यश्रुत तो विद्यमान रहता है। अतः यहाँ केवली में जो श्रुतभावभाषा बताई गई है वह द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से ज्ञातव्य है। अर्थात् द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से केवली में भावभाषा का यहाँ विधान किया गया है। यहाँ यह शंका कि - "आगम में तो सिर्फ ऐसा ही कहा गया है कि छाद्मस्थिक ज्ञान का नाश होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। मगर यहाँ छाद्मस्थिक ज्ञान के एक अंशभूत श्रुतज्ञान का ग्रहण किया गया है वह भावश्रुत की अपेक्षा से ही है न कि द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से भी - इस बात में प्रमाण क्या है?" निराधार है, क्योंकि हमने यहाँ जो कहा है कि द्रव्यश्रुत की अपेक्षा से केवली में भावभाषा का संभव है वह बात अप्रामाणिक नहीं है मगर प्रामाणिक है, शास्त्रप्रमाणसिद्ध है। केवली में द्रव्यश्रुत की सत्ता का प्रदर्शक यह रहा आवश्यकनिर्युक्ति का पाठ। उसका अर्थ यह है कि "तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान से (सब द्रव्य-पर्यायरूप) अर्थ को जान कर उनमें से जो अर्थ=विषय प्रज्ञापनीय होते हैं, उन्हें कहते हैं। यह वचनयोग शेषश्रुत=द्रव्यश्रुत होता है"। चरम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी के वचन से ही केवली में द्रव्यश्रुत की सिद्धि होती है। इस गाथा का तात्पर्य यह है कि केवली देशना देते हैं उससे श्रोता के भावश्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है अर्थात् केवली की वाणी श्रोता के

१ केवलज्ञानेनाऽर्थान् ज्ञात्वा ये तत्र प्रज्ञापनायोग्याः। तान्भाषते तीर्थकरो वचोयोगः श्रुतं भवति शेषम्।।

वइजोग सुअं हवइ सेसं।। (आ.नि.गा. ७८) ति। प्रसङ्गाद्वैतदभिधानमिति **ध्येयम्**।।८४।। उक्ता श्रुतभावभाषा। अथ चारित्र-भावभाषामाह।

चारित्तविसोहिकरी सच्चा मोसा य अविसोहिकरी। दो एयाउ चरित्ते भावं तु पडुच्च णेयाओ।।८५।।[1]

चारित्रविशोधिकरी यां भाषमाणस्य साधोश्चारित्रमुत्कृष्यत इत्यर्थः, **सा सत्या मृषा**[2] **च संक्लेशकरी** यां भाषमाणस्याऽचारित्रपरिणामो वर्द्धत इत्यर्थः। इदमुपलक्षणं यां भाषमाणस्य चारित्रं तिष्ठति सा सत्या; यां भाषमाणस्य चारित्रं न तिष्ठति सा

सति हि निमित्तं मृग्यते न तु निमित्तमस्तीत्युपचारेण भवितव्यम्। एवं श्रुतोपगृहीतावधिमनःपर्यायोपयोगशालिनां भाषायां श्रुतभावभाषात्वं स्वयं भावनीयम्।

ननु श्रुतपरावर्त्तनादौ भावश्रुतविषयकोपयोगस्य लाभे किमिति द्रव्यश्रुतपर्यन्तानुधावनं क्रियत इत्याशंकायामाह **प्रसङ्गाद्वेति**। प्रकृते विषयविधया भावश्रुतस्य प्रक्रान्तत्वेऽपि श्रुतत्वसाम्येन द्रव्यश्रुतस्य तन्निरूपणस्मृतत्वात् तत्प्रतीत्य भाषाया अभिधानमिति भावः। अनेन प्रसङ्गसङ्गतिः प्रदर्शिता। एवञ्च केवलज्ञानोपयोगशालिप्रयुक्तभाषायां उपयोग-विषयविधया भावश्रुतं यद्वा भावश्रुतविषयकभावभाषात्वं नास्ति। यद्यपि केवलिनि सत्यवचनयोगः ***कर्मग्रन्थादावुक्तः*** तथापि स द्रव्यभावभाषापेक्षया चारित्रभावभाषापेक्षया वा ज्ञेय इति न कश्चिद् विरोध इत्यादिसूचनाथ **ध्येयम**-त्युक्तम्।।८४।।

अवसरसंगतिं प्रदर्शयति **अथेति। संक्लेशकरीति**। हेतुविशेषणमेतत्। ततः साऽसत्या संक्लेशकरीत्वादिति द्रष्टव्यम्। एवञ्च साधोर्यद् वचनमसंक्लेशकरं चारित्राप्रतिपन्थि वा तच्चारित्रविषयकसत्यभाववचनम्। यच्च संक्लेश-करं चारित्रप्रतिपन्थि वा तद्विपरीतमिति लक्षणे फलिते। **अचारित्रपरिणामः** = अविरतिपरिणामः चारित्रप्रतिपन्थि-

---

भावश्रुत का कारण है। कारण को आगम की परिभाषा में द्रव्य कहा जाता है जैसे कि जो मिट्टी भावघट का कारण है वह द्रव्यघट है, तंतु द्रव्यपट है इत्यादि। श्रोता में भावश्रुतज्ञानोत्पादकत्व की अपेक्षा से केवली का वचनयोग द्रव्यश्रुत कहा गया है। अतः निर्युक्तिवचन से द्रव्यश्रुत की सत्ता केवली में सिद्ध होती है। अतः उसकी अपेक्षा से केवली में श्रुतभावभाषा का प्रतिपादन करना नितांत निर्दोष ही है। अथवा हम यह भी कह सकते हैं कि श्रुतभावभाषा के तृतीय भेद में जो द्वितीय प्रकार बताया गया है वह प्रासंगिकरूप से बताया गया है न कि मुख्यरूप से। अर्थात् भावश्रुतविषयक भावभाषा का निरूपण करते करते स्मृत द्रव्यश्रुत के सम्बन्धी भावभाषा का भी निरूपण किया गया है। इस सम्बन्ध में शांति से ध्यान देनें की सूचना दे कर विवरणकार ने श्रुतभावभाषा के निरूपण को जलांजलि दी है।।८४।।

भावभाषा के प्रथम दो भेद द्रव्यविषयक भावभाषा और श्रुतविषयक भावभाषा का निरूपण करने के बाद भावभाषा के तृतीय भेद चारित्रविषयक भावभाषा का निरूपण प्रकरणकार ८५ वीं गाथा से कर रहे हैं।

गाथार्थ :- भाव की अपेक्षा चारित्रविषयक दो भाषा हैं सत्य और मृषा। जो भाषा चारित्र की विशुद्धि करती है वह चारित्रविषयक सत्य भावभाषा है और जो चारित्र को मलीन करती है वह चारित्रविषयक असत्य भावभाषा है।।८५।।

✱ चारित्रविषयक भावभाषा के दो भेद ✱

विवरणार्थ :- चारित्रविषयक सत्य और मृषा ये दो भाषा संभवित हैं। इनमें से सत्य भाषा वह कही जाती है जो चारित्र की विशोधक होती है अर्थात् उस भाषा को बोलने से साधु का चारित्र उत्कृष्ट बनता है, निर्मल बनता है। चारित्र में मृषा भाषा वह होती है जो अविशुद्धिकारक=संक्लेशकारक होती है, उसको बोलने से अचारित्र=अविरति का परिणाम वृद्धिगत होता है। यहाँ सत्यभाषा को चारित्रविशोधिकरी और असत्य भाषा को चारित्र अविशुद्धिकरी ऐसा जो कहा गया है वह उपलक्षण है। अर्थात् सिर्फ चारित्र के उत्कर्ष की प्रयोजक होती है वही भाषा चारित्रविषयक सत्य भाषा है - ऐसा नहीं है मगर जिस भाषा को बोलने पर

---

२ चारित्रविशोधिकरी सत्या मृषा चाऽविशोधिकती। द्वे एते चारित्रे भावं तु प्रतीत्य ज्ञेये।।८५।।

३ मुद्रितप्रतौ च 'मृषा च यां' इति पाठः। अग्रे च 'सा सत्या असंक्लेशकरी यां' इति पाठः।

त्वसत्येपि द्रष्टव्यम्। **द्वे एते भाषे भावं प्रतीत्य ज्ञेये** द्रव्यतस्त्वन्यासामपि भाषणसम्भवादित्यभिप्रायः।।८५।।

द्रव्यतोऽपि साधोः सत्यासत्यामृषे एव भाषे वक्तुमनुज्ञाते नान्ये इत्याह।

[1]दो चेव अणुमयाओ वोत्तुं सच्चा य असच्चमोसा य।
दोन्नि य पडिसिद्धाओ मोसा य सच्चमोसा य।।८६।।

परिणामो वा। **चारित्रं** = चारित्रपरिणामो **न तिष्ठति** तेन द्रव्यचारित्रसत्त्वेऽपि न क्षतिः। **भावं प्रतीत्येति** निश्चयनयमाश्रित्य। **द्रव्यतस्तु** = व्यवहारतस्तु **अन्यासामपि** भाषाणामिति शेषः।

ननु अन्ययोरपीत्येवं वक्तव्यम् न त्वन्यासामपि सत्यासत्याभ्यां व्यतिरिक्ते व्यवहारतो द्वे एव मृषासत्यामृषे स्त इति **चेत्**? व्यवहारनयापरिज्ञानविजृम्भितमेतद् देवानांप्रियस्य। श्रुणु व्यवहारतो न केवलं भाषाया चतुर्विधत्वमेवापि तु षोडशविधत्वादिकमपि। तदुक्तं ***प्रज्ञापनायाम्*** - "गोयमा! सोलसविहे वयणे पन्नत्ते तं जहा एगवयणे, दुवयणे, बहुवयणे, इत्थिवयणे पुमवयणे, णपुंसगवयणे, अज्झत्थवयणे उवणीयवयणे, अवणीयवयणे, उवणीयावणीयवयणे, अवणीयोवणीयवयणे, तीतवयणे, पडुप्पन्नवयणे, अणागयवयणे, पच्चक्खवयणे, परोक्खवयणे।" (प्र.भा.पद.सू. १७३) तदुक्तं ***स्थानाङ्गेऽपि***" सत्तविहे वयणविकप्पे पन्नत्ते तं जहा आलावे, अणालावे, उल्लावे, अणुल्लावे, संलावे, पलावे, विप्पलावे" (स्था.सू. ५८४) दशम ***स्थानाङ्गेऽपि*** दशविहे सद्दे पन्नत्ते तं जहा नीहारि, पिंडिमे लुक्खे, भिन्ने, जज्जरिते, इति। दीहे, रहस्से, पुहुत्ते, य काकणी, खिंखिणिस्सरे (स्था.सू. ७०५) इत्युक्तम्। तृतीय ***स्थानाङ्गेऽपि*** तिविहे वयणे पन्नत्ते तं जहा तव्वयणे तदन्नवयणे णोअवयणे (स्था. सू. १७५) इत्युक्तम्। एवं सावद्यनिरवद्यभेदेन भाषाया द्वैविध्यमपि सम्भवति। तदुक्तं ***व्याख्याप्रज्ञप्ता***- "सक्के णं भंते। देवराया किं सावज्जं भासं भासइ अणवज्जं भासं भासइ? गोयमा! सावज्जंपिं भासं भासइ अणवज्जंपि भासं भासइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ सावज्जं पि जाव अणवज्जं पि भासं भासइ, गोयमा! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ"। (भग.सू.श. १६, उ. २) सूक्ष्मकायं हस्तादिकं वस्त्विति वृद्धाः। अन्ये त्वाहुः सुहुमकायंति वस्त्रं, अणिज्जूहित्ताणंत्ति अपोह्य=अदत्त्वा। हस्ताद्यावृत्तमुखस्य हि भाषमाणस्य जीवसंरक्षणतोऽनवद्या अन्या तु सावद्येत्यर्थः।

ननु तत्रैव पूर्वं मिथ्यावादित्वं निषिध्य शक्रे सम्यग्वादित्वमुक्तं पश्चाच्च सावद्यभाषासम्भव इति कथं न विरोधः? **मैवम्** सम्यग्वदितुं शीलं = स्वभावो यस्य स सम्यग्वादी प्रायेणासौ सम्यगेव वदतीति। सम्यग्वादशीलत्वेऽपि प्रमादादिना जीवासंरक्षणतः सावद्यभाषा सम्भवतीति न विरोधः।

वस्तुतस्तु यथा मृषाभाषाया चारित्रप्रतिपन्थित्वेऽपि चारित्रिवक्तृकत्वाच्चारित्रभावभाषात्वं तथैव शक्रभाषायाः कदाचित् सावद्यत्वेऽपि सम्यग्दृष्टित्वापेक्षया शक्रे सम्यग्वादित्वमुक्तमिति न कश्चिद्विरोधः। औत्सर्गिकत्वापवादिकत्वाद्यपेक्षयाऽपि भाषाद्वैविध्यं सम्भवति। यथासम्भवं विभागान्तरमपि भावनीयम्। ततश्च व्यवहारतोऽन्यासामपि भाषाणां चारित्रे सम्भवः केवलं भावतः=निश्चयनयमभिप्रेत्य ता द्वयोरेवान्तर्भवंतीति सिद्धम्।।८५।।

चारित्र स्थिर रहता है, टीकता है वह भाषा भी चारित्रविषयक सत्य भावभाषा है। वैसे जिस भाषा को बोलने पर साधु का चारित्र नहीं रहता है अर्थात् चारित्र का परिणाम नहीं रहता है वह भाषा चारित्रविषयक असत्य भावभाषा है। ये दो भाषा भाव की अपेक्षा से चारित्र में ज्ञातव्य हैं। अर्थात् साधु भगवंत जिस भाषा को बोलते हैं वह भावतः = निश्चयतः या तो सत्य होती है या तो असत्य होती है। मगर द्रव्यतः = व्यवहार से तो अन्य भाषा यानी मिश्र आदि भाषा भी साधु भगवंत को संभवित है ऐसा गाथा का अभिप्राय है। अर्थात् व्यवहारतः साधु भगवंत में अन्य भाषाओं का संभव होने पर भी निश्चय से वे भाषा सत्य में या तो मृषा में अंतर्भूत होती

१ द्वे एवानुमते वक्तुं सत्या चासत्यामृषा च। द्वे. च प्रतिषिद्धे मृषा च सत्यामृषा च।।८६।।

स्पष्टा। नवरं प्रतिषेधो विना कारणं, कारणे तु तयोरप्यनुज्ञैवेति द्रष्टव्यम्।।८६।।

ननु भावतः सत्यामृषे चारित्रे सम्भवत इत्युक्तम् ततः किमसत्याऽपि साधोर्वक्तुमनुज्ञातेत्याशङ्कायामाह- **द्रव्यतोऽपी**ति। **नान्ये** = न मृषासत्यामृषे। द्रव्यतोऽपि मृषाभाषाया निषेधः किं पुनः भावत इत्याशयः। तदुक्तं ***प्रज्ञापनायां*** 'भासा चउप्पगारा दोण्णि य भासा अणुमता उ'। (प्रज्ञा. भाषा. पदसूत्र १६५) ***दशवैकालिके***ऽपि 'दुण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासिज्ज सव्वसो।' (दश. अ. ७ गा. १) इत्युक्तम्। इदं चोत्सर्गतो ज्ञेयमित्याह **प्रतिषेधो विना कारणं, कारणे त्विति**। साधोर्मृषासत्यामृषाभाषानुज्ञाकारणं च प्रवचनापभ्राजनादिकं ***प्रकल्पग्रन्थादि***तो ज्ञेयम्। नवरमुत्सर्गतो निषिद्धेऽप्यपवादतोऽनुज्ञाते मृषासत्यामृषे निश्चयतः सत्ये एवान्तर्भवत इति ध्येयम्। **अनुज्ञैवेति।** एवकारेण कारणे सति तयोः प्रतिषेधो नास्तीति व्यज्यते। अनुज्ञा च कर्तुरिष्टत्वे सति वक्त्रनुमतत्वम्। निषेधाभावव्यञ्जिकेच्छेति **अन्ये**। प्रकृते चारित्रभावभाषाधिकारात् मृषासत्यामृषयोरुत्सर्गतो निषेधः अपवादतोऽनुज्ञा च यतिं प्रत्येवेत्याद्यूहनीयम्।।८६।।

न्यायाचार्यवचोऽलंकृत्य यशोविजयेन हि। चतुर्थस्तबके भावभाषा शेषा प्रदर्शिता।।१।।

इति मुनियशोविजयविरचितायां मोक्षरत्नाभिधानायां भाषारहस्यविवरणटीकायां चतुर्थः स्तबकः।

है।।८५।।

द्रव्यतः अर्थात् व्यवहार से भी साधु के लिए सत्य और असत्यामृषा ये दो भाषा ही बोलने के लिए अनुज्ञात हैं, अन्य भाषा नहीं - इस बात को प्रकरणकार ८६ वीं गाथा से बता रहे हैं।

गाथार्थ :- बोलने के लिए दो भाषा ही अनुज्ञात है सत्य और असत्यामृषा भाषा। मृषा और सत्यामृषा ये दो भाषा बोलने के लिए प्रतिषिद्ध हैं।८६।

विवरणार्थ :- गाथार्थ स्पष्ट होने से इस गाथा का विवरणकार ने विशेष विवरण नहीं किया है। मगर यहाँ दो भाषा बोलने की अनुज्ञा दी गई है और दो भाषा का निषेध किया गया है वह सामान्यतः द्रष्टव्य है अर्थात् कारणविशेष की उपस्थिति न हो तब उत्सर्ग से सत्य और असत्यामृषा भाषा ही बोलनी चाहिए। यदि शासनअपभ्राजनानिवारण, संयमरक्षा आदि कारण उपस्थित हो तब तो मृषा और असत्यामृषा (मिश्र) बोलने की भी तीर्थंकर गणधरादि भगवंतों से साधु को अनुज्ञा दी गई ही है। मगर वह द्रव्यतः मृषा या मिश्र भाषा भी निश्चयतः = भावतः सत्य में ही अंतर्भूत होती है - इत्यादि बात पर ध्यान देना चाहिए।।८६।।

पञ्चमः स्तबकः

अनुमतयोरपि द्वयोर्भाषयोर्विनयशिक्षामाह -

कालाइसंकिया जा जा वि य सव्वोपघाइणी होइ। आमंतणी य संगाइदूसिया जा ण तं भासे।।८७।।[1]

कालशङ्किता या अनिर्णीतकालसम्बन्धविषया यथा गमिष्यामः स्थास्याम इत्याद्या अनागतकाले, इदं करोमीत्याद्या वर्त्तमानकाले भवद्भिः सार्द्धमागतोऽहमिदं चाभ्यधामित्याद्या च (अतीतकाले) तां न भाषेत तथाभावनिश्चयाभावेन व्यभिचारतो मृषात्वोपपत्तेः

❋ मोक्षरत्ना ❋

सुव्रतस्वामिनं नत्वा स्तबके पञ्चमे खलु। साम्प्रतं दशवैकालिकाधिकारो विविच्यते।।१।।

प्रसङ्गसङ्गतिं प्रदर्शयति-**अनुमतयोरिति**। तीर्थंकरगणधरादिभिः साधूनां वक्तुमनुज्ञातयोः सत्याऽसत्यामृषाभाषयोरिति। **विनयशिक्षामाहेति**। सत्यप्रवादाभिधानात्पूर्वादुद्धृतां, दशवैकालिकसप्तमाध्ययनमनुसृत्येति शेषः। विनयो नाम शुद्धवाक्यप्रयोगः विनीयते कर्माऽनेनेति व्युत्पत्त्येति ***श्रीहरिभद्रसूर्यभिप्रायः***। अनुमतयोरपि द्वयोः भाषयोः सा वक्तव्या यद्भाषणे धर्मानतिक्रमो भवति तादृशः वाक्यप्रयोगो विनय इति ***श्रीजिनदासगणिमतम्***। विशेषेण यो नयो वक्तव्यः स विनय इत्यन्ये। त्रयोऽप्येते सदादेशा भगवदनुमतचित्रनयानुगामित्वादिति ध्येयम्।

नन्वनुमतयोः द्वयोः भाषयोः स्वरुच्यनुसारेण भाषणे को नाम दोषो येन साम्प्रतं शिक्षाप्रदानं क्रियते? **मैवम्**, सत्याऽसत्यामृषान्यतरत्वावच्छेदेन भाषणानुज्ञा नास्ति किन्तु धर्मविशेषाक्रान्तसत्याऽसत्यामृषान्यतरत्वावच्छेदेन। धर्मविशेषबोधनार्थमेव साम्प्रतं प्रक्रियत इति न कोऽपि दोषः। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** 'जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा अ जा मुसा। जा अ बुद्धेहिं नाइन्ना न तं भासिज्जा पन्नवं।। असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्जा पन्नवं।।' (द.वै. ७/२-३)।

कालशङ्कितेति। तदुक्तं **दशवैकालिके** 'तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णं भविस्सइ। अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सइ।। एवमाइ उ जा भासा एसकालंमि संकिआ। संपयाइअमट्ठे तं पि धीरो विवज्जए। अइयंमि अ कालंमि पच्चुप्पण्णमणागए जत्थ संका भवे तं तु एवमेअं ति नो वए। (द.वै. ७/६-७-९) **गमिष्याम** इति। वयं अमुकं

❋ कुसुमामोदा ❋

तीर्थंकर गणधरादि भगवंतों से बोलने के लिए अनुज्ञात ऐसी सत्य और असत्यामृषा भाषाओं के सम्बन्ध में प्रकरणकार ८७ वीं गाथा से लेकर ९७ गाथापर्यन्त विनयशिक्षा=हितशिक्षा देते हैं। अर्थात् सत्या और असत्यामृषा भी कब कैसे बोलना और कैसे न बोलना? इस बात को प्रकरणकार बता रहे हैं।

गाथार्थ :- जो भाषा कालादि में शंकित है और जो भाषा सबकी उपघातक है जो आमंत्रणी भाषा संगादि दोष से दूषित है उस भाषा को नहीं बोलना चाहिए।८७।

❋ कालशंकित भाषा बोलना निषिद्ध है ❋

विवरणार्थ :- जिस भाषा के विषयभूत काल का निश्चय न हो उस भाषा का अवधारणपूर्वक प्रयोग करना निषिद्ध है। काल के तीन भेद हैं (१) भविष्यकाल (२) वर्त्तमानकाल (३) भूतकाल। अतः काल की दृष्टि से शंकित भाषा के तीन प्रकार होते हैं (१) भविष्यकालीन शंकित भाषा (२) वर्त्तमानकालिक शंकित भाषा (३) अतीतकालीन शंकित भाषा। यहाँ आद्य भाषा के प्रयोग को विवरणकार बताते हैं कि - 'हम जायेंगे' 'हम रहेंगे' इत्यादि। वर्त्तमानकालीन शंकित भाषा का उदाहरण 'मैं यह करता हूँ' इत्यादि है। 'मैं आप के साथ ही आया था, 'मैंने यह कहा था' इत्यादि अतीतकालीन शंकित भाषा का उदाहरण है। जब जिस क्रिया का होना संदिग्ध हो तब उपर्युक्त भाषा का प्रयोग कालशंकित भाषारूप बन जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि जिस काल में जिस क्रिया का होना संदिग्ध हो उसे निश्चयपूर्ण शब्दो में बोलने का निषेध किया गया है। इसका कारण यह है कि उस उस क्रिया का उस उस काल में हो सकने का निश्चय न होने से शायद उस काल में वह किया न हो तब वह भाषा व्यभिचारी होने से मृषा बन जाती है। दूसरी बात यह है कि बुखार, बारिस आदि की बदौलत जाने में विघ्न आ जाए और न जा सके तब गृहस्थों के बीच में साधु का लाघव, शासन की अपभ्राजना आदि दोष होते हैं। 'मैं आपके यहाँ कल गोचरी के लिए आऊँगा,' 'हम कल विहार करनेवाले हैं' इत्यादि भाषा का प्रयोग साधु के लिए निषिद्ध है, क्योंकि बारिस आदि की बदौलत साधु दूसरे दिन उस गृहस्थ के घर गोचरी न जा सके या विहार न कर सके तब लोगों को यह महसूस होता है कि 'साधु भगवंत को कल क्या होनेवाला है इसका भी ज्ञान नहीं होता है। ये लोग झूठ बोलते हैं'। अतः सब कार्य में 'वर्त्तमान जोग' यानी 'जैसा अवसर' इन शब्द का प्रयोग करना-यह गणधर भगवंत आदि की साधु भगवंत के लिए सूचना=विधान है।

१ कालादिशङ्किता यापि च सर्वोपघातिनी भवति। आमंत्रणी च संगादिदूषिता या न तां भाषेत।।८७।।

विघ्नतो वाऽगमनादौ गृहस्थमध्ये लाघवादिप्रसङ्गाच्च।

यदि पुनरुत्सर्गतो निषिद्धमपि नक्षत्रादियोगं गृहस्थानां पुरः कथयेत् तदा निमित्तादेष्यत्कालज्ञानेऽपि विध्याराधनार्थमेवं वदेद् यत् 'अद्य यथेदं निमित्तं दृश्यते तथा वर्षेण भवितव्यम्' 'अमुको वाऽऽगमिष्यती'ति। परनिश्चिताऽपि च त्रिषु कालेषु शङ्कितैव यथा देवदत्त इदं करिष्यतीत्याद्येति। तामपि न वदेत्। कथं पुनः परनिश्चितां वदेदिति चेत्? इत्थम् अयमेवं भणति आगमिष्यामीति न पुनर्ज्ञायते आगमिष्यत्येवेति।

ग्राममवश्यं गमिष्यामि इत्यर्थः। **विघ्नत** इति। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिना*** 'तत्थ वाघातो भवेज्जा। तओ तेसिं गिहत्थाणं एवं चित्तमुप्पज्जइ जहा मुसावादी एसत्ति अहवा वायगेण गणिणा वा आपुच्छिओ ताहे तेसिं गिहत्थाणं एवं चिंतया भवेज्जा जहा एत्तिल्लगमवि एते ण जाणंति जहा वाघाओ भविस्सइ न वा भविस्सइत्ति, न कोऽपि एतेसिं णाणविसओ अत्थित्ति एवमाइ बहवे दोसा भवंति त्ति (द.वै.जि.चू.पृ. २४७) इति अन्यत्राऽप्युक्तम्- 'अन्नह परिचिंतिज्जइ कज्जं परिणमइ अन्नहा चेव। विहिवसयाण जियाणं मुहुत्तमेत्तंपि बहुविग्घं।। (   )

उत्सर्गतो निषिद्धमिति। नक्खत्तं सुमिणं जोगं निमित्तं मंतभेसज्जं गिहिणो तं न आइक्खे भूयाहिगरणं पयं।। (द.वै. ८/५१) इत्यादिना निषिद्धम्। अपवादविधिमाह- **'विध्याराधनार्थमिति**। यत्याचारपरिपालनार्थमिति। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः*** कारणजाए पुण जया भणिज्ज तदा इमेण प्पगारेण जहा, जहेत्थ निमित्तं दीसइ तहा अज्ज वासेण भवियव्वं अमुको वा आगमिस्सइ। (द.वै.जि.चू.पृ. २४७)

परनिश्चितेति। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः*** 'जावि परणिस्सिया सावि संकिया जहा देवदत्तो इदाणीं आगमिस्सइ इमं वा सो करिस्सइ। एवं तिसुवि कालेसु परणिस्सिया ण भाणियव्वा, कहं पुण वत्तव्वं? जहा सो एवं भणियाइओ, ण पुण णज्जइ किमागमिस्सइ ण वा आगमिस्सइ? इमं काहिति न काहिति वा? एवमाइया।'

---

* नक्षत्र आदि का आपवादिक वचन *

यदि. इति। गृहस्थ आदि के समक्ष नक्षत्रादियोग का बयान करना साधु के लिए उत्सर्गमार्ग से निषिद्ध है फिर भी कारणविशेष की उपस्थिति होने पर अपवादमार्ग से उसका कथन गृहस्थ के समक्ष करना हो, तब साधु भगवंत को शास्त्रोक्त निमित्त के सबब भविष्यकाल का और भविष्यकाल की घटनाओं का ज्ञान होने पर भी विधि=शास्त्रवचन का पालन करने के लिए ऐसा बोलना चाहिए कि 'देखिए, आज यह निमित्त दिखता है। अत एव बारिस होनी चाहिए' अथवा 'यह निमित्त देखा जाता है इसी सबब अमुक मनुष्य यहाँ आना चाहिए' इत्यादि। आपवादिक संयोग में निमित्तप्रदर्शनपूर्वक भावी घटना का बयान करने से जिनाज्ञा की आराधना होती है।

* अन्यनिश्चित भाषा के कथन की पद्धति *

परनिश्चिता. इति। उपर्युक्त बात से यह स्पष्ट हो गया है कि जब तक स्वयं किसी चीज का अच्छी तरह निश्चय न हो जाय या कुछ काम ठीक तरह मुकर्रर न हो जाए तब तक उसका निश्चितरूप से बयान नहीं करना चाहिए। जब किसी घटना का स्वयं को निश्चय न हो मगर अपने दोस्त को या अन्य किसीको निश्चय हो और वह हमसे ऐसा कहे कि 'कल देवदत्त यह काम करेगा' तब भी हमारे लिए तो वह भाषा शंकित ही है, क्योंकि देवदत्त ने स्वयं हमसे यह नहीं कहा है कि 'मैं कल यह काम करनेवाला हूँ'। दशपूर्वधर आदि से अन्य लोग से सूनी गई बातों पर पूरा भरोसा रखना यह नादानी है। अतः अन्य निश्चित भाषा हमारे लिए तो तीन काल में शंकित ही है। इसी सबब परनिश्चित भाषा का प्रयोग अवधारणपूर्वक नहीं करना चाहिए।

यदि यहाँ यह दहशत हो कि - 'जिस बात का स्वयं निश्चय नहीं हुआ है और हमारे पास न समय और शक्ति है कि उस बात की जाँच हम स्वयं कर सके तो उस बात को दूसरों के मुँह से, जिसको उस बात का अच्छी तरह निश्चिय हो चूका है, सून कर या जान कर क्या हम अन्य व्यक्ति से उस घटना का बयान नहीं कर सकते? अगर परनिश्चित घटना का कथन करने की अनुज्ञा नहीं होगी तब तो बहुत कुछ ऐसी बाबतों का, जिसका हम स्वयं निर्णय नहीं कर सकते हैं, अन्यसे कथन करना निषिद्ध होने से हमारा व्यवहार ही बंद हो जाएगा।' - तो यह नामुनासिब है, इसका कारण यह है कि परनिश्चित बात का कथन करने का सर्वथा निषेध नहीं है मगर अपनी और से हम ऐसा कह सकते हैं कि 'मेरा दोस्त चैत्र मुझे यह कह चूका है कि 'देवदत्त यहाँ आयेगा' मगर न मालुम वह आयेगा ही या नहीं'। इस तरह से कथन करने का आशय यह है कि मानो कि कुछ कारण से देवदत्त यहाँ न आया तब भी हम पर झूठा बोलने का इल्जाम नहीं होता है और न तो हमारी भाषा मृषा बनती है, क्योंकि हम यह बता चूके हैं कि मेरे दोस्त ने मुझे यह कहा था, मैं नहीं जानता हूँ कि वह जरूर आयेगा ही। विवाद से और मृषावाद से बचने का यह उचित और उत्तम मार्ग है, जो आर्ष पुरुषों से प्रदर्शित है।

कालादीति। आदिना देशादिपरिग्रहो यथा अत्रैव या(स्था) स्यामः इत्यादि। **शङ्कितेत्**युपलक्षणं अनवधृतमप्यर्थं न वदेत् अवधृतं तु निमित्तादिना कथयेत्। अनवधृते तु गन्धादौ परस्य तदनुभवप्रश्ने 'न विभावयामि' इत्युत्तरयेत्।

अनवधृतमिति। [1]अविज्ञातमिति। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** अईयंमि अ कालंमि पच्चुप्पण्णमणागए। जमट्ठं तु न जाणिज्जा एवमेअंति नो वए।। (द.वै. ७/८) अन्यत्र '[2]तहेवाणागतं अट्ठे जं वऽण्णऽणुवधारितं। संकतिं पडुपण्णं वा एवमेयं ति णो वदे।। (द.वै.अ. ७/गा. ८) एवं पाठो वर्त्तते। क्वचिच्च 'तं[3] तहेव अईयंमि कालंमिऽवधारियं। जं चण्णं संकियं वा वि एवमेअं ति नो वए'।। इत्येवं पाठः।

तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ*** 'अणागतं अट्ठं ण निद्धारेज्ज जधा कक्की अमुको वा एवंगुणो राया भविस्सति।' (द.वै.अ.चू.पृ. १६६)

अनवधृते तु। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरैः*** अणवधारियं णाम जं सव्वहा अपरिण्णायं तं अणवधारियं भवइ। तत्थ अणागतं जहा सो सव्वधा अणवधारिओ अणागओ अत्थो सो विधिणा णिमित्ताईहिं ण अप्पणो इच्छाए वत्तव्वो जहा अमुगे काले अमुगं भविस्सइ त्ति, तहा अतीतमपि अणवधारियं तहावि णो वदेज्जा जहा परेण पुट्ठो किं तेण भणियं? उदाहु भणितंति एवं गंधरसफासा भाणियव्वा। पडुप्पण्णेऽपि जइ कोऽवि भणेज्जा, जहा सद्दो तुमे सुतो न सुओ वा? तत्थ स अणुवलब्भमाणं णो अप्पणो इच्छाए भासेज्जा किन्तु तत्थ एवं भाणियव्वं जहा 'न विभावयामि'त्ति। एवं रूवं पुच्छिओ किमेयं दीसइ? तत्थवि अणुवलब्भेमाणो ण जाणामित्ति बूया। गंधेऽपि कस्सेस गंधोत्ति? तत्थ अणुवलब्भमाणो 'ण जाणामि'त्ति। रसेऽवि कस्सेस रसोत्ति? तत्थवि अणुवलब्भमाणो ण जाणामित्ति। फासे जहा

❋ देशशंकित भाषा अवक्तव्य ❋

कालादीत्यादिना. इति। काल आदि शंकित भाषा का प्रयोग अनुज्ञात नहीं है ऐसा जो कहा गया है इसमें जो 'आदि' पद है उससे देशादि का ग्रहण अभिप्रेत है। अर्थात् कालशंकित भाषा की तरह देशशंकित भाषा भी तीर्थंकर-गणधरादि भगवंतों से अनुज्ञात नहीं है। जैसे कि 'हम यहाँ ही रहेंगे' इत्यादि भाषा। जिस स्थान में रहने का निश्चित न हो तब आधारविधया भाषा का विषयभूत देश शंकित हो जाता है। उस अवस्था में' हम यहीं रहेंगे' ऐसा निश्चयात्मक कथन करना अपने पाँवों में कुल्हाडी मारने जैसा है, क्योंकि संयोगवश उसी स्थान में जब रहने का न बने तब वह भाषा मृषा बन जाती है और साधु के उपर मृषावादित्व का कलंक आता है। इसी सबब देशशंकित भाषा भी बोलने के लिए साधु के लिए निषिद्ध है।

❋ अनवधृत भाषा अवाच्य है ❋

शंकितेत्युपलक्षण. इति। कालादिशंकिता में जो 'शंकिता' पद है वह उपलक्षण है अर्थात् शंकितपद से अन्य का ग्रहण भी अभिप्रेत है। वह है अनवधृत अर्थ। अर्थात् कालादिशंकित भाषा की तरह कालादिअनवधृत भाषा भी निषिद्ध है। अनवधृत का अर्थ श्रीजिनदासगणी के अभिप्राय से सर्वथा अपरिज्ञात है। जिस क्रिया का या घटना का कालादि सर्वथा अज्ञात हो तादृश भाषा का प्रयोग साधु भगवंत के लिए निषिद्ध है। जैसे 'देवदत्त कल आयेगा या नहीं' - ऐसा मालुम न होने पर भी किसीसे यह कहना कि 'देवदत्त कल आयेगा' यह कालअनवधृत भाषा है। इस भाषा का प्रयोग त्याज्य है। इस तरह देश अनवधृत भाषा भी त्यक्तव्य है। यदि निमित्त आदि के बल से किसी घटना का अमुक काल या देश में होना निश्चितरूप से ज्ञात हो और उसको बताना जरूरी हो तब निमित्तादि के कथनपूर्वक उस घटना का बयान करना चाहिए। इसी तरह गंधादि का निश्चय न हो और 'यह किस चीज की गंध है?' इत्यादिरूप से अन्य व्यक्ति हमसे प्रश्न करे तब 'मूझे मालुम नहीं है' ऐसा प्रत्युत्तर देना चाहिए। अपना पांडित्य बताने के लिए 'यह गंध इस चीज की है' ऐसा कल्पित प्रत्युत्तर देना तीर्थंकर गणधरादि भगवंतों से साधु के लिए निषिद्ध है।

❋ उपघातक भाषा त्याजय है ❋

या च व्य. इति। जो भाषा व्यवहार से सत्य हो मगर उपघातक हो यानी परपीडा की उत्पादक हो वह भाषा बोलने के लिए

१/२ दृश्यतां अगस्त्यसिंहसूरिचूर्णौ - १६६ तमे पृष्ठे। ३ दृश्यतां जिनदासगणिचूर्णौ २४८ तमे पृष्ठ।

या च व्यवहारतः सत्यापि सती काण-पण्डक-व्याधित-स्तेनादिषु काणादिभाषा अप्रीति-लज्जानाश-स्थिररोगबुद्धि-विराधनादिदोषजननेन कुलपुत्रत्वादिना प्रसिद्धे दासादि भाषा च परप्राणनदेहोत्पादकतयोपघातिनी भवति तामपि न भाषेत।

अन्धकारे अप्पणिज्जअन्नवत्थफरिसा आसंसिओ केणवि पुच्छिओ जहा कस्स एतं वत्थं? किं तव उदाहु ममत्ति? तत्थ सब्भावओ अयाणमाणेण वत्तव्वं जहा न याणामित्ति। एवं ताव अणवधारिए अत्थे भणियं। (द.वै.जि.चू.पृ. २४८-२४९)

काण इत्यादि परुषवचनत्वादिना निषेधाक्रान्तेयं भाषा। तदुक्तं ***बृहत्कल्पसूत्रे*** - नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए। तं जहा अलियवयणे, हीलियवयणे खिंसियवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियं वयणे, विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए। (बृ.क.उ. ६/पृ. १६०१)।

अप्रीतीत्यादि। यथाक्रमं काणादिष्वन्वयः कार्यः। प्रयोगस्त्वेवं काणादिशब्दरूपा परुषादिभाषा न वक्तव्या महोपघातकत्वात् अकुशलानुबन्धजनकत्वाद् वा क्रोधादिनिःसृतभाषावत्। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी। सच्चावि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो।। तहेव काणं काणत्ति पंडगं पडगत्ति वा। वाहिअं वापि रोगित्ति तेणं चोर त्ति नो वए।। एएणऽन्नेण अट्ठेणं परो जेणुवहम्मइ। आयारभावदोसन्नू न तं भासिज्ज पन्नवं।। (द.वै.अ. ७/गा.११-१२-१३) ***आचारांगे***ऽप्युक्तं 'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगयाइं रूवाइं पासिज्जा तहावि ताइं नो एवं वइज्ज तं जहा-गंडी गंडीत्ति वा कुट्ठी कुट्ठीति वा जाव महुमेहुणीति वा हत्थच्छिन्नं हत्थच्छिन्नेत्ति वा, एवं पायच्छिन्नेत्ति वा नक्कछिण्णेइ वा कण्णछिन्नेइ वा उट्ठछिन्नेति वा। जे यावन्ने तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बूइया कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंखं नो भासिज्जा।। (आ.चा.दि.श्रु.अ. ४/उ.२/सू. १३६)

कुलपुत्रत्वादिनेति। आदिशब्देन ब्राह्मणत्वादिग्रहणम्। तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ*** विद्धादीण गुरूण सव्वभूताण वा उवघातिणी अहवा गुरूणि जाणि भूताणि महंति तेसिं **कुलपुत्त**-बंभत्तण भावितं विदेसागतं तहाजातीयकतसंबंधं दासादि वदति जतो से उवघातो भवति गुरुं वा भूतोवघातं जा करेति रायंतेउरादिअभिद्रोहातिणा मारणंतियं सच्चा वि सा ण वत्तव्वा किमुत अलिया? इति।

निषिद्ध है। जैसे कि काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना-यह उपघातक भाषा है। इसका कारण यह है कि काने को, जिसको एक ही आँख होती है, काना कहने से उसे अप्रीति होती है, नपुंसक को नपुंसक कहने से वह बेशरम बनता है, रोगी को रोगी कहने से उसे 'मैं रोगी हूँ, मैं रोगी ही रहूँगा' इत्यादिरूप रोग में स्थिरता की और अपने में सदा के लिए रोगीपना की बुद्धि उत्पन्न होती है तथा चोर को चोर कहने से विराधना दोष होता है अर्थात् चोर साधु भगवंत को मार डाले या राजपुरुषादि चोर को गिरफतार करे इत्यादि दोषों की संभावना होने के सबब तादृश भाषा बोलना निषिद्ध है। तथा किसी विदेशागत व्यक्ति को, जो अपने को कुलपुत्र या ब्राह्मण बतलाता है, दास आदि कहना नामुनासिब है, क्योंकि तादृश वचन प्रयोग से संभव है कि वह स्वमानादि निमित्त से आत्महत्या भी करे। अन्य के प्राण में भी संदेह की उत्पादक होने से तादृश भाषा साधु के लिए निषिद्ध है।

✱ संगादिदूषित भाषा अनुज्ञात अनुज्ञात नहीं है ✱

तथा स्त्रियमधि. इति। अब विवरणाकार ८७ वीं गाथा के पश्चार्द्ध का व्याख्यान करते हुए साधु-साध्वी की अपेक्षा से कहते हैं कि स्त्री को - 'हे आर्यिके! = हे दादी! हे नानी! तथा हे प्रार्यिके! = हे परदादी! हे परनानी! इत्यादि भाषासंबोधन करना नहीं चाहिए तथा 'हे भट्टे! हे स्वामिनि! हे होले! हे गोले! इत्यादिरूप से आमंत्रण नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सुननेवाले लोगों को ऐसा महसूस होता है कि 'दीक्षा लेने के बाद भी इस साधु की ममता छूटी नहीं। अतएव 'हे दादी!' इत्यादिरूप से पुकारता है।' अगस्त्यसिंहसूरीशकृत दशवैकालिकचूर्णि के अनुसार 'भट्टे' शब्द लाट देश (मध्य और दक्षिण गुजरात) में पुत्ररहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था। स्वामिनीशब्द प्रायः सब देश में सन्मानसूचक संबोधनशब्द है। इन शब्दों के प्रयोग से श्रोता को साधु और

तथा स्त्रियमधिकृत्य 'हे आर्यिके! प्रार्जिके!' इत्याद्या तथा 'हे भट्टे! स्वामिनी!' त्याद्या, 'हे होले! गोले! इत्याद्या वा या सङ्गर्हा तत्प्रद्वेषप्रवचनलाघवादिदोषजननी पुरुषमधिकृत्यापि च पुल्लिंगाभिलापेनोक्तरूपा या आमन्त्रणी तामपि न भाषेत।

आर्यिके इति। मातुः पितुर्वा माता=आर्यिका तस्या अपि याऽन्या माता सा प्रार्जिका इत्यधुनाऽपि ***महाराष्ट्र***देशे प्रसिद्धम्। **ननु** अस्या निषेधे किं कारणं? **उच्यते** स्नेहाभिसम्बन्धशङ्कादयो दोषाः स्युः। तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिना*** 'एयं भणंतस्स णेहो जायइ परोप्परो, लोगो य भणेज्जा एवं वा लोगो चिंतेज्जा-एसऽज्जवि लोगसन्नं णं मुयइ चाटुकारी वा, संगो वा परोप्परो होज्जा, नियगा वा जाणेज्जा-एस खोहित्तुकामोत्ति, रूसेज्ज वा जहा समणा या एवं भणइ, को जाणइ कोऽवि एसो त्ति एवमादि दोसा भवेज्जा। (द.वै.जि.चू. पृ. २५०)

हे होल इति। नानादेशापेक्षया कुत्सादिगर्भाणि एतानि आमन्त्रणवचनानि। तदुक्तं ***श्रीहरिभद्राचार्येण*** 'होलादि-शब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यवाचकाः, अतः तत्प्रतिषेधः (द.वै. ७/१४ हा.टी.) तदुक्तं ***श्रीजिनदासगणिना***ऽपि एयाणि वि देसं पप्प आमंतणाणि। तत्थ **वरदातडे** हलेत्ति आमंतणं, **लाड**विसए समाणवयमण्णं वा आमतणं जहा हलित्ति, अण्णेति **मरहट्ठविसए** आमंतणं दोमूलक्खरगाणं चाटुवयणं अण्णेत्ति, भट्टेति लाडाणं पतिभगिणि भण्णइ, सामिणि गोमिणिओ चाटुए वयणं होलेत्ति आमंतणं। (द.वै.जि.चू.पृ. २५०) लाघवादयो दोषा भवन्तीति तन्निषेध इतिभावः। तदुक्तं ***अगस्त्यसिंहसूरिणा***ऽपि 'होले, गोले, वसुले, त्ति देसीए लालणगत्थाणीयाणि पियवयणामंतणाणि। एतेहि माधुज्जहरणीयो थीजणो त्ति सव्वेहिं इत्थियं नेव आलवे। (द.वै.अ.चू.पृ. १६९) तदुक्तं ***दशवैकालिकेऽपि*** तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति अ। दमए दुहए वावि नेव भासिज्ज पन्नवं।। अज्जिए पज्जिए वावि अम्मो माउसिअत्ति अ। पिउस्सिए भायणिज्जत्ति धूए णत्तुणिअत्ति अ।। हले हलित्ति अन्नित्ति भट्टे सामिणि गोमिणि। होले गोले वसुलित्ति इत्थिअं नेवमालवे।। (द.वै. ७/१४-१५-१६)।

पुरुषमधिकृत्येति। हे आर्यक! हे भट्ट! हे होल! इत्यादिरूपा। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** - अज्जए पज्जए वावि बप्पो चुल्लपिउत्ति अ। माउलो भाइणिज्झत्ति, पुत्ते णत्तुणिअत्ति अ।। हे भो हलित्ति अन्नित्ति भट्टे सामिअ गोमिअ। होल गोल वसुलित्ति पुरिसं नेवमालवे।। (द.वै. ७/१८-१९)।

उस आमंत्रित स्त्री में जातीय सम्बन्ध होने की शंका होने के सबब तादृश शब्द से संबोधन करना निषिद्ध है। इसी तरह 'होले, गोले' इत्यादि शब्द प्रियवचनवाले आमंत्रण हैं, जिनको सुन कर संबोध्य स्त्री और संबोधन करने वाले साधु में परस्पर स्नेह आदि उत्पन्न होता है, जिसका नतीजा बहुत बूरा होने की संभावना होती है और लोगों को भी तादृश शब्द सुन कर कुछ शंका होने का अवकाश रहता है, जिसके सबब साधु के प्रति द्वेष और जिनशासन की लघुता-हीलना-अपभ्राजना आदि दोष उत्पन्न होते हैं। इसी तरह पुरुष की अपेक्षा 'हे दादा! हे नाना! हे परदादा!' हे परनाना !' इत्यादि शब्दों से गृहस्थ को आमंत्रित करना साधु के लिए निषिद्ध है। दादा और पौत्र की या चाचा और भतीजा आदि की दीक्षा होने के बाद भी अपने दीक्षित दादा या चाचा आदि से 'हे दादा! हे चाचा! हे पिताजी महाराज! हे मामाजी महाराज!' इत्यादिरूप से संबोधन करना दीक्षित पौत्र और भतीजा आदि के लिए अनुचित है। तात्पर्य यह है कि सांसारिकसम्बन्ध के स्मारक एवं ममत्वकारक होने से संसारी लोग की तरह चाचा, भतिजा, पिताजी महाराज आदि शब्दों का प्रयोग साधु-साध्वी को नहीं करना चाहिए, चाहे सम्बन्ध हो या न हो।

✱ मूलनाम या गोत्रवाचकशब्द से आमंत्रण करना चाहिए ✱

कारणे. इति। जिन शब्दों से संबोधन करने पर दोष की प्राप्ति होती है उन शब्दों के प्रयोग का निषेध बता कर विवरणकार कहते हैं कि यदि कारण उपस्थित हो तब उस स्त्री या पुरुष को उसके नाम से ही आमंत्रण देना चाहिए जिससे लोगों को साधु के प्रति न कोई शंका हो और न तो संबोध्य स्त्री या पुरुष को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष हो। यदि उस स्त्री या पुरुष का नाम याद न हो तब उसके गोत्र के वाचक शब्द से उसे संबोधन करना चाहिए। जैसे कि - 'हे काश्यपगोत्रे! हे काश्यपगोत्र!' इत्यादि।

कारणे तूत्पन्ने स्त्रियं पुरुषं वा नामधेयेनामन्त्रयेत् तदस्मरणे च 'हे काश्यपगोत्रे! हे काश्यपगोत्र!' इत्यादिगोत्राभिलापेन वाऽऽमन्त्रयेत्।।८७।। अन्यच्च

[1]पंचिंदियपाणाणं थीपुरिसानिण्णए वए जाइं। इहरा उ विपरिणामो जणवयववहारसच्चे वि।।८८।।

नरनारीगतवाग्विधेरुक्तत्वात् **पञ्चेन्द्रियप्राणाना**=गवादीनां **स्त्रीपुरुषानिर्णये** इति भावप्रधाननिर्देशात् विप्रकृष्टदेशावस्थितत्वेन

कारणे त्विति। अनेन निष्कारणभाषणनिषेधो व्यजते। तदुक्त**मुत्तराध्ययने** 'न निरट्ठं' इति। (उ. १/२५) **नामधेयेनेति**। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** नामधिज्जेणं णं बूआ इत्थिगुत्तेण वा पुणो। जहारिहमभिगिज्ज, आलविज्ज लविज्ज वा।। नामधिज्जेण णं बूआ पुरिसगुत्तेण वा पुणो। जहारिहमभिगिज्ज, आलविज्ज लविज्ज वा।। (द.वै. ७/१७-२०)

आचारांगेऽप्युक्तम् 'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पुमं आमंतमाणे आमंतिए वा अपडिसुणेमाणं नो एवं वइज्झा-होलित्ति वा गोलित्ति वा वसुलेत्ति वा कुपक्खेति वा घडदासोत्ति वा साणेत्ति वा तेणित्ति वा चारिएत्ति वा माइत्ति वा मुसावाइत्ति वा एयाइं तुमं ते जणगा वा एअप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं जाव भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्ज। से भिक्खू वा भिक्खुणि वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वइज्जा अमुगे इ वा आउसो त्ति वा आउसंतारो त्ति वा सावगे त्ति वा धम्मिए त्ति वा धम्मपिए त्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणिं नो एवं वइज्झा-होलिइ वा गोलिति वा इत्थीगमेणं नेयव्वं। से भिक्खु वा इत्थिं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणीं एवं वइज्जा आउसो त्ति भइणित्ति वा भोई ति वा भगवईत्ति वा साविगे ति वा उवासिए त्ति वा धम्मिए त्ति वा धम्मिप्पिए त्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव अभिकंख भासिज्जा।। (आचा. द्वि. श्रु. अ. ४/उ. १. सू. १३४)

गोत्राभिधानेनेति। गोत्राणि च सप्त। तदुक्तं **स्थानाङ्गे** सत्त मूलगोत्ता पन्नत्ता तं जहा-कासवा, गोतमा, वच्छा, कोच्छा, कोसिता, मंडवा, वासिट्ठा। (स्था. ७/३/५५१) इति। गोत्राभिधानेनामंत्रणे नाप्रीत्यभिसम्बन्धशङ्कादयो दोषा भवन्तीति भावः।।८७।।

पञ्चेन्द्रियाणां प्रधानत्वात् इतरेषु स्त्रीपुरुषविशेषाभावाच्च आह-**पंचिंदियपाणाणं** इति। पञ्चेन्द्रियनरनारीविषयक-वचनविधिनिषेधयोः प्रतिपादितत्वात्, नारकविषयकवचनव्यवहारस्यास्माभिः सहाभावात्, देवविषयकवचनव्यवहारस्य

इस तरह इस श्लोक में कालशंकित, देशशंकित, कालअनवधृत, देशअज्ञात भाषा, उपघातक भाषा परुष (कठोर) भाषा, संगादिदूषित भाषा, अप्रीतिजनक भाषा आदि को बोलने का निषेध किया गया है। इससे यह सूचित होता है कि प्रयोजनवश किसीसे, कब, कहाँ, किस शब्द से किस ढंग से बात करें? इस विषय में सावधानी रखना साधु एवं साध्वी के लिए अतिआवश्यक है।।८७।।

ग्रंथकार श्रीमद्जी जरूरत पडने पर साधु भगवंत किस, शब्दों का प्रयोग न करे और किस शब्द का प्रयोग करे? इस विषय को वाक्यशुद्धि अध्ययन के अनुसार ८८ वीं गाथा से सुस्पष्ट करते हैं।

गाथार्थ :- पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में स्त्रीत्व या पुरुषत्व का निर्णय न होने पर जाति का प्रयोग करना चाहिए, अन्यथा जनपदव्यवहार सत्य भाषा होने पर भी विपरिणाम होता है।८८। विवरणार्थ देखने से गाथार्थ स्पष्ट हो जाएगा। देखिए

*** विशेषधर्मानिर्णयदशा में साधारणधर्म का प्रतिपादन कर्तव्य ***

विवरणार्थ :- मूल गाथा में 'पंचिंदियपाणाणं' सामासिकपद ग्रहण किया गया है मगर स्त्रीमनुष्य और पुरुषमनुष्य के सम्बन्धी वचन का विधि-निषेध ८७ वीं गाथा में और उसके विवरण में बताया गया है। इसलिए 'पंचिंदियपाणाणं' पद से यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच

---

१ पञ्चेन्द्रियप्राणिनां स्त्रीपुरुषानिर्णये वदेज्जातिम्। इतरथा तु विपरिणामः जनपदव्यवहारसत्येऽपि।।८८।।

मिथः स्त्रीत्व-पुरुषत्वानिश्चये सति, **जातिं वदेत्**। मार्गप्रश्नादौ प्रयोजने उत्पन्ने सति 'अस्माद् गोरूपजातात् कियद्दूरेण इदं?' इत्येवमादि (ग्रन्थाग्रम्-९०० श्लोक) लिङ्गाऽविशिष्टमुभयसाधारणधर्म्म प्रतिपादयेत् अन्यथालिङ्गव्यत्ययेन मृषावादापत्तेः। विना तु कारणमव्यापार एवोचितः साधूनामिति **ध्येयम्**।

ननु यद्येवं लिङ्गव्यत्ययेन मृषावादस्तदा प्रस्तर-मृत्तिका-करकावस्यायादीनां नियमतो नपुंसकत्वे कथमन्यलिङ्गप्रयोगः?

कादाचित्कत्वादाह **गवादीनामिति**। **भावप्रधाननिर्देशादिति**। अयं च 'स्त्रीत्व-पुरुषत्वाऽनिर्णय' इत्यत्र त्वप्रत्यये हेतुः। **विप्रकृष्टदेशावस्थितत्वेनेति**। अयं च तयोरनिर्णये हेतुः। **उभयसाधारणधर्म्ममिति** स्त्रीपुरुषसाधारणधर्ममिति। **अन्यथा** = जात्यप्रतिपादने। **अव्यापारः**=वचनाप्रयोगः। तदुक्तं ***चूर्णौ*** - पंचिदिएसु पाणेसु दूरओ अवत्थिएसु जइ ताव कारणं णत्थि ततो अव्वावारो चेव साहूणं। अह पओयणं किंचि भवइ तं पंथं वा ण जाणइ उवदिसइ जाहे वा तेसिं पाणाणं इत्थीपुरिसविसेसे अजाणमाणो वा णो एवं वदेज्जा जहा-एसा इत्थी अयं पुरिसोत्ति। पायसो य लोगो अविसेसियं आलवइ अभिहाणेण भाणियव्वं जहा गोजातियाइ चरंति कागजातिया वा हरंति एवं महिसपसुआदिवि भाणियव्वा। (द.वै.जि.पू.पृ. २५२)

स्त्रीपुरुषत्वानिर्णये सति जातिं विना एकतरप्रयोगे लिङ्गविपर्ययेन मृषावादाभ्युपगमे प्रस्तरादीनामेकेन्द्रियत्वेन (ग्रं. ६००० श्लोक) नियमतो नपुंसकत्वे सिद्धे कथं 'अयं प्रस्तरः इयं मृत्तिका' इत्यादीनां भिन्नलिङ्गप्रयोगाणां मृषात्वमेव स्यादित्याशयेन शङ्कते **ननु**। भावितमेवैतदिति न पुनः तन्यते। व्युत्पन्नः प्रत्युत्तरयति-**जनपदेति**।

गाय आदि पशु का ग्रहण अभिप्रेत है। तथा मूलगाथा में 'थीपुरिसानिण्णए' ऐसा कहा गया है मगर वह निर्देश भावप्रधान है। अर्थात् स्त्री और पुरुष का अनिर्णय होने पर - ऐसा अर्थ अभिप्रेत नहीं है किन्तु 'स्त्रीत्व और पुरुषत्व का अनिर्णय होने पर' - यह अर्थ विवरणकार को अभिमत है। स्त्री और पुरुष द्रव्य=धर्मी कहा जाते हैं, भाव=धर्म नहीं। जब कि स्त्रीत्व और पुरुषत्व भाव=धर्म कहे जाते हैं। यहाँ निर्दिष्ट स्त्री और पुरुष पद भावप्रधान होने से उनका अर्थ स्त्रीत्व और पुरुषत्व होता है। अस्तु! प्रस्तुत में तात्पर्य यह है कि गाय - बैल आदि बहूत दूर देश में रहे हुए होने के सबब अपनी निगाह से 'यह गाय ही है या यह बैल ही है' इत्यादि निर्णय नहीं होता है और उस प्राणी को बताने की आवश्यकता हो तब उसमें गाय या बेल शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए किन्तु गाय और बैल में साधारण धर्म=जाति का उल्लेख करना चाहिए। देखिए जब साधु भगवंत विहार करते हैं और आगे जाने का मार्ग किसीसे पूछना हो या वैद्य का घर जानना हो तब किसी गोपाल से दूरस्थित प्राणी को, जो गाय है या बैल है' ऐसा निर्णय साधु महाराज को नहीं हुआ है, बता कर ऐसा पूछना चाहिए कि 'उस गोजातीय (गाय या बेलरूप से दीखनेवाले) प्राणी से वैद्य का घर कितना दूर है? गोत्वजाति गाय और बैल दोनो में रहती है। यदि विशेष निश्चय न होने पर भी 'उस बेल से वह मार्ग कितना दूर है?' इस तरह प्रश्न किया जाय और वास्तव में वह बैल न हो किन्तु गाय हो तब तो विपरीत लिंग का (स्त्रीलिंगयुक्त में पुल्लिंग का) कथन करने से मृषावाद की यानी साधु में मृषावादित्व की प्राप्ति होगी। अतएव तादृशस्थल में विशेषलिंग का प्रयोग न कर के उभयसाधारण जाति वाचक पशु, प्राणी आदि पद का ही प्रयोग करना चाहिए। गुजराती में उभयलिंग साधारण 'कुतरु, बलाडु, गधेडु, ढोर, वाछरडु' इत्यादि शब्द का तब प्रयोग करने की व्यवस्था प्रसिद्ध है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह भाषा कारणविशेष की उपस्थिति होने पर ही प्रयोग करने योग्य हैं। यदि कुछ कारण उपस्थित न हो तब तो मूक रहना ही साधु के लिए उचित है।

✱ पंचेन्द्रिय में विपरीतलिंगवाचक भाषा व्यवहारसत्य होने से अत्याज्य - पूर्वपक्ष ✱

पूर्वपक्ष :- ***ननु यद्येवं.*** इति। यदि आपकी दृष्टि से विपरीत लिंग का प्रयोग होने पर मृषावाद होता है तब तो एकेन्द्रिय आदि में पुल्लिंग या स्त्रीलिंग का अभिधान करने पर अवश्य मृषावाद ही होगा। आशय यह है कि एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में सदा के लिए नपुंसकवेद का उदय रहता है - ऐसा आगम में बताया गया है। अतः वे नपुंसक ही होते हैं - यह बात निर्विवाद सिद्ध है। फिर भी उनमें पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग देखने में आता है। देखिए

"जनपद-व्यवहारसत्याश्रयणादिति चेत्?" [1]स किं प्रकृते पाणिपिहितः? इत्यत आह **सति अपि जनपदव्यवहारसत्ये, इतरथा तु** = विशिष्यनिर्णये एकतरप्रयोगे तु, **विपरिणामः** स्यात् = अहो! एते न सुदृष्टधर्माणः इति विरुद्धः परिणामः स्यात् गोपालादीनामपि।

तत्तज्जनपदसङ्केतमात्र-प्रयुक्तार्थप्रत्यायकत्वाभावात्कथं जनपदसत्यत्वमिति यदि परो ब्रूयादिति मनसिकृत्य कल्पान्तरमाह **व्यवहारसत्येति**। प्रस्तरादावेकेन्द्रियत्वेन नपुंसकत्वे सत्यपि पुरुषाद्यभेदविवक्षया पुरुषत्वादिप्रतिपादनस्य व्यवहारसत्यत्वमेवेति भावः। व्युत्पन्नस्य प्रत्युत्तरं प्रतिक्षिपति स इति व्यवहारसत्यत्वंप्रत्युत्तरः **प्रकृते** = गोबलिवर्दाद्य-निश्चयदशायामेकतरप्रयोगे पाणिपिहितः? इति। समसमाधानमुभयत्रेति नन्वाशयः।

श्रोतुमिथ्याध्यवसायनिरासार्थमुभयसाधारणधर्मः प्रतिपादयितव्य इत्याशयेन ननुमतं निराकरोति **सत्यपीति। न सुदृष्टधर्माण** इति। स्त्रीत्वादिकं लौकिकमपि धर्मं न प्रेक्षन्ते किमुतालौकिकं पारत्रिकहितावहं धर्ममित्याशयः। तदुक्तं **चूर्णौ** - 'आह जति एवं तो कम्हा एगिंदियविगलिंदिएसु सइ णपुंसगभावे इत्थिणिद्देसो पुरिसणिद्देसो य दीसइ? तत्थ एगिंदिएसु पुढविक्काए पासाणे पुरिसणिद्देसो, जा सा मट्टिया इत्थिणिद्देसो, आउक्काएवि करओ पुरिसणिद्देसो उस्सा इत्थीणिद्देसो, अग्गिकाए वि अग्गी पुरिसणिद्देसो जाला इत्थिणिद्देसो, वाउक्काए वि वाओ पुरिसणिद्देसो वाउला इत्थिणिद्देशो, वणस्सइकाए वि पुरिसणिद्दसो जहा णग्गोहो उनिरो इत्थिणिद्देसोऽवि जहा सिंसवा अंबिलिया पाडला एवमायि। बेइंदिएसु पुरिसणिद्देसो जहा संखो संखाणओ इत्थिणिद्देसो जहा असुगा सिप्पा एवमादि, तेइंदिएसु पुरिसणिद्देसो जहा मक्कोडा इत्थिणिद्देसो जहा उवचिका पिपीलिका एवमादि चउरिंदिएसु पुरिसणिद्देसो जहा भमरो

		पुंलिंग	स्त्रीलिंग
	पृथ्वीकाय	पत्थर	मिट्टि
	अप्काय	पानी, जल	उस्सा (अवश्याय), बारिस
एकेन्द्रिय	तेउकाय	मुर्मुर, तेज	ज्वाला
	वायुकाय	वात, पवन	हवा
	वनस्पतिकाय	आम्र, पेड	अंबिया, इमली
	द्वीन्द्रिय	शंख	शुक्ति, सीपी
विकलेन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	खटमल	पिपीलिका, चींटी
	चतुरिन्द्रिय	माख, मधुकर, भ्रमर	मक्खी, मधुकरी

उपर्युक्त दृष्टांत पर ध्यान देना आवश्यक है। नपुंसक होने पर भी पुलिंग और स्त्रीलिंग का प्रयोग एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में प्रसिद्ध है। ताज्जुब की बात तो यह है कि अमुक भाषा के शब्दों में नपुंसकलिंग होता ही नहीं है जैसे कि हिन्दी भाषा। फिर भी पुंलिंग या स्त्रीलिंग के प्रसिद्ध प्रयोग दीखाई देता है। आपकी दृष्टि से तो उन प्रसिद्ध प्रयोगों की उपपत्ति = घटना कैसे होगी? क्योंकि तादृश प्रयोग आपके कथन के अनुसार असत्य सिद्ध होते हैं।

शंका :- ***जनपद.*** इति। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय नपुंसक होने पर भी देशविशेष की अपेक्षा से उनमें पुंलिंग या स्त्रीलिंग शब्द की प्रवृत्ति तत्तद्देश में होने से वह भाषा जनपदसत्य भाषा है। देखिए हिन्दी भाषा की जिस देश में प्रवृत्ति होती है, उस देश में एकेन्द्रियादि में हिन्दी भाषा के द्वारा पुलिंगादि शब्दो की प्रवृत्ति जनपद सत्यभाषास्वरूप है। या तो हम यह भी कह सकते हैं कि एकेन्द्रिय आदि में पुंलिंग आदि शब्दों की प्रवृत्ति लोकप्रसिद्ध और लोकविवक्षा से घटित होने के सबब वह भाषा व्यवहारसत्य भाषारूप है। पूर्व में व्यवहारसत्यभाषा के निरूपण के प्रसंग में ३१ वीं गाथा के विवरण के प्रान्त भाग में भी आमलकी आदि स्त्रीलिंगवाचक शब्दों की एकेन्द्रिय में प्रवृत्ति व्यवहारसत्य भाषारूप बतायी गई है। अतः पत्थर-मृत्तिका आदि पुंलिंग स्त्रीलिंग के

१ मुद्रितप्रतौ 'सत्यम्' इति। २ दृश्यतामेतत्प्रकरणस्य ३१तमगाथाया वृत्तिः १२२ तमे पुटे।

अतो व्यतिरेके उक्तदोषात् अन्वये च पृष्टानां सामाचारीकथनेन गुणसम्भवात् यथोक्तमेव विधेयमित्यवधेयम्।।८८।। किञ्च।

पतंगो इत्थिणिद्देसो मधुकरी मच्छिया एवमादि, आयरिओ आह-सइ विह नपुंसगभावे जणवयसच्चेण व्यवहारसच्चेण य एस दोसपरिहारओ भवइत्ति पंचिंदिएसु पुण सतिवि एवमादि जणवयसच्चादीहिं तहावि जाईओ चेव वत्तव्वा, कहं? गोवालादीणमचित्तिया भवेज्जा-जहा एते ण सुदिट्ठधम्मा जम्हा इत्थिपुरिसविसेसमजाणाणा एगयरणिद्देसं कुव्वंति। एवमादि दोसा भवंतित्ति काऊण पंचिंदियाणं एगयरणिद्देसे एस पडिसेहो सव्वपयत्तेण कीरइत्ति। (द.वै.जि.चू.पृ. २५२)

व्यतिरेके=उभयसाधारणजात्यप्रयोगे, **उक्तदोषात्**=श्रोतुर्विपरिणामरूपदोषात्, **अन्वये** = उभयसाधारणधर्मप्रयोगे एकतरप्रयोगे, इति यावत्। यथोक्तान्वयप्रयोगकरणे सति 'कस्माद् भवन्त एवमुभयसाधारणजातिं?' प्रयुञ्जन्ति इत्येवं **पृष्टानां** 'यावज्जीवं त्यक्तसकलमृषावादानामस्माकमियं कथनमर्यादा यत्सूक्ष्ममप्यलीकं परिहर्तव्यमि'त्येवं **सामाचारि-कथनेन गुणसम्भवात्** = 'अहो! सूक्ष्ममप्यनृतं त्यक्तुकामा एते भगवन्तः' इत्यादिरूपस्य सत्प्रशंसाबोधिबीजाधान-प्रवचनप्रभावनाद्यात्मकस्य गुणस्य श्रोतॄणां सम्भवात्। **यथोक्तमेव** = जातिज्ञापकपदघटितप्रयोग एव। स्वरूपतो व्यव-हारसत्येऽपि विशेषावबुद्धस्य श्रोतुः देवगुर्वादिविरुद्धपरिणामजनकत्वेन साधोः विशेषापरिज्ञानदशायामन्यतरप्रयोगो निषिद्धः। **एतेन** 'तस्माद् वस्तुनः कियद् दूरेणेदं' इति वचनं किमिति न प्रयोक्तव्यमिति पर्यनुयोगः **प्रत्युक्तः** सर्वैः दूरतोऽपि पशुविशेषरूपत्वेन ज्ञायमानेऽपि अतिसामान्यधर्मपुरस्कारेण वचनव्यवहारस्य लोकविरुद्धत्वाच्चेति भावः।

वाचक शब्दों को असत्य कहना नामुनासिब है।

समाधान :- ***स किं*** ? इति। यदि आप एकेन्द्रियादि में पुंलिंगादि प्रतिपादक शब्द में जनपदसत्यत्व या व्यवहारसत्यत्व मानते हैं तो क्या यह समाधान हमारे लिए सुलभ नहीं है? यदि हम भी ऐसा कहें कि - "स्त्रीत्व या पुरुषत्व का निर्णय न होने पर 'यह गाय है या यह बैल है' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करने पर भी वह भाषा मृषा नहीं है किन्तु जनपदसत्य या व्यवहारसत्य है, क्योंकि लोक में ऐसा लिंगविपर्यय का व्यवहार देखा जाता है, एकेन्द्रिय में प्रवृत्त स्त्रीलिंगादि शब्दों की तरह" - तो क्या आप अपने हाथ से हमारे मुँह को बंद कर सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं। यहाँ अनुमानप्रयोग का आकार इस तरह हो सकता है - विपरीतलिंगप्रतिपादक 'इयं गौः' इत्यादि भाषा व्यवहारसत्य भाषा है, क्योंकि प्रसिद्ध लोकविवक्षा से प्रयुक्त है, आमलकी आदि शब्दवत्।

✱ पंचेन्द्रिय में विपरीतलिंगघटित भाषा त्याज्य - उत्तरपक्ष ✱

उत्तरपक्ष :- ***सति अपि व्यव.*** इति। पंचेन्द्रिय तिर्यंच में विपरीतलिंगप्रतिपादक भाषा चाहे जनपदसत्य हो या व्यवहारसत्य हो मगर उसमें स्त्रीत्व या पुरुषत्व का जब तक विशेषरूप से निर्णय न हो तब तक एकतर प्रयोग अर्थात् 'यह गाय है' या 'यह बैल है' ऐसा शब्दप्रयोग साधु को नहीं करना चाहिए, क्योंकि तादृश शब्द को सुन कर श्रोता को विपरिणाम होने की संभावना है। आशय यह है कि प्राणी साधु भगवंत से बहुत दूर होने के सबब अपनी निगाह से 'यह गाय ही है या बैल ही है' ऐसा निर्णय साधु भगवंत को नहीं हो सकता है तब यदि 'यह गाय है' ऐसा प्रयोग महात्माजी करे तब सुननेवाले गोपाल आदि को, जिन्हें यह ज्ञात है कि 'पुरोवर्ती प्राणी बैल है, गाय नहीं', यह महसूस होता है कि - "ये जैन साधु भगवंत कैसे हैं? गाय है या बैल? यह भी अच्छी तरह पहचानते नहीं है। न मालुम अलौकिक परभव में हितकारक ऐसे धर्म को भी जानते होंगे या नहीं"। इस तरह गोपाल आदि धर्म-देव-गुरु के विरुद्ध परिणाम को उत्पन्न करने के सबब तादृश वचनप्रयोग साधु के लिए त्याज्य है, उपादेय नहीं।

✱ अन्वय-व्यतिरेक से जातिपदघटित शब्दप्रयोग ही उपादेय ✱

अतो व्य. इति। संपूर्ण गाथा का सारांश यह है कि विशेषानिर्णयदशा में पुंलिंग का या स्त्रीलिंग शब्द का प्रयोग करने का नतीजा यह आता है कि श्रोता को धर्मविरुद्ध परिणाम उत्पन्न होने की संभावना होती है जब कि पुंलिंग या स्त्रीलिंग का प्रयोग किए बिना जातिपदघटित शब्दप्रयोग करने पर गुण की संभावना है। देखिये, जब साधु भगवंत प्रयोजनवश गोपालादि से प्रश्न करते हैं कि - 'इस गोजातीय प्राणी से (गाय या बैल जैसे दिखनेवाले प्राणी से) जंगल कितना दूर है?' तब यदि गोपाल आदि प्रश्न करे कि - वह तो बैल है, अतः आप "उस बैल से जंगल कितना दूर है?" ऐसा प्रश्न क्यों नही करते हो? तो साधु भगवंत

[1]थूलाइसु पुण भासे परिवूढाईणि चेव वयणाणि। दोहाइसु य तयट्ठयसिद्धाणि विसेसणाणि वए।।८९।।

ननु नाटकादौ पुरुषनेपथ्यस्थितवनितामङ्गीकृत्य 'पुरुषोऽयं गायति' इत्यादिरूपा भाषा वक्तव्या न वा? **उच्यते** वनिताया पुरुषनेपथ्यादितः पुरुषत्वेन ज्ञायमानत्वेऽपि वस्तुगत्यान्यथाभूतत्वात् तत्र 'पुरुषोऽयमित्यादिभाषाया मृषात्वम्। अत एव तस्याः पापकर्मजनकत्वं "वितहं नाम जं वत्थुं न तेण सभावेण अत्थि तं वितहं भण्णइ मुत्ती शरीरं भण्णइ, तत्थ पुरिसं इत्थिणेवत्थियं इत्थिं वा पुरिसनेवत्थियं दट्ठुण जो भासइ इमा इत्थिया गायइ णच्चइ वाएइ गच्छइ इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति, अविसद्दो संभावणे किं संभावयति? जहा पुरिसं जो जुवाणं वुड्ढणेवत्थं वुड्ढ भणइ इत्थिं वा जोव्वणत्थं वुड्ढनेवत्थियं वुड्ढितं भणइ सा वि वितहा मुत्ती भण्णइ, एयं संभावयति'तम्हा सो पुट्ठो पावेणं'ति, तम्हा वितहमुत्तिभासणाओ (द.वै.जि.चू.पृ. २४६)" इति वदता **चूर्णिकारेणोक्तम्**। इदं च मृषात्वं पारमार्थिकपुरुषत्वादिप्रतिपिपादयिषापेक्षया द्रष्टव्यम्।

अत एव 'पुरुषनेपथ्यस्थितवनिताद्यप्यङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः 'इयं स्त्री आगच्छति गायति वे'त्यादिरूपां तस्माद् भाषणादेवम्भूतात्पूर्वमेवासौ वक्ता भाषणाभिसन्धिकाले स्पृष्टः पापेन' (द.वै. ७/५ हा.टी.पृ. १४३) इति ***हारिभद्रवचनमपि व्याख्यातम्*** रूपसत्यत्वाभावप्रतिपादनपरत्वात् तस्य। अयं भावः पुरुषत्वाभावज्ञानदशायां पुरुषनेपथ्यस्थितवनितायां 'पुरुषोऽयं' इति पुरुषनेपथ्यवत्त्वप्रतिपादनपरस्य वचनस्य रूपसत्यत्वं भावार्थबाधप्रतिसन्धानसध्रीचीनतद्रूपवद्गृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वात्। अत एव टीकाकृता तत्र स्थले 'इयं स्त्री' इति वचनस्य पापकर्मावहत्वमुक्तम्। न हि द्रव्यलिङ्गिन्यपि सामान्यतो 'नायं साधु' इति वचनस्य सत्यत्वं व्यवह्रियते व्यवहारनयाश्रितमतिभिः।

यदि च विशेषपरिज्ञानदशायामपि भावयतित्वबुभोधयिषया द्रव्यलिङगिनि 'अयं साधुः' इत्युच्यते तदा निश्चयनयोपगृहीतव्यवहारनयेनाऽपि मृषात्वमेव। इदमेवाभिप्रेत्य **चूर्णिकृता** 'पुरुषनेपथ्यस्थितवनितायां' 'इयं स्त्री'ति वचनस्य सावद्यत्वमुक्तम्। स्त्रीत्वपुरुषत्वानिर्णयदशायां सति प्रयोजने 'मनुष्यजातीयोऽयं गच्छति, अस्मान्मनुष्यजातीयात् कियद्दूरेणेदं?' इत्यादिरूपा उभयसाधारणधर्मघटिता भाषा प्रयोक्तव्या दोषाननुबन्धित्वादेः हेतोः।

अत एव 'इत्थी वेस पुरिसो वेस नपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ णिट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा (आचा. श्रु. २/४/१-सू. १३२) इति ***आचारांग***वचनमपि सुष्ठु संगच्छते इत्यादिसूचनार्थं '**अवधेय**'मित्युक्तम्।।८८।।

कह सकते है कि "भाग्यशाली! दूर होने के सबब मुझे यह मालुम न था कि वह बैल ही है और जब तक वैसा निश्चय न हो तब तक तादृश वचन प्रयोग हम नहीं कर सकते हैं। यह हमारा आचार है। गाय या बैल का निश्चय न होने के पूर्व में 'यह गाय है' या 'यह बैल है' इत्यादि प्रयोग करने पर झूठ बोलने का दोष हम पर आता है। इसी सबब हमने वैसा प्रयोग न किया।" साधु भगवंत की इस सामाचारी को सुन कर श्रोता गोपाल आदि को भी यह महसूस होता है कि - "धन्य है जैन साधु भगवंतों को, जो सूक्ष्म भी झूठ बोलने का परिहार करने में तत्पर रहते हैं। धन्य है इन लोगों के धर्म को और धन्य है ऐसा सूक्ष्म मार्ग बतानेवाले अरिहंत भगवंत को!" इस तरह स्त्रीत्वादि विशेष धर्म का निश्चय न होने पर साधु को सामाचारीपालन और श्रोता को बोधिबीजाधान आदि गुणों की संभावना होने के सबब जातिपद से घटित भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्यतरलिंग का प्रयोग करने पर भाषा स्वरूपतः व्यवहारसत्य होने पर भी श्रोता को कर्मबंधकारक और धर्मविरुद्धपरिणामजनक होती है। अतएव विशेषानिर्णयदशा में विशेषशब्द का प्रयोग अनुपादेय ही है और जातिपदघटित शब्द=उभयसाधारणधर्मवाचक वचन ही उपादेय है- ऐसा निःसंदिग्धरूप से मानना मुनासिब है।।८८।।

---

१ स्थूलादिषु पुनर्भाषेत, परिवृद्धादीन्येव वचनानि। दोह्यादिषु च तदर्थसिद्धानि विशेषणानि वदेत्।।८९।। २ उत्त. पृ. १५८-१५९।

स्थूलादिषु मनुष्यपशुपक्षीसरीसृपादिषु, **परिवृद्धादीन्येव वचनानि भाषेत** कारणे उत्पन्नेऽपि। परिवृद्धं, पलोपचितं, सञ्जातं, प्रीणितं, महाकायं वा परिहरेदि'त्यादौ स्थूलादीन् परिवृद्धादिशब्देन ब्रूयात्, न तु 'स्थूलोऽयं, प्रमेदुरोऽयं, वध्योऽयं, पाक्योऽयं इति वदेत्। पाक्यः = पाकप्रायोग्यः। कालप्राप्त **इत्यन्ये**। अप्रीति-व्यापत्त्यादिदोषप्रसङ्गात्, लोकविरुद्धत्वाच्च।

परिवृद्धमिति। यद्यपि 'दग्ध-विदग्ध-वृद्धि वृद्धे ढः' (सि.हे. ८/२/४०) इति ***सिद्धहेमसूत्रेण*** परिवृद्धपदात् परिवृद्धार्थो लभ्यते तथापि आर्षत्वात् परिवूढपदादपि सोऽर्थो लभ्यते। ***कमलसंयमोपाध्यायस्तु*** क्वचित् 'परिवृढः' क्वचिच्च 'परिवृद्धः' इत्यपि छायामङ्गीचकार। **अगस्त्यसिंहसूरिस्तु** - 'परिवूढा = मक्खणादिपरिगृहीतो "(द.वै.अ.चू.पृ. १७०) इति प्राह। ***उत्तराध्ययनवृत्तिकारः श्रीनेमिचन्द्राचार्यस्तु*** 'परिवूढे परंदमे' (उ.त्त. ७/६) इत्यस्य व्याख्यां कुर्वन् "परिवूढः = उपचितमांसशोणिततया तत्तत्क्रियासमर्थः" इति व्याचष्टे। ***आचाराङ्गवृत्तिकार***स्तु 'गवादिकं परिवृद्धकायं = पुष्टकायं' (आ. चा. २/४/२/१३८) इत्याह। **पलोपचितं** = मांसोपचितं। **संजातं** = समाप्तयौवनं। **प्रीणितं** = आहारा-तितृप्तम्। **स्थूलः** = विपुलशरीरः। अस्थूलोऽपि कश्चित् शुक्रमेदभृतः स्यादित्यत आह - **प्रमेदुरोऽयं** = प्रगाढमेदः। **वध्यः** = वधार्हः। **ननु** मनुष्ये कथं वधार्हत्वं सम्भवति? **उच्यते** पुरुषमेधादिषु तस्यापि वध्यत्वं सम्भवति। तदुक्तं - 'तत्थ मणुस्सो पुरिसमेधादिसु' (द.वै.अ.चू.पृ. १७०) इति। **पाक्य** इति। ***श्रीशीलाङ्काचार्य***स्तु - 'पचनयोग्यः देवताऽऽदेः पातनयोग्यो वा' (आचा. २/४/२/१३८) इति व्याचष्टे।

अप्रीतीति। अयं भावः यदा कश्चित् साधुः स्थूल-प्रमेदुरादिमनुष्य-पश्वादिसङ्कुलं वीथ्यादिकं गच्छति तदा स्थूलादिभ्यो रक्षणाद्यर्थमन्यः साधुः यदि एवं वदेत् 'प्रमेदुरं वध्यं मनुष्यं पशुं वा परिहरतु भवान्' तदा प्रमेदुरमनुष्यादेः तच्छ्रवणात् साध्वादिकं प्रत्यप्रीतिः स्यात्, लुब्धकादेस्सकाशात् प्रमेदुरपश्वादेर्व्यापादनादिकं वा स्यात् हिंसकभावोपष्टम्भकत्वात्तादृशवचनस्य। **लोकविरुद्धत्वाच्चेति**। शिष्टलोकेऽपि तादृशवचनस्य सामान्यतो जुगुप्सादिजनकत्वेन विरुद्धत्वाच्चेत्यर्थः। यतो वचनात् हिंसादेः प्रवर्त्तनं स्यात् तादृग्वचनं न प्रयोक्तव्यमित्याशयः। तदुक्तं ***आचारांगे***ऽपि -

---

गाथार्थ :- स्थूलादि के सम्बन्ध में परिवृद्ध आदि वचन ही बोलना चाहिए। तथा दोह्य आदि विषय में दोहादिरूप सिद्ध अर्थ के वाचक विशेषण को बोलना चाहिए।८९।

*** धर्मविरुद्ध और लोकविरुद्ध वचन निषिद्ध है ***

विवरणार्थ :- किसी कारण की उपस्थिति होने पर भी स्थूल मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि के सम्बन्ध में परिवृद्ध आदि शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। जैसे मार्ग में चलते चलते सामने से दोडते हुए बैलादि को देख कर अन्य साधु भगवंत को सावधान करने के लिए 'सामने से आते हुए परिवृद्ध बैल का परिहार करो, अपने को उस परिवृद्ध बैल से सम्हालो' इत्यादि वचन का प्रयोग करना चाहिए। मगर स्थूल, प्रमेदुर आदि शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। परिवृद्ध आदि शब्द का प्रयोग और स्थूल आदि शब्द का परिहार निम्नोक्त चार्ट से ज्ञात हो जाएगा। देखिए,

विषय	अवाच्य	वाच्य
मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप (साँप आदि)	स्थूल	परिवृद्ध
	प्रमेदुर	पलोपचित
	वध्य	संजात या प्रीणीत
	पाक्य	महाकाय

परिवृद्ध का 'तत्तत् क्रिया में समर्थ ऐसा अर्थ उत्तराध्ययनटीकाकार ने किया है। प्रमेदुर का अर्थ है बहुत चर्बीवाला। वध्य का अर्थ है वधयोग्य। पाक्य का अर्थ है पाकयोग्य। अन्य विद्वान इसका अर्थ कालप्राप्त ऐसा भी करते हैं। आचारांग के वृत्तिकार ने पातनयोग्य अर्थात् देवता आदि के बलि देने योग्य-ऐसा अर्थ भी बताया है। 'यह बैल बहुत चर्बीवाला है, यह मनुष्य मारने के योग्य

तथा **दोह्यादिष्वपि** अर्थेषु साध्यक्रियाभिधायीनि वचनानि न वदेत्, यथा-दोह्या गावः, दम्या गोरथकाः, वाह्या रथयोग्या वेति।

'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पशुं वा पक्खिं वा सरीसिवं वा जलयरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए णो एवं वदेज्जा-थुल्लेति वा पमेतिलेति वा वट्टेति वा वज्झेति वा वादिमेति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासिज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलयरं वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वदेज्जा-परिवूढकाएत्ति वा उवचितकाए त्ति वा थिरसंघयणेत्ति वा चियमंससोणिए त्ति वा बहुपडिपुण्णं इंदिएत्ति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासिज्जा'।। (आचा. २/४/२/१३८)

तदुक्तं ***चूर्णावपि*** 'तत्थ मणुस्सो अप्पत्तियं करेज्जा, अक्कोसेज्ज वा, लुणणडहणाणि वा, करेज्जा, एवमादि। महिसादि तिरिया तस्स वयणं सोऊण मंसादीणं अट्ठाए मारेजेज्जा, न केवलं एवं धम्मविरुद्धं किन्तु लोगविरुद्धमवि। कहं? तमेरिसं भासमाणं सोऊण लोगस्स चिन्तिया भवेज्जा जहा - किमेतस्स पव्वतियस्स एयारिसाए अहिद्रोणाए वया निसिरियाएत्ति?" (द.वै.जि.चू.पृ. २५३)।

साध्यक्रियेति। प्रकृते साध्यत्वं भाविकालवृत्तिधर्मवत्त्वं निष्पाद्यत्वं वा न तु अवयवत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपित-विषयताप्रयोजकत्वम्। तेन निष्पाद्यायाः क्रियाया अभिधायीनीत्यर्थः। क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं साध्यक्रियात्वमित्य**न्ये**। **दोह्याः** = दोहार्हाः, दोहसमय आसां वर्तत इति यावत्। **गोरथका** इति। कल्होडा इति ***श्रीहरिभद्रसूरयः***। देशीशब्दोऽयं वत्सतरवाचकः। तदुक्तं ***देशीनाममालायां*** 'कल्होडो वच्छयरे' (दे.ना. २/६ पृ. ५९) इति। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु - 'गोजोग्गा रहा गोरहजोग्गत्तणेण गच्छंति गोरहगा, पंडुमधुरादीसु किसोरसरिसा गोपोतलगा अण्णत्थ वा तरुणतरुणारोहा जे रहम्मि वाहिज्जंति अमदप्पत्ता खुल्लगवसभा वा ते वि।' (द.वै.अ.चू.पृ. १७०) इत्युक्तम्। ***श्रीजिनदासगणिमहत्तरा***स्तु 'गाओ जे (रहजोग्गा) रहमिव वा धावंति ते गोरहगा भण्णंति, अहवा गोयरगा य पसवसमण्णा भवंति' (द.वै.जि.चू.पृ. २५३) इति व्याचक्षते। गोरथकः त्रिहायणो बलिवर्दः **इत्यन्ये**।

वाह्या इति। ***चूर्णौ*** - 'वाहिमा नाम जे सगडादीभारसमत्था' इत्युक्तम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'वाहिमा णंगलादिसव्व-

है' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रमेदुर आदि शब्द का प्रयोग लोकविरुद्ध भी है। 'यह आदमी तगडा है - पट्ठा है' इत्यादि वाक्यों को, जो साधु भगवंत से कहे गये हैं, सुन कर लोगों को भी यह महसूस होता है कि 'न मालुम, यह साधु है या नहीं, क्योंकि यह असभ्य एवं पीडाकर वाक्य का प्रयोग करता है'। इस तरह यह सिद्ध होता है कि धर्मविरुद्ध और लोकविरुद्ध होने से स्थूल-प्रमेदुर-वध्य आदि शब्दों से घटित भाषा साधु के लिए निषिद्ध हैं। चाहे वह भाषा व्यवहार से सत्य हो या न हो। वहाँ परिवृद्ध आदि शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि वे शब्द न धर्मविरुद्ध है और न लोकविरुद्ध। साधु की परिभाषा के ज्ञाता होने से श्रोता साधु को वक्ता साधु के तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है। अतः वक्ता साधु का प्रयोजन भी सिद्ध होता है।

✱ निष्पाद्य क्रिया के सूचक विशेषण का प्रयोग नामुनासिब ✱

तथा दोह्या. इति। जैसे धर्मविरुद्ध और लोकविरुद्ध वचन परिहार्य हैं वैसे साध्य क्रिया का अभिधायक वचन भी त्याज्य है। साध्य क्रिया का मतलब यह है कि जो क्रिया वर्त्तमान में निष्पाद्य है, पूर्व में निष्पन्न नहीं हो चूकी है। जैसे कि 'गाय दुहने योग्य है, बैल दमन करने योग्य है' इत्यादि वाक्य। यह गाय दुहने योग्य है - इस वाक्य को सुन कर गोपाल आदि को यह प्रतीत होता है कि - "साधु भगवंत कहते हैं कि 'अभी गायों के दुहने का समय हैं'। अतः वर्त्तमान में गोदोहन मेरा कर्तव्य है अर्थात् सांप्रत काल में सब से पहले गोदोहन क्रिया को ही मुझे करना चाहिए।" इस निश्चय के सबब गोपाल आदि गाय के दुहने में प्रवृत्त होते हैं। इस तरह सावद्य क्रिया में प्रवर्त्तनरूप अधिकरण दोष साधु को प्राप्त होता है तथा दूसरे सुननेवालों को यह प्रतीत होता है कि - 'साधु भगवंत भी संसार के कार्यों का उपदेश दे रहे हैं, कमाल है!' इस तरह तादृश वचन के प्रयोग से साधु भगवंत की और जिनशासन की लघुता होती है। अतः तादृश वचन का प्रयोग त्याज्य है। विवरण में साध्यक्रिया के उदाहरण में दूसरा उदाहरण

आप्तवचनात्तदानीं गोदोहादिकर्तव्यत्वनिश्चये श्रोतृप्रवृत्त्यादिना अधिकरणलाघवादिदोषप्रसङ्गात्।

दिगुपलक्षणादौ प्रयोजने पुनः, **तदर्थकानि** = दोह्याद्यर्थकानि, **सिद्धानि** = साध्यविलक्षणानि, विशेषणानि वदेत्, यथा' रसदा धेनुः, युवा गौः, हस्वो महल्लकः संवहनो वे'ति। नैवमुक्तदोष इति भावः।।८९।। किञ्च

समत्था' इत्युक्तम्। रथयोग्या इति। चूर्णौ - 'रथजोग्गा णाम अहिणवजोव्वणत्तणेण अप्पकाया, ण ताव बहुभारस्स समत्था किंतु संपयं रहजोग्गा एते त्ति' इत्युक्तम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'सिग्घगतयो सदप्पा जुग्गादिवधा रहजोग्गा' इत्युक्तम्। जुग्गादिवधा इति युग्यदिवहा इत्यर्थः। **गोदोहादिकर्तव्यत्वनिश्चये** इति। 'गोः विभागावच्छिन्नक्षरणानुकूल-व्यापाररूपं दोहनं मत्कर्त्तव्य' मित्याकारकनिश्चये जाते सतीत्यर्थः।

दिगुपलक्षणादाविति। आशाप्रदर्शनादावित्यर्थः। आदिशब्देन जिनालयज्ञापनादेर्ग्रहणम्। **साध्यविलक्षणानीति**। निष्पन्नक्रियार्थबोधकानीति यावत्। दोह्या गौरित्यस्य स्थाने **रसदा धेनुः**, दम्यो गौरित्यत्र '[1]**युवा गौः**', गोरथक इत्यत्र **हस्वः**, वाह्य इत्यत्र **महल्लकः**, रथयोग्य इत्यत्र **संवहन** इति ब्रूयात्। ***दशवैकालिकदीपिकाकारः*** 'संवहनं धुर्यम्' (द.वै.दी. ७/२५) इत्याह। **नैवमुक्तदोष** इति। श्रोतुः तथावचनतः साक्षात् इतिकर्तव्यत्वभानाभावेन नाधिकरणादिदोष इत्यर्थः।।८९।।

'बैल दम्य है' यह बताया है। दम्य का अर्थ है दमन करने योग्य। दम्यशब्द का दूसरा अर्थ 'बधिया करने योग्य = नपुंसक करने योग्य' - यह होता है। इस वाक्य को साधु के मुँह से सुन कर बैल के स्वामी सावद्य क्रिया में प्रवृत्त होते हैं और अन्य लोगो को यह महसूस होता है कि -'क्या साधु भगवंत यह भी बोल सकते हैं कि यह बधिया करने योग्य है?' और साथ ही साधु भगवंत के प्रति असद्भाव होता है, जिनशासन की लघुता होती है। तीसरा उदाहरण है 'यह गोरथक है' रथ की भाँति दौडनेवाला बैल, तीन वर्ष का बैल, जो रथ में जुत गया वह बैल इत्यादि अर्थ गोरथक शब्द के होते है। श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराज ने गोरथक का अर्थ कल्होड किया है जिसका अर्थ वत्सतर होता है। बछडे से आगे की और संभोग में प्रवृत्त होने की पूर्व अवस्थावाले बैल को वत्सतर कहा जाता है। चतुर्थ उदाहरण है 'ये बैल वाह्य हैं'। श्रीजिनदासगणी ने वाह्य का अर्थ किया है 'बैलगाडी का भार ढोने में समर्थ। पाँचवाँ उदाहरण - 'ये रथयोग्य हैं' यह बताया गया है। इसका मतलब यह है कि 'अभिनव युवा होने की बदौलत यह बैल बहुत भार ढोने में समर्थ नहीं है, अल्पकाय है। अतएव यह रथयोग्य है। हम समझ सकते हैं कि प्रदर्शित वाक्यों के प्रयोग से सावद्य क्रिया प्रवृत्त होती है और लोगों को भी महसूस होता है कि 'साधु भगवंत को जबान पर लगाम नहीं है'। अतः तादृश वचनप्रयोग अकर्तव्य है।

✱ अधिकरणादि दोष से मुक्त वचन प्रयोक्तव्य ✱

दिगुप. इति। यदि साधु भगवंत को दिशा या मार्ग बताना या पहचानना आदि प्रयोजन उपस्थित हो तब 'रसदा गौः' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें विशेषण साध्यक्रिया का सूचक नहीं होता है किन्तु साध्य क्रिया से विलक्षण क्रिया का प्रदर्शक होता है। 'गाय दुहने योग्य है' जैसे सावद्य क्रिया में प्रवर्तक है वैसे 'यह दूधार गाय है' यह वाक्य सावद्य क्रिया में प्रवर्त्तक नहीं है - यह तो हम स्पष्टरूप से जान सकते हैं। किन वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए और किन वाक्यों का नहीं? यह बात निम्नोक्त कोष्टक पर गौर से निगाह फैलाने से पाठकों को मालुम हो जायेगी। देखिए

	परिहार्य		आवश्यकता होने पर अपरिहार्य
१	गाय दुहने योग्य है	-	गाय दूधार है।
२	बैल दम्य है	-	बैल युवा है।
३	बैल जोतने योग्य है	-	बैल छोटा है।
४	बैल वाह्य है	-	बैल महाकाय है।
५	बैल रथयोग्य है	-	बैल संवहनयोग्य है।

---

१ जुवं गवो नाम जुवाणगोणेत्ति, चउहाणगो वा (द. वै. जि. चू. पृ. २५४)।

पासाय-खंभ-तोरण-गिहाइजोग्गा य णो वए रुक्खे। कारणजाए अ वए, ते जाइप्पभिइगुणजुत्ते।।९०।।[1]

प्रासादः = एकस्तम्भः, **स्तम्भस्तु** स्तम्भ एव, **तोरणानि** = नगरतोरणादीनि, **गृहाणि** = कुटीरकादीनि, आदिपदात् परिघाऽर्गला-

एकेन्द्रियेषु वनस्पतिकायं प्रतिभणति - '**पासाय**'त्ति। **एकस्तंभ** इति। प्रवृत्तिनिमित्तं पुरस्कृत्यैतदभिधानम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'पसीदंति जम्मि जणस्स मणो-णयणाणि सो पासादो' (द. वै. अ. चू. पृ. १७१) इति व्युत्पत्तिनिमित्तं पुरस्कृत्योक्तम्। **परिघेत्यादि**। ननु परिघार्गलयोः को विशेषः? उच्यते परितो हन्तीति परिघ उच्यते। तदुक्तं ***सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसङ्ग्रहे*** - 'कण्टकितो लोहदण्डः' इति। कपाटादिरोधिका त्वर्गला उच्यते। ***अभिधानचिन्तामणिवृत्ता*** तु 'परिहण्यतेऽनेन=परिघः, दारुमयो लौहो वा दण्ड' इत्युक्तम्। ***श्री हरिभद्रसूरयस्तु*** 'तत्र नगरद्वारे परिघः, गोपुरकपाटादिष्वर्गला' इति वदन्ति। ***अगस्त्यसिंहसूरयस्तु*** 'फलिहं = कवाडणिरुंभणं तेसिं वा, उभयो पासपडिबंधि गिहादीकवाडनिरोधकट्ठ**मग्गला** तेसिं वा' इति व्याचक्षते। अनेककाष्ठसङ्घातकृतं जलयानं नौरित्युच्यते।

उदकद्रोणीति। अरहट्टजलधारिका इति ***श्रीहरिभद्रसूरयः***। ***प्राचीनतमचूर्णिकारास्तु*** 'एगकट्ठं उदगजाणमेव, जेण वा अरहट्टादीण उदगं संचरति सा दोणि 'इति व्याख्यानयन्ति। ***चूर्णौ*** तु' उदगदोणी अरहट्टस्स भवति, जीए उवरि घडीओ पाणियं पाडेंति अहवा उदगदोणी घरांगणए कट्ठमयी अप्पोदएसु देसेसु कीरइ, तत्थ मणुस्सा ण्हातंति आयमंति वा "(द.वै.जि.चू पृ. २५४) इत्युक्तम्। 'द्रोणी = काष्ठाम्बुवाहिनी' इति ***पदार्थलक्षणसङ्ग्रहे*** उक्तम्। यद्वा उदकयोग्यं काष्ठं द्रोणीयोग्य काष्ठमिति पृथगपि स्यात्। तदुक्तं ***आचाराङ्गे*** 'उदगजोग्गाइ वा दोणजोग्गाइ वा' (आ चा. २/

'गाय दूधार है', बैल युवा है' इत्यादि वाक्यों से दोहनादि क्रिया में निष्पाद्यत्व की = वर्तमान में स्वकर्तव्यत्व की बुद्धि नहीं होती है। अतः अधिकरणादि दोष की प्राप्ति नहीं होती - यह सब यहाँ दोहरा कर कहने की जरूरत नहीं है। सुज्ञ पाठक यह बात स्वयं सोच सकते हैं और प्रदर्शित परिहार्य और अपरिहार्य वाक्यों का अर्थघटन अच्छी तरह कर सकते हैं। अतः इस बात का विस्तार करना यहाँ अर्थहीन समझा जाता है।।८९।।

गाथार्थ :- वृक्षों को देख कर 'ये प्रासाद-स्तंभ-तोरण-गृहादि के योग्य हैं' ऐसा नहीं बोलना चाहिए। कारण उपस्थित होने पर जाति आदि गुणों से युक्तरूप से कथन करना चाहिए।९०।

✱ देवादि को कुपित करनेवाली भाषा परिहार्य ✱

विवरणार्थ :- बड़े वृक्षों को देख कर 'ये वृक्ष प्रासादादि के योग्य है' इत्यादिरूप से कथन नहीं करना चाहिए। प्रासाद शब्द का वाच्यार्थ एक स्तंभवाला महल है। स्तम्भशब्द का अर्थ है खंभा। नगरद्वार पर जो काष्ठ की कमान होती है उसे तोरण कहते हैं। कुटीर आदि यहाँ गृहशब्द से अभिप्रेत है। आदिशब्द से परिघ आदि का विवरणकार ने ग्रहण किया है। नगरद्वार की अगडी को परिघ कहते हैं तथा गृहद्वार की अगडी को अर्गला कहा जाता है। नाव पदार्थ तो प्रसिद्ध है। उदकद्रोणी का अर्थ रहँट के जल को धारण करनेवाली - ऐसा दशवैकालिकटीकाकार को अभिमत है। श्रीजिनदासगणिमहत्तर के अभिप्राय के अनुसार जिसमें रहँट की घडियाँ पानी डाले वह जलकुंडी या जो कम पानीवाले देशों में जल से भर कर रखी जाती है और जहाँ स्नान या कुल्ला किया जाता है वह काष्ठ की बनी हुई कुंडी उदकद्रोणी कही जाती है। श्रीअगस्त्यसिंहसूरी के अभिप्रायानुसार - एक काष्ठ के बने हुए जलमार्ग को द्रोणी कहते हैं अथवा काष्ठ की बनी हुई जिस प्रणाली से रहँट के जल का अन्यत्र संचार हो उसे द्रोणी कहा जाता है।

पीठशब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। चंगबेरा का अर्थ काष्ठमयी या वंशमयी पात्री है। लांगल का अर्थ है हल, जिससे खेती की जाती है। मयिक का अर्थ है कृषि का उपकरण, जो बोए गए बीजों को ढांकने के काम में लाया जाता है। यन्त्रयष्टि पद का अर्थ है यंत्र की लकडी। रथ या बैल-गाडी के चक्र के मध्य भाग को नाभि कहते हैं। सुवर्णकार जिस उपकरण के उपर सुवर्ण को कूटता है उसे गंडिका कहते हैं। उसे लोकभाषा में अहिगरणी या अधिकरणी भी कहते हैं। काष्ठ के फलक आदि आसन कहा जाता है। दशवैकालिक टीका में आसन का अर्थ आसन्दकादि किया है। खाट, पलंग आदि शयनशब्द से अभिमत है। यान का अर्थ यहाँ

१ प्रासादस्तंभतोरणगृहादियोग्यान् च न वदेत् वृक्षान्। कारणजाते च वदेत् तान् जातिप्रभृतिगुणयुक्तान्।।९०।।

नावुदक-द्रोणी-पीठक-चङ्गबेरा-लाङ्गल-मयिक-यन्त्रयष्टि-नाभिगण्डिकासन-शयन-यान-द्वार-पात्रादिपरिग्रहः **तद्योग्यान् वृक्षान्न**

४/ उ.२-सू. १३८) इति। '***आचाराङ्गाक्षरगमनिकाकार***स्तु 'उदगदोणिजोग्गा वा' इति पाठमङ्गीकृतवान्। ***प्रश्नव्याकरणवृत्तौ*** - 'द्रोणी = नौः' (प्रश्न. १/१३) इत्युक्तम्। ***कौटिल्यार्थशास्त्रे*** तु 'द्रोणी दारुमयो जलाधारो जलपूर्णः' (कौ. अ. २/५६) इत्युक्तम्।

चंगबेरा = काष्ठपात्रीति वृत्तिकारः। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** 'कट्ठमयं समितातितिम्मणमलणं चंगेरिगासंठितं **चंगबेरं**' इत्युक्तम्। ***चूर्णौ*** तु ' चंगबेरं कट्ठमयभायणं भण्णइ, अहवा चंगेरी वंसमयी भवति' इत्युक्तम्। **प्रश्नव्याकरणवृत्तौ** तु 'चंगेरी महती काष्ठपात्री बृहत्पटलिका वा' (प्रश्न. आश्रवद्वार १/१३) इत्युक्तम्। **लाङ्गलं** = हलं। **मयिकं** = उप्तबीजाच्छादनमिति **वृत्तिकारः**। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'वाहितच्छेत्तोवरि समीकरण-बीयसारणत्थं समं कट्ठं मइयं' इत्युक्तम्। ***चूर्णौ*** तु 'मइया नाम वाहेऊण बीयाणि पच्छा ताए ऊहाडिज्जंति' इत्युक्तम्। ***प्रश्नव्याकरणे*** तु एतत्स्थाने 'मात्तिय' इत्युक्तम्। व्याख्यातं च तद्वृत्तिकृता 'मत्तिकं येन कृष्टं वा क्षेत्रं मृज्यते'। ***आचारांगे*** च एतत्स्थाने 'किलिय'त्ति उक्तम्। तथाहि - पीढचंगबेर-नंगल-**कुलिय**-जंतलट्ठी-नाभिगंडी-आसणजोग्गाइ वा।' (आचा. २/४/२/१३८) **नाभिः**= शकटरथाङ्गमिति वृत्तिकारः। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु' सगडादीण रहंगसण्णिबंधणकट्ठं नाभी' इत्युक्तम्।

गण्डिका इति। 'गांडिया णाम सुवण्णगारस्स भण्णइ जत्थ सुवण्णगं कुट्टेइ' इति ***चूर्णिकारः***। **वृत्तिकारोऽपि** 'गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (आहिगरणी) स्थापनी भवती'त्याह। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'गांडिया चम्मारादीणं दीहं चउरस्सं कट्ठगं' इत्युक्तम्। ***कौटिल्यार्थशास्त्रव्याख्याकारस्तु*** 'गण्डिकासु काष्ठफलकेषु कुट्टयेत्' (कौ. अ. २/३१) इति स्वमतं प्रदर्श्याऽग्रे 'गण्डिकाभिः = प्लवनकाष्ठैरिति **माधवः**' (कौ. अ. १०/२) इति पराभिप्रायं प्रदर्शितवान्।

'**आसनं** = आसन्दकादी'ति **वृत्तिकारः**।। 'आसणं पीठिकादि' इति **अन्ये**। **शयनं** = पल्यंकादि। **यानं** युग्यादि। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि अ। रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं।। अलं

काष्ठनिर्मित वाहन ग्राह्य है। काष्ठमय दरवाजा द्वार शब्द से वाच्य है। पात्रशब्द से काष्ठपात्र अभिप्रेत है। आदि शब्द से काष्ठ की बारी आदि ग्राह्य हैं। अस्तु।

एतादृशं. इति। यदि साधु भगवंत बड़े पेड़ को देख कर ऐसा कथन करे कि 'यह वृक्ष प्रासाद के योग्य है' तब संभव है कि उस पेड का स्वामी व्यंतर देव साधु के प्रति आग बबूला हो जाए, क्योंकि व्यंतर उस वचन को सुन कर समझ सकता है कि 'मेरे निवासभूत वृक्ष को साधु प्रासाद के योग्य कहते हैं और यह बात किसीके सुनने में आए तो वह तो मेरा यह पेड काट डालेगा'। यहाँ यह शंका करने की जरूरत नहीं है कि -"देव तो शक्तिसंपन्न होते हैं वे तो अन्य पेड भी अपनी शक्ति से बना सकते हैं तब उन्हें उस वचन को सुन कर आग बबूला होने की क्या आवश्यकता है?" यह शंका इसलिए नामुनासिब है कि - जीव को छोटी से छोटी भी अपनी चीज पर ममता-मूर्छा होती है जिसके सबब उस चीज का नष्ट होना जान कर शक्तिशाली भी जीव बेचेन बनता है। मोहराजा की जीवों के उपर यह सिरजोरी है। इसमें ताज्जुब होने की कोई जरूरत नहीं है।

शंका :- सभी वृक्ष थोडे ही व्यंतर देव से अधिष्ठित हैं? अधिष्ठित हो तो भी यदि व्यंतर देव अनुपयोग आदि से न सुने तब तो कोई दोष नहीं है न? क्योंकि देव को भी अनेक काम रहते हैं।

समाधान :- ***सलक्षणो.*** इति। हम यह नही जानते हैं कि - 'यह वाक्य देव सुनेगा या नहीं'। अतः तादृश वचन का प्रयोग परिहार्य है, क्योंकि जिससे अनर्थ की संभावना भी हो उस कार्य को शिष्ट पुरुष नहीं करते हैं। दूसरी बात यह है कि देव अगर अनुपयुक्त भी हो तब भी वहाँ आने-जाने वाले अन्य लोग तो उस वाक्य को सुन कर यह समझते हैं कि 'ये साधु भगवंत वृक्ष के लक्षण के अच्छे जानकार लगते हैं। इनके वचन से यह वृक्ष सुलक्षणयुक्त प्रतीत होता है। अतएव इस वृक्ष को काटना चाहिए'। ऐसा सोच कर गृहस्थ उस वृक्ष को काटे यह भी संभव है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि - 'जिसको बार-बार बिना सोचे-

---

१ दृश्यतां आचारांगसूत्रमक्षरगमनिकान्वितं श्रीजैनसंघपेसुआप्रकाशितं - पृ. ३५८।

वदेत्। एतादृशं वदतो हि साधोः तद्वनस्वामिव्यन्तरात् कोपादिः स्यात्। सलक्षणो वा वृक्षः इति कश्चिदभिगृहणीयात् अनियमित-भाषिणो लाघवं वा स्यादिति।

विश्रमण-तदासन्नमार्गकथनादौ **कारणजाते च** सति तान् **जातिप्रभृतिगुणयुक्तान् वदेत्**। तथाहि-उत्तमजातय एते वृक्षा अशोकादयः, दीर्घा वा नालिकेरीप्रभृतयो, वृत्ता नन्दिवृक्षादयो महालया वटादयः, प्रजातशाखाः, प्रशाखावन्तो दर्शनीया वेति।।९०।। किञ्च,

[१]ण फलेसु ओसहीसु य, पक्काइवओ वए वयणकुसलो।
असमत्थप्परूढाइ, पओअणे पुण वए वयणं।।९१।।

पासायखंभाणं, तोरणाण गिहाण अ। फलिहऽग्गलनावाणं, अलं उदगदोणिणं।। पीढए चंगबेरा अ नंगले मइयं सिआ। जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिआ।। आसणं सयणं जाणं हुज्झा वा किंचुवस्सए। भूओवघाइणिं भासं नेवं भासिज्ज पन्नवं।।' (द. वै. ७/२६...२९)

वृत्तिकृदभिप्रायेण दोषान् प्रदर्शयति - **एतादृशमिति। अनियमितभाषिणः** = यथेच्छभाषिणः। **लाघवमिति**। अयं भावः यद्वा तद्वा भाषिणां यतीनां वाच्यार्थस्याऽतथाभावे श्रोतुः 'एते न किञ्चिज्जानन्ति मिथ्याभाषिण एते' इति विपरिणामेन लाघवं स्यात्। इतिशब्देन 'वृक्षलक्षणज्ञोऽयं साधुः' इति कृत्वा साधु वा गृह्णीयात् - इत्यादिदोषाः सूचिताः।

विश्रमणं नाम श्रमापनयनम्। **तदासन्नेति**। वृक्षासन्नमार्गप्रदर्शनादौ। **प्रशाखावन्तः** = विटपिनः। तदुक्तं 'तहेव

समझे बोलने की आदत है वह यदि आदत की बदौलत वैसा कथन करे कि - 'यह पेड़ प्रासादयोग्य है' और वास्तव में वह पेड़ प्रासाद के योग्य न हो तथा वृक्ष के लक्षण को जाननेवाले गृहस्थ के कान पर वह बात भवितव्यतावश पडे तब उसको यह महसूस होता है कि यह साधु वृक्ष के लक्षणों का ज्ञान न होने पर भी मिथ्या बोलता है। इस तरह गृहस्थ के सामने साधु की लघुता भी होती है। ये अनेक दिक्कत होने के सबब तादृश वचन का प्रयोग साधु के लिए निषिद्ध है। कितना सूक्ष्म और अहिंसाप्रधान है प्रभु महावीर से बताया गया मोक्षमार्ग!

विश्रमण. इति। निष्कारण बोलने का तो साधु-साध्वी के लिए निषिद्ध ही है। यदि साधु भगवंत विहार आदि करते हो और मार्ग में विश्राम करने का उद्देश हो या अन्य साधु को मार्ग आदि बताने का प्रयोजन हो, जिस उद्देश या प्रयोजन की सिद्धि के लिए पुरोवर्ती वृक्ष आदि का कथन करने की आवश्यकता हो तब जाति आदि गुणों से युक्त वृक्षों को बताना चाहिए अर्थात् वृक्ष की जाति आदि के सूचक विशेषणों से घटित शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। जैसे कि 'देखिए, सामने उत्तम जातिवाले अशोक आदि के पेड़ हैं वहाँ हम विश्राम करेंगे'। 'देखिए, जहाँ नालिकेर ताल आदि के लम्बे पेड़ हैं उनके सामने उपाश्रय है'। 'नंदी आदि वृत्त वृक्षों के सामने स्थंडिल जाने का मार्ग है' 'बड़े बड़े बड आदि के पेड़ की दाई और वैद्य की दुकान है'। 'लगता है कि यह भूमि दुष्काल आदि से मुक्त है, क्योंकि यहाँ के पेड़ अनेक शाखावाले, प्रशाखावाले, हरे, घने और दर्शनीय हैं। अतः यहाँ मुकाम करना मुनासिब होगा'। इस तरह प्रयोजन उपस्थित होने पर उपर्युक्त वचनों का प्रयोग करना चाहिए। स्पष्ट ही मालुम पडता है कि 'ये पेड प्रासाद के योग्य हैं' इत्यादि वाक्यों को सुन कर जो व्यंतरकोप-वृक्षच्छेदनादि दोष की संभावना रहती है वह संभावना उपर्युक्त वाक्यों को सुनने पर नहीं रहती है। अतः जरूरत पडने पर उपर्युक्त वाक्यों का ही प्रयोग करना चाहिए।

गाथा का सारांश यह है कि (१) बिना प्रयोजन के बोलना ही नहीं चाहिए (२) यदि जरूरत हो तब जिस वचन से अपने प्रयोजन की सिद्धि हो और दोष की संभावना न हो वैसा सत्य वचन बोलना चाहिए।।९०।।

गाथार्थ :- फल और औषधीओं के विषय में पक्वादि वचन का प्रयोग वचनकुशल पुरुष न करे। प्रयोजन उपस्थित होने पर असमर्थ-प्ररूढादि वचन को बोलना चाहिए।।९१।।

---

१ न फलेष्वौषधिषु च पक्वादिवचो वदेद्वचनकुशलः। असमर्थप्ररूढादि प्रयोजने पुनर्वदेद् वचनम्।।९१।।

फलेषु औषधीषु वा **वचनकुशलः** = वाग्विधिनिपुण **पक्वादिवचो न** वदेत्। तथाहि-**पक्वानि**=पाकप्राप्तानि एतानि फलानि तथा **पाकखाद्यानि**=बद्धास्थीनीति गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रव-पलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति यावत्। तथा **वेलोचितानि**=पाकातिशयतो वा ग्रहणकालोचितानि अतः परं कालं न विषहन्त इति यावत्। तथा **टालानि**=अबद्धास्थीनि, कोमलानीति यावत्। तथा **द्वैधिकानि**=पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानीति।

तथा पक्वा एताः शाल्याद्या औषध्यः तथा नीलाः छविमत्यो वा लवनयोग्या वा भर्जनयोग्या वा पृथुकखाद्या वा इति।

गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि अ। रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं।। जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया। पयायसाला विडिमा, वए दरिसणित्ति अ।। (द. वै. ७/३०/३१)

वृक्षविषयवाग्विधिमुक्त्वा साम्प्रतं फलादिविषयकवचनविधिं प्रदर्शयति **फलेष्विति**। **विपाच्येति**। तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णा***-पलालातिपक्कं वा कातूण खातियव्वाणि किंचिदपक्काणि जधा कयलादीणि' (द. वै. अ. चू. पृ. १७२) **भक्षणयोग्यानीति** गलबिलाधस्संयोगानुकूलव्यापारोचितानि।

वेलोचितानि। तदुक्तं ***चूर्णौ*** 'वेलोइयाणि नाम वेला-कालो तं जा णिति वेला तेसिं उच्चिणिऊणंति, अतिपक्काणि एयाणि पडंति जइ न उच्चिणिज्जंति (द. वै. जि. चू. पृ. २५६) **विषहन्त** इति। असो-ङ्-सिव्-सहस्सटाम् (सि. श. २/३/४८) इति ***सिद्धहेमसूत्रेण*** षत्वप्राप्तिः।

टालानि। *प्राचीनतमचूर्णौतु* - 'टालाणि जहा कविट्ठादीणि अबद्धट्ठिगाणि विभातसंधीणि सक्कंति पेसीकाउं ताणि पुण टालियंबायिषु पजुज्जंति' (द. वै. अ. चू. पृ. १७३) इत्युक्तम्। ***श्रीशीलाङ्काचार्येण***- 'टालानि=अनवबद्धास्थीनि कोमलास्थीनि (आचा. २/४/२-१३८ वृ.) इत्युक्तम्।

द्वैधिकानीति। *प्राचीनतमचूर्णौ* तु 'णवीकरणीयाणि अंबाणि अतो **वेहिमं** बेति' (द. वै. अ. चू. पृ. १७३) इत्युक्तम्। ***चूर्णौ*** च 'बेधा कीरंति तं वेहिमं अबद्धट्ठिगाणं अंबाणं पेसियाओ किरंति' (द. वै. जि. चू. पृ. २५६) इत्युक्तम्। तदुक्तं दशवैकालिके 'तहा फलाइं पक्काइं पाकखज्जाइं नो वए। वेलोइयाइं टालाइं वेहिमाइ त्ति नो वए।। (द. वै. ७/३२)

वनस्पतिविशेषरूपा औषधीः प्रदर्शयति-**तथेति**। **नीला** इति अपक्वाः, न पाकप्राप्ता इत्यर्थः। **केचित्तु *श्रीहरिभद्रसूरिमते*** इदं च छविविशेषणमित्याहुः, **तदसत्**, तन्मतेऽपि अस्यौषधीविशेषत्वात्। तदुक्तं ***दशवैकालिकवृत्तौ*** 'तथा

✱ फलविषयक वाग्विधि ✱

विवरणार्थ :- वचनविधि में निष्णात व्यक्ति को फल के सम्बन्ध में पक्वादि शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। आदि शब्द से पाकखाद्य आदि का ग्रहण अभिप्रेत है। पक्व का अर्थ है पाकप्राप्त। 'ये फल पक्व हैं' यह प्रयोग निषिद्ध है। पाकखाद्य का अर्थ है पका कर खाने योग्य। 'ये फल पाकखाद्य हैं' इसका अर्थ यह है कि इन फलों में गुठलियां पड गई हैं। इसी सबब ये खड्डे में डाल कर कोद्रव-घाँस-भूसे आदि से पका कर खाने योग्य हैं। 'ये फल वेलोचित हैं' इसका अर्थ यह है कि - ये फल अति पक्व होने के सबब शाखा पर नहीं रह सकते हैं अर्थात् तत्काल तोडने योग्य हैं। टाल शब्द का प्रयोग उन फलों में होता है जिनमें गूठली नहीं पडी है। ये फल दो टुकडे करने योग्य हैं अर्थात् फाक करने योग्य हैं। यहाँ चूर्णिकार का अभिप्राय यह है कि - जिन आमों के फल में गुठली न पडी हो उनकी फांके की जाती हैं, वे आम वेध्य कहे जाते हैं। फलरूप विषय में इन वचनों का प्रयोग करना निषिद्ध है।

✱ औषधीविषयक वचनविधि ✱

तथा पक्वा एताः इति। शास्त्र के अभिप्राय से शालि आदि औषधीशब्द से वाच्य हैं। चावल, गेहूँ, बाजरी आदि को देख कर (१) ये पक्व हैं (२) ये नील हैं अर्थात् ये अपक्व या हरी हैं, (३) ये फलियाँ से मुक्त हैं, (४) ये काटने योग्य हैं, (५) ये भूनने योग्य हैं, (६) ये पृथुकखाद्य हैं, अर्थात चिवडा बना कर खाने योग्य हैं। लोग अर्धपक्व चावल, गेहूँ आदि का चिवडा बना कर खाते हैं,

एतादृशाननुमतभाषा भाषणे फलादिनिश्रितदेवताकोपः 'इत ऊर्ध्वमेतन्नाश एव प्रकारान्तरेणैतद्भोगो न शोभन' इत्यवधार्य गृहिप्रवृत्तौ अधिकरणादिदोषोपपातश्चेति।

नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणाः (द. वै. ७/३४वृ.) प्रकृते च मतुब्लोपः कृतः धर्ममुखेन धर्मिप्रतिपादनपरत्वात् औषधीविशेषणत्वानभ्युपगमे वाकारस्याऽनुपपत्तिप्रसङ्गात्, वल्लचवलादिफललक्षणाः इत्यस्यानन्वयप्रसङ्गात्, 'तहेवोसहिओ पक्काओ नीलिआओ छवीइ अ। लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए' (द. वै. ७/३४) इत्यत्रोत्तरार्धस्याऽलग्नतापत्तेश्चेति **दिक्**।

छविमत्य इति। ***चूर्णौ*** च "छविग्गहणेण णिप्पवालिसंदगादीणं सिंगातो छविमंताओ" (द. वै. जि. चू. पृ. २५६) इत्युक्तम्। ***अगस्त्यसिंहसूरि***मते तु पक्वादेः छविमतीविशेषणत्वमपि सम्भवति। तदुक्तं तैः 'छवीओ=संबलीओ णिप्फावादीणं ताओ वि **पक्काओ नीलिताओ** वा णो वदेज्जा' (द. वै. अ. चू. पृ. १७३) इति। ***आचारांगाभिप्रायेण*** तु पक्वादीनि सर्वाणि औषधीनां विशेषणानि प्रतीयन्ते- 'से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुसंभूयाओ ओसहीओ पेहाए तहावि ताओ णो एवं वदेज्जा। तं जहा पक्काइ वा नीलीयाति वा छवीइयाइ वा लाइमाइ वा भज्जिमाइ वा बहुखज्जाइ वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव णो भासेज्जा' (आचा. २/४/२-१३८) इति सूत्रपर्यालोचनात्।

लवनयोग्या इति। प्रकृते च 'लायिमाः=लाजायोग्या रोपणयोग्या वा' (आचा. २/४/२-१३८) इति ***श्रीशीलाङ्काचार्याभिप्रायः***। **भर्जनयोग्या** इति अपक्वचणकादिः। प्रकृते च 'भज्जिमाउत्ति पचनयोग्या भर्जनयोग्या वा' इति **आचाराङ्गवृत्तिकृद**भिमतम्। **पृथुकखाद्या** इति। अधर्मपक्वशाल्यादिषु पृथुकाः क्रियन्ते। ***आचाराङ्गवृत्तौ*** च 'बहुखज्जत्ति बहुभक्ष्याः पृथुककरणयोग्या वे'त्युक्तम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** च प्रकृते- कुंभेल्लसालिमाति पिहुखज्जा' (द. वै. अ. चू. पृ. १७३) इत्युक्तम्।

अधिकरणादिदोष इति। तदुक्तं ***चूर्णौ***- 'साहुणा भणियाओ त्ति काऊण थालीपागं करेज्जा एवमादिदोसा भवंति। 'आदिशब्देन लाघवादयो दोषा ग्राह्याः।

जिसको गुजरात आदि राज्य में 'पोंक' कहते हैं। चावल आदि औषधी को इन शब्दों से बताना साधु के लिए नामुनासिब है।

शंका :- आम आदि फल के और चावल आदि औषधी के विषय में पक्वादि शब्द का प्रयोग क्यों निषिद्ध है? यदि वे पक्व हैं तब उन्हें पक्व बताने में क्या दोष है, जिसके सबब सत्य भाषा होते हुए भी पक्वादि शब्दों का प्रयोग निषिद्ध है?

✻ व्यवहारतः सत्य भाषा भी दोषयुक्त हो तो त्याज्य है ✻

समाधान :- ***एतादृश.*** इति। व्यवहार से पक्वादि शब्द भले ही सत्य हो मगर उसका प्रयोग करना निषिद्ध है, क्योंकि तीर्थंकर गणधरादि भगवंत से वह अनुमत नहीं है। इसका सबब यह है कि 'ये फल पक्व हैं, तोडने योग्य हैं' इत्यादि शब्दों को सुन कर उन फल पर निश्रित अर्थात् उनका स्वामी व्यंतरादि देव उन फल की मूर्च्छा और आसक्ति के सबब उन शब्दों के प्रयोग करनेवाले साधु पर कुपित हो जाए यह संभव है। इसके अतिरिक्त अधिकरणादि दोष की भी संभावना है। वह इस तरह कि 'ये फल अतिपक्व हैं' इत्यादि साधुवचन सुन कर गृहस्थ सोचने लगता है कि 'अब इन फलों का उपभोग न होगा तब वे अवश्य नष्ट हो जाएंगे और अन्य ढंग से उनका उपभोग भी अच्छा न होगा। अतएव अभी इन फलों को तोड कर खाना चाहिए। यह निश्चय होते ही वह फलों को तोडना, खाना आदि सावद्य क्रिया में प्रवृत्त होता है, जिसका मूल है साधु का वचन। तब साधु के सिर पर सावद्यप्रवर्त्तनरूप अधिकरण दोष का भार आयेगा। इसके अलावा लाघवादि की भी संभावना रहती है। अतः पक्वादि शब्दों का प्रयोग तीर्थंकरादि से अनुज्ञात नहीं है।

प्रयोज. इति। यदि अन्य साधु भगवंत को मार्ग बताना इत्यादि प्रयोजन हो तब असमर्थ-प्ररूढ आदि वचन का प्रयोग करना चाहिए। मार्ग बताने के लिए फल का ही मुख्यतया प्रतिपादन करना आवश्यक नहीं है, किन्तु तादृशफलवाले वृक्ष का प्रतिपादन करना जरूरी है। जैसे कि 'असमर्थ आम के पेड़ की दक्षिण दिशा में जो मार्ग है उस पर चलना' इत्यादि। 'असमर्थ आम के पेड़'

प्रयोजने पुनः मार्गदेशनादौ **असमर्थ-प्ररूढादिवचनं** वदेत्। तथाहि **असमर्था** एते आम्रा फलान्यतिभारेण न शक्नुवन्ति धारयितुमित्यर्थः। फलपक्वार्थप्रदर्शनमेतदप्राधान्येनेति द्रष्टव्यम्। तथा 'बहुनिर्वर्त्तितफला एते' अनेन पाकखाद्यत्वार्थ उक्तः। तथा 'बहुसम्भूतफला एते' अनेन वेलोचितार्थः प्रदर्शितः। तथा 'भूतरूपा एते' अनेन टालार्थ उक्तः। **न चैवमितो**ऽपि

पुनः। [1]निरुपघात्यनवद्यवचनसूचनार्थं पुनः शब्द उक्तः। **असमर्थप्ररूढादी**ति। आदिपदं प्रत्येकमन्वीयते, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमन्वीयते (   ) इति वचनात्। ततश्चाऽसमर्थादि-प्ररूढादिवचनमित्यर्थः। अस्य च यथाक्रमं फलौषध्योः सम्बन्धः। ततः फलविषयमसमर्थादिवचनं, औषधीविषयं प्ररूढादिवचनं वदेदिति फलितम्। **आम्रा** इति। आम्रग्रहणं प्रधानवृक्षोपलक्षणम्। ननु पक्वासमर्थयोः केवलं शब्दभेद एव न त्वर्थभेदः। ततः शब्दैक्यस्यानुपादेयत्वान्न पक्वपद-प्रयोगे कश्चित् दोषः। दोषश्चेत्? असमर्थप्रयोगेऽपि स समः अर्थैक्यात्, अन्यथा अर्धजरतीयप्रसङ्गादित्याशङ्काया-माह- **फलपक्वार्थप्रदर्शनमेतत् अप्राधान्येनेति**। पक्वशब्देन यथा पाकार्थः फले शब्दतः साक्षात् प्रतीयते तथा असमर्थ-शब्देन न प्रतीयते किन्त्वर्थतः 'पक्वानि फलानी'त्यत्र प्रकारतानाक्रान्तविशेष्यताविशिष्टनिरूपितविशेषणताऽऽख्य-विषयता शब्दतः पाकार्थे प्रतीयते। 'असमर्थ आम्रा' इत्यत्र प्रकारताक्रान्तविशेष्यताविशिष्टनिरूपिता विशेषणताख्य-विषयताऽर्थतः पाकार्थे प्रतीयते। अयं भावः यथा तत्र मुख्यविशेष्यतापन्ने पाकः शब्दातः प्रतिपाद्यते तथा न प्रकृते। आम्रपदस्य आम्रफलजनकवृक्षवाचकत्वेन वृक्षे शब्दप्रतिपादितस्य फलधारणाऽसामर्थ्यस्यानुपपन्नत्वात् वृक्षविशेषण-तापन्ने फले पाकः प्रकृतेऽर्थतः प्रतीयते इति विशेषः ततः शब्दतः प्रतीयमानत्वं नाम विषयनिष्ठं प्राधान्यम् अर्थतः प्रतीयमानत्वं=अप्राधान्यमिति पर्यवसितार्थः।

बहुनिर्वर्त्तितफला इति। प्रायो निष्पन्नफला वृक्षा इत्यर्थः। ***श्रीहरिभद्रसूरय***स्तु - 'बहुनि निर्वर्त्तितानि=अबद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा' इति वदन्ति। पाकखाद्यत्वार्थ इत्यनन्तरमप्रधान्येनेति गम्यम्। एवमग्रेऽपि भावनीयम्। **बहुसम्भूता** इति। बहूनि सम्भूतानि=पाकातियशयतः ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा' इति ***श्रीशीलाङ्काचार्य***प्रभृतयः। ***अगस्त्यसिंहाचार्या***स्तु 'बहुसंभूताणि बहूणि फलाणि ण दुव्वायहयाणि तव्विहा बहुसम्भूता' (द. वै. अ. चू. पृ. १७३) इति प्राहुः। ***चूर्णौ*** तु 'बहुसम्भूया णाम बहुणिप्फन्नफलाणि' (द. वै. जि चू. पृ. २५६) इत्युक्तम्।

भूतरूपा इति। भूतानि रूपाणि अबद्धास्तीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा' इति ***श्रीहरिभद्रसूरि***प्रमुखाः। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'सुणिप्फत्तीए फल-रसादिसंपण्णा भूतरूपा' इत्युक्तम्। 'भूतरूपा णाम फलगुणोववेया' इति

इसका अर्थ यह है कि पक जाने से, फलों का भार बहुत कुछ बढ जाने से ये पेड़ आम्रफलों को धारण करने में अशक्तिमान हैं। इस तरह पक्व फल का यानी फल की पक्वता का गौणरूप से कथन होता है। अर्थात् प्रयोजन उपस्थित होने पर जिन पेड़ के फल पक्व हो गए हैं उन पेड़ का असमर्थशब्द से व्यवहार करना चाहिए। इसी भाँति जिन पेड़ के फल पाकखाद्य (पका कर खाने योग्य) हैं उनको प्रयोजनवश बताना जरूरी हो तब बहुनिर्वर्तितफल शब्द का प्रयोग करना चाहिए। बहुनिर्वर्तितफल का अर्थ है इन पेड़ के फल प्रायः निष्पन्न हैं। वेलोचित के स्थान पर 'ये वृक्ष बहुसंभूत है' ऐसा बोलना चाहिए। जिन पेड़ के फल पक जाने के सबब तत्काल तोडने योग्य हैं वे पेड़ बहुसंभूतफल शब्द से बताये जाते हैं। तथा टाल (जिन फलों में गुठली नहीं पडी है) के स्थान में 'भूतरूप' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। ये फल अतिकोमल अवस्थावाले होते हैं वे भूतशब्द से वाच्य होते हैं। कोमल फलवाले पेड को सूचित करने के लिए 'भूतरूप' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। द्वैधक के स्थान में भी 'भूतरूप' शब्द का प्रयोग श्रीहरिभद्रसूरिजी को अभिमत है। यह तो स्पष्ट ही है कि - 'ये फल पक्व हैं, तोडने योग्य हैं, पका कर खाने योग्य हैं' इत्यादि वचन जैसे सावद्य प्रवृत्ति का निमित्त होता है वैसे 'ये पेड असमर्थ हैं, 'बहुनिर्वर्तितफलवाले हैं, बहुसंभूतफलवाले हैं, भूतरूप हैं' इत्यादि शब्द सावद्य प्रवृत्ति के निमित्त नहीं होते हैं। सावद्य प्रवृत्ति का निमित्त बनने की तो बात दूर रही मगर सामान्य गृहस्थ को तो 'ये साधु भगवंत इन साधु भगवंतों को क्या कहते हैं?' यह भी समझ में नहीं आता है। इस तरह सावद्यप्रवर्त्तन आदि दोष में

---

१ दृश्यतां द.वै.अ.चू.पृ.१७३।

प्रागुक्तार्थप्रतीतिपूर्वकप्रवृत्तौ अधिकरणादिदोषप्रसङ्ग इति **वाच्यम्**, 'साक्षादधिकरणदोषप्रवृत्तिजनकवचनस्यैव निषिद्धत्वात्।

चूर्णिकारः। तदुक्तम् 'असंथडा इमे अंबा बहुनिव्वडिमा फला। वइज्ज बहुसंभूआ भूअरूवत्ति वा पुणो।। (द. वै. ७/३३) मकारस्त्वलाक्षणिकः।

ननु द्वैधिकार्थो न केनापि शब्देनोक्तः। तथा च न्यूनता स्यात्, **मैवम्**, टालशब्दस्योपलक्षणत्वात् द्वैधिकार्थोऽनेनोपलक्षितः। तदुक्तं ***श्रीहरिभद्रसूरिप्रभृतिभिः*** 'अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षितः' (द. वै. ७/३३ हा. वृ./आचा.२/४/२-१३८सू.वृ.)। 'टालद्वैधिकयोः परस्परं सम्बन्धित्वमिति **केचित्**।

व्युत्पन्नश्रोतुः असमर्थादिसाधुवचनं श्रुत्वाऽर्थतः पक्वाद्यर्थप्रतीतिः जायत एव। तादृशप्रतीतेश्च फलच्छेदनादिप्रवृत्तौ सत्यामधिकरणादिदोषोपनिपातश्च तदवस्थ एवेति घट्टकुट्यां प्रभातमित्याशयं निराकर्तुमुपक्रमते- **न चैव**मिति। **इतोऽपि** = असमर्थादिवचनतोऽपि, **प्रागुक्तार्थप्रतीतिपूर्वकप्रवृत्तौ** = पक्वाद्यर्थावबोधप्रयोज्यप्रवृत्तौ सत्यां, **अधिकरणादिदोषप्रसङ्गः**, सावद्यप्रवर्त्तनादिना हेतुनेति गम्यम्।

तन्निराकरोति- **साक्षादिति**। प्रकृते साक्षात्त्वं चानुक्तपदार्थाप्रतियोगिकत्वे सति उद्दिष्टपदार्थप्रतियोगिकत्वम्। **अधिकरणदोषप्रवृत्तिजनकवचनस्यैवेति**। स्वजनकत्वसम्बन्धेन सावद्यप्रर्वत्तनात्मकाधिकरणाख्यदोषविशिष्टाया प्रवृत्तेः जनकं यद् वचनं तस्यैव। एवकारेण परम्परयाऽधिकरणदोषोपेतप्रवृत्तिजनकवचनस्य व्यवच्छेदः कृतः। **निषिद्धत्वात्** =

साधु जिम्मेदार नहीं बनते हैं और अपने प्रयोजन की भी सिद्ध होती है। साँप न मरे और लाठी भी न टूटे-ऐसा अनुपम मार्ग साधु भगवंत के लिए तीर्थंकर-गणधरादि भगवंतों से प्रदर्शित किया गया है। फल के सम्बन्ध में वक्तव्य और अवक्तव्य वचनों का संक्षेप में बयान निम्नोक्त रीति से हो सकता है। गौर से देखिये,

फलसम्बन्धी वाणीविभाग

	अवक्तव्य		**प्रयोजनवश वक्तव्य**
१	फल पक्व हैं।	-	पेड फल का भार ढोने में असमर्थ हैं।
२	फल पाकखाद्य हैं।	-	पेड बहुनिर्वर्त्तित फलवाले हैं।
३	फल वेलोचित हैं।	-	पेड़ बहुसंभूत फलवाले हैं।
४	फल टाल हैं।	-	पेड़ भूतरूप (कोमलफलवाले) हैं।
५	फल द्वैधक हैं।	-	पेड़ भूतरूप हैं।

शंका :- ***न चैव.*** इति। यह बात ठीक है कि सामान्य श्रोता, जो अपने दिमाग का अच्छी तरह उपयोग नहीं करता है, असमर्थ आदि शब्द सुन कर फल तोड़ना इत्यादि सावद्य कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता है, मगर जो श्रोता अक्ल का पुतला है उसे तो मालुम हो ही जायेगा कि 'पेड के फल पक्व होने के सबब ही पेड़ उनके भार को ढोने में समर्थ नहीं हैं। अतः इन फलों को तोड कर खाना चाहिए, अन्यथा वे नष्ट हो जाएंगे। यह निश्चय होते ही वह सावद्य प्रवृत्ति करे तब तो सावद्यप्रवर्त्तनरूप अधिकरण दोष से साधु भगवंत को तो कर्मबंध होगा ही। जिस दोष को छोडने के उद्देश से पक्व आदि के स्थान में असमर्थ आदि शब्द का प्रयोग किया फिर भी अधिकरणादि दोष से अपने को साधु भगवंत नहीं बचा सकेंगे। स्वर्ग में जाने पर भी गधे को कुम्हार मिल ही गया।

* साक्षात् अधिकरणदोषावह वचन ही निषिद्ध है *

समाधान :- ***साक्षाद.*** इति। आपकी दहशत ख्याल में आते ही हम समझ गए हैं कि आप गुमराह हैं, शास्त्र के तात्पर्य से अनजान हैं। शास्त्र में जो वचन बोलने के लिए निषिद्ध हैं वे वचन साक्षात् अधिकरणदोषयुक्त प्रवृत्ति के जनक वचनस्वरूप ही है। अधिकरणादिदोषसंपन्न प्रवृत्ति का परंपरा से प्रयोजक वचन बोलने का शास्त्र में निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि वैसा कोई वचन

---

१ 'णत्यादिप्र.' इति मुद्रितप्रतौ पाठः।

निषेधविषयत्वात्। ततः प्रकृते किमायातमित्याशङ्कायामाह- **प्रकृते त्विति। शुद्धाशयेन** = अधिकरणादिदोष-निरासानुकूलशास्त्रोक्तशब्दप्रयोगप्रतिसन्धानरूपयतनापरिणामेन, **कारणतः** = मार्गदेशनादिप्रयोजनमवलम्ब्य, **कथञ्चित्परकीयकुप्रवृत्त्या** = पौनःपुन्येन विशेषविमर्शेण औत्पत्त्यादिबुद्धिपाटवस्वार्थबाहुल्यादिना वा गृहस्थादेः सावद्यप्रवृत्त्या दोषाभावात्=परकीयमतिपाटवादिना परकीयकुप्रवृत्तिं प्रति साधुवचनस्योपक्षयात् न दोषः। **न चैवं** पक्वादिवचनेऽपि तथात्वं स्यादिति **वाच्यम्**, तत्रानायुक्तपरिणामस्य कर्मबन्धहेतोः सद्भावेन न परकीयबुद्ध्यादिना तदुपक्षयः।

विपक्षे बाधमाह **अन्यथेति**। विधिविशुद्धपरिणामेन सति प्रयोजने शास्त्रोक्तदिशा भाषणादिप्रवृत्तेः दुष्टत्वाभ्युपगमे इत्यर्थः। **अतिप्रसङ्गादिति** प्रस्तुतविषयादन्यत्रानिष्टप्रसञ्जनात्। स्थापनासत्य-व्यवहारसत्यादेरपि दुष्टत्वप्रसङ्गात् यथोक्तार्थबाधात्। यद्वा सदालयाद्यागमोक्तलिङ्गेन भावयतित्वमनुमाय द्रव्यलिङ्गिनि यतिपदप्रयोगस्यापि सदोषत्वो-पनिपातः स्यात् यथाविकल्पितार्थायोगात्। **न च** तत्र विधिविशुद्धाशयसत्त्वान्न दोषः, अन्यथा व्यवहाराभावपत्तेरिति **वाच्यम्** प्रकृतेऽपि समसमाधानत्वात्। न केवलं दोषाभावः किन्तु साधोः साध्वन्तरं प्रति मार्गदर्शनादिना परोपकारादि-गुणवृद्धिभावात्, असङ्क्लेशपरिणामात्, अशठभावाच्च महानिर्जरैव।

नहीं है, जो परंपरा से किसी भी सावद्य प्रवृत्ति का निमित्त न हो। खुद तीर्थंकर परमात्मा की धर्मदेशना भी ३६३ पाखंडी के भवभ्रमण की हेतु बनती है। वर्त्तमान में भी ऐसे लोग दीखने में आते हैं जो कि बड़े आचार्य भगवंत व्याख्यान में जितनी कहानी सुनाते हैं वह नंबर वर्ली-मटके में लगाते हैं। अब आप ही बोलिए, 'कौन सा वचन या कौन सी प्रवृत्ति ऐसी है जो परंपरा से भी किसी खराब प्रवृत्ति का निमित्त न हो? यदि परंपरा से भी सावद्य प्रवृत्ति का जनक वचन निषिद्ध हो तब तो दीक्षा के बाद जीवनपर्यन्त मौन का ही पालन करना होगा, जिसमें अनेक दोष हैं, जो इस प्रकरण के उपोद्घात में विवरणकार ने बताए हैं।

❋ विधिविशुद्ध परिणाम से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार कहा गया वचन नितांत निर्दोष ❋

प्रकृते. इति। अब प्रस्तुत विषय के उपर हम पाठकों को ले चलते हैं। प्रस्तुत में फल और औषधी के विषय में पक्व आदि शब्दों का प्रयोग इसलिए निषिद्ध है कि वे साक्षात् सावद्यप्रवृत्तिजनक होते हैं। यदि मार्गप्रदर्शन आदि प्रयोजन उपस्थित होने पर अधिकरणादि दोषों से बचने के आशय से शास्त्रप्रतिपादित असमर्थ आदि शब्दों का प्रयोग साधु महाराज करे तो वे दोष के भागी नहीं होते हैं। मगर उस वचन को सुन कर अपनी बुद्धि या प्रतिभा के बल पर पक्वादि अर्थ को जान कर गृहस्थ फल तोडना आदि सावद्य प्रवृत्ति करे तब भी मुनिराज सावद्यप्रवर्त्तन आदि दोष के भागी नहीं होते हैं, क्योंकि उस कुप्रवृत्ति में मुनि का वचन कारण नहीं है किन्तु उसके प्रति श्रोता की विशिष्ट प्रतिभा आदि निमित्त होते हैं। मुनि भगवंत तो अधिकरणादि दोषों के वर्जन के अभिप्राय से संपन्न हैं और शास्त्र से प्रतिपादित विधि के अनुसार प्रयोजनवश बोलने की प्रवृत्ति करते हैं। हाँ, यदि पहले से यह ख्याल में आ जाए कि 'फल की पक्वता आदि को जान कर यह फलत्रोटन आदि आरंभ करेगा ऐसा संभव है तब उस के सामने प्रत्यक्ष में तादृश वचन का प्रयोग न करना चाहिए। या अति आवश्यकता हो तो जल्दी से मन्द शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, जो उस गृहस्थ के सुनने में न आये। मगर वैसा ख्याल में न आवे या वह गृहस्थ छूप कर साधु भगवंत की बात को सुन ले और फल खाने की प्रवृत्ति आदि करे तब भी मुनिराज दोष से मुक्त रहते हैं, क्योंकि वे विशुद्ध आशय से शास्त्रोक्त विधि के अनुसार असमर्थ आदि शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। यदि ऐसा न माना जाय अर्थात् 'निर्ग्रंथ प्रयोजनवश विशुद्ध परिणाम से उस शास्त्रोक्त वचन का प्रयोग करे, जिसके पूर्व में भावी में होनेवाले दोषों से वह निर्ग्रंथ बेखबर है और गृहस्थ उस वचन को सुन कर अपनी बुद्धि के बल से अर्थ को पहचान कर सावद्य प्रवृत्ति करे तब मुनिराज के सिर पर अधिकरणादि दोष की जिम्मेदारी अवश्य आती है' - ऐसा माना जाय तब तो अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आने लगेगी। जैसे कि साधु भगवंत किसीसे करुणार्द्र हृदय से धर्मोपदेश देते हैं तब कोई श्रोता मुनिराज व्याख्यान के मंगलाचरण में जितने श्लोक बोलते हैं उनकी संख्या के अनुसार धंधा का सोदा करता है, एक ही शब्द मुनिराज जितनी बार बोलते है उस संख्या में जुआ खेलता है, उस नंबरवाली लोटरी लगाता है। अब आपके अभिप्राय के अनुसार तो सावद्य व्यापार में परंपरा से भी साधुमहाराज का वचन निमित्त बनने से साधु भगवंत को कर्मबंध होने की अनिष्ट आपत्ति

प्रकृते तु शुद्धाशयेन कारणतो भाषणे कथञ्चित्परकीयकुप्रवृत्त्या दोषाभावात् अन्यथातिप्रसङ्गादिति **दिक्।**

औषधीनिर्देशेऽप्येवं वदेत् यथा-**प्ररूढा** एते, **बहुसंभूता** वा, निष्पन्नप्राया इत्यर्थः। **स्थिरा** वा निष्पन्ना इत्यर्थः। **उत्सृता** वा उपघातेभ्यो निर्गता इत्यर्थः। **गर्भिता** वा अनिर्गतशीर्षका इत्यर्थः। **प्रसूता** वा निर्गतशीर्षका इत्यर्थः। **ससारा** वा

एतेन भगवतो देशना सावद्या भवाभिनन्दिजीवानां संसारवर्धकत्वात्, श्रीमतो **महावीरस्य** अनार्यदेशविहारो न युक्तः अनार्यजीवानामकुशलकर्मबन्धनिमित्तत्वात्, **शिवभूतेः** रत्नकंबलदारणं गुरोः संसारवृद्धिनिमित्तं आशाम्बर-मतोत्थाननिमित्तत्वात्, **गजसुकुमालस्य** स्मशानगमनानुज्ञाऽनुचिता सोमिलभवभ्रमणनिमित्तत्वात्, अधुनातनं **सर्वमुनि-संमेलनं** नानुमोदनीयं सङ्घसङ्घर्षनिमित्तीभूतत्वादित्यादयः प्रलापाः **परास्ताः** भावोपकार-कर्मनिर्जरा-मूर्च्छास्फेटन-केवलज्ञानलाभ-नानामतविभिन्नप्रवृत्तिसंघाशांत्यादिनिराकरणोद्देशरूपविशुद्धाशयप्रयुक्तत्वात्, भवाभिनन्दिसंसारवृद्ध्या-देस्तु चिकित्सादौ पीडादेरिव यद्वा न्यायपालनादौ चौरशिक्षादेरिवाऽवर्जनीयसंनिधिरूपत्वात्, अतर्कितोपनीतयोः कुमतोत्थानसङ्घसङ्घर्षयोः पूर्वमनुपस्थितत्वात्, परकीयाभिनिवेशादिना तदुपक्षयाच्चेत्यादि समाकलितानेकान्तवाद-रहस्यैर्विमुक्ताभिनिवेशैः सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

प्ररूढा इति। [१]प्रादुर्भूता इत्यर्थः। ***दशवैकालिकादौ*** प्रकृते रूढा इति पाठ उपलभ्यते। तदुक्तं रूढा बहुसंभूआ थिरा ओसढावि अ। गब्भिआओ पसूआओ ससराउ त्ति आलवे।। (द.वै.७/३५)। क्वचिच्च **विरूढा** इत्यपि दृश्यते। तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ***- 'विरूढा=अङ्कुरिता'। ***चूर्णौ*** च 'विरूढा णाम जाता' इत्युक्तम्। **बहुसम्भूता**इत्यादि। प्रकृते ***प्राचीन-तमचूर्णौ*** तु '**बहुसम्भूता**=सुफलिता'। जोग्गादिउवघातातीताओ=**थिरा**, सुसंवड्ढिता=**उस्सडा**, अणिव्विसूणाओ=**गब्भि-णाओ**, णिव्विसूताओ=**पसूताओ**, सव्वोवघातविरहिताओ सुणिप्फण्णाओ=**ससाराओ**' (द.वै.अ.चू.पृ.१७३) इत्येवं पाठः। ***चूर्णौ*** च '**बहुसंभूया** णाम निष्पन्ना, **थिरा** णाम निब्भयीभूया, **उवगया** यत्ति उस्सिया भण्णंति, गब्भिया णाम जासिं ण ताव सीसयं निप्फिडइत्ति, निप्फाडिएसु **पसूताओ** भण्णंति **संसारातो** णाम सह सारेण संसारातो सतंदुलाओत्ति वुत्तं भवइ (द.वै.जि.ची.पृ.२५७) इत्येवं व्याख्यातम्। तथाविधप्रसिद्धव्यवहाराश्रितास्त्रयोऽपि सदादेशा इति ध्येयम्।

आएगी। मगर ऐसा नहीं होता है। अतः यही मानना होगा की निषेध का विषय साक्षात् दोषजनक वचन ही है, परंपरा से दोषापादक वचन नहीं। इस विषय में अधिक विचार किया जा सकता है - इस बात की सूचना देने के लिए विवरणकार ने दिग्शब्द का प्रयोग किया है। जिज्ञासु पाठक अधिक विचारविमर्श के लिए यहाँ मोक्षरत्ना देख सकते हैं।

* औषधीविषयक वक्तव्य वचन *

औषधी. इति। फल की भाँति औषधी के विषय में पक्वादि शब्द का प्रयोग अकर्तव्य है। आवश्यकता होने पर प्ररूढ आदि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। वह इस तरह - 'ये चावलादि प्ररूढ है' अर्थात् ये औषधी निष्पन्न हो गई है, तैयार हो चूकी है। इससे पक्वार्थ का गौणरूप से कथन होता है। तथा 'ये बहुसंभूत है'। बहुसंभूत का अर्थ है निष्पन्नप्रायः। तथा 'ये स्थिर है' अर्थात् 'ये निष्पन्न है' तथा 'ये उत्सृत है' अर्थात् 'ये उपघात से मुक्त है'। जब चावल आदि के छोड स्तम्भ के रूप में आगे बढता है तब उसे 'उत्सृत' कहते हैं, क्योंकि तब वे पक्षी आदि के चंचुपात आदि से नष्ट या म्लान नहीं होते हैं। जब आरोह पूर्ण हो जाता है, चावल आदि तैयार हो जाते हैं मगर उनका भुट्टा निकलता नहीं है वह अवस्था 'गर्भित' शब्द से यहाँ अभिप्रेत है। भुट्टा निकलने पर उनमें 'प्रसूत' शब्द का व्यवहार करना चाहिए। चावल आदि दाने पड जाने पर उन्हें 'संसार' कहते हैं। प्ररूढ आदि शब्दों के अर्थ के बारे में दोनों चूर्णिकार, टीकाकार आदि में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। आशय यह है कि पक्वादि शब्दों को प्रयोग होने पर श्रोता जैसे औषधीत्रोटन आदि में प्रवृत्त होता है वैसे प्ररूढ आदि शब्दों को सुन कर आरंभ में प्रवृत्त नहीं होता है, क्योंकि पक्वादि शब्द से पक्वता का कथन मुख्यतया = साक्षात् होता है और प्ररूढ आदि शब्द से गौणरूप से पक्वता का निरूपण होता है। इस तरह 'प्रयोजन उपस्थित होने पर पक्वादि शब्द के स्थान में प्ररूढ आदि शब्द का प्रयोग कर्तव्य है' - यह आगमोक्त विधि

१ दृश्यतां द.वै.७/३४ हा.टी.।

सञ्जाततन्दुलादिसारा इत्यर्थः। इत्येवमादिविधिः। पक्वाद्यर्थयोजना-तदाक्षेपपरिहारास्तु प्राग्वत्।।९१।। किञ्च

[1]संखडी-तेण-नइओ, संखडीपणियट्ठसुबहुसमतित्था।
भासेज्जा पओयणओ, ण कज्ज-हंतव्व-सुहतित्था।।९२।।

सङ्खड्यन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा **सङ्खडी** = पितृदेवताद्यर्थभोजनक्रिया, तां प्रयोजने साधुकथनादौ

पक्वाद्यर्थयोजनेति। प्ररूढबहुसम्भूतपदाभ्यां पक्वार्थ उक्तः, स्थिरशब्देन नीलार्थः प्रोक्तः, उत्सृतपदेन भर्जन-योग्यार्थः प्रतिपादितः, गर्भितवचनेन छविपृथुकखाद्यार्थौ निरूपितौ। प्रसूतससाराभिधानाभ्यां लवनयोग्यार्थः प्रदर्शितः। **तदाक्षेपपरिहारास्तु प्राग्वदिति**। अधिकरणादिदोषतादवस्थ्याक्षेपाः साक्षादधिकरणदोषापादकप्रवृत्तिजनकवचननिषेध-विधिविशुद्धाशयप्रयुक्तसप्रयोजनभाषणादिपरिहाराः फलविषयकप्रदर्शितवाग्विधिवत्, अवगन्तव्या इति शेषः। सुज्ञेय-त्वान्नेह प्रदर्श्यन्ते।। ९१।।

सङ्खड्यन्ते=ताड्यन्ते विराध्यन्ते, **प्राणिनां** वनस्पत्यादिरूपाणामायूंषि यत्र श्राद्धादिप्रकरणक्रियायां सा सङ्खडी पुरःपश्चादादिभेदभिन्ना। **साधुकथनादाविति**। निवारणाद्यभिप्रायेण साधुकथनादावित्यर्थः, उत्सर्गत आत्मसंयमविरा-धनादिदोषात् सङ्खडीगमनस्य निषिद्धत्वात्। तदुक्तं ***निशीथे*** 'दुविहाऽवाता उ विहे, वुत्ता ते होज्ज संखडीए तु। तत्थ दिया वि न कप्पति किमु राती एस संबंधो।। (नि.९९१)

न तु पित्राद्यर्थमिति। तदुक्तं ***चूर्णा*** 'ण एवं वत्तव्वं जहा किच्चमेयं जं पितीण देवताण य अट्ठाए दिज्जइ,

है। पक्वादि अर्थ की योजना अर्थात् प्ररूढ आदि में से किस शब्द से पक्व आदि में से किस अर्थ का गौणरूप से बोध होता है? या पक्व आदि में से किस स्थान में प्ररूढ आदि में से किस शब्द का प्रयोग प्रयोजनवश करना? यह निम्नोक्त कोष्टक से सुज्ञ वाचक अच्छी तरह समझ सकेंगे।

❋ औषधि में पक्वादि अर्थ योजना ❋

	अवाच्य	**प्रयोजनवश वाच्य**
१	पक्व	प्ररूढ या बहुसंभूत
२	नील	स्थिर
३	भर्जनयोग्य	उत्सृत
४	छविमती या पृथुकखाद्य	गर्भित
५	लवनयोग्य	प्रसूत या संसार

तथा वनस्पति के फलविषयक वचनविधि में जो (परंपरा से भी सावद्य प्रवर्त्तक होने से अधिकरण आदि दोष तादवस्थ्य आदि की शंका =) आक्षेप और परिहार (= साक्षात् दोषजनक वचन ही निषेध का विषय है, परंपरा से दोषापह वचन नहीं इत्यादि समाधान) बताए गए हैं वे आक्षेप और परिहार औषधी के विषय में भी समानरूप से लागू पडते हैं। इसलिए फिर से यहाँ उन्हें न दोहराते हुए विवरणकार उनका अतिदेश करते हैं अर्थात् फलविषयक वचनविधि में प्रदर्शित शंका और समाधान का यहाँ औषधीविषयक वचनविधि में वैसे ही अनुसन्धान करना चाहिए। सिर्फ फल की जगह 'औषधी' शब्द को अभिषिक्त कर के ही सुज्ञ पाठक वे शंका-समाधान स्वयं समझ सकते हैं। इसलिए हम भी विवरणकार के मार्ग का अनुसरण कर के यहाँ उन शंका-समाधान का पुनः उल्लेख करना नामुनासिब समझते हैं। महाजनों येन गतः स पन्थाः।।९१।।

फल-औषधीविषयक वचनविधि को बता कर अब प्रकरणकार ९२ वीं गाथा से संखडीआदिविषयक भाषणविधि को बता रहे हैं।

गाथार्थ :- संखडी, चोर और नदी के विषय में, प्रयोजन उपस्थित होने पर, यथाक्रम संखडी, पणितार्थ और सुबहुसमतीर्थ शब्द प्रयोक्तव्य हैं मगर कर्तव्य, हंतव्य और सुतीर्थ शब्द अवाच्य हैं।।९२।।

१ संखडी-स्तेन-नदीः संखडी-प्रणीतार्थ-सुबहुसमतीर्थाः। भाषेत प्रयोजनतो न कार्या हन्तव्या सुखतीर्था।।९२।।

सङ्कीर्णादौ 'सङ्खडी' इत्येव वदेत् न तु 'पित्राद्यर्थं कार्या इयं क्रिया' इति वदेत् मिथ्यात्वोपबृंहणदोषप्रसङ्गात्।

तद्भावेना-प्रयोगेऽपि तदुपबृंहकत्वेन तत्प्रयोगे निषिद्धाचरणात्।

करणिज्जमेयं जं पियकारियं देवकारियं वा किज्जइ एवमादि' (द.वै.जि.चू.पृ.२५७) **मिथ्यात्वोपबृंहणदोष** इति। एतच्चोपलक्षणमाज्ञाभङ्गविराधनादेः।

ननु यत्र न मिथ्यात्वोपबृंहणाभिप्रायेणापि तु साधुनिवारणाद्यभिप्रायेणैव 'पित्रादिनिमित्तकर्तव्या तत्र वर्ततेऽतो न तत्र गन्तव्यम्' इत्युच्यते तत्र को नाम दोषः येन तत्प्रयोगो निषिध्यते? इत्याशङ्कायामाह **तद्भावेनाऽप्रयोगेऽपि**=मिथ्यात्वोपबृंहणाशयप्रयोज्यवाक्प्रयोगाभावेऽपि, तादृगभिप्रायप्रयुक्तत्वे वचनप्रयोगस्य तु सुतरां मिथ्यात्वोपबृंहकत्वेन निषिद्धत्वमित्यपिना ध्वन्यते। **तत्प्रयोगे निषिद्धाचरणादिति** कृत्यादिप्रयोगरूपस्याऽऽचरणस्य निषिद्धत्वादित्यर्थः, यद्वा भावप्रधाननिर्देशात् सङ्खडीविषयककृत्यादिप्रयोगे निषिद्धत्वस्य आचरणात्=व्यवहारात्, वृद्धैरिति शेषः।

अयं भावः यतिमधिकृत्य हेतु-स्वरूपानुबन्धशुद्धिप्रतिपूर्णव्यवहारस्यैवौत्सर्गिकविधायकवचनविषयत्वमनुमतम्। यत्र चोद्देशस्य सुन्दरत्वेऽपि अनुबन्धतोऽशुद्धत्वं न तत्र विधेयत्वम्, यथाऽऽजीविकमताभिमतहिंसादौ। इत्थमेव परतीर्थिकपरिगृहीत-जिनप्रतिभावंदनादेर्निषिद्धत्वं तत्र तत्रोक्तमुपपद्यते। प्रकृते चानुबन्धतोऽशुद्धत्वेन सङ्खडी-विषयककृत्यादिवचनस्य निषेधविषयत्वमेव। **एतेन** मिथ्यात्वपोषणाशयस्यैव निषिद्धत्वमस्तु न तु तादृग्वचनस्य, तस्य सदाशयपूर्वकत्वादिति **प्रत्युक्तं**, स्वमतिविरचितशुद्धेरप्रामाणिकत्वाच्च। तदुक्तं **पञ्चवस्तुके** 'जो पुण अविसयगामी, मोहा सविअप्पनिम्मिओ सुद्धो। उवले व कंचणगओ सो तम्मि असुद्धओ भणिओ।। (पंचव.६०६) यत्र तु गीतार्थानां सूपयुक्तत्वेऽपि प्रवृत्तिपूर्वं दोषो न प्रतिसन्धीयतेऽपि तु महागुणलाभ एव, तथाविधप्रवृत्त्यनन्तरं चाकस्मिको दोषोपनिपातः सञ्जायते तत्र ते दोषभाजो न भवन्ति। इत्थमेव "परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरियसाराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं।। (ओ.नि.७६१) इति **ओघनिर्युक्तिवचनमपि** सङ्गच्छते, अन्यथातिप्रसङ्गादिति दिव्यदृशा निभालनीयोऽयमागमपन्थाः।

✱ संखडी-स्तेनादि विषयक वचनविधि ✱

विवरणार्थ :- जिस समूहभोज या प्रकरण में अनेक जीवों का वध होता हैं, खंडन होता हैं उसे संखडी कहते हैं। लोक में पिता आदि के मरण के बाद दर साल जो श्राद्ध होता है या देवता आदि को खुश करने के लिए बलिदान आदि प्रसंग में जो समूहभोज होता है उसमें अनेक जीवों का संखंडन = व्यापादन होने से उस समूह भोज आदि को संखडी कहते हैं। जब साधु भगवंत गोचरी आदि के लिए बाहर जा रहे हो तब वे संखडीवाले गृह के मार्ग की दिशा में, जो समूहभोज होने के सबब आदमिओं से व्याप्त = संकीर्ण हैं, गोचरी आदि के लिए न जाए इसलिए ऐसा कथन करना चाहिए कि - 'आज वहाँ संखडी हैं। अतः वहाँ मत जाईएगा'। मगर 'पिता, देवता आदि के प्रीतिसंपादनार्थ कर्तव्य मृतभोजन आदि होने से आज वहाँ मत जाना' 'प्रीतिसंपादनार्थ यह कर्तव्य है'। - इत्यादि कथन मुनिराज नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इस कथन के श्रवण के सबब श्रोता को मृतभोजन आदि में कर्तव्यता की बुद्धि की उत्पत्ति-स्थिरता-वृद्धि आदि होने से मिथ्यात्व का पोषण होता है। जिस कथन से उन्मार्ग का समर्थन हो वह कथन त्याज्य है। अतः मुनिराज के लिए संखडी में कर्तव्यता का प्रतिपादक वचन बोलना निषिद्ध है।

शंका :- साधु भगवंत अत्यंत निर्मल समकितवाले होने के सबब कभी भी मिथ्यात्व की वृद्धि-पुष्टि के आशय से तादृश वचन प्रयोग करे - यह तो कथमपि संभव नहीं हैं। लोक जिसे कर्तव्य समझते हैं उसे उस दृष्टि से कर्तव्य कहने में साधु भगवंत मिथ्यात्व का समर्थन करने के जिम्मेदार नहीं होते हैं, क्योंकि मुनिराज का आशय तो शुद्ध है। अतः मुनिराज के लिए तादृश वचन का निषेध करना नामुनासिब है। भाव के अनुसार कर्मबंध होता हैं, द्रव्य के अनुसार नहीं। तंदुलिया मत्स्य का उदाहरण मालुम है न?

✱ व्यवहारशुद्धि के बिना सिर्फ आशयशुद्धि से दोषमुक्ति नहीं है ✱

समाधान :- ***तद्भावेन,*** इति। आपको यह किसने सिखा दिया कि - सिर्फ भाव के अनुसार ही कर्मबंध होता है, द्रव्य के

तथा स्तेनमपि वधस्थानं नीयमानं शैक्षकादिकर्मविपाकदर्शनादौ प्रयोजने '**पणितार्थ** वदेत् प्राणद्यूतप्रयोजनमित्यर्थः, न तु 'वध्योऽयं' इति वदेत्, तदनुमतत्वेन बह्वपराधतया हन्तॄणां हनननिश्चयप्रसङ्गात्।

शैक्षकादिकर्मविपाकदर्शनादाविति। प्रथमादिपदेनोत्प्रव्रजनकामादीनां ग्रहणम्, द्वितीयादिपदेन च स्थिरीकरणादेः परिग्रहः। साङ्केतिकं वक्तव्यं पदमाह **पणितार्थमिति**। पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थ इति ***श्रीहरिभद्रसूरि***व्याख्यानम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'पणीयो-परभवं जस्स जीवियत्थो सो पणीतत्थो' (द.वै.अ.चू.१७४) इत्युक्तम्। **तदनुमतत्वेन** = वाचंयमाभिमतत्वेन, **हनननिश्चयप्रसङ्गादिति**। एतच्चोपलक्षणं चौराप्रीतितद्वधानुमत्यादेः। तदुक्तं ***चूर्णौ***- 'तस्स एवं भणितस्स अप्पत्तियं होज्जा, निस्सासी भवेज्जा वा जाव एतेसिं चोरग्गाहाणं एवं चिन्तायां भवेज्जा जहा एस साहुणा वज्झो भणिओ, अवस्सं पत्तावराहोत्ति काऊण मारिज्ज' (द.वै.जि.चू.पृ.२५७) मार्गपरिहारादौ प्रयोजनेऽपि पणितार्थ-प्रयोगः कार्यः यथा 'एतेन पथा पणितार्थो नीयते, ततो जनाकीर्णत्वेन तेन पथा न गन्तव्यम्' इत्येवमादिः।

अनुसार नहीं? क्या आपको यह मालुम नहीं है कि संमूर्च्छिम मत्स्य मन=भाव न होने पर भी मरने के बाद द्रव्य मत्स्यहिंसा के सबब नरक में जा सकता है? सिर्फ भाव शुद्ध रखो, द्रव्य अशुद्ध-मलीन-सावद्य होगा तो भी कोई दोष नहीं है - ऐसा सर्वज्ञशासन में मान्य नहीं है। मुनिराज चाहे मिथ्यात्व की वृद्धि के आशय के बिना 'श्राद्ध आदि मृतभोजन कर्तव्य है?' ऐसा प्रयोग करे, मगर लोग को तो यह मालुम नहीं है कि 'मुनिराज किस अभिप्राय से बोलते हैं?' लोग तो शब्द के अनुसार जरूर यही समझेंगे कि - मुनिराज को भी मृतभोजन आदि में कर्तव्यता अभिमत है। अतः अवश्य ये करने चाहिए बाद में मुनिराज लोगों को अपना शुद्धाशय बताने के लिए क्या घर घर पर जाएँगे? अब पछतावे होत क्या? जब चिड़ियाँ चूग गई खेत! व्यवहारतः तादृश वचन प्रयोग मिथ्यात्व एवं उन्मार्ग का समर्थक होने के कारण वृद्ध पुरुषों से निषिद्ध है - यह मुनासिब ही है।

✵ अप्रीतिकर वचन प्रयोक्तव्य नहीं है ✵

तथा स्ते. इति। तथा चोर जब राजपुरुष आदि से पकडा जाए और फाँसी के मंच पर जा रहा हो तब नूतन दीक्षित आदि से कर्मविपाक बताने के लिए और संयम में स्थिरता के लिए, मंद ध्वनि से यह कहना चाहिए कि 'देखो, पाप कर्म का इस लोक में ही बूरा अंजाम, न मालुम परलोक में इसकी क्या हालत होगी? इस पणितार्थ को देखो।' ऐसा करुणा की बुद्धि से कथन करना चाहिए। चोर लोग धन के अर्थी होने के सबब अपने प्राणों की, जीवन की भी बाजी लगा देते हैं - यह पणितार्थ शब्द का अर्थ है। इस सांकेतिक शब्द के प्रयोग से नूतन दीक्षित को बूरे कर्मविपाक का ज्ञान होने से ज्वलंत वैराग्य और अनूठा संवेग प्राप्त होता है।

न तु वध्यो. इति। मगर फाँसी के मंच पर लिये जाते चोर को देख कर 'यह वध्य हैं - मारने योग्य है' ऐसा कथन नहीं करना चाहिए क्योंकि मुनिराज के मुँह से उस वचन को सुन कर राजपुरुषों को मन ही मन यह निश्चय हो जाता है कि - 'जरूर इसने बहुत बड़े अपराध किये हैं, इसी सबब तो संसार के त्यागी मुनिराज भी इसको मारने योग्य बताते हैं। अतः जरूर इसे मार डालना ही चाहिए'। बेचारा निराधार चोर मुनिराज के वचन से मारा जाए तो क्या मुनिराज पर इसका दोष न आएगा? संभव है कि राजपुरुषों की तरह चोर भी साधु महाराज का वचन सुन ले और उसे साधु भगवंत से द्वेष-अप्रीति आदि हो जाए। फिर तो जैसे जिनदास श्रेष्ठी को उपकार एवं प्रेम के सबब बचाने के लिए स्वर्ग में से चोरदेव आया था वैसे अपशब्दों से उत्पन्न द्वेष के सबब चोर (यदि वह व्यंतर आदि देवगति में गया हो तो) देव मुनिराज को मारने के लिए भी यहाँ आ सकता है। तब कैसी हालत होगी मुनिराज की? अतः वध्य आदि शब्द का प्रयोग करना मुनिराज के लिए निषिद्ध है।

✵ जरूरत हो तब शास्त्रीय सांकेतिक शब्द का प्रयोग कर्तव्य है ✵

तथा साधु इति। तथा मुनिराज जब नदी पार करने के या नदी के पास में स्थंडिल आदि कार्य की समाप्ति के बाद वापस लौटते हो उस वक्त सामने से आते हुए साधु भगवंत उसे प्रश्न करे कि 'नदी कैसी है?' अर्थात् साधु भगवंत के प्रश्न का तात्पर्य यह है कि 'हमें नदी के दूसरे तट पर जाना है। यदि पानी कम हो या नदी में अवतरण का स्थान (=तीर्थ) अच्छी हालत में हो

१ 'तेणकमवि अणुकम्पापुव्वं सेहातिथिरीकरणत्थं' एवं पावकम्मिणं विपाक इह, परत्थ य अयोगगुणत्ति' सणियमुवदिसेज्जा' इति अगस्त्यसिंहकृतप्राचीनतमचूर्णौ १७४ तमे पृष्ठे।

तथा साधुकथनादिविषये नद्यः '**सुबहुसमतीर्था**' इति वदेत्, न तु 'सुतीर्थाः' उपलक्षणात् 'कुतीर्थाः' इति[1] वा वदेत्, अधिकरण-विघातादिदोषप्रसङ्गात्।।९२।। किञ्च।

[2]पुन्ना उ कायतिज्जा, नईउ णावाहि तारिमाओत्ति। ण वए अ पाणिपिज्जा, वए पुणो सुद्धवयणेणं।।९३।।

'**नद्यः पूर्णाः' इति न वदेत्**, तथाश्रवणतः प्रवृत्तस्य निवृत्त्यादिदोषप्रसङ्गात्। तथा '**कायतीर्याः** = शरीरतरणीयाः' इत्यपि न

सुबहुसमतीर्था इति। सुबहूनि समानि तीर्थानि यासां ताः तथा। प्रकृते तीर्थञ्च जलावतरणस्थानरूपं बोध्यम्। तदुक्तं ***हलायुधकोशे*** 'योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेषु च'।। (हला.५/८६२) गृहस्थेन पृष्टे सति गृहस्थकथनादिविषये तु 'को जानाति बहूनि तीर्थानि समानि विषमानि वा?' इत्यादि-वक्तव्यम्। तदुक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ*** 'णदीतित्थाण वि साधुसु समुत्तरणत्थं पुच्छमाणेसु 'को जाणइ अंतज्जले? इमाणि पुण बहुसमाणि'। घरत्थपुच्छाओ पुण 'बहूणि से समाणि विसमाणि य को जाणति?' त्ति एवं संचिंतितं वियागरे' (द.वै.अ.चू.पृ.१७४) इति। गृहस्थे सति साधुभिः पृष्टे सति साधुना एवं वक्तव्यं- 'को जानाति कियज्जलं मध्ये? तीर्थानि तु बहुसमानि।" अतः प्रयोजनसिद्धिः अधिकरणादिदोषानापातश्चेति भावनीयम्।

अधिकरण-विघातादीति। 'सुतीर्था' इत्युक्तौ नदीतरणादिसावद्यप्रवृत्तिप्रवर्त्तनादिना अधिकरणादिदोषाः, 'कुतीर्था' इति प्रत्युत्तरे च गृहस्थादेः गृहं प्रति निवर्त्तनादिना आजीविकादिविघातादिदोषाः स्युः। ततः यथा साध्वादेरवगमः, अन्येषाञ्चानवगमस्स्यात् तथा विमर्शादिपूर्वं झटिति साङ्केतिकपदप्रयोगः कार्य इति भावः। यथा चैतत्तत्त्वं तथाऽन-न्तरगाथायां स्वयमेव वक्ष्यति विवरणकारः। तदुक्तम् 'तहेव संखडिं नच्चा किच्चं कज्जंति नो वए। तेणगं वावि वज्झि-त्ति सुतित्थित्ति अ आवगा।। संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठत्ति तेणगं। बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे।। (द.वै.७/३६-३७) 'आपगानां=नदीनां, व्यागृणीयात्=कथयेत् साध्वादिविषय इति शेषः, शेषमतिरोहितार्थम्।। ९२।।

अप्कायोपरोधपरिहारार्थं यतनामाह-**पुन्नत्ति**। **तथाश्रवणत** इति। इदं च प्रवृत्तस्येत्यनन्तरं योज्यम्। श्रवणतः पूर्वं

तब हमको सामने के गाँव आदि में जाने में सुविधा रहेगी'। तब पूछे गए मुनिराज के लिए यही कहना उचित है कि - 'नदी बहुसम तीर्थवाली है' (यदि नदी के अवतरण का स्थान = तीर्थ = घाट अच्छी अवस्था में हो तो) इस वचन से सामनेवाले साधु महाराज समझ जाते हैं कि 'अब नदी पार करने में कोई दिक्कत नहीं है'। तथा इस सांकेतिक वचन को सुनकर गृहस्थ को न तो कुछ भी मालुम होता है कि 'साधु भगवंत ने क्या उत्तर दिया?' और न तो नदी तैरना आदि सावद्य व्यापार में वह प्रवृत्त होता है। इस तरह भाषाविवेकसंपन्न मुनिराज को वैसे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिसे इष्ट फल की सिद्धि हो और कोई अनर्थ भी न हो।

न तु सु. इति। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जब सामनेवाले मुनिराज से नदी के विषय में प्रश्न किया जाए तब प्रत्युत्तर में 'नदी के घाट प्रायः समान है (=बहुसमतीर्थ)' इसके स्थान में 'नदी अच्छे घाटवाली है' ऐसा कथन नहीं करना चाहिए। उपलक्षण से 'नदी खराब घाटवाली है' ऐसा कथन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'नदी अच्छे घाटवाली है' इस वाक्य को सुन कर गृहस्थ श्रोता नदी पार करना आदि सावद्य व्यापार में प्रवृत्त होता है और 'नदी खराब घाटवाली है' इस वाक्य को सुन कर श्रोता खौफ से वापस घर लोटता है और उसकी आजीविका आदि में व्याघात होता है। अतः तादृश वचन मुनि के लिए अवाच्य है।।९२।।

गाथार्थ :- नदी के विषय में 'ये पूर्ण हैं', 'ये कायतीर्य हैं', 'नाव से तरणीय हैं', 'ये प्राणीपेय हैं' इत्यादि कथन नहीं करना चाहिए। (प्रयोजन उपस्थित होने पर) शुद्ध वचन से बोलना चाहिए।९३।

※ नदीविषयक भाषणविधि ※

विवरणार्थ :- नदी पानी से भरी हुई हैं - ऐसा वाक्य साधु को बोलने के लिए निषिद्ध है। इसका कारण यह है कि स्वयं नदी

---

१ 'न वा' इति मुद्रितेऽशुद्धः पाठः। २ पूर्णास्तु न कायतीर्या नद्यो नौभिस्तरणीयाः। न वदेच्च प्राणिपेया वदेत्पुनः शुद्धवचनेन।।९३।।

*वदेत्, साधुवचनतोऽविघ्नप्रवृत्तिधिया निवर्त्तितुमुद्यतानामप्यनिवृत्तिप्रसङ्गात्। 'कायपेयाः' इति सूत्रपाठान्तरे तु 'प्राणिपेयाः' इत्यर्था-*न्नातिविशेष इति ध्येयम्। तथा **नौभिः** = द्रोणिभिः **तरणीयाः**=तरणयोग्या इत्यादि न वदेत्, अन्यथा विघ्नशङ्कया तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। तथा **प्राणिपेयाः** = तटस्थ-जन्तुपानीयपानीयाः वा इत्यपि न वदेत्, तथैव प्रवर्त्तनादिदोषात्।

स्वयमेवाऽन्यप्रेरणया वा नदीतरणादौ प्रवृत्तः सन् तथाविधसाधुवचनश्रवणतः निवर्तेत इत्यर्थः। **निवृत्त्यादीति**। आदि-शब्देनापशब्दबुद्ध्या साधुप्रद्वेषादेः परिग्रहः। **नातिविशेष** इति। यदेव प्राणिपेयाशब्देन वक्ष्यमाणेन प्रतिपाद्यते तदेव कायपेयाशब्देनेत्यर्थः। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** त्वत्र-तडत्थितेहिं **काकेहिं** पिज्जंति=काकपेज्जा तहा णो वदे। **केसिंचि 'काय-तेज्ज**'त्ति, ताओ पुण णातिदूरतारिमाओ। दूरतारिमाओ णावाहि तारिमाओ" (द.वै.अ.चू.पृ.१७४) इत्युक्तमिति ध्येयम्।

अन्यथा विघ्नशङ्कया तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। नावं विना प्रवृत्तौ प्रवाहनादिविघ्नाशङ्कया द्रोणिग्रहण-प्रक्षेपादि-प्रवृत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः।

तटस्थजन्तुपानीयपानीया इति। तटे स्थितानां जन्तूनां पानीयं=गलबिलाधःसंयोगानुकूलव्यापारोचितं पानीयं=जलं यासां तास्तथा। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु प्रकृते 'तडत्थेहिं **हत्थेहिं** पेज्जा=पाणिपेज्जा। काकपेज्जा-पाणिपेज्जाण विसेसो तडत्थकाकपेज्जाओ सुभरिताओ, बाहाहिं दूरं पाविज्जंति त्ति पाणिपेज्जा, किंचिदूणा' (द.वै.अ.चू.पृ.१७४) इत्युक्तमित्य**वधेयम्**।

प्रवर्त्तनादिदोषादिति। पशुपाननदीतरणप्रवर्त्तनादिदोषप्रसङ्गादित्यर्थः। आदिशब्देन काष्ठबस्त्यादिग्रहण-प्रक्षेपादेः ग्रहः।

पार करने के लिए प्रवृत्त गृहस्थ साधु के वचन से वापस लोट जाय-यह संभावना हैं। साधु को ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिए कि जिससे नदी पार करने को प्रवृत्त वापस लोटे, क्योंकि वैसा होने से उसके कार्य में व्याघात होता है, उसकी रोजगारी-नौकरी आदि में दिक्कत पैदा होती है। तथा नदी शरीर के द्वारा पार करने योग्य है' ऐसा वचन भी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि नदी पार करने में अप्रवृत्त या वापस लोटने में तत्पर मनुष्य भी साधु के वचन से - 'नदी पार करने में कोई विघ्न नहीं है, क्योंकि इसे मुनिराज ही शरीर के द्वारा पार करने योग्य बताते हैं' - यह निश्चय हो जाने से नदी पार करने में वह उद्यत हो जाता है। सावद्य प्रवृत्ति का सिलसिला जारी रखने में निमित्त बने ऐसा शब्दप्रयोग करना साधु के लिए निषिद्ध है। जहाँ 'कायपेया' ऐसा पाठान्तर स्वीकृत किया गया है वहाँ तो आगे बताये जानेवाले 'प्राणिपेया' शब्द के अर्थ से कोई भेद नहीं है, क्योंकि प्राणिपेय का अर्थ है जिनके तट पर बैठे हुए प्राणी जल पी सके वैसी नदीयाँ और कायपेय का अर्थ भी यही है। अतः उक्त पाठान्तर विशेष अर्थवान् नहीं लगता। इस बात पर शांति से ध्यान देना चाहिए। तथा 'नदीयाँ नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं' ऐसा भी नहीं बोलना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि तादृश वाक्य सुन कर श्रोता को दहशत होती है कि 'मैं तो शरीर से नदी पार करने के लिए तैयार हूँ मगर मुनिराज तो नौका के द्वारा नदी पार करने की बात करते हैं। अतः मुझे नौका ले कर ही नदी पार करना मुनासिब है, वरना नदी का जलप्रवाह मुझे खींच लेगा' इस तरह नौका के बिना नदी पार करने में विघ्न की शंका के सबब श्रोता गृहस्थ नौका को ले कर उसे पानी में डाल कर नदी पार करने में तत्पर हो - यह भी मुमकिन है। तब साधु महाराज के वचन से नौका का लाना, उसका जलप्रवाह में डालना आदि अनेक सावद्य कार्य होने से साधु के सिर पर अधिकरण आदि दोष की जिम्मेदारी आती है। अतः तादृश वचनप्रयोग भी त्याज्य है। तथा 'नदी के तट पर बैठे हुए प्राणी उसका जल पी सकते हैं' ऐसा वाक्य भी बोलना साधु के लिए निषिद्ध है, क्योंकि उस वाक्य को सुन कर गोपाल आदि अपनी अपनी धेनु, भैंस आदि को पानी पिलाने के लिए नदी पर ले आए - यह भी संभव है। देखिए, "आज-कल बारिस बहुत होने के सबब अपने क्षेत्र से अति दूर रही हुई नदी में अगर ज्यादा पानी रहेगा तब तो मेंढक आदि छोटे छोटे प्राणी को, जो नदी का पानी पीने के लिए जाएँगे, नदी अपने जलप्रवाह में खींच लेगी। अतः अभी नदी पर नहीं जाना चाहिए "ऐसा सोच कर शांति से बैठे रहे हुए गोपाल आदि भी साधु महाराज की "नदी प्राणिपेय हैं।" इस बात को सुन कर, महात्मा की बात पर भरोसा कर के नदी पर पानी पाने के लिए अपने पशुगण को ले कर जाए तब स्पष्ट ही साधु महाराज सावद्य प्रवर्त्तन दोष के जिम्मेदार होते हैं। तथा यदि ज्यादा जल होने के सबब गोपाल को पशुसंपत्ति का नुकशान हो तब उसे महात्मा के उपर द्वेष आदि भी हो सकता है। गोपाल को ज्यादा नुकशान होने पर गलाटा आदि होना भी

वदेत् पुनः = साधुमार्गकथनादौ प्रयोजने, **शुद्धवचनेन**। तथाहि - '**बहुभृता** एताः' = प्रायशो भृता इत्यर्थः। तथा '**बह्वगाधाः**' = प्रायो गम्भीरा इत्यर्थः। तथा **बहुसलिलोत्पीडोदकाः** = प्रतिश्रोतोवाहितापरसरित इत्यर्थः। तथा **बहुविस्तीर्णोदकाः** = स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजला इत्यर्थः।

अत्र [1]**यद्यपि** एतादृशशुद्धवचनार्थैदम्पर्यपरिज्ञाने श्रोतॄणां प्रवृत्तिनिवृत्यादिपूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यं, [2]तदाऽऽगतप्रश्नोपेक्षया तूष्णीम्भावे

वदेदिति। तदुक्तं-तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्ज त्ति नो वए। नावाहिं तारिमाउत्ति पाणिपिज्जत्ति नो वए।। बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा। बहुवित्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं।। (द.वै.३८/३९)

बहुसलिलोत्पीडोदका इति। अन्यनदीजलप्रवाहेन उत्पीडितं=वाहितं उदकं=अपरजलं यासुः तास्तथेत्यर्थः। इदमेवाह- **प्रतिश्रोतोवाहितापरसरित** इति। तदुक्तं ***चूर्णौ***- 'बहुउप्पिलोदगा नाम जासिं परनदीहिं उप्पीलियाणि उदगाणि **अहवा** बहुउप्पिलोदओ जासिं अइभरियत्तणेण अण्णओ पाणियं वच्चइ' (द.वै.जि.चू.पृ.२५८) **अन्ये** तु बहुसलिला उत्पीडोदका इति पृथक्पदद्वयं वर्णयन्ति। तदुक्तं "बहुयं पुण पाणियं जासु ता बहुसलिला। जासिं समुद्देण अण्णाए वा पवहाएणदीए उप्पीलियमुदगं ण णिव्वहति ता उप्पीलोदगा" (द.वै.अ.चू.पृ.१७४)।।

बहुविस्तीर्णोदका इति। बहु विस्तीण=स्वतीरप्लावनप्रवृत्तं उदकं=जलं यासां तास्तथा। इदमेवाऽऽह- **स्वतीरप्लावनप्रवृत्तजला** इति। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'णदीओ विकिड्डुप्पधाणि विरल्लेंतीओ **बहुवित्थडोदगा'** इत्युक्तम्।

ननु नदीविषये प्रश्ने कृते सति साधुना किं (१) शुद्धवचनं प्रयोक्तव्यं? (२) उताहो मौनमङ्गीकर्तव्यम्? (३) आहोस्वित् तदपरिज्ञानं ज्ञापनीयं? इति पक्षत्रितयी प्रगुणगुणत्रयीव सकलजीवलोकविलोकनीया कमनीयव्यापारसारा सर्वत्राऽप्रतिहतप्रसरा प्रसरीसरीति वरीयसीति मनसिकृत्याऽऽ**यद्यपीति**। अस्य च तथापीत्यनेनाऽन्वयः। तत्र नाद्यो विद्योतते सद्योविद्योतिविद्योद्योगिहृदयसहृदयसमुदयसदसि प्रणिगद्यमानः, पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यकलङ्कपङ्कपङ्किलत्वादित्याशयेनाऽऽह **'एतादृशेति**। बहुभृतादिशुद्धवचनैदम्पर्यार्थावबोधे सति, **श्रोतॄणां**=व्युत्पन्नश्रोतॄणां शिष्टं स्पष्टम्।

नापि द्वितीयो विचारपदवीमारोप्यमाणः कृतपात्रतामवगाहते इत्याह **तदागतप्रश्नोपेक्षयेति**। ततः=नदीपरकुलात् आगतस्य साधोः साध्वन्तरकृतस्य प्रश्नस्य उपेक्षया=औदासीन्येन, **तूष्णीम्भावे**=मौनाङ्गीकारे **च प्रयोजनासिद्धेः** = साध्वन्तरस्य गमनानुकूलत्वपरिज्ञानादिप्रयोजनासिद्धेरिति। चकारेण तत्परिज्ञाने सत्यपि प्रत्युत्तरादानेनाऽविनयादि-

---

मुमकिन है। अतः भाषाविवेकसंपन्न महात्मा के लिए तादृश वचनप्रयोग त्याज्य है।

वदेत्. पुन. इति। जरूरत हो तब शुद्ध वचन का प्रयोग करना चाहिए। साधु को मार्ग बताना इत्यादि प्रयोजन उपस्थित हो तब 'नदी बहुभृत है' अर्थात् 'प्रायः नदी भरी हुई है'। 'नदी बहु अगाध है' अर्थात् 'प्रायः नदी गंभीर है'। तथा 'ये बहुसलिलोत्पीलोदगा हैं'। दूसरी नदीयों के द्वारा जिनका जल उत्पीडित होता हो वे नदीयाँ बहुसलिलोत्पीलोदगा कहलाती हैं। तथा 'ये बहुविस्तीर्णोदगा हैं' ऐसा प्रयोग जरूरत होने पर करना चाहिए। बहुत भरने के सबब जिनका जल दूसरी ओर मुड़ गया है वे नदीयाँ बहुविस्तीर्णोदगा कहलाती हैं। उपर्युक्त सांकेतिक शब्द का प्रयोग करने पर गृहस्थ को उन शब्दों के तात्पर्य का बोध न होने से अधिकरणादि दोष की संभावना नहीं रहती है। तथा पृच्छक मुनि भाषाविशुद्धि के ज्ञाता होने से अपने प्रयोजन की सिद्धि भी हो जाती है। अतः इन सांकेतिक पदों का प्रयोग करना चाहिए।

पूर्वपक्ष :- ***अत्र यद्यपि.*** इति। आप पूर्ण आदि शब्दों के स्थान में 'बहुभृत' आदि शुद्ध वचन का प्रयोग करना इसलिए बताते हैं कि उन शब्दों का प्रयोग करने पर सावद्यप्रवृत्ति या निवृत्ति के दोष में महात्मा जिम्मेदार न हो। सामान्य गृहस्थ श्रोता की अपेक्षा आपकी बात ठीक है कि उसे उन शब्दों के तात्पर्य का बोध न होने से वह सावद्य किया में प्रवृत्ति नहीं कर सकता हैं। मगर जो गृहस्थ व्युत्पन्न हैं और अपनी अनूठी प्रतिभा से महात्मा के तादृश (बहुभृत आदि) शुद्ध वचन के ऐदम्पयार्थ को समझ सकते हैं वे

---

१ मुद्रितप्रतौ - 'यदप्ये'. इत्यशुद्धः पाठः। २ 'प्रश्नोपक्षया' इति मुद्रितप्रतावशुद्धः पाठः।

च प्रयोजनाऽसिद्धेः, 'न वेद्मि अहं' इत्युत्तरप्रदाने च प्रत्यक्षमृषावादित्वेन प्रवचनोड्डाह-तत्प्रद्वेषादिदोषोपनिपातः **तथापि** 'एतादृशस्थले दोषसमुच्चयः सूचितः।

नाऽपि तृतीयः समग्रोदग्रप्रत्यग्रधीमतां सम्मतः धारालकरालप्रवचनोड्डाहादिक्रकचप्रचारसम्भृतत्वादित्याशयेनाऽऽह **'न वेद्मी'**ति। **प्रत्यक्षमृषावादित्वेने**ति। इदानीं चैवोत्तीर्णस्तथापि भणति 'न वेद्मी'ति 'प्रत्यक्षमृषाभाषी अयं' इति गृहास्थादिबुद्धिजनकेन प्रत्यक्षमृषावादित्वेन। **तत्प्रद्वेषादिदोष** इति। गृहस्थस्य साधुप्रद्वेषः आदिशब्देन बोधिदुर्लभता-ज्ञाभङ्गविराधनादेः ग्रहणम्। न चैतद् युक्तम्, ततोऽपि महादोषत्वात्। तदुक्त***मुपमितिभवप्रपञ्चायां कथायां*** 'कुठारच्छेद्यतां कुर्यान्नखच्छेद्यं न पण्डितः।। (उ.भ.) इति यद्यपिकल्पाशयः।

समाधत्ते-**तथापीति**। अत्र द्वितीय-तृतीययोरनभ्युपगमादेव न किञ्चित् नश्छिन्नम् प्रथमे च साक्षादप्रवर्त्तकस्य शुद्धाशयप्रयुक्तस्य कारणिकस्य वचनस्य निषेधाविषयत्वं पूर्वमेव प्रतिपादितम्। ततो न कश्चिद्दोषस्तथाऽपि समाधानान्तरं चूर्णिमतेन प्रथमे पक्षे प्रदर्शयति- **'एतादृशे'** ति। यत्रानुक्तादौ प्रयोजनासिद्ध्यादयो दोषाः तस्मिन् स्थले।

तो तादृश शुद्ध वचन को सुन कर भी आवश्यकता के अनुसार नदीतरण आदि सावद्य प्रवृत्ति में प्रवृत्त और निवृत्त हो सकते हैं। यहाँ महात्मा का प्रदर्शित शुद्ध वचन निमित्त बनता है। जिन दोष से बचने के उद्देश से मुनिराज शुद्ध वचन का प्रयोग करते हैं उन दोषों से अपने को बचाना तो मुश्किल ही लगता है। अन्य मुनिराज को मार्ग बताने के उद्देश से प्रवृत्त होने पर भी सावद्य प्रवृत्ति में प्रवर्त्तन आदि दोष तदवस्थ ही रहते हैं।

शंका :- यदि शुद्ध आशय से प्रवृत्त होने पर भी प्रवर्तनादि दोष की संभावना बनी रहती ही है तब यही मुनासिब है कि नदी के बारे में जब प्रश्न किया जाये तब मुनिराज मौन का ही आश्रय करे, क्योंकि तब सावद्य प्रवर्तन आदि दोष से दूषित होने की कोई संभावना मुनिराज के लिए न रहेगी। सुना भी जाता है 'मौनं सर्वार्थसाधनम्'। प्रवर्त्तन आदि दोष का मूल है कुछ न कुछ बोलना। जब भाषण ही न होगा तब आगे दोष की परंपरा कैसे बनेगी? न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसूरी।

समाधान :- ***तदागत.*** । जनाब! आपकी बात ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि नदी की वर्तमान परिस्थिति के संबंध में बेखबर दूसरे मुनिराज प्रस्तुत मुनि से, जो कि नदी से अभी आए हुए हैं, जब प्रश्न करते हैं तब उसका आशय यही है कि - 'इस महात्मा से नदीसंबंधी परिस्थिति मालुम हो जाएगी, क्योंकि नदी से ही वह आ रहा है'। मगर प्रस्तुत मुनिराज नदी का हाल मालुम होने पर भी महात्मा की और से किए गए प्रश्न की उपेक्षा कर के मौन का आश्रय करेगा तब तो दूसरे मुनिराज का प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा; क्योंकि कुछ भी जवाब न मिलने पर, 'नदी पार कर के अभी आवश्यक काम के लिए जाना चाहिए या नहीं? जाने में नदीमार्ग अभी अनुकूल है या नहीं? 'इत्यादि का ज्ञान, जो प्रश्नकर्ता मुनिराज का प्रयोजन है, पृच्छक मुनिराज को कैसे होगा? अर्थात् वह प्रयोजन असिद्ध ही रह जाएगा! तथा महात्मा को जवाब न देने के सबब अविनय आदि दोष से प्रस्तुत मुनिराज भी कैसे अपने को बचाएगा? इसलिए बिलकुल जवाब न देना तो नामुनासिब ही है।

शंका :- यदि गृहस्थ साधु से प्रश्न करे तब तो साधु के लिए मौन रहना उचित नहीं है किन्तु यही कहना उचित है की - 'मैं कुछ जानता नहीं हूँ' ऐसा जवाब देने पर प्रवर्त्तन आदि दोष की संभावना ही नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने से गृहस्थ को कुछ भी मालुम नहीं होता हैं।

समाधान :- ***न वेद्मि*** इति। आप तो अक्ल के दुश्मन हो - ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि गृहस्थ यह तो जानता ही है कि ये मुनिराज नदी से आ रहे हैं। नदी पार कर के आने पर भी नदी में कितना पानी है-यह मालुम नहीं हैं यह तो प्रत्यक्ष मृषावाद हुआ। सफेद झूठ बोलने से साधु के प्रति गृहस्थ को द्वेष होता है। 'देखो, ये जैन मुनिराज झूठ बोल रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यन्त का सत्यव्रत लिया है'। इत्यादि बोल कर गृहस्थ जिनशासन की अवहीलना करे-यह भी संभव है। तथा झगडा-बखेडा और गाली की वर्षा होने का भी संभव रहता है। अधिकरण दोष को छोडते छोडते शासन अपभ्राजना आदि बड़े बड़े दोष आने लगेगे। बकरे को निकालने पर ऊँट का प्रवेश हो गया!

उत्तरपक्ष :- ***तथापि*** इति। आपकी यह बात ठीक है कि कुछ न बोलने पर प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है और 'मैं नहीं

संमुग्धमेवोत्तरं देयं' इत्यभिप्रायेणैतदभिधानम्। तदिदमाह भगवान् **दशवैकालिकचूर्णिकारः** "तम्हा बहुवाहडाई भणेज्जा, तमवि तुरियमवक्कमंतो भणेज्जा जहा ण विभावेइ किमवि एस भणति त्ति।।"

तथा चैतादृशसंमुग्धवचनाद् व्युत्पन्नानां प्रश्नोद्यतमुनीनां प्रयोजनसिद्धिरितरेषां त्वनुषङ्गतोऽपि नाधिकरणप्रवृत्तिः, अपरिज्ञानादिति सर्वमवदातम्।।९३।। किञ्च

संमुग्धमिति। साङ्केतिकं पारिभाषिकं वा, यतो न व्यवहारतोऽपि मृषावादः, न वा तत्प्रद्वेषादयो दोषाः, न वा प्रवर्त्तनादिदोषाः, न वा प्रयोजनासिद्धिः, तादृक् प्रत्युत्तरं देयमित्यर्थः। **एतदभिधानमिति।** बहुभृतादिशुद्धिवचन-प्रयोगस्य कर्तव्यताप्रतिपादनम्। ***श्रीजिनदासगणि***महत्तरवचनसंवादं प्रदर्शयति-**'तम्हा'**इति अनुक्तादौ बहुविधदोष-सम्भवात् **तमवि** बहुभृतादिशब्दमपि, **तुरियमवक्कमंतो**=झटिति पश्चात् वलन्=अपसरन्, न तु तत्रैव स्थित्वा निर्भरतया इत्यर्थः। सागारिकानवबोधार्थमिदमुक्तम्।

चूर्णीकारवचनोपनयं सतात्पर्यं प्रदर्शयति-**तथाचेति। प्रयोजनसिद्धिरिति।** परकुलगमनानुकूलत्व-परिज्ञानादि-प्रयोजननिष्पतिः। अस्य च उपलक्षणत्वादविनयपरिहारादेः ग्रहणम्। **इतरेषां**=गृहस्थानां। **तुः** प्रद्वेषाद्यभावसूचनार्थः। **अनुषङ्गतोऽपी**ति। किमुत साक्षादित्यपिशब्दार्थः। अन्योद्देशेन प्रवृत्तस्य तन्नान्तरीयकविधयाऽन्यसिद्धिः अनुषङ्ग-पदार्थः। साधुपरिज्ञापनोद्देशेन प्रवृत्तस्य नदीपरकुलागतस्य साधोः वचनात् अन्यनिष्पादकयत्ननिष्पाद्यविधया तत्सत्ता-कनियतसत्ताकविधया वा न परकीयाधिकरणप्रवृत्तिरिति भावः। हेतुमाह-**अपरिज्ञानादि**ति। ताजक् गच्छता सता

जानता' यह बोलने से शासनमालिन्य आदि बड़े दोष मुनि के गले पर आने लगते हैं। मगर शास्त्र ऐसा करने की अनुमति ही नहीं देता है। अतः इन दोषों की संभावना खत्म हो जाती हैं। शास्त्र तो आवश्यकता के अनुसार बहुभृत आदि शुद्ध वचन का प्रयोग करने की अनुमति मुनिराज को देता है अतः आपका यह लंबा-चौड़ा पूर्वपक्ष नामुनासिब हैं।

शंका :- बहुभृत आदि शुद्ध वचन के प्रयोग से भी व्युत्पन्न श्रोता को उस शब्द के तात्पर्यार्थ का ज्ञान होने से प्रवृत्ति आदि दोषों की संभावना तो ज्यों की त्यों रहती है। सावद्य प्रवर्त्तन आदि दोष तो डॅट कर मेदान में खडे रहेंगे ही, भले ही आप शुद्ध वचन का प्रयोग करो।

समाधान :- ***एतादृश.*** इति। आप दूर की नहीं सोचते हैं कि शास्त्रवचन का तात्पर्य क्या है? और यूँ ही दोषों की वर्षा करने लगते हैं। यहाँ बहुभृत आदि शब्द का प्रयोग करने का जो विधान किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थल में संमुग्ध प्रत्युत्तर ही देना चाहिए अर्थात् जल्दी से बहुभृत आदि सांकेतिक पदों का वहाँ प्रयोग करना चाहिए जिससे गृहस्थ को कुछ भी ख्याल न आए और पृच्छक साधु भगवंत का प्रयोजन सिद्ध हो जाय। यदि आप को हमारी बात पर यकिन नहीं है तो दशवैकालिक चूर्णिकार महनीय श्रीजिनदासगणी महत्तर के टंकशाली वचन को भी हम बताते हैं। यह रहा वह शास्त्रपाठ-अतएव (मौन रहने में या 'मैं जानता नहीं हूँ' ऐसा कहने में अनेक दोषों की संभावना होने से) वहाँ जल्दी से दूसरी ओर झुकते हुए 'बहुवाहड' आदि पारिभाषिक प्रत्युत्तर को कहना चाहिए जिससे गृहस्थ को कुछ भी मालुम न हो कि-मुनिराज क्या कहते हैं? चूर्णि के इस वचन पर खास तौर पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि - गृहस्थ साधु से प्रश्न करे तब गृहस्थ से दूर चलते, जल्दी से मंद आवाज़ में सांकेतिक जवाब देना चाहिए, जिससे गृहस्थ को ऐसा महसूस हो कि - 'महात्मा ने हमारे प्रश्न का उत्तर तो दिया है मगर जल्दी में होने से उसने कहा क्या? वह मालुम नहीं पड़ा'-'एसा होने से साधु के प्रति द्वेष आदि होने की या सावद्य प्रवर्त्तन आदि की संभावना नहीं है। यदि साधु महात्मा अन्य साधु भगवंत से प्रश्न करे और वहाँ गृहस्थ उपस्थित हो तब जल्दी से पूर्वोक्त सांकेतिक प्रत्युत्तर का प्रदान करना चाहिए, जिसका तात्पर्य प्रश्न करनेवाले शास्त्रज्ञ मुनिराज को ख्याल में आ जाए और गृहस्थ को तो उसके तात्पर्य का ज्ञान नहीं होने के सबब आनुषंगिक रूप से भी अधिकरण प्रवृत्ति की संभावना तक नहीं हो। 'आनुषंगिकरूप से' का अर्थ है कि अन्य कार्य के उद्देश से प्रवृत्त होने पर अन्य कार्य की गौणरूप से निष्पत्ति हो। मुनिराज को नदी का हाल मालुम करने के उद्देश से उत्तर प्रदान करने पर गृहस्थ की, जिसने मुनिवचन सुन लिया है, अधिकरण प्रवृत्ति, जो मुनिराज का उद्देश्य नहीं है, होना प्रस्तुत में आनुषंगिक अधिकरणप्रवृत्ति पद का अर्थ है। यह न होने का कारण यह है कि मुनिराज से कहे गए सांकेतिक शब्दों के अर्थ का गृहस्थ को ज्ञान ही नहीं है। यहाँ यह भी उचित लगता है कि मुनिराज प्रश्न करे तब

[1]सावज्जे सुकडाइं ण वए, सुकए वए अ तं वयणं। अणवज्जं चिय भासे सम्मं नाऊण विहिभेयं।।९४।।

सावद्ये = आरम्भमये कार्ये, सुकृतादिवचनं न वदेत्। तथाहि **सुष्ठु कृत**मेतत् सभादि, **सुष्ठु पक्व**मेतत् सहस्रपाकादि, **सुष्ठुच्छिन्न**मेतद्वनादि, **सुष्ठु हृतं** क्षुद्रस्य वित्तं, **सुष्ठु मृतः** प्रत्यनीकः, सुष्ठु निष्ठितं वित्ताभिमामिनो वित्तं, **सुष्ठु सुन्दरा** कन्या इत्यादि

द्रुतमभिहितस्य वाच्यार्थस्याऽपरिज्ञानादिति। **न च** ज्ञानमृतेऽप्यधिकरणप्रवृत्तिः स्यात्; कृतित्वावच्छिन्नतायाः प्रमाण-निश्चितत्वेन तदभावे तद्व्यतिरेकस्य न्याय्यत्वात्, अन्यथा कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण।।९३।।

सुकृतादीति। तदुक्तं 'सुकडित्ति सुपक्किंत्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे। सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति सावज्जं वज्जए मुणी। (द. वै. ७/ ४१ तथा उत्तरा. १/३६) **सुष्ठु कृतमेतत् सभादीति**। अगस्त्यसिंहसूरिमते सुकडेत्ति सर्वक्रियापसंसणं (द. वै. अ. चू. पृ. १७५) इति वचनात् सर्वसावद्यक्रियाविषयः सुकृतशब्द इति ध्येयम्।

उत्तराध्ययनवृत्तिकारेण तु सुकृतादियोजना प्रथमं भोजनविषये कृता पश्चाच्चान्यविषयाऽपि, तदुक्तं ***श्रीनेमिचंद्र-सूरिणा'*** सुकृतं=सुष्ठु निर्वर्त्तितमन्नादि सुपक्वंघृतपूर्णादिः इतिः उभयत्रोपदर्शने, सुच्छिन्नं-शाकपत्रादि सुहृतं-सूपविले-पिकादिनाऽमत्रकादेर्घृतादि सुभृतंघृताद्येव सक्तुसूपादौ सुनिष्ठितं-सुष्ठुनिष्ठां-रसप्रकर्षात्मिकां गतं सुलष्टं शोभनं मोदकादि अखण्डोज्ज्वलस्वादुसिक्थत्वादिना इत्येवं प्रकारमन्यदपि सावद्यं वर्जयेद् मुनिः। **यद्वा** सुष्ठु कृतं यदनेनाऽरातेः प्रतिकृतं सुपक्वं पूर्ववत्, सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधद्रुमादिः सुहृतं कदर्यस्य धनं चौरादिभिः, सुमृतोऽयं प्रत्यनीकधिग्वर्णादिः सुनिष्ठितोऽयं प्रसादादिः सुलष्टोऽयं करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेद् मुनिः (उत. १/२३ ने. वृ.)

आचाराङ्गेऽपि पृथक् निर्वचनं कृतं। तथाहि से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जहा वेगयाइं पासिज्जा तं जहा वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहावि ताइं नो एवं वइज्जा। तं जहा सुकडेइ वा सुट्ठुकडेइ वा साहुकडेइ वा कल्लाणेउ वा करणिज्जेइ वा एयप्पगारं भासं सावज्जं जाव नो भासिज्जा से भिक्खू वा जाए एवं वइज्जा। तं जहा आरंभकडेइ, वा, सावज्जकडेइ वा, पयत्तकडेइ वा, पासाइयं पासाइय वा दरिसणीयं दरिसणीयंति वा अभिरूवं अभिरूवं ति वा, पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्जं. जाव भासिज्जा।। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए तहावि तं णो एवं वदेज्जा। तं जहा सुक्कडेति जाव णो भासेज्जा। से भिक्खू

गृहस्थ न जानता हो और मुनिराज जानते हो ऐसी संस्कृत, कन्नड, तामिल आदि भाषा में मुनिराज से मुनिराज प्रत्युत्तर प्रदान करे, जिससे न कोई दोष हो और न तो प्रयोजन की असिद्धि हो। अतः शास्त्र में जो कुछ बताया गया है वह ठीक ही है। हमारा कार्य है शास्त्रपरिकर्मित बुद्धि से गुरु द्वारा शास्त्रतात्पर्य का अन्वेषण करना।।९३।।

गाथार्थ :- सावद्य कार्य में सुकृत आदि शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए तथा निरवद्य कार्य में सुकृत आदि शब्द का प्रयोग करना चाहिए। सम्यक् विधिविशेष जान कर प्रयोजन उपस्थित होने पर निरवद्य भाषा को ही बोलना चाहिए।९४।

❋ सुकृत आदि वचनविधि ❋

विवरणार्थ :- आरंभमय-पापमय कार्यरूप विषय में सुकृत आदि वचन को नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि तब आरंभ की अनुमति आदि दोष की जिम्मेदारी वक्ता मुनि के सिर पर आती है। देखिए, यह सभा अच्छी बनायी है, यह सहस्रपाक तैल अच्छी तरह पकाया है, यह वनादि अच्छी तरह काटा गया है, क्षुद्र जीव का धन अच्छी तरह लुटा गया, दुश्मन अच्छी तरह मारा गया, धन के अभिमानी का धन अच्छी तरह खतम (समाप्त) हो गया, यह हसीना खुबसूरत है - इत्यादि भाषा बोलना मुनि के लिए निषिद्ध है, क्योंकि इन वाक्यों से सभा बनाना, तैल को पकाना, वन को काटना इत्यादि में अनुमति आ जाती है। त्रिविध-त्रिविध सावद्य व्यापार के त्यागी मुनिराज के व्रत को सावद्य अनुमति दूषित करती है। तथा दुश्मन आदि के संबधी को तादृश वचन सुनने के सबब साधु के प्रति अप्रीति, द्वेष आदि भी होता है। अतः तादृश प्रयोग मुनि के लिए निषिद्ध है।

१ सावद्ये सुकृतादि न वदेत् सुकृते वदेच्च तद्वचनम्। अनवद्यमेव भाषेत सम्यग्ज्ञात्वा विधिभेदम्।।९४।।

न भाषेत मुनिः, अनुमत्यादिदोषप्रसङ्गात्।

सुकृते निरवद्ये तु **तत्** = सुकृतादि वचनं **वदेत्**। तथाहि - सुष्ठु कृतं वैयावृत्त्यमनेन, सुष्ठु पक्वं ब्रह्मचर्यमस्य साधोः, सुष्ठु च्छिन्नं स्नेहबन्धनमनेन, सुष्ठु हृतं शिक्षकोपकरणमुपसर्गे, सुष्ठु मृतः पण्डितमरणेन साधुः, सुनिष्ठितं कर्म अप्रमत्तसंयतस्य, सुष्ठु सुन्दरा

वा भिक्खुणि वा असणं वा जाव उवक्खडियं पेहाए एवं वदेज्जा। तं जहा आरंभकडेत्ति वा सावज्जकडेति वा पयत्तकडेति वा भद्दयं भद्दए ति वा ऊसढं गोसियं अणुण्णं एयप्पगारं भासं असावज्जं जाव भासेज्जा।। (आ. चा. २/४/२ १३६-१३७सू.) **अनुमत्यादीति**। आदिशब्देन तदप्रीति-क्रयादिप्रवर्त्तन-वैरादेः ग्रहः।

वैयावृत्त्यमिति। अस्योपलक्षणत्वात् लोच-धर्मदेशना-तपआदेर्ग्रहणम्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। **ब्रह्मचर्यमिति**। अष्टादशभेदभिन्नमैथुनवर्जनम्। अष्टांगमैथुनवर्जनं ब्रह्मचर्यमित्यपरे। तदुक्तं स्त्रिया १दर्शनं=रागपूर्वकं स्त्र्यादिविषयकज्ञानम्, २स्पर्शनं=रागपूर्वकं क्रियाविशेषजन्यज्ञानम्, ३केलिः=रागपूर्वकः परिहासादिव्यापारः, ४कीर्तनं=स्त्र्यादेरनुरागपूर्वकं सौन्दर्यादिवर्णनम्, ५गुह्यभाषणं=रागपूर्वकं रहसि सम्भाषणम्, ६सङ्कल्पः= इयं मे स्यादिति विकल्पः, अध्यवसायः७ = अनया सह सम्भोगं करिष्यामीति निश्चयः, क्रियानिवृत्तिः=सुरतसिद्धिरनुभवविशेषो वा इति अष्टौ मैथुनस्याऽङ्गानि। तद्वर्जनं ब्रह्मचर्यम् ( )। **परे** तु त्रिधा मैथुनत्यागः ब्रह्मचर्यमित्याहुः। तदुक्तम् 'कायेन मनसा वाचा, सर्वावस्थासु सर्वदा। सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।। ( ) **केचित्तु** सुखविशेषहेतुशुक्रक्षरणानुकूलव्यापारपरिहारात्मक उपस्थसंयमो ब्रह्मचर्यमित्यापि वदन्ति। ब्रह्मणि = आत्मनि चरणं = रमणमिति ब्रह्मचर्यमित्यापि कश्चित्। ***शाण्डिल्योपनिषदि*** 'ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः' (शा. उ. २/१) इत्युक्तम्। ***छान्दोग्योपनिषदि*** तु 'यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्।।' (छा. उप. ८-५-१) इत्युक्तम्।

सुकृते निरवद्ये इति। सावद्य किया में जिनके प्रयोग का निषेध किया गया है उनके प्रयोग की निरवद्य कियारूप विषय में अनुज्ञा दी गई है। जैसे कि - "इसने वैयावच्च, भक्ति अच्छी तरह की है, इस साधु का ब्रह्मचर्य अच्छी तरह पक्का है, इसने स्नेहबंधन को अच्छी तरह तोड़ दिया, शिक्षक का उपकरण उपसर्ग में अच्छी तरह लिया गया, पंडितमरण (समाधिमरण) से यह साधु अच्छी तरह मरा, अप्रमत्त साधु की कर्म अच्छी तरह खतम हो गई, साधुक्रिया खूब सुंदर है"। यहाँ जो शिक्षक शब्द आया है उसका अर्थ है नूतन दीक्षित। अपने स्वजन आदि के बलात्कार, धमकी आदि के सबब वह वापस घर लोटने को तैयार हो जाता है तब आचार्य भगवंत आदि उसे अच्छी तरह संसार की असारता, संयमजीवन की पवित्रता आदि को वैराग्यपूर्ण वाणी में समझाते हैं और उसके फलरूप में वह संयम में स्थिर हो जाता है। मगर जब समझाने के बावजूद भी बूरी भवितव्यता आदि के कारण वह बेखौफ संसार में जाने को तैयार होता है तब जाते समय उसके रजोहरण आदि, जो साधुजीवन के उपकरण होते हैं, लिये जाते हैं। यदि वह उपकरण देने को तैयार न हो तब उसे अच्छी तरह समझा कर या प्रकल्पशास्त्रोक्त अन्य उपाय से वे उपकरण लिये जाते हैं। इस प्रसंग को ख्याल में रख कर यहाँ 'सुष्ठु हृतं शिक्षकोपकरणं' इत्यादि कहा गया है। अन्य दृष्टांत तो सुगम है। इसलिए उसका विवेचन कर के पाठकों का समय लेना हम नामुनासिब समझते हैं। उपर्युक्त सुकृत आदि विषयक वाच्य और अवाच्य शब्दों संक्षेप से निम्नोक्त कोष्टक में बताए गए हैं जिससे सुज्ञ वाचक दोनों की अच्छी तरह तुलना कर सके। देखिए -

वाच्य	विषय	अवाच्य	विषय	वाच्य
कृत	सभा आदि	सुष्ठु कृत	वैयावच्च	सुष्ठु-कृत
प्रयत्नसाधित	सहस्रपाक तैल	सुष्ठु पक्व	ब्रह्मचर्य	सुष्ठु पक्व
प्रयत्नच्छिन्न	वन आदि	सुष्ठु च्छिन्न	स्नेहबन्धन	सुष्ठु च्छिन्न
हृत	क्षुद्रका धन आदि	सुष्ठु हृतं	शैक्षक उपकरण	सुष्ठु हृतं
मृतः	प्रत्यनीक	सुष्ठु मृतः	पंडितमरण से मृत मुनि	सुष्ठु मृतः
निष्ठितं	अभिमानी का धन	सुष्ठु निष्ठितं (=नष्टं)	अप्रमत्त यति का कर्म	सुष्ठु निष्ठितं
प्रयत्नसुन्दरा	कन्या	सुष्ठु सुंदरा	साधुक्रिया	सुष्ठु सुंदरा

साधुक्रिया इत्यादि।

तथा क्वचिद्व्यवहारे प्रक्रान्ते पृष्टोऽपृष्टो वा साधुर्नैवं वदेत् यदुत एतत् **सर्वोत्कृष्टं** स्वभावेन सुन्दरमित्यर्थः। **परार्घं** = उत्तमार्घं महार्घं क्रीतमिति भावः। **अतुलं** = नास्ति इदृशमन्यत्र क्वचिदित्यर्थः। **असंस्कृतं** = सुलभमीदृशमन्यत्रापीत्यर्थः। **अवक्तव्यं** = अनिर्वचनीयगुणोपेतमित्यर्थः। **अचिंत्य** = अप्रीतिकरं वेत्यादि। एतादृशभाषणेऽधिकरणान्तरायादिदोषप्रसङ्गात्।

स्नेहबन्धनमिति। स्वाभाविकी प्रीतिः स्नेहः। तदुक्तम् 'दर्शने स्पर्शने वाऽपि श्रवणे भाषणेऽपि वा। यत्र द्रवत्यन्तरङ्ग स स्नेह इति कथ्यते।। ( ) प्रकृते बन्धनं च रज्ज्वादिकरणकगत्यादिरोधहेतुसंयोगानुकूलव्यापाररूपं न ग्राह्यम्, अनधिकारात् किन्तु वशीकरणसाधनरूपम्।

हृतं शिक्षकोपकरणमुपसर्गे इति। अभिनवप्रव्रजिते स्वयमुत्प्रव्रजितुकामे सति अनिच्छतोऽपि तस्योपकरणं गमनसमये कौशल्येन हृतमित्यर्थः। अयं भावः प्रथममुत्प्रवाजयितुकामेभ्यः स्वजनेभ्यः शैक्षक एव हर्तव्यः तदसम्भवे च तदुपकरणं हर्तव्यम् अन्यथाऽधिकरणादिदोषप्रसङ्गात्। अन्यत्र च 'सुहृतोऽयमुत्प्रव्राजियितुकामेभ्यो निजकेभ्यः शैक्षकः' (उत्त. ने. वृ. १/३६) इत्युदाहरणं प्रदर्शितम्।

क्रयविक्रयाधिकरणपरिहारार्थमाह - **तथा क्वचिद् व्यवहार** इति। क्रय-विक्रय-परावर्त्तनादिव्यवहारविशेषे। मूल्य-दानपूर्वकस्वीकारः **क्रयः**, मूल्यग्रहणप्रयुक्तस्वस्वत्वध्वंसपूर्वकपरस्वत्वजनकव्यापारो **विक्रयः**। प्रकृते च क्रयादिव्यवहारे गृहस्थैः प्रारब्धे सति 'एतेषु कतमं सुन्दरं'? इति प्रश्ने नैवं वक्तव्यं यत् 'इदं सर्वोत्कृष्टमि'ति। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु 'पणियणियोगे सव्वुक्कुस्समिदमिति णो एवं वदे' अणंतरयणा पुढवी'ति सइरसंकहाए वि णो एवं वदे' (द. वै. अ. चू. पृ. १७५) इत्युक्तम्। क्रयार्थमाह **अतुलमिति**। स्पष्टमेव विवरणम्।

असंस्कृतमिति। एतच्च ***हारिभद्र***वृत्त्यनुसारेण बोध्यम्। ***चूर्णा*** तु प्रकृते 'अविक्कियं नाम असक्कं जहा कइएण विक्कायएण वा पुच्छिओ इमस्स मोल्लं करेहि त्ति ताहे भणियव्वं- 'को एतस्स मोल्लं करेउं समत्थोत्ति। एवं अविक्कियं भणइ' (द. वै. जि. चू. पृ. २६०) इत्युक्तम्। **अवक्तव्यमिति**। कः समर्थ एतस्य गुणान् वक्तुमित्यर्थः। इदमेवाह-**अनिर्वचनीयेति**।

अचिंत्यं=अप्रीतिकरमिति। इदं च ***हारिभद्र***व्याख्यानानुसारेणोक्तम्। ***प्राचीनतमचूर्णौ*** तु प्रकृते-' **अचिंतितं** = चिंतेतुं पि ण तीरति वइरादि, किं पुणं उवमेउं णाउं वा? (द. वै. अ. चू. पृ. १७६) इत्युक्तम्।

अधिकरणान्तरायादीति। उपनीतवचनप्रयोगे सति क्रयादिप्रवृत्त्याऽधिकरणादयो दोषाः अपनीतवचनप्रयोगे विक्रेत्रन्तरायादिदोषाः। आदिशब्देन लाघवाऽप्रीत्यादीनां ग्रहणम्। दोषावहत्वेन तेषां निषेधविषयत्वम् तदुक्तं- 'सव्वुक्कस्सं परग्घं वा अउलं णत्थि एरिसं। अविक्कियमवत्तव्वं अचिअत्तं चेव णो वए।। (द. वै. ७/४२)

❋ व्यापारविषयक अवाच्य वचन ❋

तथा क्वचि. इति। तथा क्रय-विक्रय आदि व्यवहार के प्रसंग में गृहस्थ साधु से पूछे या न पूछे फिर भी साधु को यह नही कहना चाहिए कि (१) यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् स्वभाव से ही सुंदर है, (२) आपने जो चीज खरीदी है वह बहुमूल्य है, (३) 'यह तुलनारहित है' अर्थात् इसके समान दूसरी कोई चीज अन्यत्र नहीं है, (४) 'यह असंस्कृत है' अर्थात् यह तो दूसरी जगह भी सुलभ है, (५) 'यह अवक्तव्य है अर्थात् इसका गुणवर्णन नहीं किया जा सकता, (६) 'यह अचिंत्य है' अर्थात् इस चीज को रखने का कोई बिचार भी नहीं करता है - ऐसी यह अप्रीतिकर चीज है। इन वाक्यों को बोलना साधु के लिए निषिद्ध होने का सबब यह है कि प्रस्तुत वचनों से अधिकरण आदि दोष प्राप्त होते हैं। 'यह चीज बहुमूल्य है' - यह सुन कर गृहस्थ स्वाभाविकरूप से उसे खरीदने को तैयार होता है। इस तरह सावद्य दोष की जिम्मेदारी मुनि के सिर पर आती है। यह चीज तो फेंक देने जैसी है - यह सुन कर गृहस्थ खरीदी के विचार को बदलता है, जिसके सबब व्यापारी को व्यापार में अंतराय होता है। यह चीज अच्छी खरीदी गई है - ऐसा बोलने से खरीदी में अनुमति आ जाती है। व्यापार न करने पर भी व्यापार के दोष से मुनि न बचे-यह क्या

तथा 'सुक्रीतमेतत्, सुविक्रीतमेतत्, अक्रयार्हमेवैतत्, क्रयार्हमेवैतत्, तथेदं समर्घं भविष्यति, महार्घं वा भविष्यति' इत्यादि न वदेत्, अप्रीत्यधिकरणादिदोषप्रसङ्गात्।

अभिधानप्रयोजने तूपस्थिते **सम्यक्** = तात्पर्यशुद्ध्या, **विधिभेदं** = विधिविशेषं ज्ञात्वा **निरवद्यमेव[1] भाषेत**। तथाहि ग्लानप्रयोजने **प्रयत्नपक्व**मेतत् सहस्रपाकादीति वदेत्। '**प्रयत्नच्छिन्न**मेतद्वनादीति साधुनिवेदनादौ वदेत्।

क्रीतादिप्रशंसानिषेधार्थमाह **तथा सुक्रीतम**िति। किञ्चित् केनचित् क्रीतं दर्शितं सत् सुक्रीतमेतदिति न व्यागृणीयादित्यर्थः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। तदुक्तम् 'सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा। इमं गिण्ह इमं मुंच पणीअं नो विआगरे'।। (द. वै. ७/४५) उपलक्षणात् 'अहो! मुग्धोऽसि यदनेन मुल्येनेदं गृहीत'मित्यादि न वक्तव्यम्। **समर्घ**मिति। इदं मुञ्च गुडादि अनागतकाले समघ भविष्यति इदं घृतादि गृहाणाऽऽगामिनि काले महार्घं भविष्यतीति हेतोः। न वदेदिति सर्वत्र योज्यम्।

ज्ञात्वेति। अनेनाऽज्ञात्वेत्यस्य निषेध उक्तः। तदुक्तं **महानिशीथे** 'सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न याणइ विसेसं। वोत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पुण देशणं काउं?।। (म. नि. ३/१२०)। **ग्लानप्रयोजन** इति। यद् भवतां प्रयत्नपक्वं सहस्रपाकादि तदीयतामिऽत्येवम्। आदिशब्देन लक्षपाकादेः ग्रहणम्। **प्रयत्नच्छिन्नमेतद् वनादी**ति। आरम्भकसंयोग-विरोधिविभागानुकूलक्रियाजनकातीतकालीनकृतिविशेषविषयं पुरोवर्ति स्वतः सिद्धानियमितवृक्षसमूहादीत्यर्थः। **साधुनिवेदनादाविति**। 'प्रयत्नच्छिन्नमेतद् वनम्। अतो न श्वापदादिभयं, निर्भरतया गन्तव्यमि'त्येवमादिरीत्या। एवं च

मुनासिब है? नहीं, अतएव इन वचनों को बोलना साधु के लिए अनुज्ञात नहीं है।

तथा सुक्री. इति। तथा पण्य वस्तु के बारे में (१) 'यह माल अच्छा खरीदा' अर्थात् यह माल बहुत सस्ता आया। (२) 'यह माल अच्छा बेचा' अर्थात् बहुत नफा हुआ। (३) यह माल खरीदने योग्य नहीं है, (४) यह माल खरीदने योग्य है, (५) 'यह माल सस्ता होनेवाला है' अर्थात् इस माल को बेच डालो, (६) यह माल महंगा होनेवाला है अर्थात् इस माल को ले लो - इत्यादि वाक्य बोलना भी मुनि के लिए निषिद्ध है। स्पष्ट ही है कि प्रदर्शित वचन का प्रयोग होने पर जिसको नुकशान होनेवाला है उसे साधु के प्रति अप्रीति होती है तथा प्रदर्शित वचन का प्रयोग होने पर जिसको लाभ होने वाला है उसे साधु के प्रति प्रीति होना, साधु के लिए अच्छे आहार आदि बना कर साधु को दोषित आहार बहेराना, व्यापाररूप सावद्य कार्य में प्रवृत्त होना, आदि अनेक दोष संभवित है। अन्य लोग को यह महसूस होता है कि - 'संसार छूटा पर संसार एवं धंधा का रस न छूटा, रस्सी जल गई पर एँठन न गयी!' इस तरह साधु की लघुता भी हो सकती है। अतः भाषाविवेकसंपन्न महात्मा के लिए तादृश वचनप्रयोग निषिद्ध है।

शंका :- जब गृहस्थ स्वयं ही साधु से प्रश्न करे कि - "महाराज साहब, मैंने यह चीज खरीदी है। आपको यह चीज कैसी लगती है? इन चीजों में से कौन सी चीज खरीदनी चाहिए? इस चीज को बेचने के बाद इसकी किंमत बढ तो न जाएगी न?" - तब साधु भगवंत को गृहस्थ से क्या कहना उचित है? तथा पक्व तैल आदि स्थल में भी क्या बोलना चाहिए?

समाधान :- ***अभिधा.*** इति। कुछ न कुछ बोलने का प्रयोजन उपस्थित होने पर साधु को निरवद्य भाषा ही बोलनी चाहिए। इसके लिए बोलने का प्रसंग उपस्थित हो उसके पूर्व में ही गुरुगम से शास्त्र के तात्पर्य का पर्यालोचन कर के शास्त्रोक्त भिन्न-भिन्न विधि को जानना भी आवश्यक है। बाद में आवश्यकता के अनुसार गुण-दोष का अन्वेषण कर के निरवद्य भाषा को ही बोलना चाहिए। प्रदर्शित सुपक्व आदि स्थल में प्रयोजन उपस्थित होने पर क्या बोलना? इसका संक्षेप में यहाँ बयान किया जाता है। देखिए, जब कोई मुनिराज ग्लान होने के सबब सहस्रपाक आदि तैल की, जो अच्छी तरह पकाया गया है, जरूरत हो तब गृहस्थ से ऐसा कथन करना चाहिए कि-आपने उद्योग कर के जो सहस्रपाक तैल बनाया है उसकी हमें जरूरत हैं। इस तरह बोलने से गृहस्थ के आरंभ की अनुमोदना, जो 'सहस्रपाक अच्छी तरह बनाया गया है' - इस वाक्य को बोलने पर हो जाती है, नहीं होती है और साधु के इष्ट कार्य की सिद्धि भी होती है। इस तरह साधु भगवंत से मार्ग बताना आदि प्रयोजन उपस्थित हो, जिसमें अच्छी तरह कटे गए अरण्य को बताना जरूरी बन जाता है, तब प्रयत्नच्छिन्न शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जैसे, 'आप बेखौफ बन कर उस जंगल में बिहार कीजिएगा, क्योंकि भारी कोशिश से वह कटा गया है'। इस तरह बोलने पर अरण्यच्छेदन की अनुमति नहीं

१ 'द्यमव.' इत्यशुद्धः पाठः मुद्रितप्रतौ मूलगाथोक्त-चियं-शब्दस्यालंनतापत्तेः।

तथा **प्रयत्नसुन्दरा** कन्या' इति दीक्षिता सती सम्यक् पालनीयेत्यर्थः।

तथा सर्वमेव वा कृतादि कर्मनिमित्तमालपेत् गाढप्रहारं च क्वचित्प्रयोजने गाढप्रहारं ब्रूयात् एवं हि तदप्रीत्यादयो दोषाः परिहृता भवन्तीति।

व्यवहारं पृष्टश्च साधुरेवं भाषेत यदुत "नाहं भाण्डमूल्यविशेषं जानामि न चात्र क्रयविक्रयार्हं वस्तु ददामि कस्यचित्, किं वा

नानुमत्यादयो दोषा न वा प्रयोजनासिद्धिः। **प्रयत्नसुंदरा कन्येति**। अत्र न शारीरं सौंदय प्राधान्येनाऽभिधीयते किन्तु प्रयत्नेन दीक्षानिर्वहण-योग्यत्वमिति न सावद्यत्वं वचने। अन्यत्र तु प्रकृते 'सुलष्टोऽयं दारको व्रतग्रहणस्य' (उत्त. ने. वृ. १/३६) इत्युक्तम्।

कर्मनिमित्तमिति। न पापकर्मनिमित्तमित्यर्थः कार्यः, अप्रीत्यादिदोषतादवस्थ्यात् किन्तु शिक्षानिमित्तमित्यर्थः। तदुक्तं ***चूर्णौ*** 'कम्महेउयं नाम सिक्खापुव्वगंति वृत्तं भवति' (द. वै. जि. चू. पृ. २५९) **गाढप्रहारं ब्रूयात्**, न तु सुष्ठु ताडित इति शेषः। तदुक्तं 'पयत्तपक्कत्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्नत्ति व छिन्नमालवे। पयत्तलट्ठित्ति व कम्महेउअं, पहार-गाढत्ति व गाढमालवे।।' (द. वै. ७/४२)।।९४।।

होती है और अपने अभिप्रेत प्रयोजन की सिद्धि भी हो जाती है।

तथा जब कोई लडकी दीक्षा के योग्य है ऐसा अन्यसे बताना हो तब-यह लडकी बहुत सुंदर हैं-ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि तादृश साधुवचन को सुन कर लोग तरह-तरह की मनमानी कल्पना करते हैं। उस स्थल में 'यह प्रयत्नसुंदर है' अर्थात् दीक्षा के बाद इसकी अच्छी तरह हिफाज़त और परवरीश करनी चाहिए- ऐसा कथन करना चाहिए। इस वाक्य को सुन कर लडकी के पिता आदि गृहस्थ को गेरसमज़ नहीं होती है बल्कि यह महसूस होता है कि-दीक्षा के बाद सावधानता और जागरूकता से यह अच्छी साध्वी बनेगी। इस तरह सोच कर लडकी के पिता आदि उसे दीक्षा की अनुमति देने को तैयार होते हैं। देखिए, बोलने में कितनी सावधानी रखनी पड़ती है, वरना अर्थ का बड़ा अनर्थ हो जाए।

तथा सर्वमेव कृता. इति। तथा कोई पढाई या खेलकूद में प्रथम कक्षा में उत्तीर्ण हो, कोई बड़ी ईमारत का निर्माण हो, सर्कस का खेल हो, विज्ञान के अनेक नूतन आविष्करण हो, ट्रेज़ेडी से पूर्ण पीक्चर (चलचित्र) की रचना हो, पेलेस (राज़महल) हो, स्टंट से भरा नाटक तैयार हो, क्रिकेट आदि खेल में कोई ज्यादा रन बनाता हो या सुपर बोलींग कर के हेट्रिक लेता हो, गोल्डनबीच या शिल्पस्थापत्य का सर्जन हो, म्युझियम हो, नेशनल पार्क या वृन्दावन गार्डन हो, प्राणीसंग्रहालय हो, ताज़महल या फाइवस्टार होटल हो, रिलेक्षेबल मारुति गाडी या लक्झरी बस का उत्पादन हो, या मेझिक हो, इनके संबन्ध में साधु से कोई प्रश्न करे कि- 'बापजी! यह आपको कैसा लगता है?' तब साधु के लिए यह कहना उचित हैं कि- 'यह सब शिक्षा का फल है, अभ्यास का परिणाम है, कला का नतीजा है'। ऐसा बोलने से उन सावद्य कार्यों की अनुमोदना नहीं होती है। उन स्थलों में गृहस्थ प्रश्न करे तब मौन रहने से संभव है कि लोग को यह प्रतीत हो कि- "महात्मा कुछ जानते नहीं हैं कि आज कल दुनिया में क्या हो रहा है?" इस तरह साधु की लघुता होना संभवित है। इससे बचने का अनूठा मार्ग तीर्थंकर भगवंत आदि ने साधु से बताया है जिसको हमने अभी बता दिया है।

गाढप्र. इति। तथा कोई बहुत बूरी तरह घायल हुआ हो तब उसे देख कर 'यह बहुत अच्छी तरह पीटा गया' ऐसा बोलना साधु के लिए निषिद्ध है, क्योंकि तादृश वचन सुन कर उस पीडित मनुष्य को साधु के प्रति अप्रीति या द्वेष होने के सबब अन्ततो गत्वा जिनशासन के प्रति अरुचि-असद्भाव हो जाता है। उस स्थल में कुछ प्रयोजन के सबब उस आदमी को बताना जरूरी हो, तब करुणा से ऐसा कहना चाहिए कि- 'इसे गाढ मार पड़ा हैं'। इस तरह बोलने पर उसे साधु के प्रति अप्रीति तो नहीं होती है बल्कि यह प्रतीत होता हैं कि- 'साधु मेरी ओर हमदर्दी बताते हैं'। सत्य होने के बावजूद भी पीडाकर वचन साधु के लिए परिहार्य है यह यहाँ तात्पर्य है।

शंका :- हमने पूर्व में जो प्रश्न किया था कि- 'क्रय-विक्रय आदि के प्रसंग में गृहस्थ से जब साधु पूछा जाए तब साधु के लिए क्या बोलना उचित और अनुज्ञात है?' इसको तो आप भूल ही गये हैं- ऐसा लगता है। आज-कल साधु से गृहस्थ ऐसे अनेक प्रश्न कर रहे हैं।

विरतानामस्माकमीदृशेन व्यापारेण" इति।।९४।।

[1]अब्भुच्चयं ण भासिज्जा आणत्तिं अजयाण य। असाहुलोगं साहुत्ति सदोसासंसणं तहा।।९५।।

केनचित् कस्यचित् सर्वमेतत् त्वया वक्तव्यमिति संदिष्टे सर्वमेतद् वक्ष्यामीति संदेशं प्रयच्छन् 'सर्वमेतदि'ति वा**भ्युच्चयं न भाषेत**=न वदेत् सर्वस्य तथास्वरव्यञ्जनाद्युपेतस्य वक्तुमशक्यत्वेनाऽसम्भवाभिधाने द्वितीयव्रतविराधनाप्रसङ्गात्। तथा च 'सर्वे साधवो गता न वा?' इत्यादिस्थले सर्वथाऽनुविचिन्त्यैव वदेत् यथाऽसम्भवाभिधानं न भवतीति।

स्वस्य सन्देशवाहकत्वदशायां वाग्विधिमुक्त्वा सन्देशदातृत्वदशायां तत्प्रदर्शयति। **सर्वमेतदिति वेति**। एतदित्यनन्तरं 'एवं त्वया वक्तव्यमि'ति शेषः। **अभ्युच्चयमि**ति। नियमेनाऽन्वयोऽभ्युच्चयः। तत्सूचकः शब्दोऽप्यभ्युच्चय इत्युच्यते अभ्युच्वस्य भाषणेऽशक्यत्वं (ग्रं. ६५०० श्लोक) प्रदर्शयति **सर्वस्येति**। तदुक्तं ***चूर्णौ*** जहा कोइ कत्थइ गच्छमाणो केणइ भणेज्जा, जहा मम वयणेण देवदत्तं इयं भणेज्जासि त्ति। तत्थ न वत्तव्वं 'जहा सव्वमेयं वइस्सामि'त्ति। किं कारणं? जेण सो सव्वं सरवंजणमधुरकडुयादिहिं गुणेहिं उववेयं तहेव अविसेसियं सव्वं भणिउं ण समत्थोत्ति। तहा सव्वमेतं ति णो वएज्जा जहा सव्वमेतं मम वयणेण अमुकं नामदेयं भणिज्जासित्ति। एवमादि भासं णो वदेज्जा" (द.वै.जि.चू.पृ. २६०)

यद्यपि गृहस्थसन्देशप्रदानादेः दूतीदोषत्वेन नोत्सर्गतोऽनुमतत्वं **तथापी**दमपवादाभिप्रायेण यद्वा धर्मोपदेश-स्मारण-वारणाद्यभिप्रायेण यद्वा साधुकथनाद्यभिप्रायेण द्रष्टव्यमिति न दोषः। **अनुविचिन्त्यैवेति**। सूक्ष्मालोच्येति। तदुक्तं 'सव्वमेअं वइस्सामि सव्वमेअं ति नो वए। अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं।।' (द.वै. ७/४४)

समाधान :- व्यवहारं पृष्ट इति। ना, हमें अच्छी तरह वह ख्याल में है। मगर साथ साथ प्रासंगिक जानकारी भी देना उचित समझ कर हमने यह सब बताया है। अब सुनियेगा आपके प्रश्न का प्रत्युत्तर। जब क्रय-विक्रय आदि के प्रसंग में गृहस्थ साधु से प्रश्न करे कि-'यह चीज कैसी है? इसका मूल्य क्या है?' इत्यादि, तब गृहस्थ से ऐसा कथन करना साधु के लिए मुनासिब है कि- "मैं इस चीज की किंमत नहीं जानता हूँ, क्योंकि यहाँ दीक्षा लेने के बाद क्रय-विक्रय के योग्य चीज किसीको न तो देता हूँ और न लेता हूँ। हम बाजार में कभी खरीदी करने के लिए नहीं जाते हैं, जिससे हमें इस बात की जानकारी हो। संसार को ठुकरानेवाले हम महात्माओं के लिए इसकी आवश्यकता भी क्या है कि- 'किस चीज की किंमत क्या है? हम तो जीर्ण-शीर्ण वस्त्र आदि जो मिलते हैं उनसे निर्दोष संयमजीवन का निर्वाह कर रहे हैं"। ऐसा कहने में गृहस्थ का खौफ या शर्मिन्दगी रखना साधु के लिए नामुनासिब है, अन्यथा लोकसंज्ञा में पड़ कर जनमनरंजन करने में संयमजीवन की बरबादी और कंटकपूर्ण संसार की आबादी भी संभवित है। मन लग गया फकिरी में, अमीरी क्या बेचारी? अस्तु! इस गाथा का सारांश यह है कि प्रयोजन उपस्थित होने पर शास्त्र के तात्पर्य को ख्याल में रख कर, सोच समझ कर प्रिय-पथ्य-तथ्य-शुद्ध-निरवद्य वचन का साधु प्रयोग करे और सावद्य वचन का त्याग करे।।९४।।

गाथार्थ :- साधु को अभ्युच्चय नहीं कहना चाहिए। तथा असंयत के प्रति आज्ञापनी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, असाधु को साधु नहीं कहना चाहिए तथा सदोष आशंसन भी नहीं बोलना चाहिए।९५।

*** अभ्युच्चयकथन त्याज्य है ***

विवरणार्थ :- साधु के लिए अभ्युच्चय भाषा बोलना निषिद्ध है। जैसे कोई साधु से कहे कि- 'आप वहाँ जाते हैं तो उसे यह सब कुछ कहना' ऐसा कह कर संदेश बतावे तब 'मैं यह सब कहूँगा' ऐसा साधु कहे तो यह अभ्युच्चय भाषा हुई। यहाँ अभ्युच्चय का अर्थ यह होता है कि- संदिष्ट सब वस्तु का ज्यों का त्यों अवश्य कथन करने का-=संदेश देने का अंगीकारसूचक वचन। इसी तरह जब मुनिराज किसीके द्वारा संदेश भेजते हुए यह सूचना दे कि- 'आप यह सब कुछ ज्यों का त्यों कहना' तो यह भी अभ्युच्चय भाषा है। अभ्युच्चय भाषा बोलना मुनिराज के लिए निषिद्ध है, क्योंकि संदेश देनेवाले ने जिन स्वर, व्यंजनों का, जो मधुरता-कर्कशता-ह्रस्वता-दीर्घता आदि अनेक विशिष्ट धर्मों से युक्त हैं, प्रयोग किया है वैसे माधुर्यादियुक्त स्वर-व्यंजन आदि का

१ अभ्युच्चयं न भाषेत आज्ञप्तिमयतानां च। असाधुलोकं साधुरिति, सदोषाशंसनं तथा।।९५।।

ननु 'सर्वो ग्रामो भोक्तुमागत' इत्यादिवत् 'सर्वमेतत्' इत्यादिकं नासम्भवग्रस्तमिति **चेत्? न,** समुच्चये तथाविधविवक्षाऽभावात् चारित्रभावावस्थायामेतादृशाऽप्रयोगाच्च।

शङ्कते-**नन्विति**। **सर्वो ग्राम** इति। यथा ग्रामस्य प्रधानपुरुषापेक्षया यद्वा प्रायिकापेक्षया तत्र नासम्भवग्रस्तत्वं तथा प्रकृतेऽपि मुख्यप्रतिपाद्यापेक्षया बाहुल्यापेक्षया सन्देशकतात्पर्यनिर्वाहकत्वापेक्षया वा नासम्भवित्वं न वा द्वितीयमहाव्रत-विराधनमिति नन्वाशयः। तन्निराकरोति नेति। **'समुच्चये'** इत्यनन्तरं एव इति गम्यम्। यथासम्भवमन्वयः समुच्चयः। अध्याहृतैवकारेणाभ्युच्चयव्यवच्छेदः कृतः। **तथाविधे**ति। तत्रैव नियमेनाऽन्वयविवक्षाया अभावादिति। अयं भावः तत्र भोजननिमित्तकागमनक्रियाया नाऽवच्छेदकावच्छेदेनाऽन्वयो विवक्षितः किन्त्ववच्छेदकसामानाधिकरण्येन। अतो न तत्राऽसम्भवग्रस्तत्वं किन्तु प्रकृते अभ्युच्चयस्य विवक्षितत्वाद् वाचिकार्थकथनक्रियायाः सन्देशपदप्रतिपाद्याया न कथ-नीयविधयाऽभ्युपगतत्वसामानाधिकरण्येनाऽन्वयो विवक्षितोऽपि तु तदवच्छेदेन। तथा चासंभवग्रस्तत्वमेव प्रकृते इति भावः। यद्वा नञ्प्रश्लेषो न क्रियते तदा समुच्चये एव यथासंभवमन्वयविवक्षाया भावादित्यर्थो लभ्यते। न चार्थभेदः कश्चिदिति सुधिया भावनीयं स्वयमेव।

हेत्वन्तरमाह-**चारित्रेति**। भावचारित्रे सति अभ्युच्चयाऽप्रयोगाच्चेत्यर्थः। अयं भावः तथाऽकथननिश्चयसत्त्वेऽपि

प्रयोग करना-बोलना नामुमकिन है। इसी सबब अभ्युच्चयभाषा का प्रयोग करने में द्वितीय महाव्रत की, जिसका नाम है मृषावादविरमण महाव्रत, विराधना-भंग होने की आपत्ति=दोष के जिम्मेदार साधु होते हैं। द्वितीय महाव्रत की विराधना होने के सबब अभ्युच्चय भाषा साधु के लिए निषिद्ध है। इसी तरह 'सब साधु गये या नहीं?' इत्यादि स्थल में भी सर्व रीति से सोच-समझ कर बोलना चाहिए, जिससे असंभवाभिधान न हो और अपने इष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो।

शंका :- ***ननु सर्वो.*** इति। समूहभोज आदि प्रसंग में यह सुना जाता है कि- 'पूरा गाम जिमने के लिए आया था'। यह प्रयोग तो लोकप्रसिद्ध है। इसी सबब इसके प्रामाण्य=सत्यत्व की उपपत्ति करनी होगी। आपकी दृष्टि से तो गाम के छोटे बच्चे से ले कर बूढ़ा आदमी तक कोई एक भी जिमनवार में अनुपस्थित हो तब तो यह प्रयोग सत्य सिद्ध नहीं हो सकता है। जब सबके सब जिमने के लिए आए हो तभी तादृश वचन सत्य हो सकता है। मगर 'पूरा गाम जिमने के लिए आया था' इत्यादि वचनप्रयोग जहाँ होता है उस स्थल में सब के सब जिमने के लिए उपस्थित थे-ऐसा नहीं होता है, क्योंकि कुछ बूढे-बच्चे लोग या रोगी आदमी समूहभोज में अनुपस्थित होते हैं। मगर फिर भी अनेक बार धार्मिक मासिक-पाक्षिक मेगेझिनों में यह पढा गया है कि- 'अमुक आचार्य भगवंत की निश्रा में की गई प्रतिष्ठा, अंजनशलाका आदि प्रसंग में पूरा गाम समूहभोज में आया था'।

यदि आप यहाँ ऐसा समाधान करेंगे कि 'पूरा गाम' का मतलब गाम के प्रधान आदमी या यथासंभवित लोग या प्रायः गाम के सब लोग ऐसी विवक्षा को लक्ष्य में रख कर उस प्रयोग में प्रामाण्य=सत्यता का समर्थन करेंगे तब तो 'मैं यह सब कहूँगा' इस वाक्य में भी सत्यता सिद्ध हो जायेगी। तब उसे असत्य कहना या उसे बोलने का निषेध करना कैसे मुनासिब होगा?

* समुच्चय और अभ्युच्चय में भेद *

समाधान :- ***न समुच्च.*** इति। आपकी बात ठीक नहीं है, क्योंकि आपसे प्रदर्शित दृष्टांत और प्रस्तुत दार्ष्टान्तिक में वैषम्य है। 'पूरा गाम जिमने के लिए आया था' यह वाक्य समुच्चयवाक्य है जब कि 'मैं यह सब जरूर कहूँगा' यह अभ्युच्चय वाक्य है। समुच्चय वाक्य में यथासंभव अन्वय की विवक्षा होती है, नियमेन अन्वय की विवक्षा नहीं। अर्थात् 'सर्वो ग्रामो भोक्तुमागतः' इस स्थल में भोजनिमित्तक आगमन क्रिया का अन्वय ग्रामस्थ सब लोक में अवश्य हो ऐसा विवक्षित नहीं होता है किन्तु यथासंभव अन्वय विवक्षित होता है, जो अबाधित होने से वह वाक्य मृषा नहीं होता है। मगर 'सब कहूँगा' यह अभ्युच्चय वाक्य होने के सबब प्रतिपादित सब शब्द में अवश्य कथनक्रिया का अन्वय होना चाहिए, यथासंभव नहीं। मगर सबका अवश्य अन्वय (संबंध) तो नामुमकिन है- यह पूर्व में बताया गया है। अतः यहाँ दोहराकर बताना हम नामुनासिब समझते हैं।

* भावचारित्र की उपस्थिति में असंभव अवधारणकथन नामुमकिन *

चारि. इति। इसके अतिरिक्त इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि भावचारित्रधारी साधु भगवंत अभ्युच्चय का, जो

तथा अयतानां = असंयतानां **आज्ञप्तिं** 'आस्व एहि कुरु वा इदं कार्यं शेष्व तिष्ठ प्रज' इत्यादिरूपां, **न भाषेत** = न वदेत्, अयतनाप्रवर्त्तनप्रयुक्तदोषप्रसङ्गात्।

तथाकथनस्वीकृत्यादिना भावचारित्रविघटनात्तन्निषेधो यद्वा तस्य भावचारित्रप्रतिपन्थित्वादेतत्सत्त्वदशायामनुविचिंत्य भाषिणो मुनेः तादृशप्रयोगस्याऽसम्भवादिति। तदुक्तं ***आचाराङ्गे*** 'से भिक्खु वा भिक्खुणी वा वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीयि णिट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी समियाए संजते भासं भासेज्जा।। (आचा. २/४/२-सू. १४०) अत एव साधूनामवधारिणी भाषा वक्तुं नाऽनुज्ञाता। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** 'ओहारिणी जा य' (दश.वै. ७/५४) इति।

नन्वेवं सति 'स्याद् नित्य एव जीव' इत्यादिरूपा भाषाऽपि निषिद्धा स्यादिति **चेत्? मैवम्,** या अवधारणी भाषा एकान्तवादात्मिका सैव निषिद्धा न तु नयरूपाऽपि, तस्याः प्रमाणपरिकरत्वेन तत्राऽवधारणीयत्वस्य निश्चायकत्व-रूपभाषालक्षणान्वयेनैव सिद्धान्तसिद्धत्वात्। **न च** भाषामात्रस्याऽवधारणीत्वेऽप्याऽऽराधकत्व- विराधकत्वतदुभयानुभयैः सत्यादिभेदचतुष्कोपदेशान्नयभाषाया देशाराधकत्वेन तृतीयभङ्गे एव प्रवेशात् साधूनामनादरणीयत्वमित्यपि **साम्प्रतम्** चतुर्धा विभागस्य द्रव्यभावभाषायामेवोपदेशात् परिगणितमिश्रभाषाभेददशकानन्तर्भावादेव नयभाषायां दोषाऽभावात्। श्रुतभावभाषायाञ्च तृतीयमिश्रभाषाया अनधिकृतत्वात्। चारित्रभावभाषायामाद्यन्तयोर्भाषयोरधिकृतत्वेऽप्यायुक्ततया चतसृणामपि भाषणे आराधकत्वाऽविरोधस्य ***प्रज्ञापनादौ*** यथोक्तं तथा प्राक् प्रदर्शितमेव। किञ्च 'स्यान् नित्य एव जीव' इत्यत्र प्रतीत्यसत्यालक्षणं स्फुटमेव किं नोन्नीयते? **न च** सप्तभङ्गात्मकवाक्यस्यैव प्रतीत्य-सत्यात्वमिति **वाच्यम्** अपेक्षात्मकबोधजनकवाक्यत्वस्यैव तल्लक्षणत्वादिति प्रागुक्तं स्मरतु भवान्। अन्यथा एकत्राऽपेक्षया ह्रस्वदीर्घादिलौकिकवचनस्याऽलक्ष्यत्वापत्तेः। **न च** सर्वत्राऽलौकिक्येव सत्या लक्ष्येति **स्वीकर्तव्यम्** जनपद-सत्यादिभेदाऽनुपसङ्ग्रहापत्तेः।

ननु तथापि उत्सर्गतोऽनादरणीयत्वादेव नयदुर्नयभाषयोरविशेषः। तथोक्तं ***श्रीसिद्धसेनदिवाकराचार्येण*** 'सीसमइ-विप्फारणमेत्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो। इहरा कहामुहं चेव णत्थि एयं ससमयंमि।। (सं.त.कां. ३/गा. २५) इति **चेत्? न,** शिष्यमतिविस्फारकत्वं हि नयवाक्यस्य प्रमाणात्मकमहावाक्यजन्यशाब्दबोधजनकावान्तरवाक्यार्थज्ञानजनकत्वं,

---

असंभवित है, कथन करते ही नहीं हैं। चारित्र की विद्यमानता में जिस भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता है उसका निषेध कोटि में निर्देश करना भी तो उचित ही है। इसीलिए भी अभ्युच्चय भाषा बोलना साधु के लिए निषिद्ध है।

* गृहस्थ से आज्ञा करना साधु के लिए निषिद्ध *

तथा अयतानां. इति। गाथा के द्वितीय पाद का विवरण करते हुए महोपाध्यायजी महाराज कहते हैं कि असंयत ऐसे गृहस्थ के प्रति आज्ञापनी भाषा बोलना साधु के लिए निषिद्ध है। जैसे, गृहस्थ से 'बेठिए, आइए, यह काम करो, अब सो जाओ, खडे रहो, यहाँ से चले जाओ' इत्यादि कहना आज्ञापनी भाषा है। इस भाषा को गृहस्थ के प्रति बोलने का साधु के लिए निषिद्ध होने का कारण यह है कि गृहस्थ से आज्ञा करने से अयतनाप्रवर्तनप्रयुक्त दोष होते हैं। शास्त्र में गृहस्थ को तपे हुए लोहे के गोले के समान बताया गया है। जैसे तप्त अयोगोलक जहाँ जाता है वहाँ विराधना और जीवों को पीडा करता है वैसे गृहस्थ भी अपनी प्रवृत्ति से जीवों की विराधना करता है। उसे आज्ञा देने से उस विराधना की भी अनुमोदना हो जाती है। अधिकरण दोष भी होता है, चूँकि साधु के वचन से गृहस्थ प्रवृत्त हुआ है। अनिष्ट आज्ञा करने पर गृहस्थ को साधु के प्रति अप्रीति-द्वेष आदि भी हो सकता है। इस तरह अनेक दोष के सबब गृहस्थ से आज्ञा करना साधु के लिए निषिद्ध है।

* असाधु को साधु कहना मृषावाद हैं *

तथा साधु. इति। अब विवरणकार गाथा के तृतीय पाद का विवरण करते हैं कि आजीवक आदि को, जो हिंसा में प्रवृत्त होने

तथाऽसाधुलोकं = आजीविकादिकं लोकैः साधुशब्देनाऽभिलाप्यमानं, **'साधुरयमि'**ति न वदेत्, मृषावादप्रसङ्गात्। **न चत**द्वचनस्य रूपसत्याद्यन्तर्गततया न मृषात्वमिति **शङ्कनीयम्,** गुणोपबृंहणप्रवणानामीदृशानामन्वर्थशब्दानामविषये मोहादेव प्रयुज्यमा-

तदनुकूलाकाङ्क्षोत्थापकत्वं वा। तेन तस्याऽऽदरणीयत्वस्येव सिद्धेः। तदुक्तं **महावादिनैव सम्मतितर्के** 'पुरिसज्जायं तु पडुच्च झाणओ पण्णविज्ज अन्नयरं। परिकम्मणानिमित्तं राहेही सो विसेसंपि।। (सं.त.का. १/गा. ५४) इति प्रमाण-वाक्यमपि ह्यनेकान्तरुचिशालिनं पुरुषविशेषमधिकृत्यैव प्रयुज्यते। तदनयोर्द्वयोरपि कारणिकत्वे प्राप्ते स्वस्वकाले औत्सर्गिकत्वमेव न्यायसिद्धं, विप्रतिषिद्धकारणविधिस्थले तथाव्युत्पत्तेरिति विभावनीयं परिणतप्रवचनैः।

असंयतानामिति। तदुक्तं 'तहेवासंजयं धीरो आस एहि करेहि वा। सयं चिट्ठ वयाहित्ति नेवं भासिज्ज पन्नवं।। (द.वै. ७/४७) **अयतनेति**। तदुक्तं ***चूर्णौ*** 'असंजतो सव्वतो दोसमावहति चिट्ठंतो तत्तायगोलो। जहा तत्तायगोलो जओ खिवइ ततो डहइ तहा असंजओ वि सुयमाणोऽवि णो जीवाणं अणुवरोधकारओ भवति, किं पुणा जागरमाणोत्ति' (द.वै.जि.चू.पृ. २६१)

असाधुलोकमिति। तदुक्तं 'बहवे इमे असाहु लोए वुच्चंति साहुणो। ण लवे असाहु साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे।। (द.वै. ७/४८)। **आजीविकादिकमिति**। आदिपदात् निह्नवबोटिकपाखण्ड्यादिग्रहः। असाधुत्वं चैतेषु निर्वाणसाधक-योगापेक्षया। **मृषावादप्रसङ्गात्** = भावसाधुत्वशून्ये साधुत्वप्रकारकशाब्दबोधजनकत्वेनासत्यत्वापत्तेरित्यर्थः।

ननु तद्रूपवति प्रवर्त्तमानत्वेन भावार्थबाधप्रतिसन्धानसध्रीचीन-तद्रूपवद्गृहीतोपचारकपदघटितभाषात्वस्य रूपसत्य-लक्षणस्याक्षतत्वाद्रूपसत्यमेवेदं वचनं न तु मृषेति शङ्कां निरसितुमुपक्रमते-नचेति। प्रयोगा एवं- आजीविकादिविषयकं साधुवचनं न मृषा रूपसत्यत्वात् द्रव्यलिंगिविषयकसाधुवचनवत् तथा आजीविकादिविषयकसाधुवचनं रूपसत्यं तल्लक्षणाक्रान्तत्वात् तद्वदेवेति। **रूपसत्याद्यन्तर्गततयेति**। आदिशब्देन व्यवहारसत्याऽऽदिग्रहः।

तन्निरस्यति- **गुणेति**। मोक्षमार्गसाधकत्वप्रतिपादनपरत्वेन गुणप्रशंसनप्रवणानां साध्वादिशब्दानां **अविषये**=योगार्थ-विनिर्मुक्ते वस्तुतत्त्वावधारणविकलचित्तवृत्तिलक्षणा**न्मोहादेव प्रयुज्यमानत्वेन** मृषात्वाऽनपायादिति प्रथमो हेतुः। प्रयोगा एवम् आजीविकादिविषयकं साधुवचनं मृषा मोहप्रयुक्तत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्। तदुक्तं ***वाचकमुख्येन*** -'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्'। ( )। तदपि कुतः? उच्यते विप्रतिपन्नवचनं मोहप्रयुक्तं योगार्थशून्ये योगार्थप्रतिपादन-परत्वात्; गृहस्थे साधुशब्दवत्।

से वास्तव में साधुत्व शून्य है, 'यह साधु है' ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वैसा कथन करने से मृषावाद होने का दोष प्राप्त होता है। आजीवक मत के संन्यासी आदि का लोक तो साधुशब्द व्यवहार करता है। साधुशब्द से उन्हें पुकारता भी है। मगर भावसाधुत्व उसमें नहीं होता है। जो विशिष्टरूप से मोक्षमार्ग के साधक होते हैं वे भावसाधु होते हैं। आजीवक आदि तो संसार के साधक होने से साधु नहीं है। अतः असाधु में साधुशब्द का प्रयोग करना मृषावाद है।

शंका :- *न चैत.* इति। जैसे द्रव्यलिंगी (पासत्था, शिथिलाचारी) में प्रत्युक्त 'साधु' शब्द मृषावाद नहीं है मगर रूपसत्य भाषा है, क्योंकि उसमें भावसाधुत्वशून्यता होते हुए भी भावसाधु का लिङ्ग (रजोहरण आदि) विद्यमान होने से उसमें प्रयुक्त साधुशब्द में रूपसत्य भाषा का लक्षण रहता है। ठीक वैसे ही आजीवक आदि में भावसाधुत्व नहीं होते हुए भी साधु का लिंग = वेश तो विद्यमान ही है। हाँ, रजोहरणादि लिंग नहीं होते हैं किन्तु उसके धर्म में बताया हुआ वेश तो अवश्य रहता है। अतः उसमें प्रवृत्त साधु आदि शब्द को रूपसत्य कहना ही उचित है, असत्य नहीं। 'रूपसत्याद्यन्त' यहाँ जो आदि पद है उससे व्यवहारसत्य आदि के ग्रहण की सूचना होती है।

✱ दुर्गुणी में गुणोपबृंहक शब्द का प्रयोग निषिद्ध है ✱

समाधान :- *गुणो.* इति। आजीवक आदि में प्रयुक्त साधुशब्द असत्य है- ऐसा हमने जो कहा है उसे पत्थर की लकीर समझ लो। इसका कारण यह है कि साधुशब्द मोक्षमार्गसाधकत्वरूप गुण का प्रतिपादक है जैसे धनपति शब्द धनस्वामित्व का। अतएव

नत्वेन दोषानुबन्धितया च मृषात्वोपपत्तेः। अत एव स्वविषये एतत्प्रयोगस्य गुणानुबन्धितया ज्ञानदर्शनचारित्रसंपन्ने भावसाधौ साधुपदानभिलापे[1] उपबृंहणातिचारदोषप्रसङ्ग इति वदन्ति।

हेत्वन्तरमाह **दोषानुबंधितया** चेति मिथ्यात्वोपबृंहणादिदोषानुबन्धितया चेत्यर्थः। प्रयोगा एवम् विवादास्पदीभूतं वचनं मृषा दोषानुबन्धित्वात् क्रोधादिनिःसृतवचनवत्। तदपि कुतः? उच्यते आजीवकादौ साधुशब्दः दोषानुबन्धी कुगुरौ सुगुरुबुद्धिजनकत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्।

एतेन आजीवकादौ साधुशब्दः 'अयं लोकैः साधुपदेन व्यवह्रियते' इति तात्पर्यप्रयुक्तः न तु 'अयं भावसाधुः' इति विवक्षया प्रयुक्तः। तेन तस्य व्यवहारसत्यत्वमेवेति **निरस्तम्** तथाविवक्षया प्रयोगेऽपि श्रोतॄणां पारमार्थिकसाधुत्वप्रकारकशाब्दबोधजनकत्वेन तत्प्रयोगस्य निषिद्धत्वात्, साधुपदप्रवृत्तिनिमित्तशून्ये तत्प्रयोगेनोन्मत्तप्रलापत्वापत्तेश्च।

अभिधानप्रयोजने तूपस्थिते तं नामधेयेन तदस्मरणे च गोत्राभिलापेन तदस्मरणे आजीवकाद्यभिधानेन तदज्ञानेऽङ्गुलिनिर्देशादिना 'अयमागत' इत्यादिरूपेण प्रदर्शयेत् येन न दोषापातो न वा प्रयोजनासिद्धिरिति। **एतेन** प्रसिद्धद्रव्यलिङ्गिविषयकवाग्विधिरपि **व्याख्यातः**।

अत एवेति। साध्वादिशब्दानां सान्वर्थत्वादेवेति। **स्वविषये** = साध्वादिशब्दयोगार्थसमायुक्ते, **एतत्प्रयोगस्य** = साध्वादिशब्दप्रयोगस्य, **गुणानुबन्धितया** = साध्वादिविशेष्यक-साधुत्वादिप्रकारकबुद्ध्याधान-तद्बहुमान-भक्ति-सत्प्रशंसादिलक्षणोपबृंहणादिगुणावहतया। **ज्ञानदर्शनचारित्रसम्पन्ने** इति। स्वरूपविशेषणमेतत्। तदुक्तं 'नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं। एवंगुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे।। (द.वै. ७/४९)।

उपबृंहणातिचारदोषप्रसङ्ग इति। उपबृंहणं नाम समानधार्मिकाणां वैयावृत्त्यादिगुणानामनुमोदनं प्रशंसनं। तदुक्तं ***निशीथचूर्णौ*** 'उववूहणत्ति वा पसंसत्ति वा सद्धाजणणत्ति वा सलाघणत्ति वा एगट्ठा' (नि.चू.उ. १) उपबृंहणं च दर्शनाचारः, तदकरणेन दर्शनाचारातिचारस्स्यादिति भावः। उपबृंहणं च विनयतयाऽन्यत्रोक्तः। तदुक्तं ***श्रीनिशीथ*** 'खवणे वेयावच्चे विणए सज्झायमादिसंजुत्तं। जो तं पसंसए य स होति उवबूहणाविणओ'।। (नि.२७) एवं स्वविषये तदप्रयोगेनोपबृंहणाख्यविनयातिचारस्स्यादिति अपि सम्भवति। **वदन्तीति**। ***श्रीहरिभद्रा***चार्यप्रमुखाः श्रुतवृद्धा इति शेषः।

साधुशब्द साधु के तादृश गुण का उपबृंहक है। साधु में साधु शब्द के प्रयोग से उसमें रहे हुए मोक्षमार्गसाधकत्वरूप गुण की प्रशंसा होती है। इसलिए जो मोक्षमार्ग का साधक नहीं है उसमें मोक्षमार्गसाधकत्वरूप गुण के सूचक एवं अनुमोदक शब्द का जो प्रयोग करेगा वह पुरुष अवश्य मूढ होगा। वह व्यामोह के सबब ही असाधु में साधु शब्द का प्रयोग करता है। मोहप्रयुक्त होने से वह वचन मृषा है, इसमें कोई विवाद नहीं है। आजीवकादि में प्रयुक्त साधुशब्द मृषा होने का दूसरा हेतु है दोषानुबंधित्व। साधु शब्द को सुन कर श्रोता को आजीवक आदि में पारमार्थिक साधुत्व की बुद्धि उत्पन्न होती है। इस तरह मिथ्यात्व और असंयम का उपबृंहण (अनुमोदन) हो जाता है। इसके अतिरिक्त आज्ञाभंग, अनवस्था, कर्मबन्ध आदि अनेक दोष होते हैं। दोषानुबंधी होने से वह भाषा मृषा है - यह सिद्ध होता है।

* गुणवान की अनुपबृंहणा दोषरूप है *

अत एव. इति। साधु आदि शब्द सार्थक होने से गुण का अनुमोदक है और असाधु में प्रयुक्त वह दोषावह है, मृषा है। इसीलिए भावसाधु में साधु पद का प्रयोग न करने पर उपबृंहणरूप दर्शनाचार में अतिचार दोष लगता है। आशय यह है कि साधु शब्द सार्थक होने से जब ज्ञानदर्शनचारित्रसंपन्न भावसाधु में प्रयुक्त होता है तब उसके साधुत्व की यानी ज्ञानादि रत्नत्रय से मोक्षमार्गसाधकत्व की अनुमोदना होती है, जो सम्यग्दर्शन का आचार होने से गुणानुबन्धी है। भावसाधु में प्रयुक्त साधुशब्द को सुन कर श्रोता को भी साधु के प्रति आदर-भक्तिभाव पेदा होता है। अतः अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल एवं स्थिर करने के लिए भावसाधु में साधु शब्द का प्रयोग करना चाहिए। जब रत्नत्रयसंपन्न मुनिराज में साधु शब्द का प्रयोग नहीं होता है तब उसके गुण

१ मुद्रितप्रतौ 'लापेन' इति पाठः।

ननु यद्येवं बोटिकनिह्नवादा[1]वन्वर्थसाधुशब्दाभिधानं मृषा कथं तर्हि पाषाणमय्यां प्रतिमायामन्वर्थार्हदादिपदगर्भस्तुतिकरणं सार्थकमिति **चेत्?** आः पाप! वृथा छिद्रान्वेषणमेतत् उक्तस्थलेऽसंयतोपबृंहणदोषाभावेन स्थापनासत्यस्याऽनिरुद्धप्रसरतया दोषा-

लुम्पकःप्रतिबन्द्या शङ्कते **नन्विति**। **यद्येव**मिति। साधुशब्दस्य गुणोपबृंहणप्रवणत्वेन **बोटिकनिह्नवादौ** = जिनोक्तापलापेन मिथ्यात्वकलुषितहृदयतया भावयतित्वशून्ये आशाम्बरादौ, **अन्वर्थसाधुशब्दाभिधानं** = सार्थकसाधुपदप्रयोगो मृषेत्युपेयते युष्माभिरिति शेषः। लुम्पकः स्वकलुषिताशयं प्रकटयति-**कथ**मिति। प्रतिमायामार्हन्त्यादिपरगुणप्रतिपादनप्रवणार्हदादिपदस्य मृषात्वमेव स्वाऽविषये प्रवर्त्तनात्, तस्या जडत्वेन जीवगुणविकलत्वात्। असत्यवचनं च पापकर्मबन्धकारणमेव अतो न तत्र तादृशपदगर्भितस्तवनादिकरणं सार्थकं = निर्जरा-पुण्यबन्धादिकारणम्। प्रयोगा एवम् प्रतिमाविषयकार्हदादिपदं मृषा सार्थकपदत्वे सति स्वाऽविषयविषयकत्वात् बोटिकविषयकसाधुपदवत्। प्रतिमायामर्हदादिपदप्रयोगः कर्मबन्धादिहेतुः मृषापदप्रयोगत्वात् आशाम्बरविषयकसाधुपदवत्। प्रतिमायामर्हदादिपदगर्भस्तवनं न कर्तव्यं अशुभकर्मबन्धादिहेतुत्वात् दिगम्बरविषयकसाधुपदप्रयोगवत्" इति **लुम्पकाशयः**।

तन्निराकरोति **आः पाप** इति। करुणागर्भं शिक्षावचनमिदम्। अतो नासत्यमिति ध्येयम्। **उक्तस्थले** = प्रतिमायामर्हदादिपदे। **असंयतोपबृंहणदोषाभावेन**ति। इदमुपलक्षणं तज्जातीयभिन्नत्वस्य। अयं भावः भगवत्प्रतिकृष्टे बोटिकादौ साधुप्रयोगे सति प्रयोक्तुः पापकर्मबन्धः१, आज्ञाभंगः२, तच्छ्रुत्वा अन्येऽपि तत्र साधुपदं प्रयुञ्जत इत्यनवस्था३ तच्छ्रवणेऽन्येषां तत्र साधुत्वबुद्धिजननेन मिथ्यात्वं४, तत्कृतासंयमोपबृंहणेन संयमविराधना५, अन्येषां साधुपद-

की उपबृंहणा-अनुमोदना न करने के सबब सम्यग्दर्शन के आचार में अतिचाररूप दोष लगता है ऐसा श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराज आदि प्रामाणिक ज्ञानवृद्ध आचार्यों ने बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि असाधु में जैसे साधुशब्द का प्रयोग दोषावह है वैसे साधु में साधु शब्द का अप्रयोग भी दोषावह है। असाधुता की आशंका का निमित्त भी होता है।

लुंपक पूर्वपक्ष :- ***ननु यद्येवं.*** इति। यदि भावसाधुत्व से रहित आजीवक, दिगंबर, निह्नव आदि में प्रयुक्त साधु शब्द, जो कि सान्वर्थ है, असत्य है तब तो पत्थर से बनी हुई जड प्रतिमा में अरिहंतपद आदि से गर्भित स्तुति करना भी कैसे सार्थक होगा? आशय यह है कि जैसे भावसाधुत्वशून्य निह्नवादि में प्रयुक्त साधुशब्द असत्य है वैसे अरिहंतत्व, जो कि जीव का ही विशेष गुण है, जिसमें नहीं है ऐसी जड प्रतिमा में प्रयुक्त अरिहंत शब्द भी मृषा ही होगा। जो भाषा मृषा होती है उसका तो त्याग ही करना चाहिए, क्योंकि वह भाषा पापकर्मबंध का निमित्त होती है। अतः प्रतिमा के सामने अरिहंत, भगवंत आदि शब्द से घटित स्तुति आदि का प्रयोग नामुनासिब है।

❋ प्रतिमा के सन्मुख स्तुतिकरण असत्य नहीं है ❋

उत्तरपक्ष :- ***आः पाप!*** इति। उस्ताद! किसीको पानी में से पोरा (जंतुविशेष) निकालते देख कर तुम दुध में से पोरा निकालने की कोशिष कर रहे हो! लानत है आप की दोषदृष्टि को, जो निर्दोष प्रभुप्रतिमा में भी दोष देखने को तैयार हुई है। मगर आपका यह प्रयास व्यर्थ है। दिगंबर आदि निह्नव में, जो मिथ्यात्वग्रस्त होने से भावसाधुत्वविनिर्मुक्त हैं, साधु पद का प्रयोग करने पर उनमें रहे हुए असाधुत्व और दूसरे दोषों की अनुमोदना हो जाती है। इसके अतिरिक्त अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते हैं। इसलिए भावतः असाधु में साधुपद का प्रयोग निषिद्ध है। जब कि जिनप्रतिमा में अरिहंत शब्द का प्रयोग करने पर असंयत की उपबृंहणा आदि कोई दोष नहीं है, क्योंकि जिनेश्वर की भाँति जिनेश्वर की प्रतिमा भी राग-द्वेष-मोह आदि दोष से रहित होती है। जहाँ दोष ही नहीं है वहाँ दोष की अनुमोदना कैसे? जिसमें कोई दोष न हो और भावनिक्षेप का वैजात्य भी हो उसमें तो स्थापना प्रवर्तमान होती है- यह बात तो पूर्व में २१ वीं गाथा में विस्तार से बताई गई है। अतः अरिहंतपद की स्थापना तो प्रतिमा में अनिराकार्य है। इसी सबब जिनप्रतिमा में प्रयुक्त अरिहंत आदि शब्द में स्थापनासत्यत्व की सिद्धि होती है। स्थापनासत्यत्व से विभूषित भाषा का प्रयोग करने में कुछ भी दिक्कत नहीं है। अतः जिनप्रतिमा में अरिहंत आदि शब्द से गर्भित स्तुति करना भी मुनासिब ही है। जाकी रही जैसी भावना, प्रभु मूरति देखी तीन तैसी।

१ मुद्रितप्रतौ - 'देर.' इति पाठोऽशुद्धः।

भावात्, अन्यथा निक्षेपनैष्फल्यादिति **दिग्**।

तथा सदोषाशंसनं न वदेत्। तथाहि-देवासुरनृतिरश्चां विग्रहेऽमुकस्य जयो भवतु मा वाऽमुकस्य भवतु इति नालपेद्, अधिकरण-

---

व्यवहृतस्य तस्याऽसच्चेष्टादिदर्शने प्रवचनविराधना६, कण्ठतालुशोषादिकायक्लेशतो देवताभ्यो वा आत्मविराधना७ इत्यादयो बहवो दोषाः तेन तत्र तत्प्रयोगो निषिद्धः। दोषरहितत्वाभावान्न तत्र साधुस्थापनाऽपि सम्भवति स्थापनाया दोषरहिते तज्जातीयभिन्ने प्रवर्त्तमानत्वस्य पूर्वमुक्तत्वात् नेह पुनः प्रतन्यते। प्रतिमायामर्हदादिपदप्रयोगे न कश्चिद-संयतोपबृंहणादिदोषः नाऽपि प्रतिमायाः तज्जातीयत्वम्। अतः प्रतिमायामर्हत्स्थापना युक्तैव। अतः एव तत्रार्हदादि-पदस्य स्थापनासत्यत्वमनिराकार्यम्। एतेन प्रतिमायामर्हदादिपदगर्भितस्तुतिकरणस्य न केवलं निर्दुष्टत्वं किन्तु महा-निर्जराहेतुत्वमपीति **व्यज्यते**।

विपक्षे बाधमाह-**अन्यथेति**। तज्जातीयभिन्ने निर्दोषे तत्पदस्य स्थापनासत्यत्वाऽनुपगमे। **निक्षेपनैष्फल्यादिति**। स्थापनानिक्षेपानुशासनस्य निष्फलत्वप्रसङ्गादित्यर्थः। अयं भावः स्थापनायां शक्तिरभ्युपगम्यते न वा? इति विकल्प-युगली मञ्जुलमरालयुगलीव विमलीभावमाबिभ्रती प्रतीतिपथमवतेतीर्यते। तत्र शक्तिस्वीकारे शक्तस्य शक्यार्थे प्रवर्त्तनात्सत्यत्वमेव स्यात्। द्वितीयविकल्पस्तु नानवद्यः, स्थापनायां शब्दशक्तिप्रदर्शकप्रागुक्तनिक्षेपानुशासनस्य जाग-रूकत्वात्। तत्र तदनुपगमे तत्र शक्तिप्रतिपादकनिक्षेपानुशासनस्य निष्फलत्वं स्यात्। न चैतदिष्टम्, त्वदुप-गतभावनिक्षेपेऽपि तथात्वापत्तेः अन्यथाऽर्धवैशसप्रसङ्गात्। तस्मात् प्रतिमायामर्हदादिपदस्य स्थापनासत्यत्वमवश्य-मभ्युपेयमिति भावः। ***प्रतिमाशतक-प्रतिमास्थापनन्यायादौ*** विस्तरेणोक्तत्वादत्र **दिगि**त्युक्तम्।

विग्रह इति। वुग्गहणो णाम वुग्गहोत्ति वा विवादोत्ति वा कलहोत्ति वा एगट्ठा इति ***चूर्णिकारः***। **अधिकरण-**

शंका :- जिनप्रतिमा में प्रयुक्त अरिहंत आदि शब्द को मृषा ही माना जाय तो क्या दोष है? चूँकि प्रतिमा में तात्त्विक अरिहंततत्त्व तो है ही कहाँ? तब तो भावार्थशून्य में प्रवृत्त होने से इस भाषा को मृषा ही कहना मुनासिब है।

समाधान :- ***अन्यथा.*** इति। साँप निकल गया, अब लकीर पीटने से क्या? निक्षेपअनुशासन से स्थापना में शक्ति विद्यमान होती है यह तो पूर्व में सिद्ध हो चूका है। आपके मान्य जीवाभिगम, राजप्रश्नीय आदि आगमों के अनुसार भी प्रतिमा = स्थापना में शब्द की शक्ति सिद्ध होती ही है। तब वृथा सावद्य वचन बोल कर अपने मुहँ को ज्यादा कलंकित क्यों कर रहे हैं? यदि स्थापना में शक्ति का स्वीकार न किया जाय और जिनप्रतिमा में प्रयुक्त जिनशब्द को स्थापना सत्य न माना जाय तथा तीर्थंकर के समान भावआचार्य के पवित्र हस्तकमल से शास्त्रोक्त विधिपूर्वक प्राण-प्रतिष्ठित प्रभुप्रतिमा के सामने अरिहंत, भगवंत आदि शब्दों से गर्भित स्तुति और स्तवना को महानिर्जरा का कारण न माना जाय तब तो अनुयोगद्वार आदि में प्रदर्शित निक्षेपअनुशासन निष्फल होने की अनिष्टापत्ति आयेगी। इसका इष्टापत्तिरूप में स्वीकार करने पर आगम की आशातना, अनंतसंसारित्व आदि भयावह दोष आपका सत्यानाश कर देंगे। इस संबंध में बहुत कुछ विचार आगे हो सकता है जिसका विस्तार विवरणकार ने प्रतिमाशतक-प्रतिमास्थापनन्याय आदि ग्रंथों में किया है। इसकी सूचना देने के लिए विवरणकार ने 'दिग्' शब्द का यहाँ प्रयोग किया है।

विवरणकार श्री महोपाध्यायजी महाराज ने अपने काल में चारों और फैले हुए आगमनिह्नव प्रतिमालोपकों की, जो अनेक बार प्रेम से समझाने पर भी अपने कदाग्रह को छोडते नहीं थे, और करुणा से प्रयुक्त प्रशस्त कषाय को 'आः पाप!' शब्द से व्यक्त किया है।

* सदोष आशंसावचन निषिद्ध *

तथा सदोषा. इति। ९५ वीं गाथा के चतुर्थ पाद का विवरण करते हुए विवरणकार कहते हैं कि दोषयुक्त आशंसावचन बोलना साधु के लिए निषिद्ध है। जैसे देव और असुर की या मानव में राजा-राजा की, पशु में मेंढ आदि की लडाई होने पर 'अमुक का जय हो अथवा अमुक जय मत हो, पराजय हो' इत्यादि नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि वैसा बोलने से सावद्य युद्ध की अनुमोदना हो जाती है, 'देव का जय हो' ऐसा बोलने पर विपक्ष असुर के स्वामी को साधु पर द्वेष हो जाता है। संभव है कि वह साधु को

तत्स्वामिद्वेषादिदोषप्रसङ्गात्। तथा वात-वृष्टि-शीतोष्ण-क्षेम-सुभिक्षादिकमपि भवतु मा वा' इति च न वदेत् विनाऽतिशयप्राप्तं वचनमात्रात् फलाभावेन मृषावादप्रसङ्गात् तथाभवनेऽपि आर्त्तध्यानभावात् अधिकरणादिदोषप्रसङ्गात् वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडापत्तेश्च।

तत्स्वामिद्वेषादीति। वचनसिद्धिसद्भावे तथाभवनेनाधिकरणदोषः, तदभावे अपि तदनुमतिदोषः तथा तत्पक्षीयदेवस्वाम्यादेः द्वेषः, आदिपदेनोपसर्गादेः ग्रहणम्। तदुक्तम् 'देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे। अमुगाणं जओ होउ मा वा होउ त्ति णो वए।। (द.वै. ७४९)।

अधिकारान्तरप्रदर्शनार्थमाह **तथा वातेति**। तदुक्तं 'वाओ वुट्ठं व सीउण्हं खेमं घायं सिवंति वा। कया णु होज्ज एआणि? मा वा होउ त्ति णो वए।। (द.वै. ७/५०) **विनाऽतिशयप्राप्तमिति**। अतिशयो वचनसिद्ध्यादिरूपः प्रकृते ज्ञातव्यः। **तथाभवने**ऽपीति। काकतालीयन्यायेन तथासंवादेऽपीति। **आर्तध्यानप्रसङ्गादिति**। इष्टसम्प्रयोगानिष्टवियोगादिलक्षणार्त्तध्यानापत्तेरिति। तदुक्तं ***वाचकमुख्येन*** 'आर्त्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे। तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः। वेदनायाश्च। विपरीतं मनोज्ञानाम्' (तत्त्वा. ९/३१-३२-३३) तदुक्तं ***ध्यानशतके***ऽपि 'अमणुण्णाणं सद्दाइविसय-वत्थूण दोसमइलस्स। धणियं विओगचिंतणमसंपओगानुसरणं च'।। (ध्या.श. ६)। इत्यादि। **वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडापत्तेश्चेति**। अनिष्टवातेनोपघातो भवेत् वृक्षादिभङ्गो वा स्यात् वायुकायविराधनञ्च। वृष्ट्या पिपीलिकादिव्यापत्तिः स्यात्, उष्णयोनयो वनस्पतयो नश्येयुः, शीतेन प्रायः तिर्यग्मनुष्यादयः पीड्यन्ते, अग्निं वा प्रज्वालयेयुः, उष्णेनाऽपि परितापनादयो दोषाः। **क्षेम** = राजविड्वरशून्यमिति ***हरिभद्रसूरयः***। ***व्यवहारभाष्यवृत्तौ*** च 'क्षेमं नाम सुलक्षणं यद् वशात् सर्वत्र राज्ये नीरोगता' (व्य.भा.उ. ३/गा. २०९) इत्युक्तम्। सुभिक्षं प्रसिद्धं, घ्रातमप्युच्यते। तदुक्तं ***चूर्णौ*** 'खेमेऽवि चोरसेवगादीणं अंतराइयदोषा भवंति। एते य निब्भया तेसु कम्मेसु पवत्तमाणा एगिंदियाईणं भयंकरा भवंति। घायेऽवि संनिचयकारिणो वाणियगा पीलिज्जंति' (द.वै.जि.चू.पृ. २६२)।

इतो व्याघ्र इतस्तटीन्यायेन प्रकृते वातादिविषये मौनमेवाङ्गीकर्तव्यं साधुनेति तात्पर्यम्। इदमेवाभिप्रेत्योक्तं ***प्राचीनतमचूर्णौ*** 'वात-वुट्ठ-सीउण्हेहिं वा अप्पणो पयाणं वा पीडणमसहमाणो पंतजणवयरोसेण वा खेम-वाय-सिवाणि रुक्खप्पभंजण-सत्तुप्पिलावण-हिमडहणसत्तपरितावण-जणवदडहण-लूडण-छुधामरण-भयादयो दोसा इति 'एताणि कया होज्ज'त्ति णो वदे। तदभावे पुण अतिधम्म-तणभंग-जवाणिप्फत्ति-सत्तुपरितावणा-मंतिचारभडवित्तिपरिच्छेदभिक्खाभाव-मसाणोवज-विपाणातिवित्तिच्छेदादी दोसा इति णो वदे। ण वा कस्सति वयणेण भवति वा ण वा, केवलमधिकरणाणुमोदणं (द.वै.अ.चू.पृ. १७७)

हैरान करने के लिए उपसर्ग आदि भी करे। इसीलिए ऐसा दुष्ट आशंसा से गर्भित सावद्य वचन बोलना साधु के लिए तीर्थंकर आदि भगवंतों से निषिद्ध है। इस तरह क्रिकेट मेच आदि में 'पाकिस्तान का पराजय हो' इत्यादि आशंसावचन भी नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि तब यहाँ भी भारतीयों और मुसलमानों के बीच झघडा-बखेडा आदि मुमकिन है - ऐसा उपलक्षण से समझा जाता है।

❋ बिना अतिशय के भाविकथन नहीं करना चाहिए ❋

तथा वात. इति। इस तरह बहुत गर्मी होने पर 'पवन आये तो ठीक रहेगा' ऐसा बोलना; तथा 'वृष्टि हो, ठंड पडो, गर्मी हो', ऐसा बोलना अनुज्ञात नहीं है। शत्रुसेना तथा इस प्रकार का कोई उपद्रव नहीं होता, उस स्थिति का नाम क्षेम है। 'क्षेम हो, सुभिक्ष हो' इत्यादि बोलना मुनि के लिए निषिद्ध है। इस तरह 'पवन, वृष्टि, ठंड, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष आदि मत हो' ऐसा बोलना भी साधु के लिए अनुज्ञात नहीं है। अपनी या दूसरों की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए अनुकूल स्थिति के होने की और प्रतिकूल स्थिति न होने की आशंसा से युक्त ऐसे वचन मुनि के लिए अवक्तव्य है। मुनि के, जिसको वचनसिद्धि आदि कोई अतिशय प्राप्त नहीं है, वचनमात्र से न तो पवन की लहर आती है या न तो बारीस आती है। तब मुनि का वचन विसंवादी बनने से असत्य हो जायेगा। मानो कि काकतालीयन्याय से ऐसा हो गया तब भी इष्ट की प्राप्ति या अनिष्ट का वियोगरूप आर्तध्यान होता है। तथा अधिकरणदोष भी लगता है क्योंकि सावद्य प्रवृत्ति की अनुमोदना तो तब आ ही जाती है। इसके अतिरिक्त पवन आदि के आने पर

कथं तर्हि 'शिवमस्तु सर्वजगतः' इति? शिवेऽपि चौर्याद्यन्तरायदोषादिति **चेत्?** सदाशयवशादेतादृशप्रार्थनाया असत्यामृषाङ्गतया श्रुतभावभाषायामधिकारेऽपि प्रकृतानुपयोगादिति **दिग्**।।९५।। किञ्च

लब्धावसरः परः प्रत्यवतिष्ठते-**कथमिति**। क्षेमे इव शिवेऽपि चौरादीनां चौर्याद्यन्तरायदोषस्याव्याहतप्रसरतया 'सुभिक्षं भवतु' इतिवत् 'शिवमस्तु सर्वजगत' इति कथनमपि अकर्तव्यतापन्नं यद्वा तद्वत् 'सुभिक्षं भवतु' इत्यपि भाषणविधया कर्तव्यं स्यात् अन्यथा अर्धजरतीयप्रसङ्गादिति शङ्काकर्तुराशयः।

समाधत्ते **सदाशयेति। यद्यपि** श्रुतपरावर्त्तनादि कुर्वतः सम्यगुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेः सदाशयप्रयुक्तं 'शिवमस्तु' इत्यादि प्रार्थनावचनं असत्यामृषा श्रुतभावभाषैव न तु मृषा अंतरायाद्युद्देशाभावात्। **न च** तद्भावेनाऽप्रयोगेऽपि तदुपबृंहकतया सा विराधन्येव 'संखडी कार्या' इत्यादिभाषावदिति **शङ्कनीयम्** तत्र श्रोतुः साक्षात् संखड्यां कर्तव्यत्वबुद्ध्याधानेन मिथ्यात्वोपबृंहकत्वात् तस्या निषिद्धत्वं प्रकृते च श्रोतुः तदुपबृंहणदोषाभावेनाऽसत्यामृषात्वालङ्कृतश्रुतभावभाषात्वस्याऽनिरुद्धप्रसरतया दोषाभावात् **तथापि** प्रकृते चारित्रभावभाषाविषयकनयविशेषानुसारिशिक्षानुगामिभाषणेऽनुपयोगानन्नात्र साऽधिकृता। **यद्यपि** 'शिवमस्तु सर्वजगत' इति श्लोकः न केवलं **बृहच्छान्तौ** वर्तते किन्तु **हर्ष**कृते (ना. ५/४०) ***नागानन्दे, भवभूति***कृते ***मालतीमाधवे*** (मा. मा. १०/२५) चाऽपि वर्तते **तथापि** सम्यक्श्रुतेऽपि तदुपादानाच्छ्रुतभावभाषायामधिकारस्तस्योक्तः। **एतेन** ॐ क्षेमं भवतु सुभिक्षं शस्यं निष्पद्यतां जयतु धर्मः। शाम्यन्तु सर्वरोगा, ये केचिदुपद्रवा लोके।। ( ) इत्यपि **व्याख्यात**मिति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।।९५।।

जीवों को पीडा भी होगी। वह इस तरह है। देखिए, पवन जब जोर से आता है तब वृक्ष आदि टूट जाते हैं, वृष्टि होने पर अप्काय की तो विराधना होती ही है, मगर चिटियाँ, मत्कोटक आदि अनेक जीवों का संहार होता है। ठंडी बहुत पड़े तब बहुत मनुष्य और प्राणी मर जाते हैं- यह तो सर्व जन विदित ही है। इस तरह गर्मी पडने पर भी लोग दुःखी होते हैं। अतः तादृश वचन बोलना मुनि के लिए निषिद्ध है। जब ठंड बहुत हो तब 'गर्मी पडो' और जब गर्मी बहुत हो तब 'ठंड पडो' इत्यादि वाक्य का प्रयोग मुनि को नहीं करना चाहिए। बल्कि ऐसे स्थान में 'मौनं सर्वार्थसाधनं' न्याय से मौन ही रहना चाहिए।

शंका :- ***कथं इति***। सुभिक्ष होने पर अनाज आदि के संग्राहक व्यापारी को व्यापार में अंतराय होता है इस अभिप्राय से जैसे मुनि के लिए 'सुभिक्ष हो' ऐसा बोलना निषिद्ध है ठीक वैसे 'शिवमस्तु सर्वजगतः' इत्यादि बोलना भी मुनिराज के लिए निषिद्धि हो जायेगा, क्योंकि 'सारे जहाँ में उपद्रव आदि न हो' ऐसी मुनिराज की भावना सफल हो तो भी चोर आदि को अपनी चोरी आदि में तो अंतराय ही होगा। इसका कारण यह है कि चोरी, लुंट, खुन इत्यादि भी उपद्रव ही है, जो चोर आदि की आजीविका के साधन है। वे बंध हो जाने पर चोर आदि को जरूर अंतराय होगा। तब उसे कौन खाना देगा? अतः मुनिराज बृहत् शांति में 'शिवमस्तु सर्वजगतः इत्यादि जो कथन करते हैं वह निषिद्ध हो जाएगा।

❋ 'शिवमस्तु सर्वजगतः' असत्यामृषा श्रुतभावभाषा है। ❋

समाधान :- ***सदा.*** इति। आप शास्त्र के तात्पर्य को ढूँढने का उद्योग नहीं करते हैं। अतएव ऐसी उल्झन में फँसे हुए हैं। 'शिवमस्तु सर्वजगतः' यह प्रार्थना तो श्रुतनिबद्ध है और सदाशृत से प्रयुक्त है। अतएव वह असत्यामृषा श्रुतभावभाषा है। उस भाषा को सावद्य मानना मुनासिब नहीं है। मगर प्रस्तुत में चारित्रभावभाषा का अधिकार है। उसमें भी किस प्रकार के वचन को बोलना और किस प्रकार के वचन को, जो व्यवहारतः सत्यरूप से भी प्रतीत होता है, नहीं बोलना इस विषय में मुनिराज को शिक्षा दी जा रही है। मुनिराज दीक्षा के बाद सबसे प्रथम दशवैकालिक आगम को, जो दुप्पसह सूरिजी पर्यन्त रहनेवाला है, पढते हैं। नूतन मुनिराज को भाषाविषयक शिक्षा देने के लिए वाक्यशुद्धि नाम का सातवाँ अध्ययन बनाया गया है, जिसमें चरित्र के पोषक एवं वर्धक कैसे वाक्यों को बोलना? और कैसे वाक्य को नहीं बोलना? इस विषय का विश्लेषण किया गया है। इसमें 'शिवमस्तु' इत्यादि प्रार्थना वचन का कोई उपयोग नहीं है। अतः यहाँ उसकी विस्तृत चर्चा नहीं की है। इस विषय में अधिक विचार भी किया जा सकता है इसकी सूचना देने के लिए 'दिग्' शब्द का प्रयोग किया गया हैं।।९५।।

गाथार्थ :- मेघ, आकाश और मनुष्य को देव कहना मुनि के लिए निषिद्ध है। (प्रयोजन उपस्थित होने पर) उन्नत, अंतरिक्ष

[1]मेहं णहं मणुस्सं वा देवत्ति न लवे मुणी। उण्णए अंतलिक्खत्ति इड्डिमंतत्ति वा वए।।९६।।

मेघं नभो मनुष्यं वा राजानं **'देव' इति मुनिर्न लपेत्,** मिथ्यावादलाघवादिदोषप्रसङ्गात्। 'कथं तर्हि वदेत्'? इत्याह-मेघं दृष्ट्वा 'उन्नतोऽयं मेघः' इति वदेत्। आकाशं पुनः 'इदमन्तरिक्षमि'ति, राजानं च' ऋद्धिमानयं' इति।

मेघं **नभ** इति। 'तदुक्तं ***आचारांगे***' से भिक्खू वा भिक्खुणी वा नो एवं वएज्जा-नभोदेवे त्ति वा गज्जदेवेति वा विज्जु देवेति वा पवुट्ठदेवेति वा निवुट्ठदेवेति वा' (आ २/४/उ.१-सू.१३५)।। अत्र नभोग्रहणेन 'तद्ग्रहणे तत्सजातीयोऽपि गृह्यते' इति न्यायात् भूतत्वेन सजातीयानां वाय्वादीनां ग्रहणं कर्तव्यम् तेषामपि लोके देवत्वेन प्रसिद्धेः। तदुक्तं ***तैतरीयसंहितायां*** "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तै.सं.२/१/१) **ध्यानबिन्दूपनिषदि** 'सोमसूर्याग्निदेवताः' (ध्या.उप.५४) इति, **जाबालोपनिषदि** 'आपो वै सर्वा देवताः (जा.उप.४) इति, **बृहदारण्यकोपनिषदि** च 'दौ देवावित्यन्नञ्चैव प्राणश्चेति' (बृ.उप.३/९/८) इत्यादि।

ननु मेघमित्येव वक्तव्यम् तत्रैव देवपदप्रयोगात् नभोमनुष्ययोर्देवपदप्रयोग एव न क्रियते। अतो न तन्निषेधः कार्यः अप्रसक्तप्रतिषेधादिति **चेत्? मैवम्** लौकिकैः तत्राऽपि देवपदं प्रयुज्यत एव। अतः तन्निषेधो न्याय्यः। तदुक्तं ***प्रश्नोपनिषदि*** तस्मै स होवाचाकाशो वा एष देवः (प्र.उप.२/२) इति। मनुष्येष्वपि नृपबालकादीनां देवपदव्यवहार्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। तदुक्तं ***मनुस्मृतौ*** 'बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा, नररूपेण तिष्ठति।।' (म.स्मृ.अ.७/८) तदुक्तं ***महाभारते***ऽपि 'न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।' (म.भा.शांतिपर्व अ.६८/४०)। ***चाणक्यसूत्रे***ऽपि 'न राज्ञः परं दैवतम्' (चा.सू.३७२) इत्युक्तम्।

निषेधहेतुमाह **मिथ्यावादलाघवादिदोषप्रसङ्गादिति**। देवगतिनामकर्मोदयशून्यत्वेन मिथ्यावादः ऋद्धिमन्तं नरं देवमिति कथने 'चाटुकारिण एते' इति लाघवदोषः। आदिशब्देन मिथ्यात्वस्थिरीकरणादिग्रहणम्।

उन्नतोऽयं मेघ इति। इदं चोपलक्षणं बलाहकपयोदजलधरादेः। अंतरिक्ष-गुह्यानुचरितादिपदैरपि मेघ उच्यते। तदुक्तं ***चूर्णौ*** "मेहोऽपि अंतरीक्खो भण्णइ गुज्झगाणुचरिओ भण्णइ" (द.वै.जि.चू.पृ.२६२)।। गुह्यानुचरितमिति वा सुरसेवितमित्यर्थः (द.वै.७/५२.हा.टी.) इति ***श्रीहरिभद्रसूरयः***। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** 'तहे व मेहं व नहं व माणवं न देवदेवत्ति गिरं वइज्झा। समुच्छिए उन्नए वा पओए वइज्ज वा वुट्ठ बलाहयत्ति। अंतलिक्खत्ति णं बूया गुज्जाणुचरिअत्ति

अथवा ऋद्धिमान शब्द का प्रयोग करना चाहिए।९६।

❋ मेघ आदि विषयक भाषणविधि ❋

विवरणार्थ :- बादल, आकाश और राजा आदि मनुष्य देव नहीं है। अतः उन्हें देव कहना मुनि के लिए निषिद्ध है। वैदिक आदि शास्त्रों में बादल आकाश और राजा को देव माना गया है किन्तु यह वस्तुस्थिति से दूर है। प्राचीन लौकिक धर्म ग्रंथ और नीतिशास्त्र आदि में राजा को भी देव मानने की परम्परा प्राप्त होती है। मिथ्यावाद से बचने के लिए इन्हें देव कहने का मुनि के लिए निषिद्ध है। उन्हें देव कहने से लोगों के मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है। 'वाह! साधु महाराज राजा को देव कहने लगे!' इत्यादिरूप से मुनिराज का लोक में लाघव होता है। अगर सच्चा देव आ कर यह सुन ले तो अपना अपमान होने से मुनिराज पर उपसर्ग आदि करे-यह भी संभव है। अतः मेघ आदि को देव कहने का निषेध किया गया है।

शंका :- यदि मेघ आदि को देव नहीं कहना चाहिए तब क्या कहना चाहिए? यह तो अपने बताया ही नहीं।

समाधान :- ***मेघं दृष्ट्वा.*** इति। यदि बादल आदि को बताने का प्रयोजन उपस्थित हो तब मेघ के विषय में 'बादल बहुत ऊँचा है, बादल उमड़ रहा है, उन्नत हो रहा है' इत्यादि शब्दप्रयोग करना चाहिए। इस तरह आकाश को 'अंतरिक्ष, गगन' इत्यादि कहे तथा राजा को देख कर 'वह ऋद्धिमान् पुरुष है' इत्यादि कहे।

---

१ मेघं नभो मनुष्य वा देव इति न लपेन्मुनिः। उन्नतोऽन्तरिक्षमिति ऋद्धिमानिति वा वदेत्।।९६।।

कारणे च राजस्तुत्यादौ देवादिपदैरपि राजाद्यालापनं न विरुद्ध्यत इति ध्येयम्।।९६।। तदेवमुक्तः कियांश्चिदनुमतभाषा-भाषणविधिः।

अथ (ग्रन्थाग्रम् - १००० श्लोक) कियद्विस्तरतोऽनुशासितुं शक्यमिति सामान्यतो रहस्योपदेशमाह

[1]दोसे गुणे य णाऊणं जत्तीए आगमेण य। गुणा जह न हायंति, वत्तव्वं साहुणा तहा।।९७।।

यथा गुणाः = चारित्रपरिणामवृद्धिहेतवो **न हीयन्ते** = अपकर्षं नाशं वा न गच्छन्ति, **तथा साधुना वक्तव्यम्**। किं कृत्वा? **आगमेन**

अ। रिद्धिमंतं नरं दिस्स रिद्धिमंतं ति आलवे।। (द.वै.७/५३-५४) इति।

अपवादमाह-**कारण इति**। **न विरुद्ध्यते** इति। आपवादिकत्वादिति हेतोः। देव इति उपलक्षणम्। तेन सुशब्दादिनिषेधः कृतः। तदुक्तं ***आचारांगे*** से भिक्खू वा भिक्खुणी वा तहप्पगाराइं सद्दाइं सुणिज्जा तहावि एयाएं नो एवं वएज्जा। तं जहा-सुसद्देत्ति वा दुसद्देत्ति वा एयप्पगारं भासं सावज्जं नो भासिज्जा (आचा.२/४/२-१३९) इति।।९६।।

तदेवमुक्त इति। सप्ताशीतिगाथातः प्रारभ्य षण्णवतिगाथापर्यन्तं श्रीदशवैकालिकवाक्यशुद्ध्यध्ययनानुसारितया प्रतिपादितः। **अनुमतभाषाभाषणविधिरिति**। चारित्रभावभाषानुगतवाग्विधिः। **शक्यमिति**। भाषागोचरस्याऽपरिमितत्वात्, आयुषः परिमितत्वात्, वाचः क्रमवर्तित्वाच्च अतिविस्तरतः तादृग्भाषणविधिप्रतिपादनमशक्यमिति भावः। **रहस्योपदेशमिति**। भाषागोचरमर्मोपदेशम्।

❋ राजा में देव का प्रयोग कारण उपस्थित होने पर अनुज्ञात है ❋

कारणे. इति। यहाँ देवशब्द का राजा के विषय में प्रयोग करना निषिद्ध किया गया है। मगर जब राजा जिनशासन का, जैन साधु का द्वेषी हो या शासन के उपर आई हुई आफत को दूर करने के लिए राजा की स्तुति आदि करना हो तब उस स्तुति में देव आदि शब्द से भी राजा का संबोधन करने में कोई दोष नहीं है। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है। यह आपवादिक मार्ग है।।९६।।

इस तरह ८७ वीं गाथा से लेकर ९६ वीं गाथा तक भाषाविशुद्धि अध्ययन के अनुसार साधु के लिए बोलने को अनुज्ञात भाषा किस ढंग से बोलना और किस ढंग से नहीं बोलना? यह संक्षेप से बताया गया है। विस्तार से कितना बताया जा सकता है? सरस्वती लिखने को तैयार हो जाय और सब समुंदर की श्याही बना कर लिखा जाय तब भी उसका अंत नहीं है। अतः सामान्यतः भाषाविषयक रहस्यार्थ का उपदेश प्रकरणकार श्रीमद्जी ९७ वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- आगम और युक्ति से गुण और दोषों को जान कर जिस तरह गुणों का विनिपात न हो वैसा साधु को बोलना चाहिए।।९७।।

❋ रहस्योपदेश ❋

विवरणार्थ :- यहाँ चारित्रभावभाषा की बात चल रही है। अतः गुण का अर्थ होगा चारित्र के परिणाम की वृद्धि का हेतु। शास्त्र से और तर्क (युक्ति) से "मैं जो कुछ बोलना चाहता हूँ उससे कोई दोष तो नहीं आता है न? अपने प्रयोजन की तो सिद्धि होती है न? जिनाज्ञा की विराधना तो नहीं होती है न?" इस तरह गुण-दोष की विचारणा कर के प्रयोजन के अनुसार साधु को ऐसा बोलना चाहिए कि जिसके सबब अपने चारित्रपरिणाम की वृद्धि के निमित्तभूत विशेषगुण न तो कम हो और न तो नष्ट हो। इस तरह खूब सोच-समझकर बोलना चाहिए।

शंका :- आपने बहुत अच्छी बात की है। मगर मुनिराज भी छद्मस्थ है। अतः संभव है कि अपने क्षयोपशम के अनुसार शास्त्र और तर्करूप कसोटीपत्थर में भाषा की परीक्षा करने पर भी वस्तुतः शास्त्र में जिसे कर्तव्य बताया है उसका पालन न हो और

---

१ दोषान् गुणांश्च ज्ञात्वा युक्त्याऽऽगमेन च। गुणा यथा न हीयन्ते वक्तव्यं साधुना तथा।।९७।।

युक्त्या च दोषान् गुणांश्च ज्ञात्वा। एवञ्च गुणदोषचिन्तया क्वचिद्विहितस्याऽकरणे विपर्यये वा न दोषः, पुष्टालम्बनाश्रयेण-नाऽऽज्ञानतिक्रमात्। अत एवोक्तं [२]'तम्हा सव्वाणुन्ना, सव्वनिसेहो य, पवयणे नत्थि। आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखिव्व वाणियओ।। (उप. मा. ३९२)।।९७।।

विपर्यय इति। अविहितकरणे। दोषाभावे हेतुमाह **पुष्टालंबनाश्रयणेन**=दोषप्रतिरोधकपरिपूर्णसामर्थ्यविशिष्टा-लम्बनकरणेन, **आज्ञाऽनतिक्रमात्**=भगवदाज्ञाया अनुल्लङ्घनात्। अयं भावः विपर्ययनिरासानुकूलसौम्यगुणदोष-चिन्तारूपयतनापरिणामात्मकपुष्टालम्बनेन प्रवृत्तौ सत्यां कदाचिद् द्रव्यतः आज्ञायाः अतिक्रमेऽपि भावतः आज्ञाया अनतिक्रमात् न कश्चिद् दोषः प्रत्युत महानिर्जरैव विधिविशुद्धपरिणामेन वचनाराधनात्। तदुक्तं ***षोडशके***-'वचनाराधनया खलु धर्मस्तद्बाधया त्वधर्म इति। इदमत्र धर्मगुह्यं सर्वस्वं चैतदेवास्य।। (षोड.२/१२) वचनाराधना च परिशुद्धः ज्ञानयोग एवेति सूक्ष्ममीक्षणीयं नानाशास्त्रैदम्पर्यार्थार्पितदृष्टिभिः।

अत एवेति पुष्टालम्बनेनाऽऽज्ञानतिक्रमादेवेति। **उपदेशमालावचन**संवादमाह- **'तम्हा'** इति। तपःसंयमचरणो-द्युक्तस्यैकत्र वर्षशतवासेऽपि आराधकत्वादिति; तत्र चेयं गाथा- 'जियकोहमाणमाया जियलोहपरिसहा य जे धीरा। वुड्ढावासेऽवि ठिया खवंति चिरसंचियं कम्मं।। पंचसमिया तिगुत्ता उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे। वाससयंपि वसंता मुणिणो आराहगा भणिया।। (उप.मा.३९०-३९१) इत्यादिगाथानन्तरं वर्तते इति हेतोः। शब्दमात्रमूढतया न भाव्यं किन्तु निपुणमतिना अशठपरिणामेन ***उपदेशपदा***दिमहाशास्त्रोपदर्शितदिशा शास्त्रैदम्पर्यार्थोऽन्वेषणीय इति तात्पर्यम्। अत एवोक्तं ***प्रशमरतौ*** 'किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात् स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्। पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्यं वा।। देशं कालं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्। प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्पते कल्प्यम्।।' (प्र.र.१४५-१४६) इति।

यदि सूत्रोक्तान्यथाकरणे वचनविराधनैव स्यात् तदा साम्प्रतं कल्पप्रावरणादिप्रवृत्त्या कथं न सा?। तदुक्तं "अन्नह भणिउं पि सुए किंची कालाइकारणाविक्खं। आइन्नमन्नह च्चिय दीसइ संविग्गगीएहिं।। कप्पाणं पावरणं अगोअरच्चाओ झोलिआभिक्खा। उवग्गहिअकडाहय तुंबयमुहदाणदोराई।। सिक्किगनिक्खिवणाइपज्जोवसणाइ तिहिपरावत्तो। भोअणविहिअन्नत्तं एमाई विविहमन्नं पि।।" (य.ल.स.७-८-९) न चैतद् दूषणीयम्, आज्ञाविराधना-प्रसङ्गात्। तदुक्तं अवलंबिउण कज्जं जं किंचि समायरंति गीयत्था। थोवावराहबहुलगुणं सव्वेसिं तं पमाणं तु।। (य.ल.स.११)। इत्यन्यत्र विस्तरः।। ९७।।

जिसे अकर्तव्य बताया है उसका अमल हो जाए। तब आगम और युक्ति का आलंबन करने पर भी आज्ञा की विराधना ही होगी।

समाधान :- *एवञ्च* इति। हमने जो पूर्व में कथन किया है उसीसे आपकी शंका का समाधान हो जाता है। इसका कारण यह है शास्त्रपरिकर्मित बुद्धि से गुण-दोष की विचारणा करने से प्रायः विहित का अकरण और अविहित का करण नहीं होता है। मानो कि गुण-दोष की विचारणा करने पर भी कदाचित् भवितव्यतावश विहित का अकरण और अविहित का करण हो जाए तब भी साधु दोष से बचा रहता है, अल्प दोष में भी वह जिम्मेदार नहीं होता है, क्योंकि जिनागम और सुयुक्ति से गुणदोष की विचारणा मुनि के लिए मुनासिब है, जिसमें दोषनिरोध का परिपूर्ण सामर्थ्य रहता है। अतएव परमार्थ से आज्ञा की विराधना=अतिक्रमण की संभावना नहीं है। जिनशासन का प्राण अनेकांतवाद है। अतः शास्त्र में जो कुछ बताया गया हैं वैसा ही सबको सदा के लिए सभी जगह और सब परिस्थितियों में अवश्य ही पालन करना हो-ऐसा एकान्तवाद नहीं है। द्रव्य-क्षेत्रादि की अपेक्षा बाह्य आज्ञा में परावर्तन होने का अवकाश रहता है। अतएव कदाचित् कारणवश द्रव्यतः आज्ञा का अतिक्रमण प्रतीत होने पर भी परमार्थ से जिनाज्ञा का भंग नहीं होता है। इसी सबब उपदेशमाला शास्त्र में श्रीधर्मदासगणी ने भी है कि-'अतएव जिनशासन में किसी भी

---

२ तस्मात् सर्वानुज्ञा सर्वनिषेधश्च प्रवचने नास्ति। आयं च व्ययं च तोलयेल्लाभाकांक्षीव वाणिजकः।।

अथ कीदृशस्येयं भाषा चारित्रं विशोधयतीत्याह।

[१]महेसिणो धम्मपरायणस्स अज्झप्पजोगे परिणिट्ठिअस्स।

पभासमाणस्स हियं मियं च, करेइ भासा चरणं विसुद्धं।।९८।।

धर्मे = चारित्रधर्मे, **परायणस्य** = नित्यमुद्युक्तस्य, तथा **अध्यात्मयोगे** = परद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रादुर्भूतप्रभूतगुणग्रामरामणीयकमये

अजिज्ञासितार्थाभिधानस्यानवधेयत्वात्प्रथममधिकारिजिज्ञासामुत्थापयति **अथेति**। **इयं भाषेति**। युक्त्यागमानुसारि-गुणदोषमीमांसाप्रयोज्या भाषा।

परद्रव्येति। परद्रव्यविषयकप्रवृत्तेः निवृत्त्या प्रादुर्भूतानां प्रभूतानां=महार्घ्यानां गुणानां ग्रामेण=समूहेन रामणीय-कमये=लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानविषये। प्रादुर्भूतेत्यनेनैकान्तासत्कार्यवादः प्रत्युक्तः। परद्रव्यविशेष्यकस्वभिन्नत्व-प्रकारकनिश्चयेऽनेकशो भाविते सति स्फटिकोपरागस्थानीयोऽशुद्धोपयोगपरिणामो विलीयते। ततः परद्रव्यप्रवर्त्तन-स्याऽपि निवृत्तिर्जायते निमित्ताभावे नैमित्तिकाभावात् न च दण्डविनाशेऽपि घटोपलब्धेर्व्यभिचार इति वाच्यम्, पूर्वोत्तरभावस्थले तथात्वेऽपि सहभावेन निमित्तनैमित्तिकभावस्थले स्फटिकोपरागाद्यनुरोधेन निमित्तविशेषाभावस्य नैमित्तिकाभावव्याप्यत्वसिद्धेः। इत्थमेव 'जीयमाने च नियमादेतस्मिंस्तत्त्वतो नृणाम्। निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्क-विषमग्रहः।।८६।। इति **योगदृष्टिसमुच्चय**वचनमप्युपपद्यते। तादृशनिश्चय***श्चोपदेशरहस्या***दिदर्शितदिशा कार्यः। तदुक्तं तत्र 'देहं गेहं च धणं सयणं मित्ता तहेव पुत्ता य। अण्णा ते परदव्वा एहिंतो अहं अण्णो।। आयसरूवं णिच्चं अकलंकं नाणदंसणसमिद्धं। णियमेणोवादेयं जं सुद्धं सासयं ठाणं।। (उप.रह.श्लो.१९९-२००) तदुक्तं ***अध्यात्मबिन्दौ*** अपि 'स्वत्वेन स्वं परमपि परत्वेन जानन् समस्ताऽन्यद्रव्येभ्यो विरमणमितश्चिन्मयत्वं प्रपन्नः। स्वात्मन्येवाभिरतिमुपयन् स्वात्मशैली स्वदर्शीत्येवं कर्ता कथमपि भवेत् कर्मणां नैष जीवः।। (अ.बि.१/२६)।

कार्य की सर्वथा (एकान्ततः) अनुज्ञा भी नहीं है और किसी भी कार्य का सर्वथा निषेध भी नहीं है। जैसे लाभ (=नफा) का आकांक्षी व्यापारी लाभ और नुकशान की तुलना कर के जिसमें अधिक लाभ हो उसमें प्रवृत होता है, चाहे उसमें प्रवृत होने पर अवर्जनीय अल्प नुकशान क्यों न हो? ठीक वैसे मुनि को भी शास्त्र और युक्ति के बल से लाभलाभ का विचार कर के जिसमें अधिक लाभ हो उसमें प्रवृत होना चाहिए'। श्री धर्मदासगणी के वचन का पर्यालोचन करने से भी यह प्रतीत होता है कि शास्त्र और युक्ति के अनुसार गुण-दोष की विचारणा करने के पश्चात् जिसमें अधिक गुण का लाभ संभव हो उसमें प्रवृति करना ही परमार्थ से जिनाज्ञा का पालन है। अतः शास्त्र के अनुसार तथा युक्ति से सोच-समझ कर अधिक गुण का लाभ जिसमें प्रतीत हो, संभव है स्थूलदृष्टिवाले अन्य लोगों से कदाचित् वह शास्त्र के विरुद्ध भी जाना जाए, उसमें प्रवृत्ति करने में जिनाज्ञा का पालन ही सिद्ध होता है। उसे आज्ञाविरुद्ध, मिथ्या प्रवृत्ति इत्यादि कहना ही आज्ञा से विरुद्ध है।।९७।। 'यह भाषा किसके चारित्र को विशुद्ध करती है?' इस शंका का समाधान प्रकरणकार ९८ वीं गाथा से बताते हैं।

*** भाषाविशुद्धि का फल ***

गाथार्थ :- धर्मपरायण, अध्यात्मयोग में परिनिष्ठित ऐसे महर्षि-मुनिराज के, जो हित और मित बोलते हैं, चारित्र को यह भाषा विशुद्ध करती है।९८।

विवरणार्थ :- चारित्र धर्म में सदा उद्योग करनेवाले महर्षि का अन्य विशेषण है अध्यात्मयोग में परिनिष्ठित। अध्यात्म योग का अर्थ है अपने स्वभाव में रहना, जो कि धन, पुत्र, परिवार, पत्नी, मकान, देह इत्यादि परद्रव्यविषयक प्रवृत्ति की निवृत्ति से प्रकट हुए अनेक गुणों के समूह से अत्यंत रमणीय और मनोहर है। ऐसे अध्यात्मयोग की निष्ठा=समाप्ति को प्राप्त तथा भविष्य में गुणावह, परिमित और अवसरोचित मृदु भाषण करनेवाले महर्षि की भाषा चारित्र को विशुद्ध यानी विपुल निर्जरा में प्रवीण=तत्पर बनाती है।।९८।। प्रदर्शित विशेषण से विभूषित महर्षि की वाणी चारित्र को अत्यंत विशुद्ध करती है- इसके बाद क्या होता है? इस

---

१ महर्षेर्धर्मपरायणस्य अध्यात्मयोगे परिनिष्ठितस्य। प्रभाषमाणस्य हितं मितं च करोति भाषा चरणं विशुद्धम्।।९८।।

स्वस्वभावसमवस्थाने, **परिनिष्ठितस्य**=प्राप्तनिष्ठस्य, तथा **हितं** = आयतिगुणावहं, **मितं च** = स्तोकं, **प्रकर्षेण** = अवसरोचितत्वादिलक्षणेन, **भाषमाणस्य महर्षेर्भाषा चरणं** = चारित्रं, **विशुद्धं** = विपुलनिर्जराप्रवणं करोति।।९८।। ततः किमित्याह।

[1]चरित्तसोहीइ खवित्तु मोहं, लद्धुं तओ केवलनाणलच्छिं।

सेलेसिजोगेण सुसंवुडप्पा, अणुत्तरं पावइ मुक्ख-सुक्खं।।९९।।

चारित्रशुद्ध्या मोहं = अष्टाविंशतिप्रकृतिमयं कर्म, **क्षपयित्वा ततः** = तदनन्तरं, **केवलज्ञानलक्ष्मीं लब्ध्वा** = सयोगिकेवलिभावमनुभूय, उत्कर्षतः पूर्वकोटीं यावद् विहृत्य, **शैलेशीयोगेन** = योगत्रयनिरोधकरणेन, **सुसंवृतः** = सर्वसंवरभाक्, **आत्मा,** यश्चैतादृशो महर्षिः, **अनुत्तरं** = सकलसांसारिकसुखसमूहादनन्तगुणत्वेन दुःखलेशासंपृक्ततया चातिशायितं, **मोक्षसौख्यं प्राप्नोति**।।९९।।

आयतिगुणावहमिति भाविनि गुणानुबन्धिनम्। **अवसरोचितत्वादिलक्षणेनेति**। आलोचनपूर्वक-स्फुट-प्राञ्जल-मधुरत्वादेरादिपदेन ग्रहणम्। **विशुद्धमिति**। तदुक्तं ***दशवैकालिके*** भासाइ दोसे गुणे अ जाणिआ, तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया। छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं।। परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए चउक्कसायावगए अणिस्सिए। से निद्धुणे धुतमलं पुरेकडं आराहए लोगमिणं तहा परं।। (द.वै.७/५६-५७)।।९८।।

केवलज्ञानलक्ष्मीमिति। केवलं=पूर्ण ज्ञानमेव लक्ष्मीः तामित्यर्थः। **अनेन** सर्वोत्कृष्टं ज्ञानं संभवति न तु पूर्णज्ञानमित्यादिः अधुनातनानां केषाञ्चित् प्रलापः **परास्तः** सम्पूर्णावरणविलये आवृतस्य पूर्णाभिव्यक्तेः न्याय्यत्वात्, अन्यथा पटाद्यावरणविलये घटादेरपि सकलाभिव्यक्तिर्न स्यात्। किञ्चैवं हि सदा सर्वेषां केवलिनां ज्ञानाऽसाम्यप्रसङ्गात्, कालविशेषेऽप्रकृष्टज्ञानवतामपि स्वस्वापेक्षयाऽधिकतरज्ञानवदभावे सर्वज्ञत्वापत्तेः, तस्य विद्यमानत्वे एवान्यस्य ज्ञानवृद्धौ सत्यामेकदा सर्वज्ञतयाऽभिमतस्यान्यदाऽसर्वज्ञत्वापत्तेश्चेति। **न च** जीवकर्मसंयोगादीनां प्राथम्यज्ञानाभावान्न तेषां सर्वज्ञत्वमिति **वाच्यम्,** तेषां अनादित्वेन तत्प्राथम्यज्ञानाऽसम्भवात्, सम्भवे वा भ्रान्तत्वापत्तेः। न चात्मकर्मसङ्योगादीनां सादित्वाभ्युपगमे किं वच्छिन्नं? इति **वक्तव्यम्,** एवं सति सिद्धानामपि संसारित्वप्रसक्तेरिति **दिक्**।

सयोगिकेवलिभावमनुभूयेति। अनेन तत्त्वज्ञानाधिगमानन्तरं ताजक्विदेहमुक्तिरेव न तु जीवन्मुक्तिः कस्यापीति मतं **निरस्तम्** तत्सत्त्वेऽपि प्रारब्धानपवर्तनीयायुःकर्मादेः प्रतिबन्धकस्य सत्त्वे विदेहमुक्तिविरहस्य न्याय्यत्वात् अत एव जीवन्मुक्तिस्वीकारस्योचितत्वादिति **दिक्**।

योगत्रयनिरोधकरणेनेति। अनेन ज्ञानादेव केवलाद् निःश्रेयसाधिगमः न तु क्रियाऽपराभिधानेन कर्मणेति मतं **प्रत्युक्तम्,** एवं सति जीवन्मुक्त्युच्छेदप्रसङ्गात् अनन्यथासिद्धाऽव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वेन कर्मण्यपि मुक्तिकारणत्वस्य न्याय्यत्वाच्चेति **दिक्**।

समस्या का समाधान महामहोपाध्यायजी ९९ वीं गाथा से बताते हैं।

गाथार्थ :- चारित्र विशुद्धि से मोह का क्षय कर के, केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को प्राप्त कर के, शैलेशी योग से सुसंवृत महर्षि अनुत्तर मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।९९।

विवरणार्थ :- ***चारि.*** इति। मोहनीय कर्म का, जिसके २८ अवान्तर भेद हैं, चारित्र विशुद्धि द्वारा क्षय करने के बाद महर्षि केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं। सयोगी केवली की अवस्था का अनुभव कर के उत्कर्ष से पूर्व क्रोड वर्ष पर्यन्त विहार कर के शैलेशी योग से, जिसमें मन वचन और काया रूप तीन योग का संपूर्ण निरोध होता है, सर्व संवर को प्राप्त कर के पूर्वोक्त महर्षि अनुत्तर मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

शंका :- मोक्ष सुख को अनुत्तर क्यों कहा गया है? सांसारिक-वैषयिक-स्वर्गीय सुख को ही अनुत्तर कहना चाहिए, क्योंकि इससे बढ़ कर दूसरा सुख कौन सा हो सकता है?

---

१ चारित्रशोध्या क्षपयित्वा मोहं लब्ध्वा ततः केवलज्ञानलक्ष्मी। शेलेशीयोगेन सुसंवृतात्मा अनुत्तरं प्राप्नोति मोक्षसौख्यम्।।९९।।

तदेवं चारित्रशुद्धेर्मोक्षफलत्वमुक्त्वा प्रकृतग्रन्थोप[1]योगमाह

तम्हा बुहो भासारहस्समेयं चरित्तसंसुद्धिकए समिक्ख।
जहा विलिज्जंति हु रागदोसा, तहा पवट्टिज्ज गुणेसु सम्मं।।१००।।

तस्मात् = उक्तहेतोः, **बुधः** = विचक्षणः, **चारित्रशुद्धेः कृते एतद् भाषारहस्यं समीक्ष्य हुः** = निश्चये, **यथा रागद्वेषौ विलीयेते**

मोक्षसौख्यमिति। अनेन आत्यन्तिकात्मगुणध्वंसो मुक्तिरिति मतं निरस्तम् कर्मनाशेन दुःखनाशेऽपि सुखादिसत्त्वे विरोधाभावात् स्वर्णमलनाशे कालिमानाशेऽपि कान्त्यादिवत्। **अत एव** सुखदुःखयोरविनाभावित्वकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता**।

यत्तु सौदरनन्दकाव्ये अश्वघोषेनोक्तं दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।। जीवस्तथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न काञ्चित् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।। (सौ.म.१६/२८-२९) **तदसत्,** स्नेहादिक्षयेन भास्वरत्वादिनारकादिपर्यायमात्रस्यैव ध्वस्तत्वात् दीपजीवयोर्द्रव्यत्वेन ध्वंसाप्रतियोगित्वात् रूपान्तरेणावस्थितत्वस्य सिद्धेः।

किञ्च 'निब्बानं परमं सुखं' (ध.प.१५/८) इति त्वदभिमत***धम्मपद***वचनादपि निर्वाणस्य भावरूपता सिद्धा। तदुक्तं ***मज्झिमनिकाये***ऽपि ***अरियपरियेसनसूत्रे*** 'अनुत्तरं योगक्खेमं निव्वानं **अज्झगमं'** (म.नि.अरि.सू.२६)। सर्वथा शून्यत्वे निर्वाणस्याऽनुभवगम्यत्वमपि न सङ्गच्छेतेति **दिक्**।। ९९।। **जहा विलिज्जंति** इति। अन्यत्राऽप्युक्तं बहुशः प्रकरणकारेण यदुत 'किं बहुणा इह जह जह रागदोसा लहुं विलिज्जंति। तह तह पयट्टिअव्वं एसा आणा जिणिंदाणं।।' (अध्या.म.प.उप.र.आदौ) इति।

---

* सच्चे सुख का स्वरूप *

समाधान :- *सकलसांसा.* इति। मोक्ष का सुख अनंत और अतिशायित होने के सबब अनुत्तर कहा जाता है। संसार में राजा, देव, देवेन्द्र, अनुत्तरवासी, अहमिन्द्र देव आदि सब उत्कृष्ट सुखी जीवों का सुख इकट्ठा किया जाय और कल्पना की तुला के एक पल्ले में रखा जाय तथा दूसरी और दूसरे पल्ले में मोक्ष का सुख रखा जाय तब भी मोक्ष का सुख, जो कि प्रत्येक मुक्त जीव में रहता है, अनंतगुण हो जाता है।

संसार में जो कुछ सुखरूप से प्रतीत होता है वह वास्तव में दुःख से मिश्रित एवं अनित्य तथा दुःखदायी होता है, जब कि मोक्ष का अक्षय सुख लेशमात्र भी दुःख से मिश्रित नहीं है। अतः सांसारिक सुख की अपेक्षा वह अतिशयवाला है। अतः मोक्ष सुख को ही अनुत्तर कहना मुनासिब है।।९९।।

चारित्रशुद्धि का फल मोक्ष है- यह ९९ वीं गाथा में बताया गया है। अब प्रकरणकार प्रस्तुत भाषारहस्य ग्रंथ का उपयोग बताते हैं।

गाथार्थ :- अतएव चारित्र की शुद्धि के लिए बुध पुरुष को इस भाषारहस्य ग्रंथ को अच्छी तरह देख कर जिस ढंग से राग-द्वेष का विलय हो उस ढंग से गुण में प्रवृत्ति करनी चाहिए।१००।

* प्रस्तुत प्रकरण का उपयोग *

विवरणार्थ :- मोक्षप्राप्ति के लिए चारित्रशुद्धि आवश्यक है, चूँकि चारित्रविशुद्धि मोक्ष का कारण है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः मोक्षार्थी विचक्षण पुरुष चारित्रविशुद्धि के लिए प्रस्तुत भाषारहस्य ग्रंथ का गौर से और खास तोर से अभ्यास करे यह आवश्यक है। तथा अच्छी तरह इस प्रकरण का अवगाहन कर के जिस तरह राग और द्वेष का, जो भवभ्रमण

---

१ मुद्रितप्रतौ 'थप्रयोग(जन)मा' इति पाठः। २ तस्माद् बुधो भाषारहस्यमेतच्चारित्रशुद्धिकृते समीक्ष्य। यथा विलीयेते खलु रागद्वेषौ तथा प्रवर्तेत गुणेषु सम्यक्।।१००।।

तथा सम्यग् गुणेषु = चारित्रपालनोपायेषु प्रवर्त्तेत। न चाऽत्र प्रवृत्तौ एकान्तः, किन्तु राग-द्वेषपरित्यागलक्षणफल एव, फलेच्छायाः फलसिद्धिं विनाऽपूर्णत्वात्, उपायेच्छापूर्त्तेस्त्वन्यतर - सम्पत्त्याऽपि निर्वाहात्। न च फलविशेषसम्पत्तये उपायविशेषे प्रवृत्तिनियमः,

ननु स्वेच्छया यत्र क्वचित् कारणे प्रवृत्तौ सत्यां कथं कार्योपायेच्छापूर्तिस्स्यात्, अन्यथा फललाभं विनापि फलेच्छापूर्तिस्स्यात्, एवं च पुरुषार्थोच्छेदः स्यात्। अतो यावत्कारणेष्वेव प्रवृत्तिर्युज्यत इत्याशङ्कां निराकरोति **न चेति**। **अत्र**=प्रवचने, **प्रवृत्तौ**=स्वाध्यायतपआदिविषयकप्रवृत्तौ, **एकान्तः**=अवश्यंभावः। सकलोपाये प्रतिनियतोपाये वा प्रवृत्तौ नियमो नास्तीति भावः। किं सर्वथा नियमो नास्तीत्याशङ्कायामाह **किन्त्विति**। **एवे**त्यनन्तरमेकान्त इत्यनुषज्यते। फलैकान्ते हेतुमाह**फलेच्छायाः**=रागद्वेषपरित्यागलक्षणफलाभिलाषस्य **फलसिद्धिं**=प्रोक्तफलोत्पादं विना **अपूर्णत्वात्**=अपरिनिष्ठितत्वादिति। उपायानेकान्ते हेतुं प्रदर्शयति **उपायेच्छापूर्तेः**=रागद्वेषविलयरूपफलोपायनिष्ठायाः तुर्विशेषद्योतने, **अन्यतरसम्पत्त्याऽपि**=स्वाध्यायतपआद्यन्तरोपायलाभेन किं पुनर्यावदुपायलाभेन**त्यपि**शब्दार्थः, **निर्वाहात्**=प्रयोज्यत्वात्। अयं भावः प्रकृते फलस्यैकत्वेन तदप्राप्तौ न तत्परिपूर्तिः सम्भवति उपायानां त्वनेकत्वेन तदेकतरलाभेऽपि तत्पूर्तिः स्यादेवेति उपायानेकान्तः फलैकान्तश्च युक्त एव।

ननु यथा कपालत्वावच्छिन्नस्य घटसामान्यकारणत्वेऽपि नीलघटं प्रति नीलकपालस्यैव कारणत्वेन तदुत्पादार्थं तत्रैव प्रवृत्तिर्युज्यते न कपालसामान्ये; नीलघटकारणताया नीलकपालत्वावच्छिन्नत्वेन कपालत्वानवच्छिन्नत्वात् तथैव रागद्वेषविलयविशेषलाभार्थमुपायविशेष एव प्रवृत्तिर्युज्यते न तूपायसामान्ये कार्यविशेषस्योपायसामान्याऽप्रयोज्यत्वादित्याशङ्कां निरसितुं प्रदर्शयति **न चेति**। **फलविशेषसम्पत्तये**=फलविशेषलाभाय **उपायविशेषे**=प्रतिनियतोपाये, **प्रवृत्तिनियम**=प्रवृत्त्येकान्तः।

के प्रधान कारण है, विलय हो वैसे चारित्रपरिपालन के उपायभूत गुणों में अच्छी तरह प्रवर्तन करना चाहिए। जिनशासन में दान, शील, तप, भाव, स्वाध्याय, वैयावच्च, परमात्मभक्ति आदि अनेक योग (उपाय) बताए गये हैं। मगर इनमें से अमुक ही योग में प्रवृत्ति करनी चाहिए अमुक में नहीं या सब में? ऐसा एकान्त नहीं है। मगर इतना जरूर है कि इन सब उपायों से राग और द्वेष के विलयरूप फल की प्राप्ति में एकान्त है। अर्थात् प्रतिनियत ही योग में प्रवर्तन का नियम नहीं है। चाहे दान में, चाहे शील में, चाहे तप में और चाहे भावधर्म में प्रवृत्ति हो मगर उससे राग, द्वेष का विलय होना जरूरी है। राग-द्वेषविलय जिससे प्राप्त हो वह योग उपादेय है। यहाँ रागद्वेषविलयरूप फल में एकान्त होने का कारण यह है कि मुमुक्षु के लिए कर्ममुक्ति लक्ष्य होती है और जब तक राग-द्वेष का संपूर्ण विलय न हो तब तक वह अप्राप्य है। अतः रागद्वेषविलय की जब तक प्राप्ति न होगी तब तक उसकी प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण नहीं होगी। मगर "रागद्वेषक्षय के अमुक उपाय में हीं प्रवृत्ति होने पर रागद्वेषविलयरूप फल के उपाय की इच्छा पूर्ण होती है" ऐसा नहीं है। रागद्वेषक्षय के किसी भी उपाय में प्रवृत्ति होने पर भी उपाय इच्छा पूर्ण होती है। अतएव अमुक योग में ही प्रवर्त्तन करना-ऐसा यहाँ नियम नहीं है। जब शरीर स्वस्थ है तब तपश्चर्या, वैयावच्च, स्वाध्याय आदि से रागद्वेष का विलय कर सकते हैं। जब बीमारी आ जाए तब रोग-परिषहसहनरूप संवरधर्म की आराधना द्वारा रागद्वेष का विलय कर सकते हैं। बीमारी के समय में 'मेरा यह स्वाध्याय रह गया, यह मुझसे आगे बढ जाएगा' इत्यादि आर्तध्यान करना नामुनासिब है; चूँकि स्वाध्याय के द्वारा जो प्राप्य है, वह रोगपरिषह सहन कर के भी प्राप्त होता ही है। अतः प्रवृत्ति का एकान्त मुमुक्षु के लिए त्याज्य है। हाँ, रागद्वेषविलयरूप साध्य में जरूर एकान्त कर्तव्य है।

शंका :- ***न च फल,*** इति। सामान्य फल की प्राप्ति के लिए सामान्य उपाय में प्रवृत्ति हो वह उचित है, मगर फलविशेष की प्राप्ति सामान्य उपाय से नहीं हो सकती है। जैसे कि घट सामान्य के उपाय में प्रवृत्ति करने पर घटविशेष यानी पीतघट इत्यादि की प्राप्ति नहीं होती है। पीतघट की प्राप्ति के लिए तो पीतघट के उपाय में ही प्रवृत्त होना चाहिए। इस तरह सामान्य रागद्वेषविलयरूप फल की प्राप्ति के लिए सामान्य उपाय में प्रवृत्ति करना ठीक है मगर विशेष राग-द्वेषविलयरूप फल की प्राप्ति के लिए उपायविशेष में ही प्रवृत्ति करना मुनासिब होगा। अन्यथा विशेष फल की प्राप्ति न होने से फलविशेषप्राप्ति की अभिलाषा अपूर्ण रह जाएगी।

फलविशेषस्यैवासिद्धेः, राजरङ्कमरणयोरविशेषदर्शनेनाऽऽयुःकर्मण इव कर्मान्तरस्यापि क्षये विशेषाभावात्। **न च** प्रतियोगिविशेष-

मूलं नास्ति कुतः शाखा? इति न्यायेन तन्निराकरोति- **फलविशेषस्यैवसिद्धेरिति**। रागद्वेषविलयरूपफले विशेषधर्मस्यैवासिद्धत्वादित्यर्थः। भावात्मके हि कार्ये कारणकृतवैजात्यं संभवति नाभावाख्ये कार्ये। न हि स्वर्णदण्डकृतघटध्वंसात्काष्ठदण्डकृतघटध्वंसे वैजात्यमस्तीति भावः। तदेव प्रदर्शयति **राजरङ्केति**। राजमरणात् रङ्कमरणे विशेषस्याऽदर्शनेनाऽऽयुःकर्मक्षये विशेषाभावोऽनुमीयते तद्वत् कर्मान्तरक्षयेऽपीति भावः। मरणं च सकलप्राणच्छेदः। **केचित्तु** दीर्घनिद्रा मृत्युरित्याहुः। **अन्ये** तु महानिद्रा मृत्युरिति वदन्ति। चरमशरीरप्राणसंयोगध्वंसो मृत्युरित्**येके**। विज्ञानोपरमावस्था मृत्युरित्**यपरे**। एतच्छरीरभोगप्रापककर्मोपरमेण द्विविधदेहाभिमाननिवृत्त्या भाविशरीरप्राप्तिपर्यन्तं सम्पिण्डितकरणग्रामो मरणमिती**तरे**। प्रकृते प्रयोगा एवम् राजरङ्कायुःकर्मक्षयौ न विलक्षणौ तत्कार्ययोर्विशेषाभावात्। यदि च वैयधिकरण्यं विभाव्यते तदा सजातीयकार्यजनकत्वादिति हेतुर्वाच्यः। ज्ञानावरणीयादिसकलकर्मक्षया न परस्परं विलक्षणाः कर्मक्षयत्वात् राजरङ्कायुःक्षयवत्। एवं जीवानां मोक्षा न परस्परं विलक्षणाः कृत्स्नकर्मक्षयात्मकत्वात्।

ननु राजरंकायुःकर्मक्षययोः काममस्तु अवैलक्षण्यं अनुयोगिभेदस्य अभाववैलक्षण्याप्रयोजकत्वात् तथाप्यायुर्मोहनीयादिकर्मक्षयेषु वैलक्षण्यं स्यादेव अभाववैलक्षण्यप्रयोजकस्य प्रतियोगिभेदस्य सत्त्वात्, अन्यथा घटपटध्वंसयोरपि वैलक्षण्यं न स्यादित्याशयं निराकर्तुमुपन्यस्यति-**न चेति। प्रतियोगिविशेषकृतः**=आयुर्मोहादिप्रतियोगिभेदकृतः

* रागद्वेष विलय में वैलक्षण्य नहीं है *

समाधान :- विशेष रागद्वेषविलयरूप फल की प्राप्ति करने की आप अभिलाषा कर रहे हैं मगर रागद्वेषविलयरूप फल में कुछ भी विशेषता ही नहीं है, क्योंकि रागद्वेषक्षय समान ही होता है। जैसे कि युद्ध या बीमारी आदि से राजा या रंक का मृत्यु होने पर भी मृत्यु में कुछ भी भेद नहीं रहता है। दश प्राणों के त्यागरूप मृत्यु राजा और रंक में, अमीर और गरीब में समान ही है। मरण का कारण है आयुष्य का कर्म क्षय। आयुष्यकर्मक्षय के कार्यरूप मौत में कुछ भी विशेषता उपलब्ध न होने से उसके कारणस्वरूप आयुष्य कर्मक्षय में, चाहे वह राजा का हो या रंक का हो, कोई विशेषता नहीं है- यह सिद्ध होता है। जैसे राजा और रंक दोनों के आयुष्य कर्म अलग अलग है फिर भी उनके क्षय में कोई वैजात्य नहीं है, ठीक उसी तरह अन्य कर्म के क्षय में भी समानता ही अनुमान प्रमाण से सिद्ध होगी।

अन्य दृष्टांत से भी हम उपर्युक्त बात को समझ सकते हैं कि- जिसको घट फोडना है वह चाहे सुवर्ण से दंड से या लोह के दंड से या काष्ठ के दंड से या हाथ से क्यों न घट फोडे, मगर घटध्वंस में कोई वैजात्य या वैलक्षण्य नहीं होता है। ठीक उसी भाँति संपूर्ण क्षय चाहे स्वाध्याय से हो, चाहे वैयावच्च से हो, चाहे परमात्मभक्ति से हो, चाहे विनय से हो मगर उसमें कुछ वैविध्य नहीं है- यह सिद्ध होता है। अतः 'फलविशेष की प्राप्ति के लिए उपायविशेष में उद्योग करना आवश्यक है, न कि उपाय सामान्य में' ऐसा वचन बिना दिवार के चित्रकामतुल्य प्रतीत होता है। जो कुछ भेद है वह संसारी अवस्था में है। सिद्ध अवस्था में कुछ भेद या तरतमभाव नहीं है।

शंका :- ***न च प्रतियो.*** इति। कर्मक्षय अभावात्मक है और अभाव का अनुयोगी (अधिकरण) भिन्न हो तब भी अभाव बदलता नहीं है। इसलिए राजा का आयुष्यकर्मक्षय और रंक का आयुष्यकर्मक्षय परस्पर विजातीय न हो वह ठीक ही है। अभाव का भेदक तो प्रतियोगिभेद ही होता है। प्रतियोगी में विशेषता होने पर अभाव बदल जाता है जैसे कि घटध्वंस से पटध्वंस भिन्न है, क्योंकि उनके प्रतियोगी परस्पर भिन्न हैं। मगर राजा और रंक के आयुष्य कर्म क्षय के प्रतियोगी आयुष्य कर्म में तो वैजात्य नहीं है। अतः वे दोनों ही आयुष्यकर्मक्षय सजातीय हो वह मुनासिब है। मगर आयुष्य कर्म का क्षय और उससे अन्य मोहनीय आदि कर्म का क्षय सजातीय नहीं है किन्तु विजातीय हैं। अतः उनमें विशेषता मानना न्यायप्राप्त है। इस तरह ज्ञानावरणादि कर्म प्रतियोगिक क्षय में भेद सिद्ध होने पर तत्तत्कर्मक्षयकूट रूप मोक्ष में भी विजातीयता सिद्ध होगी। इस तरह जब फलविशेष की सिद्धि हो गई तब तो उसका

कृतस्तद्विशेषः, प्रतियोगिविशेषस्याऽपि तथाविधस्यासिद्धेः स्वरूपात्मकस्य च तस्य हेतु-हेतुमद्भावभेदानियामकत्वात्।

तद्विशेषः=आयुर्मोहादिकर्मक्षयभेदः, आयुर्मोहादिक्षयप्रतियोगिनां विलक्षणत्वेन तत्तत्प्रतियोगिध्वंसे वैलक्षण्यात् तत्तत्कर्मक्षयकूटरूपे मोक्षफलेऽविशेषताप्रतिपादनं निर्युक्तिकम्, प्रत्येकमवृत्तिधर्मस्य समुदायाऽवृत्तित्वनियमादिति। ततः प्रवृत्तिविशेषनियमः फलविशेषलाभार्थमङ्गीकर्तव्य इति पूर्वपक्षाशयः।

ननु सर्वमिदमजातपुत्रक्रीडनकमापद्यते इत्याशयेन समाधत्ते-**प्रतियोगिविशेषस्याऽपि तथाविधस्यासिद्धेरिति**। आयुर्मोहादिक्षयप्रतियोगिनिष्ठविशेषधर्मस्याऽपि ध्वंसवैलक्षण्यप्रयोजकस्यासत्त्वादिति भावः। **यद्यपि** मोहनीयत्वादिप्रातिस्विकरूपेणाऽऽयुःकर्मादेर्भेदोऽस्ति **तथापि** तादृशभेदध्वंसवैजात्याऽप्रयोजकत्वान्न तद्विशेषः सिध्यति कर्मत्वेन रूपेण मौलद्रव्याणां तत्तत्कर्मक्षयप्रतियोगिनामभेदस्य जागरूकत्वाच्च। यदि नैवमभ्युपेयते तर्हि एकस्याऽपि मिथ्यात्वमोहस्य रसस्थित्यादिभेदेन भिन्नत्वात् तत्क्षयभेदः प्रसज्येत। न चेष्टमेतत्, कर्मेयत्ताभेदप्रसङ्गात्।

यदि च रसस्थित्यादिभेदेन भिन्नत्वेऽपि मिथ्यात्वरूपेणाऽभेदोऽस्त्येवेति विभाव्यते तदा प्रकृतेऽपि तत्तत्कर्मत्वेन रूपेण प्रतियोगिविशेषसत्त्वेऽपि वर्गणाविभाजककर्मत्वादिना तदविशेषः किं पाणिपिहितः? **एतेन** कर्मविभाजकज्ञानावरणत्वादिना भेदकल्पनाऽपि **प्रत्युक्ता।**

नन्वेवं सति जन्यभावत्वेन द्रव्यत्वेनैव च कार्यकारणभावः स्यादिति पटत्वादिना तंतुत्वादिना च कार्यकारणभावबुद्धिव्यवहारयोरप्रामाण्यापत्तिस्स्यादिति **चेत्? मैवम्,** व्यापकधर्मस्य व्याप्यधर्मेणाऽन्यथासिद्धेः पटत्वाद्यवच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकत्वापत्तेश्च तत्र तन्तुत्वादिना हेतुतास्वीकारस्य आवश्यकत्वात्, अन्यथा तदवच्छिन्नसामग्र्यनिश्चये=एतावत्सत्त्वेऽवश्यं पटोत्पत्तिरितिनिश्चयाभावे तत्रैव प्रवृत्तेर्दुर्घटत्वप्रसङ्गात्, तादृशनिश्चये एव कृतिसाध्यताबुद्धिसम्भवात्। तत्पटत्वाद्यवच्छिन्नस्याऽऽकस्मिकत्वं त्विष्टमेव तद्धर्मावच्छिन्नसामग्रीसत्त्वेऽपि तथानिश्चयाऽयोगात् तद्धर्मावच्छिन्ने प्रवृत्त्यभावाच्च। प्रकृते च मुमुक्षोः कर्मत्वावच्छिन्नध्वंसोद्देशेनैव प्रवृत्तिः न तु तत्तत्कर्मप्रतियोगिकध्वंसोद्देशेन, व्युत्पन्नस्य क्वाचित्की कादाचित्की तु प्रवृत्तिः तत्तत्कर्मक्षयोपशमाद्युद्देशेनैव न तु तत्तत्कर्मक्षयोद्देशेनेति **ध्येयम्**।

ननु ज्ञानावरणादीनां कर्मत्वाविशेषेऽपि चैत्रबद्धत्वादिविशेषात् चैत्रीयकर्मणि चैत्रीयकृतेश्चैत्रीयकर्मक्षये चैत्रीयज्ञानतपआदेश्च हेतुत्वं वक्तव्यम्, अन्यथा मैत्रीयकृतेश्चैत्रस्यापि कर्मबन्धो मैत्रीयज्ञानतपआदेश्चैत्रस्याऽपि कर्मक्षयश्च

कारण भी सामान्य नहीं होगा किन्तु विशेष ही होगा। अतः उपायविशेष में प्रवृत्ति का नैयत्य ही रहेगा, अनैयत्य नहीं। अर्थात् मनपसंद उपाय से मोक्षविशेष की प्राप्ति नहीं होगी किन्तु उपायविशेष में प्रवृत्ति करने पर ही मोक्षविशेष की प्राप्ति होगी। अतः प्रतिनियत उपाय में प्रवृत्ति का नियमन मानना न्याय्य है।

समाधान :- *प्रतियोगिविशेषस्यापि.* इति। आपकी यह शंका तब ठीक होती यदि कर्मक्षय के प्रतियोगी में विशेषता सिद्ध होती। मगर ज्ञानावरणादि कर्मध्वंस के प्रतियोगी में वैलक्षण्य ही असिद्ध है, चूँकि कर्मत्वरूप से ज्ञानावरणादि कर्म में समानता ही है। तब कृत्स्न कर्मक्षय में भी विशेषता की कैसे सिद्धि होगी?

शंका :- भले ही कर्मत्वरूप से ज्ञानावरणीयादि कर्म में अभेद हो, मगर चैत्रीयत्वादि रूप से उनमें भेद भी न्यायप्राप्त है। जैसे कि चैत्र से बद्ध ज्ञानावरणादि कर्म में चैत्रीयत्व धर्म है, मैत्र से बद्ध ज्ञानावरणादि में मैत्रीयत्व धर्म है, जो कि चैत्रीय कर्म में नहीं रहता है, अन्यथा मैत्र की कर्ममुक्ति होने पर चैत्र की भी कर्ममुक्ति बिना उद्योग के हो जायेगी। अतः ज्ञानवरणादि कर्म में चैत्रीयत्व, मैत्रीयत्व आदि विशेष धर्म की अपेक्षा भेद मानना भी न्यायोचित है। इस तरह जब कर्मक्षय के प्रतियोगी में विशेषता सिद्ध होगी तब कर्मक्षयरूप फल में भी विशेषता सिद्ध होगी। तब तो वापस उपायविशेष में प्रवृत्ति का नियमन होना जरूरी है। अर्थात् विशेष कार्य-कारणभाव मानना जरूरी है।

कथं तर्हि व्यभिचाराद्बहूनामुपायानामेकफलहेतुत्वमिति **चेत्?**

स्यादित्याशंकायामाह **स्वरूपात्मकस्य**=प्रतियोगिस्वरूपस्य **च तस्य**=प्रतियोगिनिष्ठविशेषधर्मस्य, **हेतुहेतुमद्भाव-भेदानियामकत्वात्** = फल-फलवद्भावभेदनियामकत्वाभावात्। अयं भावः यथा चैत्रीयकृतौ चैत्रीयत्वं कृतिस्वरूपमेव न त्वतिरिक्तम् तथैव चैत्रीयकर्मणि चैत्रीयत्वं कर्मस्वरूपमेव न त्वतिरिक्तम्। सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन कार्यकारण-भावाऽभ्युपगमान्नातिप्रसङ्गः अन्यथा इच्छाकृत्योः जन्यजनकभावं परित्यज्य चैत्रीयेच्छादिरूपेणाऽनन्तोत्पाद्योत्पादक-भावकल्पनाप्रसङ्गात्।

अथैवं कृत्स्नकर्मक्षयात्मके मोक्षे तीर्थकरातीर्थकरसिद्धादिपञ्चदशभेदाभिधानं सिद्धान्तप्रोक्तं कथं सङ्गच्छते? अतीतनयाभिप्रायेणेति बुध्यताम्। सामग्र्याः कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नोत्पत्तिव्याप्यत्वात्तीर्थकरसिद्धत्वाद्यवच्छिन्नस्याऽना-पत्तिरेव। न हि तीर्थकरसिद्धत्वादिकं कार्यतावच्छेदकम्, अर्थसमाजसिद्धत्वात् अन्यथा नीलघटत्वादिकमपि तथा स्यादिति विभावनीयम्।

ननु स्वाध्यायादिकं विनैव भरतादेः मुक्तिदर्शनात् कथं स्वाध्याय-तपः-संयमादीनामनेकेषामुपायानां मुक्तिहेतुत्व-मित्याशयेन शङ्कते-**कथमिति**। नैवेत्यर्थः काक्वा प्रतीयते। **तर्हि** = फलवैजात्यानभ्युपगमे, **व्यभिचारात्** = व्यतिरेक-व्यभिचारात्, **बहूनां** स्वध्यायतपःसंयमवैयावृत्त्यादीना**मुपायानां एकफलहेतुत्वं**=एकधर्मावच्छिन्न-कृत्स्नकर्मक्षयात्मक-फलोपायत्वम्। न हि कार्याधिकरणवृत्ति-कार्योत्पादाव्यवहितपूर्वकालीनात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपे व्यतिरेकव्यभिचारे

❋ कर्माष्टकवृत्ति चैत्रीयत्वादि धर्म कर्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं ❋

समाधान :- ***स्वरूपा.*** इति। ज्ञानावरणीय आदि कर्म में जो चैत्रीयत्व, मैत्रीयत्व आदि धर्म हैं वे कर्मस्वरूप ही हैं, उनसे अतिरिक्त नहीं हैं। जो धर्म प्रतियोगिरूप ही होता है वह धर्म कार्य-कारणभाव का भेदक नहीं होता है। अन्यथा ज्ञान, इच्छा, कृति आदि में जो प्रसिद्ध कार्यकारणभाव है उसे छोड कर चैत्रीय ज्ञान, चैत्रीय इच्छा, चैत्रीय कृति (यत्न) आदि में ही विशेषरूप से कार्यकारण-भाव मानना पडेगा। ऐसा होने पर अनंत कार्य-कारणभाव मानने की आपत्ति होगी। कर्मक्षय में ज्ञान दर्शन, तप, चरित्र आदि सामानाधिकरण्य संबंध से कारण होते हैं। अतः चैत्र के ज्ञान, दर्शन आदि से चैत्र के कर्मों का ही नाश होगा, न कि मैत्र के कर्म का। अतः कृत्स्नकर्मक्षय में विशेषता असिद्ध ही है। अतएव प्रवृत्तिविशेष का नियमन करना नामुनासिब है। अतः मूल गाथा में जो कहा गया है कि-जिस तरह रागादि का विलय हो वैसे प्रवृत्ति करना-वह ठीक ही है। अतः उपायविशेष में प्रवृत्ति के नियमन की बात-आपकी गेरसमज की निपज है।

शंका :- ***कथं.*** इति। यदि कृत्स्नकर्मक्षयरूप कार्य में वैजात्य नहीं है तब तो विभिन्न उपायों और कृत्स्नकर्मक्षय के बीच कार्यकारण कैसे हो सकेगा? इसका कारण यह है कि-कारण वह कहा जाता है जो अपने कार्य की उत्पत्ति काल में अवश्य विद्यमान हो अर्थात् उसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो। मगर प्रस्तुत में तो अमुक जीव वैयावच्च के बिना ही ज्ञान-ध्यान आदि से मोक्ष को प्राप्त करता है और दूसरा वैयावच्च के द्वारा। तब वैयावच्च को मोक्ष का कारण कैसे कहा जा सकता है? ज्ञानादिजन्य मोक्ष तो वैयावच्च के बिना उत्पन्न हो जाता है। इस तरह किसीका मोक्ष दान से, किसी का मोक्ष शील से, किसीका मोक्ष तप से, किसीका मोक्ष भावधर्म से होता है। तब इन सब को मोक्ष का कारण कैसे कहा जा सकता है? दानादि धर्म यदि मोक्ष के कारण है तब उसके बिना चारित्र आदि से क्या मुक्ति हो सकती है? अतः कार्य में वैजात्य मानना आवश्यक है। दानादिजन्य क्ष को तप-चारित्रादिजन्य मोक्ष से विजातीय मानना आवश्यक है।

❋ तप आदि में तृणारणिन्याय से मोक्षहेतुता ❋

समाधान :- ***किं न.*** इति। आप भी अलौकिक बात कहते हैं। क्या आपने यह सुना नहीं है कि तृण अरणि, मणि एक ही अग्नि के हेतु होते हैं? जहाँ तृण से अनल उत्पन्न होता है वहाँ अरणि और सूर्यकान्त मणि नहीं होते हैं। जहाँ अरणि से, जो एक काष्ठ है जिसके घर्ण से अग्नि की उत्पत्ति होती है, आग उत्पन्न होती है वहाँ तृण या सूर्यकान्त मणि नहीं होते हैं। तथा जहाँ सूर्यकान्त

किं न दृष्टं तृणारणिमणीनामेकवह्निहेतुत्वम्?

तृणादिजन्यवह्नौ जातिविशेषोऽस्त्येवेति चेत्? न, अनुपलम्भात्, जातित्रयकल्पनात् एकशक्तिकल्पनाया एव लघुत्वाच्च।

सति कारणत्वं सम्भवतीति पूर्वपक्षाशयः। काक्वा समाधत्ते **किं न दृष्टमिति। दृष्ट**मेवेत्यर्थः। **तृणारणीति**। घर्षणद्वारा वह्निजनकं काष्ठं अरणिः, मणिः = सूर्यकान्तमणिः तृणादि विनाऽरण्यादितोऽपि वह्नेरुत्पादात् वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति तृणादेर्व्यभिचारेऽपि एकवह्निहेतुत्वं यथाऽस्ति तथैव प्रकृतेऽपि स्वाध्यायादीनां बहूनामुपायानामेकमोक्षलक्षणफलहेतुत्वं सुघटमिति उत्तरपक्षाशयः।

ननु तृणारणिस्थले न वह्निसामान्यस्योत्पत्तिः स्वीक्रियते किन्तु वह्निविशेषस्यैवेत्याशयेन पुनः शङ्कते **तृणादिजन्येति**। **जातिविशेषः** तार्णत्वादिजातिविशेषः। अयं भाव वह्नित्वावच्छिन्नं प्रति तृणादेः कारणत्वं नास्ति परस्परव्यभिचारात् किन्तु तार्णवह्निं प्रति तृणस्य आरणेयवह्निं प्रत्यरणेः माणेयवह्निं प्रति मणेश्च कारणत्वमुपेयते, तेन न व्यभिचार इति पूर्वपक्षाशयः।

हेतुद्वयेन तन्निराकरोति **नेति। अनुपलम्भादिति** तृणादिजन्यवह्न्यपेक्षयाऽरणिजन्यवह्नौ वैजात्यस्यानुपलब्धेः, चैत्रीयघटापेक्षया मैत्रीयघटे इवेति भावः।

हेत्वन्तरं दर्शयति **जातित्रयकल्पनादिति** तार्णत्वादिरूपवह्निनिष्ठजातित्रयकल्पनाऽपेक्षया, **एकशक्तिकल्पनायाः** = तृणफूत्कारारणिनिर्मथनमणितरणिकरसंयोगेष्वेकशक्तिकल्पनायाः, **एव लघुत्वाच्च**। एकत्वं चात्र न सङ्ख्यात्मक-गुणविशेषः, तृणविनाशेऽरण्यादिनिष्ठशक्तिनाशापत्तेः। न वा त्रिषु पर्याप्तिसम्बन्धेन वृत्तिर्गुणविशेषः अरण्यादिकं विना

मणि से आग उत्पन्न होती है वहाँ तृण या अरणि की उपस्थिति नहीं रहती है। फिर भी बलवान् अन्वय सहचार से तृण, अरणि, मणि वह्नि के कारण माने जाते हैं। वैसे ही कभी वैयावच्च आदि के बिना ही स्वाध्याय आदि से मोक्ष होता है और कभी स्वाध्याय आदि के बिना ही वैयावच्च आदि से। फिर भी वैयावच्च आदि तथा स्वाध्याय, ध्यान आदि मोक्ष के कारण कहे जाए-वह मुनासिब ही है, अन्यथा तृणारणिस्थल में भी अग्निरूप एक कार्य के प्रति कारणता असिद्ध बनेगी।

शंका :- ***तृणादिजन्य.*** इति। हमारे लिए तो यह इष्टापत्ति ही है। हम तो मानते ही हैं कि तृण, अरणि और मणि सजातीय वह्नि की उत्पत्ति के हेतु नहीं हैं मगर विजातीय वह्नि की उत्पत्ति में कारण होते हैं। आशय यह है कि-तृणजन्य अग्नि में एक जातिविशेष है, जो अरणि और मणि से जन्य अग्नि में नहीं है। अरणिजन्य अग्नि में जातिविशेष है जो अरणि और तृण से जन्य अग्नि में नहीं है। तथा सूर्यकान्त मणि से जन्य अग्नि में एक जातिविशेष है, जो तृण और अरणि से जन्य अग्नि में नहीं है। अर्थात् तृण, अरणि और मणि एक ही अग्नि के कारण नहीं है मगर विलक्षण अग्नि के कारण होते हैं। तृण का कार्यता अवच्छेदक धर्म तार्णत्व जातिविशेष है, जो तृणजन्य सब अग्नि में विद्यमान है। अरणि का कार्यतावच्छेदक धर्म आरणेयत्व जाति है, जो अरणिजन्य सब अग्नि में विद्यमान है। तथा सूर्यकान्त मणि का कार्यतावच्छेदक माणेयत्व जाति है, जो मणिजन्य सब अग्नि में विद्यमान है। अतः अरणि के बिना जहाँ तृण से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है वहाँ व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश ही नहीं है, क्योंकि तार्णत्वजातिविशिष्ट अग्नि का कारण अरणि आदि है ही नहीं।

इस तरह मानने पर तो आपके मोक्ष में भी वैलक्षण्य की सिद्धि हो जाएगी जो आपको अभिमत नहीं है। देखिए, तृणारणि स्थल की तरह प्रस्तुत में व्यतिरेक व्यभिचार का निवारण करने के लिए यह कहना होगा कि- "वैयावच्च जन्य मोक्ष में एक जातिविशेष है जो ध्यान, चारित्र आदि से जन्य मोक्ष में नहीं है। तथाचारित्रजन्य मोक्ष में एक जातिविशेष है जो वैयावच्च, चारित्र आदि से जन्य मोक्ष में नहीं है। तथा स्वाध्याय से जन्य मोक्ष में एक जातिविशेष है जो वैयावच्च आदि से जन्य मोक्ष में नहीं है। अतः बिना वैयावच्च के स्वाध्याय से होनेवाले मोक्ष में व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है, क्योंकि उस मोक्ष का कारण वैयावच्च है ही नहीं"। मगर ऐसा स्वीकार करने पर आपको प्रतिनियत उपाय में प्रवृत्ति का नियमन करना ही होगा। इसके अस्वीकार पक्ष में कार्यविशेष की प्राप्ति कैसे बनेगी?

यथा तृणादीनामेकशक्त्या वह्निहेतुत्वं तथा बहूनामप्युपायानामेकयैव शक्त्या कर्मक्षयहेतुत्वं नानुपपन्नमिति सर्वमवदातम्।।१००।।

तृणादितो वह्न्यनुत्पत्त्यापत्तेः किन्तु सामान्यरूपम्। **न च** तस्यैकपदवाच्यत्वमप्रसिद्धमिति **वाच्यम्**, तत्र तद्वाचकत्वस्य प्रसिद्धत्वात्। तदुक्तं 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले यथा। साधारणे समानेऽल्पे सङ्ख्यायां च प्रयुज्यते।।' ( ) तच्च समवायेनाऽपृथग्भावसम्बन्धेन वा वर्तत इत्यन्यदेतत्। एवकारेण जातित्रयकल्पनाव्यवच्छेदः कृतः। अयं भावः वह्निनिरूपितकारणतायास्तृणत्वेन तृणनिरूपितकार्यतायाश्च वह्नित्वेन प्रथमतो ग्रहेऽपि वह्निसामान्यतृणसामान्यकार्यकारणभावोपयोगे तृणत्वेन व्यभिचारस्फूर्तौ शक्तिविशेषेणैव तृणे वह्निसामान्यहेतुताया ऊहाख्यप्रमाणेन परिच्छेदात्। न चेदेवं दण्डघटादेरपि कार्यकारणभावो दुर्घटः स्यात्, घटत्वस्य मृत्त्वस्वर्णत्वादिसङ्कीर्णतया जातित्वाऽसिद्धेः।

किञ्च सिद्धरसस्पर्शाल्लोहादौ तपनीयपरिणामः शक्तिविशेषं विना दुर्घटः, सिद्धरसस्पर्शध्वंसविशिष्टलोहे तपनीयारम्भस्य त्वया वक्तुमशक्यत्वात्। लोहस्यान्त्यावयवित्वात्तत्र लोहनाशतपनीयावयवाऽऽगमनकल्पनस्य तु अनुभव-

---

* तृणादिजन्य वह्नि मणिआदिजन्य वह्नि से विजातीय नहीं है *

समाधान :- ***न, अनुप.*** इति। वाह! आप बात तो बड़ी बड़ी करते हैं मगर सब तथ्यहीन हैं। इसके दो हेतु हैं। प्रथम हेतु है जातिविशेष की अनुपलब्धि। "तृणादिजन्य वह्नि में एक जातिविशेष है, जो अरणि आदि से जन्य अग्नि में नहीं है...." इत्यादि जो आपने कहा है, वह असिद्ध है, क्योंकि तृणजन्य वह्नि में और अरणिजन्य वह्नि में, गौर से निगाह डालने के बावजूद भी, जातिविशेष की उपलब्धि (ज्ञान) नहीं होती है, जैसे कि घटत्व से भिन्न जाति की पट में उपलब्धि होती है वैसे।

दूसरा हेतु है गौरव दोष। अर्थात् आपके अभिप्राय के अनुसार कार्य-कारणभाव का निश्चय करने के लिए तीन जातिविशेष की, जो अग्नि में रहती हैं, कल्पना करनी पडती है। तीन जातिविशेष की कल्पना का गौरव आपके पक्ष में प्राप्त है, जो कि अप्रामाणिक होने से अस्वीकार्य है। इसकी अपेक्षा तृणादि और वह्नि के बीच कार्य-कारणभाव का निश्चय करने के लिए तीनों में एक एक शक्ति की कल्पना करना ही लाघव गुण से मुनासिब लगता है। तीनों में वह्निजनक एक शक्ति मानने से, एक शक्तिमत्तया तीनों में वह्निकारणता रहेगी। अर्थात् वह्निकारणतावच्छेदक वह शक्ति ही होगी जो तीनों में अनुगत है। अतः व्यतिरेक व्यभिचार दोष का भी कोई अवकाश नहीं रहता है। वह इस तरह।

देखिए, घट का कारण दण्ड है और कारणतावच्छेदक दंडत्व जाति है। दण्डत्वरूप से दंड घट का कारण है, मगर इसका मतलब यह नहीं है कि जहाँ घट की उत्पत्ति होती है वहाँ सब दंड को उपस्थित रहना ही पडे। कारणतावच्छेदक दंडत्व का आश्रय कोई एक दंड भी उपस्थित हो, फिर भी घट की उत्पत्ति हो जाती है। इसको कोई व्यतिरेक व्यभिचार नहीं मानते हैं। ठीक इसी तरह तीनों को एकशक्तिमत्त्वरूप वह्नि का हेतु मानने का अर्थ यह नहीं है कि-'जहाँ अग्नि का उत्पाद हो वहाँ तृण आदि तीनों की अवश्य ही उपस्थिति हो'। कारणतावच्छेदक शक्ति के आश्रय तीनों में से कोई एक भी हो तब भी वह्नि की उत्पत्ति होने में कोई व्यतिरेक व्यभिचार नहीं है, क्योंकि यावत्कारणतावच्छेदक के आश्रय की विद्यमानता कार्योत्पत्ति के लिए आवश्यक है, कारणतावच्छेदक के यावत् (=सकल) आश्रय की नहीं। इस तरह तीन जातिविशेष की कल्पना करने की अपेक्षा तीनों में एक अनुगत शक्ति की कल्पना करना ही न्यायोचित है।

* तपादि में एकशक्तिमत्त्वेन मोक्षहेतुता *

तथा बहूना, इति। जिस तरह तृणादि तीनों एक शक्ति से वह्नि के हेतु हैं, ठीक वैसे ही स्वाध्याय, तप, वैयावच्च, ज्ञान, ध्यान, संयम आदि अनेक साधन एक शक्ति से कर्मक्षय के हेतु हैं-यह हमारा सिद्धान्त है। मतलब कि तप आदि के बिना संयम से ही किसी का मोक्ष हो जाए तब भी कोई व्यतिरेक व्यभिचार का अवकाश नहीं है, क्योंकि कर्मक्षयकारणतावच्छेदकीभूत शक्ति तो संयम

---

१ एतद्भाषारहस्यं रचितं भव्यानां तत्त्वबोधार्थम्। शोधयन्तु प्रसादपरास्तद्गीतार्था विशेषविदः।।१०१।।

[१]एयं भासरहस्सं रइयं भविआण तत्तबोहत्थं। सोहिंतु पसायपरा तं गीयत्था विसेसविऊ।।१०१।।

स्पष्टा।।१०१।। (ग्रन्थाग्रम् - १०५५ श्लोक)

युक्तिविरुद्धत्वात् अस्मन्नये तु शक्तिवैचित्र्यान्न काप्यनुपपत्तिः। अतः शक्तिकल्पना प्रामाणिक्येव। **एतेन** जातित्रय-कल्पनागौरवस्य फलमुखत्वं प्रामाणिकत्वं च तथा शक्तेरप्रामाणिकत्वमिति **प्रत्युक्तम्,** जातित्रयकल्पनायाः पूर्वमेव गौरवस्योपस्थितत्वात् प्रमाणप्रवृत्तिसमये बाधात्, मणिविशेषस्पृष्टजलपानाद् विषचालनस्य शक्तिं विनाऽनुपपत्तेश्च। प्रकृते व्यतिरेकव्यभिचारं निराकरोति **यथेति**। **नानुपपन्न**मिति न व्यभिचारदोषग्रस्तम्।

एतेन तथापि भरतादिमुक्तिं प्रति व्यवहारस्य नास्त्येव प्रयोजकत्वमिति कल्पना **प्रत्युक्ता** कदाचिद्दण्डं विनाऽपि हस्तादिनैव चक्रभ्रमणाद् घटोत्पादेऽपि घटं प्रति दण्डस्येव व्यवहारं विनाऽपि पूर्वाभ्यस्तकरणानां तथाभव्यत्वपरिपाकतो भरतादीनां कदाचित्केवलज्ञानोत्पादेऽपि तं प्रति व्यवहारस्य न हेतुताक्षतिः द्वारस्याऽन्यत एव सिद्धेः, स्वप्रयोज्य-द्वारसम्बन्धेनैव च तद्धेतुत्वादिति भावनीयम्।

'जहा विलिज्जंति हु रागदोसा' इत्येव प्रतिपादने कृते 'जे आसवा ते परिसवा' ( ) 'जे जत्तिया य हेऊ भवस्स ते तत्तिया य हेऊ मुक्खस्स' ( ) इत्यादिसूत्राभिप्रायेण प्रवृत्तिमात्रस्याऽनियमः स्यात् अतः 'तहा पवट्टिज्ज गुणेसु सम्मं' इति कथितम् निश्चयनयानुगृहीतव्यवहारनयप्रतिपादनपरत्वादेतत्प्रकरणस्येति स्याद्वादावदातमतिभिः निपुणतरं निभालनीयम्।। १००।।

एयमिति। एतदिति। समीपतरवर्तिबोधार्थं 'एतदि'त्युक्तम्। तदुक्तम् 'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिरूपे एतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षं विजानीयात्।।' ( )। क्वचित् 'एवमि'ति पाठः तदभ्युपगमे च **प्रज्ञापना-*दशवैकालिका***दिमहाशास्त्रानुसारेणेत्यर्थः। **'रचित'**मिति। कर्मणि प्रयोगेन नम्रतादिप्रदर्शनं कृतम्। **भव्याना**मित्यनेन कूटद्रव्यविषयिणी प्रवृत्तिरायासमात्रफलेति प्रदर्शितम्। **तत्त्वबोधार्थ**मित्यनेन परोपकाराय सतां विभूतयः, शिष्टानां प्रवृत्तिः परोपकारव्याप्ता भवति तथा जिनवचनोपदेशेनैकान्तिकात्यन्तिकरूपेण भावोपकारेण प्राधान्यत उपकर्तव्य-मित्यादिदर्शितम् **'सोहिंतु'**=शोधयन्तु, अनेन स्वस्याऽनभिनिविष्टत्वोत्सूत्रभाषणभीरुतादि प्रदर्शितम्। 'गीयत्था विसेसविऊ' इत्यनेनाऽगीतार्थानां=अपरिणतानभ्यस्तप्रवचनानामेतद्ग्रन्थशोधनाऽनधिकारित्वमाविष्कृतमिति शम्।

में विद्यमान ही है। इस पक्ष में मोक्ष में विभिन्न जाति की कल्पना तथा विभिन्नजातीय मोक्ष और विजातीय कारण के बीच कार्यकारणभाव की कल्पना का व्यर्थ अप्रामाणिक गौरव नहीं है, मगर लाघव है। तथा शक्तिविशेष को कारणातावच्छेदक मानने से व्यतिरेक व्यभिचार आदि दोष भी नहीं है। अतः विवरणकार ने पूर्व में जो बताया था कि 'फल में एकान्त होने पर भी उक्त प्रवृत्ति में एकान्त नहीं है' वह नितान्त निर्दोष ही है।।१००।।

अब प्रकारणकार श्रीमद् महोपाध्यायजी १०१ वीं गाथा के पूर्वार्ध से ग्रंथ को पूर्ण कर के ग्रंथशोधन के लिए गीतार्थ मुनि भगवंतों से प्रार्थना करते हैं। टंकशाली वचन लिखने के बाद भी इतनी नम्रता! कमाल है!

❋ ग्रन्थशुद्धि के लिए गीतार्थ मुनि भगवंत से प्रार्थना ❋

गाथार्थ :- भव्य जीवों के तत्त्व बोध के लिए यह भाषारहस्य ग्रन्थ रचा गया है। विशेषविज्ञ गीतार्थ पुरुषों को, जो प्रसाद (कृपा) करने में सदा तत्पर है, यह विनंति है कि वे इस ग्रंथ को शुद्ध करे।१०१।

गाथा स्पष्ट होने से विवरणकार ने इसका विवरण किया नहीं है। अतः हम भी इसका ज्यादा विवेचन करना नामुनासिब समझते हैं।

अब ग्रन्थकार अपने गुरु की परम्परारूप प्रशस्ति को यहाँ बताते हैं। जिसका अर्थ निम्नोक्त है।

(अथ प्रकरणकारगुरुपरम्पराप्रशस्तिः)

सोम इव गोविलासैः कुवलयबोधप्रसिद्धमहिमकलः। ***श्रीहीरविजयसूरि***स्तपोगच्छव्योमतिलकमभूत्।।१।।
श्रीविजयसेनसूरिस्तत्पट्टोदयरविरिवाभूत्। यस्य पुरो द्योतन्ते शलभा इव भान्ति कुमतिगणाः।।२।।
तत्पट्टनन्दनवने कल्पतरु***र्विजयदेवसूरिवरः***। विबुधैरुपास्यमानो जयति जगज्जन्तुवाञ्छितदः।।३।।
तत्पट्टरोहणगिरौ सुररत्नं ***विजयसिंहसूरिगुरुः***। भूपालभालतिलकीभूतक्रमनखरुचिर्जयति।।४।।
राज्ये प्राज्ये विजयिनि तस्य जनानन्दकन्दजलदस्य। ग्रन्थोऽयं निष्पन्नः सन्नयभाजां प्रमोदाय।।५।।
यस्यासन् गुरवोऽत्र ***जीतविजय***प्राज्ञाः प्रकृष्टाशयाः भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदाः।
प्रेम्णां यस्य च सद्म ***पद्मविजयो*** जातः सुधीः सोदरः सोऽयं ***न्यायविशारदः*** स्म तनुते भाषारहस्यं मुदा।।६।।
कृत्वा प्रकरणमेतत् यदवापि शुभाशयान्मया कुशलम्। तेन मम जन्मबीजे रागद्वेषौ विलीयेताम्।।७।।
सूर्याचन्द्रमसौ यावदुदयेते नभस्थले। तावन्नन्दत्वयं ग्रन्थो वाच्यमानो विचक्षणैः।।८।।
असतां कर्णयोः शूलं सतां कर्णामृतच्छटा। विभाव्यमानो ग्रन्थोऽयं ***यशोविजय***सम्पदे।।९।।

※ प्रकरणकारीयप्रशस्ति का भावार्थ ※

अपने किरणों के विलास से कुवलय (रात्रीविकासी कमल) को प्रफुल्ल करने से जिसकी महिमा जगत में प्रसिद्ध है ऐसा चाँद जैसे विशाल गगन का सौम्य तिलक है ठीक वैसे ही कुवादिओं के वृंद (=कुवलय) को अपनी वाणी के विलास से प्रतिबोध कराने के सबब जिसकी महिमा जगप्रसिद्ध है ऐसे श्रीमद् विजय हीरसूरीश्वरजी महाराजा तपगच्छरूप विशाल गगन में सौम्य तिलकसम हुए।।१।।

जैसे पुनम का सौम्य चाँद गगनमंडल में से बिदा होता है तब उसके ही पट्ट में (=रास्ते में) उदयचल पर तेजस्वी सूर्य का उदय होता है ठीक वैसे ही श्रीमद् हीरसूरीश्वरजी महाराज के पट्ट पर सूर्य की भाँति तेजस्वी श्रीमद् विजय सेनसूरीश्वरजी महाराज आये थे, जिनके सामने कुमतिवाले लोगों के समूह जुगनु जैसे लगते हैं।।२।।

श्रीमद्विजय सेनसूरीश्वरजी महाराजा के पट्टरूप नंदनवन में कल्पवृक्ष के समान जगत के जीवों को मनोवांछित देने वाले श्रीमद्विजय देवसूरीश्वरजी महाराजा जयवंत हैं, जिनकी देवों भी उपासना करते हैं।।३।।

श्रीमद्विजय देवसूरिजी महाराजा के पट्टरूप रोहणाचल पर दिव्यरत्न सम श्रीमद्विजय सिंहसूरिराज जयवंत है, जिसके पाँव के नख की प्रभा उसके पाँव में झूके हुए अनेक राजाओं के भालप्रदेश में तिलक के समान देदीप्यमान है।।४।।

लोगों के आनन्दरूपी वृक्ष के मूल के विकास के लिए वर्षा करनेवाले बादल के समान श्रीमद्विजय सिंहसूरीश्वर महाराजा के विजयवंत विशाल राज्य में, सम्यक् नय को भजनेवाले बुध जनों के आनंद के लिए यह ग्रन्थ निष्पन्न हुआ है।।५।।

महामना महाप्राज्ञ श्रीजीतविजयजी महाराजा जिसके परमगुरु थे तथा नयनिष्णात विद्वद्वर्य श्रीनयविजयजी महाराजा जिसके विद्यागुरु रूप से देदीप्मान है, एवं प्रेमपात्र पंडितवर्य पद्मविजयजी जिसके सहोदर भ्राता है, उस न्यायविशारद ने आनंद से भाषारहस्य ग्रंथ का व्याख्यान किया है।।६।।

शुभाशय से इस भाषारहस्य प्रकरण की रचना कर के मैंने जो पुण्य प्राप्त किया है उससे जन्मबीजभूत मेरे राग-द्वेष विलीन हो।।७।।

जब तक गगन में चाँद-सूरज उदित रहते हैं तब तक विचक्षण पुरुषों से पढा जाता यह ग्रन्थ विद्वानों को आनन्द दे।।८।।

दुर्जनों के कान में शूलसमान और सज्जनों के कर्ण में अमृतवर्षासमान यह ग्रन्थ चिंतन करते करते यश और विजय की सम्पत्ति के लिए हो। यहाँ 'यशोविजयसम्पदे' पद के द्वारा प्रकरणकार महोपाध्यायजी ने अपना नाम 'यशोविजय' रूप से सूचित किया है।।९।।

अंत में श्रीश्रमणसंघ के कल्याण की अपनी भावना ग्रन्थकार ने व्यक्त की है।

इस तरह न्यायविशारद, न्यायाचार्य, मूछालीसरस्वती, महामहोध्याय श्रीयशोविजयजीगणिवर्यविरचित स्वोपज्ञविवरणविभूषित श्रीभाषारहस्य प्रकरण का मुनियशोविजयजी के द्वारा किया गया हिन्दी भावानुवाद सानंद पूर्ण हुआ। महासुद - १, वि. सं. २०४६, आराधना भवन, मद्रास।

(अथ मोक्षरत्नाटीकाकृतप्रशस्तिः)

सन्त्यक्तलुम्पकाम्नायः कुमतोलूकभास्करः। ***विजयानन्दसूरीशो***ऽभूत्तपोगच्छभूषणम् ॥१॥

तन्न्यायाम्भोनिधेः पट्टपद्मा करे सरोरुहम्। जातः ***कमलसूरीशो*** मुनिहंसैर्विभूषितः ॥२॥

ज्योतिर्मार्तण्डानाम्ना तत्पट्टव्योम्नि श्रुतोऽभवत्। ***विजयदानसूरिः*** सकलागमरहस्यवित् ॥३॥

तत्पट्टोदयसोम इव सिद्धान्तमहोदधिः। विजय***प्रेमसूरीशो*** जातो वात्सल्यवारिधिः ॥४॥

ग्रन्थाननीक्षितचरानपि कर्ममुख्यान् प्रौढोक्तिभिरचिरमेव गणोपकृत्यै।
व्याख्यातवान् सुभणितानिव क्रीडयेव यः कर्मशास्त्रनिपुणत्वविभूषितोऽत्र ॥५॥

स्वगच्छगच्छान्तरवासिसाधुवर्गश्च शास्त्रार्थसुबोधमिच्छन्।
यस्यातुलज्ञाननिधेः समीपमागम्य सन्देहभरं बभञ्ज ॥६॥

सम्यगध्याप्य निष्पाद्य यच्चान्तेवासिनः परान्। चक्रे कुम्भध्वजारोपं गच्छप्रासादमूर्धनि ॥७॥

न मुञ्चन्ते चेतः प्रतिदिवसमस्माकमखिलं गुणा यौष्माकीनाः शशिकिरणसंवादनिपुणाः।
न यौष्माकं नाम नियत-मनुचिन्त्य प्रतिदिनं स्वचित्ते विन्दामः कथमपि समाधानघटनम् ॥८॥

तत्पट्टपूर्वगिरिशृङ्गसहस्त्ररश्मिः दोषान्धकारहरणोऽपि मृदुः प्रकृत्या।
धत्तेतरां जगति तीर्थधुरां हि न्याये विशारदो ***भुवनभानुगणाधिपो***ऽद्य ॥९॥

शिष्यव्याख्यानलब्धिर्जगति निरुपमा भाग्यमेकातपत्रं
रूपं देवानुरूपं वचसि मधुरता कुर्वती तिक्तमिक्षुम्।
अक्षामा क्षान्तिरुच्चैरधरितजलधिः काऽपि गाम्भीर्यलक्ष्मीः
धैर्यं निष्कम्पमद्रेः सुरसरित इव स्वच्छता चास्ति यस्य ॥१०॥

सर्वग्रन्थरहस्यरत्नमुकुटः कल्याणवल्लीतरुः कारुण्यामृतसागरः मधुरभाषालङ्कृतो वत्सलः।
चारित्रादिकरत्नरोहणगिरिः क्ष्मां पावयन् धर्मराट् सेनानीरतिपूर्वसंयमकथां सत्यापयामासिवान् ॥११॥

जयति शिबिरारम्भकः सङ्घहितचिन्तकः। एकान्तवाक्तमोभास्वान् वर्धमानतपोनिधिः ॥१२॥

श्रीजयघोषसूरीशं तदीयपट्टभूषणम्। स्वगुरुदत्तसिद्धान्तदिवाकरपदं स्तुवे ॥१३॥

कृतकर्ममहाशास्त्रेणाभ्यासं कारितोऽन्वहम्। व्यापृताश्च ममोन्नत्यै तेन स्वदिव्यशक्तयः ॥१४॥

वाचंयमानां व्रतरक्षणेपर! वचोऽतिगा वः खलु मय्युपक्रियाः।
असम्भवप्रत्युपकारसाधनाः स्मृत्वाहमद्यापि भवामि गद्गदः ॥१५॥

तद्गीतार्थाग्रणेः शिष्यः तर्करत्नपदे स्थितः। राजते विद्वदग्रो विजयः ***श्रीजयसुन्दरः*** ॥१६॥

तत्त्वचिन्तामणिर्लब्धो यत्सकाशान्मयादरात्। यत्साहाय्येन टीकेयं पूर्णतामचिराद् गता ॥१७॥

यत्कृपापोतमासाद्योत्तीर्णो भवार्णवान्नमः। कल्याणबोधिकन्दाय ***श्रीहेमचन्द्रसूरये*** ॥१८॥

तं गुरुं ***विश्वकल्याणविजयाख्यं*** नमाम्यहम्। भुवनभानुसूरीशशिष्यं प्रभावकं मुदा ।।१९।।

येन पद्ममणेः तीर्थस्योद्धारे कृत उद्यमः। ममाविनयदोषाश्च येन क्षान्ताः कृपालुना ।।२०।।

आद्यं न्यायादिदं वन्दे मुनि***मभयशेखरम्। अजितशेखरं*** चैव प्राकृतादिप्रबोधदम् ।।२१।।

षड्विंशतितमेऽब्दे वर्तमाने जन्मतस्तथा। दीक्षातः सप्तमे वर्षे ***श्रीयशोविजयस्य*** हि ।।२२।।

कायगत्यभ्रराशिप्रमिते (२०४६) विक्रमवत्सरे। माघे मद्रासपुर्या समाप्तिमगादियं कृतिः ।।२३।।

(युगलम्)

टीकेयं शोधिता प्राज्ञैः ***श्रीजगच्चन्द्रसूरिभिः। पुण्यरत्न-यशोरत्नै***र्विजयान्तैश्च बन्धुभिः ।।२४।।

प्रमादपरिकल्पितं यदि च किञ्चिदालोचितं तदस्ति खलु दूषणं मम हि नैव चान्यस्य तत्।

यदत्र नवकल्पना-कलिततर्कवाग्वैभवं तदेव ***जयसुन्दर***स्फुरदमोघशिक्षाफलम् ।।२५।।

अस्मिन् गच्छेऽतुले जातो, ***मोक्षरत्नो*** महामुनिः। लघुवयोदिवंगन्ता, सर्वशास्त्रविशारदः ।।२६।।

सर्वत्रास्खलितेक्षो यः, सदा गुरुसमर्पितः। तत्स्मृत्यै रचितेयं हि, वृत्तिस्तदनुरागतः ।।२७।।

(युगलम्)

यावद्व्योमवने निरायतकरैर्नक्षत्रपुष्पावलीं चिन्वानो वरिवर्तते प्रतिदिनं भास्वान् महामालिकः।

टीका तावदियं सुवर्णनिधिवन्नानार्थसिद्धिप्रदा तत्त्वप्रीतितरस्विनां नयधियां चेतश्चिरं चुम्बतु ।।२८।।

कृत्वा वृत्तिमिमं ताजक् यदवापि शुभं मया। लभन्तां तेन लोका हि कषायविजयश्रियम् ।।२९।।

(ग्रन्थाग्रम् - ७००० श्लोक)

स्वोपज्ञविवरणविभूषितं महामहोपाध्याययशोविजयगणिप्रणीतं मुनियशोविजयरचितमोक्षरत्नासमलङ्कृतं श्रीभाषारहस्यप्रकरणं सम्पूर्णम्।

	गाथाक्रम	पृष्ठांक		गाथाक्रम	पृष्ठांक
अणभिग्गहिआ	७१	२४३	चरित्तसो	९९	३३६
अणहिगया जा	६९	२४२	चरियं च.	३४	१६१
अण्णह विरुज्झए	१२	४८	चारित्तवि.	८५	२८५
अब्भुच्चयं	९५	३२३	जणवय	२२	९७
अभिगहिया पडि.	७८	२६७	जा कूड	५०	२१०
अयखंड	०८	३६	जा जण	२३	१०१
अविरोहेण	२८	१२३	जिन्नासिय	७५	२५४
अंसो जीसे	५६	२१९	जं उवघाय	५१	२११
आमंतणी	७०	२४३	ठवणाए	२५	११०
आणाव.	७३	२४६	ठिइरस	४१	२०४
आराहणं	१९	८३	ण फलेसु	९१	३०४
आहरणे	३५	१६६	णा इक्कमि.	२४	१०७
उप्पन्नमी.	५८	२२६	तम्मी	२१	९७
उप्पन्नविगयमिसग	५७	२१९	तम्हा	१००	३३७
उप्पविगयमीसिक्ष	६०	२३०	तिविहा	८२	२७५
उवउत्ताणं	१३	५५	ते होंति	३०	१३६
उवमासच्चा	३६	१९२	थूलाइसु	८८	२९३
उवरिल्ले	८४	२८३	दव्वे	१०	४६
एत्तोच्चिय	१८	७८	दुइ	४२	२०५
एयं भास	१०१	३४३	दो चेव	४६	२८६
एवमसच्चा भा.	५५	२१९	दोसे गुणे	९७	३३३
एवमसच्चामो.	८०	२७३	नामाई	२	१४
एवमेव रूव	२७	१२०	पढमा दो	१६	७५
एवं चउ	२०	९२	पणमिय	०१	०८
एवं दस	५२	२१२	पत्थिय	७६	२६०
एवं सच्चाभा	३७	११५	परमपुरिसेहि	६५	२३७
एवं सच्चामोसा	६८	२४२	पासायखंभ	९०	३०१
ओहारिणी	१४	५९	पाहन्नं	११	४७
कालाइ	८७	२८८	पुट्ठोगाढ	०४	२७
कोहे	३९	१९८	पुन्ना उ	९३	३१४
गेण्ह	०३	१९	पंचिंदियपाणाणं	८८	२९३

	गाथाक्रम	पृष्ठांक
भावत्थविहूण	२६	११७
भावे वि होइ	१५	७०
भासा असच्च.	७९	२७१
भासा चउ.	१७	७३
भिज्जंति	०६	३४
भिन्नणिमित्त	२९	१२६
भिन्नाइ	०५	३२
महेसिणो	९८	३३५
मायाइ	४४	२०६
मेहं	९६	३३२
रयणीए	६७	२४२
रागेण व	५३	२१४
ववहारो	३१	१४३
सच्चाए	२८	१२३
सच्चा भोसा	६६	२३९
सब्भावस्स	५४	२१७
सव्वा वि	८१	२७३
सा उभय	६३	२३४
सा कूडकहा	५०	२१०
साऽजीव	६२	२३३
साऽणंत	६४	२३५
सकोह	४०	२०३
सा जायणी	७४	२४९
सा जीव	६१	२३१
सा दोस	४७	२०७
सा पेम्म	४६	२०७
सा माण	४३	२०५
सा य भय	४९	२०७
सा लोभ	४५	२०६
सावज्जे	९४	३१८
सा विगय	५९	२२९
सा हास	४८	२०९
सा होइ अण.	७७	२६४
सा होइ जोग	३३	१५८
सा होइ भाव.	३२	१४७
से भेए	०७	३५
संखडि	९२	३१०
संबोहण	७०	२४५
हुंति अणंत	०९	४४
होइ असच्चा	४३	२७७

नाम	पृष्ठांक
अध्यात्ममतपरीक्षा	८६, १२३
अभय	१८०
कालासुर	२१०
कूणिक	१७७
कूरगडुकजीव	१६८
कृतमाल	१७७
गौतम	१७८
चाण्डालचौर	१७०
चूर्णिकार	१४९, २३९
दशारवर्ग	१६८
द्रुमपत्रकाध्ययन	१७८
द्वैपायन	१६८
नयरहस्य	६, ८५
नलदामकुविन्द	१७९
पञ्चसङ्ग्रहटीका	७६, ७७
पार्श्वजिनेन्द्र	९
पिङ्गलस्थापति	१८१
प्रज्ञापनासूत्र	७९, ८६
प्रद्योत	
प्रमारहस्य	७
ब्रह्मदत्त	१६२
भद्रबाहु	१६१, २८३
भरत	१७४
भारत	२१०
भाष्य	३२
मङ्गलवाद	१३
मृगावती	१७५
रामायण	२१०
व्याख्याप्रज्ञप्ति	२१
वाक्यशुद्धिचूर्णि	५६, ७१
वादमाला	१५२
वादरहस्य	१५५, २५५
वेद	६४
सम्मतिटीका	४०
सुभद्रा	१७४
स्याद्वादरहस्य	७
शकटसूनु	९२
श्यामाचार्य	६९, ७९
हिङ्गुशिव	१७२

नाम	पृष्ठांक
१ अनेकान्तवादनिरासः	१३२
२ अन्वीक्षानयतत्त्वबोधः	१०४
३ अम्बाकर्त्री (वाक्यपदीयोपटीका)	२६७
४ आत्मतत्त्वविवेक	१६०
५ आत्मतत्त्वविवेकदीधिति	१६०
६ कल्पतरु	१३२
७ कल्पतरुपरिमल	१३३
८ ज्ञानसिद्धि	१८६
९ तत्त्वार्थश्रुतसागरीयवृत्ति	३५
१० तत्त्वचिन्तामणि	१५८
११ तत्त्वोपप्लवसिंह	१२८
१२ तर्कसङ्ग्रहदीपिका	९६
१३ दीधिति	३९
१४ धवला	२४
१५ निम्बार्कभाष्य	१२९
१६ निम्बार्कभाष्यटीका	१२९
१७ न्यायकन्दली	३९, ६०
१८ न्यायभूषण	२१, १२८, १२९
१९ न्यायमञ्जरी	१०४
२० न्यायलीलावती	२१, ६३
२१ न्यायवार्तिक	१७५
२२ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	१३४, १३९
२३ पद्मपुराण	२१२
२४ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि	१७५, १८६
२५ प्रत्यक्षकारणवाद (त. चि.)	१५५
२६ प्रमाणवार्तिक	१३०
२७ प्रमेयकमलमार्तण्ड	५४
२८ प्रशस्तपादभाष्य	१३९, १४३
२९ बृहदारण्यकोपनिषत्	१३४, २१२
३० ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य	१२८
३१ भविष्यपुराण	१८२, २१२
३२ भागवत	२११
३३ भामती	१३१, १३४, २५६
३४ भास्करभाष्य	१२८
३५ मत्स्यपुराण	२१२
३६ मनुस्मृति	२११
३७ महाभारत	१७९, ३३२
३८ मार्कण्डेयपुराण	
३९ मुक्तावलीप्रभाटीका	१०५, १५७
४० मुक्तावलीदिनकरीयवृत्ति	१०५, १५२
४१ मुक्तावलीमञ्जूषा	२२
४२ याज्ञवल्क्यस्मृति	२१२
४३ वराहपुराण	२१२
४४ वसिष्ठस्मृति	२१२
४५ वाक्यपदीय	२२, १०५,१९७
४६ विज्ञानामृतभाष्य	१३३
४७ विशेषव्याप्तिप्रकरण	१३४
४८ विष्णुपुराण	२११
४९ वेद	१२९
५० वेदान्तदीप	१२९
५१ व्यासस्मृति	२१२
५२ व्युत्पत्तिवाद	१०४
५३ शतपथब्राह्मण	
५४ शिवमहिम्नः स्तोत्रं	९
५५ श्रीकण्ठभाष्य	१३०
५६ श्रीकण्ठभाष्य टीका	१३३
५७ श्लोकवार्तिक	११२
५८ संक्षेपशारीरक	१३९
५९ सांख्यतत्त्वकौमुदी	४४, १७५
६० सौदरनन्दमहाकाव्य	३३९
६१ हेतुबिन्दुटीका	१३०

नाम	पृष्ठाङ्क	नाम	पृष्ठाङ्क
१ अग्निशीतत्वस्थापनवाद	१५३	३० ऋक्सङ्ग्रहसूत्र	१३४
२ अदृष्टसिद्धिवाद	९, १७८	३१ ओघनिर्युक्ति	३११
३ अध्यात्मबिन्दु	१५, ३३५	३२ कठोपनिषत्	१३४
४ अध्यात्ममतपरीक्षा	८६, १२२, १६४	३३ कथाकोश	१७२
५ आध्यात्मिकपरीक्षा	२०७	३४ कर्मग्रन्थ	२८१
६ अनुयोगद्वारवृत्ति	१५, १९	३५ कल्पलता	२२, ९३, १०४, १२५, १३३,
७ अनुयोगद्वारसूत्र	१९		१३५, १३७, १३९, १४१
८ अनेकान्तव्यवस्था	१२९	३६ कल्पभाष्य	१७२
९ अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका	९६, १३३	३७ कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१३३
१० अभिधानचिन्तामणिवृत्ति	३०३	३८ काव्यप्रकाशबोधिनी	१६१
११ अलङ्कारकौस्तुभ	१९४	३९ काव्यादर्श	१६३
१२ अष्टकप्रकरणवृत्ति	१८५	४० किरणावलीरहस्य	९६, १५६
१३ अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण	११६, १३०,	४१ कुसुमाञ्जलि	९, १७५
	१३४, १३९, १९१	४२ कौटिल्यार्थशास्त्र	३०२
१४ आचारांग	२९१, २९३, २९६, २९७, २९८,	४३ कौटिल्यार्थशास्त्रव्याख्या	३०२
	३०१, ३०२, ३०५, ३१८, ३२४, ३३२, ३३३	४४ खण्डनखण्डखाद्य	१५५
१५ आचारांगाक्षरगमनिका	३०२	४५ गुरुतत्त्वविनिश्चय	१२२
१६ आचारांगवृत्ति	२९७, ३०५	४६ चतुर्थकर्मग्रन्थ	२८१
१७ आत्मतत्त्वविवेकदीधिति	१६०	४७ चरकसंहिता	११९
१८ आत्मतत्त्वविवेकवृत्ति	१६२	४८ चाणक्यसूत्र	३३२
१९ आप्तमीमांसा	१३३	४९ चिन्तामणि	१५८
२० आवश्यकनिर्युक्ति	१२१, २५१, २८४	५० चिन्तामणिवृत्ति	३५
२१ उत्तराध्ययन	१६३, १८१, २५५, २९३, २९७, ३१८	५१ चिन्तामण्यालोक	१६०
२२ उत्तराध्ययननिर्युक्तिबृहद्वृत्ति	१६३	५२ चूर्णि	२५३, २६७, २९६, ३०१,
२३ उत्तराध्ययनवृत्ति (नेमि.)	९७, ३१८		३०२, ३०७, ३१६, ३२९
२४ उपदेशपद	९३, १९६, ३३२, ३३४	५३ छान्दोग्योपनिषत्	३१९
२५ उपदेशमाला	१११, ३३४	५४ जयानन्दकेवलिचरित्र	२५०
२६ उपदेशरहस्य	१३५	५५ जाबालदर्शनोपनिषत्	१८२
२७ उपमितिभवप्रपञ्चा	८७, ३१६	५६ जाबालोपनिषत्	३३२
२८ उपायहृदय	११८	५७ जैनतर्क	१३८
२९ ऋग्वेद	१३४	५८ ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	१११

नाम	पृष्ठांक	नाम	पृष्ठांक
५९ ज्ञानसार	४	८८ नयामृततरङ्गिणी	१६४
६० ज्ञानार्णव	३४०	८९ नयोपदेश	१५
६१ तत्त्वचिन्तामणि	१५८	९० नागानन्द	३३१
६२ तत्त्ववैशारदी	१३१	९१ निशीथचूर्णि	८९
६३ तत्त्वार्थभाष्य	३५, २६५	९२ निशीथभाष्य	८१
६४ तत्त्वार्थटीका	२३	९३ निशीथसूत्र	१११, २५४
६५ तत्त्वार्थ वृत्ति	३७, ७४, ११४, १८०	९४ न्यायकुसुमाञ्जलि	
६६ तत्त्वार्थसूत्र		९५ न्यायकन्दली	३९
६७ तन्त्रवार्तिक	११६	९६ न्यायभाष्य	१३३
६८ तेजोबिन्दूपनिषत्	४	९७ न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीप्रभा	१३४
६९ तैतरीयसंहिता	३३२	९८ न्यायसूत्र	९५, ९६, ११८, १२०, १८७
७० तैत्तिरीयोपनिषत्	१३४	९९ न्यायालोक	६९
७१ त्रिषष्ठीशलाकापुरुष	१६३	१०० पञ्चदशी	२७५
७२ दशवैकालिक	६, १५, ८९, ९६, १४९, १८२,	१०१ पञ्चवस्तु	३११
	१९५, २४४, २६७, २७२, २८८	१०२ पञ्चास्तिकायवृत्ति	
७३ दशवैकालिकचूर्णि	१४६, १६६, २६७	१०३ पदार्थलक्षणसङ्ग्रह	३८
७४ दशवैकालिकटिप्पण	१८३	१०४ पराशरपुराण	६
७५ दशवैकालिकदीपिका	३००	१०५ पाक्षिकसूत्र	१९९
७६ दशवैकालिकनिर्युक्ति	९६, १०२, १६१, १६२,	१०६ पाणिनीयव्याकरण	२४६
	२४२, २७९, २८१	१०७ प्रकल्पग्रन्थ	१७०
७७ दशवैकालिकनिर्युक्तिहारिभद्रवृत्ति	२८२	१०८ प्रज्ञप्ति	२३
७८ देशीनाममाला	२९९	१०९ प्रज्ञापनाटिप्पण	२६७
७९ द्रव्यगुणपर्यायरास	१३७	११० प्रज्ञापनावृत्ति	२०, २४, ३६, १०२,
८० धम्मपद	३३७		१४४, १४७, १५९, २४४, २६७
८१ धर्मबिन्दु	५	१११ प्रज्ञापनासूत्र	३५, ८६, ९३
८२ धर्मरत्नप्रकरणवृत्ति	१६०	११२ प्रतिमास्थापनन्याय	११२, ३२९
८३ धर्मसङ्ग्रहणी	१७२	११३ प्रतिमाशतक	७३
८४ धर्मसङ्ग्रहवृत्ति	३७	११४ प्रथमकर्मग्रन्थ	
८५ धवला	२४	११५ प्रमाण मीमांसा	६९
८६ ध्यानबिन्दूपनिषत्	३३२	११६ प्रमाणवार्तिक	१३०
८७ ध्यानशतक	३३०	११७ प्रमारहस्य	५

नाम	पृष्ठांक
११८ प्रमेयमाला	१५८
११९ प्रमेयरत्नमाला	१३८
१२० प्रवचनसारवृत्ति	१५६
१२१ प्रवचनसारोद्धारवृत्ति	१४४
१२२ प्रशमरति	३३४
१२३ प्रशस्तपादभाष्य	२१, १३९, १४२
१२४ प्रश्नव्याकरण	३०२
१२५ प्रश्नव्याकरणवृत्ति	३०२
१२६ प्रश्नोपनिषत्	३३२
१२७ प्राचीनतमचूर्णि	१७०, २६७, २९०, २९१, २९९, ३०१
१२८ बन्धशतकचूर्णि	२४
१२९ बन्धहेतुभङ्गप्रकरण	७७
१३० बृहच्छान्ति	३३१
१३१ बृहत्कल्पसूत्र	२९१
१३२ बृहदारण्यकभाष्यवृत्ति	२६५
१३३ बृहदारण्यकोपनिषत्	२१२, ३३२
१३४ ब्रह्मबिन्दूपनिषत्	१३४
१३५ भगवतीसूत्र	२४
१३६ भागवत	२११
१३७ भामती	१३१,१३४,२५६
१३८ मज्झिमनिकाय	३३७
१३९ मध्यमस्याद्वादरहस्य	१६२, २६९
१४० मनुस्मृति	१५३, ३३२
१४१ महाकल्पसूत्र	१११
१४२ महानिशीथसूत्र	१११, ३२१
१४३ महाभारत	३३२
१४४ महाभाष्य	३, १०५, २७९, २८३
१४५ महावग्ग	१११
१४६ महोपनिषत्	१३४
१४७ माण्डुक्योपनिषत्	१३४
१४८ माध्यमिककारिका	१३०
१४९ मालतीमाधव	३३१
१५० मीमांसाकुतूहल	१४२
१५१ मुक्तावली	१६२
१५२ मुण्डकोपनिषत्	१३४
१५३ मैत्रेय्युपनिषत्	१३४
१५४ योगदृष्टिसमुच्चय	१९७
१५५ योगबिन्दु	१७१
१५६ योगशास्त्र	१७१
१५७ योगसूत्र	५८
१५८ रसगङ्गाधर	१६३
१५९ राजप्रश्नीय	१११
१६० राजमार्तण्ड	१२९
१६१ लता	१३३
१६२ वाक्यपदीय	२२, १०५, १९७, २५५
१६३ वाक्यपदीयवृत्तिसमुद्देशवृत्ति	२६६
१६४ वादमहार्णव	१२९, १३४
१६५ विधिविवेक	२५९
१६६ विशेषणोपलक्षणप्रकरण	१५८, १६०, २२४
१६७ विशेषावश्यकभाष्य	१५
१६८ विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति	२०
१६९ विषयतावाद	१३५
१७० वैराग्यरसायण	२६०
१७१ व्यवहारभाष्यवृत्ति	१४६, ३३२
१७२ व्यवहारसूत्रभाष्य	२७४
१७३ व्याख्याप्रज्ञप्ति	१९, २३
१७४ शक्तिवाद	
१७५ शब्दशक्तिप्रकाशिका	३३१
१७६ शब्दानुशासनबृहद्वृत्त्यवचूर्णि	८४
१७७ श्वेताश्वतरोपनिषत्	१३४
१७८ शाण्डिल्योपनिषत्	१३४

नाम	पृष्ठांक
१७९ शास्त्रदीपिका	१३१
१८० शास्त्रवार्तासमुच्चय	९, २४६
१८१ षट्खण्डागम	२४
१८२ षोडशक	३३६
१८३ सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	१२४, १२९, १३३
१८४ सम्मतितर्क	३२७
१८५ सम्मतिवृत्ति	१९७
१८६ समरादित्यकथा	१६९
१८७ सरस्वतीकण्ठाभरण	१६४
१८८ संवेगरंगशाला	१७१
१८९ सर्वसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रह	३८, ३०३
१९० संवेगरंगशाला	१७१
१९१ सामाचारीप्रकरण	८८
१९२ सामान्यलक्षणा	८८
१९३ सामान्यलक्षणाकाशिकानन्दीवृत्ति	१४६
१९४ सिद्धहेमशब्दानुशासन	४५, १०५
१९५ सिद्धिविनिश्चय	६२
१९६ स्थानाङ्ग	
१९७ स्थानाङ्गवृत्ति	१८०
१९८ स्याद्वादकल्पलता	९३, १०४, १२६, १३३, १३७, १४०, १८२, १९७, २२७
१९९ स्याद्वादभाषा	१९९
२०० स्याद्वादमञ्जरी	१०३
२०१ स्याद्वादरत्नाकर	१६, २२, ६५, ७४, १०३, १४२, २२७
२०२ स्याद्वादरहस्य	६, १३५,१५४, १५९, १६२, १९४, २७०
२०३ स्वयंभूस्तोत्र	१२९
२०४ हलायुधकोश	१८०, १९०, २१७, २८४, ३१५
२०५ हारिभद्रवृत्ति	३२३
२०६ हारिभद्रव्याख्या	५, १७, २५४
२०७ हारिभद्रावश्यकवृत्तिटिप्पण	७
२०८ हेतुविडम्बनस्थल	१७४
२०९ हैमधातुपाठ	५१

नाम	पृष्ठांक
१ अगस्त्यसिंहसूरि	१०२, १४९, १७०, १८७, २८३, २९२, २९७, ३०५, ३१८
२ अनङ्गवज्रकृति	१७५
३ अप्पयदीक्षित	१३२
४ अभयदेवसूरि	१४७, १६०
५ अमरचन्द्र	८३
६ अरिष्टनेमि	१६७
७ अर्चट	१३०
८ अश्वघोष	३३६
९ आनन्दगिरि	२६५
१० इन्द्रभूति	१८६
११ उदयन	९, १४१, १५३
१२ उदयप्रभसूरि	२४
१३ कमलसंयमोपाध्याय	२९७
१४ कीर्ति (धर्मकीर्ति)	१३०
१५ कुमारिल	११२
१६ कृष्ण	१६७
१७ गङ्गेश	१६०
१८ गजसुकुमार	२५४
१९ गणक	
२० गदाधर	७४, १६४
२१ गुरुप्रभाकर	२५५
२२ गोपेन्द्रवाचक	२८१
२३ चिन्तामणिकार	२२, १५८
२४ जगच्चन्द्रसूरि	२०, ३४७
२५ जगदीश	७४, १९२
२६ जमालि	
२७ जयघोषसूरि	२४
२८ जयराशिभट्ट	१२८
२९ जयसुन्दरविजय	२१७
३० जरन्नैयायिक	२५१

नाम	पृष्ठांक
३१ जितारि	१३२
३२ जिनदासगणिमहत्तर	११८, १४९, १८२, २३८, २६७, २९८, ३१६
३३ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण	१७८, २८०
३४ जिनेश्वरसूरि	१८४
३५ जीर्णनैयायिक	२६८
३६ दशरथ	२१२
३७ दामोदर	१३३
३८ दिनकरभट्ट	१५३
३९ दीधितिकृत्	३९, ८८, १३४
४० देवेन्द्रसूरि	२८०
४१ द्वैपायन	१६७
४२ द्रौपदी	११०
४३ धर्मकीर्ति	१४०
४४ नव्यनैयायिक	११४, २५०
४५ न्यायकन्दलीकार	३९, ६०, ६३, ७४
४६ नागार्जुन	१३१
४७ नृसिंहशास्त्री	१०५, १३१, १५७
४८ नेमिचन्द्राचार्य	२९७, ३१८
४९ पक्षधरमिश्र	१३४, १६०
५० पतञ्जलि	५८, १९६
५१ पन्नगाचार्य	१५३
५२ पाणिनी	२४६
५३ पार्थसारमिश्र	१३१
५४ पार्श्वनाथ	२५५, ११२
५५ पिङ्गलस्थपति	१८१
५६ पुष्पदन्त	९
५७ बदरीनाथशुक्ल	९
५८ बर्कलि	१३७
५९ बलदेव	१३३
६० बलिरामशुक्ल	७४

नाम	पृष्ठांक	नाम	पृष्ठांक
६१ बादरायण	१२७	९० रघुनाथशर्मा	२६७
६२ ब्रह्मा	१८९	९१ राधाकृष्ण	१३३
६३ भगीरथठक्कुर	१७५	९२ रामानुजाचार्य	१२९
६४ भद्रबाहुस्वामी	२, ११०, ११६	९३ लक्ष्मीलाभगणी	२५९
६५ भर्तृहरि	२२, १०७, ११२	९४ लोमेश	२११
६६ भवभूति	३३१	९५ वर्धमानोपाध्याय	१०४, १०५, २०४, २८०, ३४६
६७ भवानन्द	३५, १९२	९६ वाचकमुख्य	२१४, ३२६
६८ भासर्वज्ञ	१२७	९७ वाचस्पतिमिश्र	१२९, १३०, १७५
६९ भास्कराचार्य	१२८	९८ वादिदेवसूरि	९७, १०७, १३८, १४०, २२३
७० भोज	१६३	९९ विश्वनाथपञ्चाननभट्ट	१६९
७१ भोजदेव	१२८	१०० विष्णु	२११
७२ मणिकार	२२	१०१ वीर	२५४
७३ मथुरानाथ	१५६	१०२ वीरसेन	२४
७४ मधुपिङ्ग	२११	१०३ वृषभदेव	१०६
७५ मनु	१८६, २११	१०४ वेदवादी	९
७६ मंडनमिश्र	२५६	१०५ वैशेषिक	९
७७ मलधारिराजशेखरसूरि	१७२	१०६ व्योमशिवाचार्य	६१
७८ मलधारिहेमचन्द्रसूरि	१४, १९	१०७ शङ्कराचार्य	१५३
७९ मलयगिरिसूरि	२२, २४, ३६, ३७, ६९, ७८,	१०८ शशधरशर्मा	१०७
	७९, ८०, ९०, १०२, १२४, १४४,	१०९ शाकटायनाचार्य	९३
	१५९, १७५, २४६	११० शान्तिसूरि	१८१
८० महाकाल	२११	१११ शिरोमणि	५९, १६०
८१ महादेव	२११	११२ शिलांकाचार्य	२९८, ३०५
८२ महाप्रभुगोलालस्वामी	२६३	११३ शिवभूति	३०८
८३ महावादी	१८०	११४ शिवशर्मसूरि	२४, २०४
८४ माधव	३०२	११५ शैव	९
८५ मिश्र (वा.मि.)	२१०	११६ श्रीधर	६१
८६ मिश्र (पक्षधरमिश्र)	१६०	११७ श्रीनिवासाचार्य	१२९
८७ मुनिचन्द्रसूरि	२४	११८ श्रुतसागर	३५
८८ मूकेश	२७८	११९ सगर	२११
८९ याकिनीमहत्तरासूनु	१०२, २६७	१२० समन्तभद्राचार्य	१२९, १३३

नाम	पृष्ठांक
१२१ सिद्धर्षिगणी	८७
१२२ सिद्धसेनगणी	३७
१२३ सिद्धसेनदिवाकर	२८३
१२४ सुपार्श्वनाथ	११२
१२५ सुलसा	२११
१२६ सोमिल	१२९
१२७ हरिभद्रसूरि	१, १७ ,२३, १२७, १८१, २०२, २४४, २४६, ३०६, ३०७, ३११
१२८ हर्ष	३३१
१२९ हर्षवर्धनोपाध्याय	१५
१३० हेमसूरि	१५, १९, २०, ३३, ४६, २८४
१३१ हेलाराज	२६६
१३२ हिरियन्ना	१३३

न्याय	पृष्ठ
१. अजाकृपाणीयम्	२८०
२. अजां निष्काशयतः क्रमेलकापातः	४१
३. अन्धकवर्तकीयन्याय	२८०
४. अर्धजरतीन्यायः	
५. अर्धवैशसन्याय	२३२
६. अशुद्धे वर्त्मनि स्थित्वा ततः शुद्धं समीहते	१८०
७. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे	२२९
८. इष्टतोऽवधारणम्	२७६
९. उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते	५१
१०. उपायस्योपायान्तराऽदूषकत्वम्	१३८
११. एकग्रहणे तत्सजातीयोऽपि गृह्यते	२६४
१२. एकं सन्धित्सतोऽपरं प्रच्याव्यते	१०, ५६, २१४
१३. कदम्बगोलकन्याय	२१
१४. कफोणिगुडयितम्	१२९
१५. काकतालीयन्याय	२०२, ३३०
१६. कुड्यं विना चित्रकर्मतुल्यन्याय	१०
१७. क्षीरं विहाय सौविररुचिन्याय	
१८. गिरिमुत्पाट्य मूषिकोद्धृता	५३
१९. घट्टकुट्यां प्रभातम्	५३
२०. घुणाक्षरन्याय	२०३
२१. घृतं दहतिन्याय	२१३
२२. तद्ग्रहणे तत्सजातीयोऽपि गृह्यते	२
२३. तद्धेतोरस्तु किं तेन?	१२, १३, ७२
२४. दासेन मे खरः क्रीतो दासोऽपि मे खरोऽपि मे	१४२
२५. धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसीति न्याय	३९
२६. नहि मृता दग्धा च भार्या पुनः प्रसवायोद्भवति	९
२७. न हि वरविघाताय कन्योद्वाहो भवति	१०
२८. नायं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति	३३
२९. निमित्ते सति उपचारः प्रवर्तते	
३०. परिवर्त्य क्षौमपरिधानम्	१३३
३१. पारिशेषन्याय	२५१
३२. प्रियमिष्टमेवौषधतयोपदिष्टम्	२३५
३३. भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः	१०
३४. मञ्चाः क्रोशन्ति	४६
३५. मूलं नास्ति कुतः शाखा?	५२
३६. वर्तमानसमीपे वर्तमानवद्वा	२
३७. विचीतरङ्गन्याय	२१
३८. विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्	८०
३९. वृद्धिमिच्छतो मूलक्षतिरायाता	१५४
४०. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः	२२२
४१. शतं शिरछेदेऽपि न ददाति विंशतिपञ्चकं तु प्रयच्छत्येव	१२९
४२. शृङ्गग्राहिकान्याय	२६५
४३. श्वश्रूर्निगच्छोक्तिन्याय	१५८
४४. सत्सामीप्ये सद्वद्वा	५३
४५. सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति	२७६
४६. सविशेषणौ हि विधिनिषेधौ	८८, २५७
४७. स्ववधाय शस्त्रोत्थापनम्	४२, २७९

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ	साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
जं वक्कं वयमाणस्स	(द. वै. अ. ७ नि. श्लो. २८८)	३	तत्र मृदुलघू	(बं. श. श्लो. ८७ चूर्णिटिप्पणे)	२४
संज्ञादिपरिहारेण	(यो.शा. १।४२)	४	ओरालिय-वेउ	(वि. आ. भा. ६५८)	२५
सुलभं वागनुच्चारं	(ज्ञा. सा. १३। ७)	४	निच्छयओ सव्व	(वि. आ. भा. ६६० गाथा)	२५
गिरा मौनं तु	(तै. उप. १। २२)	४	ताइं किं पुट्ठाइं		३१
अनुपायात्तु	(ध. बि. ४। २३)	५	पुट्ठोगाढअणं	(सूत्रं १६८)	३१
दिवसमवि	(द. वै. नि. अग. चू. पृ. १६४)	५	ताइं भंते! किं	(प्र. भा. सू. १६८ म. वृ.)	३१
नमस्कारो	(हा. आ. वृ. टी. पृ. १)	७	'निरन्तरं' इति	[वि.आ.मा.३७९-३९०]	३३
अदृष्टं कर्म संस्कारः	(शा. स. श्लो. १०७)	९	सङ्गतिप्रदर्शनस्य	(त. चि. अनुमानखंड	
चिरध्वस्तं	(न्या. कु. १/९)	९		भवानंदवृत्ति पृ. ४)	३५
यागेन ईश्वर	(शि. स्तो.)	९	अतितप्तलोहपि	(तत्त्वा. श्रुतसागरीयवृत्ति ५।२४)	३५
निक्षिप्यते	(अ.बि.श्लो. ९३ वृ.)	१५	भेदः पञ्चविधः	(तत्त्वा. भा. ५।२४)	३६
ग्रहणं भाषा	(द.वै.अ. ७.नि.श्लो. वृ.)	१५	खण्डभेदो लोह		३७
गिण्हइ काइ	(वि.भा.श्लो. ३५५)	१५	तत्रौत्कारिकः	(तत्त्वा. ५।२४ वृत्ति)	३७
भाषणाभिप्राया	(वि.भा.श्लो. ३७४ वृत्तौ)	१५	दार्वादीनां क्रकच	(तत्त्वा. ५।२४. श्रु. वृति)	३७
वीर्यान्तरायक्ष	(प्र. त. अ. ५. सू. ८ स्या. र.)	१६	अखातं सरः	(धर्मसंग्र. श्लो. ५४ वृति)	३७
पुद्गलसंयोग		१९	अवटाः कूपाः	(प्र. भा. सूत्र १७० वृत्तिः)	३७
सद्दपरिणए	(भग. सू. श. ५. उद्दे. ७. सूत्र ७)	१९	संखेज्जाइं जोय	(प्र.भा. सूत्र १६९)	४४
असद्दपरिण	(भग. श. ५. उद्दे. ७/सू.७)	२०	विगानात्, विच्छिन्न	(सां.का. ५. कौ.)	४४
निसर्गसमया		२०	किरेरहिर	(सि.हे.श. ८।२।१८६)	४५
भाष्यमाणैव	(वि. भा. श्लो. ३७२ मलधारवृ.)	२०	श्रेणेरनतिक्र	(कात. २।५।१४)	४५
एकसमयस्थिति		२०	पूव वाच्यं	(तत्त्वा. २।२७)	४५
शब्दो गुणः चक्षु	(मुक्ता. श्लो. ३४. टीका पृ. ३६४)	२२	भाष्यत इति	(विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति)	४६
चक्षुर्ग्रहणायोग्य	(मुक्ता. मं. पृ. ३६५)	२२	दव्ववक्कं नाम	(द.वै.अ.७.नि.श्लो.२७१ जि.चू.)	४९
जन्यत्वे सति	(मुक्ता. मं. पृ. ३६६)	२२	पुव्विं भंते! भासा	(भग. शत. १३.। उद्दे. ७। सू. ४९३)	५०
स चायं शब्दो	[५/८]	२३	पराघातस्वभाव	(वि.आ.भा.गा. ३९३ वृ)	५३
अनादिनिधनं	(वा. प. १/१)	२३	हेतुकर्तृकरणे	(सि.हे. २।२।४४)	५६
मृदुशीतौ मृदू		२३	न तादात्म्यं	(शा.स. स्त. ११/२-३)	५७
दुफासे सिय	(भ. सू. श. २०/उ. प./सू. ६६८)	२३	शब्दज्ञानानु	(यो.सू. १/९)	५८
अत्र च स्निग्ध	(५/२३ तत्त्वा. वृत्ति)	२३	यच्चोभयोः	(श्लो. वा.)	६०
परमाणु	(प्रज्ञा. पद-५/सू-१२०)	२३	सति सम्यग्द	(धर्म सं. भाग. २/पृ. १११)	६१
परमाण्वादीनाम		२३	से-शब्दोऽथशब्दार्थः		६९
जइ तिफासे	(भ. सू. श. २०/उ. ५/सू. ६६८)	२३	उभयाऽवृत्ति	[श.श. २२]	७४
द्वौ मृदुलघुरू		२३	नामकरणसं	(तत्त्वा. १/३५ यशो. वृत्ति)	७४
गहणदव्वाइं	(प्रज्ञा. पद-११/सूत्र १६८)	२३	तत्तदंशप्राधान्ये	(प्र.श. ७९ वृ.)	७७
णो पंचफासाइ		२३	अशोकप्राधान्य	(बंहे. भं. पृ. ३)	७७
भाषावर्गणायां	(षट्खंडागम ५/६/७८३)	२४	या च स्त्र्याज्ञा		७९
णिद्धल्हुक्खाण		२४	अह भंते! जा		७९
ताइं एक्केक्काइं	(बं. श. चू. श्लो. ८७ वृत्ति)	२४	किमियं भाषा		७९
मृदुलघुरूपौ		२४	महिलासहावो	(नि. भा. ३५६७)	८२
परमाण्वादीना	(प्रज्ञा. पद-५/सू. १२० वृत्ति)	२४	इति-एवमर्थे	(श.बृ.अ. १।१।३१)	८३
मउयं लहुयं	(बं. श. श्लो. ८७ चूर्णिटिप्पणे)	२४	अन्नत्थ निव	(आ.नि. १५९२)	८४

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ	साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
निच्छयओ सकय		८६	धुवं दाऊण	(रा. प्र. सू. १३९)	१११
न ह्युपाय	(उप.पृ. २६)	८७	काउंपि जिणाय	(म. नि. अ. ३)	११२
कार्यनियतपूर्व		८७	दव्वच्चणं तु	(म. नि. अ. ३)	११२
कारणकज्ज	(आ.नि. ११५६)	८८	सव्वायरेण लग्गइ	(उ. मा. २४१)	११२
विशिष्टवि	(सा.प्र.गा.५७वृत्तौ)	८८	तित्थयर-पवयणं	(उप. प. ४२३)	११२
जइ केइ लुद्ध		८९	श्लोकवार्तिककारणे	(श्लो. वा. आकृतिवा. श्लो. ३)	११२
दो न भासिज्ज		८९	व्यक्तौ तावत्क्रिया		११३
ततः = आयुक्त		९०	व्युत्पन्नस्य यत्पदाद्	(तत्त्वा, १।५-यशो. वृ.)	११४
यत्सिद्धावन्य	(न्या. सू. १/१/३०)	९४	अगुणे उ विया	(आ.नि. ११३६)	११५
सामान्यतोऽवग		९६	प्रमाणवन्त्यदृष्टानि	(त.वा. २-१-२-५)	११६
सवियप्प-णिव्वियप्प		९८	गोपदशक्यताव		११६
तं तं जनपद	*दशवैकालिकनिर्युक्ति*	१०२	पज्जायाऽणभि	(वि. आ.)	११८
भिण्णदेसिभा	(दश.नि.चूर्णि-७/१७५)	१०२	अविशेषाभि	(न्या.सू. १/२/११)	११८
एकस्यापि हि	(स्या. रत्ना. ४।११)	१०३	यो मया परिहितः		११८
चौरशब्दोऽन्यत्र	(स्या.मं.श्लो. १४)	१०३	नव इति मया	(उ.ह.पृ. १४-१६)	११९
यः शब्दो यत्रे	(अन्वी. ५/२)	१०३	यथा कश्चिद्	(च.सं.पृ. २६६)	११९
शब्दस्य नैसर्गिकश	(न्या. मं. चतु. आ. पृ. ३०)	१०४	सहचरण-स्थान	(न्या.सू. २/२/६४)	१२०
स्वाभाविकसामर्थ्य	(प्र. तत्त्वा. ४/११)	१०४	आलएणं विहा	(आ.नि. ११४८)	१२१
शाब्दबोधे	(स्या. क. स्त. ११/२० गा. वृ.)	१०४	ण य ठवणा	(गु.वि. ३/१८२)	१२२
यूस्त्र्याख्यौ नदी	(व्यु. का. १/पृ. १८६)	१०४	प्रतीत्य=आश्रित्य	(प्र.भा.प.सू. १६५ मलयवृत्तौ)	१२४
न शिष्टैरनुगम्यन्ते	(वा. प. का. १/श्लो. १४२)	१०५	समयपतिट्ठितरूवं	(द.वै.अ. ७.	
एकशक्तेरन्यत्र	(अन्वी. त. ५/२)	१०५		नि. श्लो. १७५ अग. चू.)	१२४
शब्दानामपभ्रंशत्वं	(मुक्ता. प्र. पृ. ५४९)	१०५	नैकस्मिन्नसम्भवात्	(ब्र.सू. २/२/३३)	१२६
अपभ्रंशात्मक गर्ग	(मुक्ता. दि. पृ. ५४९)	१०५	स व्याप्तिदर्शन	(प्र.मी. १/२/२०)	१२६
संस्कृतशब्दानामिव	(सि. श. १/१/३)	१०५	अनामिकावृत्तिह	(द. वै. अ. ७.	
संकीर्णायां वाचि	(वाक्यपदीय १/१४४ वृ. दे. वृत्ति)	१०६		नि. गा. २७३ हा. वृ.)	१२७
न तु पद्मत्व	(न्या. सि. दी. पृ. ५९)	१०७	भावधर्मयोगाद्	(स.त.पृ. ८३)	१२८
क्वचित् समुदाय		१०७	न खलु वस्तुनः	(स.त.पृ. ८३)	१२९
गणितोवतेसङ्गाण		१०९	यथैकत्र चलाचला		१२९
ठवणासच्चं		१०९	जगद्ब्रह्मणोर्भेदा		१२९
स्थापनासत्यं		१०९	एकस्य पृथिवी		१२९
जत्थ य जं	(आ. नि. गा.)	११०	दव्वट्ठयाए	(भ.सू.श. १८/उ. १०/सू. ६४८)	१२९
जत्थ बहुं जाणि	(ध. १४ गाथा)	११०	सर्वमनेकान्तमिति		१२९
णामं ठवणा दविए, खित्ते	(द. नि. गा. ८/९)	१११	अनेकान्तस्य सम्य	(बृ.स्व.स्तो.श्लो. १०३)	१२९
णामं ठवणा दविए, माउय	( )	१११	प्रमाणपि स्वविषये		१२९
णामं ठवणा दविए, ओहे	( )	१११	सत्यं यदस्ति	(ब्र.सू. २/२/३३ भा.)	१२९
णामं ठवणा दविए खेत्तद्धो	( )	१११	एकस्मिन् वस्तु		१२९
नामं ठवणा दविएत्ति एस	(सं. तर्क १/६)	१११	यथा सुवर्णं	(पा.यो.सू. समाधिपाद-सू. १४)	१३०
जं पुण तयत्थ	(वि. आ. भा. २६)	१११	भेदाभेदोक्तदोषाश्च	(हे.बि.टी.पृ. १०५)	१३०
गोयमा! पमायं	(म. नि. अ. ७)	१११	जात्यन्तरत्वं च	(अ.स.वि.पृ. १२६)	१३०
मज्जणघराआ	(ज्ञा.)	१११	सर्वस्योभयरूपत्वे	(प्र.वा. १८२)	१३०

साक्षी पाठ	*सूत्र*	*पृष्ठ*	*साक्षी पाठ*	*सूत्र*	*पृष्ठ*
आत्मेत्यपि प्रज्ञा	(मा.का.)	१३०	यत्सापेक्षमिहेक्षितं	(सं.शा.३/१९३)	१३८
मृदात्मना एकत्वं	(ब्र.सू. २/१/१४ - भा.)	१३०	घटादेरामद्रव्य	(प्र.पा.भा.पृ.२५७)	१३९
सर्वेष्वपि वस्तुषु	(शा.दी.पृ. ३८७)	१३१	ममाप्यपेक्षा	(स्या.क.स्त.३/श्लो.९)	१४१
अनुभव एव हि		१३१	द्वित्वादिकं बाह्यार्थ	(स्या.रत्ना.५/८)	१४२
सत्त्वासत्त्वे	(ब्र.सू. २/१/१४ - क.प.पृ. ४५६)	१३१	यदा बोद्धुश्चक्षुषा	(प्र.श.भा.पृ.२७२)	१४२
यदि चान्येन		१३२	अपेक्षाबुद्धेरभिव्य	(मी.कु.पृ.३४)	१४२
अनिरोधनुत्पाद	(मा.का. १)	१३२	लोका हि गिरि		१४४
अस्तीति वर्तमानत्वं	(ब्र.सू. २/२/३३ क.प.पृ. ५६१)	१३२	तेजस्त्वाभाव	(सा.ल.का.पृ.१२१)	१४५
वाक्येष्वनेकान्त	(आ.मी.श्लो. १०३)	१३२	ववहारसच्च		१४५
सर्वत्रैव स्याच्छ	(ब.सू. २/२/३२- वि. भा.)	१३२	+ ! पृथ्वीत्ति	(प्र.भा.प.सू.१६४)	१४६
स्याच्छब्दः खल्वयं	(ब्र.सू. २/२/३३- भा.)	१३२	भावसत्यं तु	(स्था.४/२/३०८)	१४७
स्याच्छब्दः अस्धातु		१३२	जधाभिप्पायवद	(दश.वै.अ.चू.पृ.१६०)	१४९
सर्वथात्वनिषेधकः	(पं.का.गा. १४ अमृ.वृत्ति)	१३२	स्वानुभूतावविश्वासे	(प.द.३/२९)	१५२
तत्तदपेक्षागर्भ	(शा.वा.स.स्त. ७		चित्रमिति प्रतीति		१५२
	श्लो.२१ स्या.क.वृ.)	१३२	नीलत्वादिवच्चि	(आ.त.वि.पृ.२७४)	१५३
यथा वक्तुरभिप्रायः	(न्या.भा.पृ. ८१)	१३२	न ह्यैकस्मिन्	(ब. सू. शा. भा. २/२/३३-	
सर्वथोपाधिभेदं	(श्री. कं. टी. पृ. १०३)	१३३		पृ.७४७)	१५३
उपाधिभेदोपहितं	(अन्ययो. द्वा. श्लो. २४)	१३३	अन्यथाऽनुपपत्तिश्चे		१५५
नैकस्मिन्यथोक्त		१३३	अतितप्ततैलादा	(तत्त्व. प्र. खं. पृ. ७२७)	१५५
जं वत्थु अणेयन्तं	(का.अनु.श्लो. २६१)	१३३	व्यक्तस्पर्शादि	(प्र.सा.र.गा.४०वृत्तौ)	१५६
स्थाणुर्वा पुरुषो		१३३	नीलत्वशुक्ल	(सा. ल. का. पृ. १८३)	१५६
नान्तःप्रज्ञं न	(मां.उप.१/पृ.५६)	१३३	सङ्करः परस्परा	(कि. र. पृ. १०२)	१५७
विमुक्तश्च विमु	(कठोप. २/२/१)	१३३	उद्भूतत्वं तु	(मुक्ता. पृ. ४३६)	१५७
तदनुप्रविश्य	(तै.उप.अ.६)	१३३	शुक्लत्वादिव्याप्यं	(मुक्ता. पृ. ४३६)	१५७
अणोरणीयान्	(श्वे.उप.३/२०)	१३३	शुक्लत्वादिना	(त. चि. प्र. ख. पृ. ७२५)	१५७
द्वे वाव ब्रह्मणो	(बृह.उप.२/३/१)	१३३	उद्भवत्वं जाति	(तत्त्व. प्रत्य. ख. पृ. ७२५)	१५८
नासदासीत् नो	(ऋ.सं.१० सूक्त १२९/१ इति)	१३३	उपाधिसाङ्कर्य	(म.स्या.र.श्लो.७/वृत्ति)	१५८
नैव चिन्त्यं	(ब्र.उप.६)	१३३	तद्बुद्धिनिरूपित	(मुक्ता. प्र. पृ. १३२)	१५९
भावाऽभावविहीनो	(मै.उप.३/५)	१३३	योगः=सम्बन्धः	(प्र. भा. प. सू. १६५ मल. वृ.)	१५९
दिवा न पूजयेद्	(शां.उप.१/३८)	१३३	योगतः = सम्बन्धतः	(स्था.)	१६०
न सर्वं सर्वमेव	(महोप. ५/४६)	१३३	उप-मैवौपम्यं	(स्था.)	१६१
विद्धः सन् अविद्धो	(छा.उप.८/४/१)	१३३	सादृश्यं न तद्भि	(स्या. रह.)	१६१
एकं सद् विप्रा	(ऋ.वे.१/१६४/४६)	१३३	णज्जंति अणेण	(दश. वै. नि. श्लो. २४ अ. चू.)	१६२
सदसद्वरेण्यम्	(मु.उप.२/१)	१३४	ज्ञायतेऽस्मिन्	(दश. नि. श्लो. ५२ हा. वृ.)	१६२
आपेक्षिकधर्माणा	(न्या.मु.प्र.पृ.३९)	१३४	दुःखाय निदानं	(दश. हा. वृ. पृ. २३)	१६२
वृक्षोऽग्रावच्छेदेन		१३४	पाण्डुरपत्रकिशल	(स्या.क.स्त.११/श्लो. १८ वृत्ति)	१६३
सावधिकभावाना	(श्लो. १३६)	१३५	उपमेयतावच्छेद	(र.गं.पृ. २९७)	१६३
प्रतियोगिमद्भिन्ना	(शा.समु.स्त.४.पृ.८४)	१३७	यदोपमानशब्दानां	(स.कं. ३/२०)	१६३
भेदव्यवहार एव	(स्या.रत्ना.१/१६)	१३८	उपमैव तिरोभूत	(काव्या. २/३६)	१६३
जो एगं जाणइ	(आ.श्रु.१.अ.३/३४)	१३८	रूपकालङ्कारा	(अध्या.प.श्लो. ५८ वृत्ति)	१६४
न चापेक्षिकत्वाद	(प्र.र.मा.पृ.१५)	१३८	प्रतिमायां भगवद	(नयो.श्लो. १०३वृ.)	१६४

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ	साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
मुखं चन्द्रः" इत्या	(व्युत्पत्तिवाद प्र.का.पृ.७०)	१६४	ज्ञातत्वं चास्य	(स्था. ४/३/३३८)	१८४
द्रव्यात् द्रव्ये	(स्था. अ. ४/उ.३/सू.३३८ वृत्ति)	१६६	निवृत्तेरप्यदुष्ट	(दश. वै. हा. वृत्ति)	१८५
संवेग मोक्षसुखा	(दश. अग. चू. पृ. २२)	१६८	ननु निवृत्तिर्निर	(अष्ट. प्र. १८/८ वृ.)	१८६
यस्य सूर्यपरिस्प	(का. १२३ मुक्ता. वृ.)	१६९	मां स भक्षयिता	(म. स्मृ. ५/५६)	१८६
उपायः = उपेयं	(स्था. वृत्ति)	१६९	नरश्वहयगोदीपं	(ज्ञा.सि. १/१३)	१८६
जहा धातुवातिता	(दश.अग.चू.पृ. २२)	१७०	गम्यागम्यादि	(प्र.वि.सि. ४/१६)	१८७
खेत्तोवातो जहा	(द. वै. चू.)	१७०	जं अरूवि तं	(द. वै. जिन. चू.)	१८७
कालोपायः = काल	(स्था. वृत्ति)	१७०	साधर्म्यवैधर्म्याभ्या	(न्या.सू. १/३/२)	१८७
उवओगजोगइच्छा	(दश.जि.चू.पृ. ४६)	१७१	सम्यगुत्तरमेव	(प्रमा. मी. २/१/२९ वृत्ति)	१८८
तं च किंचि अत्थं	(दश. जि. चू.)	१७१	अकर्ताऽऽत्मा	(स्था. वृत्ति)	१८८
संजाए उड्डाहे		१७१	अयमपि ज्ञाप	(स्था. वृत्ति)	१८८
ओद्धंसितो य	(क.भा.गा. १७१६)	१७१	अस्थिन वसति		१८९
सव्वभिचारं हेतुं	(दश.नि.गा. ६८)	१७१	अपुत्रस्य गति		१८९
द्रव्यास्तिकाद्यनेक	(स्था. ४/३/३३८)	१७२	अनेकानि सहस्राणि		१८९
प्रतियोगिव्यवहार	(आ. त. वि. वृत्ति)	१७३	पुंनाम्नो नरकाद्य		१८९
एतद्भेदानां	(स्था. वृत्ति)	१७३	कोऽर्थः पुत्रेण जातेन		१८९
इह च तथाविध	(स्था. वृत्ति)	१७४	शोचने सम्प्रहर्षे	(हला. को. ५/८७६)	१८९
अप्रमादवद्भिः	(दश. हा. वृ. पृ. ३३)	१७४	प्रतिनिभता चास्य	(स्था. वृत्ति)	१८९
उपदेशप्रदानमनु	(व्य. सू. १/३७४)	१७४	आहरण-तद्देश	(अ.स.वि.पृ. ३०९)	१९१
ज्ञानचिकीर्षा	(न्या.वा. ३/१/६)	१७५	उपमानादुपमेयस्य	(र.गं.पृ. ४६७)	१९४
न कर्ता कश्चिद	(प्रज्ञो.सि.परिच्छे. ४/श्लो. १३)	१७५	यत्र केनचिद्ध	(अलं. कौ. वृ. ४६४)	१९४
कर्तृधर्मा नियन्तार	(न्या. कु/१/१४)	१७५	आदिशब्देन द्रष्टान्त	(सि. हे. २/२/७४)	१९५
सर्व एव प्रधान	(सां.का. ११ वृत्ति)	१७५	जं जह सुअम्मि	(आ. नि.)	१९६
षष्ठी वाऽनादरे	(सि.श.२/२/१०८)	१७७	जो हेउवायपक्ख	(सं. त. ३/४५)	१९६
जो तुल्लसाह	(वि.आ.भा. २०६८)	१७८	गतिस्थित्यवगाह	(स.त.३/४५ वृत्ति)	१९६
पुत्रखादक	(स्था. ४/३/३३८ वृ.)	१७९	यद्यप्यतीन्द्रियार्थे	(स्या.क. २/२३ वृ.)	१९६
साध्यविकलत्वा	[महाभारते - आदिपर्व - ७४/१०२]	१७९	अतीन्द्रियार्थ	(यो. दृ. ९८/९९/१४३)	१९७
			यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	(वा. प. १/)	१९७
प्रतिकूलं प्रति	(हला. ४/७४३)	१८०	आगमेनानुमानेन	(यो. दृष्टि.१०१)	१९७
णियवयणि	(सं. त. १/२८)	१८०	ज्ञायेरन् हेतुवादेन	(यो. दृ. १४६)	१९७
स्वरूपतोऽशुद्ध	(तत्त्वा. १/३५ य. वृ.)	१८१	नामधेयमात्र	(प्र.मी. १/१/१)	१९७
जदि परवाती	(द.वै.चू.पृ. २६)	१८१	संज्ञामात्रेण	(स्या. भा.)	१९७
समभिरूढो हि	(उत्तरा.अ.३.बृ.वृ.)	१८१	से मुसावाए चउ	(पा. सू.)	१९९
एकान्तमाश्रयत	(स्या.क.स्त.७.श्लो. ३० वृत्ति)	१८१	तस्स कोहाउल	(दश. अ. ७/नि. गा. २७६ चू. पृ. २३७)	२०२
अभक्ष्यपरि	(भ. पु. १/२/१६०)	१८२			
शौचमिन्द्रिय	(मै.उ.२/२)	१८२	सहजदेवकृतक्षायि	(आ.प.श्लो.४ वृत्ति)	२०७
चित्तमन्तर्गतं	(जा.द.५/५४)	१८२	परसंपदुत्कर्षो	(सां. त. कौ. पृ. २)	२०८
जहा कोति भणेज्ज	(द. वै. अग. चू.)	१८२	चउहिं ठाणेहिं	(स्था. ४/१/२६९)	२०९
यथा सर्वे सत्त्वा	(स्था. वृत्ति)	१८२	मधुपिङ्गोऽप्यप	(त्रि. श. ७/२/४७४)	२११
तच्चणिओ मच्छए	(द.वै.अ.चू.पृ. २७)	१८३	सगरं सुलसायुक्तं	(त्रि. श. ७/२/५००)	२११
यथा नित्यः शब्दो	(स्था. ४/३/३३८ वृ.)	१८४	स्त्रियमध उपासीत	(बृ. आ. उप. छ/४/२)	२११

शब्द	सूत्र	पृष्ठ
इतिशब्दः स्मृतो	(हला.को.५/८८७)	२१६
तृतीयं सत्यमृषा	(स्था. ४/१/२३८ वृत्ति)	२१७
गर्हा तु त्रिधा	(ध. सं. - श्लो. २६ वृत्ति)	२१८
चउव्विहे मोसे पन्नत्ते	(स्था. ४/१/२६४)	२१८
यथा यत्राऽविसंवाद	(सि. वि. १/१९)	२२३
न ह्येकस्मिन् ज्ञाने	(त. चि. प्रत्य. खं. पृ. ५६३)	२२३
नयगोचरापेक्षया	(स्या. र. ५/८ - पृ. ८३५)	२२३
मूले वृक्षः कपि	(स्या. क. स्त. ७ श्लो. १३ वृत्ति)	२२५
केवलं व्यवहारमात्र	(प्र.प. ११/सू.१६५-म.वृ.)	२४४
जीवे णं भंते! जाइं	(प्रज्ञा. पद ११/सू. १७२)	२४५
वन्ध्येतरादिको	(शा.स.स्त. ११/श्लो. १६)	२४५
आज्ञाप्यते	(प्रज्ञा. ११/सू. १६२ वृ.)	२४६
भत्तीइ जिनवराण	(आ.नि. १०९७ पूर्वार्द्धः)	२५१
पडिमापडिवन्नस्स	(स्था. ४/१/२३७)	२५३
अविण्णातस्स	(दश. प्रा. चू. पृ. १६१)	२५४
पुच्छणी जहा	(जि.द.वै.चू.पृ. २३९)	२५५
आसणगओ न	(उत्त. १/२२)	२५५
आख्यातशब्दः	(वा.प.का.२/श्लो. १-२)	२५५
भामतीकारस्तु यजेत इत्यादि	(भा. १/१/४)	२५६
पुंसां नेष्टाभ्यु	(वि.वि. पृ. १७३)	२५६
कार्यादिरूपनियोगस्येष्ट	(अ.स.वि.पृ. ५२)	२५६
यथा गोमण्डलस्थां	(बृ. उप. भ. वृ. १-४-४६६)	२६५
कल्पनया तु डयति	(वा.प. ३कांड-वृत्तिस. श्लो. ७७-वृत्ति.)	२६७
यदृच्छाशब्दे तु	(वा.प.कां. ३-अम्बाकर्त्रीटीका पृ. १८९)	२६७
अनभिगृहीता भाषा	(दश. हारि. वृत्ति)	२६७
अत्थाणभिग्गहेणं	(प्र.टी.भा.पद.पृ. ८३)	२६७
अणभिग्गहिया	(दश.चू.श्रीजिन.पृ.२३९)	२६७
अत्थाणभिग्गहएण	(दश. अग. चू. पृ. १६१)	२६७
अभिगृहीता प्रति	(प्रज्ञा. मा. प. सू. १६५ वृत्तिः)	२६७
प्रकरणादीनामननु	(म.स्या.र.पृ. २३)	२६९
अपट्टुप्पण्णो बाला	(व्य. भा. उ. १०, गा. ६१/६२)	२७२
अव्वोयडा नाम जा	(दश.जिन.चू.पृ.२३९)	२७२
अव्याकृता चैव	(दश.हा.वृ.पृ.१४०)	२७२
पंचिंदियतिरिक्खजोणिया	(प्र.भा.प.सू. १६७)	२७४
अह भंते! उट्टे गोणे	(प्रज्ञा.भा.प.सू. १६३)	२७५
सञ्ज्ञी=अवधिज्ञानी	(प्र.पृ. १६९)	२७५
कथं तर्हि श्रुतभावभाषायां	(प्रति. श. श्लो. ८९ वृ.)	२७६
अन्त्येषु द्रव्ययोगेषु	(प्र. श. श्लो. ८९ वृ.)	२७६
अणुवउत्तो अहेउअं	(दश. अ. ७ नि. श्लो. २८०)	२७९
बहुप्रकारभ्रान्तज्ञान	(त. टी. १३३)	२८०
मिथ्यादृष्टिज्ञाने	(ज्ञाना. प्र. त. श्लो. १५ वृ.)	२८०
घुणोत्किरणात्कथञ्चित्रि	(वर्धमान)	२८०
सदसदविसेसणाओ	(वि. भा. ३१९)	२८०
अक्खरसन्निसम्मं	(प्र. कर्म. १६)	२८०
तंतवो घडकारणं	(दश. अग. चू. पृ. १६२)	२८२
सुतनाणमामंतण	(दश. अग. चू. पृ. १६२)	२८३
इतिशब्दः स्मृतो	(हुला. ५/८८७)	२८३
ओहि-मणपज्जव	(दश. अग. चू. पृ. १६२)	२८३
केवलिनः शब्दमात्रं	(वि. भा. गा. ८२९ मल. वृत्ति.)	२८४
गोयमा! सोलसविहे	(प्र.भा.पद.सू. १७३)	२८६
सत्तविहे वयणविकप्पे	(स्था.सू. ५८४)	२८६
दशविहे सद्दे पन्नत्ते	(स्था.सू. ७०५)	२८६
तिविहे वयणे पन्नत्ते	(स्था. सू. १७५)	२८६
सक्के णं भंते। देवराया	(भग.सू.श. १६, उ. २)	२८६
भासा चउप्पगारा	(प्रज्ञा. भाषा. पदसूत्र १६५)	२८७
दुण्हं तु विणयं	(दश. अ. ७ गा. १)	२८७
जा य सच्चा अवत्तव्वा	(द.वै. ७/२-३)	२८८
तम्हा गच्छामो वक्खामो	(द.वै. ७/६-७-९)	२८८
तत्थ वाघातो भवेज्जा	(द.वै.जि.चू.पृ. २४७)	२८८
अन्नह परिचिंतिज्जइ		२८८
नक्खत्तं सुमिणं जोगं	(द.वै. ८/५१)	२८९
कारणजाए पुण जया	(द.वै.जि.चू.पृ. २४७)	२८९
जावि परणिस्सिया	(द. वै. जि. चू.)	२८९
अईयंमि अ कालंमि	(द.वै. ७/८)	२९०
तहेवाणागतं अट्ठे जं	(द.वै.अ. ७/गा. ८)	२९०
अणागतं अट्ठं ण	(द.वै.अ.चू.पृ. १६६)	२९०
नो कप्पइ निग्गंथाण	(बृ.क.उ. ६/पृ. १६०१)	२९१
तहेव फरुसा भासा	(द.वै.अ. ७/गा.११-१२-१३)	२९१
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आ.चा.दि.श्रु.अ. ४/उ.२/सू. १३६)	२९१
एयं भणंतस्स णेहो	(द.वै.जि.चू. पृ. २५०)	२९२
होलादिशब्दास्तत्तद्देश	(द.वै. ७/१४ हा.टी.)	२९२
होले, गोले, वसुल	(द.वै.अ.चू.पृ. १६९)	२९२
तहेव होले गोलित्ति	(द.वै. ७/१४-१५-१६)	२९२
अज्जए पज्जए वावि	(द.वै. ७/१८-१९)	२९२
न निरट्ठं' इति	(उ. १/२५)	२९३
नामधिज्जेणं णं	(द.वै. ७/१७-२०)	२९३
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आचा. द्वि. श्रु. अ. ४/उ. १. सू. १३४)	२९३

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
सत्त मूलगोत्ता पन्नत्ता	(स्था. ७/३/५५१)	२९३
पंचिदिएसु पाणेसु दूरओ	(द.वै.जि.पू.पृ. २५२)	२९४
आह जति एवं तो	(द.वै.जि.चू.पृ. २५२)	२९५
वितहं नाम जं वत्थुं	(द.वै.जि.चू.पृ. २४६)	२९७
इयं स्त्री आगच्छति	(द.वै. ७/५ हा.टी.पृ. १४३)	२९७
इत्थी वेस पुरिसो वेस	(आचा. श्रु. २/४/१-सू. १३२)	२९७
दग्ध-विदग्ध-वृद्धि	(सि.हे. ८/२/४०)	२९८
परिवूढा = मक्खणादि	(द.वै.अ.चू.पृ. १७०)	२९८
परिवूढे परंदमे	(उ.त्त. ७/६)	२९८
गवादिकं परिवृद्धकायं	(आ. चा. २/४/२/१३८)	२९८
तत्थ मणुस्सो पुरिस	(द.वै.अ.चू.पृ. १७०)	२९८
पचनयोग्यः देव	(आचा. २/४/२/१३८)	२९८
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आचा. २/४/२/१३८)	२९९
तत्थ मणुस्सो अप्पत्तियं	(द.वै.जि.चू.पृ. २५३)	२९९
कल्होडो वच्छयरे	(दे.ना. २/६ पृ. ५९)	२९९
गोजोग्गा रहा गोरह	(द.वै.अ.चू.पृ. १७०)	२९९
गाओ जे (रहजोग्गा) रहमिव	(द.वै.जि.चू.पृ. २५३)	२९९
वाहिमा नाम जे सगडा	(द.वै.अग.चू)	२९९
वाहिमा णंगलादि	(द.वै.अग.चू)	२९९
रथजोग्गा णाम	(द.वै.जि.चू)	३००
सिग्घगतयो सदप्पा	(द.वै.अग.चू.)	३००
संवहनं धुर्यम्	(द.वै.दी. ७/२५)	३००
पसीदंति जम्मि	(द. वै. अ. चू. पृ. १७१)	३०१
परिहण्यतेऽनेन=परिघः	(अभि.चि.वृ.)	३०१
तत्र नगरद्वारे परिघः	(द.वै.हा.वृ)	३०१
फलिहं = कवाडणि	(द.वै.अग.चू.)	३०१
एगकट्ठं उदग	(द.वै.अग.चू.)	३०१
उदगदोणी अरह	(द.वै.जि.चू पृ. २५४)	३०१
उदगजोग्गाइ वा	(आ चा. २/ ४/ उ.२-सू. १३८)	३०१
उदगदोणिजोग्गा वा	(आ.अ.ग.)	३०२
द्रोणी = नौः	(प्रश्न. १/१३)	३०२
द्रोणी दारुमयो	(कौ. अ. २/५६)	३०२
कट्ठमयं समितादि	(द.वै.अग.चू.)	३०२
चंगबेरं कट्ठमयभायणं	(द.वै.अग.चू.)	३०२
चंगेरी महती काष्ठ	(प्रश्न. आश्रवद्वार १/१३)	३०२
वाहितच्छेत्तोवरि	(द.वै.अग.चू.)	३०२
मत्तिकं येन कृष्टं वा	(प्र. व्या.)	३०२
पीढचंगबेर-नंगल	(आचा. २/४/२/१३८)	३०२
सगडादीण रहंगसण्णि	(द.वै.अग.चू.)	३०२
गण्डिकासु काष्ठफल	(कौ. अ. २/३१)	३०२
तहेव गंतुमुज्जाणं	(द. वै. ७/२६...२९)	३०२
तहेव गंतुमुज्जाणं पव्व	(द. वै. ७/३०/३१)	३०३
पलालातिपक्कं वा	(द. वै. अ. चू. पृ. १७२)	३०४
वेलोइयाणि नाम वेला	(द. वै. जि. चू. पृ. २५६)	३०४
टालाणि जहा कविट्ठा	(द. वै. अ. चू. पृ. १७३)	३०४
टालानि=अनवबद्धास्थी	(आचा. २/४/२-१३८ वृ.)	३०४
णवीकरणीयाणि अंबाणि	(द. वै. अ. चू. पृ. १७३)	३०४
बेधा कीरंति तं वेहिमं	(द. वै. जि. चू. पृ. २५६)	३०४
तहा फलाइं पक्काइं	(द. वै. ७/३२)	३०४
तथा नीलाश्छवय	(द. वै. ७/३४वृ.)	३०४
तहेवोसहिओ पक्काओ	(द. वै. ७/३४)	३०५
छविग्गहणेण णिप्पवालि	(द. वै. जि. चू. पृ. २५६)	३०५
छवीओ=संबलीओ	(द. वै. अ. चू. पृ. १७३)	३०५
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आचा. २/४/२-१३८)	३०५
लायिमाः=लाजायोग्या	(आचा. २/४/२-१३८)	३०५
बहुखज्जत्ति बहुभक्ष्याः	(आ.चा.वृ)	३०५
कुंभेल्लसालिमाति	(द. वै. अ. चू. पृ. १७३)	३०५
साहुणा भणियाओ	(द.वै.अग.चू.)	३०५
बहुसंभूताणि बहूणि	(द. वै. अ. चू. पृ. १७३)	३०६
बहुसम्भूया णाम	(द. वै. जि चू. पृ. २५६)	३०६
सुणिप्फत्तीए फल	(द.वै.अग.चू.)	३०६
असंथडा इमे अंबा	(द. वै. ७/३३)	३०७
रूढा बहुसंभूआ थिरा	(द.वै.७/३५)	३०९
बहुसम्भूता=सुफलिता	(द.वै.अग.चू.)	३०९
थिरा, सुसंवड्ढिता	(द.वै.अग.चू.)	३०९
उस्सडा	(द.वै.अग.चू.)	३०९
गब्भिणाओ	(द.वै.अग.चू.)	३०९
पसूताओ	(द.वै.अग.चू.)	३०९
ससाराओ	(द.वै.अ.चू.पृ.१७३)	३०९
बहुसंभूया णाम निष्पन्ना	(द.वै.जि.ची.पृ.२५७)	३०९
दुविहाऽवाता उ विहे	(नि.९९१)	३१०
ण एवं वत्तव्वं जहा	(द.वै.जि.चू.पृ.२५७)	३१०
जो पुण अविसय	(पंचव.६०६)	३११
परमरहस्समिसीणं	(ओ.नि.७६१)	३११
पणीयो-परभवं जस्स	(द.वै.अ.चू.१७४)	३१२
तस्स एवं भणितस्स	(द.वै.जि.चू.पृ.२५७)	३१२
योनौ जलावतारे च	(हला.५/८६२)	३१३
णदीतित्थाण वि	(द.वै.अ.चू.पृ.१७४)	३१३
तहेव संखडिं नच्चा	(द.वै.)	३१३
तडत्थेहिं हत्थेहिं	(द.वै.अ.चू.पृ.१७४)	३१४
तहा नईओ पुण्णाओ	(द.वै.३८/३९)	३१५
बहुउप्पिलोदगा नाम	(द.वै.जि.चू.पृ.२५८)	३१५

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
बहुयं पुण पाणियं	(द.वै.अ.चू.पृ.१७४)	३१५
णदीओ विकिट्ठप्पधाणि	(द.वै.अग.चू.)	३१५
कुठारच्छेद्यतां	(उ.भ.)	३१६
सुकडित्ति सुपक्किंत्ति	(द. वै. ७/ ४१ तथा उत्तरा. १/३६)	३१८
सुकृतं=सुष्ठु निर्वर्त्तित	(उत. १/२३ ने. वृ.)	३१८
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आ.चा.२/४/२ १३६-१३७सू.)	३१८
कायेन मनसा वाचा		३१९
ब्रह्मचय नाम सर्वाव	(शा. उ. २/१)	३१९
यद् यज्ञ इत्याचक्षते	(छा. उप. ८-५-१)	३१९
दर्शने स्पर्शने वाऽपि		३२०
सुहृतोऽयमुत्प्रव्राजि	(उत्त. ने. वृ. १/३६)	३२०
पणियणियोगे सव्वु	(द. वै. अ. चू. पृ. १७५)	३२०
अविक्किियं नाम	(द. वै. जि. चू. पृ. २६०)	३२०
चिंतेतुं पि ण तीरति	(द. वै. अ. चु. पृ. १७६)	३२०
सव्वुक्करस्सं परग्घ	(द. वै. ७/४२)	३२०
सुक्कीअं वा सुविक्कीअं	(द. वै. ७/४५)	३२१
सावज्जणवज्जाणं	(म. नि. ३/१२०)	३२१
सुलष्टोऽयं दारको	(उत्त. ने. वृ. १/३६)	३२२
कम्महेउयं नाम सिक्खा	(द. वै. जि. चू. पृ. २५९)	३२२
पयत्तपक्कत्ति व	(द. वै. ७/४२)	३२२
जहा कोइ कत्थइ	(द.वै.जि.चू.पृ. २६०)	३२३
सव्वमेअं वइस्सामि	(द.वै. ७/४४)	३२३
से भिक्खु वा भिक्खुणी	(आचा. २/४/२-सू. १४०)	३२५
ओहारिणी जा य	(दश.वै. ७/५४)	३२५
सीसमइविप्फारण	(सं.त.कां. ३/गा. २५)	३२५
पुरिसज्जायं तु पडुच्च	(सं.त.का. १/गा. ५४)	३२६
तहेवासंजयं धीरो	(द.वै. ७/४७)	३२६
असंजतो सव्वतो	(द.वै.जि.चू.पृ. २६१)	३२६
बहवे इमे असाहु	(द.वै. ७/४८)	३२६
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा		३२६
नाणदंसणसंपन्नं	(द.वै. ७/४९)	३२७
उववूहणत्ति वा पसंसत्ति	(नि.चू.उ. १)	३२७
खवणे वेयावच्चे	(नि.२७)	३२७
देवाणं मणुयाणं	(द.वै. ७४९)	३३०
वाओ वुट्ठं व सीउण्हं	(द.वै. ७/५०)	३३०
आर्त्तममनोज्ञानां	(तत्त्वा. ९/३१-३२-३३)	३३०
अमणुण्णाणं सद्दाइ	(ध्या.श. ६)	३३०
क्षेमं नाम सुलक्षणं	(व्य.भा.उ. ३/गा. २०९)	३३०
खेमेऽवि चोरसेव	(द.वै.जि.चू.पृ. २६२)	३३०
वात-वुट्ठ-सीउण्हेहिं	(द.वै.अ.चू.पृ. १७७)	३३०

साक्षी पाठ	सूत्र	पृष्ठ
शिवमस्तु सर्वजगत	(ना. ५/४० मा. मा. १०/२५)	३३१
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आ २/४/उ.१-सू.१३५)	३३२
वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता	(तै.सं.२/१/१)	३३२
सोमसूर्याग्निर्देवताः	(ध्या.उप.५४)	३३२
आपो वै सर्वा देवताः	(जा.उप.४)	३३२
दौ देवावित्यन्नञ्चैव	(बृ.उप.३/९/८)	३३२
तस्मै स होवाचाकाशो	(प्र.उप.२/२)	३३२
बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो	(म.स्मृ.अ.७/८)	३३२
न हि जात्ववमन्तव्यो	(म.भा.शांतिपर्व अ.६८/४०)	३३२
न राज्ञः परं दैवतम्	(चा.सू.३७२)	३३२
मेहोऽपि अंतरीक्खो	(द.वै.जि.चू.पृ.२६२)	३३२
तहे व मेहं व नहं व	(द.वै.७/५३-५४)	३३२
से भिक्खू वा भिक्खुणी	(आचा.२/४/२-१३९)	३३३
वचनाराधनया खलु	(षोड.२/१२)	३३४
तपःसंयमचरणोद्युक्तस्यैकत्र	(उप.मा.३९०-३९१)	३३४
किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यम	(प्र.र.१४५-१४६)	३३४
अन्नह भणिउं पि	(य.ल.स.७-८-९)	३३४
अवलंबिउण कज्जं	(य.ल.स.११)	३३४
देहं गेहं च धणं सयणं	(उप.रह.श्लो.१९९-२००)	३३५
स्वत्वेन स्वं परमपि	(अ.बि.१/२६)	३३५
भासाइ दोसे गुणे	(द.वै.७/५६-५७)	३३६
दीपो यथा निवृत्ति	(सौ.म.१६/२८-२९)	३३७
निब्बानं परमं सुखं	(ध.प.१५/८)	३३७
अनुत्तरं योगक्खेमं	(म.नि.अरि.सू.२६)	३३७
किं बहुणा इह जह	(अध्या.म.प.उप.र.आदौ)	३३७

अ. बि.	अध्यात्मबिन्दु
अध्या. म. प.	अध्यात्ममतपरीक्षा
आ. श्रु.	आचारांगश्रुतस्कन्धं
उ. ने. वृ.	उत्तराध्ययन नेमिचंद्रसूरिटिका
उप.	उपमितिभवप्रपञ्चा
उप. प.	उपदेशपद
उ. र.	उपदेशरहस्य
उ. हृ.	उपायहृदय
च. सं.	चरकसंहिता
छांदो. उप.	छान्दोग्योपनिषत्
ज्ञा.	ज्ञाताधर्मकथाङ्ग
त. वा.	तन्त्रवार्तिक
ते. उप.	तेजोबिन्दूपनिषत्
द. वै.	दशवैकालिक
द. वै. अ. चू.	दशवैकालिकअगस्त्यसिंहचूर्णि
द. वै. जि. चू.	दशवैकालिकजिनदासगणिचूर्णि
द. वै. हा. वृ.	दशवैकालिकहारिभद्रवृत्ति
ध. बि.	धर्मबिन्दु
ध. सं.	धर्मसङ्ग्रह
न्या. कु.	न्यायकुसुमाञ्डलि
नयो.	नयोदेश
नि. भा.	निशीथभाष्य
न्या. सू.	न्यायसूत्र
प. पु.	पराशरपुराण
प्र. क. मा.	प्रभेयकमलमार्तण्ड
प्र. कर्म.	प्रथमकर्मग्रन्थ
प्र. त.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
प्र. भा.	प्रशस्तपादभाष्य
प्र. भा. म. वृ.	प्रज्ञापना भाषापद मलयगिरिकृत वृत्ति
प्र. र. मा.	प्रमेयरत्नमाला
प्र. श. वृ.	प्रतिमाशतकवृत्ति
पाणि.	पाणिनीयव्याकरण
पा. यो. सू.	पातञ्जलयोगसूत्र
बं. श. चू. टि.	बन्धशतकचूर्णिटिप्पण
भ. सू. श.	भगवतीसूत्रशतक
भा. र.	भाषारहस्य
म. नि.	महानिशीथ
मा. का.	माध्यमिककारिका
मु.	मुक्तावली
मुक्ता. प्र.	मुक्तावलीप्रभाटीका
य. ल. स.	यतिलक्षणसमुच्चय
यो. दृ.	योगदृष्टिसमुच्चय
यो. शा.	योगशास्त्र
यो. सू.	योगसूत्र
रा. प्र.	राजप्रश्नीय
वा. प.	वाक्यपदीप
वि. आ. म. वृ.	विशेषावश्यकमलधारवृत्ति
स. त.	सप्तभङ्गितरङ्गिणी
सं. त.	सम्मतितर्क
सं. शा.	संक्षेपशरीरक
स्या. र.	स्याद्वादरत्नाकर
सि. हे.	सिद्धहेमशब्दानुशासन
श. प. ब्रा.१	शतपथब्राह्मण
श्लोक. वा.	श्लोकवार्तिक
हा. आ. वृ. त्ति.	हारिभद्रावश्यकवृत्तिटिप्पण